

# श्री आचाराङ्ग सूत्रम्

द्वितीय श्रुतस्कन्ध

व्याख्याकार

जैन धर्म दिवाकर, जैनागम रत्नाकर  
आचार्य सम्राट् श्री आत्माराम जी महाराज

सम्पादक

जैन धर्म दिवाकर, ध्यानयोगी  
आचार्य सम्राट् श्री शिवमुनि जी महाराज

॥ णमो सुअस्स ॥

# श्री आचाराङ्ग सूत्रम्

द्वितीय श्रुतस्कन्ध

संस्कृतच्छाया-पदार्थान्वय-मूलार्थोपेतं हिन्दी-भाषा-टीकासहितं च

व्याख्याकार

जैन धर्म दिवाकर, जैनगणमरत्नाकर

आचार्य सम्राट् श्री आत्माराम जी महाराज

सम्पादक

जैन धर्म दिवाकर, ध्यानयोगी

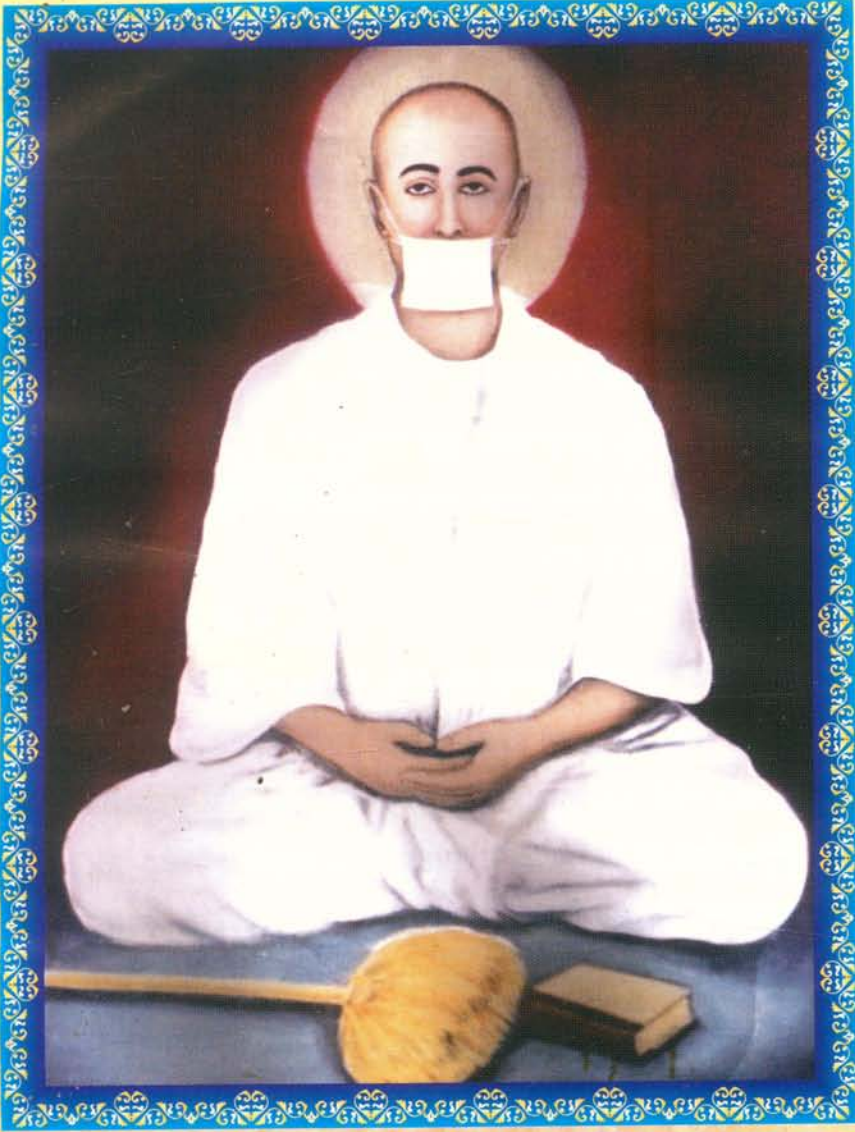
आचार्य सम्राट् डॉ० श्री शिवमुनि जी महाराज

प्रकाशक

आत्म-ज्ञान-श्रमण-शिव आगम प्रकाशन समिति ( लुधियाना )

भगवान महावीर मैडीटेशन एण्ड रिसर्च सेंटर ट्रस्ट ( दिल्ली )

- आगम : श्री आचाराङ्ग सूत्रम्
- व्याख्याकार : आचार्य सम्राट् श्री आत्माराम जी महाराज
- दिशानिर्देश : गुरुदेव बहुश्रुत श्री ज्ञानमुनि जी महाराज
- संपादक : आचार्य सम्राट् डॉ० श्री शिवमुनि जी म० सा०
- संपादन सहयोग : उपाध्याय श्री रमेश मुनि जी महाराज 'शास्त्री'  
 श्रमण संघीय मंत्री श्रमणश्रेष्ठ कर्मठयोगी साधुरत्न श्री शिरीष मुनि जी म० सा०  
 श्रमणीरत्ना उपप्रवर्तिनी महासाध्वी श्री कौशलया जी महाराज की सुशिष्या  
 आगम ज्ञाता सरल आत्मा साध्वी श्री प्रमिला जी महाराज
- प्रकाशक : आत्म-ज्ञान-श्रमण-शिव आगम प्रकाशन समिति लुधियाना  
 भगवान महावीर मेडीटेशन एण्ड रिसर्च सेंटर ट्रस्ट, नई दिल्ली
- अवतरण : नवम्बर 2003
- प्राप्ति स्थल : 1 भगवान महावीर मेडीटेशन एण्ड रिसर्च सेंटर ट्रस्ट  
 द्वारा श्री आर० के० जैन  
 सी - 55, शक्ति नगर एक्सटेंशन, नई दिल्ली-110 052  
 दूरभाष : 011-27138164, 32030139
- 2 श्री विनोद कोठारी  
 3, श्री जी कृपा, प्रभात कॉलोनी, 6 वां मार्ग, शान्ताकुज (वेस्ट)  
 मुम्बई-महाराष्ट्र
- 3 श्री चन्द्रकान्त एम. मेहता, ए-7, मोन्टवर्ट-2 पाषाण  
 सुस मार्ग, पूना-411021 दूरभाष : 020-5862045
- अक्षर संयोजक : स्वतन्त्र जैन, 21-ए, जैन कॉलोनी, जालन्धर  
 दूरभाष : 0181-2208436
- मुद्रण व्यवस्था : कोमल प्रकाशन,  
 विनोद शर्मा  
 म० नं० 2087/7, गली नं० 20, निकट शिव मंदिर,  
 प्रेम नगर, (निकट बलजीत नगर) नई दिल्ली-8  
 दूरभाष : 25873841, 9810765003
- प्रथम संस्करण : महावीराब्द 2490 विक्रमाब्द 2021 ईस्वी सन् 1964
- द्वितीय संस्करण : महावीराब्द 2530 विक्रमाब्द 2060 ईस्वी सन् 2003
- मूल्य : चार सौ रूपये मात्र
- © सर्वाधिकार सुरक्षित



**स्वामी श्री रुप चन्द जी महाराज**

जन्म माघवदी दसवीं सं० 1868, स्वर्गवास ज्येष्ठ सुदी द्वादसी सं० 1937

**श्री पार्वती जैन महिला मण्डल**

श्रीमती सुनीता ओसवाल  
अध्यक्ष

श्रीमती विनोद जैन  
मंत्री





## प्रकाशकीय

परम श्रद्धेय स्व० आचार्य सम्राट् श्री आत्माराम जी म० के व्यक्तित्व से प्रत्येक व्यक्ति परिचित है। शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति होगा जो श्रद्धेय आचार्य श्री जी की ज्ञान ज्योति से अपरिचित रहा हो। वह ज्ञान दिवाकर जब तक इस भूतल पर उदित रहा तब तक जन-जन के अज्ञान तम को दूर करके उनके जीवन के कण-कण में ज्ञान की ज्योति जगाता रहा, भूले-भटके पथिकों को साधना का पथ बताता रहा। आज वह ज्योतिर्धर महापुरुष भौतिक शरीर की अपेक्षा से हमारे मध्य में नहीं रहा, परन्तु उनके आगम की ज्योति हमारे सामने है, जो कि युग-युग तक मानव-मन को ज्योतित करती रहेगी।

श्रद्धेय आचार्य देव ने अपने जीवन काल में अठारह आगमों पर बृहद् व्याख्याएं लिखकर आगमों को सर्वगम्य बनाया था। श्रद्धेय श्री के व्याख्यायित कई आगम उनके जीवन काल में भी प्रकाशित हुए, कई उनके देवलोक गमन के पश्चात् भी प्रकाशित हुए। परन्तु आचार्य श्री का व्याख्यायित और सृजित साहित्य आज तक समग्र रूप से प्रकाशित नहीं हो पाया है। आचार्य देव के पौत्र शिष्य एवं उन्हीं के पाट पर विराजित आचार्य सम्राट् श्री शिवमुनि जी महाराज ने आचार्य देव के समस्त आगम और आगमेतर साहित्य को प्रकाशित करा कर सर्वसुलभ बनाने का महान संकल्प लिया है। आचार्य श्री के उसी संकल्प की फलश्रुति के रूप में श्री उपासकदशांग सूत्रम्, श्री उत्तराध्ययन सूत्रम्, भाग-१-२-३, श्री अनुत्तरौपपातिक सूत्रम्, श्री दशवैकालिक सूत्रम्, श्री अन्तकृद्दशांग सूत्रम्, श्री आचाराङ्ग सूत्रम् (प्रथम श्रुतस्कंध) आदि आगम हम प्रकाशित कर चुके हैं। भविष्य में हम द्रुतगति से अपने पथ पर आगे बढ़ते रहेंगे एवं आचार्य भगवन श्री शिवमुनि जी म० के दिशा निर्देशन में आराध्य आचार्य देव श्री आत्माराम जी म० के समग्र साहित्य को सर्व सुलभ बनाएंगे, ऐसा हमारा विनम्र संकल्प है।

आचार्य देव ध्यान योगी श्री शिवमुनि जी म० का मंगलमय आशीर्वाद हमारे संकल्प का प्राण है। साथ ही असंख्य सहयोगी हाथ हमारे महद् कार्य को सरल बनाने में हमारे साथ जुड़ चुके हैं एवं निरंतर जुड़ते जा रहे हैं। समस्त सहयोगियों के हम हार्दिक आभारी हैं।

प्रकाशक

आत्म-ज्ञान-श्रमण-शिव आगम

प्रकाशन समिति (लुधियाना)

एवं

भगवान महावीर रिसर्च एण्ड मेडिटेशन

सेंटर ट्रस्ट (नई दिल्ली)

## संपादकीय

विश्ववन्द्य आराध्य देव श्रमण भगवान महावीर की वाणी आगम साहित्य में सुरक्षित है, इसीलिए जैन परम्परा में आगम साहित्य का स्थान सर्वोपरि है। आगम साहित्य को हम आध्यात्मिक विज्ञान के ग्रन्थ भी कह सकते हैं। इनमें उन विधियों का संकलन है जिनके द्वारा आत्मा परमात्मा हो सकता है। अनन्त अतीत से अनन्त आत्माएं आगम साहित्य के स्वाध्याय, आराधन और आचरण से अपने परम लक्ष्य को साधती आ रही हैं। वर्तमान में भी अनेक साधक आगमों के स्वाध्याय, चिन्तन, मनन और आराधन द्वारा अपने साध्य-पथ पर अग्रसर हैं। भविष्य में भी आगम साधकों के लिए परमाधार होंगे।

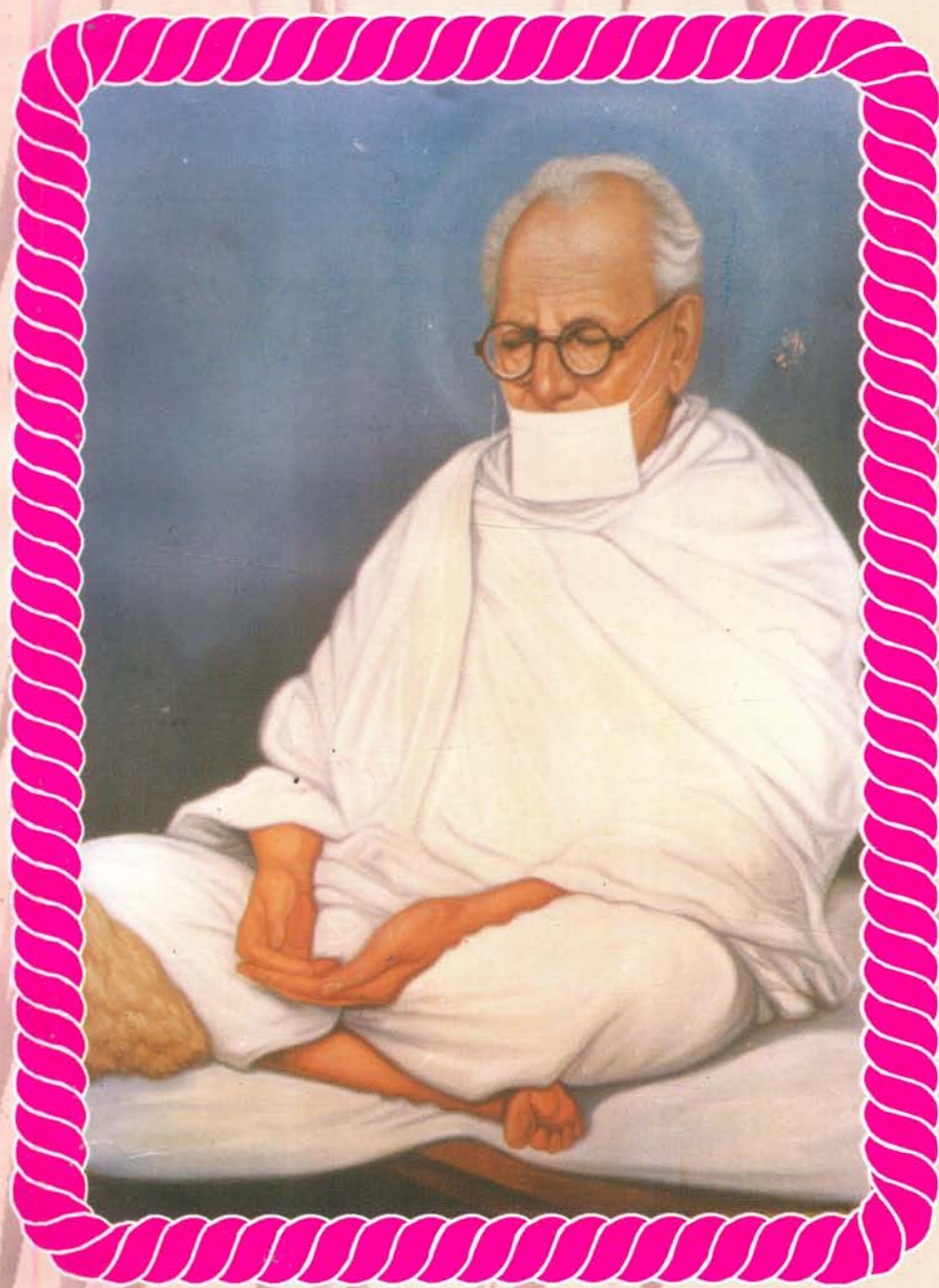
आगम साहित्य में अध्यात्म-विज्ञान का सूक्ष्म और विशद विश्लेषण हुआ है। विश्लेषण विशद होने पर भी उसका विषय अति गूढ़ है। प्रत्येक साधक के लिए उसे समझ पाना सरल नहीं है। उसके लिए साधक में अपराभूत जिज्ञासिता, स्वाध्यायशीलता और अटूट धैर्य अपेक्षित है। साधक में उक्त गुण आने पर आगम सरल बन जाते हैं।

हमारे आराध्यदेव श्रमण संघ के प्रथम पट्टधर आचार्य सम्राट् श्री आत्माराम जी महाराज उपरोक्त गुणों और अन्यान्य गुणों के अक्षय सागर थे। यही कारण है कि बत्तीसों आगम उनकी प्रज्ञा में प्राणवन्त बने थे। बत्तीसों आगम उनके आचार, विचार और व्यवहार में साकार बने थे।

करुणा के अमर देवता आराध्य देव पूज्य श्री ने आगमों को सर्वगम्य बनाने के लिए संकल्प किया और वे आगम व्याख्या लेखन साधना में साधनाशील बन गए। जब तक उनकी देह रही वे लिखते रहे और अपने निर्देशन में लिखवाते रहे। अपने जीवन काल में उन्होंने अठारह आगमों पर विशाल व्याख्याएं लिखीं। आचार्य श्री के उस लेखन की मौलिकता और विशिष्टता यह रही कि उससे आगम सर्वसाधारण के लिए सरल और सुगम बन गए। आचार्य श्री का यह विश्व पर महान् उपकार है जो सदा-सदा स्मरणीय रहेगा।

आचार्य श्री ने अपने जीवन काल में आगमों की व्याख्या सहित लगभग साठ ग्रन्थ लिखे। ये सभी ग्रन्थ आगमों के आधार पर ही लिखे गए हैं। तथा जैन संस्कृति की अमूल्य धरोहर स्वरूप हैं।

आचार्य श्री के जीवन काल में ही उन द्वारा व्याख्यायित और सृजित कुछ ग्रन्थ प्रकाशित हुए। उनके देवलोक के पश्चात् भी कुछ ग्रन्थ प्रकाश में आए। परन्तु खेद का विषय है कि पूज्य श्री का सम्पूर्ण साहित्य आज तक प्रकाश में नहीं आ पाया है। उत्तर और दक्षिण भारत के सुदूर अंचलों में विचरण करते हुए मैंने पाया कि सभी स्थानों पर आचार्य श्री के आगमों के असंख्य जिज्ञासु पाठक मौजूद हैं। परिणाम स्वरूप मैंने यह संकल्प अपने मन में संजोया कि आचार्य श्री के व्याख्यायित और सृजित साहित्य को जन-सुलभ बनाया जाए। जैन जगत के अग्रगण्य श्रावकों ने मेरे संकल्प को गद्गद् भाव से स्वीकार किया और "आत्म-ज्ञान-श्रमण-शिव आगम प्रकाशन समिति" का गठन किया। इस समिति के तत्वावधान में आगम प्रकाशन का कार्य द्रुतगति से प्रारंभ हुआ। विगत एक वर्ष में श्री उपासकदशांग, श्री उत्तराध्ययन सूत्रम्-भाग-१-२-३, श्री अनुत्तरौपपातिक सूत्रम्, श्री अन्तकृद्दशांग सूत्रम्, श्री दशवैकालिक सूत्रम्-और श्री आचाराङ्ग सूत्रम् (प्रथम श्रुतस्कंध) आगम प्रकाशित हो चुके हैं। प्रस्तुत श्री आचाराङ्ग सूत्रम् (द्वितीय



जैन धर्म दिवाकर जैनागम रत्नाकर ज्ञान महोदधि  
आचार्य सम्राट् श्री आत्माराम जी महाराज





श्रुतस्कंध) के प्रकाशन के पश्चात् श्री विपाकसूत्रम्, श्री दशाश्रुतस्कन्ध सूत्रम्, श्री नन्दी सूत्रम् आदि आगम शीघ्र प्रकाश में आने संभाव्य हैं। कार्य की इस द्रुतगामिता में आचार्य देव का शुभाशीष और श्रावक समाज का समर्पण ही मूल कारण रहा है।

मुनिवर श्री शिरीष जी का एकनिष्ठ समर्पण भी इस कार्य की सतत सफलता का एक प्रमुख कारण रहा है। उनके अतिरिक्त उपाध्याय श्री रमेश मुनि जी म०, प्रवर्तक श्री अमर मुनि जी म० आदि वरिष्ठ मुनिराजों का सहयोग तथा उफ० प्र० श्री कौशल्या जी म०, उफ० प्र० श्री सरिता जी म०, उफ० प्र० श्री रविरश्मि जी म० आदि श्रमणी मण्डल का सहयोग भी विशेष रूप से उल्लेखनीय रहा है। विश्रुत पण्डित श्री ज० फ० त्रिपाठी तथा विनोद शर्मा का भी मूल प्रति पठन, प्रूफ पठन तथा प्रकाशन में पूर्ण समर्पण रहा है।

समस्त व्यक्त-अव्यक्त सहयोगियों को साधुवाद।

— आचार्य शिवमुनि

## निर्भीक आत्मार्थी एवं पंचाचार की प्रतिमूर्ति : आचार्य सम्राट् श्री शिवमुनि जी म.

व्यक्ति यह समझता है कि मेरी जाति का बल, धन-बल, मित्र-बल यही मेरा बल है। वह यह भूल जाता है कि यह बल वास्तविक बल नहीं है, वास्तव में तो आत्मबल ही उसका बल है। लेकिन भ्रान्ति के कारण वह उन सारे बलों को बढ़ाने के लिए अनेक पाप-कर्मों का उपार्जन करता है, अनंत अशुभ कर्म-वर्गणाओं को एकत्रित करता है, जिससे कि उसका वास्तविक आत्मबल क्षीण होता है। जाति, मित्र, शरीर, धन इन सभी बलों को बढ़ा करके भी वह चिंतित और भयभीत रहता है कि कहीं मेरा यह बढ़ाया हुआ बल क्षीण न हो जाए, उसका यह डर इस बात का सूचक है कि जिस बल को उसने बढ़ाया है वह उसका वास्तविक बल नहीं है।

**सर्वश्रेष्ठ बल**— वास्तविक बल तो अपने साथ अभय लेकर आता है। आत्मबल जितना बढ़ता है उतना ही अभय का विकास होता है। अन्य सारे बल भय बढ़ाते हैं। व्यक्ति जितना भयभीत होता है, उतना ही वह सुरक्षा चाहता है। बाहर का बल जितना ही बढ़ता है उतना ही भय भी बढ़ता है और भय के पीछे सुरक्षा की आवश्यकता भी उसे महसूस होती है। इस प्रकार जितना वह बाह्य-रूप से बलवान बनता है उतना ही भयभीत बनता है और उतनी ही सुरक्षा की आवश्यकता अनुभव करता है। भगवान् अभय में जीवन को जीए, उन्होंने आत्मबल की साधना की। वह चाहते तो किसी का सहारा ले सकते थे लेकिन उन्होंने किसी का सहारा, किसी की सुरक्षा नहीं ली, क्योंकि वे जानते थे कि बाह्य बल बढ़ाने से आत्मबल का जागरण नहीं होता। इसलिए वे सारे सहारे छोड़कर आत्मबल-आश्रित और आत्मनिर्भर बन गए। जैसे कहा जाता है कि श्रमण स्वावलम्बी होता है अर्थात् वह किसी दूसरे के बल पर, व्यक्ति, वस्तु या परिस्थिति के बल पर नहीं खड़ा अपितु स्वयं अपने बल पर खड़ा हुआ है। जो दूसरे के बल पर खड़ा हुआ है वह सदैव दूसरों को खुश रखने के लिए प्रयत्नरत रहता है। जिस हेतु पापकर्म या माया का सेवन भी वह कर लेता है। आत्मबल बढ़ाने के लिए सत्य, अहिंसा और साधना का मार्ग है। 'भगवान् का मार्ग वीरों का मार्ग है।' वीर वह है जो अपने आत्मबल पर आश्रित रहता है। यह भ्रान्ति अधिकांश लोगों की है कि बाह्यबल बढ़ने से ही मेरा बल बढ़ेगा। इसलिए अनेक बार साधुजन भी ऐसा कहते हैं कि मेरा श्रावक बल बढ़ेगा, मेरे प्रति मान, सम्मान एवं भक्ति रखने वालों की वृद्धि होगी तो मेरा बल बढ़ेगा। फिर इस हेतु से अनेक प्रपंच भी बढ़ेंगे। यही अज्ञान है। वास्तविकता यह है कि बाह्य बल बढ़ाने से, उस पर आश्रित रहने से आत्मबल नहीं बढ़ता अपितु क्षीण होता है। लेकिन आत्मबल का विकास करने से सारे बल अपने आप बढ़ते हैं।

**साधु कौन ?**— साधु वही है जो बाह्यबल का आश्रय छोड़कर आत्मबल पर ही आश्रित रहता है। अतः आत्मबल का विकास करो। उसके लिए भगवान् के मार्ग पर चलो। चित्त में जितनी स्थिरता और समाधि होगी उतना ही आत्मबल का विकास होगा और उसी से समाज-श्रावक इत्यादि बल आपके साथ चलेंगे। बिना आत्मबल के दूसरा कोई बल साथ नहीं देगा।



बहुश्रुत, पंजाब केसरी, गुरुदेव  
श्री ज्ञान मुनि जी महाराज



**असंयम किसे कहते हैं ?**— इन्द्रियों के विषयों के प्रति जितनी आसक्ति होगी उतनी ही उन विषयों की पूर्ति करने वाले साधनों (धन, स्त्री, पद, प्रतिष्ठा आदि) के प्रति आसक्ति होगी। साधनों के प्रति रही हुई इस आसक्ति के कारण वह निरन्तर उसी ओर श्रम करता है, उनको पाने के लिए श्रम करता है, इस श्रम का नाम ही असंयम है।

**संयम क्या है ?**— इन्द्रिय निग्रह के लिए जो पुरुषार्थ किया जाता है वह संयम है और विषयों को जुटाने के लिए जो पुरुषार्थ किया जाता है वह असंयम है।

**साधु पद में गरिमायुक्त आचार्य पद**— साधुजन स्वयं की साधना करते हैं और आवश्यकता पड़ने पर सहयोग भी करते हैं। लेकिन आचार्य स्वयं की साधना करने के साथ-साथ (अपने लिए उपयुक्त साधना ढूँढने के साथ-साथ) यह भी जानते हैं और सोचते हैं कि संघ के अन्य सदस्यों को कौन-सी और कैसी साधना उपयुक्त होगी। उनके लिए साधना का कौन-सा और कैसा मार्ग उपयुक्त है। जैसे माँ स्वयं ही खाना नहीं खाती अपितु किसी को क्या अच्छा लगता है, किसके लिए क्या योग्य है यह जान-देखकर वह सबके लिए खाना बनाती भी है, इसी प्रकार आचार्य देव जानते हैं कि शुभ आलम्बन में एकाग्रता के लिए किसके लिए क्या योग्य है और उससे वैसी ही साधना करवाते हैं। इस प्रकार आचार्य पद की एक विशेष गरिमा है।

**पंचाचार की प्रतिमूर्ति**— हमारे आराध्य स्वरूप पूज्य गुरुदेव श्री शिवमुनि जी म. दीक्षा लेने के प्रथम क्षण से ही तप-जप एवं ध्यान योग की साधना में अनुरक्त रहे हैं। आपकी श्रेष्ठता, ज्येष्ठता और सुपात्रता को देखकर ही हमारे पूर्वाचार्यों ने आपको श्रमण संघ के पाट पर आसीन कर जिन-शासन की महती प्रभावना करने का संकल्प किया। जिनशासन की महती कृपा आप पर हुई।

यह संक्रमण काल है, जब जिनशासन में सकारात्मक परिवर्तन हो रहे हैं। भगवान महावीर के २६००वें जन्म कल्याणक महोत्सव पर हम सभी को एकता, संगठन एवं आत्मीयता-पूर्ण वातावरण में आत्मार्थ की ओर अग्रसर होना है। आचार्य संघ का पिता होता है। आचार्य जो स्वयं करता है वही चतुर्विध संघ करता है। वह स्वयं पंचाचार का पालक होता है तथा संघ को उस पथ पर ले जाने में कुशल भी होता है। आचार्य पूरे संघ को एक दृष्टि देते हैं जो प्रत्येक साधक के लिए निर्माण एवं आत्मशुद्धि का पथ खोल देती है। हमारे आचार्य देव पंचाचार की प्रतिमूर्ति हैं। पंचाचार का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

**ज्ञानाचार**— आज संसार में जितना भी दुख है उसका मूल कारण अज्ञान है। अज्ञान के परिहार हेतु जिनवाणी का अनुभवगम्य ज्ञान अति आवश्यक है। आज ज्ञान का सामान्य अर्थ कुछ पढ़ लेना, सुन लेना एवं उस पर चर्चा कर लेना या किसी और को उपदेश देना मात्र समझ लिया गया है। लेकिन जिनशासन में ज्ञान के साथ सम्यक् शब्द जुड़ा है। सम्यक् ज्ञान अर्थात् जिनवाणी के सार को अपने अनुभव से जानकर, जन-जन को अनुभव हेतु प्रेरित करना। द्रव्य श्रुत के साथ भावश्रुत को आत्मसात् करना। हमारे आराध्यदेव ने वर्षों तक बहुश्रुत गुरुदेव की ज्ञानमुनि जी म. सा., उपाध्याय प्रवर्तक श्री फूलचंद जी म. सा. 'श्रमण' एवं अनेक उच्चकोटि के संतों से द्रव्य श्रुत का ज्ञान ग्रहण कर अध्यात्म साधना के द्वारा



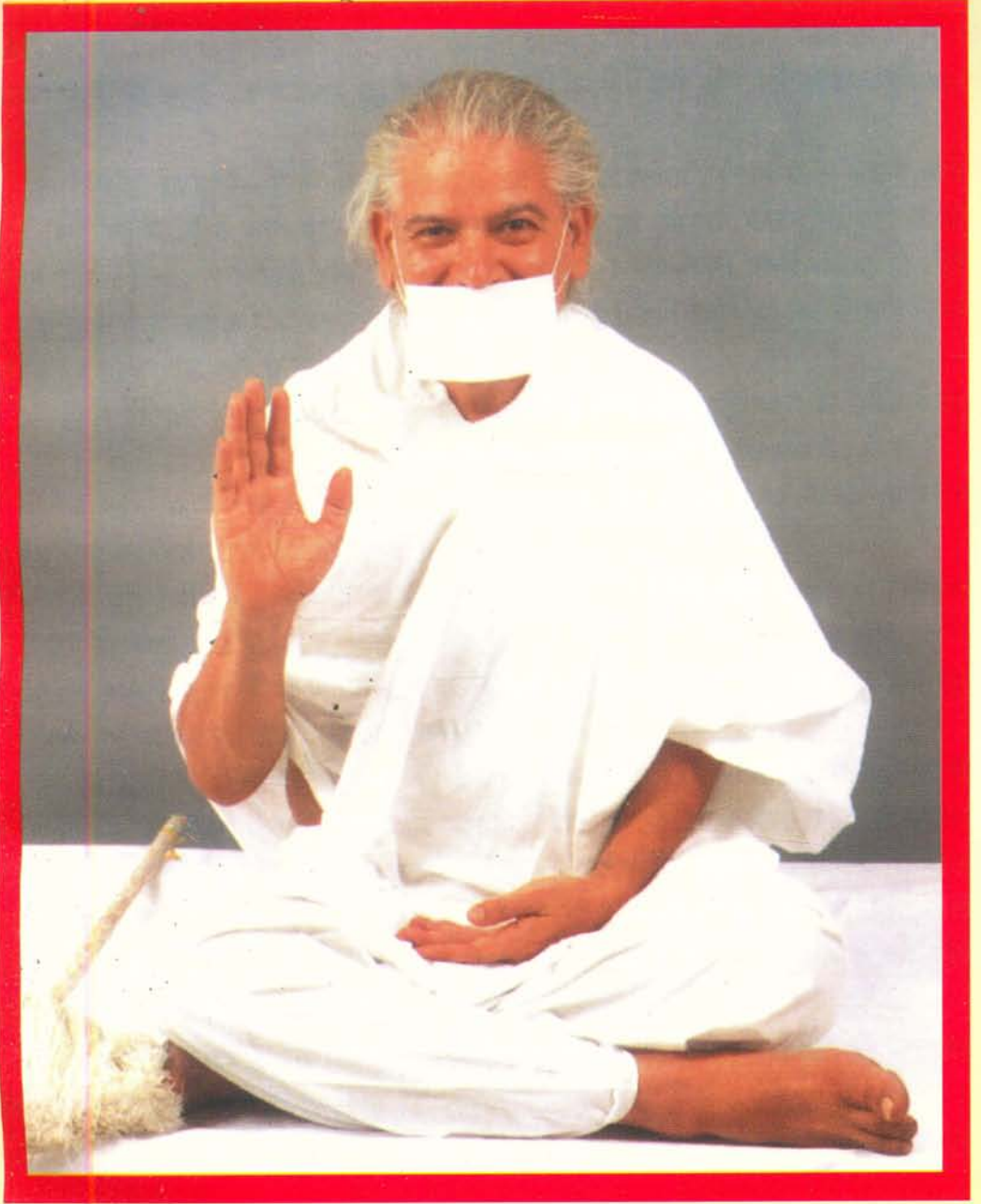
भाव श्रुत में परिणत किया एवं उसका सार रूप ज्ञान चतुर्विध संघ को प्रतिपादित कर रहे हैं एवं अनेक आगमों के रहस्य जो बिना गुरुकृपा से प्राप्त नहीं हो सकते थे, वे आपको जिन शासन देवों एवं प्रथम आचार्य भगवंत श्री आत्माराम जी म० की कृपा से प्राप्त हुए हैं। वही अब आप चतुर्विध संघ को प्रदान कर रहे हैं। आपने भाषाज्ञान की दृष्टि से गृहस्थ में ही डबल एम. ए. किया एवं सभी धर्मों में मोक्ष के मार्ग की खोज हेतु शोध ग्रन्थ लिखा और जैन धर्म से विशेष तुलना कर जैन धर्म के राजमार्ग का परिचय दिया। आज आपके शोध ग्रन्थ, साहित्य एवं प्रवचनों द्वारा ज्ञानाचार का प्रसार हो रहा है। आप नियमित सामूहिक स्वाध्याय करते हैं एवं सभी को स्वाध्याय की प्रेरणा देते हैं। अतः प्रत्येक साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका ज्ञानाचारी बनकर ही आचार्यश्री की सेवा कर सकता है।

**दर्शनाचार-** दर्शन अर्थात् श्रद्धा, निष्ठा एवं दृष्टि। आचार्य स्वयं सत्य के प्रति निष्ठावान होते हुए पूरे समाज को सत्य की दृष्टि देते हैं। जैन दर्शन में सम्यक् दृष्टि के पांच लक्षण बताए हैं- १. सम अर्थात् जो समभाव में रहता है। २. संवेग- अर्थात् जिसके भीतर मोक्ष की रुचि है उसी ओर जो पुरुषार्थ करता है, जो उद्वेग में नहीं जाता। ३. निर्वेद- जो समाज-संघ में रहते हुए भी विरक्त है, किसी में आसक्त नहीं है। ४. आस्था- जिसकी देव, गुरु, धर्म के प्रति दृढ़ श्रद्धा है, जो स्व में खोज करता है, पर में सुख की खोज नहीं करता है तथा जिसकी आत्मदृष्टि है, पर्यायदृष्टि नहीं है। पर्याय-दृष्टि राग एवं द्वेष उत्पन्न करती है। आत्म-दृष्टि सदैव शुद्धात्मा के प्रति जागरूक करती है। ऐसे दर्शनाचार से संपन्न हैं हमारे आचार्य प्रवर। चतुर्विध संघ उस दृष्टि को प्राप्त करने के लिए ऐसे आत्मार्थी सद्गुरु की शरण में पहुँचे और जीवन का दिव्य आनन्द अनुभव करे।

**चारित्राचार-** आचार्य भगवन् श्री आत्माराम जी म. चारित्र की परिभाषा करते हुए कहते हैं कि चयन किए हुए कर्मों को जो रिक्त कर दे उसे चारित्र कहते हैं। जो सदैव समता एवं समाधि की ओर हमें अग्रसर करे वह चारित्र है। चारित्र से जीवन रूपान्तरण होता है। जीवन की जितनी भी समस्याएँ हैं सभी चारित्र से समाप्त हो जाती हैं। इसीलिए कहा है 'एकान्त सुही मुणी वियरागी'। वीतरागी मुनि एकान्त रूप से सुखी हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष रूपी शत्रुओं को दूर करने के लिए आप वर्षों से साधनारत हैं। आप अनुभव गम्य, साधना जन्य ज्ञान देने हेतु ध्यान शिविरो द्वारा द्रव्य एवं भाव चारित्र की ओर समग्र समाज को एक नयी दिशा दे रहे हैं। आप सत्य के उत्कृष्ट साधक हैं एवं प्राणी मात्र के प्रति मंगल भावना रखते हैं एवं प्रकृति से भद्र एवं ऋजु हैं। इसलिए प्रत्येक वर्ग आपके प्रति समर्पित है।

**तपाचार-** गौतम स्वामी गुप्त तपस्या करते थे एवं गुप्त ब्रह्मचारी थे। इसी प्रकार हमारे आचार्य प्रवर भी गुप्त तपस्वी हैं। वे कभी अपने मुख से अपने तप एवं साधना की चर्चा नहीं करते हैं। वर्षों से एकान्तर तप उपवास के साथ एवं आभ्यन्तर तप के रूप में सतत स्वाध्याय एवं ध्यान तप कर रहे हैं। इसी ओर पूरे चतुर्विध संघ को प्रेरणा दे रहे हैं। संघ में गुणात्मक परिवर्तन हो, अवगुण की चर्चा नहीं हो, इसी संकल्प को लेकर चल रहे हैं। ऐसे उत्कृष्ट तपस्वी आचार्य देव को पाकर जिनशासन गौरव का अनुभव कर रहा है।

**वीर्याचार-** सतत अप्रमत्त होकर पुरुषार्थ करना वीर्याचार है। आत्मशुद्धि एवं संयम में स्वयं



जैन धर्म दिवाकर ध्यान योगी  
आचार्य सम्राट् डा० श्री शिवमुनि जी महाराज



पुरुषार्थ करना एवं करवाना वीर्याचार है।

ऐसे पंचाचार की प्रतिमूर्ति हैं हमारे श्रमण संघ के चतुर्थ पट्टधर आचार्य श्री शिवमुनि जी म.। इनके निर्देशन में सम्पूर्ण जैन समाज को एक दृष्टि की प्राप्ति होगी। अतः हृदय की विशालता के साथ, समान विचारों के साथ, एक धरातल पर, एक ही संकल्प के साथ हम आगे बढ़ें और शासन प्रभावना करें।

**निर्भीक आचार्य**— हमारे आचार्य भगवन् आत्मबल के आधार पर साधना के क्षेत्र में आगे बढ़ रहे हैं। संघ का संचालन करते हुए अनेक अवसर आये जहाँ पर आपको कठिन परीक्षण के दौर से गुजरना पड़ा। किन्तु आप निर्भीक होकर धैर्य से आगे बढ़ते गए। आपश्री जी श्रमण संघ के द्वारा पूरे देश को एक दृष्टि देना चाहते हैं। आपके पास अनेक कार्यक्रम हैं। आप चतुर्विध संघ में प्रत्येक वर्ग के विकास हेतु योजनाबद्ध रूप से कार्य कर रहे हैं।

पूज्य आचार्य भगवन् ने प्रत्येक वर्ग के विकास हेतु निम्न योजनाएँ समाज के समक्ष रखी हैं—

१. बाल संस्कार एवं धार्मिक प्रशिक्षण के लिए गुरुकुल पद्धति के विकास हेतु प्रेरणा।  
२. साधु-साध्वी, श्रावक एवं श्राविकाओं के जीवन के प्रत्येक क्षण में आनन्द पूर्ण वातावरण हो, इस हेतु सेवा का विशेष प्रशिक्षण एवं सेवा केन्द्रों की स्थापना।

३. देश-विदेश में जैन-धर्म के प्रचार-प्रसार हेतु स्वाध्याय एवं ध्यान साधना के प्रशिक्षक वर्ग को विशेष प्रशिक्षण।

४. व्यसन-मुक्त जीवन जीने एवं जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आनन्द एवं सुखी होकर जीने हेतु शुद्ध धर्म-ध्यान एवं स्वाध्याय शिविरों का आयोजन।

इन सभी कार्यों को रचनात्मक रूप देने हेतु आप श्री जी के आशीर्वाद से नासिक में 'श्री सरस्वती विद्या केन्द्र' एवं दिल्ली में 'भगवान महावीर मेडीटेशन एंड रिसर्च सेंटर ट्रस्ट' की स्थापना की गई है। इस केन्द्रीय संस्था के दिशा निर्देशन में देश भर में त्रिदिवसीय ध्यान योग साधना शिविर लगाए जाते हैं। उक्त शिविरों के माध्यम से हजारों-हजार व्यक्तियों ने स्वस्थ जीवन जीने की कला सीखी है। अनेक लोगों को असाध्य रोगों से मुक्ति मिली है। मैत्री, प्रेम, क्षमा और सच्चे सुख को जीवन में विकसित करने के ये शिविर अमोघ उपाय सिद्ध हो रहे हैं।

इक्कीसवीं सदी के प्रारंभ में ऐसे महान् विद्वान् और ध्यान-योगी आचार्यश्री को प्राप्त कर जैन संघ गौरवान्वित हुआ है।

— शिरीष मुनि

## आगम स्वाध्याय विधि

जैन आगमों के स्वाध्याय की परम्परा प्राचीनकाल से चली आ रही है। वर्तमान-काल में आगम लिपिबद्ध हो चुके हैं। इन आगमों को पढ़ने के लिए कौन साधक योग्य है और उसकी पात्रता कैसे तैयार की जा सकती है इसका संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है-

आगम ज्ञान को सूत्रबद्ध करने का सबसे प्रमुख लाभ यह हुआ कि उसमें एक क्रम एवं सुरक्षितता आ गई लेकिन उसमें एक कमी यह रह गई कि शब्दों के पीछे जो भाव था उसे शब्दों में पूर्णतया अभिव्यक्त करना संभव नहीं था। जब तक आगम-ज्ञान गुरु-शिष्य परम्परा द्वारा आ रहा था तब तक वह ज्ञान पूर्ण रूप से जीवन्त था। यह ऐसा था जैसे भूमि में बीज को बोना। गुरु पात्रता देखकर ज्ञान के बीज बो देते थे और वही ज्ञान फिर शिष्य के जीवन में वैराग्य, चित्त-स्थैर्य, आत्म-परिणामों में सरलता और शांति बनकर उभरता था। आगम-ज्ञान को लिपिबद्ध करने के पश्चात् वह प्रत्यक्ष न रहकर किञ्चित् परोक्ष हो गया। उस लिपिबद्ध सूत्र को पुनः प्राणवान बनाने के लिए किसी आत्म-ज्ञानी सद्गुरु की आवश्यकता होती है।

आत्म-ज्ञानी सद्गुरु के मुख से पुनः वे सूत्र जीवन्त हो उठते हैं। ऐसे आत्म-ज्ञानी सद्गुरु जब कभी शिष्यों में पात्रता की कमी देखते हैं तो कुछ उपायों के माध्यम से उस पात्रता को विकसित करते हैं। यही उपाय पूर्व में भी सहयोग के रूप में गुरुजनों द्वारा प्रयुक्त होते थे, हम उन्हीं उपायों का विवरण नीचे प्रस्तुत कर रहे हैं-

तीर्थकरों द्वारा प्रतिपादित शासन की प्रभावना में अनेकानेक दिव्य शक्तियों का सहयोग भी उल्लेखनीय रहा है। जैसे प्रभु पार्श्वनाथ की शासन रक्षिका देवी माता पद्मावती का सहयोग शासन प्रभावना में प्रत्यक्ष होता है। उसी प्रकार आदिनाथ भगवान की शासन रक्षिका देवी माता चक्रेश्वरी देवी का सहयोग भी उल्लेखनीय है।

इन सभी शासन-देवों ने हमारे महान् आचार्यों को समय-समय पर सहयोग दिया है। यदि आगम अध्ययन किसी सद्गुरु की नेश्राय में किया जाए एवं उनकी आज्ञानुसार शासन रक्षक देव का ध्यान किया जाए तब वह हमें आगम पढ़ने में अत्यन्त सहयोगी हो सकता है। ध्यान एवं उपासना की विधि गुरुगम से जानने योग्य है। संक्षेप में हम यहां पर इतना ही कह सकते हैं कि तीर्थकरों की भक्ति से ही वे प्रसन्न होते हैं।



आगम पढ़ने में चित्त स्थैर्य का अपना महत्व है और चित्त स्थैर्य के लिए योग, आसन, प्राणायाम एवं ध्यान का सविधि एवं व्यवस्थित अभ्यास आवश्यक है। यह अभ्यास भी गुरु आज्ञा में किसी योग्य मार्गदर्शक के अन्तर्गत ही करना चाहिए।

आसन प्राणायाम और ध्यान का प्रमुख सहयोगी तत्त्व है। शरीर की शुद्धि की षड्क्रियाएं हैं। इन क्रियाओं का विधिपूर्वक अभ्यास करने से साधना के बाधक तत्त्व, शारीरिक व्याधियां, दुर्बलता, शारीरिक अस्थिरता, शरीर में व्याप्त उत्तेजना इत्यादि लक्षण समाप्त होकर आसन स्थैर्य, शारीरिक और मानसिक समाधि एवं अन्तर में शान्ति और सात्विकता का आविर्भाव होता है तथा इस पात्रता के आधार पर प्राणायाम और ध्यान की साधना को गति मिलती है।

अपने सद्गुरु देवों की भक्ति, उनका ध्यान एवं प्रत्यक्ष सेवा यह ज्ञान उपार्जन का प्रत्यक्ष एवं महत्त्वपूर्ण उपाय है। शिष्य की भक्ति ही उसका सबसे बड़ा कवच है।

अनेक साधक स्वाध्याय का अर्थ केवल विद्वता कर लेते हैं। लेकिन स्वाध्याय का अन्तर्हृदय है, आत्म-समाधि और इस आत्म-समाधि के लिए सात्विक भोजन का होना भी एक प्रमुख कारण है।

प्रतिदिन मंगलमैत्री का अभ्यास और आगम पठन केवल इस दृष्टि से किया जाए कि इससे मुझे कुछ मिले, मेरा विकास हो, मैं आगे बढ़ूं, तब तो वह स्व-केन्द्रित साधना हो जाएगी, जिसका परिणाम अहंकार एवं अशांति होगा। ज्ञान-साधना का प्रमुख आधार हो कि मेरे द्वारा इस विश्व में शांति कैसे फैले, मैं सभी के आनन्द एवं मंगल का कारण कैसे बनूं, मैं ऐसा क्या करूं कि जिससे सबका भला हो, सबकी मुक्ति हो। यह मंगल भावना जब हमारे आगम ज्ञान और अध्ययन का आधार बनेगी तब ज्ञान अहम् को नहीं प्रेम को बढ़ाएगा। तब ज्ञान का परिणाम विश्व प्रेम और वैराग्य होगा, अहंकार और अशांति नहीं।

— शिरीष मुनि

## द्वितीय श्रुतस्कंध गणधर कृत है ?

आगम साहित्य में आचाराङ्ग सूत्र का महत्वपूर्ण स्थान है। क्योंकि, आचार जीवन का, साधना का मूलाधार है। इसी के सहारे मानव मुक्ति पथ को तय करता है। यही कारण है कि अतीत में जितने भी तीर्थंकर हुए हैं, उन सब ने सर्व प्रथम आचार का उपदेश दिया और अनागत में जितने भी तीर्थंकर होंगे वे सब सर्व प्रथम आचार का उपदेश देंगे तथा वर्तमान में महाविदेह क्षेत्र में जो तीर्थंकर विद्यमान हैं, वे भी अपने शासनकाल में सर्व प्रथम आचार का उपदेश देते हैं। इससे इसकी महत्ता स्वतः सिद्ध होती है और इसकी प्राचीनता भी स्पष्टतः परिलक्षित होती है।

प्रस्तुत सूत्र साध्वाचार का पथ प्रदर्शक है। वस्तुतः पंचाचार की नींव पर आचाराङ्ग सूत्र का भव्य भवन स्थित है। श्रमण साधना से सम्बद्ध कोई भी बात ऐसी नहीं है, जिसका वर्णन आचाराङ्ग सूत्र में नहीं आया हो। इसी विशेषता के कारण इसे आचाराङ्ग भगवान कहा गया है। यह आगम दो श्रुतस्कन्धों में विभक्त है।

प्रथम श्रुतस्कन्ध का विषय गूढ़ एवं गम्भीर है। वर्णन शैली प्राचीन होते हुए भी सुन्दर एवं अनुपम है। भाषा प्राञ्जल एवं प्रवाहमय होते हुए भी विषय के अनुरूप क्लिष्ट भी है। परन्तु, क्लिष्टता के साथ लालित्य भी है और छोटे-छोटे सूत्रों में इतना विशाल अर्थ भर दिया है कि मानों गागर में सागर ठाठें मार रहा हो।

भाषा एवं भावों की दृष्टि से प्रथम श्रुतस्कन्ध जितना गम्भीर एवं कठिन है, द्वितीय श्रुतस्कन्ध उतना ही सुगम, सरल एवं सुबोध है। सीधी-सादी भाषा भावों को स्वतः स्पष्ट करती जाती है। उसे समझने के लिए साधक को अधिक गहराई में नहीं उतरना पड़ता है। थोड़े से प्रयत्न से ही उसे आचार का नवनीत प्राप्त हो जाता है। वस्तुतः सुगम पथ पर प्रत्येक पथिक सुगमता से चल सकता है। दुर्गम पथ को पार करने वाले विरले ही महापुरुष होते हैं। आचाराङ्ग सूत्र की भी यही स्थिति है। पहला श्रुतस्कन्ध भाव, भाषा एवं विषय की दृष्टि से गहन, गम्भीर एवं कठिन है, तो द्वितीय श्रुतस्कन्ध सरल एवं सुगम है। जिसे हृदयंगम करने के लिए मस्तिष्क को अधिक श्रम नहीं करना पड़ता है।

समवायाङ्ग सूत्र में बताया है कि प्रथम श्रुतस्कन्ध के नव अध्ययन हैं और ये नव अध्ययन ५१ उद्देशकों में विभक्त हैं। द्वितीय श्रुतस्कन्ध में १६ अध्ययन हैं और उनके ३४ उद्देशक हैं। पूरे आचाराङ्ग सूत्र के २५ अध्ययन हैं और ये सब ८५ उद्देशकों से संयुक्त हैं। इसमें अठारह सहस्र पद हैं।<sup>१</sup>

ऐसा ही पाठ श्री नन्दी सूत्र में भी मिलता है। इससे स्पष्ट होता है कि आचाराङ्ग भगवान का भव्य भवन ८५ स्तम्भों पर खड़ा है। आगम में स्पष्ट शब्दों में कहा है— “नव ब्रह्मचर्यों के ५१ उद्देशक हैं”<sup>२</sup>

१. से णं अंगदठथाए पढ्मे अंगे दो सूयखंदा- पणवीस्सं अण्डयणा, पंचासीइ उद्देशण काला, पच्चासी समुद्देशण काला, अट्ठारस्स पद सहस्साइ पदगेणं।

आधारस्स भगवतो स चूलिआगस्स अट्ठारस्स पय सहस्साइ पन्नाइं। -समवायाङ्ग, द्वादशाङ्गी अधिकार।

२. नवण्हं बंधचेराणं एकावन्नं उद्देशण काला पं०। - समवायाङ्ग सूत्र, ५१

प्रस्तुत आगम के प्रथम श्रुतस्कन्ध के अध्ययनों का नाम ब्रह्मचर्य है। आगे कहा गया है कि "आचाराङ्ग भगवान के चूलिका के साथ पच्चीस अध्ययन कहे गए हैं, जैसे शस्त्र-परिज्ञा इत्यादि।" प्रस्तुत पाठों से उपरोक्त बात परिपुष्ट होती है और यह भी स्पष्ट हो जाता है कि प्रथम श्रुतस्कन्ध की तरह द्वितीय श्रुतस्कन्ध भी प्रामाणिक एवं गणधर कृत है। इन पाठों से संपूर्ण आचाराङ्ग सूत्र की विशिष्टता, प्रामाणिकता एवं गणधर कृतत्व झलक उठता है।

### आचाराङ्ग सूत्र के कर्ता-

जैन विचारकों की यह मान्यता है कि द्वादशांगी- अंग शास्त्र के प्रणेता तीर्थंकर होते हैं। तीर्थंकर भगवान अपने शासनकाल में द्वादशांगी का अर्थ रूप से उपदेश देते हैं। उस अर्थ रूप वाणी को गणधर सूत्र में ग्रथित करते हैं। अतः अर्थ रूप से द्वादशांगी के उपदेष्टा या प्रणेता तीर्थंकर होते हैं और गणधर उसे सूत्र रूप में ग्रथित करते हैं। गणधर कृत सूत्रों का मूलाधार तीर्थंकरों की अर्थ रूप वाणी होने से हम उसे तीर्थंकर या सर्वज्ञ कृत ही कहते हैं। इस दृष्टि से द्वादशांगी सर्वज्ञ प्रणीत कहलाती है। आचाराङ्ग सूत्र का द्वादशांगी में प्रथम स्थान है, अतः आचाराङ्ग सूत्र सर्वज्ञ प्रणीत माना जाता है।

### द्वितीय श्रुतस्कन्ध के रचयिता- गणधर हैं या स्थविर ?

इसमें कोई दो मत नहीं हैं कि आचाराङ्ग का प्रथम श्रुतस्कन्ध गणधर कृत है। परन्तु, द्वितीय श्रुतस्कन्ध के सम्बन्ध में कुछ विचार भेद है। कई विचारक एवं तत्त्ववेत्ता द्वितीय श्रुतस्कन्ध को गणधर कृत नहीं, प्रत्युत स्थविर कृत मानते हैं। चूर्णिकार का अभिमत है कि आचाराङ्ग का द्वितीय श्रुतस्कन्ध स्थविरों द्वारा रचा हुआ है<sup>१</sup>। जर्मन विद्वान भी हरमन जेकोबी भी चूर्णिकार के मत से सहमत हैं। कई जैन विचारक एवं विद्वान भी इसे स्थविर कृत मानते हैं। उनका कथन है कि विषय की समानता होने के कारण इसे स्थविरों ने बाद में चूलिका के रूप में आचाराङ्ग के साथ सम्बद्ध किया है। परन्तु, मेरी मान्यता यह है कि प्रस्तुत आगम का द्वितीय श्रुतस्कन्ध स्थविर कृत नहीं, गणधर कृत है। आगम में भी इसका स्पष्ट उल्लेख मिलता है।

हम समवायाङ्ग सूत्र का पाठ देख चुके हैं, उसमें स्पष्टतया बताया गया है कि प्रथम अंग (आचाराङ्ग) के दो श्रुतस्कन्ध, २५ अध्ययन, ८५ उद्देशक और १८ सहस्र पद हैं। समवायाङ्ग सूत्र अंग सूत्रों में समाविष्ट है। अतः वह गणधर कृत है। उसमें आचाराङ्ग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध को प्रथम श्रुतस्कन्ध से सम्बद्ध करके वर्णन किया गया है। यदि द्वितीय श्रुतस्कन्ध गणधर कृत नहीं होता तो गणधर कृत समवायाङ्ग सूत्र में इसका उल्लेख नहीं मिलता। प्रस्तुत पाठ से यह स्पष्ट हो जाता है कि द्वितीय श्रुतस्कन्ध भी प्रथम श्रुतस्कन्ध की तरह गणधर कृत है।

केवल समवायाङ्ग सूत्र में ही नहीं, अन्य आगम साहित्य में भी इस की प्राचीनता, प्रामाणिकता एवं महत्त्वपूर्णता का उल्लेख मिलता है। इसके साथ अन्य आगमों में इसके गणधर कृत होने के प्रमाण

१. आधारस्स ण भगवओ सचूलिआवरस्स पणवीसं अण्डायणा पन्नत्ता तंजहा- सत्थपरिणा.....।

-समवायाङ्ग सूत्र, २५।

२. थेरेहि अणुंगहट्टा सीसहिअं होउ पागडत्थं च आयाराओ अत्थो आयाराङ्गेषु पविभत्तो।

"स्थविरः श्रुतवृन्दैश्चतुर्दश पूर्वैर्विद्विनिर्वृद्धानीति, किमर्थं ? शिष्य हिनं भवत्विति कृत्वाऽनुग्रहार्थं तथाऽप्रकटोऽर्थः। प्रकटो यथा स्यादित्येवमर्थञ्च, कुतो नियुद्धानि आचारात् सकाशात् समस्तोऽप्यर्थ आचाराग्रेषु विस्तरेण प्रविभक्त इति।"

भी मिलते हैं।

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में बताया गया है कि भगवान ऋषभदेव ने श्रमण साधना के लिए पच्चीस भावनाओं के साथ पांच महाव्रतों का उपदेश दिया। इसमें 'भावना-गमेण' शब्द विशेष महत्त्वपूर्ण है<sup>१</sup>। आचाराङ्ग सूत्र के २४ वें अध्ययन का नाम 'भावना अध्ययन' है, इसमें ५ महाव्रत की २५ भावनाओं का विस्तृत विवेचन मिलता है। प्रस्तुत पाठ इस ओर संकेत कर रहा है। समवायाङ्ग सूत्र में २५ अध्ययनों का नाम निर्देश किया है<sup>२</sup>। इससे स्पष्टतः सिद्ध होता है कि द्वितीय श्रुतस्कन्ध पहले श्रुतस्कन्ध से सम्बद्ध है। अतः वह भी प्रथम श्रुतस्कन्ध की तरह गणधर कृत है। स्थानाङ्ग सूत्र में भी हमें ऐसा ही पाठ मिलता है, जिसमें भावना अध्ययन का उदाहरण दिया गया है<sup>३</sup>। इसके अतिरिक्त प्रश्नव्याकरण सूत्र में यह प्रश्न उठाया गया है कि साधु को कैसा और किस तरह का आहार ग्रहण करना चाहिए ? इसके उत्तर में कहा गया है 'पिण्डपात' अध्ययन के ग्यारह उद्देशकों में आहार-पानी ग्रहण करने की जो विधि बताई है, उस तरह से ग्रहण करना चाहिए<sup>४</sup>। पाठकों को यह नहीं भूलना चाहिए कि 'पिण्डपात' आचाराङ्ग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध का प्रथम अध्ययन है। अतः प्रस्तुत पाठ भी द्वितीय श्रुतस्कन्ध की महत्ता को प्रकट कर रहा है। ये सब पाठ इस बात को सिद्ध कर रहे हैं कि द्वितीय श्रुतस्कन्ध की रचना उसी समय हुई थी, जब प्रथम श्रुतस्कन्ध की हुई है। अतः उभय श्रुतस्कन्ध गणधर कृत हैं।

#### भाषा एवं शैली का अन्तर -

यह हम ऊपर देख चुके हैं कि कुछ विचारक द्वितीय श्रुतस्कन्ध को गणधर कृत नहीं मानते हैं। चूर्णिकार भी इसे स्थविर कृत मानते हैं और डा० हर्मन जेकोबी एवं अन्य प्राच्य एवं पाश्चात्य विद्वान भी चूर्णिकार के विचारों से सहमत हैं। उनका कथन है कि प्रथम श्रुतस्कन्ध के ९ अध्ययन ही गणधर कृत हैं। शेष द्वितीय श्रुतस्कन्ध के १६ अध्ययन पीछे से जोड़े गए हैं। अतः इनका रचयिता गणधर नहीं, कोई स्थविर ही होना चाहिए।

अपने पक्ष के समर्थन में उनका कथन है कि प्रथम एवं द्वितीय श्रुतस्कन्ध की भाषा, भाव और शैली में एकरूपता नहीं है। प्रथम श्रुतस्कन्ध के भाव गहन-गंभीर हैं और भावों के अनुरूप उसकी भाषा एवं शैली भी क्लिष्ट एवं गम्भीर है। परन्तु, द्वितीय श्रुतस्कन्ध के भावों में यह दार्शनिकता एवं गम्भीरता नहीं है, जो प्रथम श्रुतस्कन्ध के भावों में है। इसी कारण उसकी भाषा एवं शैली में गाम्भीर्य परिलक्षित नहीं होता है। यदि दोनों श्रुतस्कन्ध एक ही व्यक्ति के निर्मित होते तो दोनों के भाव, भाषा एवं शैली में इतना अन्तर नहीं आता। इससे प्रतीत होता है कि द्वितीय श्रुतस्कन्ध चूलिका के रूप में पीछे से जोड़ा गया है।

हम विचारकों की इस बात से पूर्णतः सहमत हैं कि दोनों श्रुतस्कन्धों की भाषा एवं शैली में

१. तएणं से भगवं समणाणं णिग्गंधाणं वा णिग्गंधीणं पंच महव्वयाइं सभावणागाइं छज्जीवणिकाए धम्म देसमाणे विहरइ तंजहा-पुढवी काइए भावनागमेण पंच महव्वयाइं सभावणागाइं भणियव्वाइं।

-जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति वक्ष, ऋषभ अधिकार।

२. आयारस्स णं भगवओ सचूलिआयरस्स पणवीस अज्झवणा णं तंजहा- सत्थ परिण्णा, लोग विजओ, सीओसणीय, सम्मत्तं आवंति, धूय, विमोह, उवहाण, सूयं, महपरिण्णा, पिंडेसणा, सिज्जिरिआ, भासज्झयणा, य वत्थ, पाएसा, उग्गह पडिमा, सतिक्कसत्तया, 'भावणा,' विमुक्ति। -समवायाङ्ग सूत्र, २५।

३. अममे, अकिंचणे, अच्छिन्नगंधे, निरुवलेवे, कसयाईव, मुक्कतोए जहा भावणाए। -स्थानाङ्ग सूत्र, स्थान ६।

४. अह केरिसयं पुणाइ कप्पति, ज तं एकारस्स पिंडवाय सुद्धं। -प्रश्नव्याकरण सूत्र, संवरद्वार ५।

भिन्नता है। परन्तु, इससे यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि दूसरा श्रुतस्कन्ध गणधर कृत नहीं, स्थविर कृत है। क्योंकि, केवल भाषा एवं शैली भिन्नता का प्रतीक नहीं मानी जा सकती। हम देखते हैं कि भावों के अनुसार भाषा भी बदलती रहती है। बी० ए० और एम० ए० के स्तर की पुस्तकें एवं पी-एच० डी० के स्तर का महानिबन्ध लिखने वाला प्रोफेसर जब प्रथम एवं द्वितीय श्रेणी के छात्रों के लिए पुस्तकें लिखता है, तो उन दोनों पुस्तकों की भाषा एवं शैली में रात-दिन का अंतर होता है। जो एम० ए० एवं पी-एच० डी० के स्तर के महानिबन्ध के भावों में गंभीरता एवं प्रौढ़ता है, वह प्रथम एवं द्वितीय श्रेणी के स्तर की पुस्तकों में नहीं आ सकती है। अतः भावों के अनुरूप भाषा एवं शैली में वह गम्भीरता नहीं रह सकती। बाल साहित्य लिखते समय प्रोफेसर को बच्चों की भाषा एवं शैली का ख्याल रखना होगा। परन्तु, इस बाल साहित्य की सीधी-सादी शैली एवं हल्की भाषा के कारण हम यह नहीं कह सकते कि महानिबन्ध एवं एम० ए० के साहित्य का लेखक एवं बाल साहित्य का लेखक एक नहीं, दो भिन्न व्यक्ति हैं। इससे स्पष्ट हो गया कि एक ही व्यक्ति क्लिष्ट एवं सरल भाषा में लिख सकता है। भाषा भावों के अनुरूप बदलती रहती है।

आचाराङ्ग का प्रथम श्रुतस्कन्ध तात्त्विक है। इसमें पांच आचार- १-ज्ञानाचार, २-दर्शनाचार, ३-चारित्राचार, ४-तपाचार और ५-वीर्याचार का तात्त्विक विवेचन किया गया है। अतः उस में सूत्र शैली का प्रयोग किया गया है। थोड़े से शब्दों से बहुत कुछ कह दिया गया है। एक प्रकार से गागर में सागर भर दिया है। अतः भावों की गम्भीरता के अनुरूप ही भाषा एवं शैली में क्लिष्टता एवं गाम्भीर्य का आना स्वाभाविक था। परन्तु, द्वितीय श्रुतस्कन्ध में प्रायः साध्वाचार का ही वर्णन है और वह सर्व साधारण के लिए है। इसके भावों में दार्शनिकता एवं गम्भीरता कम है। उसके भावों को प्रत्येक व्यक्ति सरलता से समझ सकता है। अतः भावों के अनुरूप उसकी भाषा एवं शैली भी सरल एवं सीधी-सादी है। अतः दोनों श्रुतस्कन्धों की भाषा एवं शैली का अन्तर दो विभिन्न कर्त्ताओं के कारण नहीं, अपितु भावों की विभिन्नता के कारण है। अतः उभय श्रुतस्कन्ध गणधर कृत ही हैं।

### उभय श्रुतस्कन्ध एक-दूसरे के पूरक हैं-

आचाराङ्ग सूत्र का अनुशीलन-परिशीलन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि दोनों श्रुतस्कन्ध एक-दूसरे के परिपूरक हैं। हम यह देख चुके हैं कि प्रथम श्रुतस्कन्ध में ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार इन ५ आधारों का वर्णन किया है और द्वितीय श्रुतस्कन्ध में प्रायः साध्वाचार का विस्तृत विवेचन मिलता है। यदि पंचाचार साधना की लहलहाती हुई खेती है, तो साध्वाचार उस की बाड़ है, जो उसकी हर तरह से सुरक्षा करती है। साध्वाचार के अभाव में पंचाचार की उत्कृष्ट साधना नहीं हो सकती। अतः उभय श्रुतस्कन्ध अपने-अपने स्थान पर महत्वपूर्ण हैं। इन्हें एक-दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता। देखिए, आचाराङ्ग सूत्र में द्वितीय श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन के प्रथम उद्देशक को प्रारम्भ करते समय वृत्तिकार लिखते हैं कि "प्रथम श्रुतस्कन्ध पूरा हुआ अब द्वितीय श्रुतस्कन्ध प्रारम्भ करते हैं, उसका परस्पर यह सम्बन्ध है<sup>१</sup>।" इससे यह स्पष्ट होता है कि द्वितीय श्रुतस्कन्ध आचाराङ्ग का उपयोगी

१. षक्तो नवब्रह्मचर्याध्ययनात्मक आचार श्रुतस्कन्धः साम्प्रतं समाप्तं द्वितीयोऽग्रश्रुतस्कन्धः समारभ्यते, अस्य चायमभि-सम्बन्धः। -आचाराङ्ग वृत्ति, द्वितीय श्रुतस्कन्ध।



अंग है और इसे प्रथम श्रुतस्कन्ध से किसी भी तरह अलग नहीं किया जा सकता है।

### द्वितीय श्रुतस्कन्ध का कर्ता कौन स्थविर है ?

हम विस्तार से बता चुके हैं कि द्वितीय श्रुतस्कन्ध गणधर कृत है। यदि कुछ लोगों के विचारानुसार यह स्थविर कृत है, तो यह प्रश्न उठे बिना नहीं रहेगा कि इसका कर्ता कौन स्थविर है ? अतः इसे स्थविर कृत मानने वाले वरिष्ठ विद्वानों को यह स्पष्ट करना चाहिए कि उस स्थविर का नाम क्या था ? उसने किस शताब्दी में इसकी रचना की? बिना प्रमाण के कोई भी बात मान्य नहीं की जा सकती। क्योंकि, कई आगमों का संकलन गणधरों से भिन्न स्थविरों ने किया है, वहां उनके नामों का उल्लेख मिलता है।

जैसे दशवैकालिक सूत्र गणधर कृत नहीं है। इसमें प्रायः साध्वाचार का वर्णन है। वस्तुतः देखा जाए तो यह आचाराङ्ग का एक छोटा-सा रूप है, संक्षिप्त संस्करण है। इसके संकलन कर्ता श्री संभवाचार्य थे। भगवान महावीर के निर्वाण पधारने के ८५ वर्ष बाद वे आचार्य पद पर आसीन हुए। उन्होंने अपने नवदीक्षित पुत्र को साध्वाचार का ज्ञान कराने के लिए इस आगम का संकलन किया था। यह आगम अलौकिक विलक्षण होते हुए भी भाषा की दृष्टि से सरल एवं सुगम है और हम देखेंगे कि इसका निर्माण करते समय विशेष रूप से आचाराङ्ग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध का ही सहारा लिया है। अतः हम कह सकते हैं कि द्वितीय श्रुतस्कन्ध ही दशवैकालिक की नींव है।

आचाराङ्ग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन का नाम 'पिण्डैषणा' अध्ययन है। इस अध्ययन को सम्मुख रखकर ही दशवैकालिक के पांचवें अध्ययन का निर्माण किया गया है, उसका नाम भी 'पिण्डैषणा' है। दोनों का विषय भी एक है और दोनों के नाम भी एक ही हैं। दशवैकालिक का चौथा 'छज्जीवणीकाय' अध्ययन आचाराङ्ग के 'भावना' अध्ययन के आधार से रचा गया है, जो द्वितीय श्रुतस्कन्ध का १५वां अध्ययन है। दशवैकालिक का 'सुवक्क सुद्धी' नामक सातवां अध्ययन द्वितीय श्रुतस्कन्ध के भाषा अध्ययन का पद्य में अनुवाद है। इन प्रमाणों से यह भी स्पष्ट होता है कि दशवैकालिक आचाराङ्ग का सुन्दर पद्यानुवाद है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि आचाराङ्ग का द्वितीय श्रुतस्कन्ध संभवाचार्य से पहले विद्यमान था। इससे यह भी ध्वनित होता है कि यह गणधर कृत है। क्योंकि, यदि यह साधारण स्थविर कृत होता तो सम्भवाचार्य इसके आधार पर दशवैकालिक की रचना नहीं करते और जैसे दशवैकालिक सूत्र के साथ संभवाचार्य का नाम जुड़ा हुआ है वैसे द्वितीय श्रुतस्कन्ध के कर्ता का नाम भी उसके साथ सम्बद्ध होता। परन्तु, द्वितीय श्रुतस्कन्ध के कर्ता के नाम का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता है और आज तक न किसी विद्वान ने इसका उल्लेख किया है। अतः इस से यह स्पष्टतः सिद्ध होता है कि द्वितीय श्रुतस्कन्ध दशवैकालिक से अधिक प्राचीन एवं गणधर कृत है।

### द्वितीय श्रुतस्कन्ध की प्रामाणिकता का एक और प्रमाण

यह हम देख चुके हैं कि दशवैकालिक सूत्र का निर्माण द्वितीय श्रुतस्कन्ध के आधार पर हुआ है। इसके अतिरिक्त अन्य आगमों में अनेक स्थानों पर आचाराङ्ग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध की झलक मिलती है। हम यों भी कह सकते हैं कि आचाराङ्ग सूत्र बत्तीस आगमों में समाहित-सा हो गया है। स्थानाङ्ग-सूत्र में यह वर्णन आता है कि 'चार श्य्या प्रतिमा, चार वस्त्र प्रतिमा, चार पात्र प्रतिमा और चार स्थान प्रतिमा कही

गई हैं।<sup>१</sup> वस्तुतः ये चारों प्रतिमाएं साध्वाचार की चार कड़ियां हैं। आचाराङ्ग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में इनसे सम्बद्ध चार अध्ययन हैं। वस्तुतः यह पाठ उन्हीं के आधार पर लिखा गया है। स्थानाङ्ग सूत्र में एक पाठ और आता है, उसमें आहार-पानी आदि की सात एषणाओं का वर्णन किया गया है<sup>२</sup>। यह पाठ भी द्वितीय श्रुतस्कन्ध के आधार पर लिखा गया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि प्रस्तुत श्रुतस्कन्ध भी गणधर कृत है। यदि वह गणधर कृत नहीं होता तो स्थानाङ्ग जैसे प्राञ्जल एवं गणधर कृत आगम में इतनी स्पष्टता से उसकी महत्ता को कभी भी स्वीकार नहीं किया जाता। इसके अतिरिक्त समवायाङ्ग, जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, प्रश्नव्याकरण आदि सूत्रों के पाठ हम पहले ही बता चुके हैं। इससे यह स्पष्टतः प्रतीत होता है कि आचाराङ्ग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के भावों का आगमों में जाल बिछा हुआ है। यह एक सोचने-समझने की बात है कि एक साधारण स्थविर कृत आगम को इतना सम्मान कैसे प्राप्त हो सकता है और उसका उल्लेख गणधर कृत आगमों में कैसे आ सकता है? इससे यह सूर्य के उजाले की तरह साफ हो जाता है कि द्वितीय श्रुतस्कन्ध गणधर कृत है।

**स्थविर शब्द की व्याख्या— गणधर को भी स्थविर कहते हैं**

स्थविर शब्द केवल अनुभवी एवं वृद्ध के लिए प्रयोग में नहीं आता है, प्रत्युत उसमें अनेक अर्थ एवं भाव सन्निहित रहते हैं। जैनागमों में स्थविर शब्द प्रमुख नायक के लिए भी प्रयुक्त हुआ है। स्थानाङ्ग सूत्र में ग्राम स्थविर, नगर स्थविर, राष्ट्र स्थविर<sup>३</sup>, पार्श्वस्थ स्थविर, कुल स्थविर, गण स्थविर, संघ स्थविर, वय स्थविर, श्रुत स्थविर और दीक्षा स्थविर, इन दस स्थविरों का वर्णन किया गया है। प्रस्तुत प्रकरण में स्थविर प्रमुख नेता के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अपने-अपने विभाग का स्थविर— प्रमुख व्यक्ति हर दृष्टि से योग्य एवं अनुभवी होता है और वह स्व विभाग से सम्बद्ध सम्पूर्ण दायित्व अपने सबल कन्धों पर उठा लेता है। इसके अतिरिक्त तीन प्रकार के स्थविर और भी बताए गए हैं— १-वय स्थविर, २-श्रुत स्थविर और ३-दीक्षा स्थविर। ६० वर्ष की आयु में कदम रखते ही साधु को वय स्थविर के पद से विभूषित कर दिया जाता है।

उपरोक्त संपूर्ण विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रस्तुत आगम द्वितीय श्रुतस्कन्ध गणधर कृत ही है। शेषं केवलिगम्यमम्।

— आचार्य आत्माराम

१. चत्तारि सेज्जा पडिमाओ पं०, चत्तारि वत्थ पडिमाओ पं०,  
चत्तारि पाय पडिमाओ पं०, चत्तारि ठाण मडिमाओ पं०। -स्थानाङ्ग सूत्र, स्थान ४ उ ३।

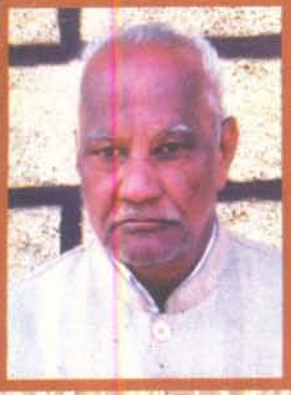
२. सत्त पिण्डेलणाओ पं०, सत्तपाणेसणाओ पं०,  
सत्त उग्ग हंपडिमाओ पं०, सत्त सन्निककया पं०। -स्थानाङ्ग सूत्र, स्थान ७।

३. दस थेरा पण्णता तंजहा— गाम थेरा, णगर थेरा, रट्ठ थेरा, पसत्थ थेरा, कुल थेरा, गण थेरा, संघ थेरा, जाई थेरा,  
सुय थेरा, परिघाय थेरा। -स्थानाङ्ग सूत्र, स्थान १०।

## अर्थ सहयोगी

- (1) श्री महेन्द्र कुमार जी जैन, मिनी किंग लुधियाना (पंजाब)
- (2) श्री शोभन लाल जी जैन, लुधियाना (पंजाब)
- (3) स्त्री सभा रूपा मिस्त्री गली, लुधियाना (पंजाब)
- (4) आर. एन. ओसवाल परिवार, लुधियाना (पंजाब)
- (5) सुश्राविका सुशीला बहन लोहटिया, लुधियाना (पंजाब)
- (6) सुश्राविका लीला बहन, मोगा (पंजाब)
- (7) उमेश बहन, लुधियाना (पंजाब)
- (8) स्व० श्री सुशील कुमार जी जैन लुधियाना (पंजाब)
- (9) श्री नवरंग लाल जी जैन संगरिया मण्डी (पंजाब)
- (10) वर्धमान शिक्षण संस्थान, फरीदकोट (पंजाब)
- (11) एस. एस. जैन सभा, जगराओं (पंजाब)
- (12) एस. एस. जैन सभा, गीदड़वाहा (पंजाब)
- (13) एस. एस. जैन सभा, केसरी-सिंह-पुर (पंजाब)
- (14) एस. एस. जैन सभा, हनुमानगढ़ (पंजाब)
- (15) एस. एस. जैन सभा, रत्नपुरा (पंजाब)
- (16) एस. एस. जैन सभा, रानियां (पंजाब)
- (17) एस. एस. जैन सभा, संगरिया (पंजाब)
- (18) एस. एस. जैन सभा, सरदूलगढ़ (पंजाब)
- (19) श्रीमती शकुन्तला जैन धर्मपत्नी श्री राजकुमार जैन, सिरसा (हरियाणा)
- (20) एस. एस. जैन सभा, बरनाला (पंजाब)
- (21) श्री रवीन्द्र कुमार जैन, भठिण्डा (पंजाब)
- (22) लाला श्री श्रीराम जी जैन सर्राफ, मालेर कोटला (पंजाब)
- (23) श्री चमनलाल जी जैन सुपुत्र श्री नन्द किशोर जी जैन, मालेर कोटला (पंजाब)
- (24) श्री मूर्ति-देवी जैन धर्मपत्नी श्री रतनलाल जी जैन (अध्यक्ष), मालेर कोटला (पंजाब)

# श्रुतशेखा



श्री नवरंगलाल जैन



श्री संतोष कुमार जैन



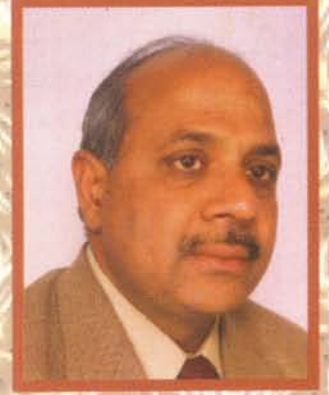
श्री प्रेम चन्द जैन



श्री जंगदीश चन्द जैन



श्रीमती राममूर्ति जैन



श्री सुर्दशन कुमार जैन



श्रीमती सुशीला देवी जैन



श्री प्रमोद जैन



- (25) श्रीमती माला जैन धर्मपत्नी श्री राममूर्ति जैन लोहटिया, मालेर कोटला (पंजाब)
- (26) श्रीमती एवं श्री रत्नचंद जी जैन एंड संस, मालेर कोटला (पंजाब)
- (27) श्री-बचनलाल जी जैन सुपुत्र स्व. श्री डोगरमल जी जैन, मालेर कोटला (पंजाब)
- (28) श्री अनिल कुमार जैन, श्री कुलभूषण जैन सुपुत्र श्री केसरीदास जैन, मालेर कोटला (पंजाब)
- (29) श्री एस. एस. जैन सभा, मलौट मण्डी (पंजाब)
- (30) श्री एस. एस. जैन सभा, सिरसा (हरियाणा)
- (31) श्रीमती कांता जैन धर्मपत्नी श्री गोकुलचन्द जी जैन शिरडी (महाराष्ट्र)
- (32) किरण बहन, रमेश कुमार जैन, बोकडिया, सूरत (गुजरात)
- (33) श्री श्रीपत सिंह, गोखरू, जुहू स्कीम मुम्बई (महाराष्ट्र)
- (34) एस. एस. जैन बिरादरी, तपावाली, मालेर कोटला (पंजाब)
- (35) प्रेमचन्द जैन सुपुत्र श्री बनारसी दास जैन मालेरकोटला (पंजाब)
- (36) प्रमोद जैन, मन्त्री एस. एस. जैन सभा मालेरकोटला (पंजाब)
- (37) श्री सुदर्शन कुमार जैन, सैक्रेटरी एस. एस. जैन सभा मालेर कोटला (पंजाब)
- (38) श्री जगदीश चन्द्र जैन हवेली वाले मालेर कोटला (पंजाब)
- (39) श्री संतोष जैन-खन्ना मण्डी (पंजाब)
- (40) श्री पार्वती जैन महिला मण्डल
- (41) श्री आनन्द प्रकाश जैन, अध्यक्ष जैन महासंघ (दिल्ली प्रदेश)

## अपने संघ, संस्था एवं घर में अपना पुस्तकालय

“भगवान महावीर मेडीटेशन एण्ड रिसर्च सेन्टर ट्रस्ट” के अन्तर्गत “आत्म-ज्ञान-श्रमण-शिव आगम प्रकाशन समिति” द्वारा आचार्य सम्राट् पूज्य श्री शिवमुनि जी म० सा० के निर्देशन में श्रमण संघीय प्रथम पट्टधर आचार्य सम्राट् पूज्य श्री आत्माराम जी महाराज सा० द्वारा व्याख्यायित जैन आगमों का पुनर्मुद्रण एवं संपादन कार्य द्रुतगति से चल रहा है। उपासकदशांग सूत्रम, उत्तराध्ययन सूत्रम, भाग 1-2-3, अनुत्तरोपपातिक सूत्रम, दशवैकालिक सूत्रम, अन्तकृद्दशांगसूत्रम, आचारांग सूत्रम, प्रथम श्रुतस्कंध, आचाराङ्ग सूत्रम, द्वितीय श्रुतस्कंध प्रकाशित हो चुके हैं तथा विपाकसूत्र, नन्दी सूत्र आदि आगम प्रेस में हैं। आने वाले एक दो माह में ये सभी आगम उपलब्ध रहेंगे एवं अन्य सभी आगम भी शीघ्र प्रकाशित होने जा रहे हैं।

प्रकाशन योजना के अन्तर्गत जो भी श्रावक संघ अथवा संस्था या कोई स्वाध्यायी बन्धु आचार्य सम्राट् पूज्य श्री आत्माराम जी म० सा० के आगमों के प्रकाशन में सहयोग करना चाहें एवं स्वाध्याय हेतु आगम प्राप्त करना चाहते हैं तो उनके लिए एक योजना बनाई गई है। 11,000/- (ग्यारह हजार रुपए मात्र) भेजकर जो भी इस प्रकाशन कार्य में सहयोग देंगे उनको प्रकाशित समस्त आगम एवं आचार्य सम्राट् श्री शिवमुनि म० सा० द्वारा लिखित समस्त साहित्य तथा “आत्म दीप” मासिक पत्रिका दीर्घकाल तक प्रेषित की जाएगी। इच्छुक व्यक्ति निम्न पत्तों पर सम्पर्क करें :-

- (1) **भगवान महावीर मेडीटेशन एण्ड रिसर्च सेन्टर ट्रस्ट**  
नई दिल्ली-110 052  
फोन : 011-27138164, 32030139
- (2) **श्री प्रमोद जैन**  
द्वारा श्री श्रीपाल जैन पुराना लोहा बाजार  
पो. : मालेर कोटला, जिला : संगरूर, (पंजाब)  
फोन : 0167-5258944
- (3) **श्री अनिल जैन**  
बी-24-4716, सुन्दरनगर  
नियर जैन स्थानक लुधियाना-141008 (पंजाब)  
फोन : 0161-2601625

# नमन



वीर प्रभु महाप्राण, सुधर्मा जी गुणखान ।

अमर जी युगभान, महिमा अपार है ।

मोतीराम प्रज्ञावन्त, गणपत गुणवन्त ।

जयराम जयवन्त, सदा जयकार है ॥

ज्ञानी-ध्यानी शालीग्राम, जैनाचार्य आत्माराम ।

ज्ञान गुरु गुणधाम, नमन हजार है ।

ध्यान योगी शिवमुनि, मुनियों के शिरोमणि ।

पूज्यवर प्रज्ञाधनी शिरीष नैय्या पार है ॥





— : अमृत कण : —

जे एगं जाणइ	जो एक आत्मा को जानता है,
से सब्बं जाणइ।	वह सब कुछ जानता है।
पुरिसा तुममेव तुमं मित्तं,	हे साधक तू स्वयं ही अपना मित्र है,
किं बहिया मित्तमिच्छसि।	तू दुनिया में बाहरी मित्र क्यों ढूँढता है।
जे आया से विनाया,	जो आत्मा है वही विज्ञाता है,
जे विनाया से आया।	जो विज्ञाता है वही आत्मा है,
जेण विजाणइ से आया,	क्योंकि ज्ञान के कारण ही आत्मा शब्द का प्रयोग होता है।
से सुयं च अज्झत्थं च मे,	मैंने सुना और अनुभव किया है,
बन्धं प्पमोक्खो अज्झत्थे।	बन्ध और मोक्ष तुम्हारी आत्मा पर ही निर्भर है।
सब्बओ पमत्तस्स भयं।	जो प्रमादी है, उसे सर्वत्र भय है।
सब्बओ अप्पमत्तस्स नत्थि भयं।	अप्रमत्त के लिए कहीं भी भय नहीं है।
कामेसु गिद्धा निचयं करेति।	भोगों में आसक्त प्राणी कर्म संचय करता है,
संसिच्चमाणा पुणरेति गब्भं।	और कर्मों से भारी होकर संसार में परिभ्रमण करता है।
सच्चम्मि धिइं कुक्विहा।	सत्य में सदा दृढ़ रही,
एत्थोवरए मेहावी,	सत्य में अनुरक्त मेधावी पुरुष
सब्बं पावं झोसइ।	सब पापों का नाश कर देता है।
जे अणणारामे,	जो मोक्ष के अतिरिक्त अन्यत्र
	कहीं भी रुचि नहीं रखता,
से अणन्तदंसी।	वह अचल श्रद्धा-निष्ठ माना गया है।

— आचाराङ्ग सूत्रम्

# श्री आचाराङ्ग सूत्रम्

## विषय-सूची

क्या	कहाँ है	क्या	कहाँ है
१ प्रथम अध्ययन पिण्डैषणा		६ षष्ठ अध्ययन पात्रैषणा	
१ प्रथम उद्देशक	३	१ प्रथम उद्देशक	३३६
२ द्वितीय उद्देशक	२२	२ द्वितीय उद्देशक	३४५
३ तृतीय उद्देशक	३४	७ समम अध्ययन-अवग्रह प्रतिमा	
४ चतुर्थ उद्देशक	४८	१ प्रथम उद्देशक	३५०
५ पञ्चम उद्देशक	५८	२ द्वितीय उद्देशक	३६०
६ षष्ठ उद्देशक	७४	८ अष्टम अध्ययन	
७ समम उद्देशक	८६	उपाश्रय में कायोत्सर्ग कैसे करना	३७२
८ अष्टम उद्देशक	९८	९ नवम अध्ययन	
९ नवम उद्देशक	११०	स्वाध्याय भूमि	३७७
१० दशम उद्देशक	१२३	१० दशम अध्ययन	
११ एकादशम उद्देशक	१४४	उच्चार प्रस्नवण	३८०
२ द्वितीय अध्ययन शय्यैषणा		११ एकादश अध्ययन	
१ प्रथम उद्देशक	१५६	समभाव साधना	३९३
२ द्वितीय उद्देशक	१७५	१२ द्वादश अध्ययन	
३ तृतीय उद्देशक	१९६	चक्षु इन्द्रिय	४०३
३ तृतीय अध्ययन इयैषणा		१३ त्रयोदश अध्ययन	
१ प्रथम उद्देशक	२२५	परक्रिया	४०५
२ द्वितीय उद्देशक	२४७	१४ चतुर्दश अध्ययन	
३ तृतीय उद्देशक	२६३	पारस्परिक क्रिया	४१७
४ चतुर्थ अध्ययन भाषैषणा		१५ पञ्चदश अध्ययन	
१ प्रथम उद्देशक	२७९	भगवान महावीर की साधना	४१९
२ द्वितीय उद्देशक	२९३	१६ सोलहवाँ अध्ययन	
५ पञ्चम अध्ययन-वस्त्रैषणा		विमुक्ति	५०२
१ प्रथम उद्देशक	३०७	१७ परिशिष्ट-१	
२ द्वितीय उद्देशक	३२८	पारिभाषिक शब्द कोश	५१५
		१८ परिशिष्ट-२	
		जीवन-परिचय एवं शब्दचित्र	५१८



श्रीः

# आचारङ्गसूत्रम्

द्वितीय श्रुतस्कन्ध

संस्कृतच्छाया-पदार्थान्वय-मूलार्थोपेतं

हिन्दी-भाषा-टीकासहितं च



# श्री आचाराङ्ग सूत्रम्

## द्वितीय श्रुतस्कन्ध

### प्रथम अध्ययन पिण्डैषणा

#### प्रथम उद्देशक

इस बात को हम आचाराङ्ग सूत्र प्रथम श्रुतस्कन्ध को प्रारम्भ करते समय बता चुके हैं कि आचाराङ्ग सूत्र में आचार का वर्णन किया गया है। आचार पांच प्रकार का है- १-ज्ञानाचार, २-दर्शनाचार, ३-चारित्राचार, ४-तपाचार और ५-वीर्याचार। प्रथम श्रुतस्कन्ध में पांचों आचारों का सूत्र शैली में वर्णन किया गया है। इसलिए उनके वर्णन में संक्षिप्तता एवं गम्भीरता आ गई है। और प्रस्तुत श्रुतस्कन्ध में प्रमुख रूप से चारित्राचार का उपदेश शैली में वर्णन किया गया है। साधना के लिए चारित्राचार आवश्यक है। अतः प्रथम श्रुतस्कन्ध में किए गए चारित्राचार विषयक संक्षिप्त वर्णन का प्रस्तुत श्रुतस्कन्ध में विस्तार किया गया है।

चारित्र साधना का प्रधान अंग है। ज्ञान, दर्शन, तप एवं वीर्य को चारित्र से गति मिलती है, ज्ञान आदि साधना में तेजस्विता आती है। वस्तुतः देखा जाए तो ज्ञान साधनों का मूल्य उसे चारित्र का साकार रूप देने में है। ज्ञान जब तक आचरण में नहीं लाया जाएगा तब तक उसका यथार्थ एवं अभिलषित फल मोक्ष नहीं मिल सकता। जब ज्ञान और चारित्र की समन्वित साधना होगी तभी आत्मा सर्व कर्म बन्धन से मुक्त हो सकेगा। इसलिए चारित्र की सम्यक् साधना आराधना करने के लिए दूसरे श्रुतस्कन्ध का अध्ययन करना जरूरी है।

जीवन की पहली आवश्यकता आहार है। भले ही गृहस्थ हो या साधु, आहार के बिना लौकिक एवं लोकोत्तर कोई भी साधना नहीं हो सकती। अतः प्रस्तुत श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन में यह बताया गया है कि साधु को संयम परिपालन करने के लिए किस तरह से एवं कैसा आहार करना चाहिए। आगम में इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि साधु कुछ कारणों से आहार ग्रहण करता है और कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में आहार का त्याग भी कर देता है। आगम में आहार करने के छः कारण बताए हैं- १-क्षुधा-वेदनीय-भूख की पीड़ा सहन नहीं हो तो साधु आहार कर सकता है। २-वैयावृत्य-सेवा करने के लिए-संयम की, कुल की, गण की, आचार्य, उपाध्याय की, रोगी की, नवदीक्षित आदि की सेवा-शुश्रूषा करने के लिए शारीरिक शक्ति अपेक्षित है और उसके लिए आहार करना भी आवश्यक है। ३-ईर्या-समिति का परिपालन करने के लिए। ४-संयम का पालन करने के लिए। ५-प्राणों को धारण करने के लिए। ६-धर्म-चिन्तन के लिए आहार ग्रहण करे। क्योंकि ये क्रियाएं भी शारीरिक बल के बिना भली-भांति

नहीं हो सकती। इसलिए मुनि इन छः कारणों से आहार करता है<sup>१</sup>। इसी तरह आहार का त्याग करने के भी छः कारण हैं- १-बीमारी-बुखार आदि के आने पर साधु को आहार का त्याग कर देना चाहिए। ज्वर में आहार करने से वह जल्दी ठीक नहीं होता। इसलिए रोग के समय उपवास बहुत लाभदायक रहता है। आयुर्वेद में भी रोग चिकित्सा में लंघन-उपवास को श्रेष्ठ माना है। महात्मा गांधी ने तो उपवास के द्वारा कई रोगों की चिकित्सा की है। अतः रोग के समय साधु को आहार का त्याग कर देना चाहिए। २- उपसर्ग-कष्ट आने पर साधु को तप करना चाहिए। ३-क्षुधा-भूख शांत होने पर आहार का त्याग कर देना चाहिए। क्योंकि बिना भूख के खाने से अनेक रोग होने की संभावना है और उससे संयम-साधना में भी दोष लग सकता है। अतः भूख न हो तो नहीं खाना चाहिए। ४-ब्रह्मचर्य का परिपालन करने के लिए आहार का त्याग कर देना चाहिए। यदि मन में विकार जागृत होते हों तो साधु को तपस्या करनी चाहिए। गीता में लिखा है कि निराहार-आहार का त्याग करने वाले व्यक्ति को विषय विकार नहीं सताते<sup>२</sup>। ५-जीव रक्षा के लिए आहार का त्याग करना चाहिए। जैसे कि वर्षा के पड़ते हुए अप्काय आदि की रक्षा के लिए आहार का त्याग कर देना चाहिए। ६-मृत्यु के निकट आने पर आहार का त्याग करके अनशन संथारा स्वीकार करना चाहिए।<sup>३</sup> इस तरह आहार करने की आवश्यकता होने पर साधु को आहार स्वीकार करना चाहिए।

परन्तु उस समय कैसा आहार स्वीकार करे, इसका समाधान करते हुए सूत्रकार कहते हैं-

**मूलम्-** से भिक्खू वा भिक्खुणी वा गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए अणुपविट्ठे समाणे से जं पुण जाणिजा-असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पाणेहिं वा पणगेहिं वा बीएहिं वा हरिएहिं वा संसत्तं उम्मिस्सं सीओदएण वा ओसित्तं रयसा वा परिघासियं तहप्पगारं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा परहत्थंसि वा परपायंसि वा अफ्फासुयं अणेसणिज्जंति मन्ममाणे लाभेऽवि संते नो पडिग्गाहिजा। से य आहच्च पडिग्गाहिए सिया से तं आयाय एगंतमवक्कमिजा एगंतमवक्कमित्ता अहे आरामंसि वा अहे उवस्सयंसि वा अप्पंडे अप्पपाणे अप्पबीए अप्पहरिए अप्पोसे अप्पुदए अप्पुत्तिंगपणगदग-मट्टियमक्कड़ासंताणए विगिंचिय २ उम्मीसं विसोहिय २ तओ संजयामेव भुंजिज्ज वा पीइज्ज वा, जं च नो संचाइज्जा भुत्तए वा पायए वा से तमायाय एगंतमव-क्कमिजा, अहे झामथंडिलंसि वा अट्ठरासिंसि वा किट्टरासिंसि वा तुसरासिंसि वा गोमयरसिंसि वा अन्नयरंसि वा तहप्पगारंसि थंडिलंसि पडिलेहिय पडिलेहिय

१ छहिं ठाणेहिं समणे णिग्गंथे आहारमाहारेमाणे णाइक्कमइ तंजहा वेयण, वेयावच्चे इरियट्ठाए य संजमट्ठाए तह पाणवत्तियाए छट्ठं पुण धम्मचित्ताए। - स्थानाङ्ग सूत्र, ६।

२ निराहारस्य देहिनः विषयायिनिवर्तने। - गीता २।

३ छहिं ठाणेहिं समणे - निग्गंथे आहारं वोछिन्दमाणे णाइक्कमइ तंजहा - आतंके, उवसग्गे, तित्तिक्खणे, वंभचेरगुत्तीए, पाणिदया, तवहेउं सरीरवुच्चेयणट्ठाए। - स्थानाङ्ग सूत्र स्थान ६।

## पमज्जिय पमज्जिय तओ संजयामेव परिट्ठविज्जा ॥१॥

छाया- स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा गृहपतिकुलं पिंडपातप्रतिज्ञया अनुप्रविष्टः सन्, स यत् पुनः जानीयात्, अशनं वा पानं वा खादितं वा स्वादितं वा प्राणिभिः पनकैः वा बीजैः वा हरितैः वा संसक्तं वा उन्मिश्रं वा शीतोदकेन वा अवसिक्तं रजसा वा परिघर्षितं तथाप्रकारं अशनं वा पानं वा खादितं वा स्वादितं वा परहस्ते वा परपात्रे वा अप्रासुकं अनेषणीयं इति मन्यमानः लाभे सत्यपि नो प्रतिगृह्णीयात्, स च आहत्य प्रतिगृह्णीयात् स्यात् स तदादाय एकान्तमपक्रामेत्, एकान्तमपक्रम्य अथारामे वा अथोपाश्रये वा अल्पांडे अल्पप्राणे अल्पबीजे अल्पहरिते अल्पावश्याये अल्पोदके अल्पोत्तिंगपनकदकमृत्तिकामर्कटसन्तानके विविच्य २ उन्मिश्रं विशोध्य २ ततः संयत एव भुंजीत वा पिबेद् वा यच्च न शक्नुयात् भोक्तुं वा पातुं वा स तदादाय एकान्तमपक्रामेत्, अथ दग्धस्थंडिले वा अस्थिराशौ वा किट्टराशौ वा तुषराशौ वा गोमयराशौ वा अन्यतराशौ वा तथाप्रकारे स्थंडिले प्रत्युपेक्ष्य प्रत्युपेक्ष्य प्रमृज्य प्रमृज्य ततः संयत एव परिष्ठापयेत्।

पदार्थ- से-वह। भिक्खू-भिक्षु। वा-अथवा। भिक्खुणी वा-भिक्षुणी आर्या। गाहावइ-गाथापति गृहस्थ के। कुलं-कुल में अर्थात् घर में। पिंडवायपडियाए-पिंडपात-आहार प्राप्ति की प्रतिज्ञा से गृहस्थ के घर में। अणुपविट्ठे समाणे-अनुप्रविष्ट हुआ। से-वह। जं-जो। पुण-फिर। जाणिज्जा-यह जाने कि। असणं वा-अन्न अथवा। पाणं वा-पानी अथवा। खाइमं वा-खादित अथवा। साइमं वा-स्वादित-स्वादित पदार्थ। पाणेहिं वा-द्वीन्द्रिय प्राणियों से अथवा। हरिएहिं वा-हरित अंकुरादि से। संसत्तं-संयुक्त। उम्मिस्सं-मिश्रित। सीओदएण वा-या शीतोदक से। ओसित्तं-अवसिक्त गीला है। रयसा वा-अथवा रज से, सचित्त धूलि से। परिघासियं-परिघर्षित है। तहप्पगारं-तथा प्रकार के। असणं वा-आहार अथवा। पाणं वा-पानी-जल अथवा। खाइमं वा-खाद्य पदार्थ अथवा। साइमं वा-स्वादित पदार्थ। परहत्थंसि वा-गृहस्थ के हाथ में अथवा। परपायंसि-वा-गृहस्थ के पात्र में है। ति-इस प्रकार के आहार को। अप्फासुयं-अप्रासुक सचित्त। अणेसणिज्जं-सदोष-दोष युक्त। मन्नमाणे-मानता हुआ। लाभेऽवि संते-इस प्रकार का आहार प्राप्त होने पर भी। नो पडिगाहिज्जा-ग्रहण न करे। य-पुनः से-वह साधु। आहच्च-कदाचित्। पडिग्गाहिए सिया-उसे ग्रहण करले तो। से-वह साधु। तं-उस आहार को। आयाए-लेकर-ग्रहण करके। एगंतमवक्कमिज्जा-एकान्त स्थान में चला जाए। एगंतमवक्कमित्ता-एकान्त में जाकर। अहे-अथवा। आरामंसि वा-उद्यान में। अहे-अथवा। उवस्सयंसि वा-उपाश्रय में 'अथ' शब्द जहां पर गृहस्थ न आता हो उस अर्थ में है और 'वा' शब्द विकल्पार्थ में अथवा शून्य गृहादि के अर्थ में जानना। अप्पंडे-अंडादि से रहित स्थान पर १। अप्पपाणे-द्वीन्द्रियादि जीवों से रहित स्थान। अप्पबीए-बीजों से रहित। अप्पहरिए-हरित से रहित। अप्पोसे-ओस से रहित। अप्पोदए-उदक-जल से रहित। अप्पुत्तिंगपणगदगमिट्टियमक्कड़ासंताणए-जहां पर जल, चीटियों, लीलन-फूलन, मिट्टी युक्त जल अथवा



उल्ले आदि, मर्कट जीव-जाला आदि जीव विशेष न हों ऐसे स्थानों में जाकर उस आहार से। विगिचिय २-उन जीवों को अलग २ कर। उम्मीसं-उसमें मिश्रित हों तो। विसोहिय २-विशोधित कर। तओ-तदनन्तर। संजयामेव-साधु। भुजिज्ज वा-उस आहार को खाए। पीइज्ज वा-अथवा पीए। जं च-यदि वह उस आहार को। भोत्तए वा-खाने। पायए वा-अथवा पीने में। नो संचाएज्जा-समर्थ न हो तो फिर। से-वह भिक्षु। तं-उस आहार को। आयाय-लेकर। एगंतमवक्कमिज्जा-एकान्त स्थान में चला जाए, जाकर। अहे झामथंडिलंसि वा-दग्ध स्थान पर या। अट्टिरासिसि वा-अस्थियों की राशि-ढेर पर। किट्टिरासिसि वा-अथवा लोह के मल के ढेर पर। तुसरसिसि वा-तुष राशि के स्थान। गोमयरासिसि वा-गोबर के ढेर पर अथवा। अण्णयरंसि-इसी प्रकार के अन्य प्रासुक पदार्थों के ढेर पर अथवा। तहप्पगारंसि-पूर्व सदृश अन्य प्रासुक स्थान पर। थंडिलंसि-स्थंडिल में। पडिलेहिय २-आंखों से भली-भांति देख कर। पमजिय २-रजोहरण से भूमि को प्रमार्जित कर के। तओ-तदनन्तर। संजयामेव-सम्यक् उपयोगपूर्वक वह साधु। परिट्ठवेज्जा-उस आहार को त्याग दे।

**मूलार्थ**—आहार के लिए गृहस्थ के घर में प्रविष्ट हुआ साधु या साध्वी इन पदार्थों का अवलोकन करके यह जाने कि यह अन्न-पानी, खादिम और स्वादिम पदार्थ, द्वीन्द्रियादि प्राणियों से, शाली चावल आदि के बीजों से और अंकुरादि हरी सब्जी से संयुक्त है या मिश्रित है या सचित्त जल से गीला है तथा सचित्त मिट्टी से अवगुठित है। यदि इस प्रकार का आहार-पानी, खादिम, स्वादिम आदि पदार्थ गृहस्थ के घर में या गृहस्थ के पात्र में हों तो साधु उसे अप्रासुक-सचित्त तथा अनेषणीय-सदोष मान कर ग्रहण न करे, यदि भूल से उस आहार को ग्रहण कर लिया है तो वह भिक्षु उस आहार को लेकर एकान्त स्थान में चला जाए और एकान्त स्थान में या आराम-उद्यान या उपाश्रय में जहां पर द्वीन्द्रिय आदि जीव नहीं हैं, गोधूमादि बीज नहीं हैं और अंकुरादि हरी नहीं है, एवं ओस और जल नहीं है अर्थात् तृणों के अग्रभाग पर जल नहीं है, ओस बिन्दु नहीं हैं, द्वीन्द्रियादि जीव जन्तु एवं उनके अण्डे आदि नहीं हैं, तथा मकड़ी के जाले एवं दीमकों के घर आदि नहीं हैं, ऐसे स्थान पर पहुंच कर सदा यत्न करने वाला साधु उस आहार में से सचित्त पदार्थों को अलग करके उस आहार एवं पानी का उपभोग कर ले। यदि वह उसे खाने या पीने में असमर्थ है तो साधु उस आहार को लेकर एकान्त स्थान पर चला जाए और वहां जाकर दग्धस्थंडिल भूमि पर, अस्थियों के ढेर पर, लोह के कूड़े पर, तुष के ढेर पर और गोबर के ढेर पर या इसी प्रकार के अन्य प्रासुक एवं निर्दोष स्थान पर जाकर उस स्थान को आंखों से अवलोकन करके और रजोहरण से प्रमार्जित करके उस आहार को उस स्थान पर परठ-डाल दे।

**हिन्दी विवेचन**—साधु हिंसा का सर्वथा त्यागी है और आहार के बनाने में हिंसा का होना अनिवार्य है। इसलिए साधु के लिए भोजन बनाने का निषेध किया गया है। परन्तु, संयम निर्वाह के लिए उसे आहार करना पड़ता है। अतः उसके लिए बताया गया है कि वह गृहस्थ के घर में जाकर निर्दोष एवं एषणीय आहार ग्रहण करे। यदि कोई गृहस्थ सचित्त एवं आधाकर्मी आदि दोषों से युक्त आहार दे या सचित्त पानी से हाथ धोकर आहार दे या आहार सचित्त रज से युक्त है, तो साधु उसे स्वीकार न करे। वह स्पष्ट शब्दों में कहे कि ऐसा दोष युक्त आहार मुझे नहीं कल्पता। यदि कभी सचित्त पदार्थों से युक्त आहार आ गया हो- जैसे गुठली सहित खजूर या ऐसे ही बीज युक्त कोई अन्य पदार्थ आ गए हैं और वह गुठली,

बीज या सचित्त पदार्थ उससे अलग किए जा सकते हैं, तो साधु उन्हें अलग करके उस अचित्त आहार को ग्रहण कर ले। यदि कोई पदार्थ ऐसा है कि उसमें से उन सचित्त पदार्थों को अलग नहीं किया जा सकता है, तो मुनि उस आहार को खाए नहीं, परन्तु एकान्त स्थान में बीज-अंकुर एवं जीव-जन्तु से रहित अचित्त भूमि पर यतना-पूर्वक परठ-डाल दे। इसी तरह आधाकर्म आहार भी भूल से आ गया हो तो उसे भी एकान्त स्थान में परठ दे। इससे स्पष्ट है कि साधु सचित्त एवं आधाकर्म दोष आदि युक्त आहार का सेवन न करे। भगवान महावीर ने सोमिल ब्राह्मण को स्पष्ट शब्दों में बताया कि साधु के लिए सचित्त आहार अभक्ष्य हैं<sup>१</sup>। ये ही शब्द भगवान पार्श्वनाथ एवं थावच्चा पुत्र ने शुकदेव संन्यासी को कहे हैं<sup>२</sup>। श्रावक के व्रतों का उल्लेख करते समय इस बात को स्पष्ट किया गया है कि श्रावक साधु को प्रासुक एवं निर्दोष आहार देवे<sup>३</sup>।

यह उत्सर्ग मार्ग है और साधु को यथाशक्ति इसी मार्ग पर चलना चाहिए। परन्तु, जीवन सदा एक सा नहीं रहता। कभी-कभी सामने कठिनाइयां भी आती हैं। उस समय संयम की रक्षा के लिए साधु क्या करे? इसके लिए वृत्तिकार ने बताया है- 'उत्सर्ग मार्ग में साधु आधाकर्म आदि दोषों से युक्त आहार स्वीकार नहीं करे। परन्तु अपवाद मार्ग में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का ज्ञाता गीतार्थ मुनि दोषों की न्यूनता या अधिकता का विचार करके उसे ग्रहण कर सकता है। द्रव्य का अर्थ है- द्रव्य (पदार्थ) का मिलना दुर्लभ हो। क्षेत्र- ऐसा क्षेत्र जिसमें शुद्ध पदार्थ नहीं मिलते हों या सचित्त रज की बहुलता हो। काल-दुर्भिक्ष आदि काल में और भाव-रोग आदि की अवस्था में। इन कारणों के उपस्थित होने पर साधु आधाकर्म आदि दोष युक्त आहार भी ले सकता है। यह वृत्तिकार का अभिमत है<sup>४</sup>।

सूत्रकृताङ्ग सूत्र में भी कहा है कि आधाकर्म आहार करने वाला साधु एकान्त रूप से सात या आठ कर्म का बन्ध करता है। ऐसा नहीं कहना चाहिए और ऐसा भी नहीं कहना चाहिए कि वह सात-आठ कर्म का बन्ध नहीं करता है<sup>५</sup>। भगवती सूत्र में गौतम स्वामी द्वारा पूछे गए-तथारूप के श्रमण-माहण को अप्रासुक एवं अनेषणीय आहार देने से दाता को क्या होता है ? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान महावीर फरमाते हैं कि उसे अल्प पाप एवं बहुत निर्जरा होती है<sup>६</sup>।

१. भगवती १८, १०

२. पुष्पिकया सूत्र, ज्ञाता सूत्र।

३. औपपातिक सूत्र, राघप्रश्नीय सूत्र, उपासकदशाङ्ग सूत्र।

४. तथाप्रकारम् - एवं जातीयमशुद्धमशनादिचतुर्विधमप्याहारं 'परहस्ते दातुहस्ते परपात्रे वा स्थितम्' 'अप्रासुकं' - सचित्तम् 'अनेषणीयम्' आधाकर्मादिदोषदुष्टम् 'इति' एवं मन्यमानः 'स' भावभिक्षुः सत्यपि लाभे न प्रतिगुणहीयादित्युत्सर्गतः, अपवादतस्तु द्रव्यादि ज्ञात्वा प्रतिगुणहीयादपि, तत्र द्रव्यं दुर्लभद्रव्यं, क्षेत्रं साधारणद्रव्यला-भरहितं सरजस्कृदादिभाषितं वा कालो दुर्भिक्षादिः भावो ग्लानतादिः, इत्यादिभिः कारणीरूपस्थितैः अल्पबहुत्वं पर्यालोच्य गीतार्थो गुणहीयादिति।

- आचाराङ्ग २; १; १; १ वृत्ति।

५. अहाकम्पाणि भुञ्जन्ति, अन्नमन्ने सकम्पुणा।

उवलित्ते त्ति जाणिञ्जा अणुवलित्ते त्ति वा पुणो ॥

एएहिं दोहिं ठाणेहिं चवहारो न विञ्जई।

एएहिं दोहिं ठाणेहिं अणायारं तु जाणए ॥ - सूत्रकृताङ्ग २, ५, ८, ९।

६. समणोवासगस्स णं भंते ! तहान्नुवं समणं वा माहणं वा अफासुएणं अणेसणिञ्जेणं असणं पाणं जाव यडिलाभेमाणस्स किं कञ्जइ ? गोयमा ! बहुतरिया से निञ्जरा कञ्जइ, अप्पतराए से पावकम्मे कञ्जइ।

- भगवती सूत्र, शतक ८, उद्देशक ६।

प्रस्तुत आगम के प्रथम श्रुतस्कन्ध में वृत्तिकार ने स्वयं आधाकर्मी आहार ग्रहण करने का प्रबल शब्दों में निषेध किया है<sup>१</sup>। इससे इतना तो स्पष्ट है कि ध्रुव मार्ग निर्दोष आहार को स्वीकार करने का रहा है। अपवाद मार्ग साधक की स्थिति पर आधारित है। उसकी स्थापना नहीं की जा सकती। कौन साधक किस परिस्थिति में, किस भावना से, कौन-सा कार्य कर रहा है? यह छद्मस्थ व्यक्तियों के लिए जानना कठिन है। सर्वज्ञ पुरुष ही इसका निर्णय दे सकते हैं। इसलिए साधक को किसी के विषय में पूरा निर्णय किए बिना एकान्त रूप से उसे पाप बन्ध का कारण नहीं कहना चाहिए और संभव है यही कारण वृत्तिकार के सामने रहा हो जिससे उसने अपवाद स्थिति में सदोष आहार को स्वीकार करने योग्य बताया। वृत्तिकार का यह अभिमत विचारणीय है।

आहार ग्रहण करने की विधि का उल्लेख करते हुए सूत्रकार औषध ग्रहण करने के सम्बन्ध में कहते हैं-

**मूलम्-** से भिक्खू वा भिक्खुणी वा गाहावडं जाव पविट्ठे समाणे से जाओ पुण ओसहीओ जाणिज्जा कसिणाओ सासियाओ अविदलकडाओ अतिरिच्छच्छिन्नाओ अवुच्छिण्णाओ, तरुणियं वा छिवाडिं अणभिवकंतमभज्जियं पेहाए अफासुयं अणेसणिज्जंति मन्नमाणे लाभे संते नो पडिगाहिज्जा।

से भिक्खू वा ० जाव पविट्ठे समाणे से जाओ पुण ओसहीओ जाणिज्जा-अकसिणाओ असासियाओ विदलकडाओ तिरिच्छच्छिन्नाओ वुच्छिन्नाओ तरुणियं वा छिवाडिं अभिवकंतं भज्जियं पेहाए फासुयं एसणिज्जंति मन्नमाणे लाभे संते पडिगाहिज्जा । २ ।

**छाया-** स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा गृहपतिः यावत् प्रविष्टः सन् स याः पुनः औषधीः जानीयात् कृत्स्नाः स्वाश्रयाः अद्विदलकृताः अतिरश्चीनच्छिन्नाः अव्यवच्छिन्नाः तरुणीं वा फलिं ( छिवाडिं ) अनभिक्रान्ताम्, अभग्राम् प्रैक्ष्य अप्रासुकामनेषणीयामिति मन्यमानः लाभे सति न प्रतिगृणहीयात्। स भिक्षुर्वा ० यावत् प्रविष्टः सन् स याः पुनः औषधीः जानीयात् अकृत्स्नाः अस्वाश्रयाः द्विदलकृताः, तिरश्चीनच्छिन्नाः व्यवच्छिन्नाः तरुणिकां फलिम्, अक्रान्तां भग्नां प्रैक्ष्य प्रासुकामेषणीयामिति मन्यमानः लाभे सति गृणहीयात्।

**पदार्थ-** से-वह। भिक्खू-साधु। वा-अथवा। भिक्खुणी वा-साध्वी। गाहावडं-गृहपति के कुल में। जाव-यावत्। पविट्ठे समाणे-प्रविष्ट हुआ। से-वह। जाओ-जो। पुण-फिर। ओसहीओ-औषधि को। जाणिज्जा-जाने। कसिणाओ-सचित्त। सासियाओ-अविनष्ट योनि-जिसका मूल नष्ट नहीं हुआ। अविदलकडाओ-जिसके दो भाग नहीं हुए हैं। अतिरिच्छच्छिन्नाओ-जिसका तिर्यक्-तिरछा छेदन नहीं हुआ

है। अवुच्छिन्नाओ-जो जीव रहित नहीं हुई है। वा-अथवा। तरुणियं-तरुण। छिवाडिं- अपक्व-फली-जिसकी फलियां पकी हुई नहीं हैं, ऐसी मुद्गादि की फली। अणभिकंतमभज्जियं-जो सजीव या अभग्न-अमर्दित है। ऐसी औषधि को। पेहाए-देखकर यह। अफासुयं-अप्रासुक-सचित्त। अणसणिज्जन्ति-तथा अनेषणीय-सदोष है इस प्रकार। मन्नमाणे-मानता हुआ साधु। लाभे सन्ते-मिलने पर भी। नो पडिग्गाहिज्जा-उसे ग्रहण न करे। से-वह। भिक्खू वा-साधु या साध्वी। जाव-यावत्। पविट्ठे समाणे-गृहस्थ के कुल में जाने पर। से-वह-भिक्षु। जाओ-जो। पुण-फिर। ओसहीओ-औषधि को। जाणिज्जा-जाने कि यह औषधि। अकसिणाओ-अचित्त है। असासियाओ-विनष्ट योनि है। विदलकडाओ-इसके दो दल विभाग किए गए हैं। तिरिच्छिच्छिन्नाओ-इसका तिर्यक् छेदन हुआ है अर्थात् सूक्ष्म खण्ड किए गए हैं। वुच्छिन्नाओ-यह अचित्त-जीव से रहित है। तरुणियं छिवाडिं - यह तरुण फली। अभिक्कंतं-जीव रहित तथा। भज्जियं-मर्दित एवं अग्नि द्वारा भूनी हुई है ऐसा। पेहाए- देखकर यह। फासुयं-प्रासुक-अचित्त तथा। एसणिज्जन्ति-एषणीय निर्दोष है इस प्रकार। मन्नमाणे-मानता हुआ साधु। लाभे संते-मिलने पर। पडिग्गाहिज्जा-उसे ग्रहण-स्वीकार कर लेवे।

**मूलार्थ**—गृहस्थ के घर में गया हुआ साधु व साध्वी औषधि के विषय में यह जाने कि इन औषधियों में जो सचित्त हैं, अविनष्ट योनि हैं, जिनके दो या दो से अधिक भाग नहीं हुए हैं, जो जीव रहित नहीं हुई हैं ऐसी अपक्व फली आदि को देखकर उसे अप्रासुक एवं अनेषणीय मानता हुआ साधु उसके मिलने पर भी उसे ग्रहण न करे।

परन्तु औषधि के निमित्त गृहस्थ के घर में प्रविष्ट हुआ साधु या साध्वी औषधि के संबंध में यह जाने कि यह सर्वथा अचित्त है, विनष्ट योनि वाली है। द्विदल अर्थात् इसके दो भाग हो गए हैं, इसके सूक्ष्म खंड किए गए हैं, यह जीव-जन्तु से रहित है, तथा मर्दित एवं अग्नि द्वारा परिपक्व की गई है, इस प्रकार की प्रासुक-अचित्त एवं एषणीय निर्दोष औषध गृहस्थ के घर से प्राप्त होने पर साधु उसे ग्रहण करले।

**हिन्दी विवेचन**— प्रस्तुत सूत्र में औषध के सम्बन्ध में विधि-निषेध का वर्णन किया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि विधि एवं निषेध दोनों सापेक्ष हैं। विधि से निषेध एवं निषेध से विधि का परिचय मिलता है। जैसे साधु को सचित्त एवं अनेषणीय पदार्थ नहीं लेना, यह निषेध सूत्र है, परन्तु इससे स्पष्ट ध्वनित होता है कि साधु अचित्त एवं निर्दोष आहार ग्रहण कर सकता है। इस तरह विधि एवं निषेध एक दूसरे के परिचायक हैं।

यह हम देख चुके हैं कि साधु पूर्ण अहिंसक है। अतः वह ऐसा पदार्थ ग्रहण नहीं करता जिससे किसी प्राणी की हिंसा होती हो। इसलिए यह बताया गया है कि गृहस्थ के घर में औषधि आदि के लिए प्रविष्ट हुए साधु को यह जान लेना चाहिए कि वह औषध सचित्त-सजीव तो नहीं है ? जैसे कोई फल या बहेड़ा आदि है, जब तक उस पर शस्त्र का प्रयोग न हुआ हो तब तक वह सचित्त रहता है। उसके दो टुकड़े होने पर वह सचित्त नहीं रहता। परन्तु कुछ ऐसे पदार्थ भी हैं जो दो दल होने के बाद भी सचित्त

रह सकते हैं। कुछ पदार्थ अग्नि पर पकने या उसमें दूसरे पदार्थ का स्पर्श होने पर अचित्त होते हैं। इस तरह साधु साध्वी को सबसे पहले सचित्त एवं अचित्त पदार्थों का परिज्ञान होना चाहिए। और यदि उन्हें दी जाने वाली औषध सचित्त प्रतीत होती हो तो वे उसे ग्रहण न करें और वह सजीव न हो तथा पूर्णतया निर्दोष हो तो साधु-साध्वी उसे ग्रहण कर सकते हैं।

प्रस्तुत सूत्र में 'कृत्स्न' आदि जो पांच पद दिए गए हैं, इनसे वनस्पति की सजीवता सिद्ध की है। उन(योनियों) में भी जीव रहते हैं एवं उनके प्रदेशों में भी जीव रहते हैं। जैसे चना आदि जो अन्न हैं। उनके जब तक बराबर दो विभाग न हों तब तक उनमें जीवों के प्रदेश रहने की संभावना है। प्रश्न हो सकता है कि जब प्रथम सूत्र में सचित्त पदार्थ ग्रहण करने का निषेध कर दिया तो फिर प्रस्तुत सूत्र में सचित्त औषध एवं फलों के निषेध का क्यों वर्णन किया? इसका कारण यह कि जैनैतर साधु वनस्पति में जीव नहीं मानते और वे सचित्त औषध एवं फलों का प्रयोग करते रहे हैं और आज भी करते हैं। इसलिए पूर्ण अहिंसक साधु के लिये यह स्पष्ट कर दिया गया है कि वह सचित्त औषध एवं फलों को ग्रहण नहीं करे।

अब सूत्रकार आहार की ग्राह्यता एवं अग्राह्यता का उल्लेख करते हुए कहते हैं—

**मूलम्— से भिक्खू वा० जाव समाणे से जं पुण जाणिज्जा पिहुयं वा बहुरयं वा भुज्जियं वा मंथुं वा चाउलं वा चाउलपलंबं वा सइं संभज्जियं अफासुयं जाव नो पडिग्गाहिज्जा। से भिक्खू वा जाव समाणे से जं पुण जाणिज्जा-पिहुयं वा जाव चाउलपलंबं वा असइं भज्जियं दुक्खुत्तो वा तिक्खुत्तो वा भज्जियं फासुयं एसणिज्जं जाव पडिग्गाहिज्जा ॥३॥**

छाया— स भिक्षुर्वा० यावत् सन् स यत् पुनः जानीयात् पृथुकं वा बहुरजः वा भर्जितं वा मन्थुं वा चाउलां वा तन्दुलां चाउलप्रलम्बं सकृत् संभर्जितं अप्रासुकं यावद् न गुणहीयात्।

स भिक्षुर्वा० यावत् प्रविष्टः सन् स यत् पुनः जानीयात् पृथुकं यावत् चाउलप्रलम्बं वा असकृत् भर्जितं द्विकृत्वः वा त्रिकृत्वः वा भर्जितं प्रासुकं एषणीयं यावत् प्रतिगृणहीयात्।

पदार्थ— से-वह। भिक्खू-साधु। वा-अथवा साध्वी। जाव समाणे-यावत् गृहस्थ के घर में प्रविष्ट हुआ। से-वह-भिक्षु। जं-जो। पुण-फिर। जाणिज्जा-जाने-आहार विषयक ज्ञान प्राप्त करे यथा-। पिहुयं वा-शाली यव गोधूमादि अथवा। बहुरयं वा-जिसमें सचित्त रज बहुत है। भुज्जियं वा-अग्नि द्वारा अर्द्ध पक्व अथवा। मंथुं वा-गोधूमादि का चूर्ण। चाउलं वा-अथवा चावल। चाउलपलंबं वा-अथवा धान्यादि का चूर्ण। सइं-एक बार। संभज्जियं-संभर्जित अग्नि से भूना हुआ। अफासुयं-अप्रासुक-सचित्त। जाव-यावत्। नो पडिग्गाहिज्जा-ग्रहण न करे। से-भिक्खू वा-गृहस्थ के घर में प्रविष्ट, वह साधु अथवा साध्वी। जाव समाणे-यावत् भिक्षार्थ जाने पर। से-वह भिक्षु। जं-जो। पुण-फिर। जाणिज्जा-जाने पिहुयं वा-शाली यव गोधूमादि अथवा। जाव-यावत्। चाउलपलंबं वा-धान्यादि का चूर्ण। असइं-अनेक बार। भज्जियं-भूना हुआ। दुक्खुत्तो वा-दो बार अथवा। तिक्खुत्तो वा-तीन बार। भज्जियं-भूना हुआ है। फासुयं-प्रासुक।

एसणिज्जं-एषणीय-निर्दोष। जाव-चावत्। पडिग्गाहिज्जा-ग्रहण करे।

**मूलार्थ**—साधु अथवा साध्वी भिक्षार्थ गृहस्थ के घर में प्रविष्ट होने पर शाली आदि धान्यों, तुष बहुल धान्यों और अग्नि द्वारा अर्धपक्व धान्यों, तथा मंथु चूर्ण एवं कण सहित एक बार भुने हुए अप्रासुक चावत् अनेषणीय पदार्थों को ग्रहण न करे। तथा वह साधु या साध्वी गृहस्थ के घर में भिक्षार्थ उपस्थित होने पर शाली आदि धान्य या उसका चूर्ण, जो कि घर में दो-तीन बार या अनेक बार अग्नि से पका लिया गया है। ऐसा और एषणीय निर्दोष पदार्थ उपलब्ध होने पर साधु उसे स्वीकार कर ले।

**हिन्दी विवेचन**— प्रस्तुत सूत्र में भी यह बताया गया है कि साधु-साध्वी को चावल (शाली-धान) आदि अनाज एवं उनका चूर्ण जो अपक्व या अर्धपक्व हो, नहीं लेना चाहिए। क्योंकि शाली-धान (चावल), गेहूं, बाजरा आदि सजीव होते हैं, अतः इन्हें अपक्व एवं अर्धपक्व अवस्था में साधु को नहीं लेना चाहिए। जैसे- लोग मकई के भुट्टे एवं चने के होले आग में भूनकर खाते हैं, उनमें कुछ भाग पक जाता है और कुछ भाग नहीं पकता। इस तरह जो दाने अच्छी तरह से पके हुए नहीं हैं वे पूर्णतया अचित्त नहीं हो पाते। उनमें सचित्तता की संभावना रहती है। इसलिए साधु को ऐसी अपक्व एवं अर्धपक्व वस्तुएं नहीं लेनी चाहिए। तात्पर्य यह है कि साधु को सचित्त एवं अनेषणीय पदार्थ ग्रहण नहीं करना चाहिए। और जो पदार्थ अच्छी तरह पक गए हैं, अचित्त हो गए हैं, उन्हें साधु ग्रहण कर सकता है। शाली-चावल की तरह अन्य सभी तरह के अन्न एवं अन्य फलों के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए कि साधु उन सब वस्तुओं को ग्रहण नहीं कर सकता है जो सचित्त एवं अनेषणीय हैं और अचित्त एवं एषणीय पदार्थ को यथावश्यक ग्रहण कर सकता है।

यह तो स्पष्ट है कि साधु को आहार आदि ग्रहण करने के लिए गृहस्थ के घर में जाना पड़ता है। क्योंकि जिस स्थान पर साधु ठहरा हुआ है, उस स्थान पर यदि कोई व्यक्ति आहार आदि लाकर दे तो साधु उसे ग्रहण नहीं करता। क्योंकि वहां पर वह पदार्थ की निर्दोषता की जांच नहीं कर सकता। इस लिए स्वयं गृहस्थ के घर पर जाकर एषणीय एवं प्रासुक आहार आदि पदार्थ ग्रहण करता है।

अतः यह प्रश्न जरूरी है कि साधु को गृहस्थ के घर में किस तरह प्रवेश करना चाहिए। इसका समाधान करते हुए सूत्रकार कहते हैं:-

**मूलम्**— से भिक्खू वा भिक्खुणी वा गाहावइकुलं जाव पविसिउ-  
कामे नो अन्नउत्थिएण वा गारत्थिएण वा परिहारिओ वा अप्परिहारिएणं सद्धिं  
गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए पविसिज्ज वा निक्खमिज्ज वा। से भिक्खू वा०  
बहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा निक्खममाणे वा पविसमाणे वा नो  
अन्नउत्थिएण वा गारत्थिएण वा परिहारिओ वा अप्परिहारिएण सद्धिं बहिया  
वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा निक्खमिज्ज वा पविसिज्ज वा। से भिक्खू वा  
गामाणुगामं दूइज्जमाणे नो अन्नउत्थिएण वा जाव गामाणुगामं दूइज्जिज्जा ॥४॥

छाया— स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा गृहपति-कुलं यावत् प्रवेष्टुः कामः न अन्ययूथिकेन वा गृहस्थेन वा परिहारिको वा अपरिहारिकेण वा सार्द्धं गृहपति-कुलं पिंडपातप्रतिज्ञया प्रविशेद् वा निष्कामेद् वा । स भिक्षुर्वा बहिः विचार-भूमिं वा विहार-भूमिं वा निष्क्रममाणो वा प्रविशमाणो वा न अन्ययूथिकेन वा गृहस्थेन वा परिहारिको वा अपरिहारिकेण सार्द्धं बहिः विचार-भूमिं वा विहार-भूमिं वा निष्कामेद् वा प्रविशेद् वा । स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा ग्रामानुग्रामं गच्छन् न अन्ययूथिकेन वा यावद् ग्रामानुग्रामं गच्छेत् ।

**पदार्थ—** से-वह । भिक्षू वा-साधु या साध्वी । गाहावड़-कुलं-गृहपति के कुल में । जाव-यावत् । पविसिउकामे-प्रवेश करने की इच्छा रखता हुआ । परिहारिओ वा-दोष दूर करने वाला उत्तम साधु । अन्नउत्थिएण वा-अन्यतीर्थी और । गारत्थिएण वा-गृहस्थी के तथा । अप्परिहारिएण-पाश्र्वस्थादि साधु के । सद्धिं-साथ । पिंडवायपडियाए-आहार लाभ की आशा से । गाहावड़कुलं-गृहस्थी के घर में । नो-नहीं । पविसिज्ज वा-प्रवेश करे या । निक्खमिज्ज वा-पहले प्रविष्ट हुआओं के साथ निकले भी नहीं । से भिक्खू वा-वह साधु साध्वी । बहिया-बाहर । वियारभूमिं वा-स्थंडिल भूमि में अथवा । विहारभूमिं वा-स्वाध्याय भूमि में । निक्खममाणे वा-जाता हुआ । पविसमाणे वा-या प्रवेश करता हुआ । अन्नउत्थिएण वा-अन्यतीर्थी-अन्य मतावलम्बी और । गारत्थिएण वा-गृहस्थी के साथ, अथवा । परिहारिओ वा-दोष दूर करने वाला उत्तम साधु । अप्परिहारिएण वा-पाश्र्वस्थादि साधु के । सद्धिं -साथ । बहिया-बाहर । वियार-भूमिं वा-स्थंडिल भूमि में अथवा । विहार-भूमिं वा-स्वाध्याय भूमि में । निक्खमिज्ज-जावे अथवा । नो पविसिज्ज वा-प्रवेश न करे । से भिक्खू वा- वह भिक्षु वा भिक्षुकी । ग्रामानुग्रामं-ग्रामानुग्राम में । दूइज्जमाणे-जाते हुए । अन्नउत्थिएण वा-अन्यतीर्थी के साथ । जाव-यावत् । ग्रामानुग्रामं-ग्रामानुग्राम में । नो दूइज्जिजा-न जाए ।

**मूलार्थ—**गृहस्थी के घर में भिक्षा के निमित्त प्रवेश करने की इच्छा रखने वाला साधु या साध्वी अन्यतीर्थी या गृहस्थ के साथ भिक्षा के लिए प्रवेश न करे, तथा दोष को दूर करने वाला उत्तम साधु पाश्र्वस्थादि साधु के साथ भी प्रवेश न करे, और यदि कोई पहले प्रवेश किया हुआ हो तो उसके साथ न निकले ।

वह साधु या साध्वी बाहर स्थंडिल भूमि ( मलोत्सर्ग का स्थान ) में या स्वाध्याय भूमि में जाता हुआ या प्रवेश करता हुआ किसी अन्यतीर्थी या गृहस्थी अथवा पाश्र्वस्थादि साधु के साथ न जाए, न प्रवेश करे ।

वह साधु वा साध्वी एक ग्राम से दूसरे ग्राम में जाते हुए अन्यतीर्थी यावत् गृहस्थ और पाश्र्वस्थादि के साथ न जाए, गमन न करे ।

**हिन्दी विवेचन—** प्रस्तुत सूत्र में साधु के लिए बताया गया है कि वह गृहस्थ, अन्य मत के साधु संन्यासियों एवं पाश्र्वस्थ साधुओं के साथ गृहस्थ के घर में, स्वाध्याय भूमि में प्रवेश न करे और इनके साथ शौच के लिए भी न जाए और न इनके साथ विहार करे । क्योंकि ऐसा करने से साधु के संयम में अनेक दोष लग सकते हैं ।

साधु के लिए धनवान एवं सामान्य स्थिति के सभी घर बराबर हैं । वह बिना किसी भेद के

अमीर-गरीब सबके घरों में भिक्षा के लिए जाता है और एषणीय एवं शुद्ध आहार ग्रहण करता है। वह किसी भी गृहस्थ को आहार देने के लिए विवश नहीं करता और न जबरदस्ती से आहार ग्रहण करता है। ऐसी स्थिति में कभी वह सामान्य घर में गृहस्थ के साथ प्रवेश करे और उस गृहपति की साधु को आहार देने की स्थिति न हो या इच्छा न हो, परन्तु उस साथ के गृहस्थ की लज्जा या दबाव के कारण वह साधु को आहार देवे तो इससे साधु के संयम में दोष लगता है अतः साधु को गृहस्थ के साथ किसी के घरों में प्रवेश नहीं करना चाहिए।

इसी तरह अन्य मत के या पार्श्वस्थ साधुओं के साथ किसी के घर में भिक्षा को जाने से भी संयम में अनेक दोष लग सकते हैं। क्योंकि अन्य भिक्षु एषणीय-अनेषणीय की गवेषणा किए बिना ही जैसा मिल गया वैसा ही आहार ग्रहण कर लेते हैं। और जैन साधु सचित्त एवं अनेषणीय आहार ग्रहण नहीं कर सकता। ऐसी स्थिति में वे उसकी निन्दा कर सकते हैं, यह कह सकते हैं कि यह तो ढोंगी एवं पाखण्डी है, हमारे साथ होने के कारण अपनी उत्कृष्टता बताता है, जहां अकेला होता है वहां सब कुछ ले लेता है और कभी इस समस्या को लेकर गृहस्थ के घर में भी वाद-विवाद हो सकता है। इससे गृहस्थ के मन में कुछ सन्देह पैदा हो सकता है। इस तरह वह अप्रासुक एवं अनेषणीय आहार ग्रहण नहीं करता है तो उक्त स्थिति पैदा हो सकती है और उसे ग्रहण करता है तो उसके संयम में दोष लगता है। इसके अतिरिक्त सबको एक साथ भिक्षा के लिए आया हुआ मान कर गृहस्थ पर भी बोझ पड़ सकता है और कभी किसी को न देने की इच्छा रखते हुए भी लज्जावश उसे देना पड़ता है, परन्तु अन्दर में बोझ सा अनुभव कर सकता है। इन सब दोषों से बचने के लिए मुनि को गृहस्थ, पार्श्वस्थ साधु एवं अन्य मत के संन्यासियों के साथ किसी भी गृहस्थ के घर में प्रवेश नहीं करना चाहिए।

शौच के लिए जाते समय उपरोक्त व्यक्तियों का साथ करने में भी संयम में अनेक दोष लगते हैं। प्रथम तो उनके पास अप्रासुक (सचित्त) पानी होगा। अतः उनसे बात-चीत करने में उन पानी के जीवों की विराधना होगी। दूसरे साधु को रास्ते चलते हुए बोलना नहीं चाहिए। यदि वह बातें करता चलता है तो वह मार्ग को भली-भांति नहीं देख सकता। और यदि उन से बातें नहीं करता है तो वे नाराज भी हो सकते हैं और अन्त-सन्त शब्द भी बोल सकते हैं। तीसरे यदि उनके आगे-आगे चले तो उन्हें अपना अपमान महसूस हो सकता है और उनके पीछे चलने से जैन धर्म की लघुता होती है और बराबर चलने पर सचित्त पानी का स्पर्श होने की संभावना है। चौथे में वह शौच के लिए निर्दोष भूमि नहीं देख सकता। उनके सामने भी नहीं बैठ सकता। इसलिए कभी उसे बहुत दूर जाने पर भी योग्य स्थान न मिलने पर जैसे-तैसे स्थान पर शौच बैठना पड़ता है। अतः गृहस्थ आदि के साथ शौच जाने से अनेक दोष लगते हैं। इस कारण साधु को उनके साथ शौच को नहीं जाना चाहिए।

स्वाध्याय भूमि में भी उनके साथ प्रवेश करने में सचित्त जल के अतिरिक्त अन्य सभी दोष लगते हैं। इसके अतिरिक्त उनसे बातें करते रहने के कारण स्वाध्याय में विघ्न पड़ता है। इसलिए साधु को स्वाध्याय के लिए भी गृहस्थ आदि के साथ नहीं जाना चाहिए।

विहार के समय उनके साथ जाने से वह बातों में उलझा रहने के कारण अच्छी तरह से मार्ग नहीं देख सकेगा। तथा बातों में समय बहुत लग जाने के कारण समय पर पहुंच नहीं सकेगा। तथा यथासमय आवश्यक क्रियाएं भी नहीं कर सकेगा। कभी पेशाब आदि की बाधा होने पर वह संकोच वश



कर नहीं सकेगा और उसे रोकने से अनेक बीमारियों का शिकार हो जाएगा। और पेशाब करना चाहे तो उनके सामने तो कर नहीं सकता, इसलिए उसे एकान्त एवं निर्दोष स्थान दूँदने के लिए बहुत दूर जाना पड़ेगा या फिर सदोष स्थान में ही मल त्याग करना होगा।

इस तरह आहार, शौच, स्वाध्याय एवं विहार में गृहस्थ आदि के साथ जाने से संयम में अनेक दोष लगते हैं और अन्य मत के भिक्षुओं के अधिक परिचय से साधु की श्रद्धा एवं संयम में शिथिलता एवं विपरीतता भी आ सकती है तथा उनके घनिष्ठ परिचय के कारण श्रावकों के मन में सन्देह भी पैदा हो सकता है। इन्हीं सब कारणों से साधु को उनके साथ घनिष्ठ परिचय करने एवं भिक्षा आदि के लिए उनके साथ जाने का निषेध किया गया है, न कि किसी द्वेष भाव से। अतः साधु को अपने संयम का निर्दोष पालन करने के लिए स्वतन्त्र रूप से गृहस्थ आदि के घर में प्रवेश करना चाहिए।

इनके साथ आहार आदि का लेन-देन करने से भी संयम में अनेक दोष लग सकते हैं, अतः उनके साथ आहार-पानी के लेन-देन का निषेध करते हुए सूत्रकार कहते हैं -

**मूलम्— से भिक्खू वा भिक्खुणी वा० जाव पविट्ठे समाणे नो अन्नउत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा परिहारिओ वा अपरिहारियस्स असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा दिज्जा वा अणुपइज्जा वा ॥५॥**

छाया— स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा० यावत् प्रविष्टः सन् न अन्यतीर्थिकाय वा गृहस्थाय वा पारिहारिको वा अपरिहारिकाय अशनं वा पानं वा खादिमं वा स्वादिमं वा दद्याद् वा अनुप्रदापयेद् वा।

पदार्थ— से-वह। भिक्खू वा- साधु या। भिक्खुणी वा-साध्वी। जाव-यावत्, गृहस्थ के घर में। पविट्ठे समाणे-प्रवेश करते हुए। अन्नउत्थियस्स वा-अन्यतीर्थी के लिए अथवा। गारत्थियस्स-गृहस्थी के लिए। परिहारिओ-दोष दूर करने वाला उत्तम साधु। अपरिहारियस्स-पार्श्वस्थादि साधु के लिए। असणं वा-अन्न अथवा। पाणं वा-पानी। खाइमं वा-या खादिम पदार्थ अथवा। साइमं वा-स्वादिम वस्तु। नो दिज्जा वा-न देवे या। अणुपइज्जा वा-न दिलावे।

मूलार्थ—गृहस्थ के घर में प्रविष्ट हुआ साधु या साध्वी, अन्यतीर्थी परपिंडोपजीवी गृहस्थ-याचक और पार्श्वस्थ-शिथिलाचारी साधु को, निर्दोष भिक्षा ग्रहण करने वाला श्रेष्ठ साधु अन्न, जल, खादिम और स्वादिम रूप पदार्थों को न तो स्वयं दे और न किसी से दिलाए।

हिन्दी विवेचन— प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि साधु को पार्श्वस्थ-शिथिलाचारी एवं अन्य मत के साधुओं को आहार-पानी नहीं देना चाहिए। इससे संयम में अनेक दोष लगने की संभावना है। उनके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रहने के कारण श्रद्धा में शिथिलता एवं विपरीतता आ सकती है। लोगों के मन में यह भी बात घर कर सकती है कि ये अन्य मत के साधु अधिक प्रतिष्ठित एवं श्रेष्ठ हैं, तभी तो ये मुनि भी इनका आहार-पानी से सम्मान करते हैं। इससे वे श्रावक (गृहस्थ) उनका सम्मान करने लगेंगे और फलस्वरूप मिथ्यात्व की अभिवृद्धि होगी। इसके अतिरिक्त अन्य मत के साधुओं को आहार देने से सबसे बड़ा दोष गृहस्थ की चोरी का लगेगा। क्योंकि गृहस्थ के घर से वह साधु अपने एवं अपने साथियों

(सहधर्मा एवं संभोगी मुनियों) के लिए आहार लाया है। ऐसी स्थिति में वह अन्य मत के भिक्षुओं को आहार देता है, तो उसे गृहस्थ की चोरी लगती है। गृहस्थ को मालूम होने पर साधु पर अविश्वास भी हो सकता है कि यह तो हमारे यहां से भिक्षा ले जाकर बांटता फिरता है। इस तरह के और भी अनेक दोष लगने की संभावना है। इस लिए मुनि को अपने संभोगी साधु के अतिरिक्त अन्य मत के साधुओं को आहार आदि नहीं देना चाहिए। यह प्रतिबन्ध संयम सुरक्षा की दृष्टि से है, न कि दया एवं स्नेहभाव को रोकने के लिए।

साधु को सदा एषणीय आहार ग्रहण करना चाहिए। अनेषणीय आहार की अग्राह्यता के सम्बन्ध में उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्—** से भिक्खू वा जाव समाणे असणं वा ४ अस्सिंपडियाए एगं साहम्मियं समुद्दिस्स पाणाइं भूयाइं जीवाइं सत्ताइं समारब्भ समुद्दिस्स कीयं पामिच्चं अच्छिज्जं अणिसट्ठं अभिहडं आहट्टु चेएइ, तं तहप्पगारं असणं वा ४ पुरिसंतरकडं वा अपुरिसंतरकडं वा बहिया नीहडं वा अनीहडं वा अत्तट्ठियं अणत्तट्ठियं वा परिभुत्तं वा अपरिभुत्तं वा आसेवियं वा अणासेवियं वा अफासुयं जाव नो पडिग्गाहिज्जा, एवं बहवे साहम्मिया एगं साहम्मिणिं बहवे साहम्मिणीओ समुद्दिस्स चत्तारि आलावगा. भाणियव्वा ॥६ ॥

**छाया—** स भिक्षुर्वा यावत् सन् अशनं वा ४ अस्य प्रतिज्ञया एकं साधर्मिकं समुद्दिश्य प्राणिनः भूतानि, जीवान् सत्त्वान् समारभ्य समुद्दिश्य क्रीतं [ पामिच्चं ] प्रामित्यं आच्छेद्यं अनिसृष्टं अभ्याहृतं आहत्य ददाति, तत् तथा प्रकारं अशनं वा ४ पुरुषान्तरकृतं वा अपुरुषान्तरकृतं वा बहिर्निर्गतं वा अनिर्गतं वा आत्मार्थिकं वा अनात्मार्थिकं वा परिभुक्तं वा अपरिभुक्तं वा आसेवितं वा अनासेवितं वा अप्रासुकं यावत् नो प्रतिगृण्णीयात् एवं बहून् साधर्मिकान् एकां साधर्मिकीं बह्वीः साधर्मिकीः समुद्दिश्य चत्वारः आलापकाः भणितव्याः।

**पदार्थ—** से-वह। भिक्खू वा- साधु या साध्वी। जाव-यावत्। समाणे-घर में प्रवेश करता हुआ। असणं वा ४-अशनादि। अस्सिंपडियाए-साधु की प्रतिज्ञा से। एगं-एक। साहम्मियं-साधर्मिक को। समुद्दिस्स-उद्देश्य करके। पाणाइं-प्राणि। भूयाइं-भूत। जीवाइं-जीव और। सत्ताइं-सत्त्वों का। समारब्भ-समारम्भ करके। समुद्दिस्स-उद्देश्य करके- (इस सूत्र से सर्व अविशुद्ध कोटि ग्रहण की गई है) तथा। कीयं- साधु के निमित्त मोल लेकर। पामिच्चं-साधु के निमित्त उधार लेकर। अच्छिज्जं-साधु के निमित्त दूसरे से छीनकर। अणिसट्ठं-सांझे की वस्तु को दूसरे साथी की बिना आज्ञा लेकर या। अभिहडं-गृहस्थ सामने लाकर। आहट्टु-कोई चीज देता है। तं-वह। तहप्पगारं-तथा प्रकार-इस प्रकार का। असणं वा ४-अशनादि चतुर्विध आहार। पुरिसंतरकडं वा-पुरुषान्तर कृत-दाता से भिन्न पुरुष का किया हुआ। अपुरिसंतरकडं वा-अथवा दाता का किया हुआ। बहिया-घर से बाहर। नीहडं वा-निकाला हुआ अथवा। अनीहडं वा-न निकाला हुआ। अत्तट्ठियं वा-दाता ने

स्वीकार किया हुआ। अणत्तद्वियं वा-दाता ने अपना स्वीकार न किया हुआ। परिभुत्तं वा-दाता ने उस आहार में से कुछ भोग लिया। अपरिभुत्तं वा- अथवा नहीं भोगा। आसेवियं वा-उस आहार में से कुछ आस्वादन किया। अणासेवियं वा-अथवा स्वादन नहीं किया है, ऐसा। अफासुयं वा-अप्रासुक। जाव-यावत् अनेषणीय आहार मिलने पर भी। नो पडिग्गाहिजा-ग्रहण न करे। एवं-इसी प्रकार। बहवे-बहुत से। साहम्मिया-सधर्मियों को उद्देश्य रखकर तैयार किया हुआ आहार। एगं साहम्मिणिं-एक साध्वी को। बहवे-बहुत सी। साहम्मिणीओ-साध्वियों को। समुद्दिस्स-उद्देश्य रख कर आहार बनाया गया हो तो वह भी स्वीकार करना नहीं कल्पता। चत्तारि-चार। आलावगा-आलापक सूत्र। भाणियव्वा-कहने चाहिए।

**मूलार्थ**—गृहस्थ के घर में प्रविष्ट साधु-साध्वी इस बात की गवेषणा करे कि किसी भद्र गृहस्थ ने एक साधु का उद्देश्य रखकर प्राणी, भूत, जीव और सत्त्वों का आरम्भ करके आहार बनाया हो, तथा साधु के निमित्त मोल लिया हो, उधार लिया हो, किसी निर्बल से छीनकर लिया हो, एवं साधारण वस्तु दूसरे की आज्ञा के बिना दे रहा हो, और साधु के स्थान पर घर से लाकर दे रहा हो, इस प्रकार का आहार लाकर देता हो तो इस प्रकार का अन्न-जल, खादिम और स्वादिम आदि पदार्थ, पुरुषान्तर-दाता से भिन्न पुरुषकृत, अथवा दाता कृत हो, घर से बाहर निकाला गया हो या न निकाला गया हो, दूसरे ने स्वीकार किया हो अथवा न किया हो, आत्मार्थ किया गया हो, या दूसरे के निमित्त किया गया हो, उसमें से खाया गया हो अथवा न खाया गया हो, थोड़ा सा आस्वादन किया हो या न किया हो, इस प्रकार का अप्रासुक अनेषणीय आहार मिलने पर भी साधु ग्रहण न करे। इसी प्रकार बहुत से साधुओं के लिए बनाया गया हो, एक साध्वी के निमित्त बनाया गया हो अथवा बहुत सी साध्वियों के निमित्त बनाया गया हो वह भी ग्राह्य अर्थात् स्वीकार करने योग्य नहीं है। इसी भांति चारों आलापक जानने चाहिए।

**हिन्दी विवेचन**—प्रस्तुत सूत्र में सदोष आहार के भी दो विभाग किए गए हैं— विशुद्ध कोटि और अविशुद्ध कोटि। साधु के निमित्त जीवों की हिंसा करके बनाया गया आहार आदि अविशुद्ध कोटि कहलाता है और प्रत्यक्ष में किसी जीव की हिंसा न करके साधु के लिए खरीद कर लाया हुआ आहार आदि विशुद्ध कोटि कहलाता है। किसी व्यक्ति से उधार लेकर, छीनकर या जिस व्यक्ति की वस्तु है उसकी बिना आज्ञा से या किसी के घर से लाकर दिया गया हो वह भी विशुद्ध कोटि कहलाता है। इसे विशुद्ध कहने का तात्पर्य यह है कि इस आहार आदि को तैयार करने में साधु के निमित्त हिंसा नहीं करनी पड़ी। क्योंकि वह बेचने एवं अपने खाने के लिए ही बनाया गया था। फिर भी दोनों तरह का आहार साधु के लिए अग्राह्य है।

पहले प्रकार के आहार की अग्राह्यता स्पष्ट है कि उसमें साधु को उद्देश्य करके हिंसा की जाती है। दूसरे प्रकार के आहार में प्रत्यक्ष हिंसा तो नहीं होती है, परन्तु साधु के लिए पैसे का खर्च होता है और पैसा आरम्भ से पैदा होता है। और जो पदार्थ उधार लिए जाते हैं उन्हें वापिस लौटाना होता है और वापिस लौटाने के लिए आरम्भ करके ही उन्हें बनाया जाता है। किसी कमजोर व्यक्ति से छीनकर देने से उस व्यक्ति पर साधु के लिए बल प्रयोग किया जाता है और इससे उसका मन अवश्य ही दुःखित होता

है और किसी व्यक्ति को कष्ट देना भी हिंसा का ही एक रूप है। किसी व्यक्ति के अधिकार की वस्तु को उसे बिना पूछे देने से उसे मालूम पड़ने पर दोनों में संघर्ष हो सकता है। इन सब दृष्टियों से इस तरह दिए जाने वाले पदार्थों में प्रत्यक्ष हिंसा परिलक्षित नहीं होने पर भी वे हिंसा के कारण बन सकते हैं, इसलिए साधु को दोनों तरह का आहार सदोष समझकर त्याग देना चाहिए।

विशुद्ध एवं अविशुद्ध कोटि में इतना अन्तर अवश्य है कि विशुद्ध कोटि पदार्थ पुरुषान्तर कृत होने पर साधु के लिए ग्राह्य माने गए हैं। जैसे साधु के उद्देश्य से खरीद कर लाया गया वस्त्र किसी व्यक्ति ने अपने उपयोग में ले लिया है और इसी प्रकार साधु के निमित्त खरीदा गया मकान गृहस्थों के अपने काम में आ गया है तो फिर वह साधु के लिए अग्राह्य नहीं रहता। परन्तु, अविशुद्ध कोटि-आधाकर्मी, औद्देशिक आदि दोष युक्त पदार्थ पुरुषान्तरकृत हो या अपुरुषान्तरकृत हो किसी भी तरह से साधु के लिए ग्राह्य नहीं है। एक या बहुत से साधु-साध्वियों के लिए बनाया गया आहार आदि एक या बहुत से साधु-साध्वियों के लिए ग्राह्य नहीं है<sup>१</sup>।

प्रस्तुत सूत्र में 'पुरिसंतरकडं वा अपुरिसंतरकडं' पाठ आया है। इसका तात्पर्य यह है- दाता के अतिरिक्त व्यक्ति द्वारा उपभोग किया हुआ पदार्थ पुरुषान्तरकृत कहलाता और दाता द्वारा उपभोग में लिया गया पदार्थ अपुरुषान्तरकृत कहा जाता है।

सदोष आहार के निषेध का वर्णन पहले अहिंसा महाव्रत की सुरक्षा की दृष्टि से किया गया है। और इससे यह भी स्पष्ट होता है कि शुद्ध आहार जीवन को शुद्ध, सात्विक एवं उज्वल बनाता है। इसके पहले के सूत्रों में हम देख चुके हैं कि साधुओं की साधना चिन्तन-मनन के द्वारा आत्मा का प्रत्यक्षीकरण करके उसे निष्कर्म बनाने के लिए है। इसके लिए स्वाध्याय एवं ध्यान आवश्यक हैं और इनकी साधना के लिए मन का एकाग्र होना जरूरी है और वह शुद्ध आहार के द्वारा ही हो सकता है। क्योंकि मन पर आहार का असर होता है। यह लोक कहावत भी प्रसिद्ध है कि 'जैसा खाए अन्न वैसा रहे मन।' इससे स्पष्ट होता है कि आहार का मन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रहा हुआ है। अशुद्ध, तामसिक एवं सदोष आहार मन को विकृत बनाए बिना नहीं रहता। इसलिए आगमों में साधु के लिए स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि वह सदोष एवं अनेषणीय आहार को ग्रहण न करे। उपनिषद् में भी बताया गया है कि आहार की शुद्धि से सत्व शुद्ध रहता है और उसकी शुद्धि से स्मृति स्थिर रहती है अर्थात् मन एकाग्र बना रहता है<sup>२</sup>।

अशुद्ध आहार स्वीकार न करने के विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं-

**मूलम्— से भिक्खू वा जाव समाणे से जं पुण जाणिज्जा असणं वा ४  
बहवे समणा माहणा अतिहिकिवणवणीमए पगणिय २ समुद्दिदस्स पाणाइं वा  
४ समारब्भ जाव नो पडिग्गाहिज्जा ॥७॥**

१ यह नियम पहले और अन्तिम तीर्थंकर भगवान के शासन में होने वाले साधु-साध्वियों के लिए है। अवशेष २२ तीर्थंकरों के साधु-साध्वियों के लिए यह प्रतिबन्ध नहीं है। उनके लिए इतना ही विधान है कि जिस साधु-साध्वी के निमित्त आहार आदि तैयार किया गया हो वह साधु-साध्वी उसे ग्रहण न करे। वृत्तिकार का भी यही अभिमत है।

२ आहार शुद्धौ सत्व शुद्धिः, सत्व शुद्धौ, ध्रुवा स्मृतिः।

छाया- स भिक्षुर्वा यावत् सन् यत् पुनः जानीयात् अशनं वा ४ बहून् श्रमणान् ब्राह्मणान् अतिथीन् कृपण वणीपकान् प्रगणय्य २ समुद्दिश्य प्राणादीन् वा ४ समारम्भ्य यावद् न प्रतिगृणहीयात्।

पदार्थ- से-भिक्षु वा-वह साधु या साध्वी। जाव-यावत्। समाणे-घर में प्रवेश किए हुए। से-वह। जं-जो। पुण-फिर। असणं वा-अज्ञादि को। जाणिज्जा-जाने यथा। बहवे-बहुत से। समणा-शाक्यादि भिक्षु। माहणा-ब्राह्मण। अतिहि-अतिथि। किवण-कृपण-दरिद्र। वणीमए-भिखारी इन सब को। पगणिय २-गिन २कर। समुद्दिस्स-इनको उद्देश्य कर। पाणाइं वा-प्राणी आदि का। समारम्भ-आरम्भ कर जो आहार तैयार किया गया हो वह। जाव-यावत् मिलने पर। नो पडिग्गाहिज्जा-ग्रहण न करे।

मूलार्थ-गृहस्थ के घर में प्रविष्ट हुआ साधु या साध्वी इस बात का अन्वेषण करे कि जो आहारादि बहुत से शाक्यादि भिक्षु, ब्राह्मण, भिखारी आदि को गिन-गिन कर या उनके उद्देश्य से जीवों का आरम्भ-समारम्भ करके बनाया हो, उसे साधु ग्रहण न करे।

हिन्दी विवेचन- प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि किसी गृहस्थ ने शाक्यादि श्रमण, ब्राह्मण, अतिथि, भिखारी आदि की गणना करके उनके लिए आहार तैयार किया है। जब कि यह आहार साधु के उद्देश्य से नहीं बनाया गया फिर भी साधु के लिए अग्राह्य है। क्योंकि बौद्ध भिक्षु एवं जैन साधु दोनों के लिए 'श्रमण' शब्द का प्रयोग होता है, अतः संभव है कि गृहस्थ ने उस आहार के बनाने में उन्हें भी साथ गिन लिया हो। इसके अतिरिक्त ऐसा आहार ग्रहण करने से लोगों के मन में यह शंका उत्पन्न हो सकती है कि अन्य भिक्षुओं की तरह जैन साधु भी अपने लिए बनाए गए आहार को लेते हैं। और उक्त आहार में से ग्रहण करने से जिन व्यक्तियों के लिए वह आहार बनाया गया है, उनकी अन्तराय भी लगती है तथा उनके लिए बनाए गए आहार को लेने के लिए जैन साधु को जाते हुए देखकर उनके मन में द्वेष भी जाग सकता है। इसलिए जैन साधु को ऐसा आहार भी स्वीकार नहीं करना चाहिए।

अब विशुद्ध कोटि के अनेषणीय आहार के विषय में सूत्रकार कहते हैं-

मूलम्- से भिक्षु वा भिक्षुणी वा जाव पविट्ठे समाणे से जं पुण जाणिज्जा-असणं वा ४ बहवे समणा माहणा अतिहिकिवणवणीमए समुद्दिस्स जाव चेएइ तं तहप्पगारं असणं वा ४ अपुरिसंतरकडं वा अबहिया नीहडं अणत्तट्ठयं अपरिभुत्तं अणासेवियं अफासुयं अणेसणिज्जं जाव नो पडिग्गाहिज्जा। अह पुण एवं जाणिज्जा पुरिसंतरकडं बहिया नीहडं अत्तट्ठयं परिभुत्तं आसेवियं फासुयं एसणिज्जं जाव पडिग्गाहिज्जा ॥८ ॥

छाया- स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा यावत् प्रविष्टः सन् स यत् पुनः जानीयात्-अशनं वा ४ बहून् श्रमणान् ब्राह्मणान् अतिथीन् कृपणवणीमकान् समुद्दिश्य यावद् ददाति तं

तथाप्रकारं अशनं वा ४ अपुरुषान्तरकृतं वा अबहिर्निर्गतं अनात्मीकृतं अपरिभुक्तं अनासेवितं, अप्रासुकं अनेषणीयं न प्रतिगृण्णीयात्। अथ पुनः एवं जानीयात् पुरुषान्तरकृतं बहिर्निर्गतं, आत्मीकृतं परिभुक्तं आसेवितं प्रासुकं एषणीयं यावत् प्रतिगृण्णीयात्।

**पदार्थ-** से-वह। भिक्खू वा-साधु या। भिक्खुणी वा-साध्वी। जाव-यावत्। पविट्ठे समाणे-घर में प्रवेश करने पर। से-वह साधु या साध्वी। जं-जो। पुण-पुनः। जाणिज्जा-जाने। असणं वा ४-अशनादिक आहार। बहवे-बहुत। समणा-शाक्यादि भिक्षु। माहणा-ब्राह्मण। अतिहि-अतिथि। किवण-कृपण-दरिद्री। वणीमए-भिखारी। समुद्दिस्स-इनको उद्देश्य कर। जाव-यावत्। चेएइ-देता है। तं-उस। तहप्पगारं-तथा प्रकार के। असणं वा ४-अशनादि-अन्नादि चतुर्विध आहार जो कि। अपुरिसंतरकडं वा-पुरुषान्तर कृत नहीं है अथवा। अबहिया नीहडं-जो घर से बाहर नहीं निकाला गया है। अणत्तिट्ठयं-दाता ने अपना नहीं बनाया है। अपरिभुक्तं-और न उसमें से किसी ने खाया है एवं। अणासेवियं-किसी ने आसेवन भी नहीं किया है, ऐसे। अफासुयं-अप्रासुक-सचित्त। अणेसणिज्जं-अनेषणीय-सदोष आहार को। जाव-यावत् मिलने पर जैन भिक्षु। नो पडिग्गाहिज्जा-ग्रहण न करे।

अह-अथ। पुण-पुनः-फिर यदि। एवं जाणिज्जा-इस प्रकार जाने कि यह अशनादिक चतुर्विध आहारादि पदार्थ। पुरिसंतरकडं-पुरुषान्तरकृत है। बहिया नीहडं-बाहर निकाला गया है। अत्तिट्ठयं-अपना किया हुआ है। परिभुक्तं-खाया हुआ है। आसेवियं-सेवन किया हुआ है। फासुयं-प्रासुक -अचित्त है और। एसणिज्जं-एषणीय निर्दोष है। जाव-यावत्-ऐसा आहार मिलने पर साधु। पडिग्गाहिज्जा-ग्रहण करे।

**मूलार्थ-**गृहस्थ कुल में प्रवेश करने पर साधु-साध्वी इस प्रकार जाने कि अशनादिक चतुर्विध आहार जो कि शाक्यादि भिक्षु, ब्राह्मण, अतिथि, दीन और भिखारियों के निमित्त तैयार किया गया हो और दाता उसे दे तो इस प्रकार के अशनादि आहार को जो कि अन्य पुरुष कृत न हो, घर से बाहर न निकाला गया हो, अपना अधिकृत न हो, उसमें से खाया या आसेवन न किया गया हो तथा अप्रासुक और अनेषणीय हो, तो साधु ऐसा आहार भी ग्रहण न करे।

और यदि साधु इस प्रकार जाने कि यह आहार आदि पदार्थ अन्य कृत है, घर से बाहर ले जाया गया है, अपना अधिकृत है तथा खाया और भोगा हुआ है एवं प्रासुक और एषणीय है तो ऐसे आहार को साधु ग्रहण कर ले।

**हिन्दी विवेचन-**प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि किसी गृहस्थ ने शाक्यादि भिक्षुओं के लिए आहार बनाया है और वह आहार अन्य पुरुषकृत नहीं हुआ है, बाहर नहीं ले जाया गया है, किसी व्यक्ति ने उसे खाया नहीं है और वह अप्रासुक एवं अनेषणीय है, तो साधु के लिए अग्राह्य है। यदि वह आहार पुरुषान्तर हो गया है, लोग घर से बाहर ले जा चुके हैं दूसरे व्यक्तियों द्वारा खा लिया गया है और वह प्रासुक एवं एषणीय है, तो साधु उसे ग्रहण कर सकता है।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'अथ' शब्द का पूर्व सूत्र की अपेक्षा एवं 'पुनः' शब्द का विशेषणार्थ में प्रयोग किया गया है।

इस बात को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं-

**मूलम्-** से भिक्खू वा भिक्खुणी वा गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए पविसिउकामे से जाइं पुण कुलाइं जाणिजा-इमेसु खलु कुलेसु निइए पिंडे दिज्जइ, अग्गपिंडे दिज्जइ, नियाए भाए दिज्जइ, अवड्डुभाए दिज्जइ, तहप्पगाराइं कुलाइं निइयाइं निइउमाणाइं नो भत्ताए वा पाणाए वा पविसिज्ज वा निक्खमिज्ज वा । एयं खलु तस्स भिक्खुस्स भिक्खुणीए वा सामग्गियं जं सव्वट्ठेहिं समिए सहिए सया जए ॥९॥ त्तिबेमि

**छाया-** स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा गृहपतिकुलं पिण्डपातप्रतिज्ञया प्रवेष्टुकामः तत् यानि पुनः कुलानि जानीयात्-इमेषु खलु कुलेषु नित्यं पिण्डः दीयते, अग्रपिण्डः दीयते, नित्यं भागः दीयते, नित्यं अपार्ष्णं भागः दीयते, तथा प्रकाराणि कुलानि नित्यानि नित्यमुपाणंति ( प्रवेशः ) नो भक्तार्थं पानार्थं वा प्रविशेद् निष्क्रमेद् वा एतत् खलु तस्य भिक्षोः भिक्षुक्या वा सामग्रयं यत् सर्वार्थैः समितः सहितः सदा यतेत । इति ब्रवीमि ।

**पदार्थ-** से-वह । भिक्खू वा-भिक्षु-साधु वा । भिक्खुणी वा-साध्वी । गाहावइकुलं-गृहपति के कुल में । पिंडवायपडियाए-आहार लाभ की प्रतिज्ञा से । पविसिउकामे-प्रवेश करने की इच्छा रखता हुआ । से-वह साधु । जाइं-जो । पुण-फिर । कुलाइं-कुलों को । जाणिजा-जाने । खलु-वाक्यालंकार अर्थ में है । इमेसु कुलेसु-इन कुलों में । निइए-नित्य । पिंडे दिज्जइ-आहार दिया जाता है । अग्गपिंडे दिज्जइ-अग्रपिंड-प्रथम आहार दिया जाता है । नियाए भाए दिज्जइ-नित्य भाग दिया जाता है । नियाए अवड्डुभाए दिज्जइ-नित्य चतुर्थ भाग दिया जाता है । तहप्पगाराइं कुलाइं-इस प्रकार के कुलों में । निइउमाणाइं-नित्य ही स्वपक्ष और पर पक्ष के साधु दान के लिए प्रवेश करते हैं । नो भत्ताए वा पाणाए वा-इस प्रकार के कुलों में भक्तपान-अन्न और जल आदि के लिए न तो । पविसिज्ज वा-प्रवेश करे और । निक्खमिज्ज वा-निकले । खलु-वाक्यालंकार में है । एयं-यह । तस्स-उस । भिक्खुस्स-भिक्षु और । भिक्खुणीए वा-साध्वी की । सामग्गियं-समग्रता समाचारी है । जं-जो कि । सव्वट्ठेहिं-सर्व अर्थों में अर्थात् शब्दादि अर्थों में । समिए-संयत है । सहिए-हित युक्त है-अथवा ज्ञान दर्शन चारित्र्य से युक्त है । सए-सदा । जए-प्रयत्न करे संयम युक्त होवे । त्तिबेमि-इस प्रकार में कहता हूँ ।

**मूलार्थ-** गृहस्थ के कुल में आहार प्राप्ति के निमित्त प्रवेश करने की इच्छा रखने वाले साधु या साध्वी इन वक्ष्यमाण कुलों को जाने, जिन कुलों में नित्य आहार दिया जाता है, अग्रपिंड आहार में से निकाला हुआ पिंड दिया जाता है, नित्य अपार्ष्णं भाग आहार दिया जाता है, नित्य चतुर्थ भाग आहार दिया जाता है, इस प्रकार के कुलों में जो कि नित्यदान देने वाले हैं तथा जिन कुलों में भिक्षुओं का भिक्षार्थ निरन्तर प्रवेश हो रहा है ऐसे कुलों में अन्न पानादि के निमित्त साधु न जाए ।

यह साधु और साध्वी की समग्रता अर्थात् निर्दोष वृत्ति है। वह सर्व शब्दादि अर्थों में यत्न वाला, संयत अथवा ज्ञान दर्शन और चारित्र से युक्त है। अतः वह इस वृत्ति का परिपालन करने में सदा यत्नशील हो। इस प्रकार मैं कहता हूँ।

**हिन्दी विवेचन-** प्रस्तुत सूत्र में इस बात का आदेश दिया गया है कि साधु को निम्न कुलों में भिक्षा के लिए नहीं जाना चाहिए। जिन कुलों में नित्य-प्रति दान दिया जाता है, जिन कुलों में अग्रपिंड-जो आहार पक रहा हो उसमें से कुछ भाग पहले निकाल कर रखा हुआ आहार-दिया जाता है, जिन कुलों में आहार का आधा या चतुर्थ हिस्सा दान में दिया जाता है और जिन कुलों में शाक्यादि भिक्षु निरन्तर आहार के लिए जाते हों, ऐसे कुलों में जैन साधु-साध्वी को प्रवेश नहीं करना चाहिए। क्योंकि ऐसे घरों में भिक्षा को जाने से या तो उन भिक्षुओं की-जो वहाँ से सदा-सर्वदा भिक्षा पाते हैं, अंतराय लगेगी या उन भिक्षुओं के लिए फिर से आरम्भ करके आहार बनाना पड़ेगा। इसलिए साधु को ऐसे घरों में आहार नहीं लेना चाहिए।

जैन साधु सर्वथा निर्दोष आहार ही ग्रहण करता है। इस बात को सूत्रकार ने 'सव्वट्ठेहिं समिए....., इत्यादि पदों से अभिव्यक्त किया है। इनका स्पष्टीकरण करते हुए वृत्तिकार ने लिखा है- मुनि सरस एवं नीरस जैसा भी निर्दोष आहार उपलब्ध होता है, उसे समभाव से ग्रहण करता है। वह रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि विषयों में अनासक्त रहता है। वह पांच समिति से युक्त है, राग-द्वेष से दूर रहने का प्रयत्न करता है, वह रत्न-त्रय- ज्ञान, दर्शन और चारित्र से युक्त होने से संयत है। और वह निर्दोष मुनिवृत्ति का परिपालन करता है, यही उसकी समग्रता है\*।

'त्तिबेमि' पद से सूत्रकार ने यह स्पष्ट कर दिया है कि ये विचार मेरी कल्पना-मात्र नहीं हैं। आर्य सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बू से कहते हैं कि हे जम्बू ! मैंने जैसा भगवान महावीर के मुख से सुना है वैसा ही तुम्हें बता रहा हूँ।

॥ प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

\* सर्वार्थ- सरसविरसादिभिराहारगतैः यदि वा रूपरसगन्धस्पर्शागतैः सम्यगितः समितः संयत इत्यर्थः। पंचभिर्वासमितिभिः समितः शुभेतेषु रागद्वेषविरहिते ज्ञाने यावत् एवं भूतश्च सहहितेन वर्तते इति सहितः, सहितो वा ज्ञान दर्शन चारित्रैः।



## प्रथम अध्ययन पिण्डैषणा

### द्वितीय उद्देशक

प्रस्तुत अध्ययन आहार से संबद्ध है अतः पहले उद्देशक में वर्णित आहार ग्रहण करने की विधि का प्रस्तुत उद्देशक में विशेष रूप से वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं-

मूलम्— से भिक्खू वा भिक्खुणी वा गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए अणुपविट्ठे समाणे से जं पुण जाणिज्जा- असणं वा ४ अट्ठमिपोसहिएसु वा अब्द्धमासिएसु वा मासिएसु वा दोमासिएसु वा तेमासिएसु वा चाउम्मासिएसु वा पंचमासिएसु वा छम्मासिएसु वा उऊसु वा उऊसंधीसु वा उऊपरियट्ठेसु वा बहवे समणमाहणअतिहिकिवणवणीमगे एगाओ उक्खाओ परिएसिज्जमाणे पेहाए, दोहिं उक्खाहिं परिएसिज्जमाणे पेहाए, तिहिं उक्खाहिं परिएसिज्जमाणे पेहाए, चउहिं उक्खाहिं परिएसिज्जमाणे पेहाए । कुंभीमुहाओ वकलोवाइओ वा संनिहिसंनिचयाओ वा परिएसिज्जमाणे पेहाए तहप्पगारं असणं वा ४ अपुरिसंतरकडं जाव अणासेवियं अफासुयं जाव नो पडिग्गाहिज्जा । अह पुण एवं जाणिज्जा पुरिसंतरकडं जाव आसेवियं फासुयं पडिग्गाहिज्जा ॥१०॥

छाया— स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा गृहपतिकुलं पिंडपातप्रतिज्ञया अनुप्रविष्टः सन् तद् यत् पुनः जानीयाद् अशनं वा ४ अष्टमीपौषधिकेषु वा अब्द्धमासिकेषु वा मासिकेषु वा द्विमासिकेषु वा त्रिमासिकेषु वा चतुर्मासिकेषु वा पंचमासिकेषु वा षण्मासिकेषु वा ऋतुषु वा ऋतुसन्धिषु वा ऋतुपरिवर्तनेषु वा बहून् श्रमणब्राह्मणातिथिकृपणवणीमगानेकस्मात् पिठरकाद् परिवेष्टमाणः प्रेक्ष्य द्वाभ्यामुक्खाभ्यां ( पिठरकाभ्यां ) परिवेष्टमाणः प्रेक्ष्य त्रिभिः उक्खाभिः परिवेष्टमाणः प्रेक्ष्य चतुर्भिः उक्खाभिः परिवेष्टमाणः प्रेक्ष्य कुम्भीमुखाद् वा [ पिच्छी पिटकं वा ] संनिधिसंनिचयाद् वा परिवेष्टमाणः प्रेक्ष्य तथा प्रकारं अशनं वा ४ अपुरुषान्तरकृतं यावद् अनासेवितमप्रासुकं यावत् नो प्रतिगृणहीयात् । अथ पुनरेवं जानीयात् पुरुषान्तरकृतं यावद् आसेवितं प्रासुकं प्रतिगृणहीयात् ।

पदार्थ—से-वह। भिक्खु वा-भिक्षु-साधु। भिक्खुणी वा-अथवा साध्वी। गाहावडकुलं-गृहपति के कुल में। पिंडवायपडियाए-भिक्षा ग्रहण करने की प्रतिज्ञा से। अणुपविट्ठे समाणे-प्रवेश करता हुआ। से-वह-भिक्षु। जं-जो। पुण-फिर। जाणिज्जा-जाने-ज्ञान प्राप्त करे। असणं वा-अन्नादि चतुर्विध आहार। अट्टमिपोसहिएसु वा-अष्टमी पौषध-व्रत विशेष के महोत्सव में अथवा। अद्धमासिएसु वा-अर्द्धमासिक व्रत विशेष के महोत्सव में। मासिएसु वा-मासिक व्रत विशेष के महोत्सव में। दोमासिएसु वा-द्विमासिक व्रत विशेष के महोत्सव में। तेमासिएसु वा-त्रैमासिक व्रत विशेष के महोत्सव में। चउमासिएसु वा-चातुर्मासिक व्रत विशेष के महोत्सव में। पंचमासिएसु वा-पांच मासिक व्रत विशेष के महोत्सव में। छम्मासिएसु वा-षाण्मासिक व्रत विशेष के महोत्सव में। उऊसु वा-ऋतु के मौसम में। उऊसंधीसु वा-ऋतुओं की सन्धि में। उऊपरियट्ठेसु वा-ऋतु परिवर्तन में। बहवे-बहुत से। समणमाहणअतिहिकिवणवणीमगे-श्रमण, ब्राह्मण, अतिथि, कृपण और भिखारी इन सबको। एगाओ उक्खाओ-एक बर्तन से। परिएसिज्जमाणे परोसता हुआ। पेहाए-देखकर। दोहि उक्खाहि-दो बर्तनों से। परिएसिज्जमाणे-परोसता हुआ। पेहाए-देखकर। तिहि-तीन। उक्खाहि-बर्तनों से। परिएसिज्जमाणे-परोसता हुआ। चउहि-चार। उक्खाहि-बर्तनों से। परिएसिज्जमाणे-परोसता हुआ। पेहाए-देखकर। कुम्भीमुहाओ-छोटे मुंह वाले बर्तन से। वा-अथवा। कलोवाइओ वा-बांस की टोकरी से। सनिहिसनिचयाओ वा-संचय किए हुए स्निग्ध घृतादि में से। परिएसिज्जमाणे-परोसता हुआ। पेहाए-देखकर। तहप्पगारं-इस प्रकार का। असणं वा ४-अशनादिक चतुर्विध आहार। अपुरिसंतरकडं वा-अपुरुषान्तरकृत अर्थात् जो पुरुषान्तर-अन्यपुरुष कृत नहीं है। जाव-यावत्। अणासेवियं-अनासेवित। अफासुयं-अप्रासुक। जाव-यावत् मिलने पर। नो पडिग्गाहिज्जा-ग्रहण न करे। अह-अथ। पुण-पुनः। एवं-इस प्रकार। जाणिज्जा-जाने। पुरिसंतरकडं-पुरुषान्तर कृत। आसेवियं-आसेवित। फासुयं-प्रासुक आहार। जाव-यावत् मिलने पर। पडिग्गाहिज्जा-ग्रहण करले।

मूलार्थ—वह साधु व साध्वी गृहस्थों के घर में आहार प्राप्ति के निमित्त प्रविष्ट होने पर अशनादि चतुर्विध आहार आदि के विषय में इस प्रकार जाने—यह अशनादि आहार अष्टमी पौषध-व्रत विशेष के महोत्सव में एवं अर्द्धमासिक, मासिक, द्विमासिक, त्रिमासिक, चतुर्मासिक, पंचमासिक और षाण्मासिक महोत्सव में, तथा ऋतु, ऋतुसन्धि और ऋतु परिवर्तन महोत्सव में बहुत से श्रमण शाक्यादि भिक्षु, ब्राह्मण, अतिथि, कृपण और भिखारियों को एक बर्तन से, दो बर्तनों से एवं तीन और चार बर्तनों से परोसते हुए देखकर तथा छोटे मुख की कुम्भी और बांस की टोकरी से परोसते हुए देखकर एवं सचित्त किए हुए घी आदि पदार्थों को परोसते हुए देखकर इस प्रकार के अशनादि चतुर्विध आहार जो पुरुषान्तर कृत नहीं है यावत् अनासेवित-अप्रासुक है ऐसे आहार को मिलने पर भी साधु ग्रहण न करे। और यदि इस प्रकार जाने कि यह आहार पुरुषान्तर कृत यावत् आसेवित प्रासुक और एषणीय है तो मिलने पर ग्रहण करले।

हिन्दी विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि साधु को उस समय गृहस्थ के घर में आहार के लिए प्रवेश नहीं करना चाहिए या प्रविष्ट हो गया है तो उसे आहार नहीं ग्रहण करना चाहिए— जिसके यहां

अष्टमी के पौषधोपवास का महोत्सव<sup>१</sup> हो या इसी तरह अर्द्धमास, एक मास, दो, तीन, चार, पांच या छः मास की पौषधोपवास (तपश्चर्या) का उत्सव हो या ऋतु, ऋतु सन्धि (दो ऋतुओं का सन्धि काल) और ऋतु परिवर्तन (ऋतु का परिवर्तन- एक ऋतु के अनन्तर दूसरी ऋतु का आरम्भ होना) का महोत्सव हो और उसमें शाक्यादि भिक्षु, श्रमण- ब्राह्मण, अतिथि, रंक- भिखारी आदि को भोजन कराया जा रहा हो। जब कि यह भोजन आधाकर्मदोष से युक्त नहीं है, फिर भी सूत्रकार ने इसके लिए जो 'अफासुयं' शब्द का प्रयोग किया है, इसका तात्पर्य यह है कि ऐसा आहार तब तक साधु के लिए अकल्पनीय है जब तक वह पुरुषान्तर कृत नहीं हो जाता है। यदि यह आहार एकान्त रूप से शाक्यादि भिक्षुओं को देने के लिए ही बनाया गया है और उसमें से परिवार के सदस्य एवं परिजन आदि अपने उपभोग में नहीं लेते हैं, तब तो साधु को वह आहार नहीं लेना चाहिए। क्योंकि इससे उन भिक्षुओं को अन्तराय लगेगी। यदि परिवार के सदस्य एवं स्नेही- सम्बन्धी उसका उपभोग करते हैं, तो उनके उपभोग करने के बाद (पुरुषान्तर होने पर) साधु उसे ग्रहण कर सकता है।

इसका तात्पर्य यह है कि किसी भी उत्सव के प्रसंग पर अन्य मत के भिक्षु भोजन कर रहे हों तो उस समय वहां साधु का जाना उचित नहीं है। उस समय वहां नहीं जाने से मुनि की संतोष एवं त्याग वृत्ति प्रकट होती है, उन भिक्षुओं के मन में किसी तरह की विपरीत भावना जागृत नहीं होती। अतः साधु को ऐसे समय विवेक पूर्वक कार्य करना चाहिए।

साधु को किस कुल में आहार के लिए जाना चाहिए, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं-

मूलम्- से भिक्खू वा २ जाव समाणे से जाइं पुण कुलाइं जाणिज्जा, तं जहा-उग्गकुलाणि वा भोगकुलाणि वा राइन्नकुलाणि वा खत्तियकुलाणि वा इक्खागकुलाणि वा हरिवंसकुलाणि वा एसियकुलाणि वा वेसियकुलाणि वा गंडागकुलाणि वा कोट्टाग कुलाणि वा गामरक्खकुलाणि वा बुक्कासकुलाणि वा अन्नयरेसु वा तहप्पगारेसु कुलेसु अदुगुंछिएसु अगारहिएसु असणं वा ४ फासुयं जाव पडिग्गाहिज्जा ॥११॥

छाया- स भिक्षुर्वा यावत् सन् तद् यानि पुनः कुलानि जानीयात्, तद्यथा- उप्रकुलानि वा भोगकुलानि वा राजन्यकुलानि वा क्षत्रियकुलानि वा इक्ष्वाकुकुलानि वा हरिवंशकुलानि वा एसिय-एष्यकुलानि वा वैश्यकुलानि वा गण्डककुलानि वा कुट्टाककुलानि वा ग्रामरक्षककुलानि वा बुक्कासतन्तुवायकुलानि वा अन्यतरेषु वा तथा प्रकारेषु वा कुलेषु

१ तद्यथा- अष्टम्यां पौषध- उपवासादिकोऽष्टमीपौषधः स विद्यते येषां तेऽष्टमी पौषधिका-उत्सवाः तथाऽर्द्धमासिकादयश्च ऋतुसन्धि- ऋतोःपर्यवसानम् ऋतुपरिवर्तः- ऋत्वन्तरम्

अजुगुप्सितेषु अर्गर्हितेषु अशनं वा ४ प्रासुकं यावद् गृण्हीयात् ।

पदार्थ—से-वह। भिक्खू वा— भिक्षु साधु अथवा साध्वी। जाव— यावत्। समाणे-घर में प्रवेश करते हुए। से-वह। पुण-फिर। जाई-इन। कुलाई-कुलों को। जाणिजा-जाने। तंजहा-जैसे कि-। उगकुलाणि वा-उग्र कुल। भोगकुलाणि वा-भोग कुल। राइनकुलाणि वा-राजन्य कुल। खत्तियकुलाणि वा- क्षत्रिय कुल। इक्खागकुलाणि वा-इक्ष्वाकु कुल। हरिवंसकुलाणि वा-हरिवंश कुल। एसियकुलाणि वा-गोपाल आदि कुल। वेसियकुलाणि वा-वैश्य कुल। गंडागकुलाणि वा-गण्डक-नापित कुल। कोट्टागकुलाणि वा- बद्धकी-बढ़ई कुल। गामरक्खकुलाणि वा-ग्रामरक्षक कुल। वुक्कासकुलाणि वा-तन्तुवाय कुल। अन्नयरेसु-और भी। तहप्पगारेसु-इसी प्रकार के। कुलेसु-कुलों में। अदुगुञ्छिएसु-अनिन्दित। अगरहिएसु-अर्गर्हित कुलों में। असणं वा ४-अशनादि चतुर्विध आहार। फासुर्यं-प्रासुक। जाव-यावत् मिलने पर। पडिग्गाहिजा- साधु ग्रहण करे।

मूलार्थ—साधु अथवा साध्वी गृहस्थ के घर में प्रवेश करते हुए इन कुलों को जाने, यथा उग्रकुल, भोगकुल, राजन्य कुल, क्षत्रिय कुल, इक्ष्वाकुकुल, हरिवंशकुल, गोपालादिकुल, वैश्यकुल, नापित कुल, बद्धकी ( बढ़ई ) कुल, ग्रामरक्षक कुल, और तन्तुवाय कुल तथा इसी प्रकार के और भी अनिन्दित, अर्गर्हित कुलों में से प्रासुक अन्नादि चतुर्विध आहार यदि प्राप्त हो तो साधु उसे स्वीकार कर ले।

हिन्दी विवेचन— प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि साधु को भिक्षा के लिए किन कुलों में जाना चाहिए। वर्तमान काल चक्र में भगवान् ऋषभदेव के पहले भरत क्षेत्र में भोगभूमि थी। वर्तमान काल चक्र के तीसरे आरे के तृतीय भाग में भगवान् ऋषभदेव का जन्म हुआ था और उसके बाद भोग भूमि का स्थान कर्म भूमि ने ले लिया। भगवान् ऋषभदेव ही प्रथम राजा, प्रथम मुनि, एवं प्रथम तीर्थंकर थे, इनके युग से राज्य व्यवस्था, समाज व्यवस्था एवं धर्म व्यवस्था का प्रारम्भ हुआ। उनके युग से वर्ण व्यवस्था एवं कुल आदि परम्परा का प्रचलन हुआ। उसी के आधार पर बने हुए कुलों का सूत्रकार ने उल्लेख किया है। जैसे- १-उग्र कुल-रक्षक कुल, जो जनता की रक्षा के लिए सदा सन्नद्ध तैयार रहता है, २-भोग कुल- राजाओं के लिए सम्मान्य है। ३-राजन्य कुल- मित्र के समान व्यवहार करने वाला कुल, ४-क्षत्रिय कुल-जो प्रजा की रक्षा के लिए शस्त्रों को धारण करता था। ५-इक्ष्वाकु कुल- भगवान् ऋषभ देव का कुल, ६-हरिवंश कुल-भगवान् अरिष्टनेमिनाथ का कुल, ७-एष्य कुल- गोपाल आदि का कुल, ८-ग्राम रक्षक कुल- कोतवाल आदि का कुल, ९-गण्डक कुल- नाई आदि का कुल, १०- कुट्टाक, ११-बद्धकी और १२-वुक्कस- तन्तुवाय आदि के कुल एवं इसी तरह के अन्य कुलों से भी साधु आहार ग्रहण कर सकता है, जो निन्दित एवं घृणित कर्म करने वाले न हों।

प्रस्तुत प्रकरण में क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र इन तीनों का स्पष्ट उल्लेख हुआ है, परन्तु ब्राह्मण कुल का कहीं नाम नहीं आया। इसके दो कारण हो सकते हैं- १-ब्राह्मण वर्ण की स्थापना भगवान् ऋषभदेव

ने नहीं की थी, बल्कि उनके दीक्षित होने के बाद भरत ने की थी। उनका वर्ण पीछे से आरम्भ हुआ इस कारण उसका उल्लेख नहीं किया हो। २-प्रस्तुत सूत्र में भोग कुल का उल्लेख किया गया है। वृत्तिकार ने इसका अर्थ राजाओं का पूजनीय कुल किया है। ब्राह्मण प्रायः पठन-पाठन के कार्य में ही संलग्न रहते थे एवं निस्पृह भी होते थे। इस कारण राजा लोग उनका सम्मान करते थे। अतः हो सकता है कि भोग कुल से ब्राह्मण कुल का उल्लेख किया गया हो।

एष्य कुल से गौ रक्षा एवं पशु पालन करने वाले कुलों तथा वैश्य कुल से कृषि कर्म के द्वारा अल्पारम्भी जीवन बिताने वाले कुलों का निर्देश किया गया है। ३- गण्डाक-नाई आदि के कुल से केशालंकार एवं गांव में किसी तरह की उद्घोषणा आदि कराने की प्रवृत्ति का तथा कुट्टाक, बर्द्धकी आदि कुलों से भवन निर्माण एवं काष्ठ कला की और तन्तुवाय कुल से वस्त्र कला की परम्परा का संकेत मिलता है। इस तरह उक्त कुलों के निर्देश से उस युग की राष्ट्रीय एवं सामाजिक व्यवस्था का पूरा परिचय मिलता है। अन्य अनिन्दनीय कुलों से शिल्प एवं विज्ञान आदि के कुशल कलाकारों का निर्देश किया गया है। अतः प्रस्तुत सूत्र ऐतिहासिक विद्वानों एवं रिसर्च स्कालरों के लिए बड़ा ही महत्वपूर्ण है।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं-

मूलम्- से भिक्खू वा २ जाव समाणे से जं पुण जाणिज्जा असणं वा ४ समवाएसु वा पिंडनियरेसु वा इंदमहेसु वा खंदमहेसु वा एवं रुद्धमहेसु वा मुगुंदमहेसु वा भूयमहेसु वा जक्खमहेसु वा नागमहेसु वा थूभमहेसु वा चेइयमहेसु वा रुक्खमहेसु वा गिरिमहेसु वा दरिमहेसु वा अगडमहेसु वा तलागमहेसु वा दहमहेसु वा नइमहेसु वा सरमहेसु सागरमहेसु वा आगरमहेसु वा अन्नयरेसु वा तहप्पगारेसु विरूवरूवेसु महामहेसु वट्टमाणेसु बहवे समणमाहणअतिहिकिवण-वणीमगे एगाओ उक्खाओ परिएसिज्जमाणे पेहाए दोहिं जाव संनिहि-संनिचयाओ वा परिएसिज्जमाणे पेहाए तहप्पगारं असणं वा ४ अपुरिसंतरकडं जाव नो पडिग्गाहिज्जा । अह पुण एवं जाणिज्जा-दिन्नं जं तेसिं दायव्वं, अह तत्थ भुंजमाणे पेहाए गाहावइभारियं वा गाहावइभगिणिं वा गाहावइपुत्तं वा धूयं वा सुण्हं वा धाइं वा दासं वा दासिं वा कम्मकरं वा कम्मकरिं वा से पुव्वामेव आलोइज्जा आउसि त्ति ! वा भगिणि त्ति ! वा दाहिसि मे इत्तो अन्नयरं भोयणजायं, से सेवं वयंतस्स परो असणं वा ४ आहट्टु दलइज्जा तहप्पगारं असणं वा ४ सयं वा पुण जाइज्जा परो वा से दिज्जा फासुयं जाव पडिग्गाहिज्जा ॥१२॥

छाया- स भिक्षुर्वा यावत् सन् तत् यत् पुनः जानीयात् अशनं वा ४ समवायेषु वा पिण्डनिकरेषु वा इन्द्रमहेषु वा स्कन्दमहेषु वा एवं रुद्रमहेषु वा मुकुन्दमहेषु वा भूतमहेषु वा यक्षमहेषु वा नागमहेषु वा स्तूपमहेषु वा चैत्यमहेषु वा वृक्षमहेषु वा गिरिमहेषु वा दरीमहेषु वा अवटमहेषु वा तडागमहेषु वा हृदमहेषु वा नदीमहेषु वा सरमहेषु वा सागरमहेषु वा आकरमहेषु वा अन्यतरेषु वा तथा प्रकारेषु विरूपरूपेषु महामहेषु वर्तमानेषु बहून् श्रमण ब्राह्मणातिथि-कृपणवणीमकान् एकस्याः उक्खायाः परिवेष्यमाणः प्रेक्ष्य द्वाभ्यां यावत् संनिधिसन्निचयाद्वा परिवेष्यमाणः प्रेक्ष्य तथा प्रकारं अशनं वा ४ अपुरुषान्तरकृतं यावत् न प्रतिगृणहीयात् । अथ पुनः एवं जानीयात् दत्तं यत्तेभ्यो दातव्यमथ तत्र भुञ्जानान् प्रेक्ष्य गृहपतिभार्या वा गृहपतिभगिनी वा गृहपतिपुत्रं वा सुतां वा स्नुषां वा धात्रीं वा दासं वा दासीं वा कर्मकरं वा कर्मकरिणीं वा पूर्वमेव आलोकयेत्, आयुष्मति ! इति वा भगिनि ! इति वा दास्यसि मह्यं इत्तः अन्यतरं भोजनजातं, स एवं वदतः परः अशनं वा ४ आहृत्य दद्यात् तथाप्रकारं अशनं वा ४ स्वयं वा पुनः याचेत् परो वा तद् दद्यात् प्रासुकं यावत् प्रतिगृणहीयात् ।

पदार्थ- से-वह। भिक्खू वा-भिक्षु-साधु अथवा साध्वी। जाव समाणे-यावत् घर में गया हुआ। से-वह। जं-जो। पुण-फिर। जाणिज्जा-जाने। असणं वा ४-अशनादिक चतुर्विध आहार। समवायेसु वा-जन समुदाय में। पिण्डनियरेसु वा-मृतक भक्त अर्थात् श्राद्ध में तथा। इंदमहेसु वा-इन्द्र महोत्सव में। खंदमहेसु वा-स्कन्द महोत्सव में। एवं-इसी प्रकार। रुद्रमहेसु वा-रुद्र महोत्सव में। मुगुंदमहेसु वा-मुकुन्द महोत्सव में भूयमहेसु वा-भूत महोत्सव में तथा। जक्खमहेसु वा-यक्ष महोत्सव में। नागमहेसु वा-नाग महोत्सव में। थूभमहेसु वा-स्तूप महोत्सव में एवं। चेइयमहेसु वा-चैत्य महोत्सव में। रुक्खमहेसु वा-वृक्ष महोत्सव में। गिरिमहेसु वा-गिरि महोत्सव में। दरिमहेसु वा-गुफा महोत्सव में। अगडमहेसु वा-कूप महोत्सव में। तलाग-महेसु वा-तडाग-तालाब महोत्सव में। दहमहेसु वा-हृद महोत्सव में। नइमहेसु वा-नदी महोत्सव में। सरमहेसु वा-सर महोत्सव में तथा। सागरमहेसु वा-सागर महोत्सव में। आगरमहेसु वा-आकर महोत्सव में। अन्नयरेसु वा-अन्यान्य। तहप्पगारेसु-इस प्रकार के। विरूवरूवेसु-नाना विध। महामहेसु-महान् उत्सवों के। वट्टमाणेसु-प्रवर्तमान होने में। बहवे-बहुते से। समणमाहणअतिहिकिवणवणीमगे-शाक्यादि भिक्षु, तथा ब्राह्मण, अतिथि, कृपण और भिखारी लोगों को। एगाओ उक्खाओ-एक बर्तन से। परिएसिज्जमाणे-परोसते हुए को। पेहाए-देखकर तथा। दोहिं-दो बर्तनों से। जाव-यावत्। संनिहिसंनिचयाओ-संचय किए हुए घृतादि स्निग्ध पदार्थों में से। परिएसिज्जमाणे-परोसते हुए को। पेहाए-देखकर। तहप्पगारं-तथा प्रकार के। असणं वा ४-अशनादि चतुर्विध आहार जो कि। अपुरिसंतरकडं-पुरुषान्तर कृत न हो। जाव-यावत् मिलने पर। नो पडिग्गाहिज्जा-भी ग्रहण न करे। अह-अथ। पुण-पुनः। एवं-इस प्रकार। जाणिज्जा-जाने। तेसिं-उनको। जं-जो। दिन्निं-दिया गया हो वह। दायव्वं-देने योग्य है। अह-अथ। तत्थ-वहां पर। भुंजमाणे-खाते हुआओं को। पेहाए-देखकर। गाहावइभारियं वा-गृहपति की भार्या को या। गाहावइभगिणिं-गृहपति की भगिनी-बहिन को। गाहावइपुत्तं वा-गृहपति के पुत्र को। थूयं वा-पुत्री को। सुण्हं वा-स्नुषा-पुत्रवधु को। धाईं वा-धात्री-धाय माता को। दासं

वा-दास को। दासिं वा-अथवा दासी को तथा। कम्मकरं वा-नौकर को वा। कम्मकरिं वा-नौकरानी को। से-वह। पुव्वामेव-पहले ही। आलोइजा-अवलोकन करके कहे कि। आउसित्ति वा-हे आयुष्मति ! भगिणित्ति वा- हे भगिनि ! मे-मुझे। इत्तो अननयरं- इस विविध प्रकार के। भोयणजायं-भोजन जात-भोजन समुदाय में से। दाहिसि ? - देगी ? से-वह। सेवं-इस प्रकार से। वयंतस्स-बोलते हुए साधु को। परो-दूसरे। असणं वा-अशनादिक चतुर्विध आहार में से। आहट्टु-लाकर। दलइजा-देवे। तहप्पगारं-इस प्रकार के। असणं वा ४-अन्नादि चतुर्विध आहार को। सयं वा-स्वयं। पुण-पुनः। जाइजा-मांगे। से-वह। परो वा-दूसरा। दिजा-देवें तो। फासुयं-प्रासुक आहार। जाव-यावत् मिलने पर। पडिग्गाहिजा-ग्रहण करे-स्वीकार कर ले।

**मूलार्थ**—साधु वा साध्वी गृहस्थ के घर में प्रविष्ट होने पर यदि यह जाने कि यहां पर महोत्सव के लिए जन एकत्रित हो रहे हैं, तथा पितृपिण्ड या मृतक के निमित्त भोजन हो रहा है या इन्द्रमहोत्सव, स्कन्दमहोत्सव, रुद्रमहोत्सव, मुकुन्दबलदेव महोत्सव, भूत महोत्सव, यक्ष महोत्सव, इसी प्रकार नाग, स्तूप, चैत्य, वृक्ष, गिरि, गुफा, कूप, तालाब, हृद( झील ) उदधि, सरोवर' सागर और आकर सम्बन्धि महोत्सव हो रहा हो तथा इसी प्रकार के अन्य महोत्सवों पर बहुत से श्रमण-ब्राह्मण, अतिथि, कृपण और भिखारी लोगों को एक बर्तन से परोसता हुआ देख कर दो थालियों से यावत् संचित किए हुए घृतादि स्निग्ध पदार्थों को परोसते को देखकर तथाविध आहार-पानी जब तक अपुरुषान्तरकृत है यावत् मिलने पर भी साधु ग्रहण न करे। यदि इस प्रकार जाने कि जिन को देना था दिया जा चुका है तथा वहां पर यदि वह गृहस्थों को, भोजन करते हुए देखे तो उस गृहपति की भार्या से, गृहपति की भगिनी से, गृहपति के पुत्र से, गृहपति की पुत्री से, पुत्रवधू से, धाय माता से, दास-दासी नौकर-नौकरानी से पूछे कि हे आयुष्मति ! भगिनि! मुझे इन खाद्य पदार्थों में से अन्यतर भोजन दोगी? इस प्रकार बोलते हुए साधु के प्रति यदि गृहस्थ चार प्रकार का आहार लाकर दे अथवा अशनादि चतुर्विध आहार की स्वयमेव याचना करे या गृहस्थ स्वयं दे और वह आहार-पानी प्रासुक और एषणीय हो तो साधु उसे ग्रहण कर ले।

**हिन्दी विवेचन**— प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि यदि गृह प्रवेश, नामकरण आदि उत्सव तथा मृतक कर्म या इन्द्र, स्कन्द एवं रुद्र आदि से सम्बन्धित उत्सवों के अवसर पर शाक्यादि भिक्षु, श्रमण-ब्राह्मण, गरीब- भिखारी आदि गृहस्थ के घर पर भोजन कर रहे हों और वह भोजन पुरुषान्तर कृत नहीं हुआ हो तो साधु उसे अनेषणीय समझ कर ग्रहण न करे। यदि अन्य भिक्षु आदि भोजन करके चले गए हैं, अब केवल उसके परिवार के सदस्य, परिजन एवं दास-दासी ही भोजन कर रहे हों, तो उस समय साधु प्रासुक एवं एषणीय आहार की याचना कर सकता है या उस घर का कोई सदस्य साधु को आहार की प्रार्थना करे तो वह उसे ग्रहण कर सकता है।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'पिण्ड नियरेसु' का अर्थ है- मृतक के निमित्त तैयार किया गया भोजन। प्रस्तुत सूत्र से यह स्पष्ट होता है कि उस समय इन्द्र, स्कन्द, रुद्र, बलदेव, भूत, यक्ष, नाग आदि के उत्सव मनाए जाते थे। और इन अवसरों पर गृहस्थ लोग प्रीति भोज करते थे।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'स्तूप एवं चैत्य' शब्द एकार्थक नहीं, किन्तु, भिन्नार्थक हैं। मृतक की

चिता पर उसकी स्मृति में बनाया गया स्मारक 'स्तूप' कहलाता है और यक्ष आदि का आयतन 'चैत्य' कहलाता है। यहां प्रयुक्त महोत्सव भौतिक कामनाओं के लिए किए जाते रहे हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि चैत्य शब्द का प्रयोग जिन भगवान् की प्रतिमा या मन्दिर के लिए प्रयुक्त नहीं हुआ है<sup>१</sup>। उक्त शब्द यक्षायतन या व्यन्तरायतन का परिबोधक है।

अब सूत्रकार ग्रामान्तरीय आचार का वर्णन करते हुए कहते हैं-

मूलम्— से भिक्खू वा २ परं अद्धजोयणमेराए संखडिं नच्चा संखडिपडियाए नो अभिसंधारिज्जा गमणाए । से भिक्खू वा २ पाईणं संखडिं नच्चा पडीणं गच्छे अणाढायमाणे, पडीणं संखडिं नच्चा पाईणं गच्छे अणाढायमाणे, दाहिणं संखडिं नच्चा उदीणं गच्छे अणाढायमाणे, उईणं संखडिं नच्चा दाहिणं गच्छे अणाढायमाणे, जत्थेव सा संखडी सिया, तंजहा— गामंसि वा, नगरंसि वा, खेडंसि वा, कव्वडंसि वा, मडंबंसि वा, पट्टणंसि वा, आगरंसि वा, दोणमुहंसि वा, नेगमंसि वा, आसमंसि वा, सणिवेसंसि वा, जाव रायहाणिंसि वा संखडिं संखडिपडियाए नो अभिसंधारिज्जा गमणाए, केवली बूया— आयाणमेयं, संखडिं संखडिपडियाए अभिधारेमाणे आहाकम्मियं वा, उद्देसियं वा, मीसजायं वा, कीयगडं वा, पामिच्चं वा, अच्छिज्जं वा, अणिसिट्ठं वा, अभिहडं वा आहट्टु दिज्जमाणं भुञ्जिज्जा ॥१२ ॥

छाया— स भिक्षुर्वा २ परं अद्धयोजनमर्यादया संखडिं ज्ञात्वा संखडिप्रतिज्ञया नाभिसन्धारयेत् गमनाय । स भिक्षुर्वा २ प्राचीनां संखडिं ज्ञात्वा प्रतीचीनं गच्छेत् अनाद्रियमाणः, प्रतीचीनं संखडिं ज्ञात्वा प्राचीनं गच्छेत् अनाद्रियमाणः, दक्षिणं संखडिं ज्ञात्वा उदीचीनं गच्छेत् अनाद्रियमाणः, उदीचीनं संखडिं ज्ञात्वा दक्षिणं गच्छेत् अनाद्रियमाणः, यत्रैव असौ संखडिस्यात्-तद्यथा-ग्रामे वा नगरे वा खेटे वा कर्बटे वा मडंबे वा पत्तने वा आकरे वा द्रोणमुखे वा नैगमे वा आश्रमे वा सन्निवेशे वा यावत् राजधान्यां वा संखडिं संखडिप्रतिज्ञया न अभिसन्धारयेत् गमनाय, केवली ब्रूयात्-आदानमेतत्, संखडिं संखडिप्रतिज्ञया अभिसन्धारयतः आधाकर्म वा, औद्देशिकं वा, मिश्रजातं वा, क्रीतकृतं वा, प्रामित्यं वा, आच्छेद्यं वा, अनिसृष्टं

१ ब्रूम पु० ( स्तूप ) प्रेक्षा घर के सामने वाली मणिपीठिका के ऊपर का सोलह योजन लम्बा चौड़ा सोलह योजन ऊंचा सफेद रंग वाला चैत्यस्तूप,—स्मारक स्तम्भ, स्तूप, मृतक घर ( अर्द्धमागधीकोष भा० ३ पृ० १०१ )

चेइय-नं ( चैत्य ) यक्ष वगैरह व्यन्तर देवता के आयतन स्थान, चिता के ऊपर मंदिर या अन्य रूप में बनाया हुआ स्मारक चिह्न; संसारी लोग इसकी इस लोक के सुखों की इच्छा से उपासना करते हैं।

( अर्द्धमा० कोष भा० २ पृ०, ७३७ )



वा, अभ्याहृतं वा आहृत्य दीयमानं भुञ्जीत ।

**पदार्थ**— से भिक्खू वा- वह साधु-साध्वी। परं-प्रकर्ष से उत्कृष्ट। अर्द्धजोयणमेराए-अर्द्धयोजन परिमाण क्षेत्र में। संखडिं-जीमणवार प्रीतिभोजन को। नच्चा- जानकर। संखडिपडियाए-सुखादु आहार लाभ की प्रतिज्ञा से। गमणाए-जाने के लिए। नो अभिसंधारिजा- मन में संकल्प न करे। से-वह। भिक्खू वा २-साधु या साध्वी। पाईणं-पूर्व दिशा में। संखडिं-संखडी को। नच्चा-जानकर। पडीणं-पश्चिम दिशा में। अणाढायमाणे-उनका अनादर करता हुआ। गच्छे-जाए। पडीणं-पश्चिम दिशा में। संखडिं-संखडी को। नच्चा-जानकर उसका। अणाढायमाणे-अनादर करता हुआ। पाईणं-पूर्व दिशा को। गच्छे-जाए। दाहिणं-दक्षिण दिशा में। संखडिं-संखडी को। नच्चा-जानकर उसका। अणाढायमाणे-अनादर करता हुआ। उईणं-उत्तर दिशा में। गच्छे-जाए तथा। उईणं-उत्तर दिशा में। संखडिं-संखडी को। नच्चा-जानकर उसका। अणाढायमाणे-अनादर करता हुआ। दाहिणं-दक्षिण दिशा को। गच्छे-जाए। जत्थेव-वहां पर भी। सा-वह। संखडी-स्वादिष्ट आहार सम्बन्धी भोजन समारोह। सिया-होवे। तंजहा-जैसे कि। गार्मंसि वा-ग्राम में। नगरंसि वा-नगर में। खेडंसि वा-खेटक में। कव्वडंसि वा-कबट-कुनगर में। मडंबंसि वा-मडंब में। पट्टणंसि वा-पत्तन में, तथा। आगरंसि वा-आकर में- खदान में। दोणमुहंसि वा-द्रोण मुख में। नेगमंसि वा-नैगम-व्यापार के स्थान में। आसमंसि वा-आश्रम में। सन्निवेशंसि वा-सन्निवेश में। जाव-यावत्। रायहाणिंसि वा-राजधानी में। संखडिं-संखडी को। संखडीपडियाए-संखडी की प्रतिज्ञा से। गमणाए-जाने के लिए। नो अभिसंधारिजा-मन में इच्छा उत्पन्न न करे, कारण है कि। केवली-केवली भगवान ने। बूया-कहा है। आयाणमेयं-यह कर्म बन्धन का कारण है। संखडिं-संखडी को। संखडीपडियाए-संखडी की प्रतिज्ञा से। अभिधारेमाणे-धारण करता हुआ साधु। अहाकम्मियं वा-आधाकर्मिक अथवा। उद्देसियं-औद्देशिक अथवा। मीसजायं-मिश्रित। कीयगडं-क्रीत-खरीदा हुआ। पामिच्चं वा-उधार मांग कर लाया हुआ। अच्छिज्जं वा-छीना हुआ। अणिसिट्ठं वा-सांझे की वस्तु-जोकि दूसरे की आज्ञा के बिना लाई गयी हो। अभिहडं वा-अभ्याहृत सामने लाया हुआ। आहट्टु-बुलाकर। दिज्जमाणं-दिए गए आहार को। भुञ्जिजा-खावे। तात्पर्य है कि इस प्रकार का आहार साधु के लिए वर्जित है।

**मूलार्थ**—साधु वा साध्वी अर्द्ध योजन प्रमाण संखडि-जीमणवार को जानकर आहार लाभ के निमित्त जाने का संकल्प न करे। यदि पूर्व दिशा में प्रीतिभोज हो रहा है तो साधु उसका अनादर करता हुआ पश्चिम दिशा को और पश्चिम दिशा में हो रहा है तो उसका अनादर करता हुआ पूर्व दिशा को जाए। इसी प्रकार दक्षिण दिशा में हो रहा है तो उसका निरादर करता हुआ उत्तर दिशा को, और उत्तर दिशा में हो रहा है तो उसका अनादर करता हुआ दक्षिण दिशा को जाए। तथा जहां पर संखडी हो, जैसे कि- ग्राम में, नगर में, खेट में, कबट में एवं मडंब, पत्तन, आकर, द्रोणमुख, नैगम, आश्रम और सन्निवेश, यावत् राजधानी में होने वाली संखडी में स्वादिष्ट भोजन लाने की प्रतिज्ञा से जाने के लिए मन में इच्छा न करे। केवली भगवान् कहते हैं-कि यह कर्म बन्ध का मार्ग है। संखडी में संखडी की प्रतिज्ञा से जाता हुआ साधु यदि वहाँ लाकर दिए हुए को खाता

है तो वह आधाकर्मिक, औद्देशिक, मिश्रजात, क्रीतकृत, उधार लिया हुआ, छीना हुआ, दूसरे की बिना आज्ञा लिया हुआ और सम्मुख लाया हुआ खाता है। तात्पर्य यह है कि यदि साधु वहाँ जाएगा तो संभव है कि उसे सदोष आहार खाना पड़े।

**हिन्दी विवेचन**— प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि साधु को सरस एवं स्वादिष्ट पदार्थ प्राप्त करने की अभिलाषा से संखडी- बड़े जीमनवार या प्रीतिभोज में भिक्षा को नहीं जाना चाहिए। उस स्थान में ही नहीं अपितु जहाँ पर प्रीतिभोज आदि हो रहा हो उस दिशा में भी आहार को नहीं जाना चाहिए। इससे साधु की आहार वृत्ति की कठोरता एवं स्वाद पर विजय की बात सहज ही समझ में आ जाती है। ऐसे आहार को भगवान ने आधाकर्म आदि दोषों से युक्त बताया है। इससे स्पष्ट है कि साधु यदि ऐसे प्रसंग पर वहाँ आहार के लिए जाए तो अप्रासुक एवं अनेषणीय आहार लेना होगा। क्योंकि अत्यधिक आरम्भ-समारम्भ होने से वह सचित आदि पदार्थों के स्पर्श का ध्यान नहीं रख सकता, देने में भी अविधि हो सकती है और साधु को उस दिशा में आता हुआ देखकर कुछ विशिष्ट पदार्थ भी तैयार किए जा सकते हैं या उन्हें साधु के लिए इधर-उधर रखा जा सकता है। अतः साधु को ऐसे प्रसंग पर आहार को नहीं जाना चाहिए।

'संखडि' शब्द का अर्थ होता है— 'संखण्ड्यन्ते-विराध्यन्ते प्राणिनो यत्र सा संखडिः' अर्थात् जहाँ पर अनेक जीवों के प्राणों का नाश करके भोजन तैयार किया जाता है, उसे 'संखडि' कहते हैं। वर्तमान में इसे भोजनशाला कहते हैं। इसका गूढ़ अर्थ महोत्सव एवं विवाह आदि के समय किया जाने वाला सामूहिक जीमनवार से लिया जाता है। ऐसे स्थानों पर शुद्ध, निर्दोष, एषणीय एवं सात्विक आहार उपलब्ध होना कठिन है, इसलिए साधु के लिए वहाँ आहार को जाने का निषेध किया गया है।

उस समय गाँव एवं नगरों में तो संखडी होती ही थी। इसके अतिरिक्त खेट- धूल के कोट वाले स्थान, कुत्सित नगर, मडंब- जिस गाँव के बाद ५ मील पर गाँव बसे हुए हों, पत्तन- जहाँ पर सब दिशाओं से आकर माल बिकता हो (व्यापारिक मण्डी) आकर- जहाँ ताम्बे, लोहे आदि की खान हों, द्रोणमुख-जहाँ जल और स्थल प्रदेश का मेल होता हो। नैगम- व्यापारिक बस्ती, आश्रम, सन्निवेश-सराय (धर्मशाला) छावनी आदि। ये स्थान ऐतिहासिक गवेषणा की दृष्टि से बड़ा महत्त्व रखते हैं।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'आयाणमेयं' का अर्थ है— कर्म बन्ध का हेतु। कुछ प्रतियों में 'आयाणमेयं' के स्थान पर 'आययणमेयं' ऐसा पाठ भी मिलता है। इसका अर्थ है— यह कार्य दोषों का स्थान है, यहाँ इतना स्मरण रखना चाहिए कि यह वर्णन उत्कृष्ट पक्ष को लेकर किया गया है, जघन्य-सामान्य पक्ष को लेकर नहीं।

संखडी में जाने से कौन से दोष लग सकते हैं, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्**— असंजए भिक्खुपडियाए खुडिडयदुवारियाओ महल्लिय-दुवारियाओ कुज्जा, महल्लियदुवारियाओ खुडिडयदुवारियाओ कुज्जा, समाओ

सिज्जाओ विसमाओ कुज्जा, विसमाओ सिज्जाओ समाओ कुज्जा, पवायाओ सिज्जाओ निवायाओ कुज्जा, निवायाओ सिज्जाओ पवायाओ कुज्जा, अंतो वा बहिं वा उवस्सयस्स हरियाणि छिंदिय छिंदिय दालिय दालिय संथारगं संथारिज्जा, एस विलुङ्गयामो सिज्जाए, तम्हा से संजए नियंठे तहप्पगारं पुरेसंखडिं वा पच्छासंखडिं वा संखडिं संखडिपडियाए नो अभिसंधारिज्जा गमणाए, एयं खलु तस्स भिक्खुस्स जाव सया जए, त्तिबेमि ॥१३ ॥

छाया— असंयतः भिक्षुप्रतिज्ञया क्षुद्रद्वाराः महाद्वाराः कुर्यात्, महाद्वाराः क्षुद्रद्वाराः कुर्यात्, समाः शय्या विषमाः कुर्यात्, विषमाः शय्याः समा कुर्यात्, प्रवाताः शय्याः निवाताः कुर्यात्, निवाताः शय्याः प्रवाताः कुर्यात्, अन्तोवा बहिर्वा उपाश्रयस्य हरितानि छित्त्वा २ विदार्य २ संस्तारकं संस्तारयेत्, एष निर्ग्रन्थः ( अकिंचनः ) शय्यायाः, तस्मात् सः संयतः निर्ग्रन्थः तथाप्रकारां पुरःसंखडिं वा पश्चात्संखडिं वा संखडिं संखडिप्रतिज्ञया नाभिसन्धारयेत् गमनाय, एवं खलु तस्य भिक्षोः यावत् ( सामग्र्यं ) सदा यतेत । इति ब्रवीमि ।

पदार्थः— असंजए-असंयति-गृहस्थ । भिक्खुपडियाए-साधु के लिए । खुडिडयदुवारियाओ-छोटे द्वार को । महल्लियदुवारियाओ-बड़ा द्वार । कुज्जा-करता है या । महल्लियदुवारियाओ-बड़े द्वार को । खुडिडयदुवारियाओ-छोटा द्वार । कुज्जा-करता है । समाओ सिज्जाओ-सम शय्या को । विसमाओ सिज्जाओ-विषम शय्या । कुज्जा-करता है । विसमाओ सिज्जाओ विषम शय्या को । समाओ-सम । कुज्जा-करता है । पवायाओ सिज्जाओ-वायु वाली शय्या को । निवायाओ-निर्वात-वायु रहित । कुज्जा-करता है और । निवायाओ सिज्जाओ-निर्वात शय्या को । पवायाओ-वायु युक्त । कुज्जा-करता है । उवस्सयस्स-उपाश्रय के । अंतो वा-अंदर से । बहिं वा-बाहर से । हरियाणि-हरियाली का । छिंदिय २-छेदन करता है । दालिय २-विदारण करता है । संथारगं-संस्तारक को । संथारिज्जा-बिछाता है । एस-यह साधु । विलुङ्गयामो-अकिंचन है अतः । सिज्जाए-यह शय्या उसके लिए संस्कार की गई है । तम्हा-अतः । से संजए-वह संयत । नियंठे-निर्ग्रन्थ । तहप्पगारं-इस प्रकार की शय्या को एवं । पुरेसंखडिं वा-विवाहादिक के समय की पहली जीमनवार । पच्छासंखडिं वा-मृतक के निमित्त पीछे की जाने वाली जीमनवार । संखडिं-संखडी को । संखडिपडियाए-संखडी की प्रतिज्ञा से । गमणाए-गमन करने के लिए । नो अभिसंधारिज्जा-मन में विचार न करे । एयं-यह । खलु-निश्चय ही । तस्स-उस । भिक्खुस्स-भिक्षु की । जाव-यावत् समग्रता है- सम्पूर्णता है । सया-सदा । जए-यत्न करे । त्तिबेमि-इस प्रकार मैं कहता हूँ ।

मूलार्थ—कोई श्रद्धालु गृहस्थ साधु के ( संखडि में आने की सम्भावना से ) छोटे द्वार को बड़ा करेगा और बड़े द्वार को छोटा, तथा सम शय्या को विषम और विषम को सम करेगा, तथा वायु युक्त शय्या को निर्वात ( वायु रहित ) और निर्वात को सवात ( वायुयुक्त ) करेगा । इसी भाँति उपाश्रय के अन्दर और बाहर हरियाली का छेदन करेगा तथा उसे जड़ से उखाड़ कर आसन

को व्यवस्थित बनाएगा। क्योंकि वह शय्या अकिंचन भिक्षु के लिए है। अतः वह यत्नशील निर्ग्रन्थ उक्त प्रकार की पूर्व संखड़ी तथा पश्चात् संखड़ी को संखड़ी की प्रतिज्ञा से जाने के लिए मन में संकल्प न करे। यह निश्चय ही साधु वा साध्वी की सामग्रता अर्थात् भिक्षु भाव की सम्पूर्णता है, ऐसा मैं कहता हूँ।

**हिन्दी विवेचन**— प्रस्तुत सूत्र के पूर्व भाग में हम देख चुके हैं कि संखड़ी में आहार को जानने से निर्दोष आहार मिलना कठिन है। और इस सूत्र के उत्तर भाग में यह बताया गया है कि संखड़ी में जाने से और भी अधिक दोष लग सकते हैं। यदि किसी श्रद्धानिष्ठ व्यक्ति को यह पता लग जाए कि साधु इस ओर आहार के लिए आ रहा है, तो वह उसके लिए शय्या आदि को ठीक करने का प्रयत्न करेगा, स्थान को ठहरने के योग्य बनाने के लिए इधर-उधर पड़े हुए घास-फूस को काटेगा, पानी आदि से धोएगा और दरवाजे को छोटा-बड़ा बनाएगा। इस दृष्टि से भी संखड़ी के स्थान में साधु को आहार के लिए जाने का निषेध किया गया है।

‘संखड़ी’ भी पूर्व और पश्चात् के भेद से दो प्रकार की होती है। विवाह आदि के मांगलिक कार्यों के समय विवाह सम्पन्न होने से पूर्व की जाने वाली संखड़ी को पूर्व संखड़ी कहते हैं और मरे हुए व्यक्ति के पीछे मृत भोज को पश्चात् संखड़ी कहते हैं। क्योंकि मृतभोज व्यक्ति के मरने के बाद ही किया जाता है।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त ‘असंजए’ पद का अर्थ वृत्तिकार ने श्रावक या अन्य भद्र-पुरुष किया है। इसका आशय यह है कि उपाश्रय के साथ श्रावक का सम्बन्ध होने के कारण श्रावक अर्थ संगत बैठता है। परन्तु विवेकवान एवं तत्त्वज्ञ श्रावक साधु के लिए घास-फूस काटकर आरम्भ नहीं करता। इससे ऐसा ज्ञात होता है कि साधुचर्या से अनभिज्ञ श्रावक या श्रद्धानिष्ठ भक्त हो सकता है।

‘त्तिबेमि’ का अर्थ पूर्ववत् समझें।

॥ द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

## प्रथम अध्ययन पिण्डैषणा

### तृतीय उद्देशक

द्वितीय उद्देशक में संखडि आदि से सम्बन्धित दोषों का उल्लेख किया गया है। प्रस्तुत उद्देशक में अन्य दोषों का विवेचन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— से एगइओ अन्नयरं संखडिं आसित्ता पिबित्ता छडिडज्जा वा, वमिज्जा वा, भुत्ते वा से नो सम्मं परिणमिज्जा, अन्नयरे वा से दुक्खे रोगायंके समुप्पज्जिज्जा, केवली बूया— आयाणमेयं ॥१४॥

इह खलु भिक्खू गाहावईहिं वा गाहावइणीहिं वा परिवायएहिं वा परिवाइयाहिं वा एगज्जं सद्धिं सुण्डं पाउं भो वइमिस्सं हुरत्था वा उवस्सयं पडिलेहेमाणो नो लभिज्जा तमेव उवस्सयं संम्मिस्सीभावमावज्जिज्जा, अन्नमणे वा से मत्ते विप्परियासीयभूए इत्थिविग्गहे वा किलीबे वा तं भिक्खुं उवसंकमित्तु बूया— आउसंतो समणा ! अहे आरामंसि वा अहे उवस्सयंसि वा, राओ वा वियाले वा, गामधम्मनियंतियं कट्टु रहस्सियं मेहुणधम्मपरियारणाए आउट्टामो, तं चेवेगइओ सात्तिज्जिज्जा, अकरणिज्जं चेयं संखाए एए आयाणा ( आयत-णाणि ) संति संविज्जमाणा पच्चावाया भवंति, तम्हा से संजए नियंठे तहप्पगारं पुरेसंखडिं वा पच्छासंखडिं वा संखडिं संखडिपडियाए नो अभिसंधारिज्जा गमणाए ॥१५॥

छाया— स एकदा अन्यतरां संखडिम् आस्वाद्य पीत्वा छर्दयेद् वा वमेद् वा भुक्तो वा स नो सम्यक् परिणमेत्, अन्यतरो वा स दुःखः रोगातंकः समुत्पद्येत, केवली बूयात्—आदानमेतत् ।

इह खलु भिक्षु गृहपतिभिर्वा, गृहपत्नीभिर्वा, परिव्राजकेर्वा, परिव्राजिकाभिर्वा एकत्वं सार्द्धं सीधुं पातुं भो ! व्यतिमिश्रं हुरत्था वा उपाश्रयं प्रत्युपेक्षमाणः न लभेत तमेव उपाश्रयं

संमिश्रीभावमापद्येत, अन्यमना वा स मत्तः विपरियासीभूतः स्त्रीविग्रहे वा क्लीबे वा तं भिक्षुमुपसंक्रम्य ब्रूयात्- आयुष्मन् श्रमण ! अथारामे वा अथोपाश्रये वा रात्री वा विकाले वा ग्रामधर्मनियंत्रितं कृत्वा रहसि मैथुनधर्म परिचारणया प्रवर्तामहे, तां चैव एकाकी अभ्युपगच्छेत् ; अकरणीयं चेदं संख्याय एतानि आदानानि ( आयतनानि ) सन्ति संचीयमानानि प्रत्यपाया भवन्ति, तस्मादसौ संयतो निर्ग्रन्थः तथाप्रकारां पुरः संखडिं वा पश्चात् संखडिं वा संखडिं संखडिप्रतिज्ञया नाभिसन्धारयेद् गमनाय ।

**पदार्थ-** से-वह-भिक्षु। एगइओ-एकदा। अन्नयरं-किसी एक। संखडिं-संखडि में। आसित्ता-सरस आहार खाकर। पिबित्ता-दूधादि पीकर। छडिडज्ज वा-छटीं करे या। वमिज्ज वा-वमन-उल्टी करे। भुत्ते-खाया हुआ। से-वह-आहार। सम्मं-भली प्रकार से। नो परिणमिज्जा-परिणमन न हो तो। अन्नयरे वा-अन्य विसूचिकादि से। से-वह। दुक्खे-दुःखी होगा या। रोगायंके-रोग-आतंक, ज्वर, शूलादि। समुप्पज्जिज्जा-उत्पन्न हो जाएंगे, अतः। केवली बूया-केवली भगवान कहते हैं कि। आयाणमेयं-यह कर्म बन्ध का कारण है।

इह खलु-निश्चय ही इस संखडि में जाने से। भिक्खु-भिक्षु। गाहावईहिं-गृहपतियों से अथवा। गाहावइणीहिं-गृहपति की स्त्रियों से। वा-अथवा। परिवायएहिं वा-परिव्राजकों से अथवा। परिवाइयाहिं वा-परिव्राजिकाओं से। एगज्जं सडिं-इकट्ठे-एक साथ मिलने पर। सुंडं पाउं-सीधु-मदिरा के पीने पर। भो-हे शिष्य। वइमिस्सं-उसे व्यतिमिश्र हो जाएगा। वा-अथवा। हुरत्था वा-वहां से बाहर निकल कर। उवस्सयं-उपाश्रय की। पडिलेहेमाणे-याचना करता हुआ। नो लभिज्जा-जब अच्छा उपाश्रय न मिलेगा तो। तमेव उवस्सयं-उसी उपाश्रय में। संभिस्सीभावमावज्जिज्जा- गृहस्थी वा परिव्राजकों के साथ मिलकर रहना होगा। वा-और वहां। से-वह गृहस्थादि। अन्नमणे-परस्पर। मत्ते-मदोन्मत्त होकर। विप्परियासियभूए-विपरीतभाव को प्राप्त होंगे और उनके सम्पर्क से भिक्षु भी अपनी आत्मा को विस्मृत कर देगा। वा-अथवा। इत्थीविग्गहे-स्त्री के शरीर में, तथा। किलीबे-नपुंसक में-विपरीत भाव को प्राप्त हो जाता है। वा-वह स्त्री या नपुंसक। तं-उस। भिक्खुं-भिक्षु के। उवसंकमित्तु-पास में आकर। बूया-इस प्रकार कहे कि। आउसंतो समणा-हे आयुष्मन् श्रमण। अहे आरामंसि वा-उद्यान में अथवा। अहे उवस्सयंसि वा-उपाश्रय में अथवा। राओ वा-रात्री में। वियाले वा-विकाल में-अकाल में। गामधम्म-नियंत्रित कट्टु-ग्राम्य धर्म मैथुन धर्मादि की नियंत्रणा से नियंत्रित करके। रहस्सियं-एकान्त स्थान में। मेहुणधम्मपरियारणाए-मैथुन धर्म के आसेवनार्थ हम। आउट्टामो-प्रवृत्त हों प्रवृत्ति करें, इस प्रकार कहे जाने पर। तं-उस प्रार्थना को। चेवेगइओ-कोई अनभिज्ञ भिक्षु। सात्तिज्जिज्जा-स्वीकार करे। च-पुनः। एयं-यह। अकरणिज्जं-अकरणीय कार्य। संखाए-जानकर संखडि में गमन न करे। एए-ये पूर्वोक्त। आयाणा-कर्म आने के मार्ग अथवा। आयतणाणि-दोषों के स्थान। संति-हैं। संविज्जमाणा-क्षण-क्षण में कर्म संचय करता हुआ। पच्चवाया-इसी प्रकार के अन्य भी कर्म आने के मार्ग। भवन्ति-होते हैं। तम्हा-अतः। से-वह। संजाए-संयत-संयमशील। नियंठे-निर्ग्रन्थ। तहप्पगारं- उक्त प्रकार की। पुरेसंखडिं-पूर्व संखडि में अथवा। पच्छसंखडिं वा-पश्चात् संखडि में। संखडिं-संखडि को जानकर। संखडिपडियाए-संखडि की प्रतिज्ञा से। गमणाए-उस ओर जाने का। नो अभिसंधारिज्जा-मन में संकल्प भी न करे।

**मूलार्थ—**संखडि में गए हुए साधु को वहां अधिक सरस आहार करने एवं अधिक दूधादि पीने के कारण वमन हो सकता है या उस आहार का सम्यक्तया पाचन नहीं होने से विसूचिका, ज्वर या शूलादि रोग उत्पन्न हो सकते हैं। इसलिए भगवान ने संखडि में जाने के कार्य को कर्म आने का कारण कहा है।

इसके अतिरिक्त संखडि में गया हुआ साधु गृहपति एवं उसकी पत्नी, परिव्राजक-परिव्राजिकाओं के सहवास से मदिरा पान करके निश्चय ही अपनी आत्मा का भान भूल जाएगा। और उस स्थान से बाहर आकर उपाश्रय की याचना करेगा, परन्तु अनुकूल स्थान नहीं मिलने पर वह गृहस्थ या परिव्राजकों के साथ ही ठहर जाएगा। और मदिरा के प्रभाव से वह अपने स्वरूप को भूल कर अपने आप को गृहस्थ समझने लगेगा। उस समय स्त्री या नपुंसक पर आसक्त होने लगेगा। उसे मदोन्मत्त देखकर रात्री में या विकाल में स्त्री या नपुंसक उसके पास आकर कहेंगे कि हे आयुष्मान् श्रमण ! बगीचे या उपाश्रय के एकान्त स्थान में चलकर ग्रामधर्म-मैथुन का आसेवन करें। इस प्रार्थना को सुनकर कोई अनभिज्ञ साधु उसे स्वीकार भी कर सकता है। अतः इस तरह आत्म पतन होने की सम्भावना होने के कारण भगवान ने संखडि में जाने का निषेध किया है और इसे कर्मबन्ध का स्थान कहा है। इसमें प्रतिक्षण कर्म आते रहते हैं। इसलिए साधु को पूर्व संखडी या पश्चात् संखडी में जाने का मन में भी संकल्प नहीं करना चाहिए।

**हिन्दी विवेचन—** यह हम देख चुके हैं कि साधु को संखडि में आहार के लिए जाने का निषेध किया गया है। पूर्व उद्देशक में बताया गया है कि वहां जाने से साधु को अनेक दोष लगने की सम्भावना है। प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि संखडि में आहार को जाने से साधु को शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक हानि भी होती है। क्योंकि साधु का आहार सात्त्विक एवं नीरस होता है और प्रायः ऐसा करने से उसकी आंते भी उस आहार को पचाने की अभ्यस्त हो जाती हैं। और संखडि में सरस एवं प्रकाम भोजन बनता है और दूध आदि पेय पदार्थ भी होते हैं और सरस एवं स्वादिष्ट पदार्थों के कारण वे अधिक खाए जा सकते हैं। इससे साधु को वमन हो सकती है, या पाचन क्रिया ठीक न होने से विसूचिका, शूल आदि भयंकर रोग हो सकते हैं और उसके कारण उसकी तुरन्त मृत्यु भी हो सकती है। इस तरह आर्त एवं रौद्र ध्यान में प्राण त्याग करके वह दुर्गति में जा सकता है। इसलिए साधु को ऐसे स्थानों में आहार आदि को नहीं जाना चाहिए।

दूसरा दोष यह है कि संखडि में जाने पर वहां आए हुए अन्य मत के भिक्षुओं से उसका घनिष्ठ परिचय होगा और उससे उसकी श्रद्धा में विपरीतता आ सकती है। और उनके संसर्ग से वह मद्य आदि पदार्थों का सेवन कर सकता है और उनके कारण अपने आत्म भान को भूलकर संयम के विपरीत आचरण का सेवन भी कर सकता है। शराब के नशे में उन्मत्त होकर वह नृत्य भी सकता है और किसी उन्मत्त स्त्री द्वारा भोग का निमन्त्रण पाकर उस पथ पर भी फिसल सकता है। इस तरह संखडि में जाकर वह अपने संयम का सर्वथा नाश करके जन्म-मरण के अनन्त प्रवाह में प्रवहमान हो सकता है।

इस तरह संखडि शारीरिक स्वास्थ्य, मानसिक चिन्तन एवं आध्यात्मिक साधना आदि सबका

नाश करने वाली है। इस लिए साधु को संखडि के स्थान की ओर भी नहीं जाना चाहिए। इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्—** से भिक्खू वा २ अन्नयरिं संखडिं सुच्चा निसम्म संपहावड उस्सुयभूएण अप्पाणेणं, धुवा संखडी, नो संचाएड तत्थ इयरेयरेहिं कुलेहिं सामुदाणियं एसियं वेसियं पिंडवायं पडिग्गाहिता आहारं आहारित्तए, माइट्ठाणं संपासे, नो एवं करिज्जा । से तत्थ कालेण अणुपविसित्ता तत्थियरेयरेहिं कुलेहिं सामुदाणियं एसियं वेसियं पिंडवायं पडिग्गाहिता आहारं आहारिज्जा ॥१६ ॥

**छाया—** स भिक्षुर्वा २ अन्यतरं संखडिं श्रुत्वा निशम्य सम्प्रधावति उत्सुकभूतेनात्मना, धुवा संखडिः न शक्नोति तत्र, इतरेतरेभ्यः कुलेभ्यः सामुदानिकं ( भैक्षम् ) एषणीयं वैषिकं पिण्डपातं परिगृह्य आहारमाहर्तुमातृस्थानं संस्पृशेन् न एवं कुर्यात् । स तत्र कालेनानुप्रविश्य तत्रेतरेतरेभ्यः कुलेभ्यः सामुदानिकं ( भैक्षम् ) एषणीयं वैषिकं पिण्डपातं प्रतिगृह्यहारमाहारयेत् ।

**पदार्थ—** से-वह। भिक्खू वा २-साधु अथवा साध्वी । अन्नयरिं -अन्यतर-किसी एक स्थान पर। संखडिं- संखडि को। सुच्चां-सुनकर। निसम्म-विचार कर। उस्सुयभूएण-उत्सुकतायुक्त। अप्पाणेणं-आत्मा से। संपहावड-जाता है। धुवा-निश्चित। संखडी-है। तत्थ-वहां-संखडि वाले ग्राम में। इयरेयरेहिं-इतर-इतर-संखडि रहित। कुलेहिं-कुलों से। सामुदाणियं-सामुदानिक बहुत से घरों का। एसियं-एषणीय-आधाकर्मादि दोषों से रहित। वेसियं-साधु के वेष द्वारा प्राप्त किया गया। पिंडवायं-पिण्डपात-आहार को। पडिग्गाहिता-लेकर। आहारं आहारित्तए- आहार करने-भक्षण करने के लिए। नो संचाएति-शक्ति सम्पन्न नहीं होगा अतः। माइट्ठाणं-मातृस्थान का। संपासे-स्पर्श होता है। नो एवं करिज्जा- अतः वह ऐसा न करे किन्तु। से- वह भिक्षु। तत्थ-उस संखडि वाले ग्राम में। कालेण-भिक्षा के समय। अणुपविसित्ता-प्रवेश करके। तत्थियरेयरेहिं-संखडि वाले-घर से इतर। कुलेहिं-कुलों-घरों से। सामुदाणियं-सामुदानिक। एसियं-निर्दोष। वेसियं-केवल साधु वेष से प्राप्त हुआ। पिंडवायं-पिण्डपात आहार को। पडिग्गाहिता-ग्रहण करके। आहारं-इस आहार को। आहारिज्जा-भक्षण करे खाए, परन्तु संखडि में जाने का उद्योग न करे।

**मूलार्थ—**जो साधु वा साध्वी किसी अन्य स्थान पर संखडि को सुन कर तथा मन में निश्चय कर उत्सुक आत्मा से वहां जाता है, संखडि का निश्चय कर संखडि वाले ग्राम में या संखडि से भिन्न, जिन घरों में संखडि नहीं है आधाकर्मादि दोषों से रहित भिक्षा प्राप्त होती है। उनमें इस भावना से आहार को जाता है कि मुझे वहां भिक्षा करते देख कर संखडि वाला व्यक्ति मुझे आहार की विनती करेगा ऐसा करने से मातृस्थान-कपट का स्पर्श होता है। अतः साधु इस प्रकार का कार्य न करे। वह भिक्षु संखडि-युक्त ग्राम में प्रवेश कर के भी संखडि वाले घर में आहार को न जाए, परन्तु अन्य घरों में सामुदानिक भिक्षा जो कि आधाकर्मादि दोषों से रहित है, ग्रहण करके अपने संयम का परिपालन करे।

**हिन्दी विवेचन—** प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि साधु को संखडि में जाने के लिए छल-



कपट का सहारा भी नहीं लेना चाहिए। जैसे- किसी मुनि को यह मालूम हुआ कि अमुक स्थान पर संखडि है, उस समय वह भिक्षु संखडि में जाने की अभिलाषा से उस ओर आहार को जाता है। वह अपने मन में सोचता है कि जब मैं उस ओर के घरों में गोचरी करूंगा तो संखडि वाले मुझे देखकर आहार की विनती करेंगे और इस तरह मुझे सरस आहार प्राप्त होगा। इस भावना से भी साधु को संखडि में नहीं जाना चाहिए। इस तरह छल-कपट करने से दूसरा एवं तीसरा महाव्रत भंग हो जाता है और मन में सरस आहार की अभिलाषा बनी रहने के कारण वह अन्य घरों से निर्दोष एवं एषणीय आहार भी ग्रहण नहीं कर सकेगा। अतः भिक्षु को आहार के बहाने संखडि की ओर नहीं जाना चाहिए। परन्तु, संखडि को छोड़कर अन्य घरों से निर्दोष एवं एषणीय आहार ग्रहण करते हुए संयम साधना में संलग्न रहना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र में 'सामुदाणियं, एसियं, वेसियं' इन तीन पदों का प्रयोग किया है। सामुदानिक गोचरी का अर्थ है-छोटे-बड़े या गरीब-अमीर के भेद को छोड़कर अनिन्दनीय कुलों से निर्दोष आहार को ग्रहण करना। एषणीय का अर्थ है-आधाकर्म आदि १६ दोषों से रहित आहार ग्रहण करना और वौषिक का अर्थ- धात्री आदि १६ दोषों से रहित आहार स्वीकार करे। वैषिक शब्द वेसियं<sup>१</sup>, व्येषित और वेष का भी बोधक है।

संखडि के विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं-

मूलम्- से भिक्खू वा २ से जं पुण जाणिज्जा गामं वा जाव रायहाणिं वा इमंसि खलु गामंसि वा जाव रायहाणिसि वा संखंडी सिया तंपि य गामं वा जाव रायहाणिं वा संखडिं संखडिपडियाए नो अभिसंधारिज्जा गमणाए । केवली बूया आयाणमेयं, आइन्नाऽवमा णं संखडिं अणुपविस्समाणस्स पाएण वा पाए अक्कंतपुव्वे भवइ, हत्थेण वा हत्थे संचालियपुव्वे भवइ, पाएण वा पाए आवडियपुव्वे भवइ, सीसेण वा सीसे संघट्टियपुव्वे भवइ, काएण वा काए संखोभियपुव्वे भवइ, दंडेण वा अट्ठीण वा मुट्ठीण वा लेलुणा वा कवालेण वा अभिहयपुव्वे वा भवइ, सीओदएण वा उस्सित्तपुव्वे भवइ, रयसा वा परिघासियपुव्वे भवइ, अणेसणिज्जे वा परिभुत्तपुव्वे भवइ, अन्नेसिं वा दिज्जमाणे पडिग्गहियपुव्वे भवइ, तम्हा से संजए नियंठे तहप्पगारं आइन्नावमाणं संखडिं संखडिपडियाए नो अभिसंधारिज्जा गमणाए ॥१७॥

छाया- स भिक्षुर्वा तद् यत् पुनः जानीयात् ग्रामे वा यावत् राजधान्यामस्मिन् खलु ग्रामे वा यावद् राजधान्यां वा संखडिः स्यात् तमपि च ग्रामे वा यावद् राजधान्यां वा संखडिं

१ 'वेसियं' त्रि ( वैषिक ) वेष-बाह्य लिंग मात्र धी प्राप्त थयेलुं । 'वेसियं' त्रि ( व्येषित ) विशेष एवणा धी शुद्ध करी लीधेज ।

संखडिप्रतिज्ञया न अभिसन्धारयेत् गमनाय, केवली ब्रूयात्-आदानमेतत् आकीर्णाविमां वा संखडिमनुप्रविशतः पादेन वा पादः आक्रान्तपूर्वो भवेत्, हस्तेन वा हस्तः, संचालित पूर्वो भवति, पात्रेण वा पात्रं आपतितपूर्वं भवति, शिरसा वा शिरः संघटितपूर्वं भवति, कायेन वा कायः संक्षोभितपूर्वो भवति, दण्डेन वा अस्थना वा मुष्टिना वा लोष्ठेन वा कपालेन वा अभिहतपूर्वो वा भवति, शीतोदकेन वा उत्सिक्तपूर्वो भवति, रजसा वा परिघर्षितपूर्वो भवति, अनेषणीयेन वा परिभुक्तपूर्वो भवति, अन्यस्मै वा दीयमानं प्रतिग्राहितपूर्वो भवति, तस्मात् स संयतः निर्ग्रन्थः तथाप्रकारमाकीर्णामवमां संखडिं संखडिप्रतिज्ञया नाभिसन्धारयेद् गमनाय ।

**पदार्थ-** से-वह । भिक्खू वा-भिक्षु-साधु अथवा साध्वी । से जं पुण-जो फिर । जाणिजा-जाने । गामं वा-ग्राम में । जाव-यावत् । रायहाणिं वा-राजधानी में । खलु-निश्चय ही । इमंसि-इस । गामंसि-ग्राम में । जाव-यावत् । रायहाणिंसि वा-राजधानी में । संखडी सिया-संखडि है । तंपि य-उस । गामं वा-ग्राम में । जाव-यावत् । रायहाणिं वा-राजधानी में । संखडिं-संखडि को । संखडिपडियाए-संखडि की प्रतिज्ञा से । गमणाए-उस ओर जाने का । नो अभिसंधारिजा-संकल्प न करे । केवली ब्रूया-केवली भगवान कहते हैं कि । आयाणमेयं-यह संखडिगमन कर्म के आने का मार्ग है । आइन्ना-परिव्राजकादि से आकीर्ण । अवमा-और जिसमें थोड़े व्यक्तियों के लिए भोजन बनाया गया हो तथा भिखारी अधिक हों ऐसी हीन । संखडिं-संखडि में । अणुपविस्समाणस्स-प्रवेश करते समय । पाएण वा पाए-परस्पर पैर से पैर । अवकंतपुव्वे-प्रथम आक्रान्त । भवइ-होता है । हत्थेण वा हत्थे-हाथ से हाथ का । संचालियपुव्वे भवइ-संचालन होता है । पाएण वा पाए-पात्र से पात्र का । आवडियपुव्वे भवइ-संघर्षण होता है । सीसेण वा सीसे-शिर से शिर का । संघट्टिय-पुव्वे भवइ-संघटन होता है । काएण वा काए-शरीर से शरीर का । संखोभियपुव्वे भवइ-संक्षोभ होता है फिर शरीर के पारस्परिक संघटन से कलह उत्पन्न होने की संभावना है जिस से वे चरकादि भिक्षुगण आपस में । दंडेण वा-दण्ड से । अट्टीण वा-अस्थि से । मुट्ठीण वा-मुष्टी से । लेलुणा वा-पत्थर से । कवालेण वा-मिट्टीके बेलों से लड़ेंगे । अभिहयपुव्वे भवइ-इससे एक दूसरा अभिहत होगा-एक दूसरे को अभिघात पहुंचेगा अथवा । सीओदएण वा-शीतोदक से-शीतल जल से । उस्सित्तपुव्वे भवइ-एक दूसरे को सींचेगा, तथा । रयसा वा-रज से-मिट्टी से । परिघट्टीसियपुव्वे भवइ- परिघर्षित करेगा ये सब दोष उस संखडि में जाने से उत्पन्न हो सकते हैं जिस में स्थान कम हो और जन संख्या अधिक हो । अब आगे हीन संखडि में जाने से उत्पन्न होने वाले दोषों का उल्लेख करते हैं ।

अणेसणिज्जे वा-अनेषणीय आहार । परिभुत्तपुव्वे भवइ-भोगने वाला होगा । अनेसिं वा दिज्जमाणे -अन्य के लिए देने को उत्सुक दाता से । पडिग्गाहियपुव्वे भवइ-मध्य में ही कोई ग्रहण कर लेगा । तम्हा-इस लिए । से-वह । संजए-संयत । नियंठे-निर्ग्रन्थ । तहप्पगारं-उक्त प्रकार की । आइन्नावमाणं-आकीर्ण और अवम हीन । संखडिं-संखडि में । संखडिपडियाए-संखडि की प्रतिज्ञा से । गमणाए-जाने के लिए । नो अभिसंधारिजा-विचार न करे ।

**मूलार्थ-**साधु व साध्वी यह जान ले कि ग्राम में या राजधानी में तथा, निश्चय रूप से

जान ले कि इस ग्राम या इस राजधानी में संखडि है, तो वह उस ग्राम या राजधानी में होने वाली संखडि में संखडि की प्रतिज्ञा से जाने का विचार न करे। क्योंकि भगवान कहते हैं की यह अशुभ कर्म के आने का मार्ग है, ऐसी हीन संखडि में जाने से निम्न लिखित दोषों के उत्पन्न होने की संभावना रहती है। यथा— जहां थोड़े लोगों के लिए भोजन बनाया हो और परिव्राजक तथा चरकादि भिखारी गण अधिक आ गए हों तो उस में प्रवेश करते हुए, पैर से पैर पर आक्रमण होगा, हाथ से हाथ का संचालन होगा, पात्र से पात्र का संघर्षण होगा, एवं सिर से सिर और शरीर से शरीर का संघटन होगा, ऐसा होने पर दण्ड से या मुट्ठी से या पत्थर आदि से एक-दूसरे पर प्रहार का होना भी सम्भव है। इसके अतिरिक्त, वे एक दूसरे पर सचित्त जल या सचित्त मिट्टी आदि फेंक सकते हैं। और वहां याचकों की अधिकता के कारण साधु को अनैषणीय आहार का भी उपयोग करना होगा तथा अन्य को दिए जाने वाले आहार को मध्य में ही ग्रहण करना होगा। इस तरह उस में जाने से अनेक दोष उत्पन्न होते हैं। इसलिए संयमशील निर्ग्रन्थ उक्त प्रकार की अर्थात् परिव्राजकादि से आकीर्ण तथा हीन संखडि में संखडि की प्रतिज्ञा से जाने का विचार न करे।

**हिन्दी विवेचन—** संखडि के प्रकरण को समाप्त करते हुए प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि संखडि में जाने से पारस्परिक संघर्ष भी हो सकता है। क्योंकि संखडि में विभिन्न मत एवं पन्थों के भिक्षु एकत्रित होते हैं। अतः अधिक भीड़ में जाने से परस्पर एक-दूसरे के पैर से पैर कुचला जाएगा इसी तरह परस्पर हाथों, शरीर एवं मस्तक का स्पर्श भी होगा और एक-दूसरे से पहले भिक्षा प्राप्त करने के लिए धक्का-मुक्की भी हो सकती है। और भिक्षु या मांगने वाले अधिक हो जाएं और आहार कम हो जाए तो उसे पाने के लिए परस्पर वाक् युद्ध एवं मुष्टि तथा दण्ड आदि का प्रहार भी हो सकता है। इस तरह संखडि संयम की घातक है। क्योंकि वहां आहार शुद्ध नहीं मिलता, श्रद्धा में विपरीतता आने की संभावना है, सरस आहार अधिक खाने से संक्रामक रोग भी हो सकता है और संघर्ष एवं कलह उत्पन्न होने की संभावना है। इसलिए साधु को यह ज्ञात हो जाए कि अमुक गांव या नगर आदि में संखडि है तो उसे उस ओर आहार आदि को नहीं जाना चाहिए।

संखडि दो तरह की होती है— १-आकीर्ण और २-अवम। परिव्राजक, चरक आदि भिक्षुओं से व्याप्त संखडि को आकीर्ण और जिसमें भोजन थोड़ा बना हो और भिक्षु अधिक आ गए हों तो अवम संखडि कहलाती है<sup>१</sup>।

**मूलम्—** से भिक्खू वा जाव समाणे से जं पुण जाणिज्जा असणं वा ४ एसणिज्जे सिया अणेसणिज्जे सिया वित्तिगिंछसमावन्नेण अप्पाणेण असमाहडाए लेसाए तहप्पगारं असणं वा ४ लाभे संते नो पडिग्गाहिज्जा ॥१८ ॥

**छाया—** स भिक्षुर्वा यावत् ( गृहपतिकुलं प्रविष्टः ) सन् पुनर्जानीयात्— अशनं वा ४ एषणीयं स्यात् अनेषणीयं स्यात्, विचिकित्सासमापन्नेनात्मना असमाहृतया-अशुद्ध्या लेश्यया

तथाप्रकारमशनं वा ४ लाभे सति न प्रतिगृण्हीयात् ।

**पदार्थ-** से भिक्खू वा-वह साधु वा साध्वी। जाव समाणे-यावत् गृह में प्रवेश करता हुआ। से जं पुण-फिर यह। जाणिज्जा-जाने। असणं वा-अशनादि चतुर्विध आहार। एसणिज्जे सिया-क्या एषणीय है अथवा। अणेसणिज्जे सिया-अनेषणीय है। वितिगिंच्छसमावन्नेण-इस प्रकार की विचिकित्सा-आशंका युक्त। अप्पाणेण-आत्मा से। असमाहडाए लेसाए-यह आहार अशुद्ध है इस प्रकार की लेश्या से। तहप्पगारं-उक्त प्रकार का। असणं वा ४ -अशनादिक चतुर्विध आहार। लाभे संते- मिलने पर भी। नो पडिग्गाहिज्जा-ग्रहण न करे।

**मूलार्थ-**गृहस्थ के घर में गया हुआ साधु वा साध्वी अशनादि चतुर्विध आहार को जाने कि यह आहार एषणीय है या अनेषणीय? यदि इस प्रकार की विचिकित्सा-आशंका या लेश्या उत्पन्न होने पर कि यह आहार अशुद्ध है वह उस आहार को मिलने पर भी ग्रहण न करे।

**हिन्दी विवेचन-**प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि साधु गृहस्थ के घर में आहार आदि के लिए प्रवेश करते ही देखे कि मुझे दिया जाने वाला आहार एषणीय है या नहीं। यदि उसे उस आहार की निर्दोषता में सन्देह हो तो उसे वह आहार नहीं लेना चाहिए। क्योंकि उस आहार के प्रति मन में सदोषता का संशय उत्पन्न होने पर उस संशय के दूर हुए बिना वह उस आहार को ग्रहण कर लेता है तो वह संकल्प-विकल्प में उलझ जाता है और उसके उस मानसिक चिन्तन का प्रभाव साधना पर पड़ता है। इस तरह उसकी आध्यात्मिक साधना का प्रवाह कुछ देर के लिए रुक जाता है या दूषित सा हो जाता है। अतः साधु को आहार के सदोष होने की शंका हो जाने पर उसे उस आहार को ग्रहण ही नहीं करना चाहिए।

अब गच्छ से बाहर रहे हुए जिनकल्पी आदि मुनियों को आहार आदि के लिए कैसे जाना चाहिए इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं-

**मूलम्-** से भिक्खू गाहावडकुलं पविसिउकामे सव्वं भण्डगमायाए गाहावडकुलं पिंडवायपडियाए पविसिज्ज वा निक्खमिज्ज वा ।

से भिक्खू वा २ बहिया विहारभूमिं वा वियारभूमिं वा निक्खममाणे वा पविसमाणे वा सव्वं भंडगमायाए बहिया विहारभूमिं वा वियारभूमिं वा निक्खमिज्ज वा पविसिज्ज वा ।

से भिक्खू वा २ गामाणुगामं दूड्जमाणे सव्वं भंडगमायाए गामाणुगामं दूड्जिज्जा ॥१९॥

**छाया-** स भिक्षुः गृहपतिकुलं प्रवेष्टुकामः सर्वं भण्डकमादाय गृहपतिकुलं पिण्डपातप्रतिज्ञया प्रविशेद् वा निष्कामेद् वा, स भिक्षुर्वा २ बहि- विहारभूमिं वा विचारभूमिं वा निष्कमन् वा प्रविशन् वा सर्वं भंडकमादाय बहिः विहारभूमिं वा विचारभूमिं वा निष्कामेद् वा प्रविशेद् वा । स भिक्षुर्वा २ ग्रामानुग्रामं गच्छन् सर्वभण्डकमादाय ग्रामानुग्रामं गच्छेद् ।

**पदार्थः**— से भिक्खू वा-वह साधु अथवा साध्वी। गाहावडकुलं-गृहपति के कुल में। पविसिउ-कामे-प्रवेश करने की इच्छा करता हुआ। सव्वं भंडगमायाए-अपने सर्व धर्मोपकरणों को लेकर। गाहावड-कुलं-गृहपति के कुल में। पिंडवायपडियाए-पिंडपात की प्रतिज्ञा से। पविसिज्ज वा-प्रवेश करे अथवा। निक्खमिज्ज वा-निकले।

से भिक्खू वा २- वह साधु अथवा साध्वी। बहिया-बाहर। विहारभूमिं वा-मलोत्सर्ग-भूमि में। वियारभूमिं वा-स्वाध्याय भूमि में। निक्खममाणे वा-निकलता हुआ अथवा। पविसमाणे वा-प्रवेश करता हुआ। सव्वं-सब। भंडगमायाए-धर्मोपकरण को साथ लेकर। बहिया-बाहिर। विहारभूमिं वा-विहार-मलोत्सर्ग करने की भूमि में। वियारभूमिं वा-स्वाध्याय भूमि में। निक्खमिज्ज वा-निकले अथवा। पविसिज्ज वा-प्रवेश करे।

से भिक्खू वा-वह साधु या साध्वी। गामाणुगामं-ग्रामानुग्राम-एक ग्राम से दूसरे ग्राम में। दूइज्जमाणे-जाता हुआ। सव्वं-सब। भण्डगमायाए-धर्मोपकरणों को साथ लेकर। गामाणुगामं-ग्रामानुग्राम-एक ग्राम से दूसरे ग्राम में। दूइज्जिज्जा-गमन करे-जावे।

**मूलार्थ**—जो साधु वा साध्वी गृहपति कुल में प्रवेश करने की इच्छा रखते हैं वे सब धर्मोपकरण साथ लेकर पिंडपात प्रतिज्ञा से गृहपति कुल में प्रवेश करे या निकले।

जो साधु वा साध्वी बाहर मलोत्सर्ग भूमि में, या स्वाध्याय भूमि में जाना चाहते हैं वे भी अपने सब भंडोपकरण को साथ लेकर बाहर विहार भूमि में या स्वाध्याय भूमि में प्रवेश करे।

ग्रामानुग्राम- एक ग्राम से दूसरे ग्राम में विचरते समय साधु वा साध्वी अपने सब धर्मोपकरणों को साथ लेकर एक ग्राम से दूसरे ग्राम को विहार करे।

**हिन्दी विवेचन**— प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि जिनकल्पी या प्रतिमाधारी साधु को आहार के लिए या शौच एवं स्वाध्याय आदि के लिए अपने ठहरे हुए स्थान से बाहर जाते समय अपने सभी उपकरण साथ ले जाने चाहिए। जब कि सूत्र में जिनकल्पी या स्थविरकल्पी का कोई उल्लेख नहीं है। परन्तु, उपकरण ले जाने के कारणों से यह ज्ञात होता है कि यह प्रसंग जिनकल्पी आदि के लिए ही हो सकता है। जिनकल्पी एवं विशिष्ट प्रतिमाधारी मुनि गच्छ से अलग अकेला रहता है। अतः उसके बाहर जाने के बाद यदि वर्षा हो जाए तो उसके उपकरण भीग सकते हैं या कभी कोई व्यक्ति उन्हें उठाकर ले जा सकता है। स्थविरकल्पी साधु कम से कम दो साधु रहते हैं, अतः एक-दूसरे को सावधान करके अपने स्थान से बाहर जा सकता है, अतः उसके लिए ऐसा प्रसंग आ नहीं सकता।

दूसरे में जिनकल्पी मुनि के पास अधिक उपकरण नहीं होते। सामान्य रूप से रजोहरण और मुख-वस्त्रिका ही होती है और यदि वह लज्जा पर विजय पाने में समर्थ नहीं है तो एक छोटा-सा चोलपट्टक (धोती के स्थान में लपेटने का वस्त्र) रख सकता है, जिसका उपयोग गांव या-शहर में आहार आदि को जाते समय करता है और ये उपकरण तो सदा साथ रहते ही हैं। परन्तु, इसके अतिरिक्त कुछ जिनकल्पी मुनि शीत सहन करने में असमर्थ हों तो वे एक ऊन का और अधिक आवश्यकता पड़ने

पर एक सूत का वस्त्र भी रख सकते हैं। इस तरह ५ उपकरण हो गए और यदि किसी जिनकल्पी मुनि के हाथों की अंजली (जिन कल्पी मुनि हाथ की अंजली बनाकर उसी में आहार करते हैं) में छिद्र पड़ते हों तो उससे सब्जी, दूध, पानी आदि के टपक पड़ने से अयतना न हो इस लिए वे एक पात्र रखते हैं और पात्र के साथ उन्हें सात उपकरण रखने होते हैं। इस तरह जिनकल्पी मुनि के जघन्य २ और उत्कृष्ट १२ उपकरण कहे गए हैं<sup>१</sup>। परन्तु स्थविरकल्पी मुनि के पास इससे अधिक उपकरण होते हैं। प्रश्नव्याकरण सूत्र में १४ उपकरण गिनाए गए हैं<sup>२</sup>। निशीथ सूत्र में दण्ड, लाठी, अवलेहमी, बांस का खपाट<sup>३</sup> और सूत की रस्सी एवं चिल्मलिका (मच्छरदानी) रखने का उल्लेख है<sup>४</sup>। व्यवहार सूत्र में पात्र रखने का उल्लेख है और स्थविरकल्पी के छत्र आदि उपकरणों का उल्लेख भी किया गया है<sup>५</sup>। बृहत्कल्प सूत्र में साध्वी को मूत्र त्याग के लिए एक पात्र रखने की विशेष आज्ञा दी गई है<sup>६</sup>। आचाराङ्ग सूत्र में आर्या (साध्वी) के लिए ४ चादर रखने का विधान है<sup>७</sup>। बृहत्कल्प सूत्र में साध्वी को साड़ी के भीतर चोलपट्टक (जांधिया) रखने की आज्ञा भी दी गई है<sup>८</sup>। इस तरह स्थविरकल्पी के पास १४ से भी अधिक उपकरण होते हैं, अतः उन्हें बाहर आहार आदि को जाते समय सदा साथ ले जाना कठिन है। परन्तु, जिनकल्पी के पास थोड़े उपकरण होने के कारण वह उन्हें अपने साथ ले जा सकता है। इस अपेक्षा से यहां जिन कल्पी का प्रसंग ही उचित प्रतीत होता है।

वृत्तिकार ने लिखा है कि, गच्छ के अन्दर एवं गच्छ के बाहर रहा हुआ साधु अपने स्थान से बाहर जाते समय देखे कि वर्षा आ तो नहीं रही है। यदि वर्षा हो रही हो तो जिनकल्पी मुनि को किसी भी हालत में बाहर नहीं जाना चाहिए। क्योंकि वह ६ महीने तक पुरीष (टट्टी-पेशाब) को रोकने में समर्थ है। परन्तु, स्थविरकल्पी मुनि मल-मूत्र की बाधा होने पर उसका त्याग करने के लिए जा सकता है। परन्तु ऐसे समय में वह सभी उपकरण साथ लेकर न जाए<sup>९</sup>।

१ पात्रं पात्रबन्धः पात्रस्थापनं च पात्रकेसरिका।

पटलानि रजस्त्राणां च गोच्छकः पात्रनिर्योगः। आचारांग वृत्ति।

२ जंपि य समणस्स सुविहियस्स उ रोगायंके बहुप्पगारंमि समुप्पन्ने, वांघाहिय पित्तसिंभिअइरित्तकुविय;

तह सण्णिणावाय जातेव उदयपत्ते उज्जलबलविउलकक्खड पगाढ दुक्खे, असुभकडुयफरुसचंडफलविवागो महब्भयजीवियंतकरणे, सव्वसरीरपरितावणाकरणे न कप्पइ- तारिसेवि तह अप्पणो परस्स व ओसहभेसज्जं, भत्तपाणं च तंपि सण्णिणहिं कयं। ९। जंपिय-समणस्स सुविहियस्स तओ पडिग्गहधारिस्स भवइ, भायणभण्डोवहिउवगरणं पडिग्गहो, पायबंधणं पायकेसरिया, पायट्टवणं च पडलाइं, तिण्णिण व रयत्ताणं च, गोच्छओ तिण्णिण व पच्छाका रयहरणं चोलपट्टकमुहणंतगमादियं।

-प्रश्न व्याकरण सूत्र ५ वां संवरद्वार।

३ निशीथ सूत्र १, ४१।

४ निशीथ सूत्र १, १५।

५ व्यवहार सूत्र, उद्देशक २।

६ कप्पइ निग्गंधीणं अंतोलित्तयं पडिमित्तयं धारेत्तए वा परिहरित्तए वा। - बृहत्कल्प सूत्र, १, १, ६।

७ आचारांग सूत्र, २, ४, २, स्थानांग सूत्र-स्थान ४।

८ कप्पइ निगांधीणं ओग्गहणंतगं वा ओग्गहणपट्टगं वा धारेत्तए वा परिहरित्तए वा।

--बृहत्कल्प सूत्र ३, १२।

९ आचारांग सूत्र वृत्ति।

परन्तु, वृत्तिकार का यह कथन विचारणीय है क्योंकि आगम में लिखा है कि प्रतिमाधारी मुनि को मल-मूत्र की बाधा हो तो उसे रोकना नहीं चाहिए। परन्तु, पहले प्रतिलेखन की हुई (देखी हुई) भूमि पर उसका त्याग करके यथाविधि अपने स्थान पर आकर स्थित हो जाना चाहिए<sup>१</sup>। इसी तरह मोक प्रतिमाधारी मुनि के लिए भी बताया गया है कि यदि उसे रात्रि को मूत्र की बाधा हो जाए तो यह उसे रोक कर न रखे<sup>२</sup>। ज्ञाता सूत्र में भी उल्लेख मिलता है कि जिस समय मेघ मुनि ने श्रमण भगवान् महावीर से आज्ञा प्राप्त करके पादपोषगमन संथरा किया था, उस समय उन्होंने सब से पहले मल-मूत्र के त्याग करने की भूमि का प्रतिलेखन किया था<sup>३</sup>। साधु समाचारी में भी यह बताया गया है कि मुनि दिन के चतुर्थ भाग में मल-मूत्र त्याग करने की भूमि का प्रतिलेखन करे<sup>४</sup>। यदि कोई मुनि उस का प्रतिलेखन नहीं करता है, तो उसके लिए प्रायश्चित्त (दंड) का विधान है<sup>५</sup>।

इन आगम प्रमाणों से स्पष्ट होता है कि किसी भी समय में मल-मूत्र के त्याग करने का निषेध नहीं है। क्योंकि इसके रोकने से अनेक बीमारियां हो सकती हैं और उनके कारण होने वाली अयतना एवं संकल्प-विकल्प उस समय रात के ओस एवं वर्षा आदि की अयतना से भी अधिक अहितकर हो सकते हैं। अतः वर्षा आदि के प्रसंग पर भी मुनि विवेक एवं यतना पूर्वक मल-मूत्र का त्याग करने जा सकता है।

यह प्रश्न हो सकता है कि जिनकल्पी मुनि होते हैं, पर उन में साध्वी नहीं होती और प्रस्तुत सूत्र में साधु-साध्वी दोनों शब्दों का उल्लेख है। इसका समाधान यह है कि यह उल्लेख समुच्चय रूप से हुआ है। पिछले सूत्रों में साधु-साध्वी का उल्लेख होने के कारण इस सूत्र में भी उसे दोहरा दिया गया है। परन्तु, यहाँ प्रसंगानुसार साधु का ही ग्रहण करना चाहिए। वृत्तिकार ने भी इस पाठ को जिनकल्पी मुनि से संबन्धित बताया है। इस तरह यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रस्तुत सूत्र में जिनकल्पी साधु का प्रसंग ही युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

कुछ कारणों से साधु को अपने भंडोपकरण लेकर आहार आदि को नहीं जाना चाहिए, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं-

**मूलम्— से भिक्खू० अह पुण एवं जाणिज्जा-तिव्वदेसियं वासं वासेमाणं पेहाए, तिव्वदेसियं महियं संनिचयमाणं पेहाए, महावाएण वा रयं समुद्धयं**

१ उच्चार-पासवणेणं उब्बाहिज्जा नो से कप्पति उगिण्हत्तए वा, कप्पति से पुब्ब-पडिलेहिए थंडिले उच्चार पासवणं परिठवित्तए, तम्मेव उवस्सयं आगम्म अहाविहि ठाणं ठवित्तए।

— दशाश्रुतस्कंध, दशा ७।

२ व्यवहार सूत्र, उदेशक १।

३ ज्ञाता धर्मकथाङ्ग, अध्याय १।

४ उत्तराध्ययन सूत्र, अ० २६।

५ निशीथ सूत्र; उ० ४।

पेहाए तिरिच्छसंपाइमा वा तसा पाणा संथडा संनिचयमाणा पेहाए से एवं नच्चा  
नो सव्वं भंडगमायाए गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए पविसिज्ज वा निक्खमिज्ज  
वा, बहिया विहारभूमिं वा विचारभूमिं वा निक्खमिज्ज वा पविसिज्ज वा  
गामाणुगामं दूइज्जिज्जा ॥२०॥

छाया— स भिक्षुरथ पुनरेवं जानीयात्, तीव्रदेशिकां वर्षा वर्षन्तीं प्रेक्ष्य, तीव्रदेशिकां  
महिकां संनिपतन्तीं प्रेक्ष्य, महावातेन वा रजः समुद्भुतं प्रेक्ष्य, तिरश्चीनं संनिपतितो वा त्रसप्राणिनः  
संस्कृतान् [ संस्तृतान् ] संनिपतन्तः प्रेक्ष्य, स एवं ज्ञात्वा न सर्वं भंडकमादाय गृहपतिकुलं  
पिंडपातप्रतिज्ञयां प्रविशेद् वा निष्क्रामेद् वा, बहिः विहारभूमिं वा विचारभूमिं वा निष्क्रामेद्  
वा प्रविशेद् वा ग्रामानुग्रामं गच्छेत्।

पदार्थ— से-वह। भिक्खू-साधु या साध्वी। अह-अथवा। पुण-फिर। एवं -इस प्रकार से।  
जाणिज्जा-जाने। तिव्वदेसियं-बृहद् द्वारोपेत बहुत विस्तृत क्षेत्र। वासं-वर्षा। वासेमाणं-बरसती हुई। पेहाए-  
देखकर। तिव्वदेसियं-बड़े देश में अन्धकार रूप। महियं-धुंध। संनिचयमाणं-पड़ती हुई। पेहाए-देखकर।  
वा-अथवा। महावायेण- महावायु से। रयं-रज-धूली। समुद्भुयं-उड़ती हुई। पेहाए-देखकर। वा-अथवा।  
तिरिच्छसंपाइमा-तिर्यग्। तसा पाणा-त्रसप्राणियों के। संथडा-समुदाय को। संनिचयमाणा-उड़ते एवं गिरते  
हुए। पेहाए-देखकर। से-वह भिक्षु। एवं-इस प्रकार। नच्चा-जानकर। सव्वं-सब। भंडगमायाए-धर्मोपकरण  
को ले कर। गाहावइकुलं-गृहपतिकुल में। पिंडवायपडियाए-पिण्डपात प्रतिज्ञा से-आहार लेने की प्रतिज्ञा से।  
नो पविसिज्ज वा-प्रवेश न करे। निक्खमिज्ज वा-और न वहां से निकले। बहिया-बाहर। विहारभूमिं वा-  
विहार भूमि में अथवा। विचारभूमिं वा-विचार भूमि में। निक्खमिज्ज वा-न निकले या। पविसिज्ज वा-न  
प्रवेश करे अर्थात् वह भंडोपकरण लेकर न जाए और न आए तथा। गामाणुगामं-एक ग्राम से दूसरे ग्राम को।  
दूइज्जिज्जा-नहीं जाए।

मूलार्थ—बृहद् देश में वर्षा बरसती हुई देखकर, तथा बृहद् देश में अन्धकार रूप धुंध  
पड़ती हुई देखकर, अथवा महावायु से रज उड़ती हुई देख कर या बहुत से त्रस प्राणियों को उड़ते  
व गिरते हुए देखकर तथा इस प्रकार जानकर साधु वा साध्वी सब धर्मोपकरण को साथ ले कर  
आहार की प्रतिज्ञा से गृहपति के कुल में न तो प्रवेश करे और न वहां से निकले। इसी प्रकार बाहर  
विहार भूमि या विचार भूमि में भी प्रवेश या निष्क्रमण न करे तथा एक गांव से दूसरे गांव को  
विहार भी न करे।

हिन्दी विवेचन— प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि यदि देश व्यापी वर्षा बरस रही हो, धुंध पड़  
रही हो, आंधी के कारण धूल पड़ रही हो, पतंगे आदि त्रस जीव पर्याप्त संख्या में उड़ एवं गिर रहे हों, ऐसी  
अवस्था में सभी भण्डोपकरण लेकर साधु को आहार के लिए या शौच एवं स्वाध्याय के लिए अपने  
स्थान से बाहर नहीं जाना चाहिए। और ऐसे प्रसंग पर एक गांव से दूसरे गांव को विहार भी नहीं करना



चाहिए। क्योंकि ऐसे प्रसंग पर यदि साधु गमनागमन करेगा तो अप्कायिक जीवों की एवं अन्य प्राणियों की हिंसा होगी। अतः उनकी रक्षा के लिए साधु को वर्षा आदि के समय पर अपने स्थान पर ही स्थित रहना चाहिए।

यह प्रश्न हो सकता है कि यदि सूत्रकार को मल-मूत्र के त्याग का निषेध करना इष्ट नहीं था, तो उसने आहार एवं स्वाध्याय भूमि के साथ उसे क्यों जोड़ा? इसका समाधान यह है कि यह संलग्न सूत्र है, जैसा विधि रूप में इसका उल्लेख किया गया है, उसी प्रकार सामान्य रूप से निषेध के समय भी उल्लेख कर दिया गया है। ऐसा और भी कई स्थलों पर होता है। भगवती सूत्र में एक जगह जीव को गुरु-लघु कहा है<sup>१</sup> और दूसरी जगह अगुरुलघु कहा है<sup>२</sup>। फिर भी दोनों पाठों में कोई विरोध नहीं है। क्योंकि औदारिक आदि शरीर की अपेक्षा से जीव को गुरु-लघु कहा है, क्योंकि जीव उन औदारिक आदि शारीरिक पर्यायों के साथ संलग्न है और अगुरुलघु आत्म स्वरूप की अपेक्षा से कहा गया है। अतः यहां पर भी मल-मूत्र का पाठ आहार एवं स्वाध्याय भूमि के साथ संलग्न होने के कारण उसके साथ उसका भी उल्लेख किया गया है। परन्तु इससे जिनकल्पी मुनि के लिए वर्षा आदि के समय मल-मूत्र त्याग का निषेध नहीं किया गया है।

कुछ ऐसे कुल भी हैं, जिनमें साधु को भिक्षा के लिए नहीं जाना चाहिए। उन कुलों का निर्देश करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्— से भिक्खू वा २ से जाइं पुण कुलाइं जाणिज्जा, तंजहा—  
खत्तियाण वा राईण वा कुराईण वा रायपेसियाण वा रायवंसट्ठियाण वा  
अन्तो वा बाहिं वा गच्छंताण वा संनिविट्ठाण वा निमंतेमाणाण वा  
अनिमंतेमाणाण वा असणं वा ४ लाभे संते नो पडिग्गाहिज्जा त्तिबेमि ॥२१ ॥**

छाया— स भिक्षुर्वा २ अथ यानि पुनः कुलानि जानीयात् तद्यथा— क्षत्रियाणां वा राज्ञां वा कुराज्ञां वा राजप्रेष्याणां वा राजवंशस्थितानां वा अन्तर्बहिर्वा गच्छतां वा संनिविष्टानां वा निमंत्रयतां अनिमन्त्रयतां वा अशनं वा ४ लाभे सति न प्रतिगृणहीयात्।

**पदार्थः—** से-वह। भिक्खू वा २-साधु वा साध्वी। पुण-फिर। से-वह। जाइं-इन। कुलाइं-कुलों को। जाणिज्जा-जाने। तंजहा-जैसे कि-। खत्तियाण वा- क्षत्रियों के कुल। राईण वा-राजाओं के कुल। कुराईण वा-कुराजाओं के कुल। रायपेसियाण वा-राज प्रेष्यों के कुल। रायवंसट्ठियाण वा-राजवंश में स्थित कुलों के। अन्तो वा बाहिं वा-अन्दर या बाहर अर्थात् घर के अन्दर अथवा बाहर स्थित। गच्छंताण वा-जाते हुए अथवा। संनिविट्ठाण वा-बैठे हुए। निमंतेमाणाण वा-निमन्त्रण करते हुए। अनिमन्तेमाणाण वा-

१ भगवती सूत्र, श० २३, उ १।

२ भगवती सूत्र, श० ३० १।

न निमन्त्रण करते हुए। असर्ण वा ४-अशनादिक चतुर्विध आहार। लाभे संते-प्राप्त होने पर। नो पडिग्गाहिज्जा-ग्रहण न करे। त्तिबेमि-इस प्रकार मैं कहता हूँ।

**मूलार्थ**—साधु वा साध्वी इन कुलों को जाने, यथा चक्रवर्ती आदि क्षत्रियों के कुल, उन से भिन्न अन्य राजाओं के कुल, एक देशवासी राजाओं के कुल, दण्डपाशिक प्रभृति के कुल, राजा के सम्बन्धियों के कुल और इन कुलों से घर के बाहर या भीतर जाते हुए, खड़े या बैठे हुए, निमन्त्रण किए जाने अथवा न किए जाने पर वहां से प्राप्त होने वाले चतुर्विध आहार को साधु ग्रहण न करे। ऐसा मैं कहता हूँ।

### हिन्दी विवेचन-

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि मुनि को चक्रवर्ती, वासुदेव, बलदेव आदि क्षत्रिय कुलों का तथा उनसे भिन्न राजाओं के कुल का, एक देश के राजाओं के कुल का, राजप्रेष्य-दण्ड-पाशिक आदि के कुल का और राजवंशस्थ कुलों का आहार नहीं लेना चाहिए। उक्त कुलों का आहार उनके द्वारा निमन्त्रण करने पर या बिना निमन्त्रण किए तथा उनके घर से बाहर या घर में किसी भी तरह एवं कहीं भी ग्रहण नहीं करना चाहिए।

इस निषेध का कारण है कि राजभवन एवं राजमहल आदि में लोगों का आवागमन अधिक होने से साधु भली-भाँति ईर्यासमिति का पालन नहीं कर सकता। इस कारण संयम की विराधना होती है। इसलिए साधु को उक्त कुलों में आहार आदि के लिए प्रवेश नहीं करना चाहिए। यह कथन भी सापेक्ष ही समझना चाहिए। क्योंकि प्रस्तुत अध्ययन के द्वितीय उद्देशक में जिन १२ कुलों का निर्देश किया है उनमें उग्र कुल, भोग कुल, राजन्य कुल, इक्ष्वाकु, हरिवंश आदि कुलों से आहार लेने का स्पष्ट वर्णन है। भगवान महावीर के प्रमुख शिष्य गणधर गौतम अतिमुक्त कुमार के अंगुली पकड़ने पर उसके साथ उसके घर पर भिक्षार्थ गए थे। इससे स्पष्ट होता है कि यदि इन कुलों में जाने पर संयम में किसी तरह का दोष न लगता हो तो इन घरों से निर्दोष आहार लेने में कोई दोष नहीं है। यहां पर निषेध केवल इसलिए किया गया है कि यदि राजघरों में अधिक चहल-पहल आदि हो तो उस समय ईर्यासमिति का भली-भाँति पालन नहीं किया जा सकेगा, इस संबन्ध में वृत्तिकार का भी यही अभिमत है।

‘त्तिबेमि’ की व्याख्या पूर्ववत् समझें।

## प्रथम अध्ययन पिण्डैषणा

### चतुर्थ उद्देशक

तृतीय उद्देशक में संखडि एवं कुलों का निर्देश किया गया है। प्रस्तुत उद्देशक में संखडि विषय में जो कुछ बातें शेष रह गई हैं, उनके सम्बन्ध में प्रकाश डालते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— से भिक्खू वा० जाव समाणे से जं पुण जाणेज्जा मंसाइयं वा मच्छाइयं वा मंसखलं वा मच्छखलं वा आहेणं वा पेहेणं वा हिंगोलं वा संमेलं वा हीरमाणं पेहाए अन्तरा से मग्गा बहुपाणा बहुबीया बहुहरिया बहुओसा बहुउदया बहुउत्तिंगपणगदगमट्टीमक्कडासंताणया बहवे तत्थ समणमाहणअति-  
हिकिवणवणीमगा उवागया उवागमिस्संति ( उवागच्छंति ) तत्थाइन्ना वित्ती नो पन्नस्स निक्खमणपवेसाए नो पन्नस्स वायणपुच्छणपरि-यट्टणाणुप्पेह-  
धम्माणुओगचिंताए, से एवं नच्चा तहप्पगारं पुरेसंखडिं वा पच्छासंखडिं वा संखडिं संखडिपडियाए नो अभिसंधारिज्जा गमणाए । से भिक्खू वा से जं पुण जाणिज्जा मंसाइयं वा मच्छाइयं वा, जाव हीरमाणं वा पेहाए अन्तरा से मग्गा अप्प पाणा जाव संताणगा नो जत्थ बहवे समण० जाव उवागमिस्संति अप्पाइन्ना वित्ती पन्नस्स निक्खमणपवेसाए पन्नस्सवायणपुच्छणपरियट्टणाणुप्पेह-  
धम्माणुओगचिंताए, सेवं नच्चा तहप्पगारं पुरेसंखडिं वा० अभिसंधारिज्ज गमणाए ॥२२॥

छाया— स भिक्षुर्वा यावत्- ( गृहपतिकुलं प्रविष्टः ) सन् तद् यत् पुनः जानीयात् मांसादिकं वा मत्स्यादिकं वा मत्स्यखलं वा मांसखलं वा आहेणं वा प्रेक्षं वा हिंगोलं वा संमेलं वा हियमाणं वा प्रेक्ष्य अन्तरा तस्य मार्गाः बहवः प्राणाः बहुबीजाः बहुहरिता बह्ववश्याया बहूदका बहुत्तिंगपनकोदकमृत्तिकामर्कटसन्तानकाः, बहवस्तत्र श्रमणब्राह्मणातिथिकृपणवणीमका उपागता उपागमिष्यन्ति तत्राकीर्णा वृत्तिः न प्राज्ञस्य निष्क्रमणप्रवेशाय न प्राज्ञस्य वाचनाप्रच्छनापरिवर्तनाऽनुप्रेक्षाधर्मानुयोगचिन्तायै स एवं ज्ञात्वा तथा प्रकारां पुरः संखडिं वा

पश्चात् संखडिं वा संखडिं संखडिप्रतिज्ञया नाभिसन्धारयेद् गमनाय । स भिक्षुर्वा तत् यद् पुनः जानीयात् मांसादिकं वा मत्स्यादिकं वा यावत् हियमाणं वा प्रेक्ष्य अन्तराः तस्य मार्गाः अल्पप्राणाः यावत् सन्तानकाः न यत्र बहवः श्रमण यावत् उपागमिष्यन्ति अल्पाकीर्णा वृत्तिः प्राज्ञस्य निष्क्रमणप्रवेशाय प्राज्ञस्य वाचनाप्रच्छनापरिवर्तनाऽनुप्रेक्षाधर्मानुयोगचिन्तायै, स एवं ज्ञात्वा तथा प्रकारां पुरः संखडिं वा० अभिसन्धारयेद् गमनाय ।

**पदार्थ-** से-वह । भिक्खू वा-साधु वा साध्वी । जाव-यावत् । समापो-गृहस्थ के घर में प्रवेश करते हुए । से जं पुण-फिर आहारादि को । जाणेज्जा-जाने । मंसाइयं वा-जिसमें मांस प्रधान है । मच्छाइयं वा-जिसमें मत्स्य प्रधान है । मंसखलं वा- जिसमें शुष्क मांस का समूह है । मच्छखलं वा-जिसमें मत्स्यों का समूह अथवा । आहेणं वा-जो भोजन वधू प्रवेश के अनन्तर बनाया जाता है, अथवा । पहेणं वा-वधू के जाने पर उनके पिता के घर में जो भोजन तैयार होता है, या । हिंगोलं वा- मृतक के निमित्त जो भोजन बनता है, अथवा यक्षादि की यात्रा के निमित्त बनाया गया है । संमेलं वा-या जो भोजन परिजन के सम्मानार्थ बनता है, तथा मित्रों के निमित्त बनाया गया है । हीरमाणं-उक्त स्थानों से भोजन ले जाते हुए को । पेहाए-देखकर भिक्षु को उक्त स्थानों में भिक्षा के लिए नहीं जाना चाहिए । क्योंकि वहां जाने पर निम्नलिखित दोषों के उत्पन्न होने की संभावना है । से-उस भिक्षु को । अंतरामग्गा-मार्ग के मध्य में । बहुपाणा-बहुत प्राणी । बहुवीया-बहुत बीज । बहुहरिया-बहुत हरी । बहुओसा-बहुत ओस । बहुउदया-बहुत पानी । बहुउत्तिंगपणगदगमट्टीमक्कडासंताणया-बहुत सूक्ष्म जीव निगोद वा पांच वर्ण फूल, जल से आर्द्र मृत्तिका और मकड़ी का जाला आदि की विराधना की संभावना है और । तत्थ- उस भोजन के स्थान पर । बहवे-बहुत से । समणमाहणअतिहिकिवणवणीमगा-श्रमण-शाक्यादि भिक्षुगण, ब्राह्मण, अतिथि, कृपण और याचक । उवागया-आए हुए हैं अथवा । उवागच्छंति-आ रहे हैं अथवा । उवागमिस्संति-आएंगे । तत्थाइन्ना-वहां पर आकीर्ण । वित्ती-वृत्ति है अर्थात् वहां संकीर्ण वृत्ति हो रही है अतः । पन्नस्स-प्रज्ञावान-बुद्धिमान् साधु को । नो निक्खमणपवेसाए-वहां पर निष्क्रमण और प्रवेश नहीं करना चाहिए, तथा । पन्नस्स-बुद्धिमान् साधु को वहां उस संखडि में । नो वायणपुच्छण-परियट्टणाणुप्पेह-धम्माणुओगचिन्ताए-वाचना, पृच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मानुयोगचिन्ता नहीं हो सकती, कारण कि वहां गायन, वादन आदि की अधिकता रहती है, अतः । से-वह । एवं-इस प्रकार । नच्चा-जानकर । तहप्पगारं-उक्त प्रकार की । पुरेसंखडिं वा-पूर्व संखडि में या । पच्छा संखडिं वा-पश्चात् संखडि में । संखडिं-संखडि को । संखडिपडियाए-संखडि की प्रतिज्ञा से । गमणाए-गमन करने के लिए । नो अभिसंधारिज्जा-मन में संकल्प न करे । अब इस सूत्र के आपवादिक विषय में कहते हैं यथा- । से भिक्खू वा-वह साधु अथवा साध्वी । से जं पुण जाणिज्जा-यदि फिर ऐसे जाने कि । मंसाइयं वा-जिस भोजन में मांस प्रधान है तथा । मच्छाइयं वा-मत्स्य प्रधान है । जाव-यावत् । हीरमाणं वा-ले जाते हुए को । पेहाए-देखकर । से-उस भिक्षु को । अन्तरामग्गा-मार्ग के मध्य में । अप्पपाणा-प्राणी नहीं हैं । जाव-यावत् । संताणगा-मकड़ी का जाला भी नहीं है । जत्थ-जहां पर । बहवे-बहुत से । समणा- श्रमण-शाक्यादि भिक्षु गण । जाव-यावत् । नो उवागमिस्संति-नहीं आयेंगे और । अप्पाइन्ना-अल्पाकीर्ण । वित्ती-वृत्ति है अतः । पन्नस्स-प्रज्ञावान् बुद्धिमान् साधु को । निक्खमणपवेसाए-

निष्क्रमण और प्रवेश की सुगमता है तथा। पन्नस्स-बुद्धिमान् साधु को वहां। वायणपुच्छणपरिय-ट्टणाणुपेहधम्माणुओगचिंताए- वाचना, पृच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मानुयोगचिन्ता में कोई विघ्न उपस्थित नहीं होता है। सेवं-वह इस प्रकार। नच्चा-जानकर। तहप्पगारं-उक्त प्रकार की। पुरे संखडिं वा-पूर्व संखडि में या पश्चात् संखडि में। गमणाए-गमन करने के लिए अभिसंधारिज्जा-संकल्प धारण करे।

**मूलार्थ**—गृहस्थ के घर में भिक्षा के लिए प्रवेश करते हुए साधु व साध्वी आहार को इस प्रकार जाने कि जो आहार मांस प्रधान, मत्स्य प्रधान है अथवा शुष्क मांस, शुष्क मत्स्य सम्बन्धी, तथा नूतनवधु के घर में प्रवेश करने के अवसर पर बनाया जाता है, तथा पितृगृह में वधु के पुनः प्रवेश करने पर बनाया जाता है, या मृतक सम्बन्धी भोजन में अथवा यक्षादि की यात्रा के निमित्त बनाया गया है एवं परिजनों या मित्रों के निमित्त तैयार किया गया है ऐसी संखडियों से भोजन लाते हुए भिक्षुओं को देखकर संयमशील मुनि को वहां भिक्षार्थ नहीं जानना चाहिए। क्योंकि वहां जाने से अनेक जीवों की विराधना होने की संभावना रहती है यथा— मार्ग में बहुत से प्राणी, बहुत से बीज, बहुत सी हरी, बहुत से ओसकण, बहुत सा पानी, बहुत से कीड़ों के भवन निगोद आदि के जीव तथा पांच वर्ण के फूल, मर्कट मकड़ी का जाला आदि के होने से उनकी विराधना होगी। एवं वहां पर बहुत से शाक्यादि भिक्षु, तथा ब्राह्मण, अतिथि, कृपण और भिखारी आदि आए हुए हैं, आ रहे हैं तथा आएंगे तब वहां पर आकीर्ण वृत्ति अर्थात् जनसमूह एकत्रित हो रहा है। अतः प्रज्ञावान् भिक्षु को निकलने और प्रवेश करने के लिए विचार न करना चाहिए। क्योंकि बुद्धिमान् भिक्षु को वहां पर वाचना, पृच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मानुयोग चिन्ता की प्रवृत्ति का समय प्राप्त नहीं हो सकेगा, इस लिए साधु को वहाँ पर जाने का विचार नहीं करना चाहिए अपितु वह साधु या साध्वी यदि इस प्रकार जाने कि मांस प्रधान अथच मत्स्य प्रधान संखडि में यावत् उक्त प्रकार की संखडि में से आहार ले जाते हुए भिक्षु आदि को देखकर, तथा उस साधु को मार्ग में यदि प्राणी की विराधना की आशंका न हो और वहां पर बहुत से शाक्यादि भिक्षुगण भी नहीं आएंगे, एवं अल्प आकीर्णता को देखकर प्रज्ञावान्-बुद्धिमान् साधु वहां प्रवेश और निष्क्रमण कर सकता है, तथा साधु को वाचना, पृच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मानुयोगचिन्ता में भी कोई विघ्न उपस्थित नहीं होगा, ऐसा जान लेने पर पूर्व या पश्चात् संखडि में साधु जा सकता है।

**हिन्दी विवेचन**— प्रस्तुत सूत्र में संखडियों के अन्य भेदों का उल्लेख करते हुए बताया गया है कि सामिष एवं निरामिष दोनों तरह की संखडि होती थीं, कोई व्यक्ति मांस प्रधान या मत्स्य प्रधान संखडि बनाता था, उसे मांस और मत्स्य संखडि कहते थे। कोई पुत्र वधु के घर आने पर संखडि बनाता था, कोई पुत्री के विवाह पर संखडि बनाता था और कोई किसी की मृत्यु के पश्चात् संखडि बनाता था। इस तरह उस युग में होने वाली विभिन्न संखडियों का प्रस्तुत सूत्र में वर्णन किया गया है और बताया गया है कि उक्त संखडियों के विषय में ज्ञात होने पर मुनि को उसमें भिक्षार्थ नहीं जानना चाहिए।

इसका कारण पूर्व सूत्र में स्पष्ट कर दिया गया है। प्रथम तो आहार में दोष लगने की सम्भावना है, दूसरे में अन्य भिक्षुओं का अधिक आवागमन होने से उनके मन में द्वेष भाव उत्पन्न होने की तथा

अन्य जीवों की विरोधना होने की सम्भावना है और तीसरे में वाचना, पृच्छना आदि स्वाध्याय के पांचों अंगों में अन्तराय पड़ने की सम्भावना है। क्योंकि वहां गीत आदि होने से स्वाध्याय नहीं हो सकेगा। इस तरह संखडि में जाने के कारण अनेक दोषों का सेवन होता है, ऐसा जानकर उसका निषेध किया गया है।

इसके अतिरिक्त आगम में संखडि में जाने का निषेध किया है<sup>१</sup>। प्रस्तुत अध्ययन के द्वितीय उद्देशक में भी संखडि में जाने का निषेध किया गया है। परन्तु, प्रस्तुत सूत्र में निषेध के साथ अपवाद मार्ग में विधान भी किया गया है। यदि संखडि में जाने का मार्ग जीव-जन्तुओं एवं हरितकाय या बीजों से आवृत्त नहीं है, अन्य मत के भिक्षु भी वहां नहीं हैं और आहार भी निर्दोष एवं एषणीय है तो साधु उसे ग्रहण कर सकता है। परन्तु, वृत्तिकार का कथन है कि प्रस्तुत सूत्र अवस्था विशेष के लिए है। उसमें बताया गया है कि यदि साधु थका हुआ है अर्थात् लम्बा विहार करके आया है, बीमारी से तुरन्त ही उठा है या तपश्चर्या से जिसका शरीर कृश हो गया है, वह भिक्षु इस बात को जान ले कि संखडि में जाने से किसी दोष के लगने की सम्भावना नहीं है, तो वह वहां से भिक्षा ले सकता है<sup>२</sup>।

इससे स्पष्ट होता है कि उत्सर्ग मार्ग में सामिष एवं निरामिष किसी भी तरह की संखडि में जाने का विधान नहीं है। अपवाद मार्ग में भी उस संखडि में जाने एवं आहार ग्रहण करने का आदेश दिया गया है, जिसमें जाने का मार्ग निर्दोष हो और निर्दोष एवं एषणीय निरामिष आहार मिल सकता हो, अन्य संखडि में जहां का मार्ग जीव-जन्तु आदि से युक्त हो, जहां सामिष भोजन बना हो तथा निरामिष भोजन भी सदोष हो या अन्य मत के भिक्षु भिक्षार्थ आए हों तो वहां अपवाद मार्ग में भी जाने का आदेश नहीं है।

प्रश्न पूछा जा सकता है कि जब साधु अपवाद मार्ग में संखडि में जा सकता है; तो सामिष संखडि में बना हुआ मांस क्यों नहीं ग्रहण कर सकता?

इसका समाधान यह है कि यहां अपवाद कारण विशेष से है अथवा साधु की शारीरिक स्थिति के कारण है, परन्तु वहां बने हुए सभी तरह के आहार को लेने के लिए नहीं हैं। यदि संखडि में जाने का मार्ग ठीक नहीं है और आहार भी सामिष है या निरामिष आहार भी सदोष है तो शारीरिक दुर्बलता के समय भी साधु को वहां जाने का आदेश नहीं है।

प्रस्तुत सूत्र में यह भी बताया गया है कि संखडि में जाने से स्वाध्याय के पांचों अंगों में व्यवधान पड़ता है। स्वाध्याय चलते हुए करने का निषेध है, वह तो एक स्थान पर बैठकर ही किया जा सकता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि संखडि में जाने पर कुछ देर के लिए वहां बैठना भी पड़ता था। अतः अपवाद मार्ग में जाने वाला साधु वहां कुछ काल के लिए ठहर भी सकता है और बीमार एवं तपस्वी आदि के लिए समय पर गृहस्थ के घर में बैठने का विधान भी है। अस्तु, संखडि में जाने का यह अपवाद विशेष कारण होने पर ही रखा गया है।

१ उत्तराध्ययन, १, ३२, बृहत्कल्प सूत्र उ० १ निशीथ सूत्र, उ० ३।

२ साम्प्रतमपवादमाह-स भिक्षुरध्वानक्षीणो ग्लानोत्थितस्तपश्चरणकर्षितोवाऽमवीदर्यवा प्रेक्ष्य दुर्लभद्रव्यार्थी वा स यदि पुनरेवं जानीयात्।

साधु को घरों में किस तरह के आहार की गवेषणा करनी चाहिए, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं-

**मूलम्-** से भिक्खू वा २ जाव पविसिउकामे से जं पुण जाणिज्जा खीरिणियाओ गावीओ खीरिज्जमाणीओ पेहाए असणं वा ४ उवसंखडिज्जमाणं पेहाए पुरा अप्पजूहिए सेवं नच्चा नो गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए निक्खमिज्ज वा पविसिज्ज वा । से तमादाय एगंतमवक्कमिज्जा अणावायमसंलोए चिट्ठिज्जा, अह पुण एवं जाणिज्जा-खीरिणियाओ गावीओ खीरियाओ पेहाए असणं वा ४ उवक्खडियं पेहाए पुराए जूहिए सेवं नच्चा तओ संजयामेव गाहा० निक्खमिज्ज वा० ॥२३॥

**छाया-** स भिक्षुर्वा यावत् प्रवेष्टुकामः तद् यत् पुनः जानीयात् क्षीरिण्यो गावः दुह्यमानाः दुग्धाः प्रेक्ष्य अशनं वा ४ उपसंस्क्रियमाणं प्रेक्ष्य पुरा-पूर्वं सिद्धेऽप्योदनादिके स एवं ज्ञात्वा न गृहपतिकुलं पिण्डपातप्रतिज्ञया निष्कामेद् वा प्रविशेद् वा । स तमादाय एकान्तमपक्रामेत् अनापाते असंलोके तिष्ठेत् । अथ पुनरेवं जानीयात् क्षीरिण्यो गावो दुह्यमानाः प्रेक्ष्य अशनं वा ४ उपसंस्कृतं प्रेक्ष्य पूर्वं सिद्धे स एवं ज्ञात्वा ततः संयत एव गृहपतिकुलं निष्कामेद् वा ।

**पदार्थ-** से-वह । भिक्खू वा २-साधु वा साध्वी । जाव-यावत् गृहपति के घर में । पविसिउकामे-प्रवेश करने की इच्छा रखता हुआ । से जं पुण जाणिज्जा-फिर यदि इस प्रकार जाने कि । खीरिणियाओ गावीओ-दूध देने वाली गाएं । खीरिज्जमाणीओ-जो कि दोही जा रही है उनको । पेहाए-देखकर तथा । असणं वा ४-अशनादिक चतुर्विध आहार जो कि वहां पर । उवसंखडिज्जमाणं-बनाया जा रहा है, उसको । पेहाए-देखकर । पुरा अप्पजूहिए-जिस में से अभी तक और किसी को दिया नहीं गया । से-वह साधु । एवं-इस प्रकार । नच्चा-जानकर । गाहावइकुलं-गृहपति-गृहस्थ के घर में । पिण्डवायपडियाए-आहार लेने की प्रतिज्ञा से । नो निक्खमिज्ज वा-न तो उपाश्रय से निकले और न । पविसिज्ज वा-किसी के घर में प्रवेश करे, किन्तु क्या करे अब उसके विषय में कहते हैं । से-वह भिक्षु । तं-उस दुग्धादि पदार्थ को । आवाय-जानकर । एगंतमवक्कमिज्जा-एकान्त स्थान में चला जाए, एकान्त में जाकर । अणावायमसंलोए-जहां पर कोई गृहस्थादि न आता-जाता हो और न देखता हो ऐसे स्थान पर । चिट्ठिज्जा-खड़ा हो जाए । अह पुण एवं जाणिज्जा-और वहां पर ठहरा हुआ यदि ऐसा जाने कि- । खीरिणियाओ-दूध देने वाली । गावीओ-गाएँ । खीरियाओ-दोही जा चुकी हैं ऐसा । पेहाए-देखकर । असणं वा-अशनादिक- । उवक्खडियं-तैयार हो चुका है ऐसे । पेहाए-देखकर-जानकर । पुराए जूहिए-तथा उन दुग्धादि में से दूसरों को दिया जा चुका है । स-वह साधु । एवं-इस प्रकार । नच्चा-जानकर । तओ-तदनन्तर । संजयामेव-साधु । गाहा०-गृहस्थ के घर में भिक्षा के निमित्त । निक्खमिज्ज वा०-स्वस्थान से निकले और गृहस्थ के घर में प्रवेश करे ।

**मूलार्थ—** साधु व साध्वी गृहपति के घर में प्रवेश करने की इच्छा रखते हुए यदि इस प्रकार जान लें कि गृहस्थ दूध देने वाली गायों का अभी दोहन कर रहे हैं तथा अशनादिक आहार पकाया जा रहा है- पक रहा है, अभी तक उसमें से किसी दूसरे को नहीं दिया गया, ऐसा जानकर संयमशील भिक्षु आहार ग्रहण करने के लिए उस घर में जाने के लिए न तो उपाश्रय से निकले और न उस घर में प्रवेश करे। किन्तु वह भिक्षु इस बात को जान कर जहां पर न कोई आता-जाता हो, और न देखता हो, ऐसे एकान्त स्थान में जाकर ठहर जाए। और जब वह इस प्रकार जान ले कि गायों का दोहन हो गया है और अन्नादि चतुर्विध आहार बन गया है तथा उसमें से दूसरों को दे दिया गया है, तब वह साधु उस घर में आहार के लिए प्रवेश करे।

**हिन्दी विवेचन—** प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि यदि किसी गृहस्थ के घर पर गायों का दूध निकाला जा रहा है और अशन आदि चारों प्रकार का आहार पक रहा है और उस आहार में से अभी तक किसी को दिया नहीं है, तो साधु को उस घर में आहार के लिए नहीं जाना चाहिए। यदि गायों का दूध निकाल लिया गया है, आहार पक चुका है और उसमें से किसी को दिया जा चुका है, तो साधु उस घर में आहार के लिए प्रवेश कर सकता है।

इसका कारण यह है कि गायें साधु के वेश को देखकर डर जाएं और साधु को मारने दौड़ें तो उससे साधु के या दोहने के लिए बैठे हुए व्यक्ति के चोट लग सकती है। और दूध निकालते समय साधु को आया हुआ देखकर गृहस्थ यह सोचे कि साधु को भी दूध लेना होगा, अतः वह गाय के बछड़े के लिए छोड़े जाने वाले दूध को गाय के स्तनों में न छोड़कर निकाल लेगा। इससे मुनि के निमित्त बछड़े की अन्तराय लगेगी।

आहार पक रहा हो और उस समय साधु पहुँच जाए तो गृहस्थ उसे जल्दी पकाने का यत्न करेगा उससे अग्नि के जीवों की विराधना (हिंसा) होगी। इस तरह कई दोष लगने की सम्भावना होने के कारण साधु को ऐसे समय में गृहस्थ के घर में आहार के लिए प्रवेश नहीं करना चाहिए।

आगम में लिखा है कि आहार आग पर पक रहा हो और गृहस्थ उसे आग पर से उतार कर दे तो साधु को स्पष्ट कह देना चाहिए कि यह आहार मेरे लिए कल्पनीय नहीं है<sup>१</sup>। इससे स्पष्ट होता है कि प्रस्तुत सूत्र में किया गया निषेध घर में प्रवेश करने की दृष्टि से नहीं, किन्तु आग पर स्थित आहार को लेने के लिए है। गाय के दोहन का प्रथम विकल्प घर में प्रवेश करने सम्बन्धी निषेध को लेकर है और दूसरा विकल्प उस आहार को लेने के निषेध से सम्बन्धित है। इसका स्पष्ट कारण यह है कि गृहस्थ के घर में स्थित पशु भयभीत नहीं होते हैं और आहार आदि भी पक चुका हो तो साधु उस घर में प्रवेश करके आहार ले सकता है। साधु को यह विवेक अवश्य रखना चाहिए कि उसके निमित्त किसी तरह की हिंसा एवं अयतना न हो।

इसी विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—



मूलम्— भिक्खागा नामेगे एवमाहंसु-समाणा वा वसमाणा वा गामाणुगामं दूइज्जमाणे खुइडाए खलु अयं गामे संनिरुद्धाए नो महालए से हंता भयंतारो वाहिरगाणि गामाणि भिक्खायरियाए वयह, संति तत्थेगइयस्स भिक्खुस्स पुरेसंथुया वा पच्छासंथुया वा परिवसंति तंजहा— गाहावई वा गाहावइणीओ वा गाहावइपुत्ता वा गाहावइधूयाओ वा गाहावइसुण्हाओ वा धाईओ वा दासा वा दासीओ वा कम्मकरा वा कम्मकरीओ वा, तहप्पगाराइं कुलाइं पुरेसंथुयाणि वा पच्छासंथुयाणि वा पुव्वामेव भिक्खायरियाए अणुपविसिस्सामि । अविय इत्थ लभिस्सामि पिंडं वा लोयं वा खीरं वा दहिं वा नवणीयं वा घयं वा गुलं वा तिल्लं वा महुं वा मज्जं वा मंसं वा सक्कुलिं वा फाणियं वा पूयं वा, सिहिरिणिं वा, तं पुव्वामेव भुच्चा पिच्चा पडिग्गहं च संलिहिय संमज्जिय तओ पच्छा भिक्खूहिं सद्धिं गाहा० पविसिस्सामि वा निक्खमिस्सामि वा माइट्ठाणं संपासे, तं नो एवं करिज्जा । से तत्थ भिक्खूहिं सद्धिं कालेण अणुपविसित्ता तत्थियरेयरेहिं कुलेहिं सामुदाणियं एसियं वेसियं पिंडवायं पडिग्गाहित्ता आहारं आहारिज्जा एयं खलु तस्स भिक्खुस्स वा भिक्खुणीए वा सामग्गियं ॥२४॥

छाया— भिक्षुका नामैके एवमुक्तवन्तः समानाः वा वसमाना वा ग्रामानुग्रामं दूयमानान् ( व्रजतः ) क्षुल्लकः खलु अयं ग्रामः संनिरुद्धः न महान् अतो हन्त ! भवन्तः बहिर्ग्रामेषु भिक्षाचर्यार्थं व्रजत ! सन्ति तत्रैकस्य भिक्षोः पुरा संस्तुताः पश्चात् संस्तुता वा परिवसन्ति तद्यथा— गृहपतिः वा गृहपत्नी वा गृहपतिपुत्रो वा, गृहपतिपुत्री वा गृहपतिस्नुषा वा, धात्री वा दासो वा दासी वा, कर्मकरो वा कर्मकरी वा तथाप्रकाराणि कुलानि, पुरा संस्तुतानि वा पश्चात् संस्तुतानि वा पूर्वमेव भिक्षाचर्यार्थं अनुप्रवेक्ष्यामि, अपिचैतेषु लप्स्यामि पिंडं वा लोयं वा क्षीरं वा दधि वा नवनीतं वा घृतं वा गुडं वा तिलं वा मधुं वा मद्यं वा मांसं वा शष्कुलिं वा फाणितं वा अपूपं वा सिखरिणिं वा तं पूर्वमेव भुक्त्वा पीत्वा पतद्ग्रहं [ पात्रं ] संलिह्य संप्रमृज्य ततः पश्चात् भिक्षुभिःसह गृहपति० प्रवेक्ष्यामि वा निष्क्रमिष्यामि वा मातृस्थानं संस्पृशेत् तद् न एवं कुर्यात् । स तत्र भिक्षुभिः सार्द्धकालेन अनुप्रविश्य तत्रेतरेतरेभ्यः कुलेभ्यः सामुदानिकं एषणीयं वैषिकं पिंडपातं प्रतिगृह्य आहारं आहारयेत् । एतत् खलु तस्य भिक्षोः भिक्षुक्या वा सामग्र्यम् ।

पदार्थ— नाम-संभावना अर्थ में है। एगे-कई एक। भिक्खागा-भिक्षु-साधु। एवमाहंसु-इस

प्रकार से कह गए हैं। समाणा वा-जंघा आदि का बल क्षीण होने से एक ही क्षेत्र में स्थिरवास करते हुए रहते हैं अथवा। वसमाणा वा-मास कल्पादि विहार करते हुए। गामाणुगामं-ग्रामानुग्राम। दूड्जमाणा-विचरते हुए जब उस क्षेत्र में आये तो उनके प्रति स्थिरवास रहने वाले साधु कहते हैं कि हे भिक्षुओ ! खलु-निश्चय ही। अयं गामे-यह ग्राम। खुड्डाए-छोटा है और। संनिरुद्धाए-कितने एक घर संनिरुद्ध हैं अर्थात् भिक्षार्थ जाने के योग्य नहीं है। नो महालए-यह ग्राम बड़ा नहीं है। से-वह साधु कहने लगा। हंता-सामान्य खेद सूचन के अर्थ में है। भयंतारो-पूज्य मुनिवरो ! हे आप। बाहरिगाणि-बाहर के। गामाणि-ग्रामों में। भिक्खायरियाए-भिक्षा के निमित्त। वयह-जाओ। तत्थेगइयस्स-उस ग्राम में रहने वाले कई एक। भिक्खुस्स-भिक्षु के। संति-हैं। पुरेसंथुया-भाई-भतीजे आदि सगे सम्बन्धी अथवा। पच्छासंथुया वा-श्वसुर कुल के सम्बन्धी लोग। परिवसंति-बसते हैं। तंजहा-जैसे कि। गाहावई वा-गृहपति अथवा। गाहावइणीओ वा-गृहपत्नी अथवा। गाहावइपुत्ता वा-गृहपति के पुत्र अथवा। गाहावइधूयाओ वा-गृहपति की पुत्रियें अथवा। गाहावइसुण्हाओ वा-गृहपति की स्त्रुष-पुत्र वधुयें अथवा। धाईओ वा- धाय मातायें अर्थात् दूध पिलाने वाली मातायें अथवा। दासा वा-दास अथवा। दासीओ वा-दासियें अथवा। कम्मकरा वा-काम करने वाले अथवा। कम्मकरीओ वा-काम करने वाली। तहप्पगाराई-तथा प्रकार के। कुलाई-कुल जो कि। पुरेसंथुयाणि वा-पूर्व परिचय वाले अथवा। पच्छासंथुयाणि वा-पश्चान् परिचय वाले। संति-हैं। पुव्वामेव-उन कुलों में पहले ही। भिक्खायरियाए-भिक्षा के लिए। अणुपविसिस्सामि-में प्रवेश करूंगा। अविद्य-अथवा। इत्थ-इन कुलों में। लभिससामि-इच्छानुकूल प्राप्त करूंगा। पिंडं वा-शाल्यादि पिण्ड। लोयं वा-अथवा लवण रस युक्त आहार। खीरं वा-अथवा दूध। दहिं वा-अथवा दधि-दही। नवणीयं वा-नवनीत मक्खन अथवा। घयं वा-घृत। गुलं वा-अथवा गुड़। तिल्लं वा-तेल। महं वा-मधु। मज्जं वा-अथवा मद्य। मंसं वा-मांस। सक्कुलिं वा-अथवा जलेबी जैसी मिठाई अथवा। फाणियं वा-जल से मिश्रित गुड़ अथवा। पूयं वा-अपूप-पूड़ा आदि। सिहिरिणिं वा-शिखरणी इस नाम से प्रसिद्ध मिठाई। तं पुव्वामेव-उस आहार को प्रथम ही लाकर। भुच्चा-खाकर। पिच्चा-पीकर। च-और। पडिग्गहं-पात्र को। संलिहिय-निलेंप कर तथा। संपमज्जिय-संमार्जित कर। तओ-तदनन्तर। पच्छा-पश्चात्। भिक्खूहिं-भिक्षुओं के। सद्धिं-साथ। गाहा-गृहपतियों के कुलों में भिक्षा के लिए। पविसिस्सामि वा-प्रवेश करूंगा अथवा। निक्खमिस्सामि वा-निकलूंगा। माइट्ठाणं संपासे-यदि उक्त प्रकार से करे तो उसे मातृस्थान छल-कपट का स्पर्श होगा। तं-अतः साधु। एवं-इस प्रकार नो-न। करिज्जा-करे। से-वह-भिक्षु। तत्थ-उस ग्रामादिक में। भिक्खूहिं-भिक्षुओं के। सद्धिं-साथ अर्थात् अतिथि आदि के साथ। कालेण-भिक्षा के समय में। अणुपविसिस्सा-गृहपति कुलों में प्रवेश करके। तत्थियरेयरेहिं-वहां उच्चावच। कुलेहिं-कुलों से। सामुदाणियं-भिक्षा पिंड। एसियं उद्गमादि-दोष रहित। वेसियं-साधु के वेष से प्राप्त। पिंडवायं-पिंडपात-आहारादि को। पडिग्गाहित्ता-अतिथि साधुओं के साथ ग्रहण करके। आहारं आहारिज्जा-आहार को भक्षण करे। एयं-यह। खलु-निश्चय ही। तस्स-उस। भिक्खुस्स वा-भिक्षु-साधु अथवा। भिक्खुणीए वा-साध्वी का। सामग्गियं-सामग्र्य-भिक्षु भाव है अर्थात् यह उसका संपूर्ण आचार है।

मूलार्थ- कई एक भिक्षु जंघादि के बल रहित होने से अर्थात् विहार में असमर्थ होने से

एक क्षेत्र में स्थिरवास रहते हैं। जब कभी उनके पास ग्रामानुग्राम विचरते हुए अतिथि रूप से अन्य साधु आ जाते हैं तब स्थिरवास रहने वाले भिक्षु उन्हें कहते हैं— पूज्य मुनिवरो ! यह ग्राम बहुत छोटा है, उसमें भी कुछ घर सन्निरुद्ध-बन्द पड़े हुए हैं। अतः आप भिक्षा के निमित्त किसी दूसरे ग्राम में पधारें ? यदि इस ग्राम में स्थिरवास रहने वाले किसी एक मुनि के माता-पिता आदि कुटुम्बी जन या श्वसुर कुल के लोग रहते हैं या-गृहपति, गृहपत्नियें, गृहपति के पुत्र, गृहपति की पुत्रियें, गृहपति की पुत्र-वधुयें, धायमातायें दास और दासी तथा कर्मकार और कर्मकारियें, तथा अन्य कई प्रकार के कुलों में जो कि पूर्व परिचय वाले, या पश्चात् परिचय वाले हैं, उन कुलों में इन आगन्तुक-अतिथि साधुओं से पहले ही मैं भिक्षा के लिए प्रवेश करूँगा और इन कुलों से मैं इष्ट वस्तु प्राप्त करूँगा यथा शाल्यादिपिंड, लवण रस युक्त आहार, दूध, दही, नवनीत, घृत, गुड़, तेल, मधु, मद्य, मांस शक्कुली ( जलेबी आदि ) जलमिश्रितगुड़, अपूप-पूड़े और शिखरणी ( मिठाई विशेष ) आदि आहार को लाऊँगा और उसे खा पीकर, पात्रों को साफ और संमार्जित कर लूँगा। उसके पश्चात् आगन्तुक भिक्षुओं के साथ गृहपति आदि कुलों में प्रवेश करूँगा और निकलूँगा, इस प्रकार का व्यवहार करने से मातृस्थान-छल-कपट का सेवन होता है। अतः साधु को इस प्रकार नहीं करना चाहिए। उस भिक्षु को भिक्षा के समय उन भिक्षुओं के साथ ही उच्च-नीच और मध्यम कुलों से साधु मर्यादा से प्राप्त होने वाले निर्दोष आहार पिंड को लेकर उन अतिथि मुनियों के साथ ही उसे निर्दोष आहार करना चाहिए यही संयम शील साधु-साध्वी का निर्दोष आचार है।

**हिन्दी विवेचन**— प्रस्तुत सूत्र में स्थिरवास रहने वाले मुनियों के पास आए हुए अतिथि मुनियों के साथ उन्हें कैसा व्यवहार करना चाहिए इसका निर्देश किया गया है। कोई साधु हृदय की संकीर्णता के कारण आए हुए अतिथि मुनियों को देखकर सोचे कि यदि यह भी इसी गांव में से भिक्षा लाएंगे तो मेरे को प्राप्त होने वाले सरस आहार में कमी पड़ जाएगी। अतः इस भावना से वह आगन्तुक मुनियों से यह कहे कि इस गांव में थोड़े से घर हैं, उसमें भी कई घर बन्द पड़े हैं, इसलिए इतने साधुओं का आहार इस गांव में मिलना कठिन है। अतः आप दूसरे गांव से आहार ले आएँ। या वह उन्हें दूसरे गांव जाने को तो नहीं कहे, परन्तु उनके साथ गोचरी ( आहार लाने ) को जाने से पूर्व ही अपने माता-पिता या श्वसुर आदि कुलों से या परिचित कुलों से सरस-स्वादिरष्ट एवं इच्छानुकूल पदार्थ लाकर खा लेना और उसके बाद उनके साथ अन्य साधारण घरों से भिक्षा लाकर खाना, माया एवं छल-कपट का सेवन करना है। अतः साधु को आगन्तुक मुनियों के साथ ऐसा नहीं करना चाहिए। ऐसा व्यवहार साधुता के अनुकूल तो क्या, इन्सानियत के अनुकूल भी नहीं है, इसलिए सूत्रकार ने इस तरह का व्यवहार करने का निषेध किया है। साधु का कर्तव्य है कि वह नवागन्तुक मुनियों के साथ अभेद वृत्ति रखे, उनके साथ आहार को जाएँ और जैसा आहार उपलब्ध हो उसे प्रेम एवं स्नेह से उनके साथ बैठकर करे।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'समाणा-वसमाणा' का अर्थ है— जो साधु चलने-फिरने में या विहार करने में असमर्थ होने के कारण किसी एक क्षेत्र में स्थिरवास रहते हैं। इसके अतिरिक्त प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त खाद्य पदार्थों के नाम उस समय में घरों में खाए जाने वाले पदार्थों को सूचित करते हैं। इससे उस समय की खाद्य व्यवस्था का पता लगता है। प्रस्तुत सूत्र में उल्लिखित खाद्य पदार्थों में मद्य मांस का भी

उल्लेख किया गया है, तो क्या मुनि इन पदार्थों को ग्रहण कर सकता है? यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है।

इसका समाधान यह है कि ये दोनों पदार्थ अभक्ष्य होने के कारण सर्वथा अग्राह्य हैं। आगम में इसका स्पष्ट रूप से निषेध किया गया है<sup>१</sup>। इससे स्पष्ट है कि ये दोनों पदार्थ साधु के लिए सर्वथा अभक्ष्य हैं। और संभव है कि प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त उभय शब्द अन्य अर्थ के संसूचक हों<sup>२</sup>।

उपाध्याय पार्श्व चन्द्र जी की मान्यता है कि साधु को मद्य, मांस, मक्खन और मधु लेना नहीं कल्पता। इन शब्दों का प्रयोग केवल सूत्र छेद के समय से हुआ है। इससे गद्य छन्द की प्रामाणिकता सिद्ध होती है<sup>३</sup>।

वृत्तिकार का अभिमत है कि मद्य-मांस की व्याख्या छेद सूत्र के अनुसार समझनी चाहिए। कोई अत्यधिक प्रमादी साधु अतिगृद्धि एवं स्वाद आसक्ति के कारण इनका सेवन न करे। इसके लिए इसका उल्लेख किया गया है। परन्तु विवेकनिष्ठ साधु के लिए मद्य-मांस सर्वथा अग्राह्य है<sup>४</sup>।

प्रस्तुत सूत्र पर व्याख्या करते हुए उपाध्याय पार्श्व चन्द्र ने मद्य, मांस, मक्खन एवं मधु चारों को तथा वृत्तिकार आचार्य शीलांक ने मक्खन को छोड़कर शेष तीनों को अभक्ष्य बताया है। आगम में मद्य-मांस को अभक्ष्य कहा गया है<sup>५</sup>। परन्तु मक्खन एवं मधु को सर्वथा अभक्ष्य नहीं कहा है और आगम में लिखा है कि प्रथम प्रहर में लाए हुए नवनीत (मक्खन) का किसी रोग के कारण चतुर्थ प्रहर में भी अंगोपांगों पर विलेपन करना कल्पता है<sup>६</sup>। इससे मक्खन की ग्राह्यता शास्त्र सम्मत सिद्ध होती है। इसी तरह मधु के विषय में भी आगम में बताया है कि एक बार भगवान महावीर ने मधु (शहद) मिश्रित खीर (दूध) से पारणा किया था।

इससे स्पष्ट होता है कि मद्य एवं मांस साधु के लिए सर्वथा अभक्ष्य है। मक्खन एवं शहद के लिए ऐसी बात नहीं है। निष्कर्ष यह निकला कि साधु को अतिथि रूप से आए हुए साधु के साथ छल-कपट एवं भेद-भाव का बर्ताव नहीं रखना चाहिए। निष्कपट भाव से उसका आदर-सत्कार करना चाहिए।

'त्तिबेमि' की व्याख्या पूर्ववत् समझें।

॥ चतुर्थ उद्देशक समाप्त ॥

१ प्रश्न व्याकरण सूत्र, प्रथम संवर द्वार, सूत्र कृताङ्ग सूत्र, श्रुत २, अ० २।

२ इस विषय पर १० वें उद्देशक में विस्तार से विचार करेंगे।

३ इहां श्री सूत्र मां हि माखन, मधु, मद्य, मांस शब्द बखाण्या ते स्या भणी साधु तईए वस्तु अयोग्य छे। तिहां इय कहबो इहां सूत्र छेदना मय मणी आणया, पर साधु ने ए वस्तु न ल्यइ अथवा इहां जे उचिन्तवई तेह थकी साधु पण उं टल्युं जाणिया छे।  
-उपाध्याय पार्श्व चन्द्र।

४ मद्य मांसे छेदसूत्राभिप्रायेण व्याख्यायेये अथवा कश्चिदति प्रमादावष्टबन्धोऽत्यन्तगृध्नु तथा मधु, मद्य मांसान्यव्याश्रयेदतस्तदुपादानम्।  
-आचाराङ्ग सूत्र वृत्ति।

५ प्रश्नव्याकरण सूत्र, सूत्रकृतांग सूत्र।

६ नो कप्यइ निग्गंधाणं वा निग्गंधीणं वा परियासिएणं तेल्लेणं वा, घएण वा, नवणीएण वा, वसाए वा, गायइ अळ्भंगेत्तए वा मक्खेत्तए वा नानत्थ आगाळेहिं रोगायकेहिं।

भगवती सूत्र, शतक १५।

-बृहत्कल्प सूत्र, उद्देशक ५।

## प्रथम अध्ययन पिण्डैषणा

### पञ्चम उद्देशक

चतुर्थ उद्देशक में आहार ग्रहण करने की विधि का उल्लेख किया गया है। प्रस्तुत उद्देशक में भी इसी का और विस्तृत विवेचन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— से भिक्खू वा २ जाव पविट्ठे समाणे से जं पुण जाणिज्जा-  
अग्गपिंडं उक्खिप्पमाणं पेहाए, अग्गपिंडं निक्खिप्पमाणं पेहाए, अग्गपिंडं  
हीरमाणं पेहाए, अग्गपिंडं परिभाइज्जमाणं पेहाए, अग्गपिंडं परिभुंजमाणं पेहाए,  
अग्गपिंडं परिठविज्जमाणं पेहाए पुरा असिणाइ वा अवहाराइ वा पुरा जत्थऽण्णे  
समणं वणीमगा खब्धं २ उवसंकमंति से हंता अहमपि खब्धं २ उवसंकमामि,  
माइट्ठाणं संफासे नो एवं करेज्जा ॥२५॥

छाया— स भिक्षुर्वा २ यावत् प्रविष्टः सन् तद् यत् पुनरेवं जानीयात्—अग्रपिंडं उत्क्षिप्यमाणं  
प्रेक्ष्य, अग्रपिंडं निक्षिप्यमाणं प्रेक्ष्य, अग्रपिंडं हियमाणं प्रेक्ष्य, अग्रपिण्डं परिभुज्यमानं प्रेक्ष्य,  
अग्रपिण्डं परिभुज्यमानं प्रेक्ष्य, अग्रपिण्डं परित्यज्यमानं प्रेक्ष्य, पुरा अंशितवन्तो वा अपहतवन्तो  
वा पुरा यत्रान्ये श्रमण वणीमकाः त्वरितं २ उपसंक्रामन्ति स हंत ! अहमपि त्वरितं २ उपसंक्रामामि,  
मातृस्थानं संस्पृशेन्न एवं कुर्यात्।

पदार्थ— से-बह। भिक्खू वा-साधु और साध्वी। जाव-यावत्। पविट्ठे समाणे-गृहपति कुल  
में प्रवेश करते हुए। से-बह। जं-जो पुण-फिर। जाणिज्जा-आहारादि को जाने। अग्गपिंडं-अग्रपिंड को।  
उक्खिप्पमाणं-थोड़ा-थोड़ा निकालते हुए को। पेहाए-देखकर। अग्गपिंडं-अग्रपिंड को। निक्खिप्पमाणं-  
अन्य स्थान में रखते हुए को। पेहाए-देखकर। अग्गपिंडं-अग्रपिंड को। हीरमाणं-किसी स्थान पर ले जाते हुए  
को। पेहाए-देखकर। अग्गपिंडं-अग्रपिंड को। परिभाइज्जमाणं-बांटते हुए को। पेहाए-देखकर तथा। अग्गपिंडं-  
अग्रपिंड को। परिभुंजमाणं-खाते हुए को। पेहाए-देखकर। अग्गपिंडं-अग्रपिंड को। परिठविज्जमाणं-  
परिष्ठापन करते फैकते हुए को। पेहाए-देखकर। पुरा असिणाइ वा-पहले श्रमणादि खाकर चले गये अथवा।  
अवहाराइ वा-पहले श्रमणादि, अग्रपिंड को लेकर चले गए। जत्थऽण्णे-जहां पर अन्य। समण-श्रमण आदि।  
वणीमगा-और भिक्षावृत्ति से निर्वाह करने वाले याचक लोग। खब्धं २-शीघ्र २। उवसंकमंति-अग्रपिंड लेने

को जाते हैं। हंता-यह अव्यय वाक्य उपन्यास के लिए है। से-वह भिक्षु विचार करता है। अहमवि-मैं भी। खब्दं २-शीघ्र-जल्दी २। उवसंकमामि-जाता हूँ। माइट्ठाणं संफासे-यदि इस प्रकार विचार करे तो वह मातृस्थान का स्पर्श करता है अर्थात् माया-कपट को आश्रित करता है अतः उसको। एवं-इस प्रकार। नो करेज्जा-नहीं करना चाहिए।

**मूलार्थ**—वह साधु या साध्वी गृहपति कुल में प्रवेश करते हुए आहार आदि के विषय में इस प्रकार जाने कि अग्रपिंड को निकालते हुए को देखकर, अग्रपिंड को किसी अन्य स्थान पर रखते हुए को देखकर, अग्रपिंड को कहीं ले जाते हुए को देखकर, अग्रपिंड को बांटते हुए को देखकर, अग्रपिंड को खाते हुए को देखकर, अग्रपिंड को इधर-उधर फैंकते हुए को देखकर तथा पहले श्रमणादि खा गए हैं, और अग्रपिंड को लेकर चले गए हैं या याचक लोग अग्रपिंड को प्राप्त करने के लिए शीघ्र २ पग उठा रहे हैं। उन्हें देखकर यदि साधु भी उसे प्राप्त करने के लिए शीघ्र २ कदम उठाने का विचार करता है तो वह मातृ स्थान का सेवन करता है। अतः साधु को ऐसा विचार भी नहीं करना चाहिए।

### हिन्दी विवेचन—

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि यदि कोई गृहस्थ अग्रपिण्ड<sup>१</sup> को देव स्थान पर ले जा रहा हो, या अन्य मत के भिक्षु उस पिण्ड को खा रहे हों, खा चुके हों या खाने जा रहे हों तो जैन मुनि को उस स्थान पर उसे ग्रहण करने के लिए जाने का संकल्प नहीं करना चाहिए। क्योंकि वह अग्रपिण्ड जिस देव या भिक्षु आदि के निमित्त से निकाला गया है, उसे यदि साधु ग्रहण करले तो उसे अन्यमत के भिक्षु के निमित्त अन्तराय लगती है, इसलिए मुनि को ऐसा आहार ग्रहण नहीं करना चाहिए। परन्तु उसे गृहस्थ के अपने एवं परिवार के लिए बने हुए निर्दोष आहार में से समस्त दोषों को टालते हुए थोड़ा-थोड़ा आहार ग्रहण करना चाहिए। जैसे भ्रमर एक ही फूल से रस न लेकर अनेक पुष्पों से थोड़ा-थोड़ा रस लेकर अपने आप को भी तृप्त करता है और फूल के सौंदर्य को भी नहीं बिगाड़ता, उसी तरह मुनि भी प्रत्येक घर से उतना ही आहार ग्रहण करे जिससे पीछे परिवार को न तो भूखे रहना पड़े और न फिर से आरम्भ करके भोजन तैयार करना पड़े।

प्रस्तुत सूत्र से यह स्पष्ट होता है कि उस युग में भोजन बनाने के बाद उसमें से देव आदि के निमित्त अग्रपिण्ड निकालने की परम्परा थी और वह अग्रपिण्ड भी पर्याप्त मात्रा में होता था, जिसे वे लोग देव स्थान पर ले जाकर प्रसाद के रूप में बांटते थे। जैसे आजकल अन्य धर्मों में देव मंदिर में चढ़ाए गए भोग (अन्न आदि) को बांटने का रिवाज है। उस अग्रपिण्ड में से शाक्यादि भिक्षु भी प्रसाद या आहार रूप में लेते थे। इसलिए साधु के लिए ऐसा आहार ग्रहण करने का निषेध किया है। इसमें एषणीय एवं निर्दोषता की कम संभावना रहती है।

भिक्षा के लिए साधु को कैसे रास्ते से जाना चाहिए, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते

१. भोजन तैयार होने के बाद उसमें से कुछ हिस्सा पहले देवता आदि के लिए निकाला जाता है, उसे अग्रपिंड कहते हैं।

हं-

मूलम्— से भिक्खू वा० जाव समाणे अंतरा से वप्पाणि वा फलिहाणि वा पागाराणि वा तोरणाणि वा अग्गलाणि वा अग्गलपासगाणि वा सति परक्कमे संजयामेव परिक्कमिज्जा, नो उज्जुयं गच्छिज्जा, केवली बूया-आयाणमेयं, से तत्थ परक्कममाणे पयलिज्ज वा, पक्खलेज्ज वा, पवडिज्ज वा, से तत्थ पयलमाणे वा पक्खलेज्जमाणे वा पवडमाणे वा, तत्थ से काए उच्चारेण वा पासवणेण वा खेलेण वा सिंघाणेण वा वंतेण वा पित्तेण वा पूएण वा सुक्केण वा सोणिएण वा उवलित्ते सिया, तहप्पगारं कायं नो अणंतरहियाए पुढवीए नो ससिणिद्धाए पुढवीए नो ससरक्खाए पुढवीए नो चित्तमंताए सिलाए नो चित्तमंताए लेलूए कोलावासंसि वा दारुए जीवपइट्ठेण सअंडे सपाणे जाव ससंताणए नो आमज्जिज्ज वा पमज्जिज्ज वा संलिहिज्ज वा निलिहिज्ज वा उव्वलेज्ज वा उव्वट्ठिज्ज वा आयाविज्ज वा पयाविज्ज वा, से पुव्वामेव अप्पसरक्खं तणं वा पत्तं वा कट्ठं वा सक्करं वा जाइज्जा, जाइत्ता से तमायाय एगंतमवक्कमिज्जा २ अहे झामस्थंडिलंसि वा जाव अन्नयरंसि वा तहप्पगारंसि पडिलेहिय पडिलेहिय पमज्जिय २ तओ संजयामेव आमज्जिज्ज वा जाव पयाविज्ज वा ॥२६ ॥

छाया— स भिक्षुर्वा० यावत् ( प्रविष्टः ) सन् अन्तराले तस्य वप्रा वा परिखा वा प्राकारा वा तोरणानि वा अर्गला वा अर्गलपाशका वा सति पराक्रमे संयत एव प्राक्रमेन् न ऋजुना गच्छेत्, केवली बूयात् आदानमेतत् स तत्र पराक्रममाणः प्रचलेद् वा प्रस्खलेद् वा प्रपतेद् वा स तत्र पराक्रममाणः वा प्रस्खलन् वा प्रपतन् वा तत्र तस्य कायः उच्चारेण वा प्रस्त्रवणेन वा श्लेष्मणा वा सिंधानकेन वा बान्तेन वा पित्तेन वा पूतेन वा शुक्केण वा शोणितेन वा उपलिप्तः स्यात्। तथा प्रकारं कायं अनन्तर्हितया पृथिव्या न सस्निग्धया पृथिव्या न सरजस्कया पृथिव्या न चित्तवत्या शिलया न चित्तवत्या लेलुना कोलावासे दारुणि जीवप्रतिष्ठिते साण्डे सप्राणिनि यावत् सन्तानकेन आमृज्याद् वा प्रमृज्याद् वा संलिखेद् वा उद्वलेद् वा उद्वर्तयेद् वा आतापयेद् वा प्रतपायेद् वा स पूर्वमेव अल्परजस्कं तृणं वा पत्रं वा काष्ठं वा शर्करं वा याचेत्, याचयित्वा स तमादाय एकान्तमपक्रामयित्वा झामस्थंडिले वा यावत् अन्यतरे वा तथाप्रकारे प्रतिलिख्य २ प्रमृज्य २ ततः संयत एव आमृज्याद् वा यावत् प्रमृज्याद् वा।

पदार्थ— से-वह। भिक्खू वा-साधु वा साध्वी। जाव-यावत्। समाणे-गृहपति कुल में प्रविष्ट होने

पर। अंतरा-मार्ग के मध्य में। से-उस भिक्षु को जाते हुए निम्न लिखित कारण हों यथा। वप्पाणि वा-ऊँची-नीची भूमि हो अथवा बीज बोने के लिए खेत में क्यारिएं बना दी हों। फलिहाणि वा-अथवा खाई खोद रखी हो। पागाराणि वा- अथवा प्रकोट बना रखा हो। तोरणाणि वा-तोरण-द्वार का अवयव विशेष तथा। अगलाणि वा-अर्गला-किवाड़ बन्द करने के लिए काष्ठ विशेष की बनी हुई एक वस्तु। अगलपासगाणि वा-जिसमें अर्गल दिया जाता हो वह स्थान। सति परक्कमे-अन्य मार्ग के होने पर। संजयामेव-संयती-संयमशील साधु। परिक्कमिज्जा-उस मार्ग से जाए, किन्तु। उज्जुर्यं-सीधा उक्त क्यारी आदि के मार्ग से। नो गच्छिज्जा-न जाए। कोई शिष्य प्रश्न करता है कि भगवन् ! ऋजु मार्ग से जाने का क्यों निषेध किया है? इसके उत्तर में गुरु कहते हैं-। केवली-केवल भगवान। बूया-कहते हैं कि। आयाणमेयं-यह मार्ग कर्म आने का है। क्योंकि इससे संयम और आत्मा की विराधना होने की सम्भावना है, सूत्रकार वही दिखाते हैं। से-वह भिक्षु। तत्थ-खेत आदि के मार्ग से। परक्कममाणे-जाता हुआ। पयलिज्ज वा- कम्पित हो जाए या प्रस्खलित हो जावे। पक्खलेज्ज वा-फिसल जाए। पवडिज्ज वा-अथवा गिर पड़े। से-वह भिक्षु। तत्थ-उस मार्ग में। पयलमाणे वा-काम्पता हुआ। पक्खलेज्जमाणे वा-अथवा प्रस्खलित होता हुआ अर्थात् फिसलता हुआ। पवडमाणे वा-अथवा गिरता हुआ ६ कार्यों में से किसी एक की हिंसा करता है अर्थात् उसके फिसलने या गिरने आदि से षट्काय में से किसी की विराधना होने पर संयम की विराधना होती है। तत्थ-उस मार्ग में। से-उस भिक्षु का। काए-शरीर ( फिसलने या गिरने आदि से )। उच्चारणेण वा-उच्चार-विष्टा से, अथवा। पासवणेण वा-मूत्र से। खेलेण वा-मुख के मल श्लेष्मा से। सिंघाणेण वा-अथवा नाक के मल से। वंतेण वा-वमन से। पित्तेण वा-अथवा पित्त से शरीरगत धातु विशेष से। पूयेण वा-अथवा पूय से-पीप से अर्थात् राध से। सुक्केण वा-अथवा शुक्र-वीर्य से। सोणिएण वा-अथवा शोणित रुधिर से। उवलित्ते सिया-उपलित्त हो जावे। तहप्पगारं कायं-तथा प्रकार से उपलित्त हुए शरीर को। नो-नहीं। अणंतरहियाए-अन्तर रहित। पुढवीए-पृथ्वी से अर्थात् सचित्त पृथ्वी से। नो-नहीं। ससिणिद्धाएपुढवीए-स्निग्ध-आर्द्र पृथ्वी से। नो-नहीं। ससरक्खाए पुढवीए-सरजस्क पृथ्वी से। नो चित्तमंत्ताए सिलाए-नहीं सचित्त चेतनायुक्त शिला से। नो चित्तमंत्ताए लेलूए वा- नहीं सचित्त चेतनायुक्त शिलाखंड से अथवा। कोलावासंसि-घुण से युक्त। दारुए-काष्ठ से। जीवपइट्ठिए-अथवा जीवप्रतिष्ठित जिसमें बाहर से जीव आये हों-काष्ठ से। सअंडे-अंडों से युक्त काष्ठ अथवा। सपाणे-प्राणी युक्त काष्ठ आदि से। जाव-यावत्। ससंताणए-जाला आदि युक्त काष्ठ आदि से। नो आमजिज्ज वा-एक बार भी मसले नहीं अथवा। पमजिज्ज वा-पुनः पुनः मसले नहीं। संलिहिज्ज वा-अथवा घर्षित न करे। निलिहिज्ज वा- अथवा पूंछे नहीं। उव्वलेज्ज वा-अथवा उद्धर्तन अर्थात् विशेष रूप से पूंछे नहीं। उव्वट्टिज्ज वा-अथवा उद्धर्तन न करे। आयाविज्ज वा-अथवा एक बार भी धूप में सुखाए नहीं। पयाविज्ज वा-अथवा पुनः-पुनः धूप में सुखाए नहीं। से-वह भिक्षु। पुव्वामेव-पहले ही। अप्पससरक्खं-रज रहित। तणं वा-तृण अथवा। पत्तं वा-पत्र। कट्ठं वा-अथवा काष्ठ। सक्करं वा-एवं कंकड़ की। जाइज्जा-याचना करे। जाइत्ता-याचना करके। से-वह भिक्षु। तमायाय-उसको लेकर। एगंतमवक्कमिज्जा-एकान्त स्थान पर चला जाए, एकान्त स्थान पर जाकर देखे कि। अहे ज्जामथंडिलंसि वा-जो भूमि अग्नि के संयोग से अचित्त होकर स्थंडिल रूप में अवस्थित है-ऐसे स्थंडिल



की। जाव-यावत्। अन्नयारंसि वा-अन्य किसी निर्दोष भूमि की अथवा। तहप्पगारंसि-तथा प्रकार की भूमि की। पडिलेहिय २-प्रतिलेखना कर के भली-भांति अवलोकन करके। पमज्जिय पमज्जिय-अच्छी तरह से प्रमार्जित करे। तओ-तदनन्तर। संजयामेव-संयत-साधु यत्न पूर्वक उक्त-कथित तृण आदि से शरीर को। आमज्जिज्ज वा-एक बार मसले अथवा। जाव-यावत्। पयाविज्ज वा-बार-बार धूप में सुखाये।

**मूलार्थ**—साधु या साध्वी को गृहपति आदि के कुल में जाते समय मार्ग के मध्य में खेत की ब्यारियां, खाई कोट, तोरण, अर्गला और अर्गलपाशक पड़ता हो तो अन्य मार्ग के होने पर वह उस मार्ग से न जाए भले ही वह मार्ग सीधा क्यों न हो। क्योंकि केवली भगवान कहते हैं कि यह कर्मबन्ध का मार्ग है। क्योंकि वह भिक्षु उस मार्ग से जाते हुए कांप जाएगा या उसका पांव फिसल जाएगा या वह गिर जाएगा, तब उस मार्ग में कांपते हुए, फिसलते हुए या गिरते हुए उस भिक्षु का शरीर विष्टा से, मूत्र से, श्लेष्म से, नाक के मल से, वमन से, पित्त से, राध से, शुक से और रुधिर से उपलिप्त हो जाए तो ऐसा होने पर वह भिक्षु अपने शरीर को सचित्त मिट्टी से, स्निग्ध मिट्टी से, सचित्त शिला से और सचित्त शिलाखंड से अर्थात् चेतना युक्त पत्थर के टुकड़े से, या घुण वाले काष्ठ से, जीव प्रतिष्ठित-जीव युक्त काष्ठ से एवं अण्डयुक्त अथवा प्राणी युक्त या जालों आदि से युक्त काष्ठ आदि से अपने शरीर को एक बार या अनेक बार मसले नहीं, एक बार या अनेक बार धिसे नहीं, पुंछे नहीं तथा उवटन की भांति मले नहीं, तथा एक बार या अनेक बार धूप में सुखाए नहीं, अपितु वह भिक्षु पहले ही सचित्त रज आदि से रहित तृण, पत्र, काष्ठ-कंकड आदि की याचना करे। याचना करके वह एकान्त स्थान में जाए और वहां अग्नि आदि के संयोग से जो भूमि प्रासुक हो गई हो अर्थात् अग्नि दग्ध होकर जो भूमि अचित्त बन गई हो, उस जगह की या अन्यत्र उसी प्रकार की भूमि की प्रतिलेखना करके यत्नपूर्वक अपने शरीर को मसले यावत् बार-बार धूप में सुखाकर शुद्ध करे।

**हिन्दी विवेचन**—प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि साधु को विषम-मार्ग से भिक्षा के लिए नहीं जाना चाहिए। यदि रास्ते में खड्डे, खाई आदि हैं, सीधा एवं सम-मार्ग नहीं है, तो अन्य मार्ग के होते हुए साधु को उस मार्ग से नहीं जाना चाहिए। क्योंकि उस मार्ग से जाने पर कभी शरीर में कम्पन होने या पैर आदि के फिसलने पर वह साधु गिर सकता है और उसका शरीर मल-मूत्र या नाक के मैल या गोबर आदि से लिप्त हो सकता है और उसे साफ करने के लिए सचित्त मिट्टी, सचित्त लकड़ी या सचित्त पत्थर या जीव-जन्तु से युक्त काष्ठ का प्रयोग करना पड़े। इससे अनेक जीवों की विराधना होने की संभावना है। अतः साधु को ऐसे विषम मार्ग का त्याग करके अच्छे रास्ते से जाना चाहिए। यदि अन्य मार्ग न हो और उधर जाना आवश्यक हो तो उसे विवेक पूर्वक उस रास्ते को पार करना चाहिए। और विवेक रखते हुए भी यदि उसका पैर फिसल जाए और वह गिर पड़े तो उसे अपने अशुचि से लिपटे हुए अंगोपाङ्गों को सचित्त मिट्टी से साफ न करके, तुरन्त अचित्त काष्ठ-कंकर की याचना करके एकान्त स्थान में चले जाना

चाहिए और वहां अचित्त भूमि को देखकर वहां जीव-जन्तु से रहित अचित्त काष्ठ आदि के टुकड़े एवं अचित्त मिट्टी आदि से अशुचि को साफ करके, फिर अपने शरीर को धूप में सुखाकर शुद्ध करना चाहिए।

उपाध्याय पार्श्व चन्द्र ने अपनी 'बालावबोध' में लिखा है कि भगवान ने अशुचि से लिप्त स्थान को पानी से साफ करने की आज्ञा नहीं दी है<sup>१</sup>।

परन्तु आगम में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि अशुचि को दूर करने के लिए साधु अचित्त पानी का उपयोग कर सकता है<sup>२</sup>। आगम में यह भी बताया गया है कि गुरु एवं शिष्य शौच के लिए एक ही पात्र में पानी ले गए हों तो शिष्य को गुरु से पहले शुद्धि नहीं करनी चाहिए<sup>३</sup> और प्रतिमाधारी मुनि के लिए सब तरह से जल स्पर्श का निषेध होने पर भी शौच के लिए जल का उपयोग करने का आदेश दिया गया है<sup>४</sup>। आगम में पांच प्रकार की शुद्धि का वर्णन आता है, वहां जल से शुद्धि करने का भी उल्लेख है<sup>५</sup>। और अशुचि की अस्वाध्याय भी मानी है<sup>६</sup>। इससे स्पष्ट होता है कि जल से अशुचि दूर करने का निषेध नहीं किया गया है। साधक को यह विवेक अवश्य रखना चाहिए कि पहले अचित्त एवं जन्तु रहित काष्ठ आदि से उसे साफ करके फिर अचित्त पानी से साफ करे।

प्रस्तुत सूत्र से यह भी ज्ञात होता है कि उस युग में गांवों के रास्ते सम एवं बहुत साफ-सुथरे नहीं होते थे। लोग रास्ते में ही पेशाब, खंखार आदि फेंक देते थे। जहां-तहां गड्ढे भी हो जाते थे, जिनसे वर्षा के दिनों में पानी भी सड़ता रहता था। इस तरह उस युग में गांवों में सफाई की ओर कम ध्यान दिया जाता था।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्—** से भिक्खू वा० से जं पुण जाणिज्जा गोणं वियालं पडिपहे पेहाए, महिसं वियालं पडिपहे पेहाए, एवं मणुस्सं आसं हत्थिं सीहं वग्घं विगं दीवियं अच्छं तरच्छं परिसरं सियालं बिरालं सुणयं कोलसुणयं कोकंतियं चित्ताचिल्लडयं वियालं पडिपहे पेहाए सइपरक्कमे संजयामेव परक्कमेज्जा, नो उज्जुयं गच्छिज्जा।

से भिक्खू वा० समाणे अंतरा से उवाओ वा खाणुए वा कंटए वा घसी वा भिलुगा वा विसमे वा विज्जले वा परियावज्जिज्जा, सइपरक्कमे संजयामेव,

१ पर श्री वीतारगिइं इम न कहो पाणी सुं धोवे, एहवी जयणा श्री वीतरागे पदे सि जाणवी पालवी इत्यर्थः। - उपाध्याय पार्श्वचन्द्र।

२ निशीथ सूत्र, उद्देशक ४।

३ समवायांग सूत्र, ३३, दशाश्रुतस्कंध, दशा ३,

४ दशाश्रुतस्कंध दशा ७।

५ पंचविहे सोए पण्णते तंजहा-पुढविसोए, आउसोए, तेउसोए, मंतसोए, वंभसोए। स्थानांग सूत्र, स्था० ५ उ० ३।

६ स्थानांग सूत्र, स्थान १०।

## नो उज्जुयं गच्छिजा ।२७।

छाया- स भिक्षुर्वा० तद् यत् पुनः जानीयात् गां व्यालम् प्रतिपथे प्रत्युपेक्ष्य, महिषिं व्यालं प्रतिपथे प्रेक्ष्य, एवं मनुष्यं अश्वं हस्तिनं सिंहं व्याघ्रं वृकं द्वीपिनं ऋक्षं तरक्षं सरभं शृगालं बिडालं शुनकं महाशूकरं कोकंतिकं चित्ताचिल्लडयं व्यालं प्रतिपथे प्रत्युपेक्ष्य सति पराक्रमे संयतमेव पराक्रमेत्, न ऋजुकं गच्छेत्।

स भिक्षुर्वा० ( प्रविष्टः ) सन् अन्तराले अवपातः स्थाणुर्वा कण्टको वा घसी वा भिलुगा वा विषमं वा विज्जलं ( कर्दमः ) वा परितापयेत् सतिपराक्रमे संयतमेव न ऋजुकं गच्छेत्।

पदार्थ- से-वह। भिक्खू वा-साधु या साध्वी गृहपति कुल में प्रवेश करने पर। से जं पुण जाणिजा-यदि मार्ग में यह जाने यथा। गोणं-वृषभ-बैल। वियालं-मदोन्मत्त अथवा सर्प-सांप। पडिपहे-मार्ग को रोके हुए स्थित है। पेहाए-उसे देखकर तथा। महिसं वियालं-मदोन्मत्त भैंसे को। पेहाए-देखकर। एवं-इसी प्रकार। मणुस्सं-मनुष्य को। आसं-अश्व-घोड़े को। हत्थिं-हाथी को। सीहं-सिंह को। वग्घं-व्याघ्र को। विगं-भेड़िये को। दीवियं-द्वीपी, चित्रक-चीते को। अच्छं-भालू को। तरच्छं-हिंसक जीव विशेष को जो कि व्याघ्र जाति का जीव होता है। परिसरं-अष्टापद जीव को। सियालं-शृगाल-गीदड़ को। विरालं-बिल्ले को। सुणयं-कुत्ते को। कोलसुणयं-महाशूकर को। कोकंतियं-शृगाल की अकृति का लोमटक नाम का जीव विशेष जो रात्रि में को-को शब्द करता है, उसको। चित्ताचिल्लडयं-अरण्यवासी जीव विशेष को। वियालं-सर्प को। पडिपहे-मार्ग में। पेहाए-देखकर। सइपरक्कमे-अन्य मार्ग के होने पर। संजयामेव-साधु यत्नपूर्वक। परक्कमेजा-जाए। उज्जुयं-सीधा अर्थात् उन जीवों के सामने से। नो गच्छिजा-गमन न करे अर्थात् आत्मा और संयम की विराधना के भय से उन जीवों के सामने न जाए।

से-वह। भिक्खू वा-भिक्षु साधु या साध्वी। समाणे-यावत् भिक्षा के लिए मार्ग में जाते हुए। अंतरा से-वह मार्ग के मध्य में उपयोग पूर्वक इन बातों को देखे जैसे कि- मार्ग में। उवाओ वा-गतं अर्थात् गङ्गा। खाणुए वा-अथवा स्थाणु अर्थात् खूंट। कंटए वा-अथवा कांटे। घसी वा-अथवा घसी अर्थात् पर्वत की उतराई। वा-अथवा। भिलुगा-फटी हुई पृथ्वी। वा-अथवा। विसमं-विषम अर्थात् ऊंची नीची भूमि। वा-अथवा। विज्जले-कीचड़ है तो वह। परियावज्जिजा-उस मार्ग को छोड़ दे तथा। सइपरक्कमे-अन्य मार्ग के होने पर। संजयामेव-साधु यत्न पूर्वक अन्य मार्ग से जाए किन्तु मार्ग में उक्त पदार्थों को देख कर। उज्जुयं-सीधा। नो गच्छिजा-न जाए।

मूलार्थ-साधु या साध्वी जिस मार्ग से भिक्षा के लिए जा रहे हों यदि उस मार्ग में मदोन्मत्त वृषभ और मदोन्मत्त भैंसा एवं मनुष्य, घोड़ा, हस्ती, सिंह, व्याघ्र, भेड़िया, चीता, रीछ, व्याघ्रविशेष, अष्टापद, गीदड़, बिल्ल, कुत्ता, सुअर, कोकंतिक ( स्याल जैसा अरण्य जीव ) और सांप आदि मार्ग में खड़े या बैठे हैं तो अन्यमार्ग के होने पर साधु उस मार्ग से जाए किन्तु जिस मार्ग में उक्त जीव खड़े या बैठे हों उस से न जाए।

साधु या साध्वी भिक्षार्थ गमन करने पर यह देखें कि मार्ग में यदि गड्ढा, स्थाणु-खूँटा, कण्टक, उतराई की भूमि, कटी हुई भूमि, विषम-ऊँची नीची भूमि, और कीचड़ वाला मार्ग है तो वह अन्य मार्ग के होने पर उसी मार्ग से यत्न पूर्वक गमन करे किन्तु उक्त सीधे मार्ग से न जाए। क्योंकि उक्त सीधे मार्ग से गमन करने पर आत्मा और संयम की विराधना होने की संभावना है।

**हिन्दी विवेचन-** प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि भिक्षा के लिए जाते समय साधु को विवेक से चलना चाहिए। यदि रास्ते में मदोन्मत्त बैल या हाथी खड़ा हो या सिंह, व्याघ्र, भेड़िया, आदि जंगली जानवर खड़ा हो तो अन्य मार्ग के होते हुए साधु को उस मार्ग से नहीं जाना चाहिए और इसी तरह जिस मार्ग में गड्ढे आदि हैं उस मार्ग से नहीं जाना चाहिए। क्योंकि उन्मत्त बैल आदि एवं हिंस्र जन्तुओं से आत्म-विराधना हो सकती है और गड्ढे आदि से युक्त पथ से जाने पर संयम की विराधना हो सकती है। अतः मुनि को उस पथ से न जाकर अन्य पथ से जाना चाहिए, यदि अन्य मार्ग कुछ लम्बा भी पड़ता हो तो भी उसे संयम रक्षा के लिए लम्बे रास्ते से जाना चाहिए।

उस युग में कई बार मुनि को भिक्षा के लिए एक गांव से दूसरे गांव भी जाना पड़ता था और कहीं-कहीं दोनों गांवों के बीच में पड़ने वाले जंगल में सिंह, व्याघ्र आदि जंगली जानवर भी रास्ते में मिल जाते थे। इसी अपेक्षा से इनका उल्लेख किया गया है। परन्तु, इसका यह अर्थ नहीं है कि कुत्तों की तरह शेर भी गांवों की गलियों में घूमते रहते थे। अतः आहार के लिए जाने वाले मुनि को ग्रामान्तर में जाते हुए शेर आदि का मिल जाना भी संभव है, इस दृष्टि से सूत्रकार ने मुनि को यत्ना एवं विवेक पूर्वक चलने का आदेश दिया है।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं-

**मूलम्-** से भिक्खू वा० गाहावइकुलस्स दुवारबाहं कंटगबुंदियाए परिपिहियं पेहाए तेसिं पुव्वामेव उग्गहं अणणुन्नविय अपडिलेहिय अप्पमज्जिय नो अवंगुणिज्ज वा, पविसिज्ज वा निक्खमिज्ज वा, तेसिं पुव्वामेव उग्गहं अणुन्नविय पडिलेहिय २ पमज्जिय २ तओ संजयामेव अवंगुणिज्ज वा पविसेज्ज वा निक्खमेज्ज वा ॥२८ ॥

**छाया-** स भिक्षुर्वा० गृहपतिकुलस्य द्वारभागं कंटकशाखया परिपिहितं प्रेक्ष्य तेषां पूर्वमेवावग्रहं अननुज्ञाप्य अप्रतिलेख्य अप्रमृज्य न उद्घाटयेत् वा प्रविशेद् वा निष्क्रामेद् वा, तेषां पूर्वमेव अवग्रहं अनुज्ञाप्य प्रतिलेख्य प्रतिलेख्य प्रमृज्य प्रमृज्य ततः संयतमेव उद्घाटयेद् वा प्रविशेद् वा निष्क्रामेद् वा।

**पदार्थ-** से-वह। भिक्खू वा- साधु और साध्वी। गाहावइकुलस्स-गृहपति के कुल के। दुवारबाहं-द्वार भाग को। कंटगबुंदियाए-कंटक शाखा से। परिपिहियं-बंद किए हुए को। पेहाए- देखकर। तेसिं-उन

गृहपति के। पुव्वामेव-पहले ही। उग्रहं-अवग्रह आज्ञा मांगे। अण्णुन्नविय-बिना आज्ञा मांगे। अपडिलेहिय-बिना प्रतिलेखना किए। अपमज्जिय-रजोहरणादि से प्रमार्जित किए बिना। नो अवंगुणिज्ज वा-वह उस द्वार का उद्घाटन न करे उसे न खोले। पविसिज्ज वा-तथा खोल कर प्रवेश न करे। निक्खमिज्ज वा-और न निकले परन्तु। तेसिं-उस गृहपति के। पुव्वामेव-पहले ही। उग्रहं-अवग्रह-आज्ञा को। अण्णुन्नविय-मांग कर फिर। पडिलेहिय-आंखों से भली प्रकार देख भाल कर। पमज्जिय २-रजोहरणादि से अच्छी तरह प्रमार्जित कर। तओ-तदनन्तर। संजयामेव-साधु यत्र पूर्वक। अवंगुणिज्ज वा-उस द्वार का उद्घाटन करे और। पविसिज्ज वा-प्रवेश करे तथा प्रवेश के बाद। निक्खमेज्ज वा-निकले।

**मूलार्थ**—साधु या साध्वी गृहपति के घर के द्वार भाग को कण्टक शाखा से ढांका हुआ-बन्द किया हुआ देखकर उस गृहपति से आज्ञा मांगे बिना, उसे अपनी आंखों से देखे बिना और रजोहरणादि से प्रमार्जित किए बिना न खोले न उसमें प्रवेश करे और न उसमें से निकले। किन्तु उस गृहस्थ की पहले ही आज्ञा लेकर, अपनी आंखों से देखकर और रजोहरणादि से प्रमार्जित करके उसे खोले, उसमें प्रवेश करे और उस से निकले।

**हिन्दी विवेचन**—प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि भिक्षा के लिए गृहस्थ के घर में प्रवेश करते समय साधु यह देखे कि घर का द्वार (कण्टक शाखा से) बन्द है, तो वह उस घर के व्यक्ति की आज्ञा लिए बिना तथा रजोहरण आदि से प्रमार्जित किए बिना उसे खोले नहीं, और न उस घर में प्रवेश करे तथा न उससे वापिस बाहर निकले। इससे स्पष्ट है कि यदि गृहस्थ के घर का दरवाजा बन्द है और साधु को कार्यवश उसके घर में जाना है तो वह उस घर के व्यक्ति की आज्ञा से यत्ना पूर्वक द्वार को देख कर खोल सकता है और उसके घर में जा-आ सकता है।

गृहस्थ के बन्द द्वार को उसकी आज्ञा के बिना खोलकर जाने से कई दोष लगने की सम्भावना है— १-यदि कोई बहिन स्नान कर रही हो तो वह साधु को देखकर उस पर क्रुद्ध हो सकती है, २-घर का मालिक आवेश वश साधु को अपशब्द भी कह सकता है, ३- यदि उसके घर से कोई वस्तु चली जाए तो साधु पर उसका दोषारोपण भी कर सकता है और ४-द्वार खुलने से पशु अन्दर जाकर कुछ पदार्थ खा जाएं या बिगाड़ दें या तोड़-फोड़ कर दें तो उसका आरोप भी वह साधु पर लगा सकता है। इस तरह बिना आज्ञा दरवाजा खोलकर जाने से कई दोष लगने की सम्भावना है, अतः साधु को घर के व्यक्ति की आज्ञा लिए बिना उसके घर के दरवाजे को खोलकर अन्दर नहीं जाना चाहिए।

गृहस्थ के घर में प्रविष्ट होने के बाद साधु को किस विधि से आहार लेना चाहिए, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्**— से भिक्खू वा २ से जं पुण जाणिज्जा समणं वा माहणं वा गामपिंडोलगं वा अतिहिं वा पुव्वपविट्ठं पेहाए नो तेसिं संलोए सपडिदुवारे चिट्ठज्जा, से तमायाय एगंतमवक्कमिज्जा २ अणावायमसंलोए चिट्ठज्जा, से से परो अणावायमसंलोए चिट्ठमाणस्स असणं वा ४ आहट्टु दलइज्जा, से

य एवं वइज्जा-आउसंतो समणा! इमे भे असणे वा ४ सव्वजणाए निसट्ठे तं भुंजह वा णं परिभाएह वा णं, तं चेगइओ पडिग्गाहिता तुसिणीओ उवेहिज्जा, अविद्याइं एयं मममेव सिया, माइट्ठाणं संपासे, नो एवं करिज्जा, से तमायाए तत्थ गच्छिज्जा २ से पुव्वामेव आलोइज्जा आउसंतो समणा! इमे भे असणे वा ४ सव्वजणाए निसिट्ठे तं भुंजह वा णं जाव परिभाएह वा णं, सेणमेवं वयंतं परो वइज्जा- आउसंतो समणा ! तुमं चेव णं परिभाएहि, से तत्थ परिभाएमाणे नो अप्पणो खब्धं २ डायं २ उसढं २ रसियं २ मणुन्नं २ निब्धं २ लुक्खं २, से तत्थ अमुच्छिए अगिद्धे अग ( ना ) ढिए अणज्झोववन्ने बहुसममेव परिभाइज्जा, से परं तत्थ परिभाएमाणं परोवइज्जा-आउसंतो समणा ! माणं तुमं परिभाएहि, सव्वे वेगइआ ठिया उ भुक्खामो वा पाहामो वा, से तत्थ भुंजमाणे नो अप्पणा खब्धं खब्धं जाव लुक्खं २, से तत्थ अमुच्छिए ४ बहुसममेव भुंजिज्जा वा पाइज्जा वा ॥२९॥

छाया- स भिक्षुर्वा० तद् यत् पुनः जानीयात् श्रमणं वा ब्राह्मणं वा ग्रामपिंडोलकं वा अतिथिं वा पूर्वप्रविष्टं प्रेक्ष्य न तेषां संलोके सप्रतिद्वारे तिष्ठेत् स तमादाय एकान्तमपक्रामेत् २ अनापाते असंलोके तिष्ठेत् स परः तस्य अनापाते असंलोके तिष्ठतः अशनं वा ४ आहृत्य दद्यात्, स च एवं ब्रूयात्-आयुष्मन्तः श्रमणाः ! अयं युष्मभ्यं अशनं वा ४ सर्वजनाय निसृष्टं तद् भुङ्गध्वं वा परिभाजयत् वा तं चैकतो गृहीत्वा तूष्णीकं उपेक्षेत्, अयं ममैव स्यात् मातृस्थानं संस्पृशेत्, नैवं कुर्यात्, स तमादाय तत्र गच्छेत् २ स पूर्वमेव आलोकयेत्, आयुष्मन्तः श्रमणाः! अयं युष्मभ्यं अशनं वा ४ सर्वजनाय निसृष्टं तं भुङ्गध्वं वा यावत् परिभाजयत् वा, एनमेवं ब्रूवाणं परः वदेत्- आयुष्मन्तः श्रमणाः! त्वं चैव णं परिभाजय ! स तत्र परिभाजयन् आत्मनः प्रचुरं २ शाकं २ उच्छ्रितं २ रसिकं २ मनोज्ञं २ स्निग्धं २ रूक्षं २ स तत्र अमूर्च्छितोऽगृह्यः अनाहतः अनध्युपपन्नः बहुसमं एव परिभाजयेत् तं च परिभाजयन्तं परो ब्रूयात्- आयुष्मन् श्रमण ! मा त्वं परिभाजय ! सर्वे चैकत्र स्थिताः भोक्ष्यामहे वा पास्यामो वा, स तत्र भुञ्जमानः नात्मना प्रचुरं २ यावद् रूक्षम्, स तत्र अमूर्च्छितः ४ बहुसमं एव भुञ्जीत वा पिबेद् वा ।

पदार्थ- से-वह। भिक्षु वा-साधु या साध्वी। से जं पुण जाणिज्जा- गृहपति कुल में भिक्षा के लिए प्रवेश करने पर यदि ऐसे जाने यथा। समणं वा-श्रमण शाक्यादि भिक्षु। माहणं वा-अथवा ब्राह्मण। ग्रामपिंडोलकं वा-ग्राम के याचक। अतिहिं वा-अथवा अतिथि जोकि। पुव्वपविट्ठं-पहले प्रवेश किए हुए हैं, को। पेहाए-देखकर। तेसिं-उनके। संलोए-सामने। सपडिदुवारे-जिस द्वार से वे निकलते हैं-। नो चिट्ठेज्जा-

खड़ा न हो किन्तु। तमायाय-भिक्षा के लिए आये हुए उन श्रमणादि को जानकर। एगंतमवक्कमिज्जा-एकान्त स्थान में जाकर। अणावायमसंलोए-जहां कोई न आता हो और न देखता हो ऐसे स्थान पर। चिड्दिज्जा-ठहर जाए। से-वह गृहस्थ। से-उस भिक्षु को जो कि। अणावायमसंलोए चिट्ठमाणस्स-निर्जन स्थान में स्थित है। असणां वा ४-अशनादिक चतुर्विध आहार। आहट्टु-लाकर। दलइज्जा-दे। य-फिर। से-वह गृहस्थ। एवं-इस प्रकार। वइज्जा-बोले। आउसंतो समणा-हे आयुष्मन्त श्रमणो ! इमे-यह। असणो वा ४-अशनादिक चतुर्विध आहार। भे-आप। सव्वजणाए-सबके लिए अर्थात् सब भिक्षुओं के लिए। निसट्ठे-दिया है। तं-उस आहार को। भुंजह-सब इकट्ठे बैठ कर खा लें। वा-अथवा-णं-वाक्यालंकार में है। परिभाएह वा णं-आपस में बांट लें। चेगइओ-परन्तु एकान्त में खड़े साधुओं को जानकर। तं-उस आहार को। पडिग्गाहिता-लेकर। तुसिणीओ-मौन रहकर। उवेहिज्जा-उत्प्रेक्षा करे यथा-। अविद्याइ-अपि सम्भावनार्थक है। एवं-यह आहार। मममेव सिया-मुझे दिया है अतः मेरे ही लिए है। यदि ऐसा विचार करे तो। माइट्ठाणं संफासे-मातृ स्थान माया-कपट स्थान का स्पर्श होता है-उक्त दोष लगता है अतः। एवं-इस प्रकार। नो करिज्जा-न करे किन्तु। से-वह भिक्षु। तमायाए-उस आहार को लेकर। तत्थ-जहां पर वे श्रमणादि खड़े हैं वहां पर। गच्छिज्जा-जाए और वहां जाकर। से-वह भिक्षु। पुव्वामेव-पहले ही उन्हें। आलोइज्जा-उस आहार को दिखाए और कहे। आउसंतो समणा-आयुष्मन्त श्रमणो ! इमे-यह। असणो वा ४-अशनादिक चतुर्विध आहार। भे सव्वजणाए-हम सब के लिए। निसट्ठे-दिया है। तं-इस आहार को। भुंजह वा णं-सब इकट्ठे मिल कर खालें अथवा। जाव-यावत्। परिभाएह वा णं-विभाग कर लें; बांट लें। सेणामेवं वयंतं-तब इस प्रकार बोलते हुए उस साधु को यदि। परो वइज्जा-कोई साधु इस प्रकार कहे। आउसंतो समणा-आयुष्मन् श्रमण ! तुमं चेव-तुम ही। णं-पूर्ववत्। परिभाएहि-विभाग कर दो-अर्थात् इस आहार को तुम ही बांट दो ! तब। से-वह भिक्षु। तत्थ-वहां पर। परिभाएमाणो-विभाग करता हुआ। अप्पणो-अपने लिए। खब्दं २- प्रचुर अत्यधिक। डायं २-सुन्दर शाक। उसळं २-वर्णादि गुणों से युक्त। रसियं-रस युक्त। मणुन्नं २- मनोज्ञ। निब्दं २-स्निग्ध और। लुक्खं २-रूक्ष आहार को। नो-न रखे किन्तु। से-वह भिक्षु। तत्थ-उस आहार के विषय में। अमुच्छिए-अमूर्च्छित-मूर्छा रहित। अगिद्धे-अभिकांक्षा रहित। अगडिए-विशिष्ट गृद्धि रहित। अणज्जोववन्ने-और आसक्ति रहित होकर। बहुसममेव-सबको समान रूप से अर्थात् जो सब के लिए समान हो। परिभाइज्जा-विभाग करदे तथा। से णं परिभाएमाणं-समान रूप से विभाग कर बांटते हुए उस साधु को यदि। परो वइज्जा-कोई कहे कि। आउसंतो समणा !-आयुष्मन् श्रमण ! माणं तुमं परिभाएहि-तुम मत विभाग करो ! सव्वेगइआ ठिया उ-हम सब इकट्ठे बैठकर। भुक्खामो-खाएंगे और। पाहामो वा-पियेंगे। से-वह भिक्षु। तत्थ-वहां पर। भुंजमाणो-उस आहार को खाता हुआ। अप्पणो-अपने लिए। खब्दं २-प्रचुर। जाव-यावत्। लुक्खं-रूक्ष आहार को। नो-ग्रहण न करे। किन्तु। से-वह भिक्षु। तत्थ-उस आहार विषयक। अमुच्छिए-अमूर्च्छित-मूर्छा रहित होकर। बहुसममेव-सबके समान ही। भुंजिज्जा वा-खाए अथवा। पाइज्जा वा-पीए।

**मूलार्थ**—साधु या साध्वी भिक्षा के निमित्त गृहपति के कुल में प्रवेश करते हुए यदि यह जाने कि उसके जाने से पहले ही गृहपति कुल में शाक्यादि भिक्षु, ब्राह्मण ग्रामयाचक और अतिथि

आदि प्रवेश किए हुए हैं तो उनके सामने अथवा जिस द्वार से वे निकलते हैं उसके सन्मुख खड़ा नहीं हो। किन्तु एकान्त स्थान में—जहां न कोई आता हो और न कोई देखता हो जाकर खड़ा हो जाए। वहां खड़े हुए उस साधु को देख कर वह गृहस्थ यदि अशनादिक चतुर्विध आहार लाकर दे और देता हुआ कहे कि आयुष्मन् श्रमणो ! यह अशनादिक चतुर्विध आहार मैंने आप सबके लिए दिया है— आप लोग यथारुचि इस आहार को एकत्र मिलकर खा लें या परस्पर विभाग कर लें, बांट लें, तब उस आहार को लेकर वह साधु यदि मौन वृत्ति से उत्प्रेक्षा करे—विचार करे कि यह मुझे दिया है अतः मेरे लिए ही है, तो उसे मातृस्थान—मायास्थान का स्पर्श होता है। अतः उसे ऐसा नहीं करना चाहिए, अपितु उस आहार को लेकर जहां पर अन्य श्रमणादि खड़े हों वहां जाकर प्रथम उन्हें उस आहार को दिखाए और दिखाकर कहे कि आयुष्मन् श्रमणो ! यह अशनादि चतुर्विध आहार गृहस्थ ने हम सबके लिए दिया है। इस आहार को हम मिल कर खालें अथवा परस्पर में विभाग कर लें, बांट लें। ऐसा कहते हुए उस साधु को यदि कोई भिक्षु कहता है कि आयुष्मन् श्रमण ! तुम ही इस आहार का विभाग कर दो, सब को बांट दो, तब वहां पर विभाग करता हुआ वह साधु अपने लिए प्रचुर शाक, भाजी या रसयुक्त मनोज्ञ, स्निग्ध और रूक्ष आहार को न रखे, किन्तु वहां आहार विषयक मूर्छा, गृद्धि, और आसक्ति आदि से रहित होकर सबके लिए समान विभाग करे, यदि सम विभाग करते हुए उस साधु को कोई भिक्षु यह कहे कि आयुष्मन् श्रमण ! तुम विभाग मत करो हम सब वहां ठहरे हुए हैं, एकत्र बैठकर इस आहार को खा लेंगे और जल पी लेंगे। तब वह भिक्षु वहां पर भोजन करता हुआ आहार विषयक मूर्छा, गृद्धि और आसक्ति आदि को त्यागकर अपने लिए प्रचुर यावत् स्निग्ध और रूक्षादि का विचार न करता हुआ समान रूप से उस आहार का भक्षण करे तथा जलादि का पान करे अर्थात् इस प्रकार से खाए जिससे समविभाग में किसी प्रकार की न्यूनाधिकता न हो।

**हिन्दी विवेचन**— प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि भिक्षा के लिए गया हुआ साधु यह देखे कि गृहस्थ के द्वार पर शाक्यादि अन्य मत के भिक्षुओं की भीड़ खड़ी है, तो वह गृहस्थ के घर में प्रवेश न करके एकान्त स्थान में खड़ा हो जाए। यदि गृहस्थ उसे वहां खड़ा हुआ देख ले और उसे अशन आदि चारों प्रकार का आहार लाकर दे और साथ में यह भी कहे कि मैं गृह कार्य में व्यस्त रहने के कारण सब साधुओं को अलग-अलग भिक्षा नहीं दे सकता। अतः आप यह आहार ले जाएं और आप सबकी इच्छा हो तो साथ बैठ कर खा लें या आपस में बांट लें। इस प्रकार के आहार को ग्रहण करके वह भिक्षु (मुनि) अपने मन में यह नहीं सोचे कि यह आहार मुझे दिया गया है, अतः यह मेरे लिए है और वस्तुतः मेरा ही होना चाहिए, यदि वह ऐसा सोचता है तो उसे दोष लगता है। अतः वह मुनि उस आहार को लेकर वहां जाए जहां अन्य भिक्षु खड़े हैं और उन्हें वह आहार दिखाकर उनसे यह कहे कि गृहस्थ ने यह आहार हम सब के लिए दिया है। यदि आपकी इच्छा हो तो सम्मिलित खा लें और आपकी इच्छा हो तो सब परस्पर बांट लें। यदि वे कहें कि मुनि तुम ही सब को विभाग कर दो, तो मुनि सरस आहार की लोलुपता में फंसकर अच्छा-अच्छा आहार अपनी ओर न रखे, समभाव पूर्वक वह सबका समान हिस्सा कर दे। यदि वे कहें कि विभाग करने की क्या आवश्यकता है। सब साथ बैठकर ही खा लेंगे, तो वह मुनि उनके साथ



बैठकर अनासक्त भाव से आहार करे।

प्रस्तुत पाठ पर यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या जैन मुनि शाक्यादि अन्य मत के भिक्षुओं के साथ बैठकर आहार कर सकता है ? अपने द्वारा ग्रहण किया गया आहार उन्हें दे सकता है ?

इस पर वृत्तिकार का यह अभिमत है कि उत्सर्ग मार्ग में तो साधु ऐसे आहार को स्वीकार ही नहीं करता। दुर्भिक्ष आदि के प्रसंग पर अपवाद में वह इस तरह का आहार ग्रहण कर सकता है। परन्तु, इतना होने पर भी उसे अन्य मत के भिक्षुओं के साथ बैठकर नहीं खाना चाहिए। किन्तु पार्श्वस्थ जैन मुनि या सांभोगिक हैं, उन्हें ओघ आलोचना देकर उनके साथ खा सकता है<sup>१</sup>।

परन्तु, प्रस्तुत पाठ में न तो दुर्भिक्ष आदि के प्रसंग का उल्लेख है और न पार्श्वस्थ आदि साधुओं का ही उल्लेख है। और यदि आगम के अनुसार सोचा जाए तो साधु ग्रामपिंडोलक (भिखारियों) अन्य मत के भिक्षुओं एवं पार्श्वस्थ साधुओं के साथ बैठकर खा भी नहीं सकता और न उनके आहार का लेन-देन ही कर सकता है। आचारांग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध में अन्य मत के साधुओं के साथ आहार पानी के लेन-देन का स्पष्ट निषेध किया गया है। ऐसी स्थिति में वृत्तिकार का अभिमत अवश्य ही विचारणीय है।

आगम में एक स्थान पर गौतम स्वामी मुनि उदक पेढाल पुत्र को कहते हैं कि हे श्रमण ! मुनि किसी गृहस्थ या अन्यतीर्थ (मत के) साधु के साथ आहार नहीं कर सकता ! यदि वह गृहस्थ या अन्य मत का साधु दीक्षा ग्रहण कर ले तो फिर उसके साथ आहार कर सकता है। परन्तु, यदि वह किसी कारणवश दीक्षा का त्याग करके पुनः अपने पूर्व रूप में परिवर्तित हो जाए तो फिर उसके साथ साधु आहार नहीं कर सकता<sup>२</sup>। इससे स्पष्ट होता है कि मुनि का आहार-पानी का सम्बन्ध अपने समान आचार-विचारशील साधु के साथ ही है, अन्य के साथ नहीं।

टब्बाकार वृत्तिकार के कथन के विरोध में है। टब्बाकार का कहना है कि वृत्तिकार ने जिस अपवाद का उल्लेख किया है, वह अपवाद मूल आगम में उल्लिखित नहीं है और दूसरे में अन्य मत के साधुओं से जाकर यह कहना कि गृहस्थ ने यह आहार हम सबके लिए दिया है, अतः साथ बैठकर खा लें या परस्पर बांट लें, प्रत्यक्षतः सावद्य है। अतः जैन मुनि ऐसी भाषा का प्रयोग नहीं कर सकता। अतः इसका तात्पर्य यह है कि गृहस्थ ने जो आहार दिया वह अन्य मत के साधुओं को सम्बोधित करके नहीं, प्रत्युत उक्त साधु के साथ के अन्य सांभोगिक साधुओं को सम्बोधित करके दिया है। अतः वह अपने साथ के अन्य मुनियों के पास जाकर उन्हें वह आहार दिखाएँ और उनके साथ या उन सबका समविभाग करके उस आहार को खाएँ। इस तरह यह सारा प्रसंग अपने समान आचार वाले मुनियों के लिए ही घटित

१ तत्र परतीर्थिकैः सार्द्धं न भोक्तव्यं स्वयुध्यैश्च पार्श्वस्थादिभिः सह, सम्भोगिकैः सहोघा-लोचनां दत्त्वा भुञ्जानानामयं विधिः।

—श्री आचाराङ्ग सूत्र, २, १, ५, २९ वृत्ति।

होता है। यह टब्बाकार का अभिमत है<sup>१</sup>।

वृत्तिकार एवं टब्बाकार दोनों के अभिमतों में टब्बाकार का अभिमत आगम सम्मत प्रतीत होता है। 'गच्छेज्जा' और 'आउसंतो समणा' शब्द टब्बाकार के अभिमत को ही पुष्ट करते हैं। यदि अन्यमत के साधुओं के साथ ही आहार करना होता तो वे सब वहीं गृहस्थ के द्वार पर ही उपस्थित थे, अतः कहीं अन्यत्र जाकर उन्हें दिखाने का कोई प्रसंग उपस्थित नहीं होता और साधु की मर्यादा है कि वह गृहस्थ के घर से ग्रहण किया गया आहार अपने सांभोगिक बड़े साधुओं को दिखाकर सबको आहार करने की प्रार्थना करके फिर आहार ग्रहण करे और यह बात 'गच्छेज्जा' शब्द से स्पष्ट होती है और 'आयुष्मन् श्रमणो' शब्द भी सांभोगिक साधुओं के लिए प्रयुक्त हुआ है, ऐसा इस पाठ से स्पष्ट परिलक्षित होता है।

कुछ हस्त लिखित प्रतियां तथा रवजी भाई देवराज द्वारा प्रकाशित भाषान्तर सहित आचारांग में निम्न पाठ विशेष रूप से मिलता है—

“केवली बूया . . . . . आयाणमेयं” ॥५७३॥

“पुरा पेहाए तस्सट्ठाए परो असणं वा ४ आहट्टु दलएज्जा अहभिवखू णं पुव्वोवादिट्ठा एस पतिन्ना, एस हेउ, एस डवएसो जं णो तेसिं संलोए सपडिदुवारे चिट्ठेज्जा से तमायाए एगंतमवक्कमिज्जा २ अप्पावायमसंलोए चिट्ठेज्जा।” ॥५७४॥

इसका तात्पर्य यह है कि केवली भगवान ने इसे कर्म आने का मार्ग कहा है। (अन्य मत के भिक्षुओं और भिखारियों को लांघकर गृहस्थ के घर में जाने तथा उनके सामने खड़े रहने को)। क्योंकि यदि उनके सामने खड़े हुए मुनि को गृहस्थ देखेगा तो वह उसे वहां आहार आदि पदार्थ लाकर देगा। अतः उनके सामने खड़ा न होने में यह कारण रहा हुआ है तथा यह पूर्वोपदिष्ट है कि साधु उनके सामने खड़ा न रहे। इससे अनेक दोष लगने की संभावना है। आगमोदय समिति से प्रकाशित आचारांग में उक्त पाठ नहीं है।

अब गृहस्थ के घर में प्रवेश के सम्बन्ध में सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्— से भिवखू वा से जं पुण जाणिज्जा-समणं वा माहणं वा**

२ एणे आलवें टीका में कहाँ गृहस्थ साधु ने अणे भिख्यार्यो ने अशन आदि भेलो ते उत्सर्ग थकी तो न लई अणे दुर्भिक्षादिक कारणे लीई ते सूत्र विरुद्ध, पाठमें कारण को नाम चाल्यो न थी, अणे वृत्तिकार अण मिलतो अपवाद बखाणो बली एह नू कह युं अशन आदिक साधु बहरी ते श्रमणादिक समीपे आवी इम कहे तुम्ह सर्व भणी गृहस्थ ए अशनादिक दीधो ते तुम्हें भोगवो बैहचो एहवुं करके ते अन्य तीर्थिक नं साधु इम किम कहे जे ए अशनादिक तुम्हें भोगवो बैहचो, एहतो प्रत्यक्ष सावद्य वचन छे, ते माटे एहवुं जणाव छे-जे श्रमण ब्राह्मणादिक परतीर्थिक गृहस्थ रे घरे देखी साधु एकान्त जई उभो रहे तिण स्थान के अशन आदिक छे ते गृहस्थ आपे कहे सर्व णे मे दीधो ते सर्व घणा सम्भोगिक साधु सम्भवे, पिन पेली भेला अन्य तीर्थिक न सम्भवइ, ते अशनादिक कोई एक साधु वहरी और घणा सांभोगिक साधु अलग उभाछे-ते परते साधु आवी कहे एह आहार सर्व भणी गृहस्थे दीधो, तु मे भोगवो अणे बैहचो-ते सम्भोगी साधु ने इज कहवो कल्पे, ते भणी एह संभोगी साधु ने इज लीधो सम्भवे पिन परतीर्थिक ने न सम्भवे, बली एह अलावा नो पाठनो अर्थ कोई अनैरे पुकारे होई ते पिन केवली कहे ते सत्त छे, मम दोषो न दीयते इति।

गामपिंडोलगं वा अतिहिं वा पुव्वपविट्ठं पेहाए नो ते उवाइक्कम्म पविसिज्ज वा ओभासिज्ज वा ते तमायाय एगंतमवक्कमिज्जा २ अणावायमसंलोए चिट्ठिज्जा, अह पुणेवं जाणिज्जा-पडिसेहिए वा दिन्ने वा तओ तंमि नियत्तिए संजयामेव पविसिज्ज वा ओभासिज्ज वा एयं सामग्गियं त्तिबेमि ॥३० ॥

छाया- स भिक्षुर्वा तद् यत् पुनः जानीयात्- श्रमणं वा ब्राह्मणं वा ग्राम पिंडोलकं वा अतिथिं वा पूर्वप्रविष्टं प्रेक्ष्य न तान् उपातिक्रम्य प्रविशेद् वा अवभाषेद् वा स तमादाय एकान्तमपक्रामेत् २ अनापातासंलोके तिष्ठेत् अथ पुनरेवं जानीयात्- प्रतिषिद्धे वा दने वा ततस्तस्मिन् निवृत्ते संयतमेव प्रविशेद् वा अवभाषेद् वा एतत् सामग्र्यम्, इति ब्रवीमि।

पदार्थ- से-वह। भिक्खू वा- साधु अथवा साध्वी। से जं पुण जाणिज्जा- जो इस प्रकार जाने। समणं वा-शाक्यादि भिक्षु। माहणं वा-अथवा ब्राह्मण। गामपिंडोलगं वा-ग्राम के भिखारी। अतिहिं वा-अथवा अतिथि को। पुव्वपविट्ठं वा-पहले प्रवेश किए हुए को। ते-उनको। उवाइक्कम्म-अतिक्रम करके। नो पविसिज्ज वा- न तो प्रवेश करे और न ही। ओभासिज्ज वा-गृहस्थ से मांगे, परन्तु। से-वह भिक्षु। तमायाय-उन्हें प्रविष्ट हुए जानकर। एगंतमवक्कमिज्जा-एकान्त स्थान में चला जाए, वहां जाकर। अणावायमसंलोए-जहां पर कोई आता-जाता न हो और न देखता हो वहां। चिट्ठेज्जा-खड़ा रहे। अह पुणेवं जाणिज्जा-जब फिर यह जान ले कि। पडिसेहिए वा- गृहस्थ ने उन्हे प्रतिषेध कर दिया है अर्थात् बिना अन्न दिए घर से हटा दिया है अथवा। दिन्ने वा-अन्न दे दिया है। तओ-तदनन्तर। तंमि नियत्तिए-उन भिक्षुओं के घर से चले जाने पर। संजयामेव-संयत-साधु। पविसिज्ज वा-घर में प्रवेश करे अथवा। ओभासिज्ज वा- याचना करे-दाता से मांगे। एयं-यह निश्चय ही साधु अथवा साध्वी का। सामग्गियं-समग्र-सम्पूर्ण साधुत्व-आचार है। त्तिबेमि-ऐसा मैं कहता हूँ।

मूलार्थ-साधु या साध्वी भिक्षा के निमित्त ग्रामादि में जाते हुए गृहपति के घर में प्रवेश करने पर यदि यह जाने कि यहां पर शाक्यादि भिक्षु, ब्राह्मण, ग्राम याचक और अतिथि लोग प्रवेश किए हुए हैं, तो वह उनको लांघ कर गृहपति कुल में न तो प्रवेश करे और न गृहस्थ से आहारादि की याचना करे। परन्तु उनको देखकर एकान्त स्थान में- जहां कोई आता-जाता न हो। वहां पर जाकर ठहर जाए, जब वह यह जान ले कि गृहस्थ ने भिक्षा देकर या बिना दिए ही उनको घर से निकाल दिया है, तो उनके चले जाने पर वह साधु या साध्वी उसके घर में प्रवेश करे और आहार आदि की याचना करे। यही साधु या साध्वी का सम्पूर्ण आचार है। ऐसा मैं कहता हूँ।

हिन्दी विवेचन- प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि यदि किसी गृहस्थ के द्वार पर पहले से ही शाक्यादि मत के भिक्षु खड़े हैं, तो मुनि उन्हें उल्लंघ कर गृहस्थ के घर में प्रवेश न करे और न आहार आदि पदार्थों की याचना करे। उस समय वह एकान्त में ऐसे स्थान पर जाकर खड़ा हो जाए, जहां पर गृहस्थादि की दृष्टि न पड़े। और जब वे अन्य मत के भिक्षु भिक्षा लेकर वहां से हट जाएं या गृहस्थ उन्हें

बिना भिक्षा दिए ही वहां से हटा दे, तब मुनि उस घर में भिक्षार्थ जा सकता है और निर्दोष एवं एषणीय आहार आदि पदार्थ ग्रहण कर सकता है।

अन्य मत के भिक्षुओं को उल्लंघन करने से गृहस्थ के मन में भी द्वेष-भाव आ सकता है कि यह कैसा साधु है, इसे इतना भी विवेक नहीं है कि पहले द्वार पर खड़े व्यक्ति को लांघ कर अन्दर आ गया है। उसके मन में यह भी आ सकता है कि क्या भिक्षा के लिए सभी भिक्षुओं को मेरा ही घर फालतू मिला है। और गृहस्थ भक्तिवश मुनि को देखकर उन्हें पहले आहार देने लगेगा तो इससे उन भिक्षुओं की वृत्ति में अंतराय पड़ेगी। और इस कारण वे गृहस्थ को पक्षपाती कह सकते हैं और साधु को भी बुरा-भला कह सकते हैं। अतः मुनि को ऐसे समय पर एकान्त स्थान में खड़े रहना चाहिए, किन्तु अन्य मत के भिक्षुओं एवं अन्य भिखारियों को उल्लंघन कर किसी भी गृहस्थ के घर में प्रविष्ट नहीं होना चाहिए।

यदि साधु के प्रवेश करने के पश्चात् कोई अन्य मत का भिक्षु या भिखारी आता हो तो उस साधु के लिए उस घर से आहार लेने का निषेध नहीं है। प्रस्तुत सूत्र से यह भी स्पष्ट होता है कि उस युग में सभी घरों में सब तरह के भिक्षुओं को दान देने की परम्परा नहीं थी। कई व्यक्ति भिक्षुओं को बिना कुछ दिए ही खाली हाथ लौटा देते थे।

‘त्तिबेमि’ की व्याख्या पूर्ववत् समझनी चाहिए।

॥ पञ्चम उद्देशक समाप्त ॥

## प्रथम अध्ययन पिण्डैषणा

### षष्ठ उद्देशक

पञ्चम उद्देशक में अन्य मत के भिक्षुओं को लांघ कर जाने का निषेध किया गया है। अब प्रस्तुत उद्देशक में अन्य प्राणियों की वृत्ति में अन्तराय डालने का निषेध करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्—** से भिक्खू वा० से जं पुण जाणिज्जा-रसेसिणो-बहवे पाणा घासेसणाए-संथडे संनिवइए पेहाए, तंजहा— कुक्कुडजाइयं वा सूयरजाइयं वा अग्रपिंडंसि वा वायसा संथडा संनिवइया पेहाए सइ परक्कमे संजयामेव नो उज्जुयं गच्छिज्जा ॥३१ ॥

**छाया—** स भिक्षुर्वा तद् यत् पुनः जानीयात्- रसैषिणः बहवः प्राणाः- प्राणिनः ग्रासार्थं संस्कृतान् ( संस्तृतान् ) संनिपतितान् प्रेक्ष्य-तद्यथा-कुक्कुटजातिकं वा शूकरजातिकं वा अग्रपिंडे वा वायसान् संस्कृतान् ( संस्तृतान् ) संनिपतितान् प्रेक्ष्य सति पराक्रमे संयतः न ऋजुकं गच्छेत् ।

**पदार्थ—** से-वह। भिक्खू वा ४- साधु अथवा साध्वी। से जं पुण जाणिज्जा-जो फिर मार्ग आदि को जाने कि मार्ग में। बहवे-बहुत से। पाणा-प्राणी-जीव जन्तु। रसेसिणो-रस की गवेषणा करने वाले। घासेसणाए-आहार के लिए। संथडे-एकत्रित हो रहे हैं। संनिवइए-मार्ग में बैठे हुए हैं, उनको। पेहाए-देख कर। तंजहा-जैसे कि। कुक्कुडजाइयं वा-कुक्कुड़ की जाति के जीव अथवा। सूयरजाइयं वा-सूअर की जाति के। वा-अथवा। अग्रपिंडंसि-अग्रपिंड आहार को खाने के लिए। वायसा-कौवे। संथडा-एकत्रित हो रहे हैं या। संनिवइया-मार्ग में बैठे हुए हैं, तो इन सबको। पेहाए-देखकर। सइ परक्कमे-मार्गान्तर-अन्य मार्ग के होने पर। संजयामेव-संयत-साधु। उज्जुयं-सरल मार्ग से अर्थात् उन जीवों के सन्मुख होकर। नो गच्छिज्जा-न जाए।

**मूलार्थ—**साधु या साध्वी मार्ग में जाते हुए यदि यह जान ले कि रस की गवेषणा करने वाले बहुत से प्राणी एकत्रित होकर मार्ग में खड़े हुए हैं— जैसे कि कुक्कुट जाति के जीव, शूकर-सूअर जाति के तथा अग्रपिंड के भोजनार्थ मार्ग में एकत्र होकर बैठे हुए कौवे आदि जीव रास्ते में बैठे हैं, तो इनको देखकर साधु या साध्वी अन्य मार्ग के होते हुए उस मार्ग से न जाए।

**हिन्दी विवेचन—**प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि जिस रास्ते में भोजन की कामना से कुक्कुट

आदि पक्षी या सूअर आदि पशु बैठे हों या अग्रपिंड के भक्षणार्थ कौवे आदि एकत्रित होकर बैठे हों तो अन्य रास्ते के होते हुए मुनि को उन्हें उल्लंघनकर उस रास्ते से नहीं जाना चाहिए। क्योंकि मुनि को देखकर वे पशु-पक्षी भय के कारण इधर-उधर भाग जाएंगे या उड़ जाएंगे। इससे उन्हें प्राप्त होने वाले भोजन में अंतराय पड़ेगी और साधु के कारण उनके उड़ने या भागने से वायुकायिक जीवों एवं अन्य प्राणियों की अयत्ना (हिंसा) होगी। और कभी वे पशु जंगल में भाग गए और हिंस्र जन्तु की लपेट में आ गए तो उनका वध भी हो जाएगा। अतः साधु को जहां तक अन्य पथ हो तो ऐसे रास्ते से आहार आदि के लिए नहीं जाना चाहिए। इससे स्पष्ट हो जाता है कि साधु का जीवन दया एवं रक्षा की भावना से कितना ओत-प्रोत होता है। यही साधुता का आदर्श है कि उसका जीवन प्रत्येक प्राणी के हित की भावना से भरा होता है। वह स्वयं कष्ट सह लेता है, परन्तु अन्य प्राणियों को कष्ट नहीं देता।

गृहस्थ के घर में प्रवेश करने के बाद साधु को वहां किस वृत्ति से खड़े होना चाहिए, इस सम्बन्ध में उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्—** से भिक्खू वा २ जाव पविट्ठेसमाणे नो गाहावइकुलस्स दुवारसाहं अवलंबिय २ चिट्ठिज्जा, नो गा० दगच्छड्डणमत्तए चिट्ठिज्जा, नो गा० चंदणिउयए चिट्ठिज्जा, नो गा० सिणाणस्स वा वच्चस्स वा संलोए सपडिदुवारे चिट्ठिज्जा, नो आलोयं वा, थिग्गलं वा, सन्धिं वा, दगभवणं वा, बाहाओ पगिज्झिय २ अंगुलियाए वा उद्दिसिय २ उण्णमिय २ अवनमिय २ निज्झाइज्जा, नो गाहावइं अंगुलियाए उद्दिसिय २ जाइज्जा, नो गा० अंगुलियाए चालिय २ जाइज्जा, नो गा० अं० तज्जिय २ जाइज्जा, नो० गा० अं० उक्खुलंपिय ( उक्खुलुंदिय ) २ जाइज्जा, नो गाहावइं वंदिय २ जाइज्जा, न वयणं फरुसं वइज्जा ।३२ ।

**छाया—** स भिक्षुर्वा यावत् न गृहपतिकुलस्य द्वारशाखाम् अबलंब्य तिष्ठेत् न गृहपति उदकप्रतिष्ठापनमात्रके तिष्ठेत् न गृ० आचमनोदके तिष्ठेत् न गृ० स्नानस्य वा वर्चस्य वा संलोके तत् प्रतिद्वारे तिष्ठेत् न० आलोकस्थानं वा थिग्गलं वा सन्धिं वा उदकभवनं वा बाहून् प्रगृह्य २ अंगुल्योद्दिश्य वा उन्नम्य २ अवनम्य २ निध्यापयेत् न गृहपतिं अंगुल्योद्दिश्य २ याचेत् नो गृहपतिं अंगुल्या चालयित्वा याचेत् नो गृहपतिं अंगुल्या तर्जयित्वा याचेत् नो गृहपतिं अंगुल्या कंडूयित्वा याचेत् न गृहपतिं वंदित्वा याचेत्, न वचनं परुषं वदेत् ।

**पदार्थ—** से-वह। भिक्खू वा २- साधु अथवा साध्वी। जाव-यावत् भिक्षा के लिए प्रवेश करने पर। गाहावइकुलस्स-गृहस्थ के घर की। दुवारसाहं-द्वार शाखा को। अवलंबिय २-अवलम्बन करके-बार-बार पकड़ कर। नो चिट्ठिज्जा-खड़ा न हो। गा०-गृहपति के घर। दगच्छड्डणमत्तए-जहां पर उपकरणों-

बर्तनों के धोवन का पानी गिराया जाता हो वहां पर। नो चिट्ठिज्जा-खड़ा न हो तथा। गा०-गृहपति के घर में। चंदणिययए-जिस स्थान पर आचमन-पीने का पानी बहाया जाता हो या बहता हो वहां पर। नो चिट्ठिज्जा-खड़ा न हो। गा०-गृहपति के घर में। सिणाणस्स वा-जहां स्नान किया जाता हो वहां पर अथवा। वच्चस्स वा-जहां मलोत्सर्ग किया जाता हो या। संलोए-दृष्टि पड़ती हो तात्पर्य यह कि जहां स्नान करते या मलोत्सर्ग करते हुए गृहस्थ पर दृष्टि पड़ती हो ऐसे स्थान पर तथा। सपडिदुवारे-दरवाजे के सामने। नो चिट्ठिज्जा-खड़ा न हो तथा। गा०-गृहपति कुल के। आलोयं वा-गवाक्ष आदि को। थिग्गलं वा-किसी गिरे हुए भित्ति प्रदेश को फिर से संस्कारित किया हो उसको तथा। संधिं वा-चोर आदि के द्वारा तोड़ी हुई भीत का जहां फिर से अनुसंधान किया गया हो उसको अथवा। दगभवणं वा-उदक भवन जल का घर; उसको। बाहाओ-भुजाओं को। पगिज्झिय २-बार-बार पसार कर। अंगुलियाए वा-अंगुली को। उदिसिय २-उद्देश कर और। उण्णमिय २-काया को ऊंची कर। अवनमिय २-काया को नीची करके। नो निज्झाइज्जा-न देखे और न दूसरों को दिखाए। गाहावडं अंगुलियाए-वह भिक्षु गृहपति कुल में प्रविष्ट होने पर गृहपति को अंगुली से। उदिसिय-नितान्त उद्देश्य करके। नो जाइज्जा-याचना न करे न मांगे। गा०-गृहपति के घर में। अंगुलियाए चालिय-अंगुली को चलाकर। नो जाइज्जा-याचना न करे। गा० अ०-गृहपति के घर में अंगुली से। तज्जियं-तर्जना करके-भय दिखाकर। नो जाइज्जा-न मांगे। गा० अं०-गृहपति के कुल में अंगुली से अंगोपांगों को। उक्खुलंपिय उक्खुलंपिय-खुजाकर। नो जाइज्जा-न मांगे। गाहावडं-गृहपति की। वंदिय २-बार-बार स्तुति करके प्रशंसा करके। नो जाइज्जा-याचना न करे, तथा भिक्षादिक के न देने पर उसे। फरुसं-कठोर। वयणं-वचन। नो वडज्जा-न बोले।

**मूलार्थ**—आहार आदि के लिए गृहस्थ के घर में प्रविष्ट साधु या सार्ध्वी गृहस्थ के घर के द्वार को पकड़ कर खड़ा न हो, जहां बर्तनों को मांज-धोकर पानी गिराया जाता हो, वहां खड़ा न हो, जहां पीने का पानी बह रहा हो या बहाया जाता हो तो वहां खड़ा न हो। जहां स्नानघर, पेशाबघर या शौचालय हो वहां एवं उसके सामने खड़ा न हो और गृहस्थ के झरोखों को, दुबारा बनाई गई दीवारों को, दो दीवारों की सन्धि को और पानी के कमरे को अपनी भुजाएं फैलाकर या अंगुली का निर्देश करके या शरीर को ऊपर या नीचे करके न तो स्वयं देखे और न अन्य को दिखाए। और गृहस्थ को अंगुली से निर्देश करके [ जैसे कि यह अमुक खाद्य वस्तु मुझे दो ] आहार की याचना न करे। इसी तरह अंगुली चलाकर या अंगुली से भय दिखाकर या अंगुली से शरीर को खुजाते हुए या गृहस्थ की प्रशंसा करके आहार की याचना न करे और कभी गृहस्थ के आहार न देने पर उसे कठोर वचन न कहे।

**हिन्दी विवेचन**— प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि गृहस्थ के घर में प्रविष्ट मुनि को चञ्चलता एवं चपलता का त्याग करके स्थिर दृष्टि से खड़े होना चाहिए। इसमें बताया गया है कि मुनि को गृहस्थ के द्वार की शाखा को पकड़ कर खड़ा नहीं होना चाहिए। क्योंकि यदि वह जीर्ण है तो गिर जाएगी, इससे मुनि को भी चोट लगेगी, उसके संयम की विराधना होगी और अन्य प्राणियों की भी हिंसा होगी। वह जीर्ण तो नहीं है, परन्तु कमजोर है तो आगे-पीछे हो जाएगी, इस तरह उसको पकड़कर खड़े होने से

अनेक तरह के दोष लगने की सम्भावना है। इसी तरह मुनि को उस स्थान पर भी खड़े नहीं रहना चाहिए जहां बर्तनों को मांज-धो कर पानी गिराया जाता है, स्नानघर, शौचालय या पेशाबघर है। क्योंकि ऐसे स्थान पर खड़े रहने से प्रवचन की जुगुप्सा-घृणा होने की सम्भावना है। और स्नानघर आदि के सामने खड़े होने से गृहस्थों के मन में अनेक तरह की शंकाएं पैदा हो सकती हैं। इसी प्रकार झरोखों, नव निर्मित दीवारों या दीवारों की सन्धि की ओर देखने से साधु के सभ्य व्यवहार में कुछ दोष आता है।

भिक्षा ग्रहण करते समय अंगुली आदि से संकेत करके पदार्थ लेने से साधु की रस लोलुपता प्रकट होती है और तर्जना एवं प्रशंसा द्वारा भिक्षा लेने से साधु के अभिमान एवं दीन भाव का प्रदर्शन होता है। अतः साधु को भिक्षा ग्रहण करते समय किसी भी तरह की शारीरिक चेष्टाएं एवं संकेत नहीं करने चाहिए। इसके अतिरिक्त यदि कोई गृहस्थ साधु को भिक्षा देने से इन्कार कर दे तो साधु को उस पर क्रोध नहीं करना चाहिए और न उन्हें कटु एवं कठोर वचन ही कहना चाहिए। साधु का यह कर्तव्य है कि वह बिना कुछ कहे एवं मन में भी किसी तरह की दुर्भावना लाए बिना तथा संक्लेश का संवेदन किए बिना शान्त भाव से गृहस्थ के घर से बाहर आ जाए।

इस सूत्र से साधु जीवन की धीरता, गम्भीरता, निरभिमानता, अनासक्ति एवं सहिष्णुता का स्पष्ट परिचय मिलता है और इन्हीं गुणों के विकास में साधुता स्थित रहती है। इसी विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्—** अह तत्थ कंचि भुंजमाणं पेहाए गाहावडं वा० जाव कम्मकरिं वा से पुव्वामेव आलोइज्जा— आउसोत्ति वा भइणित्ति वा दाहिसि मे इत्तो अन्नयरं भोयणजायं ! से सेवं वयंतस्स परो हत्थं वा मत्तं वा दव्विं वा भायणं वा सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलिज्ज वा पहोइज्ज वा, से पुव्वामेव आलोइज्जा—आउसोत्ति वा भइणित्ति वा ! मा एयं तुमं हत्थं वा ४ सीओदगवियडेण वा २ उच्छोलेहि वा २ अभिकंखसि मे दाउं एवमेव दलयाहि से सेवं वयंतस्स परोहत्थं वा ४ सीओ० उसि० उच्छोलित्ता पहोइत्ता आहट्टु दलइज्जा तहप्पगारेणं पुरेकम्मएणं हत्थेण वा ४ असणं वा ४ अफासुयं जाव नो पडिग्गाहिज्जा । अह पुणेवं जाणिज्जा नो पुरेकम्मएणं उदउल्लेणं तहप्पगारेणं वा उदउल्लेण ( ससिणिद्धेण ) वा हत्थेण वा ४ असणं वा ४ अफासुयं जाव नो पडिग्गाहिज्जा । अह पुणेवं जाणिज्जा—नो उदउल्लेण ससिणिद्धेण सेसं तं चेव, एवं ससरक्खे उदउल्ले ससिणिद्धे मट्ठियाउसे । हरियाले हिंगुलुए मणोसिला अंजणे लोणे ॥१॥



गेरुय वन्निय सेढिय, सोरट्ठिय पिट्ठ कुक्कुस उक्कुट्ठ संसट्ठेण ।  
अह पुणेवं जाणिजा नो असंसट्ठे संसट्ठे, तहप्पगारेण संसट्ठेण हत्थेण वा ४  
असणं वा ४ फासुयं जाव पडिग्गाहिजा ॥३३॥

छाया- अथ तत्र कंचन भुंजानं प्रेक्ष्य गृहपतिं वा यावत् कर्मकरीं वा स पूर्वमेव आलोचयेत्, आयुष्मन् ! इति वा भगिनि ! इति वा दास्यसि मे इतः अन्यतरं भोजनजातम् ? स तस्यैवं वदतः परः हस्तं वा मात्रं वा दर्वीं वां भाजनं वा शीतोदकविकटेन वा उष्णोदकविकटेन वा उत्क्षालयेत्-प्रक्षालयेद् वा प्रधावयेद् वा, स पूर्वमेव आलोचयेत्-आयुष्मन् ! इति वा भगिनि ! इति वा मा एवं त्वं हस्तं वा ४ शीतोदकविकटेन वा २ उत्क्षाल्य वा २ अभिकांक्षसि मे दातुं एवमेव ददस्व ? स तस्यैवं वदतः परः हस्तं वा ४ शीतोदकं उष्णोदकं उत्क्षाल्य प्रधावव्य आहत्य दद्यात्, तथाप्रकारेण पूर्वकर्मणा हस्तेन वा ४ अशनं वा ४ अप्रासुकं ४ यावत् नो प्रतिगृणहीयात् । अथ पुनरेवं जानीयात्-नो पुरः कर्मणा उदकार्द्रेण तथा प्रकारेण वा उदकार्द्रेण सस्निग्धेन वा हस्तेन वा ४ अशनं वा ४ अप्रासुकं यावत् न प्रतिगृणहीयात् । अथ पुनरेवं जानीयात् न उदकार्द्रेण सस्निग्धेन् शेषं तच्चैव एवं सरजस्केन उदकार्द्रेण सस्निग्धेन ससिनग्धा मृत्तिका उषः ( क्षारमृत्तिका ) हरिताल, हिंगुलकं मनः शिला अञ्जनं लवणम् । गैरिक वर्णिक सेटिक सौराष्ट्रिक पिष्ट कुक्कुस उत्कृष्ट संस्पृष्टेन । अथ पुनरेवं जानीयात्-न असंसृष्टः संसृष्टः तथाप्रकारेण संसृष्टेन हस्तेन वा ४ अशनं वा ४ प्रासुकं यावत् प्रतिगृणहीयात् ।

पदार्थ- अह-अथ भिक्षु । तत्थ-गृहपति कुल में प्रवेश करने पर वहां । कंचि-किसी गृहस्थ को । भुंजमाणं-खाते हुए को । पेहाए-देखकर जैसे कि । गाहावइं वा-गृहपति उसकी पत्नी । जाव-यावत् । कम्मकरी-कर्मकरी । से-वह भिक्षु । पुव्वामेव-पहले ही । आलोएज्जा-विचार करे और कहे । आउसोत्ति वा-हे आयुष्मन् गृहपते ! अथवा । भइणित्ति वा-हे भगिनि ! हे बहिन ! मे-मुझे । इत्तो-इस आहार में से । अन्नयरं-अन्यतर । भोयणजायं-भोजन । दाहिसि-देगी ? से-यह अथ के अर्थ में है । से एवं-उसके इस प्रकार । वयंतस्स-कहने पर । परो-गृहपति आदि यदि । हत्थं वा-हाथ को । मत्तं वा-पात्र को । दव्विं वा-दर्वी-कड़छी को । भायणं वा-अथवा अन्य भाजनादि को । सीओदगवियडेण वा-निर्मल शीतल जल से । उसिणोदगवियडेण वा-थोड़े उष्ण जल से अर्थात् मिश्रित पानी से । उच्छोलिज्ज वा-एक बार धोवे- । पहोइज्ज वा-अथवा बार-बार धोवे तब । से-वह-भिक्षु । पुव्वामेव-पहले ही । आलोइज्जा-धोने के लिए तत्पर हुए को देखकर विचार करे और इस प्रकार कहे । आउसोत्ति वा-हे आयुष्मन् ! गृहपते ! भइणित्ति वा-हे भगिनि !-हे बहिन ! एयं तुमं-तुम इस प्रकार । हत्थं वा ४-हाथ पात्र और और अन्य भोजन आदि को । सीओदगवियडेण वा-शीतल जल से अथवा उष्ण-थोड़े गर्म जल से या मिश्रित जल से । मा उच्छोलेहि वा २-एक बार अथवा बार-बार प्रक्षालन न करो । मे-दाउं अभिकंखसि-यदि तुम मुझे आहार देना चाहती हो तो । एवमेव-इसी प्रकार अर्थात् बिना ही हस्तादि के

प्रक्षालन किए। दलयाहि-दे दो। से-अथ। सेवं वयंतस्स-उस भिक्षु के इस प्रकार बोलने पर। परो-गृहस्थादि। हत्थं वा ४-हस्त, पात्र और भाजनादि को। सीओ-शीतोदक से अथवा। उस्सि-उष्णोदक से। उच्छोलित्ता-धोकर। प्होइत्ता-बार-बार धोकर तथा धोने के अनन्तर। आहट्टु-भोजन लाकर यदि। दलइज्जा-देवे तो। तहप्पगारेणं-तथा प्रकार के। पुरेकम्मएणं-जिनका पहले ही धोवन आदि किया गया है। हत्थेण वा-हस्तादि से। असणं वा ४-लाए हुए अशनादिक चतुर्विध आहार को। अफासुयं-अप्रासुक जानकर। जाव-यावत्। नो पडिग्गाहिज्जा-साधु ग्रहण न करे। अह-अथ-यदि। पुण-फिर। एवं-इस प्रकार। जाणिज्जा-जाने। नो पुरेकम्मएणं-हस्तादि का प्रक्षालन नहीं किया, अर्थात् साधु को भिक्षा देने के निमित्त हस्तादि नहीं धोए। किन्तु वे पहले ही। उदउल्लेणं वा-जल से आर्द्र-गीले हैं। तहप्पगारेणं-तथा प्रकार के। उदउल्लेण वा-जल से आर्द्र-गीले हैं उनसे या। हत्थेण वा-हाथ आदि से लाया हुआ। असणं वा ४-अशनादिक चतुर्विध आहार, यदि गृहस्थ दे तो उसे। अफासुयं-अप्रासुक जानकर। जाव-यावत्। नो पडिग्गाहिज्जा-साधु ग्रहण न करे। अह-अथ-यदि। पुणेवं-फिर इस प्रकार। जाणिज्जा-जाने कि। नो उदउल्लेण-हाथ आदि जल से आर्द्र-गीले नहीं हैं और। ससिणिद्धेण-स्निग्ध हस्तादि से गृहस्थी आहार दे तो ग्रहण कर लेवे। सेसं तं चेष-शेष वही जानना अर्थात् जलादि से आर्द्र अथवा स्निग्ध हाथ से यदि गृहस्थ साधु को अशनादि चतुर्विध आहार दे तो वह उसे स्वीकार न करे। एवं-इसी प्रकार। ससरक्खे उदउल्ले-रजो युक्त आर्द्र पानी। ससिणिद्धे मट्टिया-उसे-स्नेह युक्त साधारण मृत्तिका एवं क्षार मृत्तिका। हरियाले-हरिताल। हिंगुलुए-शिंगरफ। मणोसिला-मनः शिला। अंजणे-अंजन। लोणे-लवण। गेरुय-गेरु से। बन्निय-पीली मिट्टी से। सेठिय-खड़िया मिट्टी से। सोरट्ठय-तुवरिकासे। पिट्ठ-बिना छाने हुए चूर्ण से। कुक्कुस-चूर्ण के छान से। उक्कुट्ठ संसट्ठेण-पीलु पर्णिका आदि वनस्पति के चूर्ण से स्पर्शित हाथों से अथवा कालिंगादि फल के सूक्ष्म खण्डों से स्पर्शित हाथों से। अह पुणेवं-अथ-यदि फिर इस प्रकार। जाणिज्जा-जाने कि। नो असंसट्ठे-सचित्त पदार्थों से हाथ का स्पर्श नहीं हुआ है। संसट्ठे-देने योग्य पदार्थों से हाथ संस्पृष्ट है-हाथ का स्पर्श है। तहप्पगारेणं-तथा प्रकार के। संसट्ठेण-संस्पृष्ट स्पर्शित। हत्थेण वा ४-हाथों से। असणं वा ४-वह गृहस्थ आहार-पानी आदि दे रहा है तो। फासुयं-उसे प्रासुक जानकर। जाव-यावत्-पडिग्गाहिज्जा-साधु ग्रहण कर ले।

**मूलार्थ**—गृहपति कुल में प्रवेश करने पर साधु या साध्वी यदि किसी व्यक्ति को भोजन करते हुए देखे तो गृहपति या उसकी पत्नी, पुत्र या पुत्री एवं अन्य काम करने वाले व्यक्तियों को अपने मन में सोच-विचार कर कहे कि हे आयुष्मन् ! गृहस्थ ! अथवा हे बहिन ! तुम इस भोजन में से कुछ भोजन मुझे दोगे ? उस भिक्षु के इस प्रकार बोलने पर यदि वह गृहस्थ अपने हाथ को, पात्र को अथवा कड़छी या अन्य किसी बर्तन विशेष को निर्मल जल से या थोड़े उष्णजल से ( मिश्र जल ) से एक बार या एक से अधिक बार धोने लगे तो वह भिक्षु पहले ही उसे देखकर और विचार कर कहे कि आयुष्मन् गृहपते या भगिनि बहिन ! तू इस प्रकार शीतल अथवा अल्प उष्ण जल से अपने हाथ एवं बर्तनादि का प्रक्षालन मत कर ! यदि तू मुझे भोजन देना चाहती है तो ऐसे

ही दे दे। उस भिक्षु के इस प्रकार कहने पर भी यदि वह गृहस्थ आदि शीतल या थोड़े उष्णजल से हस्तादि का एक अथवा अनेक बार प्रक्षालन करे और तदनन्तर अशनादि चतुर्विध आहार लाकर दे तो इस प्रकार के गीले हाथ आदि से लाए गए आहार को अप्रासुक जानकर साधु ग्रहण न करे।

गृहस्थ के घर में भिक्षार्थ प्रविष्ट हुआ साधु यदि यह जाने कि गृहस्थ ने साधु को भिक्षा देने के लिए हस्तादि का प्रक्षालन नहीं किया है किन्तु किसी दूसरे ही अनुष्ठान से-काम से हस्त आदि जल से आर्द्र हो रहे हैं, ऐसे हाथों से या पात्र से ( जो जल से आर्द्र अथवा स्निग्ध हों ) लाकर दिया गया भोजन भी अप्रासुक होने से साधु ग्रहण न करे।

यदि गृहस्थ के हाथ या पात्र आदि जल से आर्द्र नहीं हैं, उनसे जल बिन्दु भी नहीं टपकते हैं किन्तु जल से स्निग्ध हैं-कुछ गीलों से हैं। तो भी उन हाथों से दिया गया अशनादिक चतुर्विध आहार अप्रासुक जान कर साधु को ग्रहण नहीं करना चाहिए।

इसी प्रकार सचित्त रज से, सचित्त जल से स्निग्ध हस्तादि, सचित्त मिट्टी, खारी मिट्टी, हरिताल, हिंगुल, सिंगरफ, मनसिल, अंजन, लवण, गेरु, पीली मिट्टी, खड़िया मिट्टी, तुवरिका, पिष्ट-बिना छाना तन्दुल चूर्ण, कुक्कुस चूर्ण का छाणस और पीतु पर्णिका के आर्द्र पत्रों का चूर्ण इत्यादि से युक्त हस्तादि से दिए गए आहार को भी साधु ग्रहण न करे। परन्तु यदि उनके हाथ सचित्त जल, मिट्टी आदि से संस्पृष्ट युक्त नहीं है किन्तु जो पदार्थ देना है उसी पदार्थ से हस्तादि का स्पर्श हो रहा है तो ऐसे हाथों एवं बर्तन आदि से दिया गया आहार-पानी प्रासुक होने से साधु उसे ग्रहण कर सकता है।

**हिन्दी विवेचन-** प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि यदि साधु गृहस्थ के घर में प्रविष्ट होते समय यह देखे कि गृहपति या उसकी पत्नी या पुत्र या पुत्री या दास-दासी भोजन कर रहा है; तो वह उसे यदि वह गृहपति या उसका पुत्र है तो हे आयुष्मन् ! और यदि वह स्त्री है तो हे बहन !, भगिनि ! आदि सम्बोधन से सम्बोधित करके पूछे कि क्या तुम मुझे आहार दोगे या दोगी ? इस पर यदि वह व्यक्ति शीतल(सचित्त) जल से या स्वल्प-उष्ण (मिश्र) जल से अपने हाथ धोकर आहार देने का प्रयत्न करे, तो उसे ऐसा करते हुए देखकर कहे कि इस तरह सचित्त एवं मिश्र जल से हाथ धोकर आहार न दें, बिना हाथ धोए ही दे दें। इस पर भी वह न माने और उस जल से हाथ धोकर आहार दे तो उस आहार को अप्रासुक समझ कर साधु उसे ग्रहण न करे।

यदि गृहस्थ ने साधु को आहार देने के लिए सचित्त जल से हाथ नहीं धोए हैं, परन्तु अपने कार्यवश उसने हाथ धोए हैं और अब वह उन गीले हाथों से या गीले पात्र से आहार दे रहा है तब भी साधु उस आहार को ग्रहण न करे। इसी तरह सचित्त रज, मिट्टी, खार आदि से हाथ या पात्र भरे हों तो भी उन हाथों या पात्र से साधु आहार ग्रहण न करे। यदि किसी व्यक्ति ने सचित्त जल से हाथ या पात्र नहीं धोए हैं और उसके हाथ या पात्र गीले भी नहीं हैं या अन्य सचित्त पदार्थों से संस्पृष्ट नहीं हैं, तो ऐसे प्रासुक एवं एषणीय आहार को साधु ग्रहण कर सकता है।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'उदउल्ले और ससिणिद्धे' शब्द में इतना ही अंतर है कि पानी से धोने के

बाद जिस हाथ से जल की बूंदें टपकती हों उसे जलार्द्र कहते हैं और जिससे बूंदें नहीं टपकती हों परन्तु गीला हो उसे स्निग्ध कहते हैं।

आचारांग की कुछ प्रतियों में 'अफासुयं' के साथ 'अणोसणिज्जं' शब्द भी मिलता है, वृत्तिकार ने भी अप्रासुक और अनेषणीय आहार लेने का निषेध किया है। यहां पर यह प्रश्न हो सकता है कि प्रासुक शब्द का व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ है— निर्जीव<sup>१</sup>। अतः अप्रासुक का अर्थ हुआ सजीव पदार्थ। अतः सचित्त जल से हाथ या पात्र धोने मात्र से पदार्थ अप्रासुक कैसे हो जाते हैं ?

इसका समाधान यह है कि प्रस्तुत प्रकरण में इस शब्द का प्रयोग अकल्पनीय अर्थ में हुआ है और उसके समान होने के कारण इसे भी अप्रासुक कहा गया है और मध्यम पद लोपी समास के सदृश होने से यहां इसे ग्रहण किया गया है। जैसे राजप्रश्नीयसूत्र में वैक्रिय से उत्पन्न किए गए अचित्त पुष्पों के लिए जलज एवं स्थलज शब्दों का प्रयोग किया गया है। जब कि वे जलज एवं स्थलज नहीं हैं। परन्तु, उनके समान दिखाई देने के कारण उन्हें जलज एवं स्थलज कहा गया है। इसी तरह अप्रासुक शब्द अकल्पनीय शब्द के समान होने के कारण यहां उसे ग्रहण किया गया है।

अब आहार की गवेषणा के सम्बन्ध में उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्— से भिक्खू वा २ से जं पुण एवं जाणिज्जा पिहुयं वा बहुरयं वा जाव चाउलपलंबं वा असंजए भिक्खुपडियाए चित्तमंताए सिलाए जाव ससंताणाए कुट्टिसु वा कुट्टन्ति वा कुट्टिस्संति वा उप्फणिंसु वा ३ तहप्पगारं पिहुयं वा० अफासुयं नो पडिग्गाहिज्जा ॥३४ ॥**

छाया— स भिक्षुर्वा २ अथ पुनरेवं जानीयात्—पृथुकं वा बहुरजसं वा यावत् तन्दुलप्रलम्बं वा असंयतः भिक्षुप्रतिज्ञया चित्तमत्यां शिलायां यावत् संतानोपेतायां अकुट्टिषुः, कुट्टन्ति वा कुट्टिष्यन्ति वा अदुः ३ वा तथाप्रकारं २ पृथुकं वा अप्रासुकं न प्रतिगृण्हीयात्।

पदार्थ— से—वह। भिक्खू वा—साधु या साध्वी। से—अथ। जं—जिस आहार आदि को। पुण—फिर। एवं—इस प्रकार से। जाणिज्जा—जाने। पिहुयं वा—शाल्यादि के कण अथवा। बहुरयं वा—बहुत रज वाले शाल्यादि के कण। जाव—यावत्। चाउलपलंबं वा—अर्द्धपक्व शाल्यादि कण। असंजए—गृहस्थ ने। भिक्खुपडियाए—भिक्षु को देने के लिए। चित्तमंताए सिलाए—सचित्त शिला पर। जाव—यावत्। ससंताणाए—मकड़ी के जाला आदि से युक्त काष्ठ आदि पर। कुट्टिसु वा—उन धान्य के दानों को कूट कर रखा है। कुट्टन्ति—या कूट रहा है या। कुट्टिस्संति वा—कूटेगा या उसने। उप्फणिंसु वा—साधु के निमित्त धान्यादि को भूसी से पृथक् किया है, कर रहा है या करेगा। तहप्पगारं—तथा प्रकार के। पिहुयं वा—शाल्यादि कण मिलने पर साधु। अफासुयं—उन्हें अप्रासुक जानकर। नो पडिग्गाहिज्जा—ग्रहण न करे।

**मूलार्थ—**गृहस्थ के घर में आहार के लिए प्रविष्ट साधु-साध्वी को यह ज्ञात हो जाए कि चावल के दाने सचित्त रज से युक्त हैं, अपक्व या गृहस्थ ने साधु के लिए सचित्त शिला पर या मकड़ी के जालों से युक्त शिला पर कूटा है, या कूट रहा है या कूटेगा। और इसी तरह यदि साधु के लिए चावलों को भूसी से पृथक किया है, कर रहा है या करेगा तो साधु इस प्रकार के चावलों को अप्रासुक जानकर ग्रहण न करे।

**हिन्दी विवेचन—**प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि यदि कोई गृहस्थ सचित्त रज कर्णों से युक्त चावल आदि अनाज के दानों को या अर्द्ध पक्व चावल आदि के दानों को सचित्त शिला पर पीस कर या वायु में झटक कर उन दानों को साधु को दे तो साधु उन्हें अप्रासुक समझकर ग्रहण न करे। इससे समस्त सचित्त अनाज के दाने तथा सचित्त वनस्पति एवं बीज आदि का समावेश हो जाता है। यदि कोई गृहस्थ इन्हें सचित्त शिला पर कूट-पीस कर दे या वायु में झटक कर उन्हें साफ करके दे तो साधु उन्हें कदापि ग्रहण न करे।

'कुट्टिसु' आदि क्रिया पदों में एकवचन की जगह जो बहुवचन का प्रयोग किया गया है, वह आर्ष वचन होने के कारण उसे 'तिङ् प्रत्यय' का एक वचन समझना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र का तात्पर्य यह है कि सचित्त अनाज एवं वनस्पति आदि तो साधु को किसी भी स्थिति में ग्रहण नहीं करनी चाहिए, चाहे वह सचित्त शिला पर कूट-पीस कर या वायु में झटक कर दी जाए या कूटने-झटकने की क्रिया किए बिना ही दी जाए। इसके अतिरिक्त यदि अचित्त अन्न के दाने, वनस्पति या बीज सचित्त शिला पर कूट-पीस कर या वायु में झटक कर दिए जाएं तो वे भी साधु को ग्रहण नहीं करने चाहिए।

अब आहार ग्रहण करते समय साधु को पृथ्वीकायिक जीवों की किस प्रकार यतना करनी चाहिए, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्—** से भिक्खू वा २ जाव समाणे से जं० बिलं वा लोणं उब्भियं वा लोणं अस्संजए जाव संताणाए भिंदिसु ३ रुचिसु वा ३ बिलं वा लोणं उब्भियं वा लोणं अफासुयं० नो पडिग्गाहिज्जा ॥३५॥

**छाया—** स भिक्षुर्वा यावत् सन् अथ यत् बिलं वा लवणं उद्भिदितं वा लवणं असंयतः यावत् सन्तानोपेतायां अभैत्सुः भिन्दन्ति भेत्यन्ति वा, अपिषन् ( पिष्वन्तः ) पिषन्ति पेक्ष्यन्ति बिलं वा लवणं उद्भिदितं वा लवणं अप्रासुकं न प्रतिगृणीयात्।

**पदार्थ—** से-वह। भिक्खू वा- साधु अथवा साध्वी। जाव-यावत्। समाणे-भिक्षा के लिए गृहपति के कुल में प्रविष्ट होने पर। से जं०-यह जान ले कि। बिलं वा लोणं-खदान से उत्पन्न हुए लवण। उब्भियं वा लोणं-अथवा समुद्र के क्षार जल से उत्पन्न हुए लवण को। असंजए-गृहस्थ ने। जाव-यावत्। संताणाए-सचित्त अथवा जाले आदि से युक्त शिला पर। भिंदिसु ३-भेदन किया है या वह भेदन कर रहा है या भेदन करेगा,

अथवा। रुचिसु वा ३-शिला आदि पर पीसा, पीसता है या पीसेगा ऐसे। बिलं वा लोणं-खान के लवण को। उब्भियं वा लोणं-समुद्र से उत्पन्न होने वाले लवण को। अफासुयं-अप्रासुक जानकर साधु। नो पडिग्गाहिज्जा-ग्रहण न करे।

**मूलार्थ**—गृहस्थ के घर में भिक्षार्थ प्रविष्ट साधु को यदि यह ज्ञात हो जाए कि खदान एवं लवण समुद्रादि के जल से उत्पन्न लवण को किसी गृहस्थ ने सचित्त एवं जालों से युक्त शिला पर भेदन करके या पीस कर रखा है, या भेदन करके पीस कर रख रहा है या भेदन करके पीस कर रखेगा तो साधु को ऐसे अप्रासुक नमक को ग्रहण नहीं करना चाहिए।

**हिन्दी विवेचन**— प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि खान से एवं समुद्र से उत्पन्न लवण (नमक) को साधु ग्रहण न करे। इसके साथ सैन्धव, सौवर्चल आदि सभी प्रकार का सचित्त नमक साधु को ग्रहण नहीं करना चाहिए। यदि कोई गृहस्थ सचित्त नमक को सचित्त शिला पर उसके टुकड़े-टुकड़े करके दे या उसका बारीक चूर्ण बनाकर दे तो उसे अप्रासुक समझकर ग्रहण न करे।

'बिल' शब्द खान एवं 'उब्भियं' शब्द समुद्र का बोधक है। और 'भिंदिसु' एवं 'रुचिसु' इन उभय क्रियाओं से क्रमशः खंड-खंड करने एवं बारीक पीसने का निर्देश किया गया है। इसके अतिरिक्त लवण शब्द से यहां उपलक्षण-से समस्त सचित्त पृथ्वीकाय का ग्रहण किया गया है। अतः संयमशील साधु को पृथ्वीकायिक जीवों की यत्ना करनी चाहिए, उसे किसी भी तरह से उक्त जीवों की विराधना नहीं करनी चाहिए।

'अप्रासुक' शब्द से यह भी सूचित किया गया है कि यदि सचित्त नमक अन्य पदार्थ या शस्त्र के संयोग से अचित्त हो गया है, तो फिर वह साधु के लिए अप्रासुक एवं अग्राह्य नहीं रह जाता है।

अब अग्निकाय के आरम्भ का निषेध करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्**— से भिक्खू वा० से जं० असणं वा ४ अगणिनिक्खित्तं तहप्पगारं असणं वा ४ अफासुयं नो०, केवली बूया आयाणमेयं, अस्संजए भिक्खुपडियाए उस्सिंचमाणे वा निस्सिंचमाणे वा आमज्जमाणे वा पमज्जमाणे वा ओयारेमाणे वा उव्वत्तमाणे वा अगणिजीवे हिंसिज्जा, अह भिक्खूणं पुव्वोवइट्ठा एस पइन्ना एस हेऊ एस कारणे एसुवएसे जं तहप्पगारं असणं वा ४ अगणिनिक्खित्तं अफासुयं नो० पडि० एयं० सामग्गियं ॥३६ ॥

**छाया**— स भिक्षुर्वा अथ यत् अशनं वा ४ अग्निनिक्षिप्तं तथाप्रकारं अशनं वा ४ अप्रासुकं न प्रतिगृह्णीयात्। केवली बूयात् आदानमेतत्, असंयतः भिक्षुप्रतिज्ञया उत्सिंचन् वा निस्सिंचन् वा आमर्जयन् वा प्रमर्जयन् वा अवतारयन् वा अपवर्तयन् वा अग्निजीवान् हिंस्यात्। अथ भिक्षूणां पूर्वोपदिष्टा एषा प्रतिज्ञा एष हेतुः एतत् कारणं, अयमुपदेशः यत् तथा प्रकारं अशनं

वा ४ अग्निनिक्षिप्तं अप्रासुकं न प्रतिगृण्णीयात् एतत् सामग्र्यम् ।

**पदार्थ-** से-वह। भिक्खू वा- साधु अथवा साध्वी। से जं-यदि फिर ऐसा जाने कि। असणं वा ४-अशनादिक चतुर्विध आहार जो कि। अगणिनिक्खत्तं-अग्नि पर रखा हुआ है। तहप्पगारं-इस प्रकार के। असणं वा ४-अशनादिक चतुर्विध आहार को। अफासुयं-अप्रासुक जानकर। नो-ग्रहण न करे। केवली बूया-केवली भगवान कहते हैं। आयाणमेयं-यह कर्म आने का मार्ग है अर्थात् इससे कर्म का बन्ध होता है, यथा। अस्संजाए-गृहस्थ। भिक्खुपडियाए-भिक्षु की प्रतिज्ञा से अर्थात् भिक्षु के लिए। उस्सिंचमाणे वा-अग्नि पर रखे हुए पात्र में से निकालता हुआ। निस्सिंचमाणे वा-अग्नि पर रखे हुए भाजन से निकलते हुए दुग्धादि को उपशान्त करता हुआ। आमज्जमाणे वा-अथवा उसे हस्तादि से हिलाता हुआ। पमज्जमाणे वा-या बार-बार हिलाता हुआ। ओयारेमाणे वा-अग्नि पर से उतारता हुआ। उव्वत्तमाणे वा-अथवा भाजन को तिरछा-टेढ़ा करता हुआ। अगणिजीवे-अग्निकाय-अग्नि के जीवों की। हिंसिज्जा-हिंसा करता है अर्थात् उसकी इस क्रिया से अग्निकाय की हिंसा होती है। अह-अथ। भिक्खूणं-भिक्षुओं को। पुव्वोवड्डा-पूर्वोपदिष्ट-जो पूर्व कह चुके हैं तीर्थकर भाषित है। एस पड्ढना-यह प्रतिज्ञा। एस हेऊ-यह हेतु। एस कारणे-यह कारण। एसुवएसे-और यह तीर्थकरादि का उपदेश है कि। जं-जो। तहप्पगारं-इस प्रकार का। असणं वा-अशनादिक चतुर्विध आहार है जो कि। अगणिनिक्खत्तं-अग्नि पर रखा हुआ है उसे। अफासुयं-अप्रासुक जानकर। नो-साधु ग्रहण न करे। एयं-यह। सामगिर्यं-साधु वा साध्वी का सामग्र्य-सम्पूर्ण आचार है अर्थात् इसी पर उस का साधुत्व निर्भर है।

**मूलार्थ-**साधु या साध्वी भिक्षादि के निमित्त गृहस्थ के घर में प्रवेश करने पर यदि यह देखे कि अशनादिक चतुर्विध आहार अग्नि पर रखा हुआ है, तो उसे अप्रासुक जानकर साधु ग्रहण न करे। क्योंकि केवली भगवान कहते हैं कि यह कर्म आने का मार्ग है। क्योंकि गृहस्थ साधु के लिए यदि अग्नि पर रखे हुए भाजन में से वस्तु को निकालता है, उबलते हुए दुग्धादि को जल आदि के छींटे देकर शान्त करता है, या अग्नि पर रखे हुए भाजन आदि को नीचे उतारता है अथवा टेढ़ा करता है, तो वह अग्निकाय-अग्नि के जीवों की हिंसा करता है। अतः भिक्षुओं के लिए तीर्थकर भगवान ने पहले ही कह दिया है कि इसमें यह प्रतिज्ञा है, यह हेतु है, यह कारण है और यह उपदेश है कि जो आहार अग्नि पर रखा हुआ है, उस आहार को अप्रासुक जानकर साधु-साध्वी ग्रहण न करे।

**हिन्दी विवेचन-** प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि यदि किसी गृहस्थ के घर आहार आदि पदार्थ आग पर रखे हुए हैं और उस समय साधु को अपने घर में आया हुआ देखकर कोई गृहस्थ उस अग्नि पर स्थित आहार में से निकाल कर दे, या वह आग पर उबलते हुए दूध को पानी के छींटों से शान्त करके या आग पर से कोई वस्तु उतार कर साधु को दे तो साधु उस आहार को अप्रासुक समझ कर-ग्रहण न करे। क्योंकि इन क्रियाओं से अग्निकायिक जीवों की हिंसा होती है। इसलिए साधु को इस तरह की सावध क्रिया करते हुए कोई व्यक्ति आहार दे तो साधु उसे ग्रहण न करे।

कुछ प्रतियों में 'अफासुयं' के साथ 'अणेसणिज्जं लाभे संते' यह पाठ भी मिलता है। आगमोदय

समिति से प्रकाशित प्रंति में 'त्तिबेमि' शूद्ध नहीं दिया गया है। परन्तु उद्देशक की समाप्ति होने के कारण यहां 'त्तिबेमि' शब्द ग्रहण किया गया है।

'त्तिबेमि' की व्याख्या पूर्ववत् समझें।

॥ षष्ठ उद्देशक समाप्त ॥



## प्रथम अध्ययन पिण्डैषणा

### सप्तम उद्देशक

छठे उद्देशक में संयम विराधना का उल्लेख किया गया था। अब प्रस्तुत उद्देशक में संयम की, आत्मा की एवं दाता की विराधना से होने वाली प्रवचन की अवहेलना का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं-

मूलम्- से भिक्खू वा २ से जं० असणं वा ४ खंधंसि वा थंभंसि वा मंचंसि वा मालंसि वा पासायंसि वा हम्मियतलंसि वा अन्नयरंसि वा तहप्पगारंसि अंतलिक्खजायंसि उवनिक्खत्ते सिया तहप्पगारं मालोहडं असणं वा ४ अफासुयं नो० केवली बूया आयाणमेयं, अस्संजए भिक्खुपडियाए पीठं वा फलगं वा निस्सेणिं वा उदूहलं वा आहट्टु उस्सविय दुरूहिज्जा, से तत्थ दुरूहमाणे पयलिज्ज वा पवडिज्ज वा, से तत्थ पयलमाणे वा २ हत्थं वा पायं वा बाहुं वा उरुं वा उदरं वा सीसं वा अन्नयरं वा कायंसि इंदियजालं लूसिज्ज वा पाणाणि वा ४ अभिहणिज्ज वा वित्तासिज्ज वा लेसिज्ज वा संघसिज्ज वा संघट्टिज्ज वा परियाविज्ज वा किलामिज्ज वा ठाणाओ ठाणं संकामिज्ज वा, तं तहप्पगारं मालोहडं असणं वा ४ लाभे संते नो पडिग्गाहिज्जा, से भिक्खू वा २ जाव समाणे से जं असणं वा ४ कुट्ठियाओ वा कोलेजाओ वा अस्संजए भिक्खुपडियाए उक्कुज्जिय अवउज्जिय ओहरिय आहट्टु दलइज्जा, तहप्पगारं असणं वा ४ लाभे संते नो पडिग्गाहिज्जा ॥३७॥

छाया- स भिक्षुर्वा २ तद् यत् अशनं वा ४ स्कन्धे वा स्तम्भे वा मंचके वा माले वा प्रासादे वा हर्म्यतले वा अन्यतरस्मिन् वा तथाप्रकारे अन्तरिक्षजाते उपनिक्षिप्तः स्यात् तथाप्रकारं मालाहृतं अशनं वा ४ अप्रासुकं न० केवली बूयात् आदानमेतत्, असंयतः भिक्षुप्रतिज्ञया पीठं वा फलकं वा निश्रेणिं वा उदूखलं वा आहत्य उत्सृज्य ऊर्ध्वं संस्थाप्य आरोहेत् स तत्र आरोहन् प्रचलेद् वा प्रपतेद् वा, स तत्र प्रचलन्, प्रपतन् वा हस्तं वा पादं वा

बाहुं वा उरुं वा उदरं वा शीर्षं वा अन्यतरत् काये इन्द्रियजालं लूषयेत्-विराधयेद् वा प्राणिनो वा ( भूतानि, जीवान्, सत्वान् वा ) अभिहन्याद् वा वित्रासयेद् वा लेषयेद् वा संघर्षयेद् वा संघट्टयेद् वा, परितापयेद् वा, क्लामयेद् वा स्थानात् स्थानं संक्रामयेद् वा, तत् तथाप्रकारं मालाहृतं, अशनं वा ४ लाभे सति न प्रतिगृणहीयात्। स भिक्षुः वा २ यावत् ( प्रविष्टः ) सन् अथ यत् जानीयात्-अशनं वा ४ कोष्ठिकातः अधोवृत्तखाताकाराद् वा असंयतः भिक्षु-प्रतिज्ञया उत्कुब्ज्य अवकुब्ज्य अवहृत्य, आहृत्य दद्यात् तथाप्रकारं अशनं वा ४ लाभे सति न प्रतिगृणहीयात्।

पदार्थ-से-वह। भिक्खू वा २-साधु अथवा साध्वी। से जं-आहार के निमित्त गृहस्थ के घर में प्रवेश करने पर यदि यह जाने कि। असणं वा ४-अशनादि चतुर्विध आहार जो कि। खंधंसि वा-भीत-दीवार पर रखा हुआ। थंभंसि वा-स्तम्भ पर रखा हुआ। मंचंसि वा-अथवा मञ्चक पर। मालंसि वा-माल-मकान की मंजिल पर। पासायंसि वा-प्रासाद-महल पर। हम्मियतलंसि वा-प्रासाद की भूमि पर। अन्नयरंसि वा-अथवा अन्य कोई। तहप्पगारंसि-इसी प्रकार के। अंतलिक्खजायंसि-अन्तरिक्ष जात में ( जहां पर सीढ़ी लगाकर पदार्थ उतारा जाता है उसको अन्तरिक्ष जात कहते हैं ) उवनिक्खत्तेसिया-रखा हुआ हो। तहप्पगारं-इस प्रकार। मालोहडं-ऊपर रखे गए पदार्थों को ऊपर से उतार कर दे रहा है, तो। असणं वा ४-ऐसा अशनादिक चतुर्विध आहार है उसे। अफासुयं-अप्रासुक जानकर। नो-साधु ग्रहण न करे। केवली बूया-केवली भगवान कहते हैं कि। आयाणमेयं-यह कर्म आने का मार्ग है जो कि। असंजए-असंयत गृहस्थ। भिक्खुपडियाए-अर्थात् साधु को आहार देने के लिए। पीढं वा-पीठ चौकी आदि को। फलगं वा-पदटे को। निस्सेपिं वा-अथवा सीढ़ी को, उदुहलं वा-या ऊखल को। आहट्टु-लाकर। उस्सविय-ऊंचा करके। दुरूहिज्जा-चढ़े और। से-उस गृहस्थ का। तत्थ-उस स्थान पर। दुरूहमाणे-चढ़ते हुए। पयलिज्ज वा-पांव फिसल जाए। पवडिज्ज-अथवा वह गिर पड़े। से-वह गृहस्थ। तत्थ-उस स्थान पर। पयलमाणे वा-फिसलता हुआ अथवा गिरता हुआ अर्थात् उसके फिसलने या गिरने से उसका। हत्थं वा-हाथ। पायं वा-पैर। बाहुं वा-भुजा। उरुं वा-उरु-सत्थल। उदरं वा-पेट। सीसं वा-शीर्ष-सिर में अथवा। अन्नयरंसि वा कायंसि-शरीर के किसी अन्य। इंदियजालं-अवयव विशेष को। लूसिज्ज वा-दोष प्राप्त हो अर्थात् टूट जाए और उसके गिरने से। पाणाणि वा ४-प्राणी, भूत, जीव और सत्त्वों का। अभिहणिज्ज वा-अवहनन होता है। वित्तासिज्ज वा-वह उन्हें त्रास दे। लेसिज्ज वा-भूमि से संश्लिष्ट करे। संघसिज्ज वा-संघर्षित करे। संघट्टिज्ज वा-संघट्टा करे अथवा। परियाविज्ज वा-परितापना दे। क्लामिज्ज वा-पीड़ा दे। ठाणाओ ठाणं-एक स्थान से दूसरे स्थान पर। संकामिज्ज वा-संक्रमण करे। तं-इसलिए। तहप्पगारं-तथा प्रकार के। मालोहडं-ऊंचे स्थान से उतारा हुआ। असणं-वा ४-अशनादि चतुर्विध आहार। लाभे संते-मिलने पर भी। नो पडिग्गाहिज्जा-ग्रहण न करे। से-वह। भिक्खू वा-भिक्षु-साधु या साध्वी। जाव समाणे-यावत् गृहस्थ के घर में प्रवेश करने पर। से जं-यदि, ऐसा जाने कि। असणं वा ४-अशनादिक चतुर्विध आहार को। कुट्ठियाओ वा-मिट्टी की कोठी से। कोलेज्जाओ वा-अधोवर्त-नीचे के प्रकोष्ठ विशेष से। अस्संजए-गृहस्थ। भिक्खुपडियाए-भिक्षु के निमित्त। उक्कुज्जिय-झुक कर। अवउज्जिय-

बहुत नीचा होकर। ओहरिय-तिरछा-टेढ़ा होकर। आहट्टु-उस वस्तु को निकालकर। दलइज्जा-दे तो। तहप्पगारं-इस प्रकार के। असणं वा ४-अशनादिक चतुर्विध आहार को। लाभे संते-प्राप्त होने पर भी साधु। नो पडिग्गाहिज्जा-ग्रहण न करे-अर्थात् उक्त प्रकार से लाया गया आहार साधु न ले।

**मूलार्थ—**साधु या साध्वी गृहस्थ के घर में प्रवेश करने पर यदि यह जाने कि अशनादि चतुर्विध आहार, गृहस्थ के वहां भित्ति पर, स्तम्भ पर, मंचक पर, छत पर, प्रासाद पर, कोठी आदि की छत पर तथा किसी अन्य अंतरिक्षजात अर्थात् ऊंचे स्थान पर रखा हुआ है तो इस प्रकार के ऊंचे स्थान से उतार कर दिया गया अशनादि चतुर्विध आहार, अप्रासुक जानकर साधु ग्रहण न करे। केवली भगवान कहते हैं कि यह कर्म बन्ध का कारण है जो कि गृहस्थ, साधु को आहार देने के लिए ऊंचे स्थान पर रखे हुए आहार को उतारने के लिए चौकी, फलक, पट्टा, सीढ़ी या ऊखल आदि को लाकर, ऊंचा करके ऊपर चढ़ेगा। यदि ऊपर चढ़ता हुआ वह गृहस्थ फिसल जाए या गिर पड़े तो फिसलते या गिरते हुए उसका हाथ, पांव, भुजा, छाती, उदर, सिर या अन्य कोई शरीर का अवयव टूट जाएगा और उसके गिरने से किसी प्राणी, भूत, जीव और सत्व आदि का अवहनन होगा, उन जीवों को त्रास उत्पन्न होगा, संक्लेश उत्पन्न होगा, संघर्ष होगा, संघट्टा होगा, आतापना या किलामना होगी और स्थान से स्थानान्तर में संक्रमण होगा, अतः इस प्रकार के मालाहत-ऊंचे स्थान से उतारे गए आहार के प्राप्त होने पर भी साधु उसे ग्रहण न करे।

साधु या साध्वी आहार के निमित्त घर में प्रविष्ट होने पर यदि यह देखे कि अशनादिक चतुर्विध आहार जिसे गृहस्थ मिट्टी की कोठी से अथवा बांस आदि की कोठी से भिक्षु के लिए नीचा होकर, कुब्बा होकर या तिरछा होकर निकालता है, तो वह आहार उपलब्ध होने पर भी साधु स्वीकार न करे।

**हिन्दी विवेचन—**प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि समतल भूमि से बहुत ऊपर या नीचे के स्थान पर आहार आदि रखा हो, वह आहार सीढ़ी या चौकी को लगाकर या उसे ऊंचा करके उस पर चढ़कर वहां से आहार को उतार कर दे या इसी तरह नीचे झुक कर, टेढ़ा होकर नीचे के प्रकोष्ठ में रखे हुए पदार्थों को निकाल कर दे तो उन्हें अप्रासुक अकल्पनीय समझ कर ग्रहण नहीं करना चाहिए। यहां अप्रासुक का अर्थ सचित्त नहीं, परन्तु अकल्पनीय है। उन अचित्त पदार्थों को अकल्पनीय इसलिए कहा गया है कि उक्त विषम स्थान से सीढ़ी, तख्त आदि पर से उतारते समय यदि पैर फिसल जाए या सीढ़ी व तख्त का पाया फिसल जाए तो व्यक्ति गिर सकता है और उससे उसके शरीर में चोट आ सकती है एवं अन्य प्राणियों की भी विराधना हो सकती है। इसी तरह नीचे के प्रकोष्ठ में झुककर निकालने से भी अयतना होने की सम्भावना है, अतः साधु को ऐसे विषम स्थानों पर रखा हुआ आहार-पानी ग्रहण नहीं करना चाहिए।

परन्तु, यदि उक्त स्थान पर चढ़ने के लिए सीढ़ियां बनी हों, किसी तरह की अयतना होने की सम्भावना न हो तो ऐसे स्थानों पर स्थित वस्तु कोई यत्नापूर्वक उतार कर दे तो साधु ले सकता है। 'पीढं वा फलगं वा निस्सेणिं वा आहट्टु उस्सविय दुरूहिज्जा' पाठ से यह सिद्ध होता है कि हिलने-डुलने

वाले साधनों पर चढ़कर उन वस्तुओं को उतार कर दे तो साधु को नहीं लेनी चाहिए, क्योंकि उन पर से फिसलने का डर रहता है। परन्तु, स्थिर सीढ़ियों पर से चढ़कर कोई वस्तु उतार कर लाई जाए या किसी स्थिर रहे हुए तख्त आदि पर चढ़कर उन्हें उतारा जाए तो वे अकल्पनीय नहीं कही जा सकती।

इससे यह स्पष्ट होता है कि जिससे आत्म विराधना, संयम विराधना, गृहस्थ की विराधना एवं जीवों की विराधना हो या गृहस्थ को किसी तरह का कष्ट होता हो तो ऐसे स्थान पर स्थित पदार्थ को ग्रहण नहीं करना चाहिए। यदि किसी भी तरह की विराधना एवं किसी भी प्राणी को कष्ट नहीं पहुंचता हो तो उस स्थान पर स्थित वस्तु साधु के लिए ग्राह्य है। वस्तुतः यह ध्यान रखने की आवश्यकता है कि साधु के निमित्त किसी भी प्राणी को कष्ट न हो और आत्मा एवं संयम की विराधना भी न हो।

पृथ्वीकाय पर स्थित आहार के विषय में उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्—** से भिक्खू वा० से जं० असणं वा० ४ मट्ठियाउलित्तं तहप्पगारं असणं वा ४ लाभे संते नो०, केवली० अस्संजए भि० मट्ठिओलित्तं असणं वा ४ उब्भिंदमाणे पुढविकायं समारंभिज्जा, तहा आऊ तेऊ वाऊ वणस्सइ तसकायं समारंभिज्जा पुणरवि उल्लिपमाणे पच्छाकम्मं करिज्जा, अह भिक्खूणं पुव्वोवइट्ठा जाव जं तहप्पगारं मट्ठिओलित्तं असणं वा ४ लाभे संते नो०।

से भिक्खू० जं० असणं वा ४ पुढविकायपइट्ठयं तहप्पगारं असणं वा० अफासुयं०। से भिक्खू० जं० असणं वा ४ आउकायपइट्ठयं चैव, एवं अगणिकायपइट्ठयं लाभे० केवली०, अस्संजए भि० अगणिं उस्सक्किय निस्सक्किय ओहरिय आहट्टु दलइज्जा अह भिक्खूणं० जाव नो पडिं ॥३८ ॥

छाया— स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा अथ यत् पुनरेवं जानीयात् अशनं वा ४ मृत्तिकावलिप्तं तथा प्रकारं अशनं वा ४ लाभे सति न प्रतिगृणहीयात्, केवली ब्रूयात् आदानमेतत्, असंयतो भिक्षुप्रतिज्ञया मृत्तिकोपलित्तं अशनं वा ४ उद्भिन्दन् पृथ्वीकायं समारभेत् तथा तेजो वायु वनस्पति त्रसकायं समारभेत् पुनरपि अवलिपन् पश्चात्कर्म कुर्यात्, अथ भिक्षूणां पूर्वदृष्टा ( एषा प्रतिज्ञा एष हेतुरेतत्कारणमयमुपदेशः ) यत् तथाप्रकारं मृत्तिकावलिप्तं अशनं वा लाभे सति- ( न प्रतिगृणहीयात् )। स भिक्षुः अथ यत् अशनं वा ४ पृथ्वीकायप्रतिष्ठितं तथाप्रकारं अशनं वा ४ अप्रासुकम्। स भिक्षुः यत् अशनं वा ४ अप्काय प्रतिष्ठितं चैव, एवं अग्निकाय-प्रतिष्ठितं लाभे० केवली० असंयतः भिक्षुः प्रतिज्ञया० अग्निं उत्सिच्य निषिच्य अवहृत्य आहृत्य दद्यात्। अथ भिक्षूणां यावत् न प्रतिगृणहीयात्।

**पदार्थ—** से-वह। भिक्खू वा०- साधु अथवा साध्वी गृहपति कुल में प्रविष्ट होने पर। से जं०-यदि यह जाने कि। असणं वा-अशनादिक चतुर्विध आहार। मट्ठियाउलित्तं-मिट्टी से लिप्त बर्तन में है, तो। तहप्पगारं-

इस प्रकार के। असणं वा-अशनादिक चतुर्विध आहार के। लाभे सं-मिलने पर भी साधु उसे ग्रहण न करे। केवली-केवली भगवान कहते हैं कि। अस्संजए-असंयत-गृहस्थ। भि-भिक्षु-साधु के लिए। मट्टिओलित्तं-मिट्टी से लिप्त भाजन में रखा हुआ। असणं वा ४-अशनादिक चतुर्विध आहार, उसे-अर्थात् भाजन को। उब्भिंदमाणे-उद्भेदन करता हुआ। पुढविकायं-पृथ्वीकाय के जीवों का। समारंभेज्जा-समारम्भ करता है। तह-तथा। तेउवाउवणस्सइतसकायं-अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रसकाय के जीवों का। समारंभेज्जा-समारम्भ करता है। पुणारवि-फिर। उल्लिंपमाणे-उस भाजन को शेष द्रव्य की रक्षा के लिए लेपन करता हुआ। पच्छाकम्मं करिज्जा-पश्चात् कर्म करता है। अह-अथवा। भिक्खूणं-भिक्षुओं-साधुओं को। पुव्वो-पूर्वोपदिष्ट प्रतिज्ञा आदि है। जाव-यावत्। तहप्पगारं-इस प्रकार का। मट्टिओलित्तं-मिट्टी से अवलिप्त। असणं वा-अशनादिक चतुर्विध आहार है। लाभे-मिलने पर साधु उसे ग्रहण न करे।

से-वह। भिक्खू-साधु या साध्वी गृहपति कुल में प्रवेश करने पर। से जं-यदि इस प्रकार जाने कि। असणं वा ४-अशनादिक चतुर्विध आहार। पुढविकायपइट्टियं-सचित्त पृथ्वी पर प्रतिष्ठित-रखा हुआ है। तहप्पगारं-उस प्रकार के। असणं वा-अशनादिक चतुर्विध आहार को। अफासुयं-अप्रासुक जानकर ग्रहण न करे।

से भिक्खू-वह साधु या साध्वी। जं-जो यह जाने कि। असणं वा ४-अशनादिक चतुर्विध आहार। आउकायपइट्टियं चेव-सचित्त पानी पर रखा हुआ है तो उसे भी पूर्व की भांति अप्रासुक जानकर ग्रहण न करे। एवं-इसी प्रकार। अगणिकायपइट्टियं-अग्निकाय पर प्रतिष्ठित-रखे हुए आहार को भी अप्रासुक जानकर। लाभे-मिलने पर भी उसे ग्रहण न करे। केवली-केवली भगवान कहते हैं। अस्संजए-असंयत-गृहस्थ। भि-भिक्षु के लिए। अगणिं-अग्नि में। उस्सविकय-इन्धन डाले। निस्सविकय-अथवा प्रज्वलित अग्नि में से इन्धन निकाले। ओहरिय-अग्नि पर रखे हुए भाजन को नीचे उतारे। आहट्टु-इस प्रकार आहार लाकर। दलइज्जा-साधु को दे। अह-अथवा। भिक्खूणं-भिक्षुओं को पूर्वोपदिष्ट प्रतिज्ञा है। जाव-यावत्। नो पडि-वह उसे ग्रहण न करे।

मूलार्थ—साधु या साध्वी भिक्षा के निमित्त गृहस्थ के घर में प्रवेश करने पर यदि यह देखे कि अशनादि चतुर्विध आहार मिट्टी से लीपे हुए बर्तन में स्थित है, इस प्रकार के अशनादि चतुर्विध आहार को, मिलने पर भी साधु ग्रहण न करे। क्योंकि भगवान ने इसे कर्म आने का मार्ग कहा है। इसका कारण यह है कि गृहस्थ, भिक्षु के लिए मिट्टी से लिप्त अशनादि के भाजन को उद्भेदन करता हुआ पृथ्वीकाय का समारम्भ करता है, तथा अप्-पानी, तेज-अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस काय का समारम्भ करता है, फिर शेष द्रव्य की रक्षा के लिए उस बर्तन का पुनः लेपन करके पश्चात् कर्म करता है, इसलिए भिक्षुओं को तीर्थंकर आदि ने पहले ही कह दिया है कि वे मिट्टी से लिप्त बर्तन में रखे हुए अशनादि को ग्रहण न करें। तथा गृहपति कुल में प्रविष्ट हुआ भिक्षु यदि यह जाने कि अशनादि चतुर्विध आहार सचित्त मिट्टी पर रखा हुआ है तो इस प्रकार के आहार को अप्रासुक जानकर साधु ग्रहण न करे।

वह भिक्षु यदि यह जाने कि अशनादि चतुर्विध आहार अप्काय पर रखा हुआ है तो उसे

भी अप्रासुक जान कर स्वीकार न करे। इसी प्रकार अग्निकाय पर प्रतिष्ठित अशनादि चतुर्विध आहार को भी अप्रासुक जानकर उसे ग्रहण नहीं करना चाहिए। केवली भगवान कहते हैं कि यदि गृहस्थ भिक्षु के निमित्त अग्नि में ईन्धन डालकर अथवा प्रज्वलित अग्नि में से ईन्धन निकाल कर या अग्नि पर से भोजन को उतार कर, इस प्रकार से आहार दे तो साधु ऐसे आहार को अप्रासुक जानकर ग्रहण न करे।

**हिन्दी विवेचन-** प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि मिट्टी के लेप से बन्द किए खाद्य पदार्थ के बर्तन में से उक्त लेप को तोड़कर गृहस्थ कोई पदार्थ दे तो साधु को ग्रहण नहीं करना चाहिए। क्योंकि इससे पृथ्वीकाय की एवं उसके साथ अन्य अप्कायिक आदि जीवों की हिंसा होगी और उस बर्तन में अवशिष्ट पदार्थ की सुरक्षा के लिए उस पर पुनः मिट्टी का लेप लगाने के लिए नया आरम्भ करना होगा। इस तरह पश्चात् कर्म दोष भी लगेगा। इसी तरह सचित्त पृथ्वी, पानी एवं अग्नि पर रखे हुए बर्तन को उतारते हुए या ऐसा ही कोई अन्य अग्नि सम्बन्धी आरम्भ करते हुए साधु को आहार दे तो उस आहार को भी ग्रहण नहीं करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि जिससे छः काय एवं ६ में से किसी भी एक कायिक जीवों की हिंसा होती हो तो ऐसा आहार साधु को ग्रहण नहीं करना चाहिए।

अब वायुकाय की यतना के सम्बन्ध में उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं-

**मूलम्-** से भिक्खू वा २ जाव से जं० असणं वा ४ अच्चुसिणं, अस्संजए भि० सुप्पेण वा विहुयणेण वा तालियंटेण वा पत्तेण वा साहाए वा साहाभंगेण वा पिहुणेण वा पिहुणहत्थेण वा चलेण वा चेलकण्णेण वा हत्थेण वा मुहेण वा फुमिज्ज वा वीइज्ज वा, से पुव्वामेव आलोइज्जा आउसोत्ति वा भइणित्ति वा ! मा एतं तुमं असणं वा अच्चुसिणं सुप्पेण वा जाव फुमाहि वा वीयाहि वा, अभिकंखसि मे दाउं, एमेव दलयाहि, से सेवं वयंतस्स परो सुप्पेण वा जाव वीइत्ता आहट्टु दलइज्जा तहप्पगारं असणं वा ४ अफासुयं वा नो पडि० ॥३९॥

**छाया-** स भिक्षुर्वा २ अथ यत् अशनं वा० अत्युष्णं असंयतः भिक्षुप्रतिज्ञया सूर्पेण वा वीजनेन वा तालवृत्तेन वा पत्रेण वा शाखया वा शाखाभंगेन वा बर्हेण वा ( पिच्छेण वा ) बर्हकलापेन वा ( पिच्छहस्तेन वा ) चलेन-वस्त्रेण वा चेलकर्णेन-वस्त्रकर्णेन वा हस्तेन वा मुखेन वा फूत्कुर्याद् वा वीजयेद् वा, स पूर्वमेव आलोकयेद्-( आलोक्य ) आयुष्मन्निति वा भगिनि ! इति वा मैवं त्वं अशनं वा ४ अत्युष्णं सूर्पेण वा यावत् फूत्कुरु वीजय वा, अभिकांक्षसि मे दातुं एवमेव ददस्व, स तस्यैवं वदतः परः सूर्पेण वा यावत् वीजयित्वा आहृत्य दद्यात् तथाप्रकारं अशनं वा ४ अप्रासुकं न प्रतिगृणहीयात्।

**पदार्थ-** से-वह। भिक्खू वा- साधु अथवा साध्वी, गृहपति कुल में प्रवेश करने पर। से जं०- यदि

यह जाने कि। असणं वा-अशनादिक चतुर्विध आहार। अच्चुसिणं-अत्युष्ण है और उसे। अस्संजए-गृहस्थ। भिक्खुपडियाए-साधु केनिमित्त शीतल करने के लिए। सुप्पेण वा-छाज से। विहुयणेण वा-अथवा पंखे से। तालियंटेण वा-ताल पत्र से। पत्तेण वा-अथवा पत्र से। ( पत्तभंगेण वा-खजूर आदि वृक्ष के पत्र खण्ड से।) साहाए वा-शाखा से। साहाभंगेण वा-शाखा के खण्ड से। पिहुणेण वा-अथवा मयूर पिच्छ से। पिहुणहत्थेण वा-मयूर पिच्छ से बने हुए पंखे से। चेलेण वा-अथवा वस्त्र से। चेलकण्णेण वा-वस्त्र खण्ड से। हत्थेण वा-हाथ से। मुहेण वा-अथवा मुख से। फुमिज्ज वा-मुख की वायु से शीतल करे। वीइज्ज वा-पंखे आदि से शीतल करे तब। से-वह-साधु। पुव्वामेव-पहले ही। आलोइज्जा-ध्यान देकर देखे और विचार करे, विचार करके उसके प्रति कहे। आउसोत्ति वा-हे आयुष्मन् ! गृहस्थ ! अथवा। भइणित्ति वा-हे भगिनि-हे बहिन ! तुम-तू। एतं-इस। अच्चुसिणं-अत्युष्ण-गर्म। असणं वा ४-अशनादिक आहार को। सुप्पेण-शूर्प-छाज से। जाव-यावत्। फुमाहि-मुख की वायु से अथवा। मा वीयाहि-पंखे की वायु से ठण्डा मत करो! यदि तुम। मे-मुझे। दाउं-देना। अभिकंखसि-चाहती हो तो। एमेव-इसी तरह-बिना शीतल किए ही। दलयाहि-दे दो। से-वह। परो-गृहस्थ। सेवं वयंतस्स-इस प्रकार बोलते हुए उस साधु को यदि। सुप्पेण वा-शूर्प और व्यजनादि से। जाव-यावत्। वीइत्ता-शीतल करके। आहट्टु-लाकर। दलइज्जा-दे तो। तहप्पगारं-इस प्रकार के। असणं वा ४-अशनादि चतुर्विध आहार को। अफासुयं वा-अप्रासुक जान कर। नो पडिगा-ग्रहण न करे।

**मूलार्थ**—आहार के लिए गृहस्थ के घर में प्रवेश करने पर यदि साधु-साध्वी यह देखे कि, गृहस्थ साधु को देने के लिए अत्युष्ण अशनादिक चतुर्विध आहार को शूर्प से, पंखे से, ताड़ पत्र से, शाखा से, शाखा खंड से, मयूरपिच्छ से, मयूर पिच्छ के पंखे से, वस्त्र से, वस्त्र खंड से, हाथ से अथवा मुख से फूंक मार कर या पंखे आदि की हवा से ठंडा करके देने लगे तब वह भिक्षु उस गृहस्थ को कहे कि हे आयुष्मन्-गृहस्थ ! अथवा हे आयुष्मति बहिन ! तुम इस उष्ण आहार को इस प्रकार पंखे आदि से ठंडा मत करो। यदि तुम मुझे देना चाहती हो तो ऐसे ही दे दो। साधु के इस प्रकार कहने पर भी यदि वह गृहस्थ, उसे पंखे आदि से ठंडा करके दे तो साधु उस आहार को अप्रासुक जानकर ग्रहण न करे।

**हिन्दी विवेचन**—प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि यदि कोई गृहस्थ उष्ण पदार्थ को पंखे आदि से ठण्डा करके देने का प्रयत्न करे तो साधु उसे ऐसा करने से इन्कार कर दे। वह स्पष्ट कहे कि हमारे लिए पंखे आदि से किसी भी पदार्थ को ठण्डा करने की आवश्यकता नहीं है। इस पर भी वह गृहस्थ साधु की बात को न मानकर उक्त उष्ण पदार्थ को पंखे आदि से ठण्डा करके दे तो साधु को उस आहार को ग्रहण नहीं करना चाहिए। क्योंकि इस तरह की क्रिया से वायुकायिक जीवों की हिंसा होती है।

अब वनस्पति काय की यतना का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं।

**मूलम्**— से भिक्खू वा २ से जं० असणं वा ४ वणस्सइकायपइट्ठयं तहप्पगारं असणं वा ४ वण० लाभे संते नो पडि०। एवं तसकायमवि ॥४० ॥

**छाया**— स भिक्षुर्वा २ अथ यत् अशनं वा ४ वनस्पतिकाय-प्रतिष्ठितं तथाप्रकारं

अशनं वा ४ वन-लाभे सति न० प्रति० । एवं त्रसकायमपि ।

**पदार्थ-** से-वह । भिक्खू वा- साधु अथवा साध्वी गृहस्थ के घर में प्रविष्ट होने पर । से-वह । जं०- यदि इस प्रकार जाने कि । असणं वा ४-अशनादि चतुर्विध आहार । वणस्सइकायपइट्ठयं-वनस्पतिकाय पर रखा हुआ है तो । तहप्पगारं-इस प्रकार के । वण०-वनस्पति काय पर प्रतिष्ठित । असणं वा ४-अशनादि चतुर्विध आहार को । लाभे संते-मिलने पर भी । नो पडि०-साधु ग्रहण न करे । एवं तसकायमवि-इसी प्रकार त्रसकाय के सम्बन्ध में भी जानना चाहिए ।

**मूलार्थ-**साधु या साध्वी, भिक्षा के लिए गृहस्थ के घर में प्रवेश करते हुए यदि यह देखे कि गृहस्थ के वहां अन्नादि चतुर्विध आहार वनस्पति काय पर रखा हुआ है, तो ऐसे वनस्पतिकाय पर प्रतिष्ठित अशनादि को साधु प्राप्त होने पर भी ग्रहण न करे । इसी प्रकार त्रसकाय के विषय में भी जान लेना चाहिए ।

**हिन्दी विवेचन-** प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि यदि गृहस्थ के घर में आहार वनस्पति या त्रस प्राणी (द्वीन्द्रिय आदि प्राणियों) पर रखा हो या वनस्पति आदि खाद्य पदार्थों पर रखी हो तो साधु को उस आहार को ग्रहण नहीं करना चाहिए । इसका तात्पर्य यह है कि साधु के निमित्त स्थावर एवं त्रस किसी भी प्राणी को कष्ट हो तो साधु को ऐसा आहार ग्रहण नहीं करना चाहिए ।

सूत्रकार ने आहार के अन्य १ दोषों का अन्यत्र वर्णन किया है और वृत्तिकार ने उनका प्रस्तुत सूत्र की वृत्ति में ही उल्लेख कर दिया है<sup>१</sup> ।

आहार की तरह पानी भी जीवन के लिए आवश्यक है और नदी, तालाब, कुएं आदि का जल सचित होता है । अतः साधु को कैसा पानी ग्रहण करना चाहिए, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं-

**मूलम्-** से भिक्खू वा २ से जं पुण पाणगजायं जाणिज्जा तंजहा-उस्सेइमं वा १ संसेइमं वा २ चाउलोदगं वा ३ अन्नयरं वा तहप्पगारं पाणगजायं अहुणाधोयं अणंबिलं अब्बुक्कंतं अपरिणयं अविद्धत्थं अफासुयं जाव नो पडिग्गाहिज्जा अह पुण एवं जाणिज्जा चिराधोयं अंबिलं बुक्कंतं परिणयं विद्धत्थं फासुयं पडिग्गाहिज्जा । से भिक्खू वा० से जं पुण पाणगजायं जाणिज्जा, तंजहा-तिलोदगं वा ४ तुसोदगं वा ५ जवोदगं वा ६ आयामं वा ७ सोवीरं वा ८

१ अत्र च वनस्पति काय प्रतिष्ठितमित्यादिना निक्षिप्ताख्या एषणादोषोऽभिहितः, एवमन्येऽप्येषणादोषायथासम्भवं सूत्रेष्वेवायोग्याः । ते चासी-

संक्रिय १, मक्खिय २, निक्खित्त ३, पिहिय ४, साहरिय ५, दायगु ६ म्पीसे ७, अपरिणय ८, लित्त ९, छड्डिय १०, एसणा दोसा दस हवन्ति १० । ॥१॥ तत्र शंकितमाधाकर्मदिना १-प्रक्षितमुदकादिना २ निक्षिप्तं पृथिवीकायादौ ३ पिहितं बीजपूरकादिना ४ साहरियंतिमात्रकादेस्तुषाद्यदेयमन्यत्र सचित्तं पृथिव्यादौ संहृत्य तेन मात्रकादिना यद् ददाति तत् संहृतमित्युच्यते ५ दायगत्तिदाताभालवृद्धाद्ययोग्यः ६ उन्मिश्रं-सचित्तमिश्रम् ७ अपरिणतमितियरेयं न सम्यगचित्तीभूतं दातृग्राहकयोर्वा न सम्यग्भावोपेतं ८ लिप्तं वसादिना । ९ छड्डियंति परिशाट्वादि १० त्वेषणा दोषाः । -आचाराङ्ग वृत्ति



सुद्धवियडं वा १ अन्नयरं वा तहप्पगारं वा पाणगजायं पुव्वामेव आलोइज्जा-  
आउसोत्ति वा ! भइणित्ति वा ! दाहिसि मे इत्तो अन्नयरं पाणगजायं ? से सेवं  
वयंतस्स परो वइज्जा-आउसंतो समणा ! तुमं चेवेयं पाणगजायं पडिग्गहेण वा  
उत्तिसिचिया णं उयत्तिया णं गिणहाहि, तहप्पगारं पाणगजायं सयं वा गिण्हिज्जा  
परो वा से दिज्जा, फासुयं लाभे संते पडिगाहिज्जा ॥४१ ॥

छाया- स भिक्षुर्वा २ अथ यत् पुनः पानकजातं जानीयात् तद् यथाउत्त्वेदितं वा १  
संस्वेदितं वा २ तन्दुलोदकं वा ३ अन्यतरद् वा तथाप्रकारं पानकजातं अधुना धौतं अनम्लं  
अव्युत्क्रान्तमपरिणतमविध्वस्तमप्रासुकं यावन्नो प्रतिगृण्हीयात् । अथ पुनरेवं जानीयात्,  
चिरधौतं, अम्लं व्युत्क्रान्तं परिणतं ध्वस्तं प्रासुकं प्रतिगृण्हीयात् । स भिक्षुर्वा<sup>०</sup> अथ यत् पुनः  
पानकजातं जानीयात्, तद्यथा-तिलोदकं वा ४ तुषोदकं वा ५ यवोदकं वा ६ आचाम्लं वा ७  
सौवीरं वा ८ शुद्धविकटं वा ९ अन्यतरत् वा तथाप्रकारं वा पानकजातं पूर्वमेवालोचयेत्-  
आयुष्मन् ! इति वा, भगिनि ! इति वा दास्यसि मे इतोऽन्यतरत् पानकजातम् ? अथ तस्यैवं  
वदतः परो वदेत्- आयुष्मन् श्रमण ! त्वं चैवेदं पानकजातं पतद्ग्रहेण वा उत्तिसिच्य अपवृत्य  
गृहाण, तथाप्रकारं पानकजातं स्वयं वा गृण्हीयात् परो वा तस्मै दद्यात्, प्रासुकं लाभे सति न  
प्रतिगृण्हीयात् ।

पदार्थ- से-वह। भिक्खू वा- साधु अथवा साध्वी जल के लिए गृहस्थ के घर में प्रवेश करने पर। से  
जं पुण- फिर वह। पाणगजायं-पानी की जाति को-पानी के भेदों को। जाणिज्जा-जाने। तंजहा-जैसे कि।  
उस्सेइमं वा-चूर्ण से लिप्त बर्तन का धोवन, अथवा। संसेइमं वा-तिल आदि का धोवन, अथवा जिसमें पालक  
आदि शाक-भाजी को उबाला गया है वह धोवन या चावलों का ओसामन। चाउलोदगं वा-चावलों का धोवन  
या। अन्नयरं वा-अन्य कोई। तहप्पगारं-इसी प्रकार का। पाणगजायं-प्रासुक धोवन आदि। अहुणाधोयं-  
तत्काल का हो। अणंबिलं-जिससे अभी तक उसका स्वाद परिवर्तित नहीं हुआ है, वह। अव्वुक्कंतं-अपने रस से  
अतिक्रान्त नहीं हुआ है। अपरिणयं-वर्णादि से परिणत नहीं हुआ है। अविद्धत्थं-जिसके जीव शस्त्र परिणत नहीं  
हुए हैं। अफासुयं-उसे अप्रासुक जानकर। जाव-यावत् मिलने पर भी। नो पडिग्गाहिज्जा-साधु उसे ग्रहण न  
करे। अह-अथवा। पुण-फिर। एवं-इस प्रकार। जाणिज्जा-जाने कि। चिराधोयं-जो धोवन चिर काल का है।  
अंबिलं-जिसका स्वाद बदल गया है। वुक्कंतं-अन्य रस को प्राप्त हो गया-अचित्त हो गया। परिणयं-जिसका  
वर्णादि बदल गया है। विद्धत्थं-शस्त्र परिणत हो गया है। फासुयं-उसे प्रासुक जानकर। पडिग्गाहिज्जा-साधु  
ग्रहण करे। से-वह। भिक्खू वा<sup>०</sup>-साधु अथवा साध्वी। से-अथ। जं-जो। पुण-पुनः। पाणगजायं-पानी के  
सम्बन्ध में यह। जाणिज्जा-जाने। तंजहा-जैसे कि। तिलोदगं वा-तिलों का धोवन। तुसोदगं वा-अथवा तुष  
का धोवन। जवोदगं वा-अथवा यवों का धोवन। आधामगं वा-उबले हुए चावलों का धोवन। सौवीरं वा-  
कांजी के भाजन का धोवन। सुद्धवियडं वा-उष्ण तथा प्रासुक पानी। अन्नयरं वा-या अन्य कोई। तहप्पगारं-

इसी प्रकार के। पाणगजायं-अन्य अचित्त पानी का। पुष्कामेव-पहले ही। आलोइज्जा-अवलोकन करे-देखे और देखकर कहे। आउसोत्ति वा-आयुष्मन्-गृहपते! भङ्गिणित्ति वा-हे भगिनि ! हे बहिन ! इत्तो-इसमें से। अन्नयरं-किसी एक तरह के। पाणगजायं-पानी को। मे-मुझे। दाहिसि-देगी ? से-वह गृहपति। से-उस साधु को। एवं-इस प्रकार। वयंतस्स-बोलते हुए को। परो-गृहस्थ। वइज्जा-कहे। आउसंतो-आयुष्मन्। समणा-श्रमण ! तुमं चेवेयं-तुम इसी। पाणगजायं-जल जात को। पडिग्गहेण वा-अपने पात्र से। उस्सिचिया-नीचे उतार कर-उलीचकर। णं-वाक्यालंकार में है। उयत्तिया-पानी को नितार कर। णं-वाक्यालंकार में है। गिणहाहि-पानी के बर्तन को पकड़ो तो। तहप्पगारं-इस प्रकार के। पाणगजायं-अचित्त पानी को। सयं वा-साधु स्वयं ही। गिण्हज्जा-ग्रहण करे। वा-अथवा। परो-यदि गृहस्थ। से-उस साधु को। दिज्जा-दे तो। फासुयं-उसे प्रासुक जानकर। लाभे संते-मिलने पर। पडिग्गहिज्जा-साधु ग्रहण कर ले।

**मूलार्थ**—साधु या साध्वी गृहस्थ के घर में प्रवेश करने पर पानी के भेदों को जाने जैसे कि— चूर्ण से लिप्त बर्तन का धोवन, अथवा तिल आदि का धोवन, चावल का धोवन अथवा इसी प्रकार का अन्य कोई धोवन तत्काल का किया हुआ हो। जिसका कि स्वाद चलित नहीं हुआ हो, रस अतिक्रान्त नहीं हुआ हो। वर्ण आदि का परिणामन नहीं हुआ हो और शस्त्र भी परिणत नहीं हुआ हो तो ऐसे पानी के मिलने पर भी उसे अप्रासुक जानकर साधु ग्रहण न करे। यदि पुनः वह इस प्रकार जाने कि यह धोवन बहुत देर का बनाया हुआ है और इसका स्वाद बदल गया है, रस का अतिक्रमण हो गया है, वर्ण आदि परिणत हो गया है और शस्त्र भी परिणत हो गया है तो ऐसे पानी को प्रासुक जानकर साधु उसे ग्रहण कर ले।

फिर वह साधु या साध्वी गृहस्थ के घर में जलार्थ प्रविष्ट होने पर जल के विषय में इस प्रकार जाने, यथा— तिलों का धोवन, तुषों का धोवन, यवों का धोवन तथा उबले हुए चावलों का जल, कांजी के बर्तन का धोवन एवं प्रासुक तथा उष्ण जल अथवा इसी प्रकार का अन्य जल इनको पहले ही देखकर साधु गृहपति से कहे— आयुष्मन् गृहस्थ ! अथवा-[ स्त्री हो तो ] हे भगिनि ! क्या मुझे इन जलों में से किसी जल को दोगी ? तब वह गृहस्थ, साधु के इस प्रकार कहने पर यदि कहे कि आयुष्मन् श्रमण ! तुम इस जल के पात्र में से स्वयं उलीचकर और नितार कर पानी ले लो। गृहस्थ के इस प्रकार कहने पर साधु स्वयं ले ले अथवा गृहस्थ के देने पर उसे प्रासुक जान कर ग्रहण कर ले।

**हिन्दी विवेचन**— प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि साधु को वह पानी ग्रहण करना चाहिए जो शस्त्र परिणत हो गया है और जिसका वर्ण, गंध एवं रस बदल गया है। अतः बर्तन आदि का धोया हुआ प्रासुक पानी यदि किसी गृहस्थ के घर में प्राप्त हो तो साधु उसे ग्रहण कर सकता है। इस प्रकार निर्दोष एवं एषणीय प्रासुक जल गृहस्थ की आज्ञा से स्वयं भी ले सकता है। इसका तात्पर्य यह है कि यदि कभी गृहस्थ पानी का भरा हुआ बर्तन उठाने में असमर्थ है और वह आज्ञा देता है तो साधु उस प्रासुक एवं एषणीय पानी को स्वयं ले सकता है।

प्रस्तुत सूत्र में ९ तरह के पानी के नामों का उल्लेख किया गया है— १-आटे के बर्तनों का धोया

हुआ धोवन(पानी) । २-तिलों का धोया हुआ पानी, ३-चावलों का धोया हुआ पानी, ४-जिस पानी में उष्ण पदार्थ-शाक आदि ठंडे किए गए हों, वह पानी, ५-तुषों का धोया हुआ पानी, ६-यवों का धोया हुआ पानी, ७-उबले हुए चावलों का निकाला हुआ पानी, ८-कांजी के बर्तनों का धोया हुआ पानी, ९-उष्ण-गर्म पानी । इसके आगे 'तहप्पगारं' शब्द से यह सूचित किया गया है कि इस तरह के शस्त्र से जिस पानी का वर्ण, गन्ध, रस बदल गया हो वह पानी भी साधु ग्रहण कर सकता है । जैसे- द्राक्षा का पानी, राख से मांजे हुए बर्तनों का धोया हुआ पानी आदि भी प्रासुक एवं ग्राह्य है<sup>१</sup> ।

इससे स्पष्ट हो गया कि साधु शस्त्र परिणत प्रासुक जल ग्रहण कर सकता है । यदि निर्दोष बर्तन आदि का धोया हुआ या गर्म पानी प्राप्त होता हो तो साधु उसे स्वीकार कर सकता है । इसी विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं-

मूलम्- से भिक्खू वा० से जं पुण पाणगं जाणिज्जा-अणंतरहियाए पुढवीए जाव संताणए उद्धट्टु २ निक्खित्ते सिया, असंजए भिक्खुपडियाए उदउल्लेण वा ससिणिद्धेण वा सकसाएण वा मत्तेण वा सीओदगेण वा संभोइत्ता आहट्टु दलइज्जा, तहप्पगारं पाणगजायं अफासुयं० एयं खलु सामगियं० त्तिबेमि ॥४२ ॥

छाया- स भिक्षुर्वा अथ यत् पुनः पानकं जानीयात्- अनन्तर्हितायां पृथिव्यां यावत् सन्तानके, उद्धृत्य २ निक्षिप्तं स्यात्, असंयतः भिक्षुप्रतिज्ञया उदकारेण वा सस्त्रिगधेन वा

१ 'उस्सेइमं' और 'संसेइमं' । इन दो पदों की व्याख्या वृत्तिकार एवं अन्य आगम टीकाकार तथा कोषकारों ने इस प्रकार की है-

'उस्सेइमं वेति' पिष्टोत्स्वेदनार्थमुदकम् । 'संसेइमं वेति' तिलधावनोदकं, यदि वाऽरणिकादिसं-स्विन्नधावनोदकम्'  
- आचाराङ्ग वृत्ति ।

'उत्स्वेदेन निवृत्तमुत्स्वेदिमं-येन बीह्यादि पिष्टं सुराद्यर्थं उत्स्वेद्यते, तथा संसेकेन निवृत्तमति, संसेकिमं' अरणिकादि पत्र शाकमुत्काल्य येन शालिजलेन संसिच्यतेतदिति ।

- स्थानांग सूत्र, ३, ३ वृत्ति (अभयदेव सूरि)

उस्सेइमं- (उत्स्वेदिम) आटा से मिश्रित पानी, आटा धोया जल, (कप्य, ठा० ३।३)

-प्राकृत महार्णव पृ० २३८ ।

संसेइमं- (संसेकिम) संसेक से बना हुआ । नि० चू० १५ ।

उबाली हुई भाजी जिस ठण्डे जल से सींची जाए वह पानी । ठा० ३।३ पत्र १४ कप्य ।

तिलका धोवन । आचारांग २।८४ ।

पिष्टोदक आटे का धोवन । दस० ५।१ १७५ ।

उस्सेइमं- (उत्स्वेदिम) आटे का धोवन । पृ० ३१३ ।

संसेइमं-तिलादि धान्य के धोवन का पानी, जिसमें पत्र शाक आदि बाफने में आते हैं या धान्य ओसावन के काम में आता है वह पानी । - अर्धमागधी कोष, पृ० ३१३ ।

सकषायेण वा मात्रेण वा शीतोदकेन वा संभुक्त्वा-मिश्रयित्वा आहृत्य दद्यात् तथाप्रकारं पानकजातम् अप्रासुकं एतत् खलु सामग्रयम् । इति ब्रवीमि ।

**पदार्थ-** से-वह । भिक्खू वा- साधु अथवा साध्वी गृहपति कुल में प्रवेश करने पर । से-वह । जं- जो । पुण-फिर । पाणगजायं-अचित्त पानी के भेदोपभेद को । जाणिज्जा-जाने यथा । अणंतरहियाए पुढवीए-सचित्त पृथ्वी पर । जाव-यावत् । संताणए-सन्तानक-मकड़ी के जाले आदि पर । उद्धट्टु २-अन्य भाजन से निकाल कर २ । निक्खित्ते सिया-उन सचित्त पृथ्वी आदि पर रखा हुआ हो । असंजाए-असंयत-गृहस्थ । भिक्खुपडियाए-साधु की प्रतिज्ञा से-साधु के लिए । उदउल्लेण वा-जल टपकते हुए हाथों से । ससिणिद्धेण वा-अथवा गीले हाथों से । सकसाएण वा मत्तेण वा-अथवा सचित्त पृथ्वी आदि से अवगुंठित बर्तन से, अथवा । सीओदगेण वा-सचित्त जल से । संभोइत्ता-मिश्रित-मिला करके । आहट्टु-लाकर । दलइज्जा-दे तो साधु । तहप्पगारं-इस प्रकार के । पाणगजायं-जल को । अफासुर्यं-अप्रासुक जानकर ग्रहण न करे । एयं-यह । खलु-निश्चय ही । सामगियं-साधुत्व है अर्थात् साधु का समग्र आचार है । त्तिबेमि-ऐसा मैं कहता हूँ ।

**मूलार्थ-**जल के लिए गृहस्थ के घर में प्रवेश करने पर साधु या साध्वी जल के सम्बन्ध में यदि यह जान ले कि गृहस्थ ने प्रासुक जल को सचित्त पृथ्वी से लेकर मकड़ी आदि के जालों से युक्त पदार्थ पर रखा है या उसने उसे अन्य सचित्त पदार्थ से युक्त बर्तन से निकाल कर रखा है या वह उन हाथों से दे रहा है जिससे सचित्त जल टपक रहा है या उसके हाथ जल से भीगे हुए हैं ऐसे हाथों से, या सचित्त पृथ्वी आदि से युक्त बर्तन से या प्रासुक जल के साथ सचित्त जल मिलाकर दे तो इस प्रकार के जल को अप्रासुक जानकर साधु उसे ग्रहण न करे । यही संयमशील मुनि का समग्र आचार है । ऐसा मैं कहता हूँ ।

**हिन्दी विवेचन-** प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि यदि किसी गृहस्थ के घर पर प्रासुक पानी सचित्त पृथ्वी आदि पर रखा हुआ है, या उसमें सचित्त जल मिलाया जा रहा है, या उस सचित्त जल से गीले हाथों से या सचित्त पृथ्वी या रज आदि से भरे हुए हाथों से दे रहा है, तो साधु को वह पानी नहीं लेना चाहिए । क्योंकि उससे अन्य जीवों की हिंसा होती है । अतः साधु को वही प्रासुक पानी ग्रहण करना चाहिए जो सचित्त पृथ्वी, पानी, अग्नि, वनस्पति आदि पर न रखा हो और गृहस्थ भी इन पदार्थों से युक्त न हो ।

'त्तिबेमि' की व्याख्या पूर्ववत् समझें ।

## प्रथम अध्ययन पिण्डैषणा

### अष्टम उद्देशक

सप्तम उद्देशक के अन्त में प्रासुक पानी के विषय में बताया गया है और प्रस्तुत उद्देशक में भी इसी विषय का और विस्तार से विवेचन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— से भिक्खू वा २ से जं पुण पाणगजायं जाणिज्जा तंजहा-  
अंबपाणगं वा १० अंबाडगपाणगं वा ११ कविट्ठपाण० १२ माउलिंगपा० १३  
मुद्दियापा० १४ दालिमपा० १५ खज्जूरपा० १६ नालियेरपा० १७ करीरपा० १८  
कोलपा० १९ आमलपा० २० चिंचापा० २१ अन्नयरं वा तहप्पगारं पाणगजातं  
सअट्ठियं सकणुयं सबीयगं अस्संजए भिक्खुपडियाए छब्बेण वा दूसेण वा  
वालगेण वा आवीलियाण परिवीलियाण परिसावियाण आहट्टु दलइज्जा  
तहप्पगारं पाणगजायं अफा० लाभे संते नो पडिगांहिज्जा ॥४३॥

छाया— स भिक्षुर्वा तद् यत् पुनः पानकजातं जानीयात् तद्यथा—आम्रपानकं वा १०  
आम्रातकपानकं वा ११ कपित्थपानकं १२ मातुलिंगपानकं १३ मृद्धीकापानकं १४ दाडिमपानकं  
१५ खर्जूरपानकं १६ नालिकेरपानकं १७ करीरपानकं १८ कोलपानकं १९ आमलपानकं  
२० चिंचापानकं २१ अन्यतरत् वा तथाप्रकारं पानकजातं सास्थिकं सकणुकं सबीजकं  
असंयतः भिक्षुप्रतिज्ञया छब्बकेण वा दूष्येण वा वालकेन वा आपीड्य परिपीड्य परिस्त्राव्य  
आहृत्य दद्यात् तथाप्रकारं पानकजातं अप्रा० लाभे सति न प्रतिगृहणीयात्।

पदार्थ— से-वह। भिक्खू वा-साधु अथवा साध्वी गृहस्थ के घर में प्रवेश करने पर। से-वह। पुण-  
फिर। जं-उस। पाणगजायं-अचित्त पानी के सम्बन्ध में। जाणिज्जा-जाने। तंजहा-जैसे कि। अंबपाणगं वा-  
आम्र फल का धोवन। अंबाडगपाणगं वा-अम्बाहड़ फल विशेष का धोवन। कविट्ठपाण०-कपित्थ फल का  
धोवन। माउलिंगपा०-मातुलिंग का धोवन। मुद्दियापा०-ब्राक्षा का धोवन। दालिमपा०-अनार का धोवन या रस।  
खज्जूरपा०-खजूर का धोवन। नालियेरपा०-नारियल का धोवन। करीरपा०-करीर का धोवन। कोलपा०-बदरी  
फल-बेरों का धोवन। आमलपा०-आमले का धोवन। चिंचापा०-इमली का धोवन-पानी। अन्नयरं वा-अन्यतर।  
तहप्पगारं-इसी प्रकार का कोई। पाणगजायं-जल विशेष। सअट्ठियं-अस्थि-गुठली के सहित हो। सकणुयं-  
वनस्पति छाल के सहित हो। सबीयं-बीज सहित हो और। अस्संजए-असंयत-गृहस्थ। भिक्खुपडियाए-भिक्षु  
के लिए। छब्बेण वा-छलनी से। दूसेण वा-वस्त्र से अथवा। वालगेण वा-गवादि के बालों से बनी हुई छलनी

से। आवीलियाण-गुठली आदि को दूर करने के लिए एक बार छानकर। परिवीलियाण-बार-बार छानकर। परिसावियाण-गुठली आदि को निकाल कर। आहट्टु-इस प्रकार से उस धोवन को लाकर। दलइज्जा-दे तो। तहप्पगारं-इस प्रकार के। पाणगजार्यं-जल को। अफां-अप्रासुक जानकर। लाभे संते-मिलने पर भी। नो पडिगाहिज्जा-ग्रहण न करे।

**मूलार्थ**—गृहस्थ के घर में पानी के निमित्त प्रवेश करने पर साधु या साध्वी जल के विषय में इन बातों को जाने। जैसे कि—आम्रफल का पानी, अम्बाडगफल का पानी, कपित्थ फल का पानी, मातुलिंग फल का पानी, द्राक्षा का पानी, अनार का पानी, खजूर का पानी, नारियल का पानी, करीर का पानी, बदरी फल-बेर का पानी, आमले का पानी और इमली का पानी, तथा इसी प्रकार का अन्य पानी, जो कि गुठली सहित, छाल सहित और बीज सहित-बीज के साथ मिश्रित है, उसे यदि गृहस्थ भिक्षु के निमित्त बांस की छलनी से, वस्त्र से या बालों की छलनी से, एक बार अथवा अनेक बार छान कर और उसमें रहे हुए गुठली छाल और बीजादि को छलनी के द्वारा अलग करके उसे दे तो साधु इस प्रकार के जल को अप्रासुक जानकर मिलने पर भी ग्रहण न करे।

**हिन्दी विवेचन**—प्रस्तुत सूत्र में २१ प्रकार के प्रासुक पानी का उल्लेख किया गया है। उसमें आम्र फल आदि के धोवन पानी के विषय में बताया गया है कि यदि कोई गृहस्थ आम्र आदि को धोने के पश्चात् उस पानी को छान रहा है और उसमें रहे हुए गुठली छाल एवं बीज आदि को निकाल रहा है, तो साधु को उक्त पानी नहीं लेना चाहिए। क्योंकि वह वनस्पतिकायिक (बीज, गुठली आदि) जीवों से युक्त होने के कारण निर्दोष एवं ग्राह्य नहीं है।

प्रस्तुत सूत्र में 'अस्थि' शब्द गुठली के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। क्योंकि आम्र के साथ उसका प्रयोग होने के कारण उसका गुठली अर्थ ही घटित होता है। द्राक्षा की अपेक्षा त्वक्-छाल, अनार आदि की अपेक्षा से बीज शब्द का प्रयोग हुआ है।

प्रस्तुत सूत्र का तात्पर्य यह है कि आम्र आदि फलों का धोया हुआ पानी एवं रस यदि गुठली, बीज आदि से युक्त है और उसे बांस की बनाई गई टोकरी या गाय के बालों की बनाई गई छलनी या अन्य किसी पदार्थ से निर्मित छलनी या वस्त्र आदि से एक बार या एक से अधिक बार छानकर तथा उसमें से गुठली, बीज आदि को निकाल कर दे तो वह पानी या रस साधु के लिए अग्राह्य है। क्योंकि इस तरह का पानी उद्गमादि दोषों से युक्त होता है<sup>१</sup>। अतः साधु को ऐसा जल अनेषणीय होने के कारण ग्रहण नहीं करना चाहिए।

१ उद्गम के दोष १६ प्रकार के बताए गए हैं—

आहाकम्मुददेसिअं पूतिकम्मे अ मीसजाए अ।  
ठवणा पाहुडियाए पाओअर कीय पामिच्चे॥  
परियट्टिए अभिहडे उब्भिन्ने मालोहडे इअ।  
अच्छेजे अणिसिदठे अन्धोअरए अ सोलसमे॥

अपने स्थान में स्थित साधु को भौतिक पदार्थों से किस तरह अनासक्त रहना चाहिए, इस बात का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं-

**मूलम्—** से भिक्खू वा २ आगंतारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावङ्गिहेसु वा परियावसहेसु वा अन्नगंधाणि वा पाणगंधाणि वा सुरभिगंधाणि वा आघाय २ से तत्थ आसायपडियाए मुच्छिए गिद्धे गढिए अज्झोववन्ने अहो गंधो २ नो गंधमाघाइज्जा ॥४४ ॥

**छाया—** स भिक्षुर्वा २ आगंत्रगारेषु वा आरामागारेषु वा गृहपतिगृहेषु वा पर्यावसथेषु वा अन्नगन्धान् वा पानगन्धान् वा सुरभिगन्धान् वा आघाय २ स तत्र आस्वादनप्रतिज्ञया मूर्छितो गृद्धो ग्रथितोऽध्युपपन्नः ( सन् ) अहो-गन्धः २ न गन्धं जिघ्रेत् ।

**पदार्थ—** से-वह। भिक्खू वा०-भिक्षु-साधु अथवा साध्वी। आगंतारेसु वा-धर्मशालाओं में। आरामागारेसु वा-अथवा उद्यान शालाओं में। गाहावङ्गिहेसु वा-अथवा गृहस्थों के घरों में। परियावसहेसु वा-अथवा भिक्षुओं के मठों में अवस्थित-ठहरा हुआ हो तो उस समय। अन्नगंधाणि वा-अन्न की गन्ध को। पाणगन्धाणि वा-अथवा पानी की गन्ध को। सुरभिगन्धाणि वा-केसर-कस्तूरी आदि की सुगन्ध को। आघाय २-सूँघकर। से-वह भिक्षु। तत्थ-उन सुवासित पदार्थों में। आसायपडियाए-आस्वादन की प्रतिज्ञा से। मुच्छिए-मूर्छित। गिद्धे-गृद्ध। गढिए-ग्रथित। अज्झोववन्ने-आसक्त होता हुआ। अहो गंधो २-कि यह सुगन्ध कैसी मीठी एवं सुन्दर है ऐसे कहता हुआ। गंधं-उस गन्ध को। नो आघाइज्जा-ग्रहण न करे-सूँघे नहीं।

**मूलार्थ—**धर्मशालाओं में, आरामशालाओं में, गृहस्थों के घरों में या परिव्राजकों के मठों में ठहरा हुआ साधु या साध्वी अन्न एवं पानी की तथा सुगन्धित पदार्थों कस्तूरी आदि की गन्ध को सूँघ कर उस गन्ध के आस्वादन की इच्छा से उसमें मूर्छित, गृद्धित, ग्रथित और आसक्त होकर कि वाह ! क्या ही अच्छी सुगन्धि है, कहता हुआ उस गन्ध की सुवास न ले।

**हिन्दी विवेचन—** प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि धर्मशाला में, बगीचे में, गृहस्थ के मकान में, परिव्राजक-संन्यासी के मठ में अथवा किसी भी निर्दोष एवं एषणीय स्थान में ठहरा हुआ साधु अनासक्त भाव से अपनी साधना में संलग्न रहे। यदि उक्त स्थानों के पास स्वादिष्ट अन्न एवं पानी या अन्य सुवासित पदार्थों की सुहावनी सुवास आती हो तो वहां स्थित साधु उसमें आसक्त होकर ठस सुवास को ग्रहण न करे और न यह कहे कि क्या ही मधुर एवं सुहावनी सुवास आ रही है। परन्तु, वह अपने मन आदि योगों को उस ओर से हटाकर अपनी साधना में - स्वाध्याय, ध्यान, चिन्तन-मनन आदि में लगा दे।

अब सूत्रकार फिर से आहार ग्रहण करने के सम्बन्ध में कहते हैं-

**मूलम्—** से भिक्खू वा २ से जं० सालुयं वा विरालियं वा सासवनालियं वा अन्नयरं वा तहप्पगारं आमगं असत्थपरिणयं अफासु० । से भिक्खू वा० से जं पुण० पिप्पलिं वा पिप्पलिचुण्णं वा मिरियं वा मिरियचुण्णं वा सिंगबेरं वा

सिंगबेरचुण्णं वा अन्नयरं वा तहप्पगारं आमगं वा असत्थपं । से भिक्खू वां से जं पुण पलंबजायं जाणिज्जा, तंजहा-अंबपलंबं वा अंबाडगपलंबं वा तालपं सुरहिं झिञ्झिरिपं सल्लरपं अन्नयरं वा तहप्पगारं पलंबजायं आमगं असत्थपं । से भिक्खू २ से जं पुण पवालजायं जाणिज्जा तंजहा-आसोट्ठपवालं वा निग्गोहपं पिलुंखुपं नियू ( पू ) रपं सल्लइपं अन्नयरं वा तहप्पगारं पवालजायं आमगं असत्थपरिणयं । से भिं से जं पुणं सरडुयजायं जाणिज्जा, तंजहा-अंबंसरडुयं वा कविट्ठसरं दाडिमसरं बिल्लसं अन्नयरं वा तहप्पगारं सरडुयजायं आमं असत्थपरिणयं । से भिक्खू वां से जं पुं तंजहा उंबरमंथुं वा निग्गोहमं पिलुंखुमं आसोत्थमं अन्नयरं वा तहप्पगारं वा मंथुजायं आमयं दुरुक्कं साणुबीयं अफासुयं ॥४५ ॥

छाया- स भिक्षुर्वा अथ यत् शालुकं वा विरालिकं वा सर्षपनालिकं वा अन्यतरद् वा तथाप्रकारं आमकं अशस्त्रपरिणतं अप्रासुकं । स भिक्षुर्वा अथ यत् पुनः पिप्पलीं वा पिप्पलीचूर्णं वा मरिचं वा मरिचचूर्णं वा शृंगबेरं वा शृंगबेरचूर्णं वा अन्यतरद् वा तथाप्रकारं आमकं वा अशस्त्रपरिणतं । स भिक्षुर्वा अथ यत् पुनः प्रलम्बजातं जानीयात्, तद्यथा-आम्रपलम्बं वा अम्बाडगप्रलम्बं वा तालप्रलम्बं वा झिञ्झिर प्रलम्बं सुरभिं शल्लकीं अन्यतरद् वा तथाप्रकारं प्रलम्बजातं आमकं अशस्त्रपरिणतं । स भिक्षुः २ अथ यत् पुनः प्रवालजातं जानीयात्, तद्यथा-अश्वत्थप्रवालं वा न्यग्रोधप्रवालं वा प्लक्षप्रं नियू ( पू ) र प्रं अन्यतरद् वा तथाप्रकारं प्रवालजातं आमकं अशस्त्रपरिणतम् । स भिक्षुर्वा अथ यत् पुनः सरडुयं ( अबद्धास्थिफलम् ) जानीयात्, तद्यथा-सरडुयं वा कपित्थसरं दाडिमसरं विल्वसरं अन्यतरद् वा तथाप्रकारं सरडुयजातं आमकं अशस्त्रपरिणतम् । स भिक्षुर्वा अथ यत् पुनः तद्यथा-उदुम्बरमंथुं वा न्यग्रोधमंथुं वा प्लक्षमंथुं वा अश्वत्थमं अन्यतरद् वा तथाप्रकारं मं जातं आमकं दुरुक्कं सानुबीजं अप्रासुकं ।

पदार्थ- से-वह । भिक्खू वा-साधु अथवा साध्वी गृहपति कुल में प्रवेश करने पर । से-अथ-यदि । जं-जो फिर जाने कि । सालुयं वा-जल से उत्पन्न होने वाला कन्द विशेष । विरालियं वा- अथवा स्थल से उत्पन्न होने वाला कन्द । सासवनालियं वा-सर्षपनालिका कन्द । अन्नयरं वा-तथा अन्य । तहप्पगारं-इसी प्रकार का कन्द विशेष । आमगं-कच्चा । असत्थपरिणयं-जो शस्त्र से परिणत नहीं हुआ उसे । अफासुयं-अप्रासुक जानकर मिलने पर ग्रहण न करे । से-वह । भिक्खू वा-साधु या साध्वी गृहपति कुल में प्रवेश करने पर । से जं पुण-यदि फिर यह जाने कि । पिप्पलिं वा-पीपल-मद्य । पिप्पलिचुण्णं वा-पीपल का चूर्ण । मिरियं वा-अथवा मिरिच । मिरियचुण्णं वा-तथा मिर्च का चूर्ण । सिंगबेरं वा-अदरक । सिंगबेरचुण्णं वा-अथवा अदरक का चूर्ण । अन्नयरं वा-तथा अन्य । तहप्पगारं-इसी प्रकार का । आमगं वा-कच्चा चूर्ण एवं अपरिपक्व



पदार्थ। असत्थप०-जिसे शस्त्र ने परिणत नहीं किया है उसे। अफासुर्यं-अप्रासुक जानकर मिलने पर भी ग्रहण न करे। से-वह। भिक्खू-साधु अथवा साध्वी गृहस्थ के घर में प्रवेश करने पर। से जं पुण-यदि फिर। पलंबजायं-फलों की जाति को। जाणिज्जा-जाने। तंजहा-जैसे कि। अंबपलंबं वा-आम्र फल को। अंबाडगपलंबं वा-अम्बाडग फल को। तालप०-ताड़ के फल को। झिञ्झिरप०-लताओं के फल को। सुरहि०-सुरभि-वनस्पति विशेष के फल को। सल्लरप०-शल्य-वनस्पति विशेष के फल को। अन्नयरं-तथा अन्य। तहप्पगारं-इसी प्रकार के। पलंबजायं-प्रलम्ब-फल विशेष को। आमगं-कच्चा। असत्थप०-जो कि शस्त्र परिणत नहीं हुआ, ऐसा मिलने पर अप्रासुक जानकर ग्रहण न करे। से-वह। भिक्खू वा-साधु या साध्वी गृहस्थ के घर जाने पर। से जं पुण-वह फिर। पवालजायं-प्रवाल जात को। जाणिज्जा-जाने। तंजहा-जैसे कि। आसोट्टपवालं वा-पीपल वृक्ष के प्रवाल-पत्र। निग्गोहप०-व्यग्रोध-वट वृक्ष के पत्ते। पिलुंखुप०-पिप्परी वृक्ष के पत्ते। नियू ( पू ) रप०-नन्दी वृक्ष के पत्ते। सल्लइप०-शल्य वृक्ष के पत्ते तथा। अन्नयरं-अन्य। तहप्पगारं-इसी प्रकार के। पवालजायं-पत्ते। आमगं-कच्चे हैं। असत्थप०-जो शस्त्र परिणत नहीं हैं तो उन्हें। अफासुर्यं-अप्रासुक जानकर ग्रहण न करे। से भिक्खू वा०-वह साधु या साध्वी गृहपति कुल में जाने पर। से जं पुण-वह फिर। सरडुयजायं-सरडु जात-अबद्धास्थि फल जिसमें अभी तक गुठली नहीं बनी है ऐसे सुकोमल फलों को। जाणिज्जा-जाने। तंजहा-जैसे कि। अंबसरडुयं वा-आम का सुकोमल फल। कविट्ठसर०-कपित्थ का सुकोमल फल। दाडिमसर०-अनार का सुकोमल फल। बिस्ससर०-बिल्व का सुकोमल फल तथा। अन्नयरं-अन्य। तहप्पगारं-इसी प्रकार। सरडुयजायं-सुकोमल फलों को जो। आमं-कच्चे हैं। असत्थप०-जिसको शस्त्र परिणत नहीं हुआ है, मिलने पर भी अप्रासुक जानकर उसे ग्रहण न करे। से भिक्खू वा-वह साधु या साध्वी गृहपति कुल में प्रविष्ट होने पर। से जं पु०-फिर इस प्रकार जाने। तंजहा-जैसे कि। उंबरमंथुं वा-उदुम्बर फल का चूर्ण। निग्गोहमं०-वट वृक्ष के फल का चूर्ण। पिलुंखुमं०-पिप्परी फल का चूर्ण। आसोत्थमं०-अश्वत्थ पीपल का चूर्ण। अन्नयरं-तथा अन्य। तहप्पगारं-इसी प्रकार का। मंथुजायं-मन्थुजात-चूर्ण। आमयं-कच्चा है। दुरुक्कं-थोड़ा पीसा हुआ है। साणुबीयं-जिसका योनि बीज विध्वस्त नहीं हुआ है तो। अफासुर्यं-उसे अप्रासुक जानकर ग्रहण न करे।

मूलार्थ—गृहपति के घर में प्रविष्ट साधु या साध्वी जलज कन्द, और सर्षपनालिका कन्द तथा इसी प्रकार का अन्य कोई कच्चा कन्द जिसको शस्त्रपरिणत नहीं हुआ ऐसे कन्द आदि को अप्रासुक जानकर मिलने पर भी ग्रहण न करे।

गृहस्थ के घर में प्रविष्ट होने पर साधु वा साध्वी पिप्पली-पिप्पली का चूर्ण, मिरच-मिरच का चूर्ण, अदरक-अदरक का चूर्ण, तथा इसी प्रकार का अन्य कोई पदार्थ या चूर्ण, कच्चा और अशस्त्र परिणत-जिसे शस्त्र परिणत नहीं हुआ मिलने पर अप्रासुक जान कर ग्रहण न करे।

गृहपति के घर में प्रविष्ट साधु या साध्वी प्रलम्बजात फलजात-फल समुदाय को जाने, यथा-आम्रप्रलम्ब आमफल का गुच्छा-फलसामान्य, अम्बाडग फल, ताडफल, लताफल, सुरभि फल, और शल्यकी का फल तथा इसी प्रकार का अन्य कोई प्रलम्बजात कच्चा और जिसे शस्त्र परिणत नहीं हुआ मिलने पर अप्रासुक जान कर ग्रहण न करे।

गृहस्थ के घर में प्रविष्ट साधु या साध्वी प्रवालजात-पत्र समुदाय को जाने यथा अश्वत्थ प्रवाल, व्यग्रोध-वट प्रवाल, प्लक्ष प्रवाल, निपूर प्रवाल, नन्दी वृक्ष प्रवाल और शल्यकी प्रवाल तथा इस प्रकार का कोई अन्य प्रवालजात कच्चा अशस्त्रपरिणत जिसे शस्त्रपरिणत नहीं हुआ,

मिलने पर अप्रासुक जानकर ग्रहण न करे।

गृहपति के घर में प्रविष्ट साधु या साध्वी अबद्धास्थि फल-कोमल फल को जाने, जैसे कि-आम्र वृक्ष का कोमल फल, कपित्थ का कोमल फल, अनार का कोमल फल और बिल्व का कोमल फल तथा इसी प्रकार का अन्य कोमल फल जो कि कच्चा और शस्त्र परिणत नहीं, मिलने पर भी अप्रासुक जान कर साधु को उसे परिग्रहण न करना चाहिए।

गृहस्थी के घर में प्रविष्ट साधु या साध्वी मन्थु के सम्बंध में जानकारी करे जैसे- उदुम्बर मन्थु-चूर्ण, न्यग्रोधमन्थु, प्लक्षमंथु, अश्वत्थमन्थु, तथा इसी प्रकार का अन्य मन्थुजात जो कि कच्चा और थोड़ा पीसा हुआ तथा सबीज अर्थात् जिसका कारण-योनि बीज विध्वस्त नहीं हुआ ऐसे चूर्ण जात को मिलने पर भी अप्रासुक जानकर ग्रहण न करे।

**हिन्दी विवेचन-** प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि साधु को अपक्व कन्द-मूल, वनस्पति एवं फल आदि नहीं लेने चाहिए। यदि कच्ची सब्जी शस्त्रपरिणत हो गई है तो वह ग्राह्य है, परन्तु, जब तक वह शस्त्रपरिणत नहीं हुई है, तब तक सचित्त है; अतः साधु के लिए अग्राह्य है।

'विरालियं' का अर्थ है- जमीन में उत्पन्न होने वाला कन्द विशेष। 'पलम्ब जायं' का तात्पर्य फल से है। 'अबद्धा अस्थि फलं' का तात्पर्य है-वह फल जिस में अभी तक गुठली नहीं बन्धी है, ऐसे सुकोमल फल को 'सरडुय' कहते हैं 'मन्थु' का अर्थ चूर्ण होता है और 'साणुवीयं' का तात्पर्य है- वह बीज जिसकी योनि का अभी नाश नहीं हुआ है। 'झिञ्जरी' शब्द लता विशेष का बोधक है। इस पाठ का तात्पर्य यह है कि साधु को सचित्त वनस्पति को ग्रहण नहीं करना चाहिए।

पुनः आहार के सम्बन्ध में उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं-

**मूलम्-** से भिक्खू वा० से जं पुण० आमडागं वा पूइपिन्नागं वा महं वा मज्जं वा सपिं वा खोलं वा पुराणगं वा इत्थ पाणा अणुप्पसूयाइं जायाइं संवुड्ढाइं अव्वुक्कंताइं अपरिणया इत्थ पाणा अविद्धत्था नो पडिगाहिज्जा ॥४६ ॥

छाया- स भिक्षुर्वा० स यत् पुनः० आमपत्रकं वा पूतिसिण्णयाकं वा मधु वा मद्यं वा सपिं वा खोलं वा पुराणकं वा अत्र प्राणाः अनुप्रसूता जाता संवृद्धाः अव्युत्क्रान्ताः अपरिणताः अत्र प्राणाः ( प्राणिनः ) अविध्वस्ताः नो प्रतिगृण्हीयात् ।

**पदार्थ-** से-वह। भिक्खू वा०-साधु अथवा साध्वी। से जं पुण०-गृहस्थ के घर में प्रविष्ट हुआ यदि इस प्रकार जाने कि। आमडागं वा-अर्द्धपक्व शाक अथवा। पूइपिन्नागं-सड़ी हुई खल अथवा। महं वा-मधु। मज्जं वा-मद्य। सपिं वा-घृत। खोलं वा-अथवा खोल-मद्य के नीचे का कर्दम-कीच। पुराणगं वा-ये पुराने पदार्थ। इत्थ-इनमें। पाणा-प्राणी-जीव। अणुप्पसूयाइं-उत्पन्न होते हैं। जायाइं-प्राणियों का जन्म होता है। संवुड्ढाइं-वृद्धि को प्राप्त होते हैं। अव्वुक्कंताइं-व्युत्क्रान्त नहीं होते हैं तथा। अपरिणया-परिणत नहीं होते हैं। इत्थ-इनमें। पाणा-प्राणी। अविद्धत्था-विध्वंस को प्राप्त नहीं हुए हैं, तो उसके मिलने पर भी। नो पडिगाहिज्जा-ग्रहण न करे।

**मूलार्थ-**गृहपति कुल में प्रविष्ट हुआ साधु या साध्वी अर्द्धपक्व शाक, सड़ी हुई खल,

मधु, मद्य, सर्पि-घृत, खोल-मद्य के नीचे का कर्दम-कीच इन पुराने पदार्थों को ग्रहण न करे, कारण कि-इन में प्राणी जीव उत्पन्न होते हैं, जन्मते हैं, तथा वृद्धि को प्राप्त होते हैं और इन में प्राणियों का व्युत्क्रमण, परिणमन तथा विध्वंस नहीं होता, इसलिए मिलने पर भी उन पदार्थों को ग्रहण न करे।

**हिन्दी विवेचन-** प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि साधु को कच्चा पत्र, (वृक्षादि का पत्ता), सचित पत्र या अर्द्धपक्व पत्र एवं शाक-भाजी आदि ग्रहण नहीं करना चाहिए और सड़ी हुई खल एवं पुराना मद्य, मधु (शहद), घृत और मद्य के नीचे जमा हुआ कर्दम नहीं लेना चाहिए। क्योंकि ये पदार्थ बहुत दिनों के पुराने होने के कारण उनका रस विचलित हो जाता है और इस कारण उनमें त्रस जीव उत्पन्न हो जाते हैं। इसलिए मुनि को ये पदार्थ ग्रहण नहीं करने चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त मधु एवं घृत तो साधु के लिए कल्पनीय हैं। परन्तु, मद्य अकल्पनीय है, अतः मद्य शब्द कुछ विचारणीय है। क्योंकि सूत्र में कहा गया है कि पुराना मद्य एवं उसके नीचे जमा हुआ कर्दम (मैल) नहीं लेना, तो इसका अर्थ यह है कि नया मद्य लिया जा सकता है। किन्तु, आगमों में मद्य एवं मांस का सर्वथा निषेध किया गया है। अतः यहां इसका अर्थ है-मद्य के समान गुण वाला पदार्थ। यदि इसका तात्पर्य शराब से होता तो उसके अन्य भेदों का उल्लेख भी करते। क्योंकि सूत्र की यह एक पद्धति है कि जिस वस्तु का उल्लेख करते हैं, उसके सब भेदों का नाम गिना देते हैं। यहां मद्य शब्द के साथ अन्य नामों का उल्लेख नहीं होने से ऐसा लगता है कि मद्य का अर्थ होगा-उसके सदृश पदार्थ। आगम में युगलियों के अधिकार में दस प्रकार के कल्पवृक्षों में 'मातंग' कल्प-वृक्ष का नाम आता है। उसके फल मद्य के समान मादक होते हैं। आजकल महुए के फलों को उसके समान समझ सकते हैं<sup>१</sup>। इससे स्पष्ट है कि मद्य शब्द मदिरा का बोधक नहीं है। आगम में मदिरा का प्रबल शब्दों में निषेध किया गया है। इसके लिए दशवैकालिक सूत्र का ५वां अध्ययन द्रष्टव्य है<sup>२</sup>। दशवैकालिक सूत्र प्रायः आचाराङ्ग का पद्यानुवाद है। इससे प्रस्तुत सूत्र का मदिरा सदृश पदार्थ अर्थ ही उपयुक्त प्रतीत होता है।

१ जीवाभिगम सूत्र।

२ सुरं वा मेरुं वावि, अन्नं वा मज्जरं रसं ।  
ससक्खं न पिबे भिक्खु, जसं सारक्खमप्पणो ॥  
पियए एगओ तेणो, न मे कोई विआणइ ।  
तस्स पस्सह दोसाइं, नियडिं च सुणेह मे ॥  
वड्ढइ सुंडिआ तस्स, मायामोसं च भिक्खुणो ।  
अयसो अ अनिव्वाणं, सययं च असाहुआ ॥  
निच्चुक्खिगो जहा तेणो, अत्तकम्महिं दुम्मइ ।  
तारिसो मरणंते वि, न आराहेइ संवरं ॥  
आयरिए नाराहेइ, सम्णे आवि तारिसो ।  
गिहत्था वि णं गरिहंति, जेण जाणंति तारिसं ॥  
एवं तु अगुणप्येही, गुणाणं च विवज्जए ।  
तारिसो मरणंतेवि, ण आराहेइ संवरं ॥  
तयं कुव्वइ मेहावी, पणीयं वज्जए रसं ।  
मज्जप्पमायविरओ; तवस्सी अइउक्कसो ॥

आहार के विषय में और बातों का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं।

**मूलम्**— से भिक्खू वा० से जं० उच्छुमेरगं वा अंककरेलुगं वा कसेरुगं वा सिंघाडगं वा पूड्आलुगं वा अन्नयरं वा० । से भिक्खू वा० से जं० उप्पलं वा उप्पलनालं वा भिसं वा भिसमुणालं वा पुक्खलं वा पुक्खलविभंगं वा अन्नयरं वा तहप्पगारं० ॥४७॥

**छाया**— स भिक्षुर्वा स यत् इक्षुमेरकं वा अंककरेलुकंकसेरुकं वा शृंगाटकं वा पूतिआलुकं वा अन्यतरद् वा० ( तथाप्रकारं ) ।

स भिक्षुर्वा० स यत्० उत्पलं वा उत्पलनालं वा बिसं वा बिसमृणालं वा पुष्करं वा पुष्करविभंगं वा अन्यतरद् वा तथाप्रकारं० ।

**पदार्थ**— से-वह। भिक्खू वा-साधु अथवा साध्वी। से जं०-फिर इस प्रकार जाने यथा। उच्छुमेरगं वा-इक्षुखण्ड-गंडेरी। अंककरेलुगं वा-अंक करेलु नामक वनस्पति। कसेरुगं वा-कसेरु। सिंघाडगं वा-सिंघाडे। पूड्आलुगं वा-पूतिआलुक-वनस्पति विशेष। अन्नयरं वा०-तथा इसी प्रकार की अन्य वनस्पति जो कच्ची-शस्त्र परिणत न हो, तो उसे अप्रासुक जान कर साधु ग्रहण न करे।

से-वह। भिक्खू वा-साधु या साध्वी गृहस्थ के घर जाने पर। से जं० पुण०-फिर इस प्रकार जाने यथा। उप्पलं वा-उत्पल कमल। उप्पलनालं वा-उत्पल कमल की नाल। भिसं वा-कमल का कन्द मूल। भिसमुणालं वा। कमल के कन्द के ऊपर की लता। पुक्खलं वा-कमल की केसर। पुक्खलविभंगं वा-कमल का कन्द। अन्नयरं वा०-तथा अन्य। तहप्पगारं-इसी प्रकार का कन्द आदि जो कच्चा और अशस्त्र परिणत हो तो उसे साधु मिलने पर भी अप्रासुक जानकर ग्रहण न करे।

**मूलार्थ**—गृहपति कुल में प्रवेश करने पर साधु या साध्वी इस प्रकार से जाने, यथा-इक्षुखंड-गंडेरी, अंककरेलु नामक वनस्पति, कसेरु, सिंघाडा और पूति आलुक तथा अन्य इसी प्रकार की वनस्पति विशेष जो शस्त्र परिणत नहीं हुई, उसे मिलने पर भी अप्रासुक जान कर साधु ग्रहण न करे।

गृहस्थ के घर में प्रविष्ट हुआ साधु या साध्वी यदि यह जान ले कि उत्पल-कमल, उत्पलकमल की नाल, उसका कन्द-मूल, उस कन्द के ऊपर की लता, कमल की केसर और पद्म कन्द तथा इसी प्रकार का अन्य कन्द कोई कच्चा हो, जिसको शस्त्र परिणत नहीं हुआ हो तो साधु मिलने पर भी उसे अप्रासुक जानकर ग्रहण न करे।

**हिन्दी विवेचन**— प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि साधु को इक्षुखंड, कसेरु, सिंघाडा, उत्पल(कमल), उत्पल-नाल(कमल की डंडी), भृणाल(कमल के नीचे का कन्द) आदि ग्रहण नहीं करना चाहिए। क्योंकि ये सचित्त होते हैं, अतः जब तक शस्त्रपरिणत न हों तब तक साधु के लिए अग्राह्य हैं।

इस विषय में और पदार्थों का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं-

मूलम्— से भिक्खू वा २ से जं पु० अग्गबीयाणि वा मूलबीयाणि वा खंधबीयाणि वा पोरबी० वा अग्गजायाणि वा मूलजा० वा खंधजा० वा पोरजा० वा नन्त्थ तक्कलिमत्थएण वा तक्कलिसीसेण वा नालियेरमत्थएण वा खज्जूरिमत्थएण वा तालम० अन्नयरं वा तह० । से भिक्खू वा २ से जं उच्छुं वा काणगं वा अंगारियं वा संमिस्सं विगदूमियं वित्तग्गं वा कंदलीऊसुगं अन्नयरं वा तहप्पगा० ।

से भिक्खू वा० से जं लसुणं वा लसुणपत्तं वा ल० नालं वा लसुणकंदं वा ल० चोयगं वा अन्नयरं वा० । से भिक्खू वा० से जं अंच्छियं वा कुंभिपक्कं वा तिंदुगं वा बेलुगं वा कासवनालियं वा अन्नयरं वा तहप्पगारं आमं असत्थप० । से भिक्खू वा० से जं कणं वा कणकुंडगं वा कणपूयलियं वा चाउलं वा चाउलपिट्ठं वा तिलं वा तिलपिट्ठं वा तिलपप्पडगं वा अन्नयरं वा तहप्पगारं आमं असत्थप० लाभे संते नो प०, एयं खलु तस्स भिक्खुस्स सामग्गियं ॥४८ ॥

छाया— स भिक्षुर्वा अथ यत् पुनः० अग्रबीजानि वा मूलबीजानि वा स्कन्धबीजानि वा पर्वबीजानि वा, अग्रजातानि वा मूलजातानि वा, स्कन्धजातानि वा पर्वजातानि वा नान्यस्माद्, तक्कलीमस्तकेन वा तक्कलीशीर्षेण वा नालिकेरमस्तकेन वा खज्जूरमस्तकेन वा तालमस्तकेन वा अन्यतरद् वा तथाप्रकारं० ।

स भिक्षुर्वा २ अथ यत् इक्षुं वा काणकं वा अंगारतिकं वा संमिश्रं वृकभक्षितं वेत्राग्रं कन्दलीमध्यभागं अन्यतरद् वा तथाप्रकारं० ।

स भिक्षुर्वा० अथ यत् लशुनं वा लशुनपत्रं वा लशुननालं वा लशुनकन्दं वा लशुनचोदकं वा अन्यतरद् वा० स भिक्षुर्वा० स यत् अस्थिकं वा कुंभिपक्कं वा तिन्दुकं वा बित्त्वं वा काश्यपनालिकां वा अन्यतरद् वा तथाप्रकारं आमं अशस्त्रपरिणतं० ।

स भिक्षुर्वा० स यत् कणं वा कणकुंडकं वा कणपूपलिकां वा ओदनं वा ओदनपिष्टं वा तिलं वा तिलपिष्टं वा तिलपर्पटकं वा अन्यतरद् वा तथाप्रकारं आमं अशस्त्रपरिणतं लाभे सति न प्रतिगृण्णीयात् । एवं खलु तस्य भिक्षोः सामग्र्यम् ।

पदार्थ— से-वह । भिक्खू वा-साधु या साध्वी गृहपति कुल में प्रविष्ट हुआ । से जं-इस प्रकार जाने, जैसे कि- । अग्गबीयाणि वा-अग्रबीज, जया कुसुमादि, अथवा । मूलबीयाणि वा-मूल बीज-जात्यादि । खंधबीयाणि वा-स्कन्ध बीज-सल्लक्यादि । पोरबीयाणि-पर्व बीज-इक्षु दण्डादि अथवा । अग्गजायाणि वा-अग्रजात-अग्रभाग में उत्पन्न होने वाले । मूलजा०-मूल जात-मूल में उत्पन्न होने वाले । खंधजा०-स्कन्ध जात-स्कन्ध में उत्पन्न होने वाले । पोरजा०-पर्वजात-पर्व में उत्पन्न होने वाले । नन्त्थ-इतना विशेष है कि ये उक्त स्थानों

में उत्पन्न होते हैं अन्य स्थानों पर नहीं, अतः इनको अग्रजातादि कहते हैं। णं-यह वाक्यालंकार में है। तक्कलि-मत्थए-कन्दली के मध्य का गर्भ तथा । तक्कलिसीसे-कन्दली स्तबक । णालिएरमत्थए-अथवा नारियल का मध्य गर्भ । खजूरमत्थए-खजूर का मध्य गर्भ अथवा । तालमत्थए-ताल का मध्य गर्भ, तथा । अन्नयरं वा-अन्य । तहप्पगारं-इसी प्रकार का । आमं-कच्चा और जिसको शस्त्र परिणत नहीं हुआ, मिलने पर अप्रासुक जान कर ग्रहण न करे।

से-वह । भिक्खू वा २-साधु अथवा साध्वी गृहस्थ के घर में प्रवेश करने पर । से जं-इस प्रकार जाने, यथा । उच्छुं वा-इक्षु और इक्षु के समान अन्य वनस्पति को तथा । काणां वा-व्याधि विशेष से सच्छिद्र हुई वनस्पति को । अंगारियं वा-अथवा ऋतु विशेष से जिसका वर्ण और हो गया हो । संमिस्सं-वह वनस्पति जिसकी त्वचा फटी हुई हो । विगदूमियं-वृक्ष या श्याल भक्षित अर्थात् जिसे वृक्ष या शृगाल आदि ने खाया हुआ हो । वित्तगगं वा-वेतस-बैत का अग्र भाग अथवा । कंदलीऊसुगं-कन्दली का मध्य भाग तथा । अन्नयरं वा-अन्य । तहप्पगारं-इसी प्रकार की कच्ची और अशस्त्र परिणत वनस्पति, मिलने पर अप्रासुक जानकर साधु उसे ग्रहण न करे।

से-वह । भिक्खू वा-साधु अथवा साध्वी गृहपति कुल में प्रवेश करने पर । से जं पुण-फिर इस प्रकार जाने, यथा । लसुणं वा-लशुन को । लसुणपत्तं वा-लशुन के पत्र को । लसुणनालं वा-लशुन की नाल को अथवा । लसुणकंदं वा-लशुन कन्द को । लसुणचोयगं वा-लशुन के ऊपर की छाल-छिलका, तथा । अन्नयरं वा-अन्य । तहप्पगारं-इसी प्रकार की कच्ची और अशस्त्र परिणत वनस्पति, मिलने पर अप्रासुक जान कर उसे ग्रहण न करे।

से-वह । भिक्खू वा-साधु या साध्वी गृहपति के कुल में प्रविष्ट होने पर । से जं-फिर इस प्रकार जाने यथा । अंच्छियं वा-आस्तिक नाम के वृक्ष विशेष का फल, तथा । कुंभिपक्कं-गर्त आदि में धूएँ आदि से पकाया हुआ । तिंदुगं वा-तिन्दुग वृक्ष के फल । वेलुगं वा-अथवा बिल्व वृक्ष का फल । कासवनालियं वा-श्रीपर्णिकल तथा । अन्नयरं वा-अन्य कोई । तहप्पगारं-इसी प्रकार का । आमं-कच्चा । असत्थप-अशस्त्रपरिणत फल विशेष मिलने पर अप्रासुक जानकर ग्रहण न करे।

से-वह । भिक्खू वा-साधु या साध्वी गृहस्थ के घर में प्रवेश करने पर । से जं- यदि इस प्रकार जाने जैसे कि । कणं वा-शाल्यादि के कण । कणकुंडगं वा-कणों आदि से मिश्रित छानस । कणपूयलियं वा-कणों से मिश्रित रोटी अर्थात् मन्दपक्वरोटिका । चाउलं वा-अथवा चावल । चाउलपिट्ठं वा-अथवा चावलों का पिष्ट-आटा । तिलं वा-तिल । तिलपिट्ठं वा-अथवा तिल पिष्ट-( तिलकुट ) तथा । तिलपप्पडगं वा-तिल पर्पटिका-तिल पापड़ी तथा । अन्नयरं वा-अन्य कोई । तहप्पगारं-इसी प्रकार का । आमं-कच्चा । असत्थप-अशस्त्र परिणत पदार्थ विशेष । लाभे संते-मिलने पर । नो प-ग्रहण न करे । एवं-इस प्रकार । खलु-निश्चय ही । तस्स-उस । भिक्खुस्स-भिक्षु का । सामग्गियं-समग्र भिक्षुभाव अर्थात् सम्पूर्ण आचार है।

**मूलार्थ**—गृहपतिकुल में प्रविष्ट हुआ साधु या साध्वी अग्रबीज, मूलबीज, स्कन्धबीज, तथा पर्वबीज, एवं अग्रजात, मूलजात, स्कन्धजात, पर्वजात, इनमें इतना विशेष है कि ये उक्त स्थानों से अन्यत्र उत्पन्न नहीं होते, तथा कन्दली के मध्य का गर्भ, कन्दली का स्तबक, नारियल का मध्यगर्भ, खजूर का मध्यगर्भ और ताड़ का मध्यगर्भ तथा इसी प्रकार की अन्य कोई कच्ची और अशस्त्रपरिणत वनस्पति, मिलने पर अप्रासुक जान कर ग्रहण न करे।

गृहस्थ के घर में प्रविष्ट हुआ साधु या साध्वी इक्षु [ ईख ] को, सछिद्र इक्षु को तथा जिसका वर्ण बदल गया, त्वचा फट गई एवं शृगालादि के द्वारा खाया गया ऐसा फल, तथा बैत का अग्रभाग और कन्दली का मध्यभाग तथा अन्य इसी प्रकार की वनस्पति, जो कि कच्ची और शस्त्र परिणत नहीं हुई, मिलने पर अप्रासुक जानकर साधु उसे स्वीकार न करे।

गृहस्थ के घर में प्रविष्ट हुआ साधु या साध्वी लशुन, लशुन के पत्र, लशुन की नाल और लशुन की बाह्यत्वक्-बाहर का छिलका, तथा इसी प्रकार की अन्य कोई वनस्पति जो कि कच्ची और शस्त्रोपहत नहीं हुई है, मिलने पर अप्रासुक जान कर उसे ग्रहण न करे।

गृहपति कुल में प्रविष्ट हुआ साधु या साध्वी अस्तिक ( वृक्षविशेष ) के फल, तिन्दुकफल, बिल्वफल और श्रीपर्णीफल, जो कि गर्त आदि में रखकर धूएं आदि से पकाए गए हों, तथा इसी प्रकार के अन्य फल जो कि कच्चे और अशस्त्र परिणत हों मिलने पर अप्रासुक जान कर उन्हें ग्रहण न करे।

गृहस्थ के घर में प्रविष्ट हुआ साधु या साध्वी शाल्यादि के कण कणमिश्रित छाणस, कणमिश्रित रोटी, चावल, चावलों का चूर्ण-आटा, तिल, तिलपिष्ट-तिलकुट और तिलपर्पट-तिलपपड़ी तथा इसी प्रकार का अन्य पदार्थ जो कि कच्चा और अशस्त्र परिणत हो, मिलने पर अप्रासुक जानकर उसे ग्रहण न करे। यह साधु का समग्र-सम्पूर्ण आचार है।

**हिन्दी विवेचन-** प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि अग्रबीज, मूलबीज, स्कन्धबीज, पर्वबीज, अग्रजात, मूलजात, स्कन्धजात, पर्वजात, कन्द का, खजूर का एवं ताड़ का मध्य भाग तथा इक्षु या शृगाल आदि से खाया हुआ फल, लहसुन का छिलका, पत्ता, त्वचा या बिल्व आदि के फल आदि सभी तरह की वनस्पति जो सचित्त है, अपक्व है, शस्त्र परिणत नहीं हुई है, तो साधु को उसे ग्रहण नहीं करना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'अग्रबीज' एवं 'अग्रजात' में यह अन्तर है कि अग्रबीज को भूमि में बो देने पर उस वनस्पति के बढ़ने के बाद उसके अग्रभाग में बीज उत्पन्न होता है, जब कि अग्रजात अग्रभाग में ही उत्पन्न होता है, अन्यत्र नहीं। वृत्तिकार ने 'नन्तथ' शब्द के दो अर्थ किए हैं-एक तो अन्यत्र उत्पन्न नहीं होते हैं और दूसरा अर्थ यह किया है कि कदली (केला) आदि फलों का मध्य भाग छेदन होने से नष्ट हो जाता है। इस तरह वे फल अचित्त होने से ग्राह्य हैं। परन्तु, इन अचित्त फलों को छोड़ कर, अन्य अपक्व एवं शस्त्र से परिणत नहीं हुए फलों को ग्रहण नहीं करना चाहिए। इसी तरह शृगाल आदि पशु या पक्षियों के द्वारा थोड़ा सा खाया हुआ तथा आग के धूएं से पकाया हुआ फल भी अग्राह्य है।

प्रस्तुत सूत्र का अनुशीलन-परिशीलन करने से स्पष्ट हो जाता है कि उस युग में साधु प्रायः बगीचों में ठहरते थे। शृगाल आदि द्वारा भक्षित फल बगीचों में ही उपलब्ध हो सकते हैं। क्योंकि शृगाल आदि जंगलों में ही रहते एवं घूमते हैं, वे घरों में आकर फलों को नहीं खाते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि उस युग में साधु अधिकतर बगीचों में ठहरते थे। इसी कारण वनस्पति की ग्राह्यता एवं अग्राह्यता पर विशेष रूप से विचार किया गया है। जैसे गर्म पानी के चरमे भी बहते हैं, परन्तु फिर भी वह पानी साधु के लिए अग्राह्य है। इसी तरह कृत्रिम साधनों से पकाए जाने वाले फल भी अग्राह्य हैं। क्योंकि वह उष्ण योनि के जीवों का समूह होने से सचित्त हैं। इसी तरह कुछ फल ऐसे हैं, जो अपक्व एवं शस्त्र परिणत नहीं होने

के कारण साधु के लिए अग्राह्य हैं। इस तरह साधु को सब्जी ग्रहण करते समय उसकी सचितता एवं अचितता का सूक्ष्म अवलोकन करके ग्रहण करना चाहिए। इस तरह प्रासुक सब्जी ग्रहण करने पर ही उसका अहिंसा महाव्रत निर्दोष रह सकता है। अस्तु साधु के लिए अप्रासुक, अनेषणीय सब्जी ग्रहण करने का निषेध किया गया है।

'त्तिबेमि' का अर्थ पूर्ववत् समझना चाहिए।

॥ अष्टम उद्देशक समाप्त ॥



## प्रथम अध्ययन पिण्डैषणा नवम उद्देशक

प्रस्तुत उद्देशक में भी अनेषणीय आहार आदि का निषेध करते हुए सूत्रकार कहते हैं-

**मूलम्-** इह खलु पाईणं वा ४ संतेगइया सड्ढा भवंति, गाहावई वा जाव कम्मकरी वा, तेसिं च णं एवं वुत्तपुव्वं भवइ-जे इमे भवंति समणा भगवंतो सीलवंतो वयवंतो गुणवंतो संजया संवुडा बंभयारी उवरया मेहुणाओ धम्माओ, नो खलु एएसिं कप्पइ आहाकम्मि ए असणे वा ४ भुत्तए वा पायए वा, से जं पुण इमं अहं अप्पणो अट्ठाए निट्ठियं तं असणं ४ सव्वमेयं समणाणं निसिरामो, अवियाइं वयं पच्छा अप्पणो अट्ठाए असणं वा ४ चेइस्सामो, एयप्पगारं निग्घोसं सुच्चा निसम्म तहप्पगारं असणं वा ४ अफासुयं ॥४९॥

**छाया-** इह खलु प्राचीनं वा ४ सन्त्येककाः श्राद्धा भवन्ति, ( श्रद्धालवो भवेयुः ) गृहपतिर्वा यावत् कर्मकरी वा तेषां च एवं उक्तपूर्वं भवन्ति ( भवेत् ) ये इमे भवन्ति श्रमणाः भगवन्तः शीलवन्तः व्रतवन्तः गुणवन्तः संयताः संवृताः ब्रह्मचारिणः उपरतः मैथुनाद् धर्मात् , न खलु एतेषां कल्पते आधाकर्मिकं, अशनं वा ४ भोक्तुं वा पातुं वा, स यत् पुनः इदं अस्माकं आत्मार्थं निष्ठितं तद् अशनं वा ४ सर्वं एतेभ्यः श्रमणेभ्यः निसृजामः प्रयच्छामः, अपि च वयं पश्चात् आत्मार्थं अशनं वा ४ चेतयिष्यामः । एतत् प्रकारं निर्घोषं श्रुत्वा निशाम्य तथाप्रकारं अशनं वा ४ अप्रासुकं-( यावत्-न प्रतिगृणहीयात् ) ।

**पदार्थ-** इह खलु-इह शब्द वाक्योपन्यास अर्थ में, तथा प्रज्ञापक क्षेत्र के अर्थ में है, और खलु शब्द वाक्यालंकार में है । पाईणं वा ४-प्रज्ञापक की अपेक्षा से पूर्व दिशा में, पश्चिम दिशा में तथा उत्तर और दक्षिण दिशा में अर्थात् पूर्वादि दिशाओं में । संतेगइया-अनेक पुरुष हैं उनमें कई एक । सड्ढा भवंति-श्रद्धालु-श्रद्धालाले भी होते हैं यथा । गाहावई वा-गृहपति । जाव-यावत् । कम्मकरी वा-काम करने वाली दासी आदि । च-पुनः । णं-वाक्यालंकार में है । तेसिं-उनके परस्पर मिलने पर । एवं-इस प्रकार । वुत्तपुव्वं भवइ-पहले वार्तालाप होता है, जैसे कि । जे इमे-जो ये । समणा-श्रमण । भगवंतो-भगवान । सीलवंतो-शील वाले अर्थात् अष्टादश सहस्रशीलांग रथ धारा के धारण करने वाले तथा । वयवंतो-व्रतधारी अर्थात् पांच महाव्रत और छठा रात्रि भोजन

विरमण त्याग व्रत को धारण करने वाले एवं। गुणवंतो-पिण्ड विशुद्धि आदि उत्तरगुणों को धारण करने वाले। संजया-संयत-अर्थात् इन्द्रिय और मन पर विजय प्राप्त करने वाले। संवुडा-आस्त्रव। द्वारों को बन्द करने वाले। बंभयारी-ब्रह्मचारी अर्थात् नव विध ब्रह्मचर्य गुप्ति से युक्त। मेहुणाओ धम्माओ-मैथुन धर्म से। उवरया-उपरत-निवृत्। भवन्ति-होते हैं। खलु-वाक्यालंकार में है। एएसिं-उनको। आहाकम्मिए-आधाकर्मिक। असणं वा ४-अशनादिक चतुर्विध आहार। भुत्तए वा-खाना। पायए वा-पीना। नो-नहीं। कप्पइ-कल्पता। पुण-फिर। से जं-वह जो। इमं-यह। अम्हं-हमारे। अट्ठाए-वास्ते। निट्ठयं-बना हुआ है। तं-वह। असणं वा ४-अशनादिक चतुर्विध आहार। सव्वमेयं-सभी। समणाणं-इन श्रमणों को। निसिरामो-दे देते हैं। अवियाइं-अपिच और फिर। वयं-हम। पच्छा-पीछे से। अप्पणो अट्ठे-अपने लिए। असणं वा ४-अशनादिक चतुर्विध आहार। चेइस्सामो-और बना लेंगे। एयप्पगारं-इस प्रकार के। निग्घोसं-शब्द को। सुच्चा-सुनकर। निसम्म-विचार कर। तहप्पगारं-वह साधु इस प्रकार के। असणं-अशनादि चतुर्विध आहार को। अफासुयं-अप्रासुक जानकर मिलने पर भी ग्रहण न करे।

**मूलार्थ**—इस क्षेत्र में पूर्वादि चारों दिशाओं में कई गृहपति एवं उनके परिजन आदि श्रद्धावान् सदगृहस्थ रहते हैं, और वे परस्पर मिलने पर इस प्रकार बातें करते हैं कि ये पूज्य श्रमण शील निष्ठ हैं, व्रतधारी हैं, गुण संपन्न हैं, संयमी हैं, संवृत-आस्त्रवों का निरोध करने वाले हैं, परम-ब्रह्मचारी हैं, मैथुन धर्म से सर्वथा निवृत्त हैं ! इनको आधाकर्मिक अशनादि चतुर्विध आहार लेना नहीं कल्पता है। अतः हमने जो अपने लिए आहार बनाया है, वह सब आहार इन श्रमणों को दे देंगे, और हम अपने लिए और आहार बना लेंगे। उनके इस प्रकार के वार्तालाप को सुन कर तथा विचार कर साधु इस प्रकार के आहार को अप्रासुक जानकर मिलने पर भी ग्रहण न करे।

**हिन्दी विवेचन**— प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि साधु को अपने घर में आया हुआ देखकर यदि कोई श्रद्धालु गृहस्थ एक-दूसरे से कहें कि ये पूज्य श्रमण संयम निष्ठ हैं, शीलवान हैं, ब्रह्मचारी हैं। इसलिए ये आधाकर्म आदि दोषों से युक्त आहार नहीं लेते हैं। अतः हमने जो अपने लिए आहार बनाया है, वह सब आहार इन्हें दे दें और अपने लिए फिर से आहार बना लेंगे। इस तरह के विचार सुन कर साधु उक्त आहार को ग्रहण न करे। क्योंकि इससे साधु को पश्चात्कर्म दोष लगेगा।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त तीन शब्द विशेष विचारणीय हैं- १-सड्ढा, २-असण वा ४ और ३-चेइस्सामो। १- सड्ढा-प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार ने श्रावक एवं उपासक दोनों शब्दों का उपयोग न करके 'सड्ढा' शब्द का उपयोग किया है। इसका तात्पर्य यह है कि व्रतधारी एवं साधुसमाचारी से परिचित श्रावक इतनी भूल नहीं कर सकता कि वह पश्चात्कर्म का दोष लगाकर साधु को आहार दे। अतः इससे यह स्पष्ट होता है कि इस प्रकार का आहार देने का विचार करने वाला व्यक्ति श्रद्धानिष्ठ भक्त है, परन्तु साधु आचार से पूरी तरह परिचित नहीं है। वह इतना तो जानता है कि ये आधाकर्म आदि आहार ग्रहण नहीं करते हैं। परन्तु, उसे यह ज्ञात नहीं है कि ये पश्चात् कर्म दोष युक्त आहार भी ग्रहण नहीं करते हैं। परन्तु, यह स्पष्ट कर दिया गया है कि चाहे दाता श्रद्धालु हो, प्रकृति का भद्र हो, दोषों से अज्ञात हो फिर भी

साधु को इस तरह का सदोष आहार ग्रहण नहीं करना चाहिए।

२-असणं वा- सूत्रकार ने जगह-जगह चार प्रकार के आहार का उल्लेख किया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि मद्य-मांस आदि का आहार साधु के लिए सर्वथा अग्राह्य है। यदि इस प्रकार के पदार्थ ग्राह्य होते तो जगह-जगह चार प्रकार के आहार का ही ग्रहण न करके, अन्य प्रकार के आहार को भी साथ जोड़ देते।

३-चेइस्सामो- इससे स्पष्ट होता है कि साधु को आहार देने के बाद फिर से ६ काय का आरम्भ करके आहार तैयार करने का विचार करके दिया जाने वाला आहार भी सदोष माना गया है। अतः आहार शुद्धि के लिए साधु को बड़ी सावधानी से गवेषणा करनी चाहिए।

इसी विषय में कुछ और जानकारी कराते हुए सूत्रकार कहते हैं-

मूलम्- से भिक्खू वा० वसमाणे वा गामाणुगामं वा दूइज्जमाघो से जं० गामं वा जाव रायहाणिं वा इमंसि खलु गामंसि वा रायहाणिंसि वा संतेगइयस्स भिक्खुस्स पुरेसंथुया वा पच्छासंथुया वा परिवसंति, तंजहा-गाहावई वा जाव कम्म० तहप्पगाराइं कुलाइं नो पुव्वामेव भत्ताए वा पाणाए वा निक्खमिज्ज वा पविसिज्ज वा २, केवली बूया-आयाणमेयं, पुरापेहाए तस्स परो अट्ठाए असणं वा ४ उवकरिज्ज वा उवक्खडिज्ज वा, अह भिक्खूणं पुव्वोवइट्ठा ४ जं० नो तहप्पगाराइं कुलाइं पुव्वामेव भत्ताए वा पाणाए वा पविसिज्ज वा निक्खमिज्ज वा २, से तमायाय एगंतमवक्कमिज्जा २, अणावायमसंलोए चिट्ठिज्जा, से तत्थ कालेणं अणुपविसिज्जा २ तत्थियरेयरेहिं कुलेहिं सामुदाणियं एसियं वेसियं पिंडवायं एसित्ता आहारं आहारिज्जा, सिया से परो कालेण अणुपविट्ठस्स आहाकम्मियं असणं वा उवकरिज्ज वा उवक्खडिज्ज वा तं चेगइओ तुसिणीओ उवेहेज्जा, आहडमेव पच्चाइक्खिस्सामि, माइट्ठाणं संफासे, नो एवं करिज्जा, से पुव्वामेव आलोइज्जा-आउसोत्ति वा भइणित्ति वा नो खलु मे कप्पइ आहाकम्मियं असणं वा ४ भुत्ताए वा पायाए वा, मा उवकरेहि वा उवक्खडेहि, से सेवं वयंतस्स परो आहाकम्मियं असणं वा० उवक्खडावित्ता आहट्टु दलइज्जा तहप्पगारं असणं वा० अफासुयं० ॥५०॥

छाया- स भिक्षुर्वा० वसन् वा ग्रामानुग्रामं वा दूयमानः स यत् ग्रामं वा यावत् राजधानीं वा अस्मिन् खलु ग्रामे वा राजधान्यां वा सन्ति एककस्य ( कस्यचित् ) भिक्षोः पूर्वं

संस्तुता वा पशुचात् संस्तुता वा परिवसन्ति, तद्यथा-गृहपतिः वा यावत् कर्मकरी, तथा-प्रकाराणि कुलानि न पूर्वमेव भक्ताय निष्क्रामेत् प्रविशेद् वा, केवली ब्रूयात्-कर्मोपादानमेतत्, पूर्वं प्रेक्ष्य तस्य परः अर्थाय, अशनं वा उपकुर्यात् वा उपसंस्कुर्याद् वा-( तस्य भिक्षोः कृते परः गृहस्थोऽशनाद्यर्थं उपकुर्यात्-दौकयेदुपकरणजातम् तदशनादि पचेत् ) अथ भिक्षुणां पूर्वोपदिष्टमेतत् प्रतिज्ञादि, यत् न तथाप्रकाराणि कुलानि पूर्वमेव भक्ताय वा पानाय वा प्रविशेद् वा निष्क्रामेद् वा, स तमादाय एकान्तमपक्रामेत्, उपक्रम्य च अनापाते, असंलोके तिष्ठेत्, स तत्र कालेनानुप्रविशेत् २, तत्र इतरेतरेभ्यः कुलेभ्यः सामुदानिकं एषणीयं वेषितं पिंडपातं एषित्वा, आहारमाहारयेत्, स्यात् स परः कालेनानुप्रविष्टस्य, आधाकर्मिकमशनं वा उपकुर्यात् उपसंस्कुर्याद् वा तच्चैककः तूष्णीकः उत्प्रेक्षेत्, आहतमेव प्रत्याख्यास्यामि, मातृस्थानं संस्पृशेत्, नैवं कुर्यात्, स पूर्वमेवा लोकयेत् ( आलोक्य च ) आयुष्मन् ! इति वा भगिनि ! इति वा न खलु मम कल्पते आधाकर्मिकमशनं वा भोक्तुं वा पातुं वा; मा उपकुरु, मा उपसंस्कुरु, स तस्यैव वदतः परः आधाकर्मिकमशनं वा ४ उपसंस्कृत्य, आहत्य दद्यात् तथाप्रकारं, अशनं वा ४ अप्रासुकं ।

**पदार्थ-** से-वह । भिक्खू वा-साधु अथवा साध्वी के । जाव-जंघा आदि के निर्बल होने के कारण एक ही क्षेत्र में रहते हुए । वा-अथवा । वसमाणे-मासकल्पादि विहार करते हुए । गामाणुगामं वा-या एक गांव से दूसरे गांव को । दूइज्जमाणे-जाते हुए । से-वह भिक्षु । जं-जो ऐसा जानता है कि । गामं वा-ग्राम । जाव-यावत् । रायहाणिं वा-राजधानी को । खलु-निश्चय में । इमंसि गामंसि वा-इस ग्राम में अथवा । रायहाणिंसि वा-राजधानी में । संतेगइयस्स-कई एक साधु विद्यमान हैं । भिक्खुस्स-उस भिक्षु के । पुव्वसंथुया वा-माता-पिता आदि या । पच्छसंथुया वा-श्वसुर आदि परिजन । परिवसन्ति-बसते हैं । तंजहा-यथा । गाहावई-गृहपति । जाव-यावत् । कम्मकरी-दासी, आदि रहती हैं । तहप्पगाराइं-इस प्रकार के । कुलाइं-कुलों में । पुव्वामेव-भिक्षा काल से पहले ही । भत्ताए वा-भोजन के लिए अथवा । पाणाए वा-पानी के लिए । नो निक्खमिज्ज वा पविसेज्ज वा-न निकले और न प्रवेश करे । केवली ब्रूया-केवली भगवान कहते हैं । आयाणमेयं-यह कर्म आने का मार्ग है, क्योंकि । पुरा पेहाए-पहले देखकर । परो-गृहस्थ । तस्स अट्टाए-उस भिक्षु के लिए । असणं वा ४-अशनादिक चतुर्विध आहार को । उवकरिज्ज वा-एकत्रित करेगा तथा । उवक्खडिज्ज वा-पकाएगा । अह-अथ । भिक्खूणं-भिक्षुओं को । पुव्वोवइट्ठा ४- पूर्वोपदिष्ट प्रतिज्ञा हेतु कारण और उपदेश का भगवान ने प्रतिपादन किया है । जं-जो । तहप्पगारं-तथा प्रकार के । कुलाइं-कुलों में । पुव्वामेव-पहले ही । भत्ताए वा-भोजन के लिए अथवा । पाणाए वा-पानी के लिए । नो पविसिज्ज वा निक्खमिज्ज वा-न तो प्रवेश करे और न ही निकले किन्तु । से-वह भिक्षु । तमायाय-उन कुलों को जानकर । एगंतमवक्कमिज्जा-एकान्त में चला जाए वहां जाकर । अणावायमसंलोए-जहां पर न कोई आता-जाता हो और न देखता हो, ऐसे स्थान पर । चिट्ठिज्जा-

ठहर जाए। से-वह भिक्षु। तत्थ-उस ग्रामादि में-जहां सम्बन्धी लोग रहते हैं। कालेणं-भिक्षा के समय पर। अणुपविसिज्ज २-उनके घर में प्रवेश करे और निकले। तत्थियरेयरोहिं-वह स्वजन रहित अन्य। कुलेहिं-कुलों से। सामुदाणियं-सामुदानिक-बहुत से घरों की भिक्षा। एसियं-एषणीय अर्थात् उदगमादि दोषों से रहित। वेसियं-केवल साधु वेष से प्राप्त अर्थात् उत्पादनादि दोषों से रहित। पिंडवायं-पिंडपात-भिक्षा की। एसित्ता-गवेषणा करके। आहारं-आहार का। आहारिज्जा-भक्षण करे। सिया-कदाचित्। से परो-वह गृहस्थ। कालेण-साधु के भिक्षा के समय। अणुपविट्ठस्स-प्रवेश करने पर भी। आहाकम्मियं-आधाकर्मी। असणं वा-आहार-पानी। उवकरिज्ज वा-एकत्रित करे अथवा। उवक्खडिज्ज वा-पकावे। तं चेगइओ-उसे देखकर कोई साधु। तुसिणीओ-मौन रहे। उवेहेज्जा-इस भावना से कि। आहडमेव-जब यह मुझे लाकर देगा। पच्चाइक्खिस्सामि-में इसका प्रतिषेध कर दूंगा यदि साधु ऐसा करे तो। माइट्ठाणं संपासे-मातृ स्थान-कपट का स्पर्श होता है अतः। एवं-इस प्रकार। नो करिज्जा-न करे किन्तु। से-वह। पुक्वामेव-पहले ही। आलोइज्जा-उपयोग पूर्वक देखे और विचार करे तदनन्तर कहे कि। आउसोत्ति वा-आयुष्मन् ! गृहस्थ ( स्त्री हो तो )। भइणित्ति वा-हे भगिनि ! हे बहिन ! खलु-निश्चय ही। मे-मुझे। आहाकम्मियं-आधाकर्मीक। असणं वा-अशनादिक आहार। भुत्तए वा- भोगना-खाना अथवा। पायए वा-पीना। नो कप्पइ-नहीं कल्पता है, इसलिए तू। मा उवकरेहि-इसे एकत्र मत कर तथा। मा उवक्खडेहि-मत पका। से-वह। सेवं वयंतस्स-उसके इस प्रकार कहने पर भी। परो-यदि गृहस्थ। आहाकम्मियं-आधाकर्मीक। असणं वा-अशनादिक चतुर्विध आहार को। उवक्खडावित्ता-बना कर और। आहट्टु-लाकर साधु को। दलइज्जा-दे तो। तहप्पगारं-साधु इस प्रकार के। असणं वा ४-आहार को। अफासुयं-अप्रासुक जानकर ग्रहण न करे।

**मूलार्थ**—शारीरिक अस्वस्थता एवं वाद्द्विक्य के कारण एक ही स्थान पर रहने वाले या ग्रामानुग्राम विहार करने वाले साधु या साध्वी के किसी गांव या राजधानी में, माता-पिता या श्वसुर आदि सम्बन्धिजन रहते हों या परिचित गृहपति, गृहपत्नी यावत् दास-दासी रहती हों तो इस प्रकार के कुलों में भिक्षाकाल से पूर्व आहार-पानी के लिए उनके घर में आए-जाए नहीं। केवली भगवान कहते हैं कि यह कर्म आने का मार्ग है। क्योंकि आहार के समय से पूर्व उसे अपने घर में आए हुए देखकर वह उसके लिए आधाकर्म आदि दोष युक्त आहार एकत्रित करेगा या पकाएगा। अतः भिक्षुओं को पूर्वोपदिष्ट तीर्थकर आदि का उपदेश है कि इस प्रकार के कुलों में भिक्षा के समय से पूर्व आहार-पानी के लिए आए-जाए नहीं, किन्तु वह साधु स्वजनादि के कुल को जानकर और जहां पर न कोई आता-जाता हो और न देखता हो, ऐसे एकान्त स्थान पर चला जाए। और जब भिक्षा का समय हो, तब ग्राम में प्रवेश करे और स्वजन आदि से भिन्न कुलों में सामुदानिक रूप से निर्दोष आहार का अन्वेषण करे। यदि कभी वह गृहस्थ भिक्षा के समय प्रविष्ट हुए भिक्षु के लिए भी आधाकर्मी आहार एकत्रित कर रहा हो या पका रहा हो और उसे देख कर भी कोई साधु इस भाव से मौन रहता हो कि जब यह लेकर आएगा तब इसका प्रतिषेध कर दूंगा तो उसे मातृस्थान-माया का स्पर्श होता है। अतः साधु ऐसा न करे, अपितु वह देखते ही कह दे कि हे

आयुष्मन् ! गृहस्थ ! अथवा भगिनि ! मुझे आधाकर्मिक आहार-पानी खाना और पीना नहीं कल्पता है, अतः मेरे लिए इसको एकत्रित न कर और न पका। उस भिक्षु के इस प्रकार कहने पर भी यदि वह गृहस्थ, आधाकर्म आहार को एकत्रित करता है या पकाता है, और उसे लाकर देता है तो इस प्रकार के आहार को अप्रासुक जानकर वह ग्रहण न करे।

**हिन्दी विवेचन**— प्रस्तुत सूत्र में दो बातों का उल्लेख किया गया है— १—साधु आहार का समय होने से पहले अपने पारिवारिक व्यक्तियों के घरों में आहार को न जाए। क्योंकि उसे अपने यहां आया हुआ जानकर वे स्नेह एवं श्रद्धा-भक्ति वश सदोष आहार तैयार कर देंगे। इस तरह साधु को पूर्वकर्म दोष लगेगा। २—यदि कोई गृहस्थ साधु के लिए आधाकर्म आहार बना रहा हो, तो उसे देखकर साधु को स्पष्ट कह देना चाहिए कि यह आहार मेरे लिए ग्राह्य नहीं है। यदि इस बात को जानते-देखते हुए भी साधु उस गृहस्थ को आधाकर्म आदि दोष युक्त आहार बनाने से नहीं रोकता है, तो वह माया का सेवन करता है। यदि साधु के इन्कार करने के बाद भी कोई आधाकर्म आहार बनाता रहे और वह सदोष आहार साधु को देने के लिए लाए तो साधु उसे ग्रहण न करे।

प्रस्तुत सूत्र में जो सम्बन्धियों के घर में जाने का निषेध किया है, उसका तात्पर्य इतना ही है कि यदि उनके घर में राग-स्नेह भाव के कारण आहार में दोष लगने की सम्भावना हो तो वहां साधु आहार को न जाए। क्योंकि आगम में परिवार वालों के यहां आहार को जाने एवं आहार-पानी लाने का निषेध नहीं किया है। आगम में बताया है कि स्थविरो की आज्ञा से साधु सम्बन्धियों के घर पर भी भिक्षा के लिए जा सकता है<sup>१</sup>।

निष्कर्ष यह है कि साधु को १६ उद्गम के, १६ उत्पादन के और १० एषणा के ४२ दोष टाल कर आहार ग्रहण करना चाहिए और ग्रासैषणा के ५ दोषों का त्याग करके आहार करना चाहिए। इस तरह साधु को ४७ दोषों से दूर रहना चाहिए<sup>२</sup>।

साधु को सभी दोषों से रहित निर्दोष आहार ग्रहण करना चाहिए, इसका उल्लेख करके अब सूत्रकार उत्सर्ग एवं अपवाद में आहार ग्रहण करने की विधि का उल्लेख करते हुए कहते हैं—

**मूलम्— से भिक्खू वा० से जं० मंसं वा मच्छं वा भज्जिज्जमाणं पेहाए तिल्लपूयं वा आएसाए उवक्खडिज्जमाणं पेहाए नो खद्धं २ उवसंकमित्तु ओभासिजा, नन्नत्थ गिलाणणीसाए ॥५१ ॥**

१ व्यवहार सूत्र, उद्देशक ६।

२ १६ उद्गम और १० एषणा के दोषों का उल्लेख पीछे कर चुके हैं। प्रस्तुत प्रकरण में वृत्तिकार ने शेष दोषों का उल्लेख करते हुए लिखा है—

धाई, दुइ, निमित्ते, आजीव, वणिममे तिगिच्छा य।

कोहे, माणे, माया, लोभे य हवन्ति दस एए।

पुच्चिं, पच्छा, संथव, विजा, मंते, अ चुण्णा, जोगे य।

उप्पावणाय दोसा सोलसमे मूलकम्मे य ॥

ग्रासैषणा के ५ दोष—

संजोअणा, पमाणे, इंगाले, धूम, कारणे चेष।

— आचारांग वृत्ति।

छाया— स भिक्षुर्वा अथ यत् मांसं वा मत्स्यं वा भज्यमानं ( पच्यमानं ) प्रेक्ष्य तैलपूपं वा आदेशाय-उपसंस्क्रियमाणं प्रेक्ष्य न शीघ्रं २ उपसंक्रम्य अवभाषेत ( याचेत ) नान्यत्र ग्लाननिश्चया ।

**पदार्थ—** से-वह। भिक्खू वा-साधु अथवा साध्वी गृहपति कुल में प्रवेश करने पर। से जं-वह यह जाने कि। आएसाए-पाहुनों के लिए। मंसं वा-मांस। मच्छं वा-अथवा मत्स्य को। भज्जिज्जमाणं-पकाते हुए। पेहाए-देखकर। वा-अथवा। तिल्लपूयं-तैल प्रधान अपूप ( पूड़े )-अर्थात् तेल के पूड़े। उवक्खडिज्जमाणं-बनाते हुए। पेहाए-देखकर। खद्धं २-अति शीघ्रता से। उवसंक्रमित्तु-पास जाकर। नो ओभासिज्जा-न मांगे। नन्त्थ-इतना विशेष है। गिलाणणीसाए-रोगी के लिए मांग सकता है।

**मूलार्थ—**गृहपति कुल में प्रवेश करने पर साधु या साध्वी इस प्रकार जाने कि गृहस्थ अपने यहां आए हुए किसी अतिथि के लिए मांस और मत्स्य तथा तेल के पूड़े पका रहा है। उस समय उक्त पदार्थों को पकाते हुए देख कर वह अतिशीघ्रता से वहां जाकर उक्तविध आहार की याचना न करे। यदि किसी रोगी के लिए आवश्यकता हो तो उसके लिए उनकी याचना कर सकता है।

**हिन्दी विवेचन—** प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि यदि कोई गृहस्थ अपने घर पर आए हुए अतिथि का आतिथ्य सत्कार करने के लिए कोई पदार्थ तैयार कर रहा, हो तो साधु उसे देखकर शीघ्रता से उसकी याचना करने के लिए न जाए। यदि कोई बीमार साधु है और उसके लिए वह पदार्थ लाना है, तो वह उसे मांगकर ला सकता है। अतिथि के भोजन करने के पूर्व नहीं लाना यह उत्सर्ग मार्ग है और बीमार के लिए आवश्यकता पड़ने पर अतिथि के भोजन करने से पहले भी ले आना अपवाद मार्ग है।

प्रस्तुत सूत्र में तेल के पूड़ों के साथ मांस एवं मत्स्य शब्द का प्रयोग हुआ है और वृत्तिकार ने इसका मांस एवं मत्स्य अर्थ ही किया है और अपवाद मार्ग में ग्राह्य बताया है। परन्तु, बालावबोध के लेखक उपाध्याय पार्श्व चन्द्र ने वृत्तिकार के विचारों की आलोचना की है, उन्हें आगम से विरुद्ध बताया है। उपाध्याय जी का कहना है कि सूत्रकार के युग में कुछ वनस्पतियों के लिए मांस एवं मत्स्य शब्द का प्रयोग होता था। आज उक्त शब्द का उस अर्थ में प्रयोग नहीं होता है। अतः, इससे उक्त शब्दों का वर्तमान में प्रचलित अर्थ करना उचित नहीं है।

जब हम वृत्तिकार एवं उपाध्याय जी के विचारों पर गहराई से विचार करते हैं। तो उपाध्याय जी का मत ही आगम के अनुकूल प्रतीत होता है। प्रस्तुत सूत्र में बीमार के लिए उक्त आहार लाने का उल्लेख किया गया है। और तेल के पूए एवं मत्स्य आदि बीमार के लिए पथ्यकारक नहीं हो सकते और पूर्ण अहिंसक साधु की वृत्ति के भी अनुकूल नहीं हैं। जो मुनि समस्त सावद्य व्यापार का त्यागी है, वह सामिष आहार कैसे ग्रहण कर सकता है। इसलिए उक्त शब्द वनस्पति के ही परिचायक हैं और समय की गति के साथ उनके उस युग में प्रचलित अर्थ का आज लोप हो गया है।

यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि यदि उक्त शब्द वनस्पति के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं, तो फिर

उसके लिए याचना करने को अपवाद मार्ग क्यों बताया गया है ? वनस्पति तो साधु बिना कारण भी मांग कर ला सकता है। इसका समाधान यह है कि अतिथि के लिए बनाए हुए पदार्थ उसके भोजन करने से पूर्व मांग कर लाना नहीं कल्पता इसलिए यह आदेश दिया गया है कि यदि बीमार के लिए उनकी आवश्यकता हो तो साधु अतिथि के भोजन करने के पूर्व भी उनकी याचना करके ला सकता है।

आहार के विषय में और बातों का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्—** से भिक्खू वा० अन्नयरं भोयणजायं पडिगाहिता सुब्धिं सुब्धिं भुच्चा दुब्धिं दुब्धिं परिट्ठवेइ, माइट्ठाणं संपासे, नो एवं करिज्जा। सुब्धिं वा दुब्धिं वा सव्वं भुंजिज्जा, नो किंचिवि परिट्ठविज्जा ॥५२ ॥

छाया— स भिक्षुर्वा अन्यतरद् भोजनजातं प्रतिगृह्य सुरभि २ भुक्त्वा दुरभि २ परिष्ठापयति ( परित्यजेत् ) मातृस्थानं संस्पृशेत्, न एवं कुर्यात्। सुरभि वा दुरभि वा सर्वं भुंजीत न किंचिदपि परिष्ठापयेत्।

पदार्थ— से-वह। भिक्खू वा०-साधु अथवा साध्वी गृहपति कुल में प्रवेश करने पर। अन्नयरं-कोई एक साधु। भोयणजायं-भोजन को। पडिगाहिता-ग्रहण कर उसमें से। सुब्धिं २-अच्छे २ पदार्थ। भुच्चा-खाकर। दुब्धिं २-खराब या निकृष्ट पदार्थों को। परिट्ठवेइ-फैंक देता है तो उसे। माइट्ठाणं-मातृस्थान-माया का। संपासे-स्पर्श होता है अतः। एवं-साधु इस प्रकार। नो करिज्जा-न करे, किन्तु। सुब्धिं वा-सुगन्ध युक्त। दुब्धिं वा-दुर्गन्ध युक्त अर्थात् अच्छे-बुरे। सव्वं-सब तरह के भोजन को। भुंजिज्जा-खा ले और। किंचिवि-किंचिन्मात्र भी। नो परिट्ठविज्जा-फैंके नहीं।

मूलार्थ—गृहस्थ के घर में जाने पर कोई साधु या साध्वी वहां से भोजन लेकर, उसमें से अच्छा-अच्छा खाकर शेष रूक्ष आहार को बाहर फैंक दे तो उसे मातृस्थान ( माया ) का स्पर्श होता है। इसलिए उसे ऐसा नहीं करना चाहिए, सुगन्धित या दुर्गन्धित जैसा भी आहार मिला है, साधु उसे समभाव पूर्वक खा ले, किन्तु उसमें से किंचिन्मात्र भी फैंके नहीं।

हिन्दी विवेचन— प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि साधु को रस ( स्वाद ) की आसक्ति के वश लिए हुए आहार में से अच्छे-अच्छे स्वादिष्ट पदार्थ को ग्रहण करके, शेष अस्वादिष्ट पदार्थों को फैंक नहीं देना चाहिए। उसे सरस एवं नीरस जैसा भी आहार उपलब्ध हुआ है, उसे अनासक्त एवं समभाव पूर्वक खा लेना चाहिए। क्योंकि साधु का आहार स्वाद के लिए नहीं, संयम का परिपालन करने के लिए होता है। अतः उसे लिए हुए आहार में स्वाद की दृष्टि से अच्छे-बुरे का भेद करके नहीं, बल्कि सबको समभाव पूर्वक, बिना स्वाद लिए खा लेना चाहिए।

अब पानी के विषय में वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्—** से भिक्खू वा २ अन्नयरं पाणगजायं पडिगाहिता पुप्फं २ आविइत्ता कसायं २ परिट्ठवेइ, माइट्ठाणं संपासे, नो एवं करिज्जा। पुप्फं



पुष्पेइ वा कसायं कसाएइ वा सव्वमेयं भुंजिज्जा, नो किंचिवि परि० ॥५३॥

छाया— स भिक्षुवां २ अन्यतरत् पानकजातं प्रतिगृह्य पुष्यं २ आपीय कषायं २ परिष्ठापयेत् मातृस्थानं संस्पृशेत् न एवं कुर्यात्। पुष्यं पुष्पमिति वा कषायं कषाय इति वा सर्वमेतत् भुंजीत न किञ्चिदपि परिष्ठापयेत्।

पदार्थ— से-वह। भिक्खू वा२-साधु अथवा साध्वी गृहस्थ के घर मे प्रवेश करने पर। अन्नयरं-कोई एक। पाणगजायं-पानी को। पडिगाहिज्जा-लेकर फिर उसमें से। पुष्पं २-वर्ण गन्ध युक्त पानी को। आविइत्ता-पीकर और। कसायं २-कषाय अर्थात् वर्ण गन्ध रहित जल को। परिट्ठवेइ-फेंक दे तो। माइट्ठाणं-उसे मातृस्थान का। संपासे-स्पर्श होता है अतः। नो एवं करिज्जा-वह इस प्रकार न करे, किन्तु। पुष्पं-वर्ण-गन्ध युक्त को। पुष्पेइ वा-वर्णगन्ध युक्त समझकर। कसायं-कषाय वर्ण गन्ध रहित को भी। कसाएइ वा-वर्णगन्ध रहित समझकर। सव्वमेयं-सभी तरह के जल का। भुंजिज्जा-पान करे, उसमें से। किंचिवि-थोड़ा सा भी। नो परि०-बाहर नहीं फेंके।

मूलार्थ—गृहस्थ के घर में जाने पर यदि कोई साधु या साध्वी जल को ग्रहण करके उसमें से वर्ण गन्ध युक्त जल को पीकर कषायले पानी को फेंक देता है तो उसे मातृस्थान- कपट का स्पर्श होता है। अतः वह ऐसा न करे, किन्तु वर्ण, गन्ध युक्त या वर्ण, गन्ध रहित जैसा भी जल उपलब्ध हो उसे समभाव पूर्वक पी ले, परन्तु उसमें से थोड़ा सा भी न फेंके।

हिन्दी विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि यदि कभी खट्टा या कषायला पानी आ गया हो तो मुनि उसे फेंके नहीं। मधुर पानी के साथ उस पानी को भी पी ले। आहार की तरह पानी पीने में भी साधु अनासक्त भाव का त्याग न करे। दशवैकालिक सूत्र में भी इस सम्बन्ध में बताया गया है कि मधुर या खट्टा जैसा भी प्रासुक पानी आ जाए, साधु को बिना खेद के उसे पी लेना चाहिए<sup>१</sup>।

अब फिर से आहार के विषय का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

- १ तहेवुच्चावयं पाणं, अदुवा वारधोअणं ।  
संसेइमं चाउलोदगं अहुणाधोयं विवज्जए ॥  
जं जाणेज्ज चिराधोयं, मईए दंसणेण वा ।  
पडिपुच्छिऊण सुच्चा वा, जं च निस्संकियं भवे ॥  
अजीवं पडिणयं नच्चा, पडिगाहिज्ज संजए ।  
अह संकियं भविज्जा, आसाइत्ताण रोअए ॥  
थोवमासायणट्ठाए, हत्थगम्मि दलाहि मे ।  
मा मे अच्चांखिलं पूयं; नालं तिण्हं विणित्तए ॥  
तं च अच्चांखिलं पूयं, नालं तिण्हं विणित्तए ।  
दित्तिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥  
तं च हुज्ज अकामेणं; विमणेण पडिच्छियं ।  
तं अप्पणा न पिबे, नो वि अन्नस्स दावए ॥  
एगंतमवक्कमित्ता, अचित्तं पडिलेहिया ।  
जयं पडिट्ठविज्जा, परिट्ठप्प पडिक्कमे ॥

मूलम्— से भिक्खू वा० बहुपरियावन्नं भोयणजायं पडिगाहिता, बहवे साहम्मिया तत्थ वसंति संभोइया समणुन्ना अपरिहारिया, अदूरगया, तेसिं अणालोइय अणामंतिय परिट्ठवेइ माइट्ठाणं संफासे, नो एवं करिज्जा, से तमायाए तत्थ गच्छिज्जा २ से पुव्वामेव आलोइज्जा-आउसंतो समणा ! इमे मे असणे वा पाणे वा ४ बहुपरियावन्ने तं भुंजह णं, से सेवं वयंतं परो वइज्जा-आउसंतो समणा ! आहारमेयं असणं वा ४ जावइयं २ सरइ तावइयं २ भुक्खामो वा पाहामो वा, सव्वमेयं परिसडइ सव्वमेयं भुक्खामो वा पाहामो वा ॥५४॥

छाया— स भिक्षुर्वा० बहुपरियापन्नं भोजनजातं प्रतिगृह्य बहवः साधर्मिकाः तत्र वसन्ति सांभोगिका समनोज्ञ अपरिहारिका अदूरगताः तेषाम् अनालोच्य अनामन्त्र्य परिष्ठापयेत्, मातृस्थानं संस्पृशेत्, नैवं कुर्यात्, स तदादाय तत्र गच्छेत् २ ( गत्वा च ) स पूर्वमेव, आलोचयेत्-आयुष्मन्तः श्रमणाः! एतत् मम अशनं वा पानं वा बहुपर्यापन्नं तद्भुंगध्वम्, तस्य चैवं वदतः परो वदेत्-आयुष्मन्तः श्रमणाः! आहार एषः अशनं वा ४ यावन्मात्रं शक्नुमः तावन्मात्रं भोक्ष्यामहे वा पास्यामो वा, सर्वमेतत् परिशटति सर्वमेतत् भोक्ष्यामहे वा पास्यामो वा ।

पदार्थ— से-वह। भिक्खू वा०-साधु अथवा साध्वी गृहपति कुल में प्रवेश करने पर। परियावन्नं-प्राप्त हुए। बहुभोयणजायं-बहुत से भोजन को। पडिगाहिता-लेकर के अपने स्थान पर आए। यदि वह आहार अधिक हो तो साधु। तत्थ-उस ग्राम आदि में। बहवे-बहुत से। साहम्मिया-स्वधर्मी। संभोइया-संभोगी साधु। समणुन्ना-अपने समान आचार वाले जो कि। अपरिहारिया-त्यागने योग्य नहीं हैं अर्थात् शुद्ध आचार वाले हैं तथा। अदूरगया-अपने उपाश्रय से दूर नहीं हैं। वसंति-निवास करते हों। तेसिं-उनको। अणालोइय-बिना पूछे। अणामंतिय-बिना निमन्त्रित किए यदि। परिट्ठवेइ-आहार को परठे-बाहर फेंक दे तो उसे। माइट्ठाणं-मातृ स्थान का। संफासे-स्पर्श होता है, अतः। नो एवं करिज्जा-वह इस प्रकार न करे किन्तु। से-वह भिक्षु। तमायाए-उस आहार को लेकर। तत्थ-वहां पर। गच्छिज्जा-जाए जहां सन्त ठहरे हुए हैं और वहां जाकर। से-वह भिक्षु। पुव्वामेव-पहले। आलोइज्जा-उन्हें उस आहार को दिखाए और दिखाकर इस प्रकार कहे। आउसंतो समणा-आयुष्मन्त श्रमणो ! इमे-यह। असणे वा पाणे वा-आहार और पानी। मे-मेरे प्रमाण से। बहुपरियावन्ने-बहुत अधिक है। तं-इस आहारादि का। भुंजह-आप भी उपयोग करें। सेवं वयंतं-इस प्रकार कहते हुए उस साधु के प्रति। से परो-कोई दूसरा साधु। वइज्जा-बोले। आउसंतो समणा-आयुष्मन् श्रमण ! आहार। मेयं-यह आहार। असणं वा ४-अशनादिक चतुर्विध। जावइयं-यावन्मात्र-जितना। सरइ-हमसे खाया जाएगा। तावइयं २-तावन्मात्र-उतना। भुक्खामो वा-हम खाएंगे तथा। पाहामो वा-पीएंगे अथवा। सव्वमेयं-यदि यह सब। परिसडइ-खाया गया तो। सव्वमेयं-यह सब। भुक्खामो वा-खा लेंगे। पाहामो वा-और सब पी लेंगे।

मूलार्थ—साधु अथवा साध्वी गृहपति कुल में प्रवेश करने पर गृहस्थ के घर से बहुत सा

अशनादिक आहार प्राप्त होने पर ग्रहण करके अपने स्थान पर आए। यदि वह आहार उससे खाया न गया हो तो वहां पर जो अन्य स्वधर्मी साधु रह रहे हों, जो सांभोगिक तथा समान आचार वाले हैं, और जो अपने उपाश्रय के समीप भी हैं, उनको बिना पूछे, बिना निमन्त्रित किए यदि उस शेष आहार को परठ-फेंक देता है तो उसे मातृस्थान का स्पर्श होता है, अर्थात् माया का दोष लगता है। इस लिए वह ऐसा न करे, किन्तु वह भिक्षु उस आहार को लेकर वहां जाए और जाकर सर्वप्रथम उस आहार को दिखाए और दिखाकर इस प्रकार कहे— कि हे भाग्यशाली श्रमणो ! यह अशनादिक चतुर्विध आहार मेरे खाने से बहुत अधिक है अतः आप इसे खालें। उसके इस प्रकार कहने पर किसी भिक्षु ने कहा— हे आयुष्मन् श्रमण ! यह आहार हम जितना खा सकेंगे उतना खाने का प्रयत्न करेंगे। यदि हम पूरा आहार-पानी खा पी सके तो सब खा-पी लेंगे।

**हिन्दी विवेचन**— प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि यदि साधु रोगी एवं बीमार आदि के लिए पर्याप्त आहार लेकर आए और वह आहार खाने के बाद कुछ बच गया है, तो साधु उक्त शहर में या समीपस्थ गांव आदि में स्थित सांभोगिक साधुओं को उस आहार को खाने के लिए प्रार्थना करे, किन्तु उन्हें दिखाए बिना परठे (फेंके) नहीं। यदि वह समीपस्थ स्थान में स्थित साधुओं को दिखाए बिना उस बड़े हुए आहार को बाहर फेंकता है, तो वह प्रायश्चित्त का अधिकारी होता है। अतः साधु का कर्त्तव्य है कि वह अपने निकट प्रदेश में स्थित सहधर्मी एवं सांभोगिक साधुओं के पास जाकर उन्हें प्रार्थना करे कि हमारे खाने के बाद कुछ आहार बंद गया है, अतः आप इसे ग्रहण करने की कृपा करें। और आप थोड़ा या पूरा जितना भी खा सकें, खाने का प्रयत्न करें।

इससे स्पष्ट होता है कि बड़ा हुआ आहार समान-धर्मी, समान आचार-विचार वाले या सांभोगिक साधु को ही देने का विधान है। दूसरी बात यह है कि उस युग में बड़े-बड़े शहर होते थे, अतः एक ही शहर में कई स्थानों पर साधु आकर ठहर जाते थे। या थोड़ी-थोड़ी दूर पर गांव होते थे, जिनमें साधु ठहरा करते थे और वे गांव आहार-पानी लाने-ले जाने की मर्यादा में होते थे। तीसरी बात यह है कि साधु की भाषा निश्छल एवं स्पष्ट होती है। वह अन्य साधु के पास जाकर ऐसा नहीं कहता कि मैं आपके लिए अच्छा आहार लेकर आया हूँ। वह तो स्पष्ट कहता है कि मैं अपने या अपने साथ के साधुओं के लिए आहार लाया था, उसमें से इतना आहार बंद गया है। अतः कृपा करके इसे ग्रहण करें और लेने वाले साधु भी बिना किसी भेदभाव के स्नेह एवं सद्भावना के साथ तथा जीवों की यतना के लिए उसे ग्रहण करते हैं और उस आए हुए श्रमण से कहते हैं कि हम जितना खा सकेंगे उतना खाने का प्रयत्न करेंगे। इससे यह स्पष्ट होता है कि साधु जीवन कितना स्पष्ट, सरल एवं मधुर है।

इसी विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्— से भिक्खू वा से जं० असणं वा ४ परं समुद्दिस्स बहिया नीहडं**

जं परेहि असमणुन्नायं अणिसिट्ठं अफा० जाव नो पडिगाहिज्जा, जं परेहि समणुन्नायं सम्मं णिसिट्ठं फासुयं जाव पडिगाहिज्जा, एवं खलु तस्स भिक्खुस्स भिक्खुणीए वा सामग्गियं ॥५५ ॥

छाया- स भिक्षुर्वा २ स यद् अशनं वा ४ परं समुद्दिश्य बहिर्निष्क्रान्तं यत् परैः असमनुज्ञातं, अनिसृष्टं, अप्रासुकं यावत् न प्रतिगृणहीयात्। यत् परैः समनुज्ञातं सम्यग् निसृष्टं प्रासुकं यावत् प्रतिगृणहीयात्। एवं खलु तस्य भिक्षोर्भिक्षुक्या वा सामग्र्यम्।

पदार्थ- से-वह। भिक्खू वा २-साधु अथवा साध्वी। से जं-जो फिर इस प्रकार जाने यथा। असणं वा ४-अशनादिक चतुर्विध आहार। परं-अन्य भाट आदि को। समुद्दिस्स-उद्देश करके-उनके निमित्त। बहिया-बाहर। नीहडं-देने के लिए निकाला है। जं-जिसकी। परेहि-गृहस्थों ने। असमणुन्नायं-आज्ञा नहीं दी है अर्थात् तुम जहां चाहो और जिसको चाहो दे सकते हो, ऐसा नहीं कहा। अणिसिट्ठं-उस आहार को अभी तक उसे पूरी तरह समर्पित नहीं किया है। ऐसा आहार देने के लिए ले जाया जा रहा हो और यदि मार्ग में साधु मिल जाए और उसे उस आहार को ग्रहण करने की अभ्यर्थना की जाए तो। अफासुयं-उस आहार को अप्रासुक जानकर। जाव-यावत् मिलने पर भी। नो पडिगाहिज्जा-ग्रहण न करे तथा। जं-जिस के लिए। परेहि-गृहस्थों ने। समणुन्नायं-आज्ञा दे दी है और जो। सम्मं-भली प्रकार से। निसिट्ठं-उनके स्वाधीन किया गया है तब वह आहार जिस के अधिकार में है वह यदि साधु को आहार ग्रहण करने की विनती करे तो साधु उस आहार को। फासुयं-प्रासुक जानकर। जाव-यावत्-मिलने पर। पडिगाहिज्जा-ग्रहण कर ले। एवं-इस प्रकार। खलु-निश्चय ही। तस्स-उस। भिक्खुस्स-साधु। भिक्खुणीए वा-या साध्वी का। सामग्गियं-समग्र-सम्पूर्ण साधु भाव है।

मूलार्थ-गृहस्थों के घर में भिक्षार्थ प्रविष्ट साधु या साध्वी भाट आदि के निमित्त बनाया गया जो अशनादिक चतुर्विध आहार घर से देने के लिए निकाला गया है, परन्तु, गृहपति ने अभी तक उस आहार को उन्हें ले जाने के लिए नहीं कहा है, और उनके स्वाधीन नहीं किया है, ऐसी स्थिति में यदि कोई व्यक्ति उस आहार की साधु को विनति करे तो वह उसे अप्रासुक जानकर स्वीकार न करे। और यदि गृहपति आदि ने उन भाटादि को वह भोजन सम्यक् प्रकार से समर्पित कर दिया है और कह दिया है कि तुम जिसे चाहो दे सकते हो। ऐसी स्थिति में वह साधु को विनति करे तो साधु उसे प्रासुक जानकर ग्रहण कर ले। यही साधु या साध्वी का समग्र आचार है।

हिन्दी विवेचन- प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि यदि किसी गृहस्थ ने भाट या अन्य किसी के लिए अशन आदि चार प्रकार का भोजन बनाया है, किन्तु अभी तक न तो उसे दिया गया है, न उसके अधिकार में किया गया है और न उसे यह कहा गया है कि इस आहार को तुम जिसे चाहो दे सकते हो, ऐसी स्थिति में यदि कभी वह उस आहार के लिए साधु को प्रार्थना करे तो साधु उस आहार को अप्रासुक-अकल्पनीय समझ कर ग्रहण न करे। क्योंकि, वह आहार देने वाले व्यक्ति के अधिकार में नहीं है, अंतः हो सकता है कि साधु को देते हुए देखकर गृहस्थ के मन में भाट या साधु के प्रति दुर्भाव या

आवेश आ जाए। या वह भाट को देने के लिए फिर से भोजन बनाए। इससे कई तरह के दोष लगने की सम्भावना है। अतः साधु को ऐसा आहार ग्रहण नहीं करना चाहिए।

यदि वह आहार भाट आदि के अधिकार में हो गया है तो अब वह इस बात के लिए स्वतन्त्र है कि उक्त आहार चाहे जिसे दे। ऐसी स्थिति में यदि वह साधु को आहार के लिए विनति करता है, तो साधु उसे ग्रहण कर सकता है।

॥ नवम उद्देशक समाप्त ॥

## प्रथम अध्ययन पिण्डैषणा दशम उद्देशक

नवम उद्देशक में यह बताया गया है कि साधु को किस तरह से आहार ग्रहण करना चाहिए। अब प्रस्तुत उद्देशक में इस बात को स्पष्ट करते हुए कि यदि साधारण आहार उपलब्ध हो तो स्थान पर आने के पश्चात् साधु को क्या करना चाहिए, सूत्रकार कहते हैं--

मूलम्— से एगइओ साहारणं वा पिंडवायं पडिगाहिता ते साहम्मिए अणापुच्छिता जस्स जस्स इच्छइ तस्स तस्स खब्धं खब्धं दलइ, माइट्ठाणं संफासे, नो एवं करिज्जा । से तमायाय तत्थ गच्छिज्जा २ एवं वइज्जा-आउसंतो समणा ! संति मम पुरेसंथुया वा पच्छां तंजहा-आयरिए वा १ उवज्झाए वा २ पविती वा ३ थरे वा ४ गणी वा ५ गणहरे वा ६ गणावच्छेइए वा ७ अविद्याइं एएसिं खब्धं खब्धं दाहामि, सेणेवं वयंतं परो वइज्जा-कामं खलु आउसो ! अहापज्जत्तं निसिराहि, जावइयं २ परो वदइ तावइयं २ निसिरिज्जा, सव्वमेयं परो वयइ सव्वमेयं निसिरिज्जा ॥५६ ॥

छाया— स एककः साधारणं वा पिण्डपातं प्रतिगृह्य तान् साधर्मिकान् अनापृच्छ्य यस्मै यस्मै इच्छति तस्मै तस्मै प्रभूतं प्रभूतं प्रयच्छति, मातृस्थानं संस्पृशेत् । नैवं कुर्यात् स तदादाय तत्र गच्छेत् २ ( गत्वा ) चैवं वदेत् आयुष्मन्तः श्रमणाः ! सन्ति मम पुरः संस्तुता वा पश्चात् तद्यथा-आचार्यो वा १ उपाध्यायो वा २ प्रवृत्ति ( प्रवर्तकः ) वा ३ स्थविरो वा ४ गणी वा ५ गणधरो वा ६ गणावच्छेदको वा ७ अपि च, एतान् एतेभ्यः प्रभूतं प्रभूतं दास्यामि, तस्यैवं वदन्तः परो वदेत्—कामं खलु आयुष्मन् ! यथा प्राप्तं निसृज यावत् २ परो वदेत् तावत् २ निसृजेत् सर्वमेतत् परो वदेत् सर्वमेतन्निसृजेत् ( दद्यात् ) ।

पदार्थ— से-वह-भिक्षु । एगइओ-कभी । साहारणं-सब के लिए । वा-अथवा । पिंडवायं-आहार को । पडिगाहिता-ग्रहण करके । ते-उन । साहम्मिए-साधर्मिकों को । अणापुच्छिता-पूछे बिना । जस्स जस्स-जिस-जिस को । इच्छइ-उस आहार की आवश्यकता है । तस्स तस्स-उस-उस के लिए । खब्धं खब्धं-अधिक से अधिक । दलइ-आहार दे देता है, तो । माइट्ठाणं-माया के स्थान को । संफासे-स्पर्श करता है अतः । एवं-इस प्रकार । नो-नहीं । करेज्जा-करे किन्तु । से-वह-भिक्षु । तं-उस आहार को । आयाय-लेकर । तत्थ-वहां-गुरुजनादि

के पास। गच्छिजा-जाए और वहां जाकर। एवं-इस प्रकार। वइजा-कहे कि। आउसंतो-हे आयुष्मन् ! समणा-श्रमणो ! मम-मेरे। पुरेसंथुया-पूर्व परिचित अर्थात् जिनके पास दीक्षा ग्रहण की है। वा-और। पच्छासंथुया-पश्चात् परिचित अर्थात् जिनके पास सूत्र आदि का अध्ययन किया है। तंजहा-जैसे कि। आयरिए वा-आचार्य। उवज्झाए वा-उपाध्याय। पवित्ती वा-साधुओं को यथा योग्य वैयावृत्य आदि में नियुक्त करने वाले प्रवर्तक। थेरे वा-धर्म से भ्रष्ट होने वाले साधुओं को तथा श्रावकों को पुनः धर्म में स्थिर करने वाले स्थविर। गणी वा-गण समूह की व्यवस्था करने वाले गणि। गणहरे वा-गुरुजनों की आज्ञा से आचार्य रूप में साधुओं को लेकर स्वतन्त्र रूप से विहार करने वाले गणधर और। गणावच्छेइए वा-गच्छ के कार्यों की चिंता-देखभाल करने वाले गणावच्छेदक। अविद्याइ-इत्यादि को कहे कि आप की आज्ञा हो तो। एएसिं-इन साधुओं को। खब्दं खब्दं-पर्याप्त आहार। दाहामि-दू ? से णेवं-उसके इस प्रकार। वयंतं-बोलने पर। परो-आचार्यादि। वइजा-कहें कि। आउसो-हे आयुष्मन् ! श्रमण ! कामं खलु-तू अपनी इच्छानुसार। अहापज्जत्तं-यथापर्याप्त। निसिराहि-दे ? जावइयं २-जितना-जितना। परो-आचार्य आदि गुरुजन। वदइ-कहें। तावइयं २-उतना-उतना आहार उन्हें। निसिरिजा-दे देवे यदि। परो-आचार्य। वइजा-कहे कि। सव्वमेयं-सभी पदार्थ दे-दे तो। सव्वमेयं-सभी पदार्थ। निसिरिजा-दे-दे।

**मूलार्थ**—कोई भिक्षु गृहस्थ के यहां से सम्मिलित आहार को लेकर अपने स्थान पर आता है और अपने साधर्मियों को पूछे बिना जिस-जिस को रुचता है उस-उस के लिए वह दे देता है तो ऐसा करने से वह मायास्थान का सेवन करता है। अतः साधु को ऐसा नहीं करना चाहिए। परन्तु, उसे यह चाहिए कि उपलब्ध आहार को लेकर जहां अपने गुरुजनादि हों जैसे कि-आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर, गणी, गणधर और गणावच्छेदक आदि, वहां जाए और उनसे प्रार्थना करे कि हे गुरुदेव ! मेरे पूर्व और पश्चात् परिचय वाले दोनों ही भिक्षु यहाँ उपस्थित हैं यदि आपकी आज्ञा हो तो मैं इन उपस्थित सभी साधुओं को आहार दे दू ? उस भिक्षु के ऐसा कहने पर आचार्य कहें कि— आयुष्मन् श्रमण ! जिस साधु की जैसी इच्छा हो, उसी के अनुसार उसे पर्याप्त आहार दे दो। आचार्य की आज्ञानुसार सबको यथोचित बांट कर दे देवे। यदि आचार्य कहें कि जो कुछ लाए हो, सभी दे दो, तो बिना किसी संकोच के सभी आहार उन्हें दे दे।

**हिन्दी विवेचन**—प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि यदि कोई मुनि अपने सांभोगिक साधुओं का आहार लेकर आया है, तो उसे पहले आचार्य आदि की आज्ञा लेनी चाहिए कि मैं यह आहार लाया हूँ, आपकी आज्ञा हो तो सभी साधुओं में विभक्त कर दूँ। उसके प्रार्थना करने पर आचार्य आदि जो आज्ञा प्रदान करें उसके अनुसार कार्य करना चाहिए। इससे स्पष्ट होता है कि साधु को संघ की व्यवस्था करने वाले आचार्य आदि प्रमुख मुनियों की आज्ञा लेकर ही साधु जीवन की प्रत्येक क्रिया में प्रवृत्त होना चाहिए।

आचार्य अभयदेव सूत्रि ने सात पदवियों का निम्न अर्थ किया है—

१-आचार्यः- प्रतिबोधक प्रब्राजकादि; अनुयोगाचार्यो वा।

२-उपाध्यायः-सूत्रदाता।

३-प्रवर्तकः-प्रवर्तयति साधूनाचार्योपदिष्टेषु वैयावृत्यादिष्विति प्रवर्ती।

४-स्थविरः- प्रवर्तिव्यापारितान् साधून् संयमयोगेषु सीदतः

स्थिरीकरोतीति स्थंविः।

५-गणी-गणोऽस्यातीति गणी-गणाचार्यः।

६-गणधरः-गणधरो-जिनशिष्यविशेषः।

७-गणावच्छेदकः-गणस्यावच्छेदो-विभागोऽशोऽस्यास्तीति यो हिगणांशं

गृहीत्वा गच्छोपष्टम्भायैवोपधिमार्गणादि निमित्तं विहरति स गणावच्छेदकः।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि उक्त सातों उपाधियां गण की, संघ की सुरक्षा एवं सुव्यवस्था बनाए रखने के लिए रखी गई हैं। इनमें गणावच्छेदक का कार्य साधुओं की उपधि आदि की आवश्यकता को पूरा करना है। जब कि आचाराङ्ग सूत्र के वृत्तिकार आचार्य शीलांक ने गणावच्छेदक को गण, गच्छ या संघ का चिन्तक बताया है<sup>१</sup>। परन्तु, आचार्य अभयदेव सूरि ने जो अर्थ किया है, वह दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र में वर्णित आठ गणि संपदाओं से संबन्ध रखता है।

प्रस्तुत सूत्र में 'पुरे संथुवा' और 'पच्छा संथुवा' शब्द का प्रयोग किया गया है। इसका तात्पर्य दीक्षाचार्य एवं वाचनाचार्य से है। उक्त सूत्र से यह स्पष्ट होता है कि दीक्षाचार्य एवं वाचनाचार्य (आगम का ज्ञान कराने वाले) अलग-अलग होते थे।

प्रस्तुत सूत्र में साधु के वात्सल्य भाव का वर्णन किया गया है और साथ में यह भी स्पष्ट कर दिया है कि उसे प्रत्येक कार्य आचार्य आदि की आज्ञा से करना चाहिए। उन्हें बिना बताए या उन्हें बिना पूछे न स्वयं आहार करना चाहिए एवं न अन्य साधुओं को देना चाहिए। ऐसे आहार आदि कार्यों में माया, छल, कपट आदि का परित्याग करके सरल भाव से साधना में संलग्न रहना चाहिए।

साधु को माया-कपट से सदा दूर रहना चाहिए इसे स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं-

**मूलम्-** से एगइओ मणुन्नं भोयणजायं पडिगाहिता पंतेण भोयणेण पलिच्छाएइ मा मेयं दाइयं संतं दट्ठुणं सयमाइए आयरिए वा जाव गणावच्छेए वा, नो खलु मे कस्सइ किंचि दायव्वं सिया, माइट्ठाणं संपासे, नो एवं करिजा। से तमायाए तत्थ गच्छिजा २ पुव्वामेव उत्ताणए हत्थे पडिग्गहं कट्टु इमं खलु इमं खलुत्ति आलोइजा, नो किंचिवि निगूहिजा। से एगइओ अन्नयरं भोयणजायं पडिगाहिता भद्दयं २ भुच्चा विवन्नं विरसमाहरइ माइ० नो एवं ॥५७॥

**छाया-** स एकतरः मनोज्ञं भोजनजातं प्रतिगृह्य प्रान्तेन भोजनेन प्रतिच्छादयेत् ममेदं दर्शितं सत् दृष्ट्वा स्वयं आदद्यात् आचार्यः वा यावत् गणावच्छेदकः वा नो खलु मे कस्यापि किंचिद् दातव्यं स्यात्, मातुस्थानं संस्पृशेत्, नो एवं कुर्यात्। स तमादाय तत्र गच्छेत् गत्वा पूर्वमेव उत्तानके हस्ते प्रतिग्रहं कृत्वा इदं खलु इदं खलु इति आलोचयेत् दर्शयेत्, न किञ्चिदपि



निगूहयेत् । स एकतरः अन्यतरद् भोजनजातं प्रतिगृह्य भद्रकं भद्रकं भुक्त्वा विवर्णं विरसमाहरति, मातृस्थानं संस्पृशेत् न एवं कुर्यात् ।

**पदार्थ-** से-वह । एगइओ-कोई एक भिक्षु । मणुनं-मनोज्ञ । भोयणजायं-भोजन को । पडिगाहिता-ग्रहण करके । पंतेण भोयणेण-नीरस भोजन से । परिच्छाएइ-आच्छादित करे । मा-मत । मेयं-यह आहार । दाइयं संतं-दिखाने पर, फिर । दटूणं-देखकर । सयमाइए-स्वयं ही ले ले । आयरिए-आचार्य । वा-अथवा । जाव-यावत् । गणावच्छेयए-गणावच्छेदक । खलु-निश्चय ही । मे-मेरे को । कस्सइ-किसी भी भोजन का । किंचि-कुछ भी भाग । नो-नहीं । दायव्वं सिया-दें । ऐसा करने से भिक्षु । माइट्ठाणं-मातृस्थान का । संफासे-स्पर्श करता है अतः वह । एवं-इस प्रकार । नो करिजा-न करे । से-वह-भिक्षु । तं-उस आहार को । आयाए-लेकर । तत्थे-जहां आचार्य आदि गुरुजन हों वहां । गच्छिजा-जाए और वहां जाकर । पुव्वामेव-पहले ही । उत्ताणए-पसारे हुए । हत्थे-हाथ में । पडिगहं-पात्र को । कटटु-करके । इमं खलु-इमं खलुत्ति-यह पदार्थ यह है और यह पदार्थ यह है-इस प्रकार एक-एक करके सब पदार्थ । आलोइजा-दिखावे । किंचिवि-किंचिन्मात्र भी । नो निगूहिजा-छिपावे नहीं । से-वह । एगइओ-कोई एक भिक्षु । अन्नयरं भोयणजायं-अन्य किसी प्रकार का भी भोजन । पडिगाहिता-ग्रहण करके और गृहस्थ के वहां । भइयं भइयं-अच्छा-अच्छा भोजन । भुच्चा-खाकर के । विवन्नं विरसं-बचा हुआ विरस और निकृष्ट भोजन । आहरइ-निवास स्थान पर आचार्य के पास लाता है, ऐसा करने से । माइट्ठाणं-मातृ स्थान का । संफासे-सेवन करता है अतः भिक्षु को । एवं-इस प्रकार । नो-नहीं । करिजा-करना चाहिए ।

**मूलार्थ-** यदि कोई मुनि भिक्षा में प्राप्त सरस, स्वादिष्ट आहार को आचार्य आदि न ले लेंगे इस दृष्टि से उसे रूखे-सूखे आहार से छिपा कर रखता है, तो वह माया का सेवन करता है । अतः साधु को सरस एवं स्वादिष्ट आहार के लोभ में आकर ऐसा छल-कपट नहीं करना चाहिए । जैसा भी आहार प्राप्त हुआ हो उसे ज्यों का त्यों लाकर आचार्य आदि के सामने रख दे और झोली एवं पात्र को हाथ में ऊपर उठाकर एक-एक पदार्थ को बता दे कि मुझे अमुक-अमुक पदार्थ प्राप्त हुए हैं । इस तरह साधु को थोड़ा भी आहार छिपाकर नहीं रखना चाहिए ।

यदि कोई साधु गृहस्थ के घर पर ही प्राप्त पदार्थों में से अच्छे-अच्छे पदार्थों को उदरस्थ करके बचे-खुचे पदार्थ आचार्य आदि के पास लेकर आता है, तो वह भी माया का सेवन करता है । अतः साधु को ऐसा कार्य नहीं करना चाहिए ।

**हिन्दी विवेचन-** प्रस्तुत सूत्र में साधु जीवन की सरलता एवं स्पष्टता का दिग्दर्शन कराया गया है । इसमें बताया गया है कि साधु को अपने स्वादेन्द्रिय का परिपोषण करने के लिए सरस को न तो नीरस आहार से छुपाकर रखना चाहिए और न उसे गृहस्थ के घर में या मार्ग में ही उदरस्थ कर लेना चाहिए । साधु को चाहिए कि उसे गृहस्थ के घरों से जो भी आहार उपलब्ध हुआ है, उसमें किसी तरह की आसक्ति नहीं रखते हुए अपने-अपने स्थान पर ले आए और आहार के पात्र को अपने हाथ में ऊपर उठाकर आचार्य आदि से निवेदन करे कि मुझे भिक्षा में ये पदार्थ प्राप्त हुए हैं । परन्तु, उसे उसमें से थोड़ा सा भी छुपाना नहीं चाहिए । आगम में यह भी कहा गया है कि जो साधु प्राप्त पदार्थों का सबसे समान भाग नहीं देता है तो वह मुक्ति नहीं पा सकता । अतः साधु को चाहिए कि वह बिना किसी संकोच एवं बिना

किसी तरह कौं स्वाद-लोलुपता को रखते हुए सब सांभोगिक साधुओं में सम विभाजन करके आहार करे<sup>१</sup>। परन्तु, ऐसा न करे कि अच्छे-अच्छे पदार्थ स्वयं खा ले और बचे-खुचे पदार्थ अन्य साधुओं को देवे।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'मणुन्नं' और 'पंतेणं' पदों से सामूहिक आहार की परम्परा सिद्ध होती है। क्योंकि विविध प्रकार के सरस आहार की प्राप्ति अनेक घरों में ही हो सकती है। और अनेक घरों में कई साधुओं के लिए ही घूमा जाता है। केवल एक साधु के लिए एक-दो घर ही पर्याप्त होते हैं। इस तरह इस सूत्र से सामूहिक गोचरी का स्पष्ट निर्देशन मिलता है।

इस सूत्र में यह भी बताया गया है कि साधु को सदा सरस एवं स्पष्ट भ्रम रखना चाहिए। उसे अपने स्वाद एवं स्वार्थ के लिए किसी भी वस्तु को छुपाकर नहीं रखना चाहिए और गुरु एवं आचार्य आदि के सामने सभी पदार्थ इस तरह रखने चाहिए कि वे आसानी से सभी पदार्थों को देख सकें। न तो उन्हें देखने में कोई कष्ट हो और न कोई पदार्थ उनकी दृष्टि से ओझल रह सके।

इस सूत्र से विशेष कारण होने पर गृहस्थ के घर में आहार करने की ध्वनि भी प्रस्फुटित होती है। यह ठीक है कि उस समय वह इतनी ईमानदारी एवं प्रामाणिकता रखे कि वह स्वयं ही सभी सरस पदार्थ न खा जाए। उस समय उस पर अपनी प्रामाणिकता को निभाने का बहुत बड़ा उत्तरदायित्व आ जाता है। परन्तु, विशेष परिस्थिति में गृहस्थ के घर में खाने का पूर्णतया निषेध नहीं है। आगम में इसकी आज्ञा भी दी गई है<sup>२</sup>।

साधु को किस तरह का आहार ग्रहण करना चाहिए, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं-

मूलम्— से भिक्खू वा० से जं० अंतरुच्छियं वा उच्छुगंडियं वा उच्छुचोयगं वा उच्छुमेरगं वा उच्छुसालगं वा, उच्छुडालगं वा, सिंबलिं वा सिंबलथालगं वा अस्सिं खलु पडिग्गहियंसि अप्पे भोयणजाए बहुउज्झियथम्मिए तहप्पगारं अंतरुच्छुयं वा० अफा० ॥ से भिक्खू वा २ से जं० बहुअट्ठियं वा मंसं वा मच्छं वा बहुकंटयं अस्सिं खलु० तहप्पगारं बहुअट्ठियं वा मंसं० लाभे संते०। से भिक्खू

१ असंविभागी न हु तस्स मोक्खो। — दशवैकालिक सूत्र, ९, २ ।

२ सिघा एगइओ लद्धं, विविहं पाणभोयणं।

भहगं— भहगं भुच्चा, विचनं विरसमाहरे ॥

जापंतु ता इमे समणा, आययट्ठी अयं मुणी।

संतुदठो सेवए पंतं, लूहविशी संतोसओ ॥

पूयणट्ठा जसोकामी, माण संमाण कामए।

बहुं पसवइ पावं, मायासल्लं च कुव्वइ ॥

— दशवैकालिक सूत्र, ५, २, ३३-३५।

वा० सिया णं परो बहुअट्ठिण मंसेण वा बहुकंटण मच्छेण वा उवनिमंतिज्जा आउसंतो समणा! अभिकंखसि बहुअट्ठियं मंसं पडिगाहित्तए ? एयप्पगारं निग्घोसं सुच्चा निसम्म से पुव्वामेव आलोइज्जा--आउसोत्ति वा २ नो खलु मे कप्पइ बहु० पडिगा०, अभिकंखसि मे दाउं जावइयं तावइयं पोग्गलं दलयाहि, मा य अट्ठियाइं, से सेवं वयंतस्स परो अभिहट्टु अंतो पडिग्गहंसि बहु० परिभाइत्ता निहट्टु दलइज्जा, तहप्पगारं पडिग्गहं परहत्थंसि वा परपायंसि वा अफा० नो। से आहच्च पडिगाहिए सिया तं नोहित्ति वइज्जा नो अणिहित्ति वइज्जा, से तमायाय एगंतमवक्कमिज्जा २ अहे आरामंसि वा अहे उवस्सयंसि वा अप्पंडे जाव संताणए मंसगं मच्छं भुच्चा अट्ठियाइं कंटए गहाय से तमायाय एगंतमवक्कमिज्जा २ अहेज्झामत्थंडिलंसि वा जाव पमज्जिय पमज्जिय परट्ठविज्जा ॥५८ ॥

छाया- स भिक्षुः वा स यत् अंतरिक्षुकं वा इक्षुगंडिकां वा इक्षुचोयगं वा इक्षुमेरुकं वा इक्षुशालकं वा इक्षुडालकं वा सिंबलिं वा सिंबलस्थालकं वा अस्मिन् खलु प्रतिग्रहे अल्पे भोजनजाते बहुज्झितधर्मके तथाप्रकारं अन्तरिक्षुकं वा अप्रासुकं यावत् नो प्रतिगृणीयात्। स भिक्षुः वा० स यत् बहवस्थिकं मांसं वा मत्स्यं वा बहुकण्टकं अस्मिन् खलु तथाप्रकारं बह्वस्थिकेन वा मांसं लाभे सति यावत् न प्रतिगृणीयात्। स भिक्षुः, वा० स्यात् परः बहवस्थिकेन मांसेन वा मत्स्यकेन वा उपनिमन्त्रयेत् आयुष्मन्तः श्रमणाः ! अभिकांक्षसि बहवस्थिकं मांसं प्रतिगृणीतुम् ? एतत्प्रकारं निर्घोषं श्रुत्वा निशम्य स पूर्वमेव आलोचयेत्- आयुष्मन् इति वा २ नो मे खलु कल्पते बहवस्थिकं मांसं प्रतिगृणीतुम्। अभिकांक्षसि मे दातुं यावतिकं तावतिकं पुद्गलं देहि, मा च अस्थिकानि, तस्य एवं वदतः परः अभ्याहृत्य अन्तः प्रतिग्रहे बहु० परिभाज्य निहत्य दद्यात्, तथाप्रकारं प्रतिग्रहं परहस्ते वा पर पात्रे वा अप्रासुकं नो प्रतिगृणीयात्। स आहृत्य प्रतिग्राहितः स्यात् तं नो ही इति वदेत् नो अही इति वदेत् स तमादाय एकान्तमपक्रामेत् अपक्रम्य अथ आरामे वा अथ उपाश्रये वा अल्पांडे यावत् अल्पसन्तान के मांसं मत्स्यकं भुक्त्वा अस्थिकानि कण्टकान् गृहीत्वा स तमादाय एकान्तमपक्रामेत् अपक्रम्य अथ ज्झामत्थंडिले वा प्रमृज्य प्रमृज्य परिष्ठापयेत्।

पदार्थ- से-वह। भिक्खू-भिक्षु। वा-अथवा भिक्षुणी गृहस्थ के घर मे गया हुआ। से जं-फिर वह ग्राह्य पदार्थ को जाने, जैसे कि। अंतरुच्छियं वा-इक्षुका छिला हुआ पर्व का मध्य भाग अथवा। उच्छुगंडियं वा-छिला हुआ इक्षुखण्ड। उच्छुचोयगं वा-अथवा इक्षु के पीले जाने पर जो निःसार छिलके रह जाते हैं वे। उच्छुमेरगं वा-अथवा इक्षु का छिला हुआ अग्रभाग। उच्छुसालगं वा-अथवा इक्षु की छिली हुई शाखा।

उच्छुडालगं वा-अथवा छिली हुई इक्षु शाखा का एक भाग। सिंबलिं वा-अथवा मूँग आदि की किसी भी प्रयोग से प्रासुक हुई अचित्त फलियां, अथवा। सिंबलथालगं वा-बल्ली आदि की अग्नि प्रयोग से अचित्त हुई फलियां। खलु-वाक्यालंकार में है। अस्सिं पडिग्गहिंयंसि-इस प्रकार का आहार गृहस्थ के पात्र में पड़ा हुआ है। अप्पे सिया भोयणजाए-जिस में भोजन योग्य अंश अल्प है और। बहुउज्झियधम्मिए-परठने-फैंकने योग्य अंश अधिक है। तहप्पगारं- तथाप्रकार के। अंतरुच्छुयं वा-छिला हुआ इक्षु पर्व का मध्य भाग आदि मिलने पर। अफां-साधु उसे अप्रासुक जानकर ग्रहण न करे। से भिक्खू वा २-वह साधु अथवा साध्वी गृहपति के घर में गया हुआ। से जं-वह आहार को जाने जैसे कि-बहुअट्ठयं वा मंसं-बहुत अस्थि वाला गूदा अर्थात् जिस वनस्पति के फलों में गुठलियां अधिक हों और गुदा कम हो अथवा। मच्छं वा बहुकंटयं-मत्स्य नामक वनस्पति, जिसके फल में कांटे विशेष होते हैं। अस्सिं खलु- इस प्रकार का आहार गृहस्थ के पात्र में है तथा। तहप्पगारं- तथा प्रकार का। बहुअट्ठयं वा मंसं-बहुत अस्थि वाला अर्थात् बहुत गुठली वाला गूदा और बहुत कांटों वाला अचित्तफल। लाभे संते-मिलने पर अकल्पनीय जान कर ग्रहण न करे।

से भिक्खू वा-वह भिक्षु अथवा भिक्षुकी गृहस्थ के घर में गया हुआ। पां-वाक्यालंकार में है। सिया-कदाचित्। बहुअट्ठिएण मंसेण वा-बहुत गुठलियों वाले गूदे से और। मच्छेण वा-बहुत कांटों वाली मत्स्य नामक वनस्पति के फलों से। उवनिमंतिजा-उपनिमंत्रित करे कि। आउसंतो समणा !-हे आयुष्मन् श्रमणो ! बहुअट्ठयं मंसं-बहुत अस्थियों वाले गूदे को। पडिगाहित्तए-ग्रहण करना। अभिकंखसि-चाहते हो? एयप्पगारं-इस प्रकार के। निग्घोसं-निर्घोष-शब्द को। सुच्चा-सुन कर और। निसम्म-हृदय में विचार कर। से-वह भिक्षु। पुव्वामेव-पहले ही। आलोएज्जा-देखे और गृहस्थ के प्रति कहे कि। आउसोत्ति वा-हे आयुष्मन् गृहपते ! या बहन ! खलु-निश्चय ही। मे-मुझे। बहुअट्ठयं वा मंसं-बहुत गुठलियों वाला गूदा। पडिगाहित्तए-ग्रहण करना। नो कप्पइ-नहीं कल्पता किन्तु यदि तू। मे-मेरे को। दाउं-देना। अभिकंखसि-चाहता है या चाहती है तो। जावइयं-इसमें से जितना। पुग्गलं-पुद्गल खाद्य अंश है। तावइयं-उतना ही। दलयाहि-दे, दे। मा य अट्ठियाइं-अस्थियां-गुठलियां मत दे। से-वह, गृहस्थ। सेवं-उस भिक्षु के इस प्रकार। वयंतस्स-कहने पर। परो-वह। अभिहट्टु-लाकर। अन्तो पडिग्गहंसि-घर में जाकर अन्य पात्र में। बहु-बहुत गुठलियों वाला गूदा। परिभाइत्ता-अविभक्त कर और। निहट्टु-बाहर लाकर। दलइज्जा-दे तो। तहप्पगारं- तथा प्रकार वा। पडिग्गहं-प्रतिग्रह पात्रगत आहार। परहत्थंसि वा-गृहस्थ के हाथ में हो अथवा। परपायंसि वा-गृहस्थ के पात्र में हो। अफासुयं-उसे अप्रासुक जानकर मिलने पर ग्रहण न करे। से-उस भिक्षु ने। आहच्च-कदाचित्। पडिगाहिए सिया-ऐसा आहार ले लिया हो अर्थात् गृहस्थ ने पात्र में डाल दिया हो, तो फिर। तं-उस गृहस्थ को। नोहित्ति वइज्जा-न अच्छा कहे और। नो-नाहीं। अण्हित्ति वा-बुरा कहे किन्तु। स-वह भिक्षु। तं-उस आहार को आयाय-लेकर। एगंतं-एकान्त स्थान में। अवक्कमिज्जा-चला जाए और वहां जाकर। अहे आरामंसि वा-बाग मे अथवा। अहे उवस्सयंसि वा-उपाश्रय में ही। अप्पंडे जाव संताणे-जहां चींटी आदि के अण्डे और मकड़ी आदि के जाले न हों। मंसगं मच्छगं-वहां फल के गूदे और मत्स्य वनस्पति फल को। भुच्चा-खाकर। अट्ठियाइं-गुठलियों और। कंटए-कांटों को। गहाए-ग्रहण कर और। से-वह भिक्षु। तं-उसको। आयाय-लेकर। एगंतं-एकान्त स्थान के। अवक्कमिज्जा-चला जाए और वहां जाकर। अहेज्झामथंडिलंसि वा-अग्नि द्वारा दग्ध भूमि आदि अचित्त एवं निर्दोष स्थान को। जाव-यावत्। पमज्जिय २-अच्छी तरह प्रमार्जित करके। परट्ठविज्जा-उन गुठलियों को वहां पर ही फैंक दे।

**मूलार्थ**—गृहस्थ के घर में आहार आदि के लिए गया हुआ भिक्षु, इक्षु खंड आदि जो छिले हुए हैं एवं सब प्रकार से अचित्त हैं, तथा मूंग और बल्ली आदि की फली, जो किसी निमित्त से अचित्त हो चुकी हैं, परन्तु उसमें खाद्य भाग स्वल्प है और फैंकने योग्य भाग अधिक है तो इस प्रकार का आहार मिलने पर भी अकल्पनीय जानकर ग्रहण न करे।

फिर वह भिक्षु किसी गृहस्थ के यहां गया हुआ बहुत गुठलियों युक्त फल के गूदे को और बहुत कांटों वाली मत्स्य नामक वनस्पति को भी उपर्युक्त दृष्टि के कारण ग्रहण न करे। यदि गृहस्थ उक्त दोनों पदार्थों की निमंत्रणा करे तो मुनि उसे कहे कि आयुष्मन् गृहस्थ ! यदि तू मुझे यह आहार देना चाहता है तो उक्त दोनों पदार्थों का खाद्य भाग ही मुझे दे दे, शेष गुठली तथा कांटे मत दे।

यदि शीघ्रता में गृहस्थ ने उक्त पदार्थ मुनि के पात्र में डाल दिए हों तो गृहस्थ को भला-बुरा न कहता हुआ वह मुनि बगीचे या उपाश्रय में आए और वहां एकान्त स्थान में जाकर खाने योग्य भाग खाले और शेष गुठली तथा कांटों को ग्रहण कर एकान्त अचित्त एवं प्रासुक स्थान पर परठ छोड़ दे।

**हिन्दी विवेचन**—प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि साधु को ऐसे पदार्थ ग्रहण नहीं करने चाहिए जिनमें से थोड़ा भाग खाया जाए और अधिक भाग फैंकने में आए। जैसे— छिला हुआ इक्षु खण्ड-गण्डेरी, मूंग, एवं बल्ली आदि की फली जो आग आदि के प्रयोग से अचित्त हो चुकी हैं, साधु को नहीं लेनी चाहिए। आग में भुनी हुई मूंगफली, पिस्ते, नोजे (छिलके सहित) भी नहीं लेने चाहिए। इसी तरह अग्नि पर पके हुए या अन्य तरह से अचित्त हुए फल भी नहीं लेने चाहिए। जिनमें गुठली, कांटे आदि फैंकने योग्य भाग अधिक हों। यदि कभी शीघ्रतावश गृहस्थ ऐसे पदार्थ पात्र में डाल दे तो फिर मुनि को उस पर क्रोध नहीं करना चाहिए, प्रत्युत उक्त पदार्थों को लेकर अपने स्थान पर आ जाए और उनमें से खाने योग्य भाग खा लेवे और अवशेष भाग (गुठली, कांटे आदि) एकान्त प्रासुक स्थान में परठ-फैंक दे।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'बहु अट्ठयं मंसं' और 'मच्छं वा बहु कंटयं' पाठ कुछ विवादास्पद है। कुछ विचारक इसका प्रसिद्ध शाब्दिक अर्थ ग्रहण करके जैन साधुओं को भी मांस भक्षक कहने का साहस करते हैं। वृत्तिकार आचार्य शीलांक ने इसका निराकरण करने का विशेष प्रयत्न नहीं किया। वे स्वयं लिखते हैं कि बाह्य भोग के लिए अपवाद में मांस आदि का उपयोग किया जा सकता है<sup>१</sup>।

परन्तु, वृत्तिकार के पश्चात् आचाराङ्ग सूत्र पर बालबोध व्याख्या लिखने वाले उपाध्याय पार्श्वचन्द्र सूरि वृत्तिकार के विचारों का विरोध करते हैं। उन्होंने लिखा है कि आगम में अपवाद एवं उत्सर्ग का कोई भेद नहीं किया गया है और जो कंटक आदि को एकान्त स्थान में परठने का विधान किया है, इससे यह स्पष्ट होता है कि अस्थि एवं कण्टक आदि फलों में से निकलने वाले बीज(गुठली) या कांटे

१ एवं मांससूत्रमपि नेथम्, अस्य चोपादानं क्वचित् लूताद्युपशमनार्थं सद्द्वयोपदेशतो बाह्यपरिभोगेन स्वेदादिना ज्ञानाद्युपकारकत्वात्फलवददृष्टं, भुजिश्चात्र बहिःपरिभोगार्थं नाभ्यवहारार्थं पदाति भोगवदिति।

आदि ही हो सकते हैं। प्रज्ञापना सूत्र में बीज (गुठली) के लिए अस्थि शब्द का प्रयोग किया गया है। यथा— 'एगट्ठया बहुट्ठया' एक अस्थि (बीज) वाले हरड़ आदि और बहुत अस्थि (बीज) वाले अनार, अमरूद आदि। इससे स्पष्ट होता है कि उक्त शब्दों का वनस्पति अर्थ में प्रयोग हुआ है। अतः वृत्तिकार का कथन संगत नहीं जंचता<sup>१</sup>।

जब हम प्रस्तुत प्रकरण का गहराई से अध्ययन करते हैं तो स्पष्ट हो जाता है कि वृत्तिकार का कथन प्रसंग से बाहर जा रहा है। उक्त सूत्र में गृहस्थ के घर में प्रविष्ट साधु का आहार के सम्बन्ध में गृहस्थ के साथ होने वाले सम्वाद का वर्णन किया गया है, न कि औषध के सम्बन्ध में। यदि वृत्तिकार के कथनानुसार यह मान लें कि बाह्य लेप के लिए साधु मांस ग्रहण कर सकता है। तो यह प्रश्न उठे बिना नहीं रहेगा कि बाह्य लेप के लिए कच्चे मांस की आवश्यकता पड़ेगी, न कि पक्व मांस की और कच्चे मांस के लिए किसी के घर न जाकर कसाई की दुकान पर जाना होता है। और यहां कसाई की दुकान का वर्णन न होकर गृहस्थ के घर का वर्णन है। इससे स्पष्ट है कि वृत्तिकार का अपवाद में मांस ग्रहण करने का कथन आगम के अनुकूल प्रतीत नहीं होता। क्योंकि प्रस्तुत पाठ में इसका कहीं भी संकेत नहीं किया गया है कि रोग को उपशान्त करने के लिए मांस को बान्धना चाहिए। अतः वृत्तिकार का कथन प्रस्तुत सूत्र से विपरीत होने के कारण मान्य नहीं हो सकता।

प्रस्तुत सूत्र के पूर्व भाग में वनस्पति का स्पष्ट निर्देश है और उत्तर भाग में मांस शब्द का उल्लेख है। इस तरह पूर्व एवं उत्तर भाग का परस्पर विरोध दृष्टिगोचर होता है। एक ही प्रकरण में वनस्पति एवं मांस का सम्बन्ध घटित नहीं हो सकता। और अस्थि एवं मांस शब्द का आगम एवं वैद्यक ग्रन्थों में गुठली एवं गुद्दा अर्थ में प्रयोग मिलता है। आचाराङ्ग सूत्र में जहां धोवन (प्रासुक) पानी का वर्णन किया गया है, वहां अस्थि शब्द को प्रयोग किया गया है। उसमें बताया गया है कि यदि कोई गृहस्थ आम्र आदि के धोवन को साधु के सामने छानकर एवं अस्थि (गुठली) निकाल कर दे तो ऐसा धोवन पानी साधु को ग्रहण नहीं करना चाहिए। यहां गुठली के लिए अस्थि शब्द का प्रयोग हुआ है<sup>२</sup>। और यह भी स्पष्ट है कि आम्र के धोवन अस्थि (हड्डी) के होने की कोई सम्भावना ही नहीं हो सकती। उसमें गुठली

१. ते मांस शब्दिं जे कुलिया विना आहार न उं दलछइ ते जिमी नदं कुलिया कंटकादि लेई एकांति निरवद्य स्थंडिलइङ्गाम थंडिलंसि कहतां अग्निदग्ध स्थानक नीवाहादिक तिहां आवी पडिलेही २ प्रमाजी २ परिठवइं। ए परठवि वा नी विधि जाणवी जिणि कारणी एकेक वनस्पति माहिला कुलिया आहारी न सकियइ पान न कराय कंटक गलइ न अतरइ तिणी कारणि परठविवा कह्या। इहां वृत्तिकार लोक प्रसिद्ध मांस मत्स्यादिक न उ भाव वखाणय उछ इ पर सूत्र स्थउं विरोध भणिए अर्थ न संभवइ। पछइ वली श्री जिनमतना जाण गितार्थ जे प्रमाण करेइ ते प्रमाण। शास्त्र माहिं अस्थि शब्द इं कुलिया घणे ठामे कह्या छइं। श्री पन्नवणा माहिं वनस्पति अधिकारि "एगट्ठया, बहुट्ठया" एहवां शब्द छइ एगट्ठया हरइइ प्रभृति बहुट्ठया दाडिम प्रभृति जाणि वा इमइज इहां अस्थि न इ शब्दइं कुलिया बोल्या छइ, त उ मांस शब्दिं माहिल उ गिर संभावियइ, एह भणी वनस्पति विशेष मांस मत्स शब्दिं फलाख्या छइ इम चारित्रिया नइ मांस अने मत्स उघाडइ भाविं कारणिं पुण आहारवा योग्य न दीसइ, तथा वली सूत्र माहिं ए साधु नइ उत्सर्गि कह्यउ छइ, वृत्ति माहिं अपकादि पद वखाणि उं छइ, तिणि विशादिं सूत्र स्थउं मिलतुं पण नथी, तिणि कारणि वनस्पति विशेष कहतां सूत्र नउ अर्थ जिम उत्सर्गि छइ तिमइ ज मिलइ इति भावः।

का होना ही उचित प्रतीत होता है। और आम्र के धोए हुए पानी में गुठली के अतिरिक्त और हो ही क्या सकता है। इससे स्पष्ट होता है कि अस्थि शब्द का गुठली के अर्थ में प्रयोग होता रहा है।

प्रज्ञापना सूत्र में वनस्पति के प्रसंग में 'मसकडाहं' शब्द का प्रयोग किया गया है<sup>१</sup>। वृत्तिकार ने इसका अर्थ 'समांसं सगिरं' अर्थात् फलों का गुद्दा किया है। और वृक्षों का वर्णन करते हुए लिखा है कि कुछ वृक्ष एक अस्थि वाले फलों के होते हैं- जैसे-आम्र, जामुन आदि के वृक्ष। अर्थात् आम्र, जामुन आदि फलों में एक गुठली होती है<sup>२</sup>। यह तो स्पष्ट है कि फलों में गुठली ही होती है, न कि हड्डी। इससे स्पष्ट है कि आगम में अस्थि शब्द गुठली के अर्थ में प्रयुक्त होता रहा है।

जैनागमों के अतिरिक्त आयुर्वेद के ग्रन्थों में भी अस्थि शब्द का गुठली के अर्थ में अनेक स्थलों पर प्रयोग हुआ है-

पथ्याया मज्जनिस्वादुः, स्नायावम्लो व्यवस्थितः।

वृन्ते तिक्तस्त्वचि कटुरस्थिस्थस्तुवरो रसः॥

अर्थात्- हरड़ की मज्जा स्वादु है, इसकी नाड़ियों में खट्टापन है, बृन्त में तिक्त रस है, त्वचा में कटुपन और अस्थि-गुठली में कसैला रस है<sup>३</sup>।

मज्जा पनसजा वृध्या, वातपित्तकफापहाः।

अर्थात् कटहर की मज्जा वृष्य, वात, पित्त और कफ को नाश करती है।

• अभिनव निघण्टु पृ० १६०

मुण्डी भिक्षुरपि प्रोक्ता, श्रावणी च तपोधना।

श्रावणाद्वा मुण्डतिका, तथा श्रवणशीर्षका॥

महाश्रावणिकाऽन्यातु, सा स्मृता भूकदम्बिका।

कदम्बपुष्पिका च स्यादव्यथाति तपस्विनी॥

अर्थात्-मुण्डी, भिक्षु, श्रावणी, तपोधना श्रावणाद्वा, मुण्डतिका, श्रवणशीर्षका, भूतघ्नी,

पलकषा कदम्बपुष्पा अरुणा, मुण्डीरिका, कुम्भला, तपस्विनी, प्रव्रजिता और परिव्रजिका ये मुण्डी के नाम हैं।

- भावप्रकाश पृ० २३१, २३२

भाव प्रकाश में और भी इसी प्रकार की वनस्पतियों के नामों का उल्लेख है, जैसे कि-

हयपुच्छिका	माषपर्णी वनस्पति	२९६
व्याघ्रप्रच्छ	एरण्ड	२०७
सिंहतुण्ड	डंडा थोहर	२०९
सिंहास्य वृष	वांसा	२११
जीव	वकापण-डेक	२१२

१ प्रज्ञापना सूत्र, प्रथम पद।

२ प्रज्ञापना सूत्र, प्रथम पद।

३ भावप्रकाश निघं० हरीतक्यादि० ख० पृ० ५६।

वत्स, कीट, इन्द्र	कुटज-कोरडसक	२१५
मर्कटी, ब्रायसी	करंजुआ (मीचका)	२१६
मर्कटी	कौंचबीज	२१७
गोलोमी	श्वेतदूर्वा-सफेद दूब	२२५
मत्स्याक्षी	गांठदूब	२२५
मृगाक्षी	इन्द्रायण (तुम्मा)	२२९-२३०
गान्धारी	जवासा	२३१
शिखरी मयूरक, मर्कटी	अपामार्ग (पुठकंडा)	२३२
भिक्षु	तालमखाणा	२३३
कुमारी, कन्या	धीकुआर	२३४
गोपी, गोपा, कन्या]	काला बांसा	२३५
गोपवधु, कृशोदरी]		
भृंग	भंगरा	२३६
वायसी, काका	मकोच	२३७
काकनासा	कोआदूण्टी	२३८
काकजंघा	एक वनस्पति	२३८
मेष शृङ्गी	मेढासिंगी	" "
मत्स्याक्षी	मछोछी	२४१
मत्स्यादनी	जल पिप्पली	२४६
गो जिक्हा	गोभी (गाउजबां)	२४७
नाम्र चूड़	ककरोँदा	२४७
व्याल, चित्रक	चित्रक-वनस्पति	१४९
मयूर	अजवैण	१५०
धेनुका	धनिया	१५२
मत्स्यपित्ता, मत्स्य शकला	कुटकी	११६
चन्द्र	कबीला	१६०
रामसेवक	चिरायता	१६२
निशा	हलदी	१६९
गजारख्य	पमाड	१७१
मातुलानी	भंग	१७४
चन्द्र	काफूर	१७९

क्या यहां व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ ग्रहण करना उचित होगा ? कदापि नहीं। इसी प्रकार प्रस्तुत प्रकरणों में भी लोक प्रसिद्ध अर्थ का ग्रहण न करके प्रकरण संगत और शास्त्र सम्मत वनस्पति विशेष अर्थ ही उपयुक्त हो सकता है।



तथा- वैद्यक के सुप्रसिद्ध सुश्रुतसंहिता तथा चरक संहिता से भी हमारे उक्त कथन का समर्थन होता है, यथा-

आम्रफलेऽपरिपक्वे केशरमांसास्थिमज्जा न पृथक् दृश्यन्ते ।

-सुश्रुत संहिता अध्याय ३, श्लोक ३२, पृ० ६४२ ।

अर्थ- पके आम्र फल में केशर, अस्थि, मांस अस्थि, मज्जा प्रत्यक्ष रूप में दीखते हैं । परन्तु, कच्चे आम में ये अंग सूक्ष्म अवस्था में होने के कारण भिन्न- भिन्न नहीं दीखते, उन सूक्ष्म केशरादि को सुपक्व आम्र ही व्यक्त रूप देता है ।

प्रस्तुत पाठ में फलों में केशर, गुदे, गुठली आदि के लिए मांस, अस्थि एवं मज्जा शब्द का प्रयोग किया गया है ।

तथा चरक संहिता में महर्षि चरक मिश्री का नाम 'मत्स्यंडिका' लिखते हैं यथा-

ततो मत्स्यंडिका खंड शर्करा विमला परम् ।

यथा यथैषां वैमत्स्यं भवेच्छैत्य तथा तथा ॥

- चरक संहिता पृष्ठ २९५

इसके अतिरिक्त वैद्यक के सुप्रसिद्ध मदनपाल निघण्टु के भी कुछ प्रमाणों को पाठक

देख लें, यथा-

माता	घीकुआर	४३
माजारी	जवादि वनस्पति	५५
कुक्कुटी	शेमल	६७
तापस, माजारि	तिंगोटी	६८
कुक्कुर	श्लिष्टपूर्ण, विकीर्ण, शीर्ण रोमक (ये ग्रन्थि पर्ण वनस्पति के नाम हैं)	६८
शठ, कुटिल	तगर	१८३
पिशुन	केसर	१९०
जटायु, कौशिका, धूर्त	गुग्गुल	१८३
गौरी	गोरोचन	१९०
कुक्कुट	सुनिषण्णक वनस्पति ।	७५४
केश	सुगन्ध बाला	१९१
तपस्विनी	वालछड़	१९२
मेघ वारिद	मोथा	१९३
दैत्या	मुरा वनस्पति	१९४
बधू	कपूर कचरी	१९४
अङ्गना, प्रिया	प्रियंगु औषधि	१९४
राज पुत्री, द्विजा	सम्भालू के बीज	१९५
कुक्कुर, शुक, मयुर	धुनेर	१९६

ब्राह्मणी, देवी, देवपुत्री	असबर्ग वनस्पति	१९८
जननी	पपड़ी	१८८
नटी, धमनी	नली-सुगन्धित द्रव्य	१९९

इन उपर्युक्त नामों को देखते हुए, मनुष्य, पशु-पक्षी आदि के नामों से अनेकानेक वनस्पतियों-अभिहित हुई हैं। अतएव प्रस्तुत प्रकरण में भी शठ का अर्थ धूर्त; कुटिल का वक्र और पिशुन का चुगलखोर अर्थ करना संगत नहीं है, किन्तु इन शब्दों के वनस्पति रूप अर्थ ही प्रसंगोचित हैं।

भल्लूक	आलू बुखारा	९२
मत्स्य	पोई नामक वनस्पति	१०२
कपोतिका	मूली	१०४

इन प्रमाणों से यह भली-भांति सिद्ध हो जाता है कि- फलों के गुदे को मांस, और गुठली को अस्थि के नाम से निर्दिष्ट करना भी उस युग की प्रणाली रही है। ऊपर प्राचीन वैद्यक ग्रन्थों के प्रमाणों से अस्थि और मांस का गुठली और गुदे के अर्थ में प्रयुक्त होना प्रमाणित किया गया है। आयुर्वेद साहित्य के नवीन ग्रन्थों में भी इस तरह का वर्णन मिलता है। देखिए हरिताल भस्म की विधि का वर्णन करते हुए ग्रंथकार लिखते हैं-

तालं सुधा प्रस्तार नीरभग्नं, कूष्मांडमांसैः पुटितं विधाय।

दहेदृशप्रस्थ वनोपलेषु, गुंजोन्मितं स्यात् सकलं ज्वरेषु ॥१॥

अर्थात् - हरिताल को चूने के पानी में रखने के अनन्तर कूष्मांड के मांस से (पेठे के गुदे से) सम्पुटित करके १० सेर बन्योपलों (पाथियों) में फूंक देने से उत्तम भस्म बन जाती है और उसकी १ रत्ति की मात्रा है तथा वह सभी प्रकार के ज्वरों को शान्त करने के लिए हितकर है। (सिद्ध भेषज मणिमाला ज्वराधिकार) इसमें कूष्मांड (पेठा) का 'मांस' उसके गुदे के अतिरिक्त अन्य कोई भी पदार्थ सम्भव नहीं हो सकता। तात्पर्य यह है कि उक्त श्लोक में मांस शब्द का प्रयोग गुदे के अर्थ में ही हुआ है। इसके अतिरिक्त संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ में भी मांस शब्द का गुद्दा अर्थ किया है<sup>१</sup>। इस प्रकार वैद्यक के प्राचीन और अर्वाचीन ग्रन्थों से यह स्पष्ट सिद्ध हो गया है कि अस्थि और मांस ये लोक प्रसिद्ध अर्थ के ही बोधक नहीं अपितु गुठली और गुदे के भी बोधक हैं। दूसरे शब्दों में यह भी कह सकते हैं कि इनका वाच्यार्थ केवल लोक प्रसिद्ध अर्थ अस्थि (हड्डी) और मांस (रुधिर निष्पन्न धातु) ही नहीं अपितु गुठली और गुद्दा भी होता है।

वृक्ष के कठिन भाग एवं फलों के बीज (गुठली) के लिए अस्थि शब्द का प्रयोग हम वैद्यक एवं जैन साहित्य में अनेक स्थलों पर देख चुके हैं। परन्तु, वैद्यक साहित्य में कपास के अंदर के कठिन भाग के लिए भी अस्थि शब्द का प्रयोग किया गया है। क्षेमकुतूहल में लिखा है-'कपास का फल अति उष्ण प्रकृति वाला कषाय एवं मधुर रस वाला और गुरु होता है। वह वात, कफ को दूर करने वाला तथा

१ मांस (न) १ गोश्त। २ मछली। ३ फल का गूदा।

रुचिकर होता है। इसमें से अस्थि (बीच का कठिन भाग) निकाल कर प्रयोग करने से लाभदायक होता है<sup>१</sup>।

'अज' शब्द का वर्तमान में सामान्य विद्वान बकरे एवं विष्णु के अर्थ में प्रयोग करते हैं। परन्तु, यह शब्द इसके अतिरिक्त अन्य अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता रहा है। जैसे - सुवर्णमाक्षिक धातु, पुराने धान्य, जो अंकुरित होने के काल को अतिक्रान्त कर चुके हैं<sup>२</sup>।

इसी तरह 'कपोत' शब्द केवल कबूतर का वाचक नहीं रहा है। परन्तु, सुरमे एवं सञ्जी (खार) के लिए भी कपोत शब्द का प्रयोग होता रहा है। क्योंकि इन पदार्थों का कपोत जैसा रंग होने के कारण इन्हें कपोत शब्द से अभिव्यक्त करते थे।

श्यामा, गोपी, गोपवधू इन शब्दों का प्रयोग गोप कन्या या ग्वालों की स्त्री के लिए ही प्रयोग न होकर कृष्ण-सारिवा वनस्पति के लिए भी प्रयोग होता था। धवला- सारिवा नामक वनस्पति को गोपी और गोप कन्या कहा जाता था<sup>३</sup>।

श्वेत और कृष्ण कापोतिका शब्दों से पाठक सफेद और काले मादा कबूतर का ही अर्थ समझेंगे, परन्तु वैद्यक ग्रन्थों में इनका अन्य अर्थों में प्रयोग हुआ है। कल्पद्रुम कोष में लिखा है कि जो स्वल्प आकार और लाल अंग वाली होती है, वह श्वेत कापोतिका कहलाती है। श्वेत कापोतिका वनस्पति दो पत्तों वाली और कन्द के मूल में उत्पन्न होने वाली, ईषटू (थोड़ी) रक्त (लाल) तथा कृष्ण पिंगला, हाथ भर ऊंची, गाय के नाक जैसी और फणधारी सर्प के आकार वाली, क्षारयुक्त, रोंगटे वाली, कोमल स्पर्श वाली और गन्ने जैसी मीठी होती है।

इसी प्रकार के स्वरूप एवं रस वाली कृष्ण कापोतिका होती है। वह (कृष्ण कापोतिका) काले सांप जैसी वाराही कन्द के मूल में उत्पन्न होती है। वह एक पत्ते वाली महावीर्य दायिनी और बहुत काले अंजन समूह जैसी काली होती है। उसके पत्ते मध्य से उत्पन्न प्ररोह पर लगे हुए गहरे नील मयूरपंख के समान होते हैं और वह बारह पत्तों के छत्र वाली, राक्षसों की नाशक, कन्द-मूल से उत्पन्न होने वाली और जरा-भरण को निवारण करने वाली ये दोनों कापोतिकाएं होती हैं<sup>४</sup>।

१ कर्पासं फलमत्युष्णं, कषायं मधुरं गुरु।  
वातश्लेमपहरं रुच्यं, विशेषेणास्थिवर्जितम् ॥

- क्षेमकुतूहले।

२ शालिग्रामौषध शब्द सागर।  
३ कृष्णा तु सारिवा श्यामा, गोपी गोपवधूश्च सा।  
धवला सारिवा गोपी, गोपकन्या च सारिवा ॥

- भावप्रकाश निघण्टु।

४ स्वल्पाकारा लोहितांगा, श्वेतकापोतिकोच्यते।  
द्विपर्णिनी मूलमादा-मरूणां कृष्णापिंगलाम् ॥....

इसी ग्रंथ में आगे कहा गया है कि जो शंख, कुन्द, पुष्प और चन्द्र के समान श्वेत वर्ण की हो उसे अजा नामक महौषधि समझना चाहिए<sup>१</sup>।

इस तरह हम देख चुके हैं कि जैनागमों में ही नहीं, अपितु वैद्यक एवं अन्य ग्रन्थों में भी मांस, मत्स्य एवं पशु-पक्षी के वाचक शब्दों का वनस्पति अर्थ में प्रयोग हुआ है। अतः प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त मांस एवं मत्स्य शब्द वनस्पति वाचक हैं, न कि मांस और मछली के वाचक हैं। इससे स्पष्ट होता है कि उक्त शब्दों के आधार पर जैन मुनियों को मांस-मछली खाने वाला कहना नितान्त गलत है।

आचाराङ्ग सूत्र के आधार पर आचार्य शयंभव द्वारा रचित दशवैकालिक सूत्र में इस तरह का पाठ आता है। फलों के प्रकरण में अस्थि शब्द का गुठली के अर्थ में प्रयोग किया गया है<sup>२</sup>। और ७वीं शताब्दी में होने वाले आचार्य हरिभद्र ने अस्थि का अर्थ फलों की गुठली एवं पुद्गल का अर्थ गुद्दा किया है<sup>३</sup>। उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि यहां फलों के वर्णन का प्रसंग होने के कारण उक्त शब्द गुठली एवं गुद्दे के ही परिबोधक हैं और पुराने आचार्यों ने भी ऐसा ही अर्थ किया है<sup>४</sup>। इससे स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य हरिभद्र से पूर्व भी मांस एवं मत्स्य आदि शब्दों का वनस्पति अर्थ किया जाता था।

द्विरत्विमात्रां जानीयाद्, गोनसीं गोनसाकृतिम्।  
सक्षारां रोमशां मुद्गीं, रसनेक्षुरसोपमाम् ॥  
एवं रूप रसां चापि, कृष्णकापोतिमादिशेत्।  
कृष्णसर्पस्य रूपेण, वाराहीकन्दसम्भवाम् ॥  
एकपर्णा महावीर्या, भिन्नाञ्जनचयोपमाम्।  
छत्रातिच्छत्रके विद्येत, रक्षोघ्ने कन्दसंभवे ॥  
जरा मृत्युनिवारिण्यौ, श्वेतकापोतिसम्भवे।  
कान्तैर्द्वादिशभिः पत्रैर्मयूराङ्गरुहोपमैः ॥

— कल्पद्रुम कोष ५९८

अजामहौषधिर्ज्ञेया शंखकुन्देन्दुपाण्डुरा।  
बहु अद्विद्यं पोग्गलं, अणिमिसं वा बहुकण्टकं।  
उच्छिअं तित्तुअं बिल्लं, उच्छुखंडं च सिंबलिं ॥  
अप्पेसिया भोयणजाए, बहु उन्डिय धम्मियं।  
दित्तियं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥

— कल्पद्रुम कोष ५९८

— दशवैकालिक ५, १, ७३-७४।

'बहुअद्विद्यं' ति सूत्रम् बहुवस्थि, पुद्गलं 'अनिमिषं वा' बहुकण्टकं। अयं किल कालाद्यपेक्षया ग्रहणे प्रतिषेधः अन्येत्वभिदधति — वनस्पत्यधिकारात् तथाविध फलभिधाने एते इति। तथा चाह — 'अस्थिकं' अस्थिकवृक्षफलम्, 'तेन्दुकं' तेंदुरुकीफलम्, विल्लम् इक्षुखण्डमिति च प्रतीते, शाल्मलिं वा बल्लादि फलिं वा। वा शब्दस्य व्यवहितः सम्बन्ध इति सूत्रार्थः। अत्रैव दोषमाह— 'अप्पे' ति सूत्रम्, अल्पं स्याद् भोजनजातमत्रापितु बहुञ्जनधर्मकमेतत्। यतश्चैवमतोददती प्रत्याचक्षीत न मम कल्पते तादृशमिति सूत्रार्थः।

— दशवैकालिक वृत्ति।

४ अन्येत्वभिदधति— वनस्पत्यधिकारात् तथाविध फलभिधाने एते इती।

— दशवैकालिक सूत्र, वृत्ति।

उक्त वृत्ति में ' पुद्गल ' शब्द का जो मांस अर्थ किया है, वह भी युक्ति संगत नहीं है। क्योंकि जब अस्थि शब्द का गुठली अर्थ स्पष्ट परिलक्षित होता है, तो ऐसी स्थिति में पुद्गल शब्द मांस परक कैसे हो सकता है। जिसमें बहुत अस्थियाँ (गुठलियाँ) हों ऐसे पुद्गल का तात्पर्य बहुत गुठलियों वाला मांस नहीं, प्रत्युत बहुत गुठलियों वाला फलों का गुद्दा ही होगा। अर्द्धमागधी कोष में भी इसका अर्थ - गर्भ (फलों का गुद्दा) फल के मध्य का मनोरम अंश किया गया है<sup>१</sup>।

आगमों में साधु के लिए कहीं भी मांस ग्रहण करने का उल्लेख नहीं किया गया है। अनेक स्थलों पर निषेध अवश्य किया है। साधु की आहार विधि के वर्णन में कहीं भी मांस आहार के ग्रहण का उल्लेख नहीं मिलता है। यहां हम कुछ पाठों का उल्लेख कर दें तो यह बात स्पष्ट हो जाएगी कि उक्त सूत्र में प्रयुक्त शब्द फलों के अर्थ से संबन्धित हैं। वे पाठ इस प्रकार हैं-

अन्ताहारा पन्ताहारा अरसाहारा विरसाहारा लूहाहारा तुच्छाहारा

अन्तजीवी, पन्तजीवी आयाम्बिलिया, पुरिमडिदया निव्विगइया

अमज्जमंसासिणो नो नियामरसभोई।- सूत्रकृताङ्ग द्वि श्रुं द्वि० अ०।

सूत्रकृताङ्ग सूत्र के इस पाठ में मुनि के अन्य विशेषणों के साथ 'अमज्जमंसासिणो' यह विशेषण भी दिया है, जिसका आशय है कि- साधु कभी मद्य और मांस का सेवन न करे। क्या इतने पर भी जैन भिक्षु को मांसाहारी कहने का साहस किया जा सकता है ? और भी देखिए -

जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए खीरं वा दहिं वा णवणीयं

वा सपिं वा गुलं वा खंडं वा सक्करं वा मच्छंडियं वा अण्णयरं

वा पणीयं आहारं आहारेइ, आहारंतं वा साइज्जइ<sup>२</sup>।

निशीथ सूत्र के इस पाठ का भाव यह है कि- 'साधु मैथुन के लिए दूध, दही, मक्खन, घी, गुड़, खांड और शर्करा आदि पौष्टिक पदार्थ का कभी सेवन न करे। उक्त सूत्र में साधु के खाने के पदार्थ में मांस को बिल्कुल नहीं गिना, इससे स्पष्ट है कि जैन आगमों का आशय साधु को मांस खाने के निषेध में है। और भी -

कप्पइ मे समणे निगंथे फासुएणं एसणिज्जेण- असणपाण-

खाइमसाइमेणं वत्थपडिग्गहकम्बलपायपुच्छणेणं पीढफल्य-

सिज्जासंधारएणं ओसहभेसज्जेण य पडिलाभेमाणस्स विहरित्ताए।

त्तिकट्टु इमं एयारूवं अभिग्गहं अभिगिण्हइ।- उपा० दशा० प्र० अ० सूत्र ८।

प्रस्तुत सूत्र में भगवान् महावीर के पास आनन्द श्रावक ने साधु को आहार देने का नियम लिया है। इस पाठ में साधु को क्या-क्या आहार देना चाहिए, यह लिखा है। इसमें अशन आदि का तो उल्लेख है परन्तु मांस देने का उल्लेख नहीं है। अगर भिक्षुओं में मांस खाने की भी प्रथा होती तो उसका भी

१ अर्द्धमागधी कोष; भाग ३, पृष्ठ ५९५।

२ निशीथ सूत्र ६ उद्देशक ७९ सूत्र।

उल्लेख होता।

आगमों से स्पष्ट होता है कि साधु के लिए मांस सर्वथा त्याज्य रहा है। आर्द्रकुमार ने मांसभक्षक बौद्ध भिक्षुओं का उपहास करते हुए कहा है—

थूलं उरब्भं इह मारियाणं, उदिट्ठभत्तं च पगप्पएत्ता।  
 तं लोण तेल्लेण उवक्खडेत्ता, सपिप्पलीयं पगरंति मंसं ॥  
 तं भुञ्जमाणा पिसियं पभूयं, नो ओवलिप्पामु वयं रएणं।  
 इच्चेव माहंसु अणज्जधम्मा, अणारिया बाल रसेसु गिद्धा ॥  
 सव्वेसि जीवाण दयट्ठयाए, सावज्जदोसं परिवज्जयंता।  
 तस्संकिणो इसिणो नायपुत्ता, उदिट्ठभत्तं परिवज्जयंति ॥  
 भूयाभिसंकाए दुगुंच्छमाणा, सव्वेसि पाणाण निहाय दण्डं।  
 तम्हा न भुञ्जन्ति तहप्पगार, एसोऽणुधम्मो इह संजयाणं<sup>१</sup> ॥

आर्द्र कुमार का कथन जैन आचार-विचार को स्पष्ट कर देता है। वह बौद्ध-भिक्षुओं से कहता है कि आप बकरे का मांस खाकर भी अपने आप को पाप से लिस नहीं मानते। परन्तु, यह कैसे हो सकता है ? मांस भक्षण का कार्य तो स्पष्टतः अनार्य कर्म है। उसका सेवन करने वाला पाप कर्म के बन्ध से कैसे बच सकता है ? निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर के साधु कभी भी मांसाहार नहीं करते। आर्द्रकुमार की यह स्पष्ट आलोचना सुनकर बौद्ध भिक्षु चुप हो जाते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि जैन साधु मांसाहारी नहीं थे और न हैं। यदि जैन साधु स्वयं मांसाहार करते होते तो वे बौद्धों के सामिष भोजन की आलोचना नहीं करते। और यदि करने का दुःसाहस करते भी तो बौद्ध भिक्षु उन्हें सचोट उत्तर देने से कभी नहीं चूकते कि तुम भी तो सामिष भोजन करते हो, तुम कौन से पवित्र व्यक्ति हो। परन्तु, जैन मुनियों की कहीं ऐसी आलोचना नहीं की गई है। इससे स्पष्ट होता है कि जैन मुनि आमिष भोजन से सर्वथा निवृत्त हैं। आगम में तो मांसाहार को साधु के लिए तो क्या मनुष्य के लिए भी उपयुक्त नहीं बताया है। उसे मनुष्यों का नहीं पशुओं का, जंगली जानवरों का आहार कहा है<sup>२</sup>।

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में बताया गया है कि उत्सर्पिणी काल चक्र का पहला आरा समाप्त होकर जब दूसरा लगेगा तब ४९ दिन तक अनवरत वर्षा होगी। उससे पृथ्वी में सरसता आएगी और वह विविध वनस्पतियों से शस्य-श्यामला हो जाएगी। उस समय बिलों में रहने वाले मनुष्य बाहर आएंगे और फल-फूल खाकर अत्यधिक प्रसन्न होंगे और यह सामाजिक नियम बनाएंगे कि आज तक हमने विवश होकर मांसाहार किया, परन्तु, अब कभी भी मांसाहार नहीं करेंगे। जो सामिष आहार करेगा उसका बहिष्कार

१ सूत्रकृतांग श्रुत २ अध्या ३, ३७, ३८, ४०, ४१।

२ तिरिक्खजोणियाणं चउत्थिहेआहारे पन्नत्ते-तंजहा कंक्रोवमे, विलोवमे; पाणमंसोवमो, पुत्तमंसोवमे। मणुस्साणं चउत्थिहेआहारे पन्नत्ते तंजहा— असणे जाव सातिमे।

करेंगे और उसकी छाया से भी दूर रहेंगे<sup>१</sup>। आचार्य शान्तिचन्द्र ने प्रस्तुत सूत्र की टीका में लिखा है कि मांसाहारी लोगों के अपवित्र शरीर को छूना तो दूर रहा, उनकी छाया तक को भी नहीं छुएंगे<sup>२</sup>। अर्थात् उनकी छाया को स्पर्श करना भी पाप माना जाएगा। इससे बढ़कर मांसाहार के प्रति और अधिक क्या कहा जा सकता है ? इसे पढ़ने के पश्चात् क्या कोई समझदार व्यक्ति यह कल्पना कर सकता है कि इतने कड़े शब्दों में मांसाहार का विरोध करने वाले जैनागम साधु के लिए सामिष भोजन का विधान कर सकते हैं ? बिल्कुल नहीं।

आगमों में चार गति मानी गई हैं - १-नरक, २-तिर्यञ्च, ३-मनुष्य और ४-देव गति। औपपातिक सूत्र में प्रत्येक गति में जाने के कारणों का उल्लेख किया गया है। उसमें मांस भक्षण को नरक गति का कारण बताया गया है<sup>३</sup>। उत्तराध्ययन सूत्र में भी बताया गया है कि मांस मद्य का आहार करने वाला व्यक्ति अकाम मृत्यु को प्राप्त होकर नरक में जाता है<sup>४</sup>। मृगापुत्र ने भी मांस एवं मद्य का सेवन करने से नरक गति का मिलना कहा है<sup>५</sup>।

इन सब पाठों से यह स्पष्ट होता है कि आगम में सामिष भोजन का कड़े शब्दों में निषेध किया गया है। इसे मनुष्य का भोजन नहीं, अपितु पशु का भोजन कहा है। मांसाहार करने वाला खूंखार भेड़िये से भी भयानक है, जो अपने आहार को छोड़कर अपने पेट को जीवित पशुओं की कब्र बनाता है। अतः इन सब उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त मांस एवं मत्स्य शब्द सामिष आहार से नहीं, अपितु फलों से सम्बन्धित है। अतः उक्त शब्दों का वनस्पति विशेष अर्थ करना ही उचित एवं आगम सम्मत प्रतीत होता है।

१ तएणं ते मणुआ भरहं वासं परुड् रुक्खगुच्छ गुम्मगुम्मलयवल्लीतणपव्वयहरिआ ओसहीयं उवचियतयपत्तपवालपल्लयंकुरपुप्फफलं समुडअं सुहोवभोगं जायं २ चाव पासिहिनत्ति पासिता खिलेहिं तो णिन्दाइस्संति णिन्दाइत्ता हट्ठतुट्ठा अण्णमण्णं सहाविसंति २ ता एवं वदिस्संति -- जाते णं देवाणुण्णिया ! भरहे वासे परुड् रुक्खगुच्छ गुम्मलयवल्ली तणपव्वयहरिय जाव सुहोवभोगे, तं जे देवाणुण्णिया ! अहं केइ अज्जप्पभिइ असुभं कुण्णिमं आहारं आहारिस्सइ से णं अणेगाहिं छायाहिं वज्जिण्णे त्ति कट्ठु संठियं ठवेत्ति २ ता भरहे वासे सुहंसुहेणं अभिरममाण्णा २ विहरिस्संति।

- जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति २, ३९।

२ आस्तां तेषामस्पर्शयाना शरीरस्पर्शः तच्छरीरच्छायास्पर्शोपि वर्जनीयः।

३ चउहिं ठाणेहिं जीवा णेरइयताए कम्मं पकरेत्ति, णेरइयताए कम्मं पकरेत्ता णेरइएसु उववज्जति, तंजहा-  
१-महारंभयाए २-महापरिग्गहयाए ३-पंचिदियवहेणं ४-कुण्णिमाहारेणं। - औपपातिक सूत्र, भगवद्देशना।

४ हिंसे वाले मुत्तावाई, माइल्ले पिसुणे सडे।

भुंजमाणे सुरं मंसं, सेयमेयं त्ति मन्इइ।

- उत्तरा ५, ९।

इत्थीविसयगिन्दे य, महारंभ परिग्गहे।

भुंजमाणे सुरं मंसं, परिवूडे परं दमे।।

अय कक्करभोई य, तुंदिल्ले चियलोहिए।

आउयं नरयं कंखे, जहाएसं वा एलए।।

- उत्तरा ०७, ६, ७।

५ तुहं पियाइं मंसाइं, खंडाणि सोल्लगाणि य।

खाइओ मित्तमंसाइं, अगिगवण्णाइण्णेगसो।।

तुहं पिया सुरा सीहू, मेरओ य महूणि य।

पाइओमि जलन्तीओ, वसाओ रुहिराणि य।।

- उत्तरा ०, १९, ६९-७०।

आहार के विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— से भिक्खू वा० सिया से परो अभिहट्टु अंतो पडिग्गहे बिलं वा लोणं वा उब्भियं वा लोणं परिभाइत्ता नीहट्टु दलइज्जा, तहप्पगारं पडिग्गहं परहत्थंसि वा २ अफासुयं नो पडि० । से आहच्च पडिगाहिए सिया, तं च नाइदूरगए जाणिज्जा, से तमायाए तत्थ गच्छिज्जा २ पुव्वामेव आलोइज्जा— आउसोत्ति वा २ इमं किं ते जाणया दिन्नं उदाहु अजाणया ? से य भणिज्जा नो खलु मे जाणया दिन्नं, अजाणया दिन्नं कामं खलु आउसो ! इयाणिं निसिरामि, तं भुंजह वा णं परिभाएह वा णं तं परेहि समणुनायं समणुसट्ठं तओ संजयामेव भुंजिज्ज वा पीइज्ज वा, जं च नो संचाएइ भोत्तए वा पायए वा साहम्मिया तत्थ वसंति संभोइया समणुना अपरिहारिया अदूरगया, तेसिं अणुप्पयायव्वं सिया, नो जत्थ साहम्मिया जहेव बहुपरियावन्नं कीरइ तहेव कायव्वं सिया, एवं खलु० ॥५९ ॥

छाया— स भिक्षुः० स्यात् स परः अभिहृत्य अन्तः पतद्ग्रहे विडं वा लवणं वा उद्भिज्जं वा लवणं परिभाज्य निर्हृत्य दद्यात् तथाप्रकारं पतद्ग्रहं परहस्ते वा २ अप्रासुकं नो प्रतिगृण्हीयात् । स आहृत्य प्रतिगृहीतं स्यात् तं च नातिदूरगतं जानीयात् ( ज्ञात्वा ) स तमादाय तत्र गच्छेत् गत्वा च पूर्वमेव आलोकयेत् — आयुष्मन् इति वा २ इदं किं त्वया जानता दत्तं, उत अजानता ? स च भणेत नो खलु मया जानता दत्तं, अजानता दत्तं, कामं खलु आयुष्मन् ! इदानीं निसृजामि तं भुंक्षध्वम् वा परिभाजयत तद् परैः समनुज्ञातं, समनुसृष्टं ततः संयतमेव भुंजीत पिबेद् वा । यच्च नो शक्नोति भोक्तुं वा पातुं वा साधर्मिकाः यत्र वसंति संभोगिकाः समनोज्ञाः अपरिहारिकाः अदूरगताः तेभ्योऽनुप्रदातव्यं स्यात् नो यत्र साधर्मिकाः यथैव बहुपर्यापन्नं क्रियेत तथैव कर्तव्यं स्यात् । एवं खलु० ( सूत्र ५९ ) — पिंडेषणा दशम उद्देशकः ।

पदार्थ— से-वह । भिक्खू-भिक्षु गृहपति कुल में गया हुआ । से-वह । परो-गृहस्थ के । अन्तो-घर के अंदर प्रवेश करके । पडिग्गहे-अपने पात्र में । बिलं वा लोणं-अर्थात् खान का लवण । उब्भियं वा लोणं-लवणाकार का लवण । परिभाइत्ता-देने योग्य विभाग करके । नीहट्टु-पात्र में डालकर और लाकर । दलइज्जा-देवे । तहप्पगारं-तथा प्रकार का द्रव्य । पडिग्गहं-गृहस्थ के भाजन में अथवा । परहत्थंसि वा-गृहस्थ के हाथ में, या गृहस्थ के पात्र में हो तो उसे । अफासुयं-अप्रासुक जानकर । नो पडि०-ग्रहण न करे-स्वीकार न करे । से-वह लवणादि आहार । आहच्च-कदाचित् । पडिगाहिए सिया-ग्रहण कर लिया है तो फिर । तं-उस गृहस्थ को । नाइदूरगए जाणिज्जा-बहुत दूर गया न जानकर अर्थात् पास में ही जानकर । से-वह भिक्षु । तं-उस लवणादि पदार्थ को । आयाए-लेकर । तत्थ-जहां वह गृहस्थ है वहां जाए और वहां जाकर । पुव्वामेव-पहले ही । आलोइज्जा-लवणादि पदार्थ दिखलाए और कहे कि । आउसोत्ति वा-हे आयुष्मन् गृहस्थ । अथवा भगिनि ! । इमं-यह



लवणादि। किं-क्या। ते-तूने। जाणया-जानते हुए। दिन्नं-दिया है। उदाहु-अथवा। अजाणया-नहीं जानते हुए दिया है? से-वह गृहस्थ। भणेज्जा-कहे कि। खलु-निश्चय ही। मे-मैंने। जाणया-जानकर। नो-नहीं। दिन्नं-दिया किन्तु। अजाणया-अनजानपने में। दिन्नं-दिया है। खलु-पूर्ववत्। कामं-अतिशयार्थक अव्यय। आउसो-हे आयुष्मन्! श्रमण! इयाणि-इस समय। निसिरामि-तुम्हें देता हूँ या देती हूँ। तं-इसे तुम। भुञ्जह वा-खा लो। णं-वाक्यालंकार में है। वा-अथवा। परिभाएह-आपस में बांट लो। णं-पूर्ववत्। तं-वह। परेहिं-गृहस्थों की ओर से। समणुन्नायं-आज्ञा मिलने पर। समणुसट्ठं-सम्यक् प्रकार से प्राप्त कर। तओ-तदनन्तर। संजयामेव-साधु यत्ना पूर्वक। भुंजिजा वा-खा ले अथवा। पिइज्ज वा-पी ले। जं च-यदि वह। भोत्ताए वा-खाने में तथा। पायाए वा-पीने में। नो संचाएइ-समर्थ नहीं है। तत्थ-वहां पर। साहम्मिया-जो साधर्मिक साधु। वसंति-रहते हैं, जो। संभोइया-एक मांडले के संभोगी हैं। समणुन्ना-समनोज्ञ हैं तथा। अपरिहारिया-अपरिहार्य अर्थात् त्यागने योग्य नहीं हैं--निर्दोष हैं। अदूरगया-दूर भी नहीं-अर्थात् समीपवर्ती है। तेसिं-उनको। अणुप्पयायव्वं सिया-उनको प्रदान करना चाहिए यदि। जत्थ-जहां पर। साहम्मिया-साधर्मिक। नो-नहीं है तो। जहेव-जिस प्रकार। बहुपरियावन्नं-अधिक आहार मिलने पर जो परठने की विधि बताई है। कीरइ-पूर्व किया है। तहेव-उसी प्रकार। कायव्वं सिया-करना चाहिए। एवं खलु-इस प्रकार मुनि का समग्र आचार वर्णन किया है।

**मूलार्थ**—यदि कोई गृहस्थ घर में भिक्षार्थ आए हुए भिक्षु को अंदर-घर में अपने पात्र में बिड़ अथवा उद्भिज्ज लवण को विभक्त कर उसमें से कुछ निकाल कर साधु को दे तो तथा प्रकार लवणादि को गृहस्थ के पात्र में अथवा हाथ में अप्रासुक जानकर ग्रहण न करे।

यदि कभी अकस्मात् वह ग्रहण कर लिया है तो मालूम होने पर गृहस्थ को समीपस्थ ही जानकर लवणादि को लेकर वहां जाए और वहां जाकर पहले दिखाए और कहे कि—हे आयुष्मन्! अथवा भगिनि! तुमने यह लवण मुझे जानकर दिया है या बिना जाने दिया है? यदि वह गृहस्थ कहे कि मैंने जानकर नहीं दिया, किन्तु भूल से दिया है। परन्तु, हे आयुष्मन्! अब मैं तुम्हें जानकर दे रहा हूँ, अब तुम्हारी इच्छा है—तुम स्वयं खाओ अथवा परस्पर में बांट लो। अस्तु, गृहस्थ की ओर से सम्यक् प्रकार से आज्ञा पाकर अपने स्थान पर चला जाए, और वहां जाकर यत्न पूर्वक खाए तथा पीए। यदि स्वयं खाने या पीने को असमर्थ हो तो जहां आस-पास में एक मांडले के संभोगी, समनोज्ञ और निर्दोष साधु रहते हों वहां जाए और उनको दे दे। यदि साधर्मिक पास में न हों तो जो परठने की विधि बताई है उसी के अनुसार परठ दे। इस प्रकार मुनि का आचार धर्म बताया गया है।

**हिन्दी विवेचन**—प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि यदि किसी गृहस्थ ने साधु को भूल से अचित्त नमक दे दिया है तो साधु उस गृहस्थ से पूछे कि यह नमक तुमने भूल से दिया है या जानकर? वह कहे कि मैंने दिया तो भूल से है, फिर भी मैंने आपको दे दिया है अतः अब आप इसे खा सकते हैं या अपने अन्य साधुओं को भी दे सकते हैं। ऐसा कहने पर वह साधु उस अचित्त नमक को यदि स्वयं खा सकता है तो स्वयं खा ले, अन्यथा अपने सांभोगिक, मनोज्ञ एवं चारित्रनिष्ठ साधुओं को बांट दे। यदि स्वयं एवं अन्य साधु नहीं खा सकते हों तो उसे एकान्त एवं प्रासुक स्थान में जाकर परठ दे।

इसमें यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि नमक सचित्त होता है और उसके लिए अप्रासुक शब्द

का प्रयोग भी हुआ है, फिर उस खाने एवं सांभोगिक साधुओं में विभक्त करने की आज्ञा कैसे दी गई ? इसका समाधान यह है कि आगम में जो खाने का आदेश दिया गया है, वह अचित्त नमक की अपेक्षा से दिया गया है। किसी शस्त्र के प्रयोग से जो नमक अचित्त हो गया है और वह भूल से आ गया है तो गृहस्थ को पूछकर उसके कहने पर साधु खा सकता है। प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त अप्रासुक शब्द सचित्त के अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है। इसका तात्पर्य इतना ही है कि भूल से आए हुए नमक के विषय में गृहस्थ से पूछकर यह निर्णय करे कि यह नमक भूल से दिया गया है या जानकर और यदि भूल से दिया गया है तो अब गृहस्थ को इसे खाने के लिए आज्ञा है या नहीं - आज्ञा लिए बिना साधु को उसे खाना नहीं कल्पता। अतः अप्रासुक शब्द सचित्त के अर्थ में नहीं, अपितु अकल्पनीय के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है और वह कब तक अकल्पनीय है इसकी स्पष्ट व्याख्या ऊपर कर चुके हैं।

जैसे आचाराङ्ग में स्थित सचित्त एवं अकल्पनीय दोनों अर्थों में अप्रासुक शब्द का प्रयोग हुआ है उसी तरह दशवैकालिक सूत्र में अग्रहणीय सचित्त वस्तु एवं जो वस्तु लेने की इच्छा न हो उन दोनों के लिए 'न कप्पइ तारिसं' शब्द का प्रयोग हुआ है<sup>१</sup>। और भगवती सूत्र में भगवान महावीर ने सचित्त उड़द के लिए भी अभक्ष्य शब्द का प्रयोग किया है और किसी गृहस्थ के द्वारा बिना याचना किए हुए उड़द को भी साधु के लिए अभक्ष्य कहा है<sup>२</sup>। इसी तरह थावच्चा पुत्र के शुकदेव संन्यासी को और भगवान पार्श्वनाथ ने सोमल ब्राह्मण की भी ऐसे शब्द कहे थे। इससे यह स्पष्ट होता है कि यह आगम की एक शैली रही है कि एक शब्द कई अर्थों में प्रयुक्त होता है। अतः यहां अप्रासुक शब्द अकल्पनीय अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

प्रस्तुत सूत्र से यह स्पष्ट होता है कि यदि कोई पदार्थ बिना इच्छा के भूल से आ गया है तो उसके लिए गृहस्थ से पूछकर उसकी आज्ञा मिलने पर उसे खा सकता है, अपने समान आचार-विचार-निष्ठ साधुओं को दे सकता है और उसे खाने में समर्थ न हो तो साधु मर्यादा के अनुसार आचारण कर सकता है।

'त्तिबेमि' की व्याख्या पूर्ववत् समझें।

॥ दशम उद्देशक समाप्त ॥

१ दशवैकालिक सूत्र ५, १, ७९ ।

२ भगवती सूत्र १८, ॐ १० ।

## प्रथम अध्ययन पिण्डैषणा एकादशम उद्देशक

प्रस्तुत उद्देशक में यह बताया गया है कि साधु को जो आहार प्राप्त हुआ है, उसे उसका कैसे उपयोग करना चाहिए। इस बात का निर्देश करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्—** भिक्खागा नामेगे एवमाहंसु-समाणे वा वसमाणे वा गामाणुगामं वा दूइज्जमाणे मणुन्नं भोयणजायं लभित्ता से भिक्खू गिलाइ, से हंदह णं तस्साहरह, से य भिक्खू नो भुंजिज्जा तुमं चेव णं भुंजिज्जासि, से एगइओ भोक्खामित्ति कट्टु पलिउंचिय २ आलोइज्जा, तंजहा-इमे पिंडे इमे लोए इमे तित्ते इमे कडुयए इमे कसाए इमे अंबिले इमे महुरे, नो खलु इत्तो किंचि गिलाणस्स सयइत्ति माइट्ठाणं संपासे, नो एवं करिज्जा, तहाठियं आलोइज्जा जहाठियं गिलाणस्स सयइत्ति, तं तित्तयं तित्तएत्ति वा कडुयं कडुअं कसायं कसायं अंबिलं अंबिलं महुरं महुरं ॥६०॥

**छाया—** भिक्षाका नामैके एवमाहुः समाना वा वसन्तो वा ग्रामानुग्रामं वा दूयमानाः मनोज्ञं भोजनजातं लब्ध्वा स भिक्षुः ग्लायति, स गृहणीत यूयम् णं तस्य आहरतः स च भिक्षुः न भुंक्ते त्वमेव भुंक्त्व स एककः भोक्ष्ये इति कृत्वा परिकुंच्य परिकुंच्य आलोकयेत् तथा— अयं पिण्डः अयं रूक्षः अयं तिक्तः अयं कटुकः अयं कषायः अयं अम्लः, अयं मधुरः, नो खलु इतः किंचिद् ग्लानस्य स्वदतीति, मातृस्थानं संस्पृशेत्, नो एव कुर्यात्, तथास्थितं अलोकयेत् यथास्थितं ग्लानस्य स्वदतीति, तद् तिक्तकं तिक्तकं इति वा कटुकं कटुकं, कषायं कषायं, अम्लं अम्लं, मधुरं मधुरम्।

**पदार्थ—** भिक्खागा-भिक्षु-साधु। नाम-सम्भावनार्थक अव्यय है। एगे-कितने एक। एवं-इस प्रकार। आहंसु-कहने लगे। समाणे वा-संभोगी साधु तथा असंभोगी साधु। वसमाणे वा-रोगादि के कारण से एक स्थान में रहते हुए। गामाणुगामं दूइज्जमाणे-अनुक्रम से ग्रामानुग्राम विचरते हुए, वहां आ गए उनमें कोई साधु रोगी है उसके लिए। मणुन्नं-मनोज्ञ। भोयणजायं-भोजन पदार्थ। लभित्ता-प्राप्त करके कहने लगे। से-वह। भिक्खू-

भिक्षु। गिलाइ-रोगी है। से हंदह-यह आहार तुम ले लो। णं-वाक्यालंकार में है। तस्साहरह-उसके लिए दे दो। से य भिक्खू-यदि रोगी-वह भिक्षु। न भुंजिज्जा-न खावे तो। तुमं-चेव-तुम ही। भुंजिज्जासि-भोग लेना। णं-वाक्यालंकार में है। से एगइओ-वह कोई एक भिक्षु गृहस्थ से आहार लेकर मन में विचारता है कि। भोक्खामित्ति कट्टु-इस आहार को मैं ही भोगूंगा-मैं ही खाऊंगा। पलिउंचिय पलिउंचिय-अस्तु मनोज्ञ आहार को छुपा छुपाकर वातादि रोगों को उद्देश्य कर। आलोइज्जा-दिखलाता है। तंजहा-जैसे कि। इमे पिंडे-यह जो आहार साधुओं ने आपके लिए दिया है, यह अपथ्य है; क्योंकि। इमे लोए-यह रूक्ष आहार है। इमे तित्ते-यह तिक्त है। इमे कडुयए-यह कटुक है। इमे कसाए-यह कषाय है। इमे अंबिले-यह खट्टा है। इमेमहुरे-यह मीठा है। खलु-निश्चय ही। इत्तो-इससे। किंचि-किंचिन्मात्र भी। गिलाणस्स-रोगी को। नो सयइत्ति-लाभ नहीं होगा, ऐसा करने से वह भिक्षु। माइट्ठाणं-मातृस्थान-छल के स्थान का। संपासे-सेवन करता है। एवं-इस प्रकार। नो करिज्जा-वह न करे किन्तु। तहाठियं-तथावस्थित। आलोइज्जा-दिखलावे। जहाठियं-यथावस्थित। गिलाणस्स-रोगी को। सयइत्ति-लाभ पहुंचे। तं-जैसे कि। तित्तयं तित्तएति-तिक्त को तिक्त। वा-और। कडुयं कडुअं-कटुक को कटुक। कसायं कसायं-कषाय को कषाय। अंबिलं अंबिलं-खट्टे को खट्टा। महुरं महुरं-मधुर को मधुर कहे।

**मूलार्थ**—एक क्षेत्र में किसी कारण से साधु रहते हैं, वहां पर ही ग्रामानुग्राम विचारते हुए अन्य साधु भी आ गए हैं और वे भिक्षाशील मुनि मनोज्ञ भोजन को प्राप्त कर उन पूर्वस्थित भिक्षुओं को कहें कि अमुक भिक्षु रोगी है उसके लिए तुम यह मनोज्ञ आहार ले लो। यदि वह रोगी भिक्षु न खाए तो तुम खा लेना ? अस्तु, किसी एक भिक्षु ने उनके पास से आहार लेकर मन में विचार किया कि यह मनोज्ञ आहार मैं ही खाऊंगा! इस प्रकार विचार कर उस मनोज्ञ आहार को अच्छी तरह छिपा कर, रोगी भिक्षु को अन्य आहार दिखाकर कहे कि यह आहार भिक्षुओं ने आप के लिए दिया है। किन्तु यह आहार आपके लिए पथ्य नहीं है, क्योंकि यह रूक्ष है, तिक्त है, कटुक है, कसैला है, खट्टा है, मधुर है, अतः रोग की वृद्धि करने वाला है, आपको इससे कुछ भी लाभ नहीं होगा। जो भिक्षु इस प्रकार कपट चर्या करता है, वह मातृस्थान का स्पर्श करता है, अतः भिक्षु को ऐसा कभी नहीं करना चाहिए। किन्तु जैसा भी आहार हो उसे वैसा ही दिखाए— अर्थात् तिक्त को तिक्त, कटुक को कटुक, कषाय को कषाय, खट्टे को खट्टा और मीठे को मीठा बताए। तथा जिस प्रकार रोगी को शांति प्राप्त हो उसी प्रकार पथ्य आहार के द्वारा उसकी सेवा-शुश्रूषा करे।

**हिन्दी विवेचन**—प्रस्तुत सूत्र में रोगी साधु की निष्कपट भाव से सेवा शुश्रूषा करने का आदेश दिया गया है। यदि किसी साधु ने किसी रोगी साधु के लिए मनोज्ञ आहार दिया हो तो सेवा करने वाले साधु का कर्तव्य है कि जिस साधु ने जैसा आहार दिया है उसे उसी रूप में बताए। ऐसा न करे कि उस मनोज्ञ आहार को स्वयं के लिए छिपाकर रख ले और बीमार साधु से कहे कि तुम्हारे लिए अमुक साधु ने यह रूखा-सूखा, खट्टा, कषायला आदि आहार दिया है जो आपके लिए अपथ्यकर है। यदि स्वाद लोलुपता के वश साधु इस तरह से सरस आहार को छुपाकर उस रोगी साधु को दूसरे पदार्थ दिखाता है और उसके सम्बन्ध में गलत बातें बताता है तो वह माया-कपट का सेवन करता है। कपट आत्मा को गिराने वाला है। इससे महाव्रतों में दोष लगता है और साधु साधुत्व से गिरता है। अतः साधु को अपने-

अपने स्वाद का पोषण करने के लिए छल-कपट नहीं करना चाहिए। जैसा आहार दिया गया है, उसे उसी रूप में रोगी साधु के सामने रख देना चाहिए।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं-

**मूलम्- भिक्खागा नामेगे एवमाहंसु-समाणे वा वसमाणे वा गामाणुगामं दूइज्जमाणे वा मणुन्नं भोयणजायं लभित्ता से य भिक्खू गिलाइ से हंदह णं तस्स आहरह, से य भिक्खू नो भुंजिज्जा आहारिज्जा, से णं खलु मे अंतराए आहरिस्सामि, इच्चेयाइं आयतणाइं उवाइक्कम्म ॥६१ ॥**

**छाया- भिक्षाकाः नामेके एवमाहुः समानान् वा वसमानान् वा ग्रामानुग्रामं दूयमानान् वा मनोज्ञं भोजनजातं लब्ध्वा स च भिक्षुः ग्लायति स गृहणीत, णं तस्य आहरत् स च भिक्षुः नो भुंक्ते आहरेत् स न खलु मे अन्तरायं आहरिष्यामि इत्येतानि आयतनानि उपातिक्रम्य।**

**पदार्थ-** नाम-संभावना अर्थ में है। एगे-कोई एक। भिक्खागा-भिक्षा से जीवन व्यतीत करने वाले भिक्षु-साधु। एवमाहंसु-इस प्रकार साधुओं के सजीप आकर कहने लगे। समाणे वा-संभोगी साधुओं को। वसमाणे-अथवा एक क्षेत्र में स्थिर वास रहने वालों को अथवा। गामाणुगामं दूइज्जमाणे वा-ग्रामानुग्राम विहार करने वालों को। मणुन्नं-मनोज्ञ। भोयणजायं-भोजन पदार्थ। लभित्ता-प्राप्त कर। से-वह। भिक्खू-साधु, बसते हुए या विहार करने वाले आगन्तुक साधु को कहे कि। गिलाइ-जो भिक्षु रोगी है उसके लिए। हंदह-यह आहार ले लो। तस्स-उसको। आहरह-दे दो। णं-वाक्यालंकार में है, यदि। से-वह। भिक्खू-रोगी साधु। नो भुंजिज्जा-न खावे, तो। आहारिज्जा-वापिस लाकर हमको दे देना क्योंकि हमारे यहां भी रोगी साधु है। य णं-प्राग्वत्। से-वह-भिक्षु, लेने वाला कहने लगा कि यदि। मे-मुझे। नो अंतराए-कोई अंतर न हुआ अर्थात् आने में कोई विघ्न उपस्थित न हुआ तो। आहरिस्सामि-मैं वापिस लाकर दे दूंगा, इस प्रकार प्रतिज्ञा कर, वह आहार रोगी को न देकर आप ही खा जाता है तो। इच्चेयाइं-इस प्रकार यह कार्य। आयतणाइं-कर्म बन्धन का कारण है। उवाइक्कम्म-इनको सम्यक् प्रकार से दूर करके रोगी साधु की सेवा करनी चाहिए। क्योंकि छल-कपटादि से कर्म का बन्ध होता है।

**मूलार्थ-** एक भिक्षाशील साधु, संभोगी साधु वा एक क्षेत्र में स्थिरवास रहने वाला साधु गृहस्थ के वहां से मनोज्ञ आहार प्राप्त करके ग्रामानुग्राम विचरने वाले अतिथि रूप में आए हुए साधुओं से कहे कि तुम रोगी साधु के लिए यह मनोज्ञ आहार ले लो, यदि वह रोगी साधु इसे न खाए तो यह आहार हमें वापिस लाकर दे देना, क्योंकि हमारे यहां भी रोगी साधु है। तब वह आहार लेने वाला साधु उनसे कहे कि यदि मुझे आने में कोई विघ्न न हुआ तो मैं इस आहार को वापिस लाकर दे दूंगा, परन्तु रस लोलुपी वह साधु उस आहार को रोगी को न देकर स्वयं खा जाए और पूछने पर कहे मेरे शूल उत्पन्न हो गया था अर्थात् मेरे पेट में बहुत दर्द हो गया था इस लिए मैं नहीं आ सका, इस प्रकार वह साधु मायास्थान का सेवन करता है, अतः इस तरह के पापकर्मों के स्थानों को सम्यक्तया दूर करके, रोगी साधु की आहार आदि के द्वारा सेवा करनी चाहिए।

**हिन्दी विवेचन-** प्रस्तुत सूत्र में पूर्व सूत्र में कथित विषय को कुछ विशेषता के साथ बताया गया है। पूर्व सूत्र में कहा गया था कि यदि कोई साधु रोगी साधु की सेवा में स्थित साधु को यह कहकर मनोज्ञ आहार दे गया हो कि इस आहार को रोगी को दे देना यदि वह न खाए तो तुम खा लेना, तो साधु उस आहार को अपने लिए छुपाकर नहीं रखे। और प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि यदि किसी साधु ने प्रतिज्ञा पूर्वक यह कहा हो कि यह मनोज्ञ आहार रोगी साधु को ही देना यदि वह न खाए तो हमें वापिस लाकर दे देना, तो उस साधु को चाहिए कि वह आहार रोगी साधु को दे। स्वयं उसका उपभोग न करे। यदि वह स्वाद की लोलुपता से उस आहार को अपने लिए छुपाकर रखता है, तो माया का सेवन करता है। और उसकी इस वृत्ति से उसका दूसरा महाव्रत भी भंग होता है और रोगी को आहार की अंतराय देने के कारण अन्तराय कर्म का भी बन्ध होता है। इस तरह स्वाद के वश साधु अपना अधः पतन कर लेता है। वह आध्यात्मिक साधना से भ्रष्ट हो जाता है। अतः साधक को अपनी क्रिया में छल-कपट नहीं करना चाहिए। पदार्थों के स्वाद की अपेक्षा साधना, सरलता, सेवा एवं सत्यता का अधिक मूल्य है, उस से आत्मा का विकास होता है। इस लिए साधु को शुद्ध एवं निष्कपट भाव से रोगी की सेवा करनी चाहिए और उसके लिए जो आहार दिया गया हो उसे बिना छुपाए उसी रूप में उसको देना चाहिए। वृत्तिकार का भी यही अभिमत है<sup>१</sup>।

अब सूत्रकार सप्त पिंडैषणा के विषय में कहते हैं-

**मूलम्-** अह भिक्खू जाणिज्जा सत्त पिंडेसणाओ सत्त पाणेसणाओ, तत्थ खलु इमा पढमा पिंडेसणा-असंसट्ठे हत्थे असंसट्ठे मत्ते, तहप्पगारेण असंसट्ठेण हत्थेण वा मत्तेण वा असणं वा ४ सयं वा णं जाइज्जा परो वा से दिज्जा फासुयं पडिगाहिज्जा, पढमा पिंडेसणा ॥१॥ अहावरा दुच्चा पिंडेसणा संसट्ठे हत्थे संसट्ठे मत्ते, तहेव दुच्चा पिण्डेसणा ॥२॥ अहावरा तच्चा पिंडेसणा इह खलु पाईणं वा ४ संतेगइआ सड्ढा भवंति-गाहावई वा जाव कम्मकरी वा, तेसिं च णं अन्नयरेसु विरूवरूवेसु भायणजाएसु उवनिविखत्तपुव्वे सिया तंजहा-थालंसि वा, पिढरंसि वा सरगंसि वा परगंसि वा वरगंसि वा, अह पुणेवं जाणिज्जा- असंसट्ठे हत्थे संसट्ठे मत्ते, संसट्ठे वा हत्थे असंसट्ठे मत्ते, से य पडिग्गहधारी सिया पाणिपडिग्गहिए वा, से पुव्वामेव-आउसोत्ति वा ! २ एएण तुमं असंसट्ठेण हत्थेण, संसट्ठेण मत्तेण संसट्ठेण वा हत्थेण असंसट्ठेण

१ सच्चैवमुक्तः सन् एवं वदेत्- यथाऽन्तरायमंतरेणाहरिष्यामीति प्रतिज्ञयाऽऽहारमादाय ग्लानांतिकं गत्वा प्राक्तनान् भक्तादिरूक्षादिदोषानुद्घाट्य ग्लानायादत्त्वा स्वतएव लौल्याद् भुक्त्वा ततस्तस्य साधोर्निवेदयति, यथा मम शूलं वैयायुत्यकालापार्याप्यादिकमन्तरायिकमभूदतोऽहं तद् ग्लानभक्तं गृहीत्वा नायात इत्यादि मातृस्थानं संस्पृशेत् एतदेव दर्शयति- इत्येतानि-पूर्वोक्तान्यायतनानि- कर्मोपादानस्थानानि 'उपातिक्रम्य' सम्यक परिहृत्य मातृस्थानपरिहारेण ग्लानाय वा दद्याद् दातृसाधुसमीपं वाऽऽहरेदिति। - आचाराङ्ग वृत्ति।

मत्तेण अस्सिं पडिग्गहगंसि वा पाणिंसि वा निहट्टु उचित्तु दलयाहि तहप्पगारं  
 भोयणजायं सयं वा णं जाइज्जा २ फासुयं पडिगाहिज्जा, तइया पिंडेसणा ॥३ ॥  
 अहावरा चउत्था पिंडेसणा-से भिक्खू वा० से जं० पिहुयं वा जाव चाउलपलंबं  
 वा अस्सिं खलु पडिग्गहियंसि अप्पे पच्छाकम्मे अप्पे पज्जवजाए, तहप्पगारं  
 पिहुयं वा जाव चाउलपलंबं वा सयं वा णं० जाव पडि०, चउत्था पिंडेसणा ॥४ ॥  
 अहावरा पंचमा पिंडेसणा-से भिक्खू वा२ उग्गहियमेव भोयणजायं जाणिज्जा,  
 तंजहा- सरावंसि वा डिंडिमंसि वा कोसगंसि वा, अह पुणेवं जाणिज्जा  
 बहुपरियावन्ने पाणीसु दगलेवे, तहप्पगारं असणं वा ४ सयं० जाव पडिगाहि०,  
 पंचमा पिंडेसणा ॥५ ॥ अहावरा छट्ठा पिंडेसणा- से भिक्खू वा २ पग्गहियमेव  
 भोयणजायं जाणिज्जा, जं च सयट्ठाए पग्गहियं, जं च परट्ठाए पग्गहियं, तं  
 पायपरियावन्नं, तं पाणिपरियावन्नं फासुयं पडि०, छट्ठा पिंडेसणा ॥६ ॥ अहावरा  
 सत्तमा पिंडेसणा-से भिक्खू वा० बहुउज्झियधम्मियं भोयणजायं जाणिज्जा, जं  
 चउत्ते बहवे दुपयचउप्पयसमणमाहणअतिहिकिवणवणीमगा नावकंखंति,  
 तहप्पगारं उज्झियधम्मियं भोयणजायं सयं वा णं जाइज्जा, परो वा से दिज्जा  
 जाव पडि०, सत्तमा पिंडेसणा ॥७ ॥ इच्चेयाओ सत्त पिंडेसणाओ, अहावराओ  
 सत्त पाणेसणाओ, तत्थ खलु इमा पढमा पाणेसणा असंसट्ठे हत्थे, असंसट्ठे  
 मत्ते, तं चेव भाणियव्वं, नवरं चउत्थाए नाणत्तं-से भिक्खू वा० से जं० पुण  
 पाणगजायं जाणिज्जा, तंजहा-तिलोदगं वा ६, अस्सिं खलु पडिग्गहियंसि  
 अप्पे पच्छाकम्मे तहेव पडिगाहिज्जा ॥६२ ॥

छाया- अथ भिक्षुर्जानीयात् सप्त पिंडैषणाः सप्तपानैषणाः तत्र खलु इयं प्रथमा  
 पिंडैषणा असंसृष्टो हस्तः असंसृष्टं मात्रम्, तथाप्रकारेण असंसृष्टेन हस्तेन वा मात्रेण वा अशनं  
 वा ४ स्वयं वा याचेत् परो वा स दद्यात् प्रासुकं प्रतिगृह्णीयात्, प्रथमा पिंडैषणा ॥१ ॥  
 अथापरा द्वितीया पिंडैषणा-संसृष्टो हस्तः संसृष्टं मात्रं तथैव द्वितीया पिंडैषणा ॥२ ॥ अथापरा  
 तृतीया पिंडैषणा- इह खलु प्राचीनं वा ४ सन्त्येककाः श्राद्धा भवंति गृहपतिः वा यावत्  
 कर्मकरा वा तेषां च अन्यतरेषु विरूपरूपेषु भाजनजातेषु उपनिक्षिप्तपूर्वः स्यात्, तद्यथा-  
 स्थाले वा पिठरे वा सरके वा परके वा वरके वा, अथ पुनरेवं जानीयात्, असंसृष्टो हस्तः  
 संसृष्टं मात्रं संसृष्टो वा हस्तः असंसृष्टं मात्रं स च प्रतिग्रहधारी स्यात् पाणिप्रतिग्रहितः वा स  
 पूर्वमेव आयुष्मन् ! इति वा एतेन त्वं असंसृष्टेन हस्तेन संसृष्टेन मात्रेण संसृष्टेन वा हस्तेन

असंसृष्टेन मात्रेण अस्मिन् पतद्ग्रहे वा पाणौ वा निर्हृत्य उच्चित्य ददस्व, तथाप्रकारं भोजनजातं स्वयं वा याचेत् २ प्रासुकं प्रतिगृहणीयात्, तृतीया पिंडैषणा ॥३॥ अथापरा चतुर्थी पिंडैषणा— स भिक्षुः वा स यत् पृथुकं वा यावत् ओदनपलम्बं वा अस्मिन् खलु पतद्ग्रहे अल्पं पश्चात् अल्पं पर्यायजातं, तथाप्रकारं पृथुकं वा यावत् तन्दुलपलंबं वा स्वयं वा यावत् प्रतिगृहणीयात्, चतुर्थी पिण्डैषणा ॥४॥ अथापरा पंचमी पिण्डैषणा— स भिक्षुर्वा उपहतमेव भोजनजातं जानीयात्, तद्यथा—शरावे वा डिण्डिमे वा कोशके वा अथ पुनरेवं जानीयात् बहुपर्यापन्नः पाणिषु दकलेपः तथाप्रकारं अशनं वा ४ स्वयं यावत् प्रतिगृहणीयात्, पंचमी पिंडैषणा ॥५॥ अथापरा षष्ठी पिण्डैषणा स भिक्षुर्वा २ प्रगृहीतमेव भोजनजातं जानीयात्, यच्च स्वार्थाय प्रगृहीतं यच्च परार्थाय प्रगृहीतं तत् पात्रपर्यापन्नं वा तत् पाणिपर्यापन्नं वा प्रासुकं प्रतिगृहणीयात्, षष्ठी पिण्डैषणा ॥६॥ अथापरा सप्तमी पिण्डैषणा—स भिक्षुः वा बहुउज्झितधर्मिकं भोजनजातं जानीयात् यच्च अन्ये बहवः द्विपद-चतुष्पद-श्रमण-ब्राह्मण-अतिथि-कृपण-वनीपकाः नावकांक्षन्ति तथाप्रकारं उज्झितधर्मिकं भोजनजातं स्वयं वा याचेत् परो वा स दद्यात् प्रतिगृहणीयात्, सप्तमी पिण्डैषणा ॥७॥ इत्येताः सप्त पिंडैषणाः ॥ अथापराः सप्त पानैषणाः— तत्र खलु इयं प्रथमा पानैषणा— असंसृष्टो हस्तः असंसृष्टं मात्रं तच्चैव तथैव पूर्ववत् भणितव्यं, नवरं चतुर्थ्या नानात्वम्— स भिक्षुर्वा स यत् पुनः पानकजातं जानीयात्, तद्यथा तिलोदकं वा ६ अस्मिन् खलु पतद्ग्रहे अल्पं पश्चात्कर्म तथैव प्रतिगृहणीयात्।

**पदार्थ—** अथ-अथ। भिक्षु-भिक्षु। जाणिज्जा-इस बात को जाने कि। सत्त पिंडेसणाओ-सात पिंडैषणा और। सत्त पाणेसणाओ-सात पानैषणा हैं। खलु-निश्चयार्थक है। तत्थ-उन सात पिंडैषणाओं में से। इमा-यह। पढमा-पहली। पिंडेसणा-पिंडैषणा है कि। असंसट्ठे हत्थे-हाथ लेने वाले पदार्थों से लिप्त न हों। असंसट्ठे मत्ते-और पात्र भी भोज्य पदार्थों से लिप्त न हो। तहप्पगारेण-तथा प्रकार के। असंसट्ठेण हत्थेण-अलिप्त हाथ से। वा-अथवा। मत्तेण-अलिप्त पात्र से। असणं वा-अशनादिक चतुर्विध आहार की। सयं वा-जाइज्जा-याचना करे अथवा। परो वा से दिज्जा-वह गृहस्थ दे तो उसे। फासुयं-प्रासुक जानकर। पडिगाहिज्जा-ग्रहण कर ले। णं-वाक्यालंकार में है। पढमा पिंडेसणा-यह पहली पिंडैषणा है। अहावरा-अथ-अब अन्य। दुच्चा पिंडेसणा-दूसरी पिंडैषणा कहते हैं। संसट्ठे हत्थे-अचित्त पदार्थ से हाथ लिप्त है और। संसट्ठे मत्ते-पात्र-भाजन भी अचित्त पदार्थ से लिप्त है। तहेव-तो उसे उसी प्रकार प्रासुक जानकर ग्रहण कर ले। दुच्चा पिंडेसणा-यह दूसरी पिंडैषणा है। अहावरा-अब इसके आगे। तच्चा पिंडेसणा-तीसरी पिंडैषणा कहते हैं। खलु-वाक्यालंकार में है। इह-इस संसार में या क्षेत्र में। पाईणं वा ४-पूर्वादि चारों दिशाओं में। संतेगइया-कई एक अर्थात् बहुत से लोग हैं उनमें कोई २। सड्ढा भवति-श्रद्धालु-श्रद्धा वाले भी होते हैं यथा। गाहावई वा-गृहपति, गृहपत्नी। जाव-यावत्। कम्मकरी वा-दासी पर्यन्त। च-पुनः। णं-वाक्यालंकार में है। तेसिं-उनके। अण्णयरेसु-अन्यतर। विरूवरूवेसु-नाना प्रकार के। भायणजाएसु-पात्रों में। उवणिक्खत्तपुव्वे सिया-पहले ही अशनादिक चतुर्विध आहार रखा हुआ हो। तंजहा-जैसे कि। थालंसि वा-थाल में। पिठरंसि वा-पिठर-बटलोही या हांडी में। सरगंसि वा-सूपादि में। परगंसि वा-अथवा बांस की टोकरी में। वरगंसि वा-



किसी विशिष्ट महार्घ पात्र में। अह-अथ। पुण-फिर। एवं-इस प्रकार। जाणिज्जा-जाने जैसे कि। असंसट्ठे हत्थे-सचित्त व अचित्त पदार्थ से हाथ लिप्त नहीं हैं किन्तु। संसट्ठे मत्ते-भाजन लिप्त है तथा। संसट्ठे वा हत्थे-हाथ लिप्त हैं और। असंसट्ठे मत्ते-भाजन पात्र लिप्त नहीं हैं। य-फिर। से-वह भिक्षु-साधु। पडिग्गहधारी सिया-पात्रों के धारण करने से स्थविरकल्पी हो। वा-अथवा। पाणिपडिग्गहिए-हाथ ही जिसका पात्र है ऐसा जिनकल्पी हो। से पुव्वामेव-वह पहले ही। आलोइज्जा-देखे-विचारे और कहे। आउसोत्ति वा-हे आयुष्मन् ! गृहस्थ अथवा भगिनि ! तुम एएणं-तुम इस। असंसट्ठेण हत्थेण-असंसुष्ट-अलिप्त हाथ से। संसट्ठेण मत्तेण-और लिप्त भाजन से। वा-अथवा। संसट्ठेण हत्थेण-लिप्त हाथ से। असंसट्ठेण मत्तेण-और अलिप्त भाजन से। अस्सिं पडिग्गहंसि-इस हमारे पात्र में। वा-अथवा। पाणिसि वा-हमारे हाथ में। निहट्टु-लाकर। उचित्तु दलयाहि-हमें दे दो। तहप्पगारं-तथा प्रकार के अर्थात् ऐसे। भोयणजायं-भोजन को। सयं वा-स्वयं। जाइज्जा-याचना करे। वा-अथवा। परो वा से दिज्जा-गृहस्थ स्वयमेव दे तो। फासुयं-उसे प्रासुक जानकर। पाडिगाहेज्जा-ग्रहण कर ले। तइया पिंडेसणा-यह तीसरी पिंडेसणा है। अहावरा-अब इसके अनन्तर। चउत्था पिंडेसणा-चौथी पिंडेसणा कहते हैं। से भिक्खू वा भिक्खुणी वा-वह साधु अथवा साध्वी। से जं-गृहपति कुल में प्रवेश करने पर इस प्रकार जाने यथा। पिहुयं वा-अग्नि से परिपक्व तुष रहित शाल्यादि। जाव-यावत्। चाउलपलंबं वा-तुष-रहित चावल। खलु-वाक्यालंकार में है। अस्सिं पडिग्गहंसि-हमारे इस पात्र में। अप्पे पच्छाकम्मे-जहां पश्चात् कर्म नहीं तथा। अप्पे पज्जवजाए-तुषादि रहित है। तहप्पगारं-तथाप्रकार के। पिहुयं वा-अचित्त शाल्यादि को। जाव-यावत्। चाउलपलंबं वा-तुष-रहित चावलों को। सयं वा णं जाव पडि-स्वयं याचना करे अथवा गृहस्थ स्वयं दे तो उसे प्रासुक जानकर स्वीकार कर ले, यह। चउत्था पिंडेसणा-चौथी पिंडेसणा है। अहावरा-अब इसके अनन्तर। पंचमा पिंडेसणा-पांचवीं पिंडेसणा के विषय में कहते हैं यथा-। से भिक्खू वा-साधु या साध्वी। उग्गहियमेव भोयणजायं जाणिज्जा-खाने के लिए पात्र में रखे हुए भोजन को जाने, यथा। सरावंसि वा-शराब में-मिट्टी के सकोरे में। डिंडिमंसि वा-कांसी के बर्तन में अथवा। कोसगंसि वा-कोशक-मिट्टी के बने हुए पात्र विशेष में। अह पुण एवं जाणिज्जा-अथवा फिर इस प्रकार जाने। बहुपरियावन्ने-कि सचित्त जल से हाथ आदि धोए हुए उसे बहुत देर हो गई है जिससे वह अचित्त हो गया है और। पाणिसु दगलेवे-हाथ आदि में लिप्त जल अचित्त हो रहा है। तहप्पगारं-तथा प्रकार के। असणं वा ४-अशनादि चार प्रकार के आहार को। सयं वा णं जाव पडि-स्वयं याचना करे या गृहस्थ दे तो उसे प्रासुक जानकर स्वीकार कर ले। पंचमा पिंडेसणा-यह पांचवीं पिंडेसणा है। अहावरा-अब अन्य। छट्ठा पिंडेसणा-छठी पिंडेसणा के सम्बन्ध में कहते हैं। से भिक्खू वा-वह साधु अथवा साध्वी गृहस्थ के घर गया हुआ। पग्गहियमेव-भाजन से निकाली गई वस्तु दूसरे ने अभी ग्रहण नहीं की उस समय अभिग्रहधारी भिक्षु। भोयणजायं-भोजनादि पदार्थ को जाने। च-पुनः फिर। जं-जो वस्तु। सयट्ठाए पग्गहियं-अपने लिए बर्तन आदि से निकाली है। जं च-और जो फिर। परट्ठाए पग्गहियं-दूसरे के लिए निकाली है। तं पायपरियावन्नं-वह भोजनादि वस्तु गृहस्थ के पात्र में है अथवा। तं पाणिपरियावन्नं-हाथ में है, तो। फासुयं जाव पडिगाहिज्जा-उसे प्रासुक जानकर ग्रहण कर ले। छट्ठा-यह छठी। पिंडेसणा-पिंडेसणा है। अहावरा-अब इसके बाद। सत्तमा पिंडेसणा-सातवीं पिंडेसणा के सम्बन्ध में कहते हैं। से भिक्खू वा भिक्खुणी वा-वह साधु अथवा साध्वी गृहपति के घर में गया हुआ। बहुउज्झियधम्मियं-उज्झित धर्म वाले। भोयणजायं-भोजनादि पदार्थ को। जाणिज्जा-जाने। जं चउने-और जिसको फिर अन्य। बहवे-बहुत से। दुपय-चउप्पय-समण-माहण-अतिहि-किवण-वणीमगा-

द्विपद-चतुष्पद, ( दो पैर और चार पैर वाले ) श्रमण-शाक्यादि भिक्षु माहण-ब्राह्मण; अतिथि, कृपण और वणीमग-भिखारी आदि। नावकंखंति-नहीं चाहते हैं। तहप्पगारं-तथा प्रकार का आहार। उज्झियधम्मियं-जिसको लोग नहीं चाहते ऐसे। भोयणजायं-भोजन को। सयं वा णं जाइज्जा-स्वयमेव गृहस्थ से याचना करे अथवा। से-उस साधु को। परो वा दिज्जा-गृहस्थ दे। जाव-यावत्-मिलने पर। पडिगाहिज्जा-प्रासुक जानकर ग्रहण कर ले। सत्तमा पिंडेसणा-यह सातवीं पिंडैषणा है। इच्चेयाओ-इस प्रकार ये। सत्त पिंडेसणाओ-सात पिंडैषणा कही गई हैं। अहावराओ-अब इसके अनन्तर। सत्त-सात। पाणेसणाओ-पानैषणा-पानी की एषणा कहते हैं। खलु-निश्चय ही। तत्थ-उन सात पानैषणाओं में से। इमा पढमा-यह पहली पानैषणा है। असंसट्ठे हत्थे-असंसृष्ट हाथ-अलिप्त हाथ और। असंसट्ठे मत्ते-अलिप्त पात्र है अर्थात् हाथ और पात्र दोनों ही अछूत हैं, इत्यादि। तं चेव भाणियक्वं-सब कुछ पूर्व कथित की भांति जानना। णवरं-इतना विशेष है कि। चउत्थाए-चौथी में। नाणत्तं-नानात्व है, विशेषता है। से भिक्खू वा भिक्खुणी वा-वह साधु या साध्वी। से जं-गृहपति कुल में प्रवेश करने पर फिर इस प्रकार। पाणगजायं-पानी के विषय में। जाणिज्जा-जाने। तंजहा-जैसे कि। तिलोदगं वा ६-तिलादि का धोवन। खलु-निश्चय ही। अस्सिं पडिगहियंसि-इसके ग्रहण करने में। अप्पे पच्छाकम्मे-पश्चात्कर्म नहीं है। तहेव पडिगाहिज्जा-तो उसे उसी प्रकार प्रासुक जानकर ग्रहण कर ले।

**मूलार्थ**—संयमशील साधु सात पिण्डैषणाओं तथा सात पानैषणाओं को जाने। उन सातों में से पहली पिंडैषणा यह है कि अचित्त वस्तु से न हाथ लिप्त और न पात्र ही लिप्त है, तथा प्रकार के अलिप्त हाथ और अलिप्त पात्र से अशनादि चतुर्विध आहार की स्वयं याचना करे अथवा गृहस्थ दे तो उसे प्रासुक जानकर ग्रहण कर ले, यह प्रथम पिंडैषणा है, इसके अनन्तर दूसरी पिंडैषणा यह है कि अचित्त वस्तु से हाथ और भाजन लिप्त हैं तो पूर्ववत् प्रासुक जान कर उसे ग्रहण कर ले, यह दूसरी पिंडैषणा है। तदनन्तर तीसरी पिण्डैषणा कहते हैं - इस संसार या क्षेत्र में पूर्वादि चारों दिशाओं में बहुत पुरुष हैं उन में से कई एक श्रद्धालु-श्रद्धा वाले भी हैं, यथा गृहपति, गृहपत्नी यावत् उनके दास और दासी आदि रहते हैं। उनके वहां नानाविध भाजनों में भोजन रखा हुआ होता है यथा-थाल में, पिठर-बटलोही में, सरक [ छाज जैसा ] में, टोकरी में और मणिजटित महार्घ पात्र में। फिर साधु यह जाने कि गृहस्थ का हाथ तो लिप्त नहीं है भाजन लिप्त है, अथवा हाथ लिप्त है, भाजन अलिप्त है, तब वह स्थविर कल्पी अथवा जिनकल्पी साधु प्रथम ही उसको देख कर कहे कि-हे आयुष्मन् गृहस्थ ! अथवा भगिनि ! तू मुझ को इस अलिप्त हाथ से और लिप्त भाजन से हमारे पात्र वा हाथ में वस्तु लाकर दे दे। तथा प्रकार के भोजन को स्वयं मांग ले अथवा बिना मांगे ही गृहस्थ लाकर दे तो उसे प्रासुक जानकर ग्रहण कर ले। यह तीसरी पिण्डैषणा है। अब चौथी पिण्डैषणा कहते हैं-वह भिक्षु तुषरहित शाल्यादि को यावत् भुग्न शाल्यादि के चावल को जिसमें पश्चात्कर्म नहीं है, और न तुषादि गिराने पड़ते हैं, इस प्रकार का भोजन स्वयं मांग ले या बिना मांगे गृहस्थ दे तो प्रासुक जान कर ले ले, यह चौथी पिण्डैषणा है। पांचवीं पिण्डैषणा-गृहस्थ ने सचित्त जल से हस्तादि को धोकर अपने खाने के लिए, सकोरे में, कांसे की थाली में अथवा मिट्टी के किसी भाजन में भोजन रक्खा हुआ है-उसके हाथ जो सचित्त जल से धोए थे अचित्त हो चुके हैं तथा प्रकार के अशनादि आहार को प्रासुक जानकर साधु ग्रहण कर ले, यह

पांचवीं पिण्डैषणा है। छठी पिण्डैषणा यह है— गृहस्थ ने अपने लिए अथवा किसी दूसरे के लिए बर्तन में से भोजन निकाला है परन्तु दूसरे ने अभी उसको ग्रहण नहीं किया है तो उस प्रकार का भोजन गृहस्थ के पात्र में हो या उसके हाथ में हो तो मिलने पर प्रासुक जानकर उसे ग्रहण कर ले। यह छठी पिण्डैषणा है। सातवीं पिण्डैषणा यह है—वह साधु या साध्वी, जिसे बहुत से पशु-पक्षी मनुष्य-श्रमण ( बौद्ध भिक्षु ) ब्राह्मण, अतिथि, कृपण और भिखारी लोग नहीं चाहते, तथा प्रकार के उन्मिषित धर्म वाले भोजन की स्वयं याचना करे अथवा गृहस्थ दे दे तो उसे प्रासुक जानकर ग्रहण कर ले, यह सातवीं पिण्डैषणा है। इस प्रकार ये सात पिण्डैषणाएं कही हैं। तथा अपर सात पानैषणा अर्थात् पानी की एषणाएं हैं। जैसे कि अलिप्त हाथ और अलिप्त भोजन आदि, शेष सब वर्णन पूर्व की भांति समझना चाहिए और चौथी पानैषणा में नानात्व का विशेष है। वह साधु या साध्वी पानी के विषय में जाने जैसे कि तिलादि का धोवन जिसके ग्रहण करने पर पश्चात्कर्म नहीं लगता है तो उसे प्रासुक जानकर ग्रहण कर ले। शेष पानैषणा पिण्डैषणा की तरह जाननी चाहिए।

हिन्दी विवेचन— प्रस्तुत सूत्र में विशिष्ट अभिग्रहधारी मुनियों के सात पिण्डैषणा एवं सात पानैषणा का वर्णन किया गया है। इसमें आहार एवं पानी ग्रहण करने के एक जैसे ही नियम हैं। ये सातों एषणाएं इस प्रकार हैं—

१-अलिप्त हाथ एवं अलिप्त पात्र से आहार ग्रहण करना प्रथम पिण्डैषणा है और अलिप्त हाथ एवं अलिप्त पात्र से पानी ग्रहण करना प्रथम पानैषणा है।

२-लिप्त हाथ और लिप्त पात्र से आहार ग्रहण करना द्वितीय पिण्डैषणा है और ऐसी ही विधि से पानी ग्रहण करना द्वितीय पानैषणा है।

३-अलिप्त हाथ और लिप्त पात्र या लिप्त हाथ और अलिप्त पात्र से आहार एवं इसी विधि से पानी ग्रहण करना तृतीय पिण्ड एवं पानैषणा है।

४-साधु को आहार देने के बाद सचित्त जल से हाथ या पात्र आदि धोने या पुनः आहार बनाने आदि का पश्चात्कर्म नहीं करना चतुर्थ पिण्डैषणा है, इसी तरह पानी देने के बाद भी पश्चात् कर्म नहीं लगाना चतुर्थ पानैषणा है। इसमें तिल, तुष, यव ( जौ ) का धोवन, आयाम—जिस पानी में गर्म वस्तु ठण्डी की जाती है, कांजी का पानी और उष्ण जल आदि ६ प्रकार के प्रासुक जल का नाम निर्देश किया है। परन्तु उपलक्षण से अन्य प्रासुक पानी को भी समझ लेना चाहिए।

५-गृहस्थ ने अपने पात्र में खाद्य पदार्थ रखे हैं और उसके बाद वह सचित्त जल से हाथ धोता है, यदि हाथ धोने के बाद वह जल अचित्त रूप में परिवर्तित हो गया है तो मुनि उसके हाथ से आहार ले सकता है। इस तरह पानी भी ले सकता है, यह पांचवीं पिण्डैषणा एवं पानैषणा है।

६-गृहस्थ ने अपने या अन्य के खाने के लिए पात्र में खाद्य पदार्थ रखा है, परन्तु न स्वयं-ने खाया है और न अन्य ने ही खाया है, ऐसा आहार ग्रहण करने की प्रतिज्ञा करना छठी पिण्डैषणा है और ऐसा पानी लेने का संकल्प करना छठी पानैषणा है।

७-जिस आहार को बहुत से लोग खाने की इच्छा नहीं रखते हों ऐसा रूक्ष आहार लेने का संकल्प करना सातवीं पिण्डैषणा है। इसी तरह ऐसे पानी को ग्रहण करने की प्रतिज्ञा करना सातवीं

पानैषणा है।

उक्त अभिग्रह जिनकल्प एवं स्थविरकल्प दोनों तरह के मुनियों के लिए हैं। तृत् २ पिण्डैषणा में 'पडिग्गहधारी सिया पाणि पडिग्गहि ए वा' तथा छठी पिण्डैषणा में, 'पाय परियावन्नं पाणि परियावन्नं' दो पदों का उल्लेख करके यह स्पष्ट कर दिया है कि दोनों ही कल्प वाले मुनि इन अभिग्रहों को ग्रहण कर सकते हैं।

प्रस्तुत सूत्र में उस युग के गृहस्थों के रहन-सहन, आचार-विचार एवं उस युग की सभ्यता का स्पष्ट परिचय मिलता है। ऐतिहासिक अन्वेषकों के लिए प्रस्तुत सूत्र महत्त्वपूर्ण है।

'उञ्जित धर्म वाला' अर्थात् जिस आहार को कोई नहीं चाहता हो। इसका तात्पर्य इतना ही है कि जो अधिक मात्रा में होने के कारण विशेष उपयोग में नहीं आ रहा है। परन्तु, इसका यह अर्थ नहीं है कि वह पदार्थ खाने योग्य नहीं है। इस अभिग्रह का उद्देश्य यही है कि अधिक मात्रा में अवशिष्ट आहार में से ग्रहण करने से पश्चात्कर्म का दोष नहीं लगता है।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'बहुपरियावन्ने पाणीसु दगलेवे' का अर्थ है-यदि सचित्त जल से हाथ धोए हों, परन्तु हाथ धोने के बाद वह जल अचित्त हो गया है तो साधु उस व्यक्ति के हाथ से आहार ले सकता है।

"सयं वा जाइज्जा परो वा से दिज्जा" का तात्पर्य है- जिस प्रकार मुनि गृहस्थ से आहार की याचना करे उसी प्रकार गृहस्थ के लिए भी यह विधान है कि वह भक्ति एवं श्रद्धा पूर्वक साधु को आहार ग्रहण करने की प्रार्थना करे।

उक्त अभिग्रह ग्रहण करने वाले मुनि को अन्य मुनियों के साथ -जिन्होंने अभिग्रह नहीं किया है या पीछे से ग्रहण किया है, कैसा बर्ताव रखना चाहिए, इस संबंध में सूत्रकार कहते हैं-

**मूलम्-** इच्चेयासिं सत्तण्हं पिंडेसणाणं सत्तण्हं पाणेसणाणं अन्नयरं पडिमं पडिवज्जमाणे नो एवं वइज्जा-मिच्छा पडिवन्ना खलु एए भयंतारो, अहमेगे सम्मं पडिवन्ने, जे एए भयंतारो एयाओ पडिमाओ पडिवज्जित्ता णं विहरंति, जो य अहमंसि एयं पडिमं पडिवज्जित्ताणं विहरामि सव्वेवि ते उ जिणाणाए उवट्ठिया अण्णुनसमाहीए, एवं च णं विहरंति, एयं खलु तस्स भिक्खुस्स भिक्खुणीए वा सामगियं ॥६३॥

छाया- इत्येतासां सप्तानां पिण्डैषणानां सप्तानां पानैषणानां अन्यतरां प्रतिमां प्रतिपद्यमानो नैतद् वदेत्, तद्यथा- मिथ्या प्रतिपन्नाः खलु एते भयत्रातारः ( भगवन्तः ) अहमेवैकः सम्यक् प्रतिपन्नः ये एते भयत्रातारः एताः प्रतिमाः प्रतिपद्य विहरन्ति अहमस्मि एतां प्रतिमां प्रतिपद्य विहरामि सर्वेऽपि ते जिनाज्ञायां समुत्थिता अन्योऽन्यसमाधिना एवं च विहरन्ति। एवं खलु तस्य भिक्षोः भिक्षुक्या वा सामग्र्यम्।

पदार्थ- इच्चेयासिं-इस प्रकार ये। सत्तण्हं-सात। पिंडेसणाणं-पिंडैषणा और। सत्तण्हं

पाणेषणाणं—सात पानैषणा में से। अन्ययरं—अन्यतर—कोई एक। पडिमं—प्रतिमा को। पडिवज्जमाणो—ग्रहण करता हुआ फिर। एवं—इस प्रकार। नो वड्ज्जा—न बोले। खलु—निश्चय। एए भयंतारो—ये सब अभिग्रह धारण करने वाले भगवंत अर्थात् साधु लोग। मिच्छा पडिवन्ना—मिच्छा प्रतिपन्न अर्थात् पिण्डैषणादि अभिग्रह को इन्होंने अच्छी तरह ग्रहण नहीं किया है। अहमेगे—मैं ही एक अकेला। सम्मं पडिवन्ने—सम्यक्—भली प्रकार से अभिग्रह को ग्रहण करने वाला हूँ अर्थात् जिस प्रकार अभिग्रह धारण किया है उस प्रकार का और कोई नहीं है इस प्रकार मुनि को अहंकार वृत्ति से नहीं बोलना चाहिए किन्तु इस तरह बोलना चाहिए यथा—। जे—जो एए—ये सब। भयंतारो—भय से रक्षा करने वाले भगवान्—साधु। एयाओ पडिमाओ—इन प्रतिमाओं को। पडिवज्जिता—ग्रहण करके। णं—वाक्यालंकार में है। विहरंति—विचरते हैं। य—और। जो—जो। अहमंसि—मैं। एयं—इस। पडिमं—प्रतिज्ञा रूप प्रतिमा को। पडिवज्जिताणं—ग्रहण करके। विहरामि—विचरता हूँ। सव्वे वि ते—ये सर्व ही। उ—वितर्क—वितर्क अर्थ में है। जिणाणाए—जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा में। उवट्ठया—उपस्थित हुए। अन्नसमाहिए—अन्योन्य परस्पर समाधि में। एवं च णं—इस प्रकार। विहरंति—विचरते हैं। चकार पुनरर्थक है। णं—वाक्यालंकार में है। एयं खलु—इस प्रकार निश्चय ही। तस्स—उस। भिक्खुस्स—भिक्षु। वा—अथवा। भिक्खुणीए—भिक्षुकी—साध्वी का। सामगियं—समग्र श्रमण भाव है—सम्पूर्ण आचार है।

मूलार्थ—इन सातों पिण्डैषणाओं तथा पानैषणाओं में से किसी एक प्रतिमा—प्रतिज्ञा अभिग्रह को ग्रहण करता हुआ साधु फिर इस प्रकार न कहे कि ये सब अन्य साधु सम्यक्तया प्रतिमाओं को ग्रहण करने वाले नहीं हैं, केवल एक मैं ही सम्यक् प्रकार से प्रतिमा ग्रहण करने वाला हूँ। उसे किस तरह बोलना चाहिए ? इस विषय में कहते हैं— ये सब साधु महाराज इन प्रतिमाओं को ग्रहण करके विचरते हैं। ये सब जिनाज्ञा में उद्यत हुए परस्पर समाधि पूर्वक विचरते हैं। इस तरह जो साधु— साध्वी अहंभाव को नहीं रखता उसी में साधुत्व है और अहंकार नहीं रखना सम्यक् आचार है।

हिन्दी विवेचन— प्रस्तुत सूत्र में साधना में अहंकार का निषेध किया गया है। साधना का उद्देश्य जीवन को ऊंचा उठाना है, अपनी आत्मा को शुद्ध बनाना है। अतः साधक को चाहिए कि वह दूसरे को निन्दा एवं असूया से ऊपर उठकर क्रिया करे। यदि कोई साधु उसके समान अभिग्रह या प्रतिमा स्वीकार नहीं करता है, तो उसे अपने से निम्न श्रेणी का मानना एवं उससे घृणा करना साधुत्व से गिरना है। साधना की दृष्टि से की जाने वाली प्रत्येक क्रिया महत्वपूर्ण है और उसका मूल्य बाह्य त्याग के साथ आभ्यन्तर दोषों के त्याग में स्थित है। यदि बाह्य साधना की उत्कृष्टता के साथ-साथ उस त्याग का अहंकार है और दूसरे के प्रति ईर्ष्या एवं घृणा की भावना है तो वह बाह्य त्याग आत्मा को ऊपर उठाने में असमर्थ ही रहेगा। अस्तु, प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि साधु को अपने त्याग का, अपने अभिग्रह आदि का गर्व नहीं करना चाहिए और अन्य साधुओं को अपने से हीन नहीं समझना चाहिए। उसे तो साधना के पथ पर गतिशील सभी साधुओं का समान भाव से आदर करना चाहिए। गुण सम्पन्न पुरुषों के गुणों को देखकर प्रसन्न होना चाहिए और उनके गुणों की प्रशंसा करनी चाहिए। इसी से आत्मा का विकास होता है।

आगम में यह स्पष्ट शब्दों में बताया गया है कि साधु को परस्पर एक-दूसरे की निन्दा नहीं

करनी चाहिए। एक वस्त्र रखने वाले मुनि को दो वस्त्रधारी मुनि की और दो वस्त्र सम्पन्न मुनि को तीन या बहुत वस्त्र रखने वाले मुनि की निन्दा नहीं करनी चाहिए। इसी तरह अचेलक मुनि को सवस्त्र मुनि का तिरस्कार नहीं करना चाहिए। साधु को निन्दा-चुगली से सर्वथा निवृत्त रहना चाहिए<sup>१</sup>। क्योंकि आत्मा का विकास निन्दा एवं चुगली से निवृत्त होने में है। साधना का महत्त्व आभ्यन्तर दोषों के त्याग में है, न कि केवल बाह्य साधना में। माता मरुदेवी एवं भरत चक्रवर्ती ने आभ्यन्तर दोषों का त्याग करके ही गृहस्थ के वेश में पूर्णता को प्राप्त किया था।

प्रस्तुत सूत्र में सात पिण्डैषणाओं का वर्णन करके अभिग्रह की संख्या सीमित कर दी है। सात से ज्यादा या कम अभिग्रह नहीं होते। और 'विहरंति' वर्तमान क्रिया का प्रयोग करके यह स्पष्ट कर दिया है कि चारित्र की साधना वर्तमान में ही होती है। ज्ञान एवं दर्शन पूर्व भव से भी साथ में आते हैं और एक गति से दूसरी गति में जाते समय भी रहते हैं। परन्तु, चारित्र न पूर्वभव से साथ में आता है और न साथ में जाता है। उसकी साधना-आराधना इसी भव में की जा सकती है।

अभिग्रह के सम्बन्ध में वृत्तिकार का मत है कि स्थविर कल्पी मुनि सात अभिग्रह स्वीकार कर सकता है और जिन कल्पी मुनि ५ अभिग्रह स्वीकार कर सकता है<sup>२</sup>।

आगमोदय समिति की प्रति में प्रस्तुत उद्देशक के अन्त में 'त्तिबेमि' नहीं दिया है। किन्तु, अन्य कई प्रतियों में 'त्तिबेमि' शब्द दिया है। 'त्तिबेमि' की व्याख्या पूर्ववत् समझनी चाहिए।

॥ ग्यारहवां उद्देशक समाप्त ॥

॥ प्रथम अध्ययन समाप्त ॥

१ जेऽपि दुवत्थतित्तयो बहुवत्थो अचेलओव्व संथरइ; न हु ते हीलंति परं सव्वेविअ ते जिणाणाए।

२ अत्र च द्वये साधवो-गच्छान्तर्गता गच्छविनिर्गताश्च तत्र गच्छान्तर्गतानां समानामपि ग्रहणमनुज्ञातं, गच्छनिर्गतानां पुनराद्योर्द्वयोरग्रहः पंचस्वभिग्रह इति।

## द्वितीय अध्ययन शय्यैषणा

### प्रथम उद्देशक

आध्यात्मिक चिन्तन के लिए शरीर प्रमुख साधन है और शरीर की स्वस्थता के लिए आहार ग्रहण करना पड़ता है। इसलिए प्रथम उद्देशक में यह बताया गया है कि साधु को आहार कैसा और किस तरह से ग्रहण करना चाहिए। आहार ग्रहण करने के पश्चात् यह प्रश्न पैदा होता है कि आहार किस स्थान में किया जाए और कहां ठहरा जाए तथा विहार कहां किया जाए ? उक्त प्रश्न का समाधान प्रस्तुत अध्ययन में किया गया है।

प्रस्तुत अध्ययन का नाम है -शय्या-एषणा। शय्या चार प्रकार की बताई गई है- १-द्रव्य शय्या, २-क्षेत्र शय्या, ३-काल शय्या और ४-भाव शय्या। इसमें द्रव्य शय्या- १-सचित्त, २-अचित्त और ३-मिश्र के भेद से तीन तरह की बताई गई हैं। सजीव पृथ्वी आदि को सचित्त शय्या, अचित्त [निर्जीव] पृथ्वी आदि को अचित्त शय्या और अर्द्धपरिणत पृथ्वी आदि- जो अभी तक पूर्णतया अचित्त नहीं हुई है, को मिश्र शय्या कहा गया है। ग्राम, शहर आदि स्थान विशेष में की जाने वाली शय्या को क्षेत्र-शय्या और ऋतुबद्ध काल में की जाने वाली शय्या को काल-शय्या कहते हैं। भावशय्या के दो भेद हैं- १-काय विषयक भाव शय्या और २-भाव विषयक भाव शय्या। गर्भ में स्थित जीवों की शय्या को काय विषयक भावशय्या कहते हैं। क्योंकि, गर्भस्थ जीवों की स्थिति माता की दशा (हालत) के अनुरूप बताई गई है। और जो जीव जिस समय औदयिक आदि जिस भाव में परिणमन करते हैं, उस समय उनकी वही भाव-विषयक भावशय्या कहलाती है। यथा-'शयनं शय्या' इस भाव-प्रधान व्युत्पत्ति के अनुरूप भावशय्या का वर्णन किया गया है।

इस तरह प्रस्तुत उद्देशक में शय्या के गुण-दोषों का वर्णन किया गया है और आधाकर्म आदि दोषों से युक्त शय्या का त्याग करके निर्दोष शय्या को स्वीकार करने का आदेश देते हुए सूत्रकार कहते हैं-

**मूलम्- से भिक्खू वा० अभिकंखिज्जा, उवस्सयं एसित्तए अणुपवि-  
सित्ता गामं वा जाव रायहाणिं वा , से जं पुण उवस्सयं जाणिज्जा सअंडं जाव  
ससंताणयं तहप्पगारे उवस्सए नो ठाणं वा सिज्जं वा निसीहियं वा चेइज्जा॥**

**से भिक्खू वा० से जं पुण उवस्सयं जाणिज्जा अप्पंडं जाव अप्पसंताणयं,  
तहप्पगारे उवस्सए पडिलेहित्ता, पमज्जित्ता तओ संजयामेव ठाणं वा ३ चेइज्जा ॥**

से जं पुण उवस्सयं जाणिज्जा अस्सिं पडियाए एगं साहम्मियं समुद्दिस्स पाणाइं ४ समारब्भ समुद्दिस्स, कीयं पामिच्चं अच्छिज्जं अणिसट्ठं, अभिहडं, आहट्टु चेएइ, तहप्पगारे उवस्सए पुरिसंतरकडे वा जाव अणासेविए वा नो ठाणं वा ३ चेइज्जा । एवं बहवे साहम्मिया एगं साहम्मिणिं बहवे साहम्मिणीओ । से भिक्खू वा० से जं पुण उ० बहवे समणवणीमए पगणिय २ समुद्दिस्स तं चेव भाणियव्वं ॥

से भिक्खू वा० से जं० बहवे समण० समुद्दिस्स पाणाइं ४ जाव चेएति, तहप्पगारे उवस्सए अपुरिसंतरकडे जाव अणासेविए नो ठाणं वा ३ चेइज्जा ३, अह पुणेवं जाणिज्जा, पुरिसंतरकडे जाव सेविए पडिलेहिता २ तओ संजयामेव चेइज्जा ॥

से भिक्खू वा० से जं पुण अस्संजए भिक्खूपडियाए कडिए वा उक्कंबिए वा छन्ने वा लिच्चे वा घट्ठे वा मट्ठे वा संमट्ठे वा संपधूमिए वा तहप्पगारे उवस्सए अपुरिसंतरकडे जाव अणासेविए नो ठाणं वा सेज्जं वा निसीहियं वा चेइज्जा, अह पुण एवं जाणिज्जा पुरिसंतरकडे जाव आसेविए पडिलेहिता २ तओ चेइज्जा ॥६४ ॥

छाया— स भिक्षुः वा० अभिकांक्षेत्, उपाश्रयं एषितुं अनुप्रविश्य ग्रामं वा यावत् राजधान्यां वा स यत् पुनः उपाश्रयं जानीयात् साण्डं यावत् ससन्तानकम् । तथाप्रकारे उपाश्रये नो स्थानं वा शय्यां वा निषीधिकां वा चेतयेत्, स भिक्षुर्वा० यत् पुनः उपाश्रयं जानीयात् अल्याण्डं यावत् अल्पसन्तानकं तथाप्रकारे उपाश्रये प्रतिलिख्य प्रमृज्य ततः संयतमेव स्थानं वा ३ चेतयेत् । स यत् पुनः उपाश्रयं जानीयात् एतत्प्रतिज्ञया एकं साधर्मिकं समुद्दिश्य प्राणानि ४ समारभ्य समुद्दिश्य क्रीतं प्रामृत्यं आच्छेद्यं अनिसृष्टं अभ्याहृतं आहत्य, चेतयति तथाप्रकारे उपाश्रये पुरुषान्तरकृते यावत् अनासेविते नो स्थानं वा ३ चेतयेत्, एवं बहवः साधर्मिकाः एकां साधर्मिकां बह्वीः साधर्मिकाः? स भिक्षुर्वा० स यत् पुनः उपाश्रयं बहून् श्रमणवनीपकान् प्रगण्य २ समुद्दिश्य, तच्चैव भणितव्यम् । स भिक्षुर्वा० स यत् बहून् श्रमणं समुद्दिश्य प्राणानि ४ यावत् चेतयति तथाप्रकारे उपाश्रये अपुरुषान्तरकृते यावत् अनासेविते नो स्थानं वा ३ चेतयेत् । अथ पुनरेवं जानीयात् पुरुषान्तरकृतः यावत् सेवितः प्रतिलिख्य २ ततः संयतमेव चेतयेत् । स भिक्षुर्वा० स यत् पुनः असंयतः भिक्षुप्रतिज्ञया कटकितो वा उत्कंबितो वा छन्नो वा लिप्तो वा घृष्टो वा मृष्टो वा संमृष्टो वा संप्रधूपितो वा तथाप्रकारे उपाश्रये अपुरुषान्तरकृते



यावत् अनासेविते नो स्थानं वा शय्यां वा निषीधिकां वा चेतयेत्। अथ पुनरेवं जानीयात्, पुरुषान्तरकृतः यावत् आसेवितः प्रतिलिख्य २ ततः चेतयेत्।

**पदार्थ-** से-वह। भिक्खू वा-साधु अथवा साध्वी। उवस्सयं-उपाश्रय की। एसित्तए-गवेषणा करनी। अभिकंखेज्जा-चाहे तब। गामं वा-ग्राम में अथवा। जाव-यावत्। रायहाणिं वा-राजधानी में। अणुपविसित्ता-प्रवेश करके। से-वह-भिक्खु। जं पुण-जो फिर। उवस्सयं-उपाश्रय को। जाणिज्जा-जाने। सअंडं-अंडादि से युक्त। जाव-यावत्। ससंताणयं-मकड़ी आदि के जालों से युक्त। तहप्पगारे-तथा प्रकार के। उवस्सए-उपाश्रय में। ठाणं वा-कायोत्सर्ग का स्थान अथवा। सिज्जं वा-शय्या-संस्तारक-संधारे का स्थान। निसीहियं वा-अथवा स्वाध्याय भूमि का स्थान। नो चेइज्जा-न करे।

से भिक्खू वा-वह साधु या साध्वी। से जं पुण-जो कि फिर। उवस्सयं जाणिज्जा-उपाश्रय को जाने। अप्पंडं-अंडों से रहित। जाव-यावत्। अप्पसंताणयं-मकड़ी आदि के जालों से रहित। तहप्पगारे उवस्सए-इस प्रकार के उपाश्रय की। पडिलेहित्ता-प्रतिलेखना कर। पमज्जित्ता-प्रमार्जना कर। तओ-तदनन्तर। संजयामेव-संयत-साधु। ठाणं वा ३-कायोत्सर्ग-शय्या और स्वाध्याय भूमि का स्थान। चेइज्जा-बनावे।

से जं पुण-वह साधु फिर। उवस्सयं जाणिज्जा-उपाश्रय को जाने, यथा। अस्सिं पडियाए-इस प्रतिज्ञा-अर्थात् साधु की प्रतिज्ञा से। एगं साहम्मियं-एक साधर्मिक साधु का। समुद्दिस्स-उद्देश्य रख कर। पाणाइं-प्राणी आदि का। समारब्भ-समारम्भ करके अर्थात् षट्काय की विराधना-हिंसा करके। समुद्दिस्स-तथा साधु के उद्देश्य से। कीयं-मोल लेकर। पामिच्चं-दूसरे से उधार लेकर। अच्छिज्जं-अन्य से छीन कर। अणिसिट्ठं-दो या दो से अधिक की मालकियत के उपाश्रय को एक की आज्ञा के बिना ग्रहण करके। अभिहंडं-अन्य से आज्ञा। आहट्टु-लेकर। चेएत्ति-देता है तो। तहप्पगारे उवस्सए-तथाप्रकार के उपाश्रय में। पुरिसंतरकडे-पुरुषान्तर कृत। वा-अथवा अपुरुषान्तरकृत। जाव-यावत्। अणासेविए-अनासेवित सेवित-अर्थात् सेवन नहीं किया या सेवन किया हो उसमें। ठाणं ३ वा-स्थानादि-कायोत्सर्गादि। नो चेइज्जा-न करे। एवं-इसी प्रकार। बहवे साहम्मिया-बहुत से साधर्मी साधु अथवा। एगं साहम्मिणिं-एक साध्वी तथा। बहवे साहम्मिणीओ-बहुत साध्वियों के विषय में भी जानना चाहिए।

से भिक्खू वा-वह साधु अथवा साध्वी। से जं पुण-वह फिर। उवस्सयं-जाणिज्जा-उपाश्रय को जाने, जैसे कि। बहवे समणवणीमए-श्रमण तथा भिखारियों को। पगणिय २-गिन-गिन कर। समुद्दिस्स-एक-एक का उद्देश्य करके। तं चेव भाणियव्वं-शेष वर्णन पूर्व की ही भांति जानना चाहिए। से भिक्खू वा-वह साधु या साध्वी। से जं-फिर वह उपाश्रय को जाने। बहवे-बहुत से। समण-श्रमण, ब्राह्मण, अतिथि, कृपण और भिखारियों का। समुद्दिस्स-उद्देश्य करके। पाणाइं ४-प्राणी, भूत, जीव और सत्वों की हिंसा करके। जाव-यावत्। चेएत्ति-उपाश्रय बनाया है। तहप्पगारे-तथा प्रकार का उपाश्रय। अपुरिसंतरकडे-अपुरुषान्तर कृत। जाव अणासेविए-यावत् अनासेवित अर्थात् जिसे किसी ने भी सेवन नहीं किया है ऐसे उपाश्रय में। ठाणं वा ३-कायोत्सर्ग, संस्तारक तथा स्वाध्याय आदि। नो चेइज्जा-न करे। अह पुण एवं जाणिज्जा-अथ फिर इस प्रकार जाने कि। पुरिसंतरकडे-यह उपाश्रय पुरुषान्तर कृत है। जाव-यावत्। सेविए-दूसरों से सेवित है उसे। पडिलेहित्ता २-प्रतिलेखन करके। तओ-तदनन्तर। संजयामेव-साधु कायोत्सर्गादि-। चेइज्जा-करे।

से भिक्खू वा- वह साधु या साध्वी। से जं पुण-वह जो फिर। असंजए-गृहस्थ ने। भिक्खूपडियाए-

साधु के लिए। कड़िए वा-काष्ठादि से दीवार आदि का संस्कार किया। उक्कंबिए वा-अथवा बांस आदि से बांधा है। छन्ने वा-तृणादि से आच्छादित किया है। लित्ते वा-गोबर आदि से उपलित किया है। घट्टे वा-या संवारा है अथवा। मट्टे वा-ऊंची-नीची भूमि को समतल बनाया है। संमट्टे वा-उसे घोट कर कोमल बनाया है और दुर्गन्ध आदि को दूर करने के लिए। संपधूमिए वा-धूप आदि के द्वारा सुगन्धित किया हो। तहप्पगारे-तथा प्रकार का। उवस्सए-उपाश्रय जो कि। अपुरिसंतरकडे-पुरुषान्तर कृत नहीं हैं। जाव-यावत्। अणासेविए-अनासेवित है उसमें। ठाणं वा ३-कायोत्सर्ग। सेज्जं वा-अथवा शैथ्या-संस्तारक या। णिसीहियं वा-स्वाध्याय। नो चेइज्जा-न करे। अह पुण एवं जाणिज्जा-फिर वह इस प्रकार जाने कि जो उपाश्रय। पुरिसंतरकडे-पुरुषान्तर कृत। जाव-यावत्। आसेविए-आसेवित है तो उसका। पडिलेहित्ता-प्रतिलेखन करके। तओ-तदनन्तर उसमें कायोत्सर्गादि कार्य। चेइज्जा-करे।

**मूलार्थ**—वह साधु या साध्वी उपाश्रय की गवेषणा के लिए ग्राम यावत् राजधानी में जाकर उपाश्रय को जाने, जो उपाश्रय अण्डों से यावत् मकड़ी आदि के जालों से युक्त है तो उसमें वह कायोत्सर्ग, संस्तारक ( संधारा ) और स्वाध्याय न करे। वह साधु या साध्वी जिस उपाश्रय को अण्डों और मकड़ी के जालों आदि से रहित जाने, उसे प्रतिलेखित और प्रमाजित करके उसमें कायोत्सर्गादि करे।

जो उपाश्रय एक साधर्मि के उद्देश्य से प्राणी, भूत, जीव और सत्त्वादि का समारम्भ करके, मोल लेकर, उधार लेकर, किसी निर्बल से छीन कर, यदि सर्व साधारण का है तो किसी एक की भी बिना आज्ञा लिए साधु को देता है तो इस प्रकार का उपाश्रय पुरुषान्तरकृत हो अथवा अपुरुषान्तरकृत, एवं सेवित हो या अनासेवित, उसमें साधु कायोत्सर्ग आदि कार्य न करे। इसी प्रकार जो बहुत से साधर्मियों के लिए बनाया गया हो तथा एक साधर्मिणी या बहुत सी साधर्मिणियों के लिए बनाया गया है उसमें भी स्थानादि कायोत्सर्गादि न करे। और जो उपाश्रय बहुत से श्रमणों तथा भिखारियों के लिए बनाया गया हो उसमें भी स्थान न करे।

जो उपाश्रय शाक्यादि भिक्षुओं के निमित्त षट्काय का समारम्भ करके बनाया गया है, जब तक वह अपुरुषान्तरकृत यावत् अनासेवित है तब तक उसमें स्थानादि—कायोत्सर्गादि न करे, और यदि वह पुरुषान्तरकृत या आसेवित है तो उसका प्रतिलेखन करके यत्नापूर्वक वहां स्थानादि कार्य कर सकता है।

जो उपाश्रय गृहस्थ ने साधु के लिए बनाया हुआ है उसका काष्ठादि से संस्कार किया है, बांस आदि से बान्धा है, तृणादि से आच्छादित किया है, गोबरदि से लीपा है, संवारा है तथा ऊंची- नीची भूमि को समतल बनाया है, सुकोमल बनाया है और दुर्गन्धादि को दूर करने के लिए सुगन्धित द्रव्यों से सुवासित किया है तो इस प्रकार का उपाश्रय जब तक अपुरुषान्तरकृत या अनासेवित है, तब तक उस में नहीं ठहरना चाहिए, और यदि वह पुरुषान्तरकृत यावत् आसेवित हो गया हो तो उस का प्रतिलेखन करके उसमें स्थानादि कार्य कर सकता है, अर्थात् कायोत्सर्ग, संधारा और स्वाध्याय आदि कर सकता है।

**हिन्दी विवेचन**—प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि गांव या शहर में ठहरने के इच्छुक साधु-साध्वी को उपाश्रय (ठहरने के स्थान) की गवेषणा करनी चाहिए। उसे देखना चाहिए कि उस स्थान में अण्डे एवं मकड़ी के जाले आदि न हों और बीज एवं अनाज के दाने बिखरे हुए न हों। क्योंकि अण्डे, बीज एवं सब्जी आदि से युक्त मकान में ठहरने से उनकी विराधना होने की सम्भावना है। अतः साधु को ऐसे मकान की गवेषणा करनी चाहिए कि जिसमें संयम की विराधना न हो। यदि किसी मकान में चींटी आदि क्षुद्र जन्तु हों तो उस मकान का प्रमार्जन करके उन त्रस जीवों को एकान्त में छोड़ दे। इस तरह साधु ऐसे मकान में ठहरे जिसमें किसी भी प्राणी की विराधना (हिंसा) न हो।

स्थान की गवेषणा करते समय क्षुद्र प्राणियों से रहित स्थान के साथ-साथ यह भी देखना चाहिए कि वह स्थान साधु के उद्देश्य से न बनाया गया हो, साधु के लिए किसी निर्बल व्यक्ति से छीन कर न लिया गया हो, अनेक व्यक्तियों के सांझे का न हो तथा सामने लाया हुआ न हो। यदि वह उपरोक्त दोषों से युक्त है तो वह स्थान चाहे गृहस्थों ने अपने काम में लिया हो या न लिया हो, चाहे उसमें गृहस्थ ठहरे हों या न ठहरे हों, साधु के लिए अकल्पनीय है, साधु उस स्थान में न ठहरे।

सांझे के मकान के विषय में इतना अवश्य है कि यदि वह मकान साधु के लिए नहीं बनाया गया है और जिन व्यक्तियों का उस पर अधिकार है वे सब व्यक्ति इस बात में सहमत हैं कि साधु उक्त मकान में ठहरें तो साधु उस मकान में ठहर सकते हैं। यदि उन में से एक भी व्यक्ति यह नहीं चाहता कि साधु उक्त मकान में ठहरें तो साधु को उस मकान में नहीं ठहरना चाहिए।

यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि क्या मकान भी सामने लाकर दिया जाता है ? इसका समाधान यह है कि तम्बू आदि सामने लाकर खड़े किए जा सकते हैं। लकड़ी के बने हुए मकान भी एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाए जा सकते हैं। और आजकल तो ऐसे मकान भी बनने लगे हैं कि उन्हें स्थानान्तर किया जा सकता है।

इससे स्पष्ट होता है कि साधु के निमित्त ६ काय की हिंसा करके जो मकान बनाया गया है, साधु को उस मकान में नहीं ठहरना चाहिए। और जो मकान साधु के लिए नहीं बनाया गया है, परन्तु उसमें साधु के निमित्त फर्श आदि को लीपा-पोता गया है या उसमें सफेदी आदि कराई गई है, तो साधु को उस मकान में तब तक नहीं ठहरना चाहिए जब तक वह पुरुषान्तरकृत नहीं हो गया है। इसी तरह जो मकान अन्य श्रमणों<sup>१</sup> के लिए या अन्य व्यक्तियों के ठहरने के लिए बनाया गया है— जैसे धर्मशाला आदि। ऐसे स्थानों में उनके ठहरने के पश्चात् पुरुषान्तरकृत होने पर साधु ठहर सकता है।

इसी बात को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्—** से भिक्खु वा० से जं० पुण उवस्सयं जा० अस्संजए भिक्खुपडियाए  
खुड्डियाओ दुवारियाओ महल्लियाओ कुज्जा, जहा पिंडेसणाए जाव संधारंगं  
संधारिज्जा बहिया वा निन्नक्खु तहप्पगारे उवस्सए अपु० नो ठाणं ३ अह पुणेवं०

१ 'श्रमण' शब्द का प्रयोग निर्ग्रन्थ ( जैन मुनि ), शाक्य ( बौद्ध भिक्षु ), तापस, गैरुक और आजीवक ( गौशालक के अनुयायी ) संप्रदाय के लिए होता रहा है।

पुरिसंतरकडे आसेविए पडिलेहिता २ तओ संजयामेव जाव चेइज्जा । से भिक्खू वा० से जं० अस्संजए भिक्खुपडियाए उदग्गप्पसूयाणि कंदाणि वा मूलाणि वा पत्ताणि वा पुप्फाणि वा फलाणि वा बीयाणि वा हरियाणि वा ठाणाओ ठाणं साहरइ, बहिया वा निण्णक्खू तं० अणु० नो ठाणं वा चेइज्जा, अह पुण० पुरिसंतरकडे चेइज्जा । से भिक्खू वा से जं० अस्संज० भि० पीठं वा फलगं वा निस्सेणिं वा उदूखलं वा ठाणाओ ठाणं साहरइ बहिया वा निण्णक्खू तहप्पगारे उ० अपु० नो ठाणं वा चेइज्जा, अह पुण० पुरिसं० चेइज्जा ॥६५ ॥

छाया— स भिक्षुः वा स यत् पुनः उपाश्रयं जानीयात्, असंयतः भिक्षुप्रतिज्ञया क्षुद्रद्वारं महाद्वारं कुर्यात् यथा पिण्डैषणायां यावत् संस्तारकं संस्तरेत्, बहिर्वा निस्सारयति तथाप्रकारे उपाश्रये अपुरुषान्तरकृते नो स्थानं ३ । अथ पुनरेवं जानीयात् पुरुषान्तरकृतः आसेवितः प्रतिलिख्य २ ततः संयतमेव यावत् चेतयेत् । स भिक्षुर्वा० स यत् भिक्षुप्रतिज्ञया उदकप्रसूतानि कन्दानि वा मूलानि वा पत्राणि वा पुष्पाणि वा, फलानि वा, बीजानि वा, हरितानि स्थानात् स्थानं साहरति— संक्रामयति बहिर्वा निस्सारयति तं अपु० नो स्थानं वा ३ चेतयेत् । अथ पुनरेवं जानीयात् पुरुषान्तरकृतं चेतयेत् । स भिक्षुर्वा० स यत् असंयतः भिक्षुप्रतिज्ञया पीठं वा फलकं वा निश्रेणिं वा उदूखलं वा स्थानतः स्थानं संक्रामयति बहिर्वा निस्सारयति तथाप्रकारे उपाश्रये अपुरुषान्तरकृते नो स्थानं वा ३ चेतयेत्, अथ पुनरेवं जानीयात् पुरुषान्तरकृतं चेतयेत् ।

पदार्थ— से-वह । भिक्खू वा-साधु अथवा साध्वी । से जं० पुण उवस्सयं जा०-वह जो फिर उपाश्रय को जाने । अस्संजए-असंयत-गृहस्थ । भिक्खुपडियाए-भिक्षु-साधु के लिए । खुडिडयाओ दुवारियाओ-छोटे द्वार को । महल्लियाओ-बड़ा । कुज्जा-बनाए । जहा पिंडेसणाए-जैसे पिंडेसणा अध्ययन में बताया है । जाव-यावत् । संथारगं संथारिज्जा-संस्तारक ( बिछौना ) को बिछावे । वा-अथवा । बहिया-कोई पदार्थ उपाश्रय से बाहर । निन्नक्खु-निकाले । तहप्पगारे-तथा प्रकार के । उवस्सए-उपाश्रय में । अपुरिसंतरकडे-जो कि पुरुषान्तरकृत नहीं है तो । नो ठाणं ३-साधु वहां स्थानादि कायोत्सादि न करे । अह पुणेवं-साधु पुनः यह जाने कि यदि उक्त उपाश्रय । पुरिसंतरकडे-पुरुषान्तरकृत है । आसेविए-आसेवित है तो फिर उसका । पडिलेहिता २-प्रतिलेखन करके । तओ-तदनन्तर । संजयामेव-साधु । जाव-यावत् । चेइज्जा-उसमें स्थानादि करे कायोत्सादि करे । से भिक्खू वा०-वह साधु या साध्वी । से जं०-वह फिर यह जाने कि । अस्संजए-गृहस्थ ने । भिक्खुपडियाए-भिक्षु के लिए । उदग्गप्पसूयाणि-पानी से उत्पन्न हुए । कंदाणि वा-कन्द । मूलाणि वा-अथवा मूल । पत्ताणि-पत्र । वा-अथवा । पुप्फाणि वा-पुष्प । फलाणि वा-फल अथवा । बीयाणि वा-बीज, अथवा । हरियाणि वा-हरी सब्जी को । ठाणाओ-एक स्थान से । ठाणं-अन्य स्थान पर । साहरइ-रखा है । वा-अथवा । बहिया निण्णक्खू-भीतर से बाहर फेंका है तो । तं-वैसे उपाश्रय में जो कि । अपु०-अपुरुषान्तरकृत है । नो ठाणं वा-३

चेड़ज्जा-कायोत्सर्गादि न करे।

अह-अथ। पुण-फिर जो ऐसा जाने कि यह। पुरिसंतरकडे-पुरुषान्तर कृत है तो। चेड़ज्जा-उसमें कायोत्सर्गादि करे अर्थात् निवास-कर ले वे। से भिक्खू वा-वह साधु अथवा साध्वी। से जं पुण-जो कि उपाश्रय को जाने कि। अस्संज-गृहस्थ। भि-भिक्षु के लिए। पीढं वा-पीठ। फलकं वा-फलक। निस्सेणिं वा-लकड़ी की सीढ़ियें। उदूखलं वा-अथवा ऊखल को। ठाणाओ ठाणं साहरइ-एक स्थान से दूसरे स्थान पर रखता है। बहिया वा निणणक्खू-अथवा भीतर से बाहर निकालता है। तहप्पगारे-तो इस तरह के। उ-उपाश्रय में जो। अपु-अपुरुषान्तरकृत है। नो ठाणं वा ३ चेड़ज्जा-साधु निवास न करे। अह पुण-अथ यदि वह यह जाने कि। पुरिसं-यह पुरुषान्तरकृत है तो। चेड़ज्जा-उस में निवास करे।

मूलार्थ—वह साधु या साध्वी उपाश्रय के विषय में यह जाने कि गृहस्थ ने साधु के लिए उपाश्रय के छोटे द्वार को बड़ा बनाया है और बड़े को छोटा कर दिया है, तथा भीतर से कोई पदार्थ बाहर निकाल दिया है तो इस प्रकार के उपाश्रय में जब तक वह अपुरुषान्तरकृत एवं अनासेवित है तब तक वहां कायोत्सर्गादि न करे, और यदि वह पुरुषान्तरकृत अथवा आसेवित हो गया है, तो उसमें स्थानादि कर सकता है।

इसी प्रकार यदि कोई गृहस्थ साधु के लिए उदक से उत्पन्न होने वाले कन्द, मूल, पत्र, पुष्प, फल, बीज और हरी का एक स्थान से स्थानान्तर में संक्रमण करता है, या भीतर से किसी पदार्थ को बाहर निकालता है, तो इस प्रकार का उपाश्रय भी अपुरुषान्तरकृत और अनासेवित हो तो साधु के लिए अकल्पनीय है। और यदि पुरुषान्तरकृत अथवा आसेवित है तो उसमें वह कायोत्सर्गादि कर सकता है।

इसी भांति यदि गृहस्थ साधु के लिए पीठ [ चौकी ] फलक और ऊखल आदि पदार्थों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर रखता है या भीतर से बाहर निकालता है, तो इस प्रकार के उपाश्रय में जो कि अपुरुषान्तरकृत और अनासेवित है तो साधु उसमें कायोत्सर्ग आदि कार्य न करे, और यदि वह पुरुषान्तरकृत अथवा आसेवित हो चुका है तो उसमें वह कायोत्सर्गादि क्रियाएं कर सकता है।

हिन्दी विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि यदि किसी गृहस्थ ने साधु के निमित्त उपाश्रय के दरवाजे छोटे-बड़े किए हैं, या कन्द, मूल, वनस्पति आदि को हटाकर या कांट-छांट कर उपाश्रय को ठहरने योग्य बनाया है तथा उसमें स्थित तख्त आदि को भीतर से बाहर या बाहर से भीतर रखा है और इस तरह की क्रियाएं करने के बाद उस उपाश्रय में गृहस्थ ने निवास किया हो या अपने सामाजिक संवर आदि धार्मिक क्रियाएं करने के काम में लिया हो तो साधु उस मकान में ठहर सकता है। इससे स्पष्ट होता है कि जो मकान मूल से साधु के लिए बनाया हो, उस मकान में साधु किसी भी स्थिति-परिस्थिति में नहीं ठहर सकता। परन्तु, जो स्थान मूल से साधु के लिए नहीं बनाया गया है, केवल उसकी मुरम्मत की गई है या उसके कमरों या दरवाजों आदि की छोटाई-बड़ाई में कुछ परिवर्तन किया गया है या उसका अभिनव संस्कार किया गया है तो वह पुरुषान्तर होने के बाद साधु के लिए कल्पनीय है।

इसी बात को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— से भिक्खू वा० से जं० तंजहा— खंधंसि वा मंचंसि वा मालंसि वा पासा० हम्मि० अन्नयरंसि वा तहप्पगारंसि अंतलिक्खजायंसि, नन्नत्थ आगाढागाढेहिं कारणेहिं ठाणं वा नो चेइज्जा । से आहच्च चेइए सिया नो तत्थ सीयोदगवियडेण वा २ हत्थाणि वा पायाणि वा अच्छीणि वा दंताणि वा मुहं वा उच्छोलिज्ज वा पहोइज्ज वा, नो तत्थ ऊसढं पकरेज्जा, तंजहा— उच्चारं वा पासवणं वा खेलं वा सिंघाणं वा वंतं वा पित्तं वा पूयं वा सोणियं वा अन्नयरं वा सरीरावयवं वा, केवली बूया आयाणमेयं, से तत्थ ऊसढं पगरेमाणे पयलिज्ज वा २, से तत्थ पयलमाणे वा पवडमाणे वा हत्थं वा जाव सीसं वा अन्नयरं वा कायंसि इंदियजालं लूसिज्ज वा पाणिं ४ अभिहणिज्ज वा जाव ववरोविज्ज वा, अह भिक्खूणं पुव्वोवइट्ठा ४ जं तहप्पगारे उवस्सए अंतलिक्खजाए नो ठाणं वा ३ चेइज्जा ॥६६ ॥

छाया— स भिक्षुर्वा० स यत्-तद्यथा— स्कन्धे वा मंचे वा माले वा प्रासादे वा हर्म्यतले वा अन्यतरस्मिन् वा अन्तरिक्षजाते नान्यत्र अगाढागाढैः कारणैः स्थानं वा नो चेतयेत्, स आहत्य चित्तः— गृहीतः स्यात् न तत्र शीतोदकविकटेन वा २ हस्तौ वा पादौ वा अक्षिणी वा दन्तान् मुखं वा उत्सोलयेत् वा प्रधावेद् वा न तत्र उत्सृष्टं प्रकुर्यात्, तद्यथा उच्चारं वा प्रस्त्रवणं वा खेलं वा सिंघानं वा वान्तं वा पित्तं वा पूतिं वा शोणितं वा अन्यतरं वा शरीरावयवं वा केवली बूयात् आदानमेतत् स तत्र उत्सृष्टं प्रकुर्वन् प्रचलेद् वा २ स तत्र प्रचलन् वा पतन वा हस्तौ वा यावत् शीर्षं वा अन्यतरं वा काये इन्द्रियजातं लूषयेद्— विनाशयेद् वा प्राणिनः वा ४ अभिहन्यात् याषद् व्यपरोपयेद् वा अथ भिक्षूणां पूर्वोपदिष्टं ४ यत् तथाप्रकारे उपाश्रये अन्तरिक्षजाते नो स्थानं वा ३ चेतयेत् ।

पदार्थ— से-वह । भिक्खू वा-साधु अथवा साध्वी । से जं०-वह फिर उपाश्रय के सम्बन्ध में जाने । तंजहा-जैसे कि । खंधंसि वा-एक स्कन्ध पर अथवा । मंचंसि वा-मंच पर । मालंसि वा-माल पर । पासायंसि वा-प्रासाद पर दूसरी भूमिका-मंजिल पर । हम्मियतलंसि वा-महल पर । अण्णयरंसि वा-अन्य कोई । तहप्पगारंसि-इसी प्रकार के । अंतलिक्खजायंसि वा-आकाश में अर्थात् ऊंचे स्थान में है उसमें । ठाणं वा ३-कायोत्सर्गादि । नो चेइज्जा-न करे । पण्णत्थ-इतना विशेष है अर्थात् । अगाढागाढेहिं-किसी विशेष या प्रगाढ़ कारण के उपस्थित हुए बिना उपाश्रय को स्वीकार न करे । आहच्च-यदि कभी । से-उसने । चेइए सिया-उसे ग्रहण कर लिया है तो । तत्थ-वह वहां पर । सीओदगवियडेण वा-प्रासुक शीतल या उष्ण जल से । हत्थाणि वा-हाथ । पायाणि वा-पैर । अच्छीणि वा-आंख । दंताणि वा-दान्त । मुहं वा-मुख आदि को । नो उच्छोलिज्ज वा-प्रक्षालन न करे । पहोएज्ज वा-बार २ प्रक्षालन न करे और । तत्थ-वहां पर । ऊसढं-मल मूत्रादि । नो

पकरेजा-न करे। तंजहा-जैसे कि। उच्चारं वा-उच्चार-विष्ठा। पासवर्णं वा-मूत्र। खेलं वा-मुख की मल। सिंघाणं वा-नाक का मल। वंतं वा-वान्ति-वमन। पित्तं वा-पित्त। पूयं वा-पीप। सोणियं वा-शोणित-रुधिर या। अन्नयरं वा-अन्य कोई। सरीरावयवं वा-शरीर का अवयव वहां पर परठे नहीं। केवली-केवली भगवान। ब्रूया-कहते हैं। आयाणमेयं-यह कर्म आने का मार्ग है। से तत्थ-यदि वह वहां पर। ऊसढं पगरेमाणे-उच्चार आदि करता हुआ। पयलेज्ज वा २-फिसल पड़ेगा या गिर पड़ेगा फिर। से-उसके। तत्थ-वहां पर। पयलमाणे वा-फिसलने अथवा। पवडमाणे वा-गिरने से। हत्थं वा-हाथ। जाव-यावत्। सीसं वा-सिर या। कार्यसि-शरीर का। अन्नयरं वा-कोई। इंदियजालं-अवयव विशेष। लूसिज्ज वा-टूट जाएगा तथा। पाणिं वा ४-द्वीन्द्रिय आदि प्राणियों को। अभिहणेज्ज वा-विराधना होगी। जाव-यावत्। ववरोविज्ज वा-विनाश होगा। अह-अतः। भिक्खुणं पुव्वोवदिट्ठा-भगवान ने भिक्षुओं के लिए पहले ही आदेश दे रखा है कि। जं-जो। तहप्पगारे-इस तरह के। उवस्सए-उपाश्रय में जो कि। अन्तलिक्खजाए-आकाश में अर्थात् ऊंचे स्थान में स्थित है। ठाणं वा ३-कायोत्सर्गादि। नो चेइज्जा-न करे और ऐसे उपाश्रय में न ठहरे।

**मूलार्थ**—वह साधु या साध्वी उपाश्रय को जाने, जैसे कि-जो उपाश्रय एक स्तम्भ पर है, मंचान पर है, माले पर है, प्रासाद पर-दूसरी मंजिल पर या महल पर बना हुआ है, तथा इसी प्रकार के अन्य किसी ऊंचे स्थान पर स्थित है तो किसी असाधारण कारण के बिना, उक्त प्रकार के उपाश्रय में स्थानादि न करे। यदि कभी विशेष कारण से उसमें ठहरना पड़े तो वहां पर प्रासुक शीतल या उष्ण जल से, हाथ, पैर, आंख, दान्त और मुख आदि का एक या एक से अधिक बार प्रक्षालन न करे। वहां पर मल आदि का उत्सर्जन न करे यथा-उच्चार ( विष्ठा ) प्रस्रवण ( मूत्र ) मुख का मल, नाक का मल, वमन, पित्त, पूय, और रुधिर तथा शरीर के अन्य किसी अवयव के मल का वहां त्याग न करे। क्योंकि केवली भगवान ने इसे कर्म आने का मार्ग कहा है। यदि वह मलादि का उत्सर्ग करता हुआ फिसल पड़े या गिर पड़े, तो उसके फिसलने या गिरने पर उसके हाथ-पैर, मस्तक एवं शरीर के किसी भी भाग में चोट लग सकती है और उसके गिरने से स्थावर एवं त्रस प्राणियों का भी विनाश हो सकता है। अतः भिक्षुओं के लिए तीर्थकरादि का पहले ही यह उपदेश है कि इस प्रकार के उपाश्रय में जो कि अन्तरिक्ष में अवस्थित है, साधु कायोत्सर्गादि न करे और न वहां ठहरे।

**हिन्दी विवेचन**—प्रस्तुत सूत्र में उपाश्रय के विषम स्थान में रहने का निषेध किया गया है। जो उपाश्रय एक स्तम्भ या मंचान पर स्थित हो और उसके ऊपर निःश्रेणी (लकड़ी की सीढ़ी) लगाकर चढ़ना पड़े, तो ऐसे स्थानों में बिना किसी विशेष कारण के नहीं ठहरना चाहिए। क्योंकि उस पर चढ़ने के लिए निःश्रेणी लाने (लगाने) की व्यवस्था करनी होगी और उस पर से गिरने से शरीर पर चोट लगने या अन्य प्राणियों की हिंसा होने की सम्भावना रहती है। अतः जहां इस तरह के अनिष्ट की संभावना हो ऐसे विषम स्थानों में नहीं ठहरना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र में अन्तरिक्षजात स्थानों में जो ठहरने का निषेध किया गया है, वह स्थान की विषमता के कारण किया गया है। यदि किसी उपाश्रय में ऊपर बने हुए आवासस्थल पर पहुंचने के लिए सुगम रास्ता है, उसमें गिरने आदि का भय नहीं है और ऊपर छत इतनी मजबूत है कि चलने-फिरने से

हिलती नहीं है या ऊपर से मिट्टी आदि नहीं गिरती है तो ऐसे स्थानों में ठहरने का निषेध नहीं किया गया है। आगम में यत्र-तत्र विषम स्थानों पर ठहरने या ऐसे विषम स्थानों पर रखी हुई वस्तु यदि कोई गृहस्थ उतार कर देवे तो साधु को ग्रहण करने का निषेध किया गया है<sup>१</sup>। इसी तरह जो उपाश्रय दुर्बद्ध (विषम स्थान पर स्थित) है, तो वहां साधु को नहीं ठहरना चाहिए। परन्तु, जिस उपाश्रय में ऊपर पहुंचने का मार्ग सुगम है और उसमें किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं होती हो तो ऐसे स्थान में साधु को ठहरने का निषेध नहीं किया गया है<sup>२</sup>।

इसी तरह ऊपर की छत पर जो हाथ-पैर धोने एवं दांत आदि साफ करने का निषेध किया है उसमें भी यही दृष्टि रही हुई है। यदि विषम स्थान नहीं है तो साधु उस पर आ-जा सकता है और दन्त आदि प्रक्षालन करने का जो निषेध किया है वह विभूषा की दृष्टि से किया गया है, न कि कारण विशेष की दृष्टि से। छेद सूत्रों में स्पष्ट कहा गया है कि जो साधु विभूषा, के लिए दान्तों का प्रक्षालन करते हैं उन्हें प्रायश्चित्त आता है<sup>३</sup>। अस्तु, कारण विशेष से उपाश्रय में स्थित ऊपर के ऐसे स्थानों में जिन पर पहुंचने का मार्ग सुगम है, उन पर दन्त आदि का प्रक्षालन करने का निषेध नहीं है।

उपाश्रय के विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं-

**मूलम्—** से भिक्खू वा० से जं० सइत्थियं सखुड्डं सपसुभत्तपाणं, तहप्पगारे सागारिए उवस्सए नो ठाणं वा ३ चेइज्जा। आयाणमेयं भिक्खुस्स गाहावडकुलेण सद्धिं संवसमाणस्स अलसगे वा विसूइया वा छड्डी वा उव्वाहिज्जा अन्नयरे वा से दुक्खे रोगायंके समुप्पज्जिज्जा, अस्संजए कलुणवडियाए तं भिक्खुस्स गायं तिल्लेण वा घएण वा नवणीयेण वा वसाए वा अब्भंगिज्ज वा मक्खिज्ज वा, सिणाणेण वा कक्केण वा लुद्धेण वा वणणेण वा चुणणेण वा पउमेण वा आघंसिज्ज वा पघंसिज्ज वा उव्वलिज्ज वा उव्वट्ठिज्ज वा सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलिज्ज वा पक्खालिज्ज वा सिणाविज्ज वा सिंचिज्ज वा, दारुणा वा दारुपरिणामं कट्टु अगणिकायं उज्जालिज्ज वा पज्जालिज्ज वा उज्जालित्ता २ कायं आयाविज्जा वा प०, अह भिक्खूणं पुव्वोवड्ढा० जं तहप्पगारे सागारिए उवस्सए नो ठाणं वा ३ चेइज्जा ॥६७॥

छाया- स भिक्षुर्वा स यत् सस्त्रियं सक्षुद्रं सपशुभक्तपानं तथाप्रकारके सागारिके उपाश्रये नो स्थानं वा ३ चेतयेत्। आदानमेतत् भिक्षोः गृहपतिकुलेन साद्धं संवसतः अलसकः

१ दशवैकालिक सूत्र, ५, १, ६७-६८।

२ तिशीथ सूत्र, उद्देशक १४, सूत्र ३८, ३९।

३ जे भिक्खू विभूसावडियाए अप्पणो दंते सीओदगवियडेण वा जाव पधोवंतं वा साइज्जइ।



वा विसूचिका वा छर्दी वा उद्बाधेरन्, अन्यतरद् वा दुःखं रोगातंकः समुत्पद्येत असंयतः कारुण्यप्रतिज्ञया तद् भिक्षोः गात्रं तैलेन वा घृतेन वा नवनीतेन वा वसया वा अभ्यज्यात् वा मृक्षयेद् वा स्नानेन वा कलकेन वा लोध्रेण वा वर्णेन वा चूर्णेन वा पद्मेन वा आघर्षेत् प्रघर्षेत् उद्वलेत् उद्वर्तेत् वा, शीतोदकविकटेन वा उष्णोदकविकटेन वा उच्छालयेद् वा प्रक्षालयेद् वा स्नपयेद् वा सिञ्चेद् वा, दारुणा वा दारुपरिणामं कृत्वा अग्निकायं उज्ज्वालयेद् वा प्रज्वालयेद् वा उज्ज्वाल्य कायं वा आतापयेत् वा प्रतापयेद् वा अथ भिक्षूणां पूर्वोपदिष्टं यत् तथाप्रकारे सागारिके उपाश्रये नो स्थानं वा ३ चेतयेत्।

**पदार्थ-** से-वह। भिक्खू वा-साधु अथवा साध्वी। से जं-उपाश्रय को जाने जैसे कि। सइत्थियं-यह उपाश्रय स्त्री युक्त है। सखुइडं-क्षुद्र पशुओं और बालकों से युक्त है। सपसुभत्तपाणां-पशुओं तथा उनके खाने योग्य अन्न-पानी से युक्त है। तहप्पगारे-तथाप्रकार के। स गारिण-सागारिक-गृहस्थों से युक्त। उवस्साए-उपाश्रय में। ठाणं वा-कायोत्सर्गादि। नो चेइज्जा-न करे। आयाणमेयं-यह कर्म बन्धन का कारण है। भिक्खुस्स-भिक्षु को। गाहावइकुलेण संब्धि-यदि गृहपति के कुटुम्ब के साथ। संवसमाणस्स-बसते-निवास करते हुए कदाचित्। अलसके-हाथ-पैर आदि का स्तम्भन हो जाए अथवा उनमें सोजन आ जाए अथवा। विसुइया वा-विसूचिका-हैजा हो जाए या। छइडी वा-वमन। उब्बाहिज्जा-होने लगे। से अन्नयरे वा-अथवा उसे अन्य कोई। दुक्खे-दुःख। रोगायंके-या न्वरादि रोग अथवा शूल आदि प्राणनाशक रोग। समुप्पजेज्जा-उत्पन्न हो जाए तो इस प्रकार के रोग से पीड़ित साधु को देखकर। असंजए-गृहस्थ। कलुणापडियाए-करुणा से। तं-उस। भिक्खुस्स-भिक्षु के। गायं-शरीर को। तेत्थेण वा-तेल से। घएण वा-घृत से। नवणीएण वा-नवनीत-मक्खन से अथवा। वसाए वा-चर्बी से। अब्भंगेज्ज वा-उसके शरीर का एक बार मालिश करेगा अथवा। मक्खिज्ज वा-अनेक बार मालिश करेगा तथा। सिणाणेण वा-सुगन्धित द्रव्य मिश्रित जल से स्नान कराएगा या। कक्केण-कषाय द्रव्य से मिश्रित जल से। लोद्धेण वा-लोद से। वन्नेण वा-कम्पिल्लादि वर्ण से। चुणणेण वा-जवादि केचूर्ण से। पउमेण वा-पद्म से। आघसिज्ज वा-उसके शरीर का थोड़ा सा घर्षण करेगा। पघंसिज्ज वा-बार बार घर्षण करेगा। उव्वलिज्ज वा-उक्त पदार्थों को मसल कर शरीर की स्निग्धता को दूर करेगा। उव्वट्टिज्ज वा-उबटन करेगा तथा। सीओदगवियडेण वा-उसे प्रासुक शीतल जल से। उसिणोदगवियडेण वा-या उष्ण जल से। उच्छोलेज्ज वा-एक बार धोएगा या। पक्खलिज्ज वा-अनेक बार प्रक्षालन करेगा। सिणाविज्ज वा-बार-बार मस्तक को धोएगा। सिंचेज्ज वा-जल के द्वारा गात्र-शरीर का सिंचन करे अथवा। दारुणा वा दारुपरिणामं कट्टु-अरणी के काष्ठ को घर्षण करके। अगणिकायं-अग्नि को। उज्जालेज्ज वा-उज्वलित करेगा। पज्जालिज्ज वा-प्रज्वलित करेगा और। उज्जलिज्जा-उज्वलित वा प्रज्वलित करके। कायं-साधु के शरीर को। आयाविज्जा-एक बार तपाएगा। पयाविज्ज वा-या बार-बार तपाएगा। अह-इसलिए। भिक्खूणां-भिक्षुओं को। पुव्वोवइट्ठा-तीर्थकरादि ने पहले ही आदेश किया है कि। जं-जो कि। तहप्पगारे-तथा प्रकार के। सागारिण-सागारिक-गृहस्थादि से युक्त। उवस्साए-उपाश्रय हैं, उनमें। ठाणं वा-स्थानदि। नो चेइज्जा-न करे, अर्थात् ऐसे स्थान में न ठहरे।

**मूलार्थ-** जो उपाश्रय स्त्री, बालक और पशु तथा उनके खाने योग्य पदार्थों से युक्त है तो इस प्रकार के गृहस्थादि से युक्त उपाश्रय में साधु-साध्वी न ठहरे। क्योंकि यह कर्म आने का

मार्ग है। भिक्षु को गृहस्थ के कुटुम्ब के साथ बसते हुए कदाचित् शरीर का स्तम्भन या सूजन हो जाए या विसूचिका, वमन, ज्वर या शूलादि रोग उत्पन्न हो जाए, तो वह गृहस्थ करुणाभाव से प्रेरित होकर साधु के शरीर का तेल से, घी से, नवनीत ( मक्खन ) से और वसा से मालिश करेगा। और फिर उसे प्रासुक शीतल या उष्ण जल से स्नान कराएगा या लोध से, चूर्ण से तथा पद्म से एक अथवा अनेक बार उसके शरीर को घर्षित करेगा, तथा शरीर की स्निग्धता को उबटन आदि से दूर करेगा। उस मैल को साफ करने के लिए उसके शरीर का प्रासुक शीतल या उष्ण जल से प्रक्षालन करेगा। उसके मस्तक को धोएगा या उसे जल से सिंचित करेगा, अथवा अरणी के काष्ठ को परस्पर रगड़ कर अग्नि प्रज्वलित करेगा और उससे साधु के शरीर को गर्म करेगा। इस तरह गृहस्थ के परिवार के साथ उसके घर में ठहरने से अनेक दोष लगने की संभावना देखकर भगवान ने ऐसे स्थान पर ठहरने का निषेध किया है।

**हिन्दी विवेचन**—प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि साधु-साध्वी को ऐसे मकान में नहीं ठहरना चाहिए जिसमें गृहस्थ सपरिवार रहता हो और अपने परिवार एवं पशुओं के पोषण के लिए सब तरह के सुख-साधन एवं भोगोपभोग की सामग्री रखी हो। क्योंकि, गृहस्थ के साथ ऐसे मकान में ठहरने पर यदि कभी वह बीमार हो गया तो वह अनुरागी गृहस्थ अनेक तरह की सावद्य एवं निरवद्य औषधियों से, तेल आदि के लेपन से या अग्नि-जलाकर उसके शरीर को तपाकर उसे व्याधि से मुक्त करने का प्रयत्न करेगा और साधु को उसका प्रतिकार करना होगा। यदि वह प्रतिकार नहीं करेगा तो उसके संयम का नाश होगा। इसलिए साधु को ऐसे स्थान में नहीं ठहरना चाहिए, जिससे उसके महाव्रतों में किसी तरह का दोष लगे।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'वसा' शब्द का अर्थ चर्बी नहीं, किन्तु स्निग्ध (चिकनाहट से युक्त) औषधि विशेष है। और 'पसुभक्तपाणं' का अर्थ है-पशुओं के काम में आने वाले खाद्य पदार्थ, 'सखुड्डं' (क्षुद्र) शब्द से कुत्ता, बिल्ली आदि पशुओं का एवं पशु शब्द से गाय, भैंस आदि पशुओं का ग्रहण किया गया है।

यह स्पष्ट है कि बीमार साधु को देखकर गृहस्थ के मन में दयाभाव विशेष रूप से जागृत होता है। इसलिए साधु को गृहस्थ के परिवार के साथ नहीं ठहरना चाहिए। इससे और भी अनेक दोष लगने की संभावना है। स्त्री आदि के साथ अधिक परिचय रहने से ब्रह्मचर्य में भी शिथिलता आ सकती है। यही कारण है कि आगम में साधु को स्त्री, पशु और नपुंसक युक्त मकान में और साध्वी को पुरुष, पशु और नपुंसक सहित मकान में रहने का निषेध किया गया है और इनसे रहित मकान में रहने वाले साधु को ही निर्ग्रन्थ कहा गया है<sup>१</sup>। यह बात अलग है कि जिस मकान में केवल पुरुष ही रहते हों तो उस मकान में साधु और जिस मकान में केवल स्त्रियां निवसित हों तो उस मकान में साध्वियां ठहर सकती हैं<sup>२</sup>।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्— आयाणमेयं भिक्खुस्स सागारिए उवस्सए संवसमाणस्स इह**

१ नो इत्थीपसुपण्डगसंसत्ताइं सवणासणाइं सेवित्ता से निगन्थे। — उत्तराध्ययन सूत्र, १६।

२ — कल्पसूत्र।

खलु गाहावई वा जाव कम्मकरी वा अन्नमन्नं अक्कोसंति वा पचंति वा रुंभंति वा उद्विंति वा, अह भिक्खूणं उच्चावयं मणं नियंछिज्जा, एए खलु अन्नमन्नं अक्कोसंतु वा मा वा अक्कोसंतु जाव मा वा उद्विंतु, अह भिक्खूणं पुव्वो० जं० तहप्पगारे सा० नो ठाणं वा ३ चेइज्जा ॥ ६८ ॥

छाया— आदानमेतत् भिक्षोः सागारिके उपाश्रये संवसतः इह खलु गृहपतिः वा यावत् कर्मकरी वा अन्योऽन्यं आक्रोशयन्ति वा पचन्ति वा रुधन्ति वा उपद्रावयन्ति वा अथ भिक्षुः उच्चावचं मनः कुर्यात्, एते खलु अन्योऽन्यं आक्रोशन्तु मा वा आक्रोशन्तु यावत् उपद्रावयन्तु, अथ भिक्षूणां पूर्वोपदिष्टं यत् तथाप्रकारे सागारिके उपाश्रये नो स्थानं वा ३ चेतयेत्।

पदार्थः— सागारिए उवस्सए-गृहस्थ से युक्त उपाश्रय में। संवसमाणस्स-निवास करना। भिक्खुस्स-साधु के लिए। आयाणमेयं-कर्म बन्ध का कारण है, क्योंकि। इह खलु-इस उपाश्रय में। गाहावई वा-गृहपति। जाव-यावत्। कम्मकरी वा-उसकी दासी आदि। अन्नमन्नं-परस्पर। अक्कोसंति वा-एक-दूसरे को कोसती हैं। पचंति वा-खाना पकाती हैं। रुंभंति वा-रोकती हैं। उद्विंति वा-उपद्रव करती हैं। अह-अतः उन्हें ऐसा करते देखकर। भिक्खूणं-भिक्षु के। उच्चावयं मणं नियंछिज्जा-मन में ऊंचे-नीचे परिणाम आ सकते हैं, वह सोच सकता है कि। एए खलु-यह सब निश्चय ही। अन्नमन्नं-परस्पर। अक्कोसंतु वा-आक्रोश करें। मा वा अक्कोसंतु वा-अक्रोश न करें। जाव-यावत्। मा वा उद्विंतु-उपद्रव न करे। अह भिक्खूणं-भिक्षुओं को। पुव्वोवइट्ठा-तीर्थकरों ने पहले ही उपदेश दिया है कि। जं-जो। तहप्पगारे-ऐसा स्थान है, जिसमें। सा०-गृहस्थ निवास करता है, उसमें। नो ठाणं वा ३ चेइज्जा-साधु निवास न करे।

मूलार्थ—गृहस्थों से युक्त उपाश्रय में निवास करना साधु के लिए कर्म बन्ध का कारण कहा है। क्योंकि उसमें गृहपति, उसकी पत्नी, पुत्रियां, पुत्रवधु, दास-दासियां आदि रहती हैं और कभी वे एक-दूसरी को मारें, रोकें या उपद्रव करें तो उन्हें ऐसा करते हुए देखकर मुनि के मन में ऊंचे-नीचे भाव आ सकते हैं। वह यह सोच सकता है कि ये परस्पर लड़ें, झगड़ें या लड़ाई-झगड़ा न करें आदि। इसलिए तीर्थकरों ने साधु को पहले ही यह उपदेश दिया है कि वह गृहस्थ से युक्त उपाश्रय में न ठहरे।

हिन्दी विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में भी परिवार से युक्त मकान में ठहरने का निषेध किया है। क्योंकि कभी पारिवारिक संघर्ष होने पर साधु के मन में भी अच्छे एवं बुरे संकल्प-विकल्प आ सकते हैं। वह किसी को कहेगा कि तुम मत लड़ो और किसी को संघर्ष के लिए प्रेरित करेगा। इस तरह वह साधना के पथ से भटककर झंझटों में उलझ जाएगा। यहां प्रश्न हो सकता है कि किसी को लड़ने से रोकना तो अच्छा है, फिर यहां उसका निषेध क्यों किया गया है? इसका समाधान यह है कि परिवार के साथ रहने के कारण उसका मन तटस्थ न रहकर राग-द्वेष से युक्त हो जाता है और इस कारण वह अपने अनुरागी व्यक्ति का पक्ष लेकर विरोधी को रोकना चाहता है और अनुरागी को भड़काता है, उसकी यह राग-द्वेष

युक्त प्रवृत्ति कर्म बन्ध का कारण होने से साधु के लिए इसका निषेध किया है। यदि कोई साधु तटस्थ एवं मध्यस्थ भाव से संघर्ष को शान्त करने का प्रयत्न करता है तो उसका कहीं निषेध नहीं किया गया है, भगवान महावीर ने कहा है कि साधु जनता को शान्ति का मार्ग बताए और उपदेश के द्वारा कलह को शान्त करने का प्रयत्न करे। अस्तु, प्रस्तुत प्रसंग में जो निषेध किया है वह राग-द्वेष युक्त भाव से किसी का पक्ष लेकर हां या ना करने का निषेध किया गया है, और इसी भावना को सामने रख कर साधु को परिवार युक्त मकान में ठहरने का निषेध किया गया है, जिससे वह पारिवारिक संघर्ष से अलग रहकर अपनी साधना में संलग्न रह सके।

इसी बात को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं-

**मूलम्-** आयाणमेयं भिक्खुस्स गाहावईहिं सद्धिं संवसमाणस्स, इह खलु गाहावई अप्पणो सयट्ठाए अगणिकायं उज्जालिज्जा वा पज्जालिज्जा वा, विज्झविज्जा वा, अह भिक्खू उच्चावयं मणं नियच्छिज्जा एए खलु अगणिकायं उ० वा २ मा वा उ० पज्जालिंतु वा मा वा प०, विज्झविंतु वा मा वा वि०, अह भिक्खूणं पु० जं तहप्पगारे उ० नो ठाणं वा ३ चेइज्जा ॥६९॥

**छाया-** आदानमेतद् भिक्षोः गृहपतिभिः सार्द्धं संवसतः इह खलु गृहपतिः आत्मनः स्वार्थमग्निकायं उज्ज्वालयेद् वा प्रज्ज्वालयेद् वा विध्यापयेद् वा अथ भिक्षुः उच्चावचं मनः कुर्यात् एते खलु अग्निकायमुज्ज्वालयन्तु वा २ मा वा उज्ज्वालयन्तु, प्रज्ज्वालयन्तु वा मा वा विध्यापयन्तु अथ भिक्षूणां पूर्वोपदिष्टं यत् तथाप्रकारे उपाश्रये नो स्थानं वा ३ चेतयेत्।

**पदार्थ-** भिक्खुस्स-भिक्षु को। गाहावईहिं-गृहपतियों-गृहस्थों के। सद्धिं-साथ। संवसमाणस्स-निवास करना। आयाणमेयं-यह कर्म बन्धन का कारण है। इह खलु-निश्चय ही उस उपाश्रय में। गाहावई-गृहस्थ। अप्पणो सयट्ठाए-अपने स्वार्थ के लिए- आत्म-प्रयोजन के लिए। अगणिकायं-अग्निकाय को। उज्जालिज्जा वा-उज्वलित करे अथवा। पज्जालिज्जा-प्रज्वलित करे। वा-अथवा। विज्झविज्जा वा-बुझावे, इस प्रकार के काम करते हुए को देखकर। अह-अथ। भिक्खू-भिक्षु कभी। उच्चावयं-ऊंचा-नीचा। मणं नियच्छिज्जा-मन करे, यथा-। खलु-निश्चय ही। एए-ये गृहस्थ लोग। अगणिकायं-अग्निकाय-अग्नि को। उ० वा २-उज्वलित करें। मा वा उ०-अथवा उज्वलित न करें, तथा। पज्जालिंतु-प्रज्वलित करें। मा वा प०-अथवा प्रज्वलित न करें। विज्झविंतु वा-बुझा दें। मा वा वि०-अथवा न बुझाएं। अह-अथ। भिक्खूणं-भिक्षुओं को। पु०-तीर्थकरादि का पहले ही यह उपदेश है। जं-जो। तहप्पगारे-तथाप्रकार के। उ०-उपाश्रय में। ठाणं वा ३-स्थानादि। नो चेइज्जा-न करे- ठहरे।

**मूलार्थ-** गृहस्थादि से युक्त उपाश्रय में ठहरना साधु के लिए कर्म-बन्ध का कारण है। क्योंकि वहां पर गृहस्थ लोग अपने प्रयोजन के लिए अग्नि को उज्वलित और प्रज्वलित करते हैं

या प्रज्वलित आग को बुझाते हैं। अतः उनके साथ बसते हुए भिक्षु के मन में कभी ऊंचे-नीचे परिणाम भी आ सकते हैं। कभी वह यह भी सोच सकता है कि ये गृहस्थ अग्नि को उज्वलित और प्रज्वलित करें या ऐसा न करें, यह अग्नि को बुझा दें या न बुझाएं। इसलिए तीर्थंकरादि ने भिक्षु को पहले ही यह उपदेश दिया है कि वह इस प्रकार के सागारिक उपाश्रय में न ठहरे।

**हिन्दी विवेचन**—प्रस्तुत सूत्र में भी गृहस्थ के साथ गृहवास करने का निषेध किया गया है और बताया गया है कि उसके साथ निवास करने से मन विभिन्न संकल्प-विकल्पों में चक्कर काटता रहेगा। कभी गृहस्थ दीपक प्रज्वलित करेगा और कभी जलते हुए दीपक को बुझा देगा। उसके इन कार्यों से साधु की साधना में रुकावट पड़ने के कारण उसके मन में ऊंचे-नीचे संकल्प-विकल्प उठ सकते हैं। इन सब संकल्प-विकल्पों से बचने के लिए साधु को गृहस्थ के साथ नहीं ठहरना चाहिए।

इस संबन्ध में सूत्रकार और भी बताते हैं—

**मूलम्**— आयाणमेयं भिक्खुस्स गाहावईहिं सद्धिं संवसमाणस्स, इह खलु गाहावइस्स कुंडले वा गुणे वा मणी वा मुत्तिए वा हिरण्णे वा सुवण्णे वा कडगाणि वा तुडियाणि वा तिसराणि वा पालंबाणि वा हारे वा अद्धहारे वा एगावली वा कणगावली वा मुत्तावली वा रयणावली वा तरुणियं वा कुमारिं अलंकियविभूसियं पेहाए, अह भिक्खू उच्चाव० एरिसिया वा सा नो वा एरिसिया इय वा णं बूया इय वा णं मणं साइज्जा। अह भिक्खूणं पु० ४ जं तहप्पगारे उवस्सए नो ठा० ॥७० ॥

**छाया**— आदानमेतत् भिक्षोः गृहपतिभिः साद्धं संवसतः इह खलु गृहपतेः कुंडलं वा गुणं वा मणिं वा मौक्तिकं वा हिरण्येषु वा सुवर्णेषु वा कटकानि वा त्रुटितानि वा तिसराणि वा प्रालम्बानि वा, हारं वा अर्द्धहारं वा, एकावलिं वा कनकावलिं वा मुक्तावलिं वा रत्नावलिं वा तरुणिकां वा कुमारीं वा अलंकृतविभूषितां प्रेक्ष्य, अथ भिक्षुः उच्चावचं मनः कुर्यात् ईदृशी वा सा नो वा ईदृशी इति वा ब्रूयात् इति वा मनः स्वदेत अथ भिक्षूणां पूर्वोपदिष्टम् ४ यत् तथाप्रकारे उपाश्रये नो स्थानं ३ चेतयेत्।

**पदार्थः**— आयाणमेयं-गृहस्थों के साथ निवास करना साधु के लिए कर्मबन्ध का कारण है। भिक्खुस्स-साधु को। गाहावईहिं सद्धिं-गृहस्थों के साथ। संवसमाणस्स-बसते हुए ये दोष लग सकते हैं, जैसे कि। इह खलु-निश्चय ही उस स्थान में। गाहावइस्स-गृहस्थ के। कुंडले वा-कुण्डल-कानों में डालने के आभूषण। गुणे वा-धागे में पिरोया हुआ आभूषण विशेष, अथवा मेखला-तगड़ी। मणी वा-चन्द्रकान्तादि मणि। मुत्तिए वा-अथवा मोती। हिरण्णे वा-दीनार-मोहर आदि। सुवण्णे वा-सुवर्ण-सोना। कडगाणि वा-कड़े। तुडियाणि वा-भुजाओं के आभूषण। तिसराणि वा-तीन लड़ी का हार। पालंबाणि वा-गले में धारण करने वाली एक लम्बी माला। हारे वा-अठारह लड़ी का हार। अद्धहारे वा-नी लड़ी का अर्द्धहार। एगावली वा-

एक लड़ी का हार। मुत्तवली वा-मोतियों की माला-हार। कणगावली वा-सोने का हार अथवा। रयणावली वा-रत्नों की माला का हार तथा। तरुणियं वा-जवान स्त्री को अथवा। कुमारिं-कुमारी कन्या को। अलंकिय-विभूषियं-अलंकृत अथवा विभूषित स्त्री को। पेहाए-देखकर। अह-अथ। भिक्खू-भिक्षु के। उच्चावयं-मन में ऊंचे-नीचे विचार आ सकते हैं। एरिसिया वा-वह सोचने लगे कि मेरी स्त्री भी इसके समान थी, अथवा। सा-वह स्त्री। णो एरिसिया-ऐसी नहीं थी, तथा इसके समान ही मेरे घर में आभूषणादि थे अथवा नहीं थे। इय वा णं बूया-वह इस प्रकार के वचन बोलने लगे। इय वा णं मणं साइज्जा-मन में राग-द्वेष करने लगे। अह-अतः। भिक्खूणं-भिक्षुओं को। पुव्वोवइट्ठा ४-तीर्थकरादि ने पहले ही यह उपदेश दिया है कि। जं-जो। तहप्पगारे-तथाप्रकार के। उवस्सए-उपाश्रय में। णो ठाणं वा ३ चेइज्जा-न ठहरे।

**मूलार्थ**—गृहस्थ के साथ ठहरना भिक्षु के लिए कर्म बन्धन का कारण है। जो भिक्षु गृहस्थ के साथ बसता है उसमें निम्नलिखित कारणों से राग-द्वेष के भावों का उत्पन्न होना संभव है। यथा-गृहपति के कुण्डल, या धागे में पिरोया हुआ आभरण विशेष, मणि, मुक्ता-मोती, चांदी, सोना या स्वर्ण के कड़े, बाजूबन्द-भुजाओं में धारण करने के आभूषण, तीन लड़ी का हार, फूल माला, अठारह लड़ी का हार, नौ लड़ी का हार, एकावली हार, सोने का हार, मोतियों और रत्नों के हार तथा वस्त्रालंकारादि से अलंकृत और विभूषित युवती स्त्री और कुमारी कन्या को देखकर भिक्षु के मन में ये संकल्प-विकल्प उत्पन्न हो सकते हैं, कि ये पूर्वोक्त आभूषणादि मेरे घर में भी थे अथवा मेरे घर में ये आभूषण नहीं थे। एवं मेरी स्त्री या कन्या भी इसी प्रकार की थी अथवा नहीं थी। इन्हें देखकर वह ऐसे वचन बोलेगा या मन में उन का अनुमोदन करेगा। इसलिए तीर्थकरों ने पहले ही भिक्षुओं को यह उपदेश दिया है कि वे इस प्रकार के उपाश्रय में न ठहरें।

**हिन्दी विवेचन**—प्रस्तुत सूत्र में गृहस्थ के साथ ठहरने का निषेध करते हुए बताया गया है कि गृहस्थ के यहां विभिन्न तरह के वस्त्राभूषण एवं वस्त्राभूषणों से सुसज्जित नवयुवतियों एवं उसकी कुमारी कन्याओं को देखकर उसके मन में अपने पूर्व जीवन की स्मृति जाग सकती है। वह यह सोच सकता है कि मेरे घर में भी ऐसा ही या इससे भी अधिक वैभव था या मेरे घर में इतनी प्रचुर भोग सामग्री नहीं थी, मैंने अपने जीवन में इतने भोग नहीं भोगे। इस तरह गृहस्थ के वैभव संपन्न जीवन को देखकर उसका मन भोगों के चिन्तन में लग सकता है। अतः इसे कर्म बन्ध का कारण जानकर साधु को ऐसे स्थानों में नहीं ठहरना चाहिए।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्**— आयाणमेयं भिक्खुस्स गाहावईहिं सद्धिं संवसमाणस्स, इह खलु गाहावइणीओ वा गाहावइधूयाओ वा गा० सुण्हाओ वा गा० धाईओ वा गा० दासीओ वा गा० कम्मकरीओ वा तासिं च णं एवं वुत्तपुव्वं भवइ--जे इमे भवंति समणा भगवंतो जाव उवरया मेहुणाओ धम्माओ, नो खलु एएसिं कप्पइ मेहुणधम्मं परिवारणाए आउट्टित्तए, जा य खलु एएहिं सद्धिं मेहुणधम्मं

परियारणाए आउट्टाविज्जा पुत्तं खलु सा लभिज्जा ओयस्सिं तेयस्सिं वच्चस्सिं जसस्सिं संपराइयं आलोयणदरसणिज्जं, एयप्पगारं निग्घोसं सुच्चा निसम्म तासिं च णं अन्नयरी सड्ढी तं तवस्सिं भिक्खुं मेहुणधम्मपडियारणाए आउट्टाविज्जा, अह भिक्खूणं पुं जं तहप्पगारे सां उं नो ठां ३ चेइज्जा । एयं खलु तस्सं ॥ पढमा सिज्जा सम्मत्ता ॥७१ ॥

छाया— आदानमेतत् भिक्षोः गृहपतिभिः सार्द्धं संवसतः इह खलु गृहपतन्यः वा गृहपतिदुहितरो वा गृहपतिस्त्रुषा वा गृहपतिधात्र्यो वा गृहपतिदास्यो वा गृहपतिकर्मकरो वा, तासां च एवं उक्तपूर्वं भवति—ये इमे श्रमणा भगवन्तः यावद् उपरता मैथुनाद् धर्मात् नो खलु एतेषां कल्पते मैथुनधर्मपरिचारणया आकुटयितुं—अभिमुखं कर्तुम् । या च खलु एतैः सार्द्धं मैथुनधर्मपरिचारणया आकुटयितुं—अभिमुखं कुर्वीत पुत्रं खलु लभेत—ओजस्विनं, तेजस्विनं, वर्चस्विनं, यशस्विनं संपरायं आलोकं दर्शनीयं, एतत् प्रकारं निर्घोषं श्रुत्वा निशम्य तासां च अन्यतरा श्राद्धी तं तपस्विनं भिक्षुं मैथुनधर्मपरिचारणायामभिमुखं कुर्यात्, अथ भिक्षूणां पूर्वोपदिष्टं यत् तथाप्रकारे सागारिके उपाश्रये नो स्थानं वा ३ चेतयेत् । एतत् खलु तस्य भिक्षोः भिक्षुव्याः वा सामग्र्यम् । प्रथमा शय्या समाप्ता ।

पदार्थः— आयाणमेयं—यह कर्म बन्धन का कारण है । भिक्खुस्स—भिक्षु को । गाहावईहिं सद्धिं—गृहस्थों के साथ । संवसमाणस्स—बसते हुए को, ये दोष उत्पन्न हो सकते हैं, यथा । इह खलु—निश्चय ही सागारिक उपाश्रय में । गाहावइणीओ वा—गृहपति की भार्याएं अथवा । गाहावइधूयाओ—गृहपति की पुत्रियां । गाहावइसुण्हाओ—गृहपति की पुत्रवधुएं । गाहावइधाइओ वा—गृहपति की धायमाताएं अथवा । गाहावइदासीओ—गृहपति की दासियां अथवा । गाहावइकम्मकरीओ वा—गृहपति का काम करने वाली अनुचरिणं । णं—वाक्यालंकार में है । च—फिर । तासिं—उन्हीं का । एवं—इस प्रकार । वुत्तपुव्वं भवइ—पहले ही यह कथन होता है अर्थात् वे परस्पर इस प्रकार वार्तालाप करते हैं । जे इमे—जो ये । भगवंतो समणा—पूज्य श्रमण हैं । जाव—यावत् । मेहुणाओ धम्माओ—मैथुन धर्म से । उवरया भवन्ति—सर्वथा उपरत रहते हैं अर्थात् ये मैथुन धर्म का कभी सेवन नहीं करते । खलु—निश्चय ही । एएसिं—इनको । मेहुणधम्मं—मैथुन धर्म के । परियारणाए—सेवनार्थ—सेवन करने के लिए । आउट्टिट्तए—सन्मुख होना । नो कप्पइ—नहीं कल्पता, किन्तु । य—और । जा—जो स्त्री । एएहिं सद्धिं—इनके साथ । मेहुणधम्मं—मैथुन धर्म के । परियारणाए—सेवन के लिए । आउट्टाविज्जा—सन्मुख करे अर्थात् मैथुन सेवन करे । खलु—निश्चय ही । सा—वह स्त्री । ओयस्सिं—ओजस्वी—बलवान । तेयस्सिं—तेजस्वी तेज वाला । वच्चस्सिं—वर्चस्वी—रूपवान । जसस्सिं—यशस्वी—यशवाला । संपराइयं—संग्राम में शूरवीर । आलोयणदरसणिज्जं—आलोकनीय और दर्शनीय । पुत्तं—पुत्र को । लभिज्जा—प्राप्त करती है । एयप्पगारं—इस प्रकार के । निग्घोसं—शब्द को । सुच्चा—सुनकर । निसम्म—और विचार कर—हृदय में धारण कर । तासिं च णं—उनमें से । अन्नयरी—कोई एक । सड्ढी—स्त्री । तं—उस । तवस्सिं—तपस्वी । भिक्खुं—भिक्षु को । मेहुणधम्मपडियारणाए—मैथुन धर्म के सेवनार्थ । आउट्टाविज्जा—सन्मुख करे । अह—अथ । भिक्खूणं—भिक्षुओं को । पुं—तीर्थकरादि ने पहले ही यह

उपदेश किया है। जं-जो कि। तहप्यगारे-तथाप्रकार के। उवस्सए-उपाश्रय में। ठाणं वा ३-भिक्षु स्थानादि न करे-न ठहरे। एयं-यह। खलु-निश्चय ही। तस्स-उस। भिक्खुस्स भिक्खुणीए वा-भिक्षु-साधु या साध्वी का। सामग्गियं-यह सम्पूर्ण भिक्षु-भाव भिक्षुत्व है। पढमा सिज्जा सम्मत्ता-पहली शय्या समाप्त हुई।

**मूलार्थ**—भिक्षु को गृहस्थों के साथ बसने से निम्नलिखित दोष लग सकते हैं। जब वह गृहस्थों के साथ रहेगा तब उन गृहस्थों की गृहपत्नियां, उनकी पुत्रियां, पुत्रवधुएं, धायमाताएं, दासियां और अनुचरियां आपस में मिल कर यह वार्तालाप भी करने लगती हैं कि-ये साधु मैथुन धर्म से सदा उपरत रहते हैं अर्थात् ये मैथुन क्रीड़ा नहीं करते। अतः इन्हें मैथुन सेवन करना नहीं कल्पता। परन्तु, जो कोई स्त्री इनके साथ मैथुन क्रीड़ा करती है, उसको बलवान, तेजस्वी, रूप वाला और कीर्तिमान, संग्राम में शूरवीर एवं दर्शनीय पुत्र की प्राप्ति होती है। इस प्रकार के शब्द को सुनकर उनमें से कोई एक पुत्र की इच्छा रखने वाली स्त्री उस तपस्वी भिक्षु को मैथुन सेवन के लिए तैयार कर लेवे। इस तरह की संभावना हो सकती है, इसलिए तीर्थकरों ने ऐसे स्थान में ठहरने का निषेध किया है।

**हिन्दी विवेचन**—प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि गृहस्थ के साथ ठहरने से साधु के ब्रह्मचर्य व्रत में दोष आ सकता है। क्योंकि साधु को अपने बीच में पाकर स्त्रियां उसकी ओर आकर्षित हो सकती हैं और पारस्परिक वार्तालाप से यह जानकर कि ब्रह्मचारी के संपर्क से होने वाला पुत्र बलवान एवं तेजस्वी होता है, तो पुत्र की अभिलाषा रखने वाली कोई स्त्री मुनि से मैथुन क्रीड़ा करने की प्रार्थना भी कर सकती है और अपने हाव-भाव से वह मुनि को भी इस कार्य के लिए तैयार कर सकती है। इस तरह महाव्रतों से मिरने की संभावना देखकर भगवान ने साधु को गृहस्थ के परिवार के साथ ठहरने का निषेध किया है।

वस्तुतः देखा जाए तो वीर्य ही जीवन है। क्योंकि इस शरीर का निर्माण वीर्य से ही होता है। आगम में बताया गया है कि मनुष्य की अस्थि, मज्जा, केश एवं रोम का निर्माण पिता के वीर्य से होता है और मांस-मस्तक आदि का ढांचा माता के रुधिर (रज) से बनता है। अस्तु माता और पिता का जीवन जितना संयमित, नियमित एवं मर्यादित होगा उतना ही सन्तान का शरीर शक्तिसम्पन्न एवं तेजस्वी होगा। अतः जीवन को शक्तिसम्पन्न एवं तेजस्वी बनाए रखने के लिए वीर्य की सुरक्षा करना आवश्यक है। इसी कारण गृहस्थ के लिए भी स्वदारसन्तोष व्रत का उल्लेख किया गया है। स्वपत्नी के साथ भी मर्यादा से अधिक मैथुन का सेवन करना अपनी शक्ति का नाश करना एवं सन्तति का दुर्बल एवं रोगी बनाना है। असंयत एवं अमर्यादित जीवन चाहे गृहस्थ का हो या साधु का, किसी के लिए भी हितप्रद नहीं है। अतः साधु को अपने संयम एवं ब्रह्मचर्य की रक्षा में सदैव सावधान रहना चाहिए। क्योंकि ब्रह्मचर्य साधना का महत्त्वपूर्ण स्तम्भ है, इसलिए साधु को ऐसे स्थान में नहीं ठहरना चाहिए, जहां ब्रह्मचर्य के स्खलित होने की संभावना हो।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'आउट्टित्तए, आउट्टिविज्जा' का प्राकृत महार्णव में आवृत करना, भुलाना, व्यवस्था करना, सम्मुख करना एवं तत्पर होना अर्थ किया है<sup>१</sup> और अर्द्धमागधी कोष में आउट



(आ+कुट्ट) धातु को हिंसार्थक माना है और आउट्टइ, आउट्टेइ, आउट्टानी, आउट्टिया, आउट्टे, आउट्टेजा, आउट्टिए और आउट- आवृत्त शब्द से भी दिया है<sup>१</sup>। परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में 'आउट्टिए' पद का सम्मुख करना अर्थ ही संगत प्रतीत होता है।

॥ प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

## द्वितीय अध्ययन शय्यैषणा

### द्वितीय उद्देशक

प्रथम उद्देशक में उपाश्रय के दोषों का वर्णन किया गया है, और प्रस्तुत उद्देशक में निवास स्थान संबन्धी कुछ विशेष दोषों का उल्लेख किया है। साधु को स्त्री-पशु एवं नपुंसक से युक्त मकान में क्यों नहीं ठहरना चाहिए, इसका स्पष्टीकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्— गाहावई नामेगे सुइसमायारा भवन्ति, से भिक्खू य असिणाणए मोयसमायारे, से तग्गंधे दुग्गंधे पडिकूले पडिलोमे यावि भवइ, जं पुव्वंकम्मं तं पच्छाकम्मं जं पच्छाकम्मं तं पुरेकम्मं, तं भिक्खू पडियाए वट्टमाणा करिज्जा वा नो करिज्जा वा अह भिक्खूणं पु० जं० तहप्पगारे उ० नो ठाणं० ॥ ७२ ॥**

छाया—गृहपतयो नामैके शुचिसमाचारा भवन्ति, स भिक्षुश्च अस्नानतया मोकसमाचारः स तद्गन्धः दुर्गन्धः प्रतिकूलः प्रतिलोमश्चापि भवति, यत् पूर्वकर्म तत् पश्चात्कर्म यत् पश्चात्कर्म तत् पुराकर्म तद् भिक्षुप्रतिज्ञया वर्तमानाः कुर्युः वा नो कुर्युः वा अथ भिक्षूणां पूर्वोपदिष्टमेतत् यत् तथाप्रकारे उपाश्रये नो स्थानं वा ३ कुर्यात् ।

**पदार्थ—** नाम-संभावनार्थक है अथवा आमन्त्रण अर्थ में आता है। एगे-कई एक। गाहावई-गृहपति-गृहस्थ लोग। सुइसमायारा-शुचि धर्म के मानने वाले। भवन्ति-होते हैं। य-और। से-वह। भिक्खू-भिक्षु। असिणाणए-स्नान न करने से और। मोयसमायारे-मोक प्रतिमा का आचरण करने से। से-वह भिक्षु। तग्गंधे-तद्गन्ध वाला और। दुग्गंधे-दुर्गन्ध वाला। पडिकूले-प्रतिकूल और। पडिलोमे यावि भवइ-प्रतिलोम होता है, अतः। जं पुव्वंकम्मं-गृहस्थ साधु के कारण से जो पहले कार्य करना है। तं पच्छाकम्मं-उसे पीछे करने लगता है। जं पच्छाकम्मं-जो पीछे कर्म करना है। तं पुरेकम्मं-उसे पहले करने लगता है। तं भिक्खुपडियाए-वह भिक्षु के कारण से भोजन आदि क्रिया प्राप्त काल में। वट्टमाणा-वर्तता हुआ। करिज्जा वा-आगे-पीछे करे अथवा। नो करिज्जा वा-न करे, तथा साधु गृहस्थ के कारण से प्रत्युपेक्षणादि क्रिया आगे-पीछे करने लगे अथवा कालातिक्रम करके क्रिया करे या कम करे या सर्वथा ही न करे। अह-अतः। भिक्खूणं-भिक्षुओं को। पु०-तीर्थकरों ने पहले ही यह उपदेश दिया है। जं-जो। तहप्पगारे-साधु तथाप्रकार के। उवस्सए-उपाश्रय में। नो ठाणं-न ठहरे।

**मूलार्थ—**कई एक गृहस्थ शुचि धर्म वाले होते हैं, और साधु स्नानादि नहीं करते और विशेष कारण उपस्थित होने पर मोक का आचरण भी कर लेते हैं। अतः उनके वस्त्रों से आने वाली दुर्गन्ध गृहस्थ के लिए प्रतिकूल होती है। इस लिए वह गृहस्थ जो कार्य पहले करना है उसे पीछे करता है और जो कार्य पीछे करना है उसे पहले करने लगता है और भिक्षु के कारण भोजनादि क्रियाएं समय पर करे, या न करे। इसी प्रकार भिक्षु भी प्रत्युपेक्षणादि क्रियाएं समय पर नहीं कर सकेगा, अथवा सर्वथा ही नहीं करेगा। इसलिए तीर्थकरादि ने भिक्षुओं को पहले ही यह उपदेश दिया है कि वे इस प्रकार के उपाश्रय में न ठहरें।

**हिन्दी विवेचन—**प्रस्तुत सूत्र में गृहस्थ एवं साधु जीवन के रहन-सहन का अन्तर बताते हुए कहा है कि कुछ गृहस्थ शुद्धि वाले होते हैं। वे स्नान आदि से अपने शरीर को शुद्ध बनाने में ही व्यस्त रहते हैं और साधु सदा आत्मशुद्धि में संलग्न रहता है। वह ज्ञान रूपी सागर की अनन्त गहराई में डुबकियां लगाता रहता है। वह गृहस्थों की तरह स्नान आदि नहीं करता और यदि कभी उसके शरीर पर घाव आदि हो जाता है तो वह औषध के रूप में अपने मूत्र का प्रयोग करके उस घाव को ठीक कर लेता है<sup>१</sup>। इस तरह उसका आचरण गृहस्थ से भिन्न होता है। इसलिए अधिक शौच का ध्यान रखने वाला व्यक्ति मुनि के जीवन को देखकर उससे घृणा कर सकता है। और इस कारण वह गृहस्थ साधु के कारण अपनी क्रियाओं को आगे-पीछे कर सकता है और साधु भी गृहस्थों के संकोच से अपनी आवश्यक क्रियाओं को यथासमय करने में असमर्थ हो जाता है। इस तरह गृहस्थ के कारण साधु की साधना में अन्तराय पड़ती है और साधु के कारण गृहस्थ के दैनिक कार्यों में विघ्न होता है, इससे दोनों के मन में चिन्ता एवं एक-दूसरे के प्रति कुछ बुरे भाव भी आ सकते हैं। अतः मुनि को गृहस्थ के साथ नहीं ठहरना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'मोय समाचारे' का पाठ भी विचारणीय है। वृत्तिकार ने इसका अर्थ कायिक मूत्र माना है। परन्तु, वृत्तिकार ने उसके आचरण करने के विशिष्ट कारण का भी उल्लेख नहीं किया है और उसके पीछे किसी तरह का विशेषण नहीं होने से यह भी स्पष्ट नहीं होता कि वह मूत्र सामान्य है या विशिष्ट? मूत्र सामान्य की अपेक्षा से गो मूत्र का भी ग्रहण हो सकता है और उसे वैदिक एवं लौकिक परम्परा में भी अशुद्ध नहीं माना है।<sup>२</sup> इसके अतिरिक्त 'मोय' शब्द के संस्कृत में मोक, मोच और मोद तीन रूप बनते हैं। इस अपेक्षा से 'मोय समाचारे' की संस्कृत छाया 'मोद समाचारः' बनेगी और इसका अर्थ होगा-प्रसन्नता पूर्वक स्नान का त्याग करने वाला। अर्थात्-ज्ञान के पवित्र सागर में गोते लगाने वाला मुनि। महाभारत आदि ग्रन्थों में भी मुनि के लिए बाह्य स्नान के स्थान में अन्तर स्नान को महत्व दिया गया है। क्योंकि पानी से केवल शरीर की शुद्धि होती है, आत्मा की शुद्धि नहीं होती।

१. इसका यह अर्थ नहीं है कि वह पानी से नफरत करता है या शरीर को अशुचि से आवृत्त रखता है। वह अशुचि दूर करने के लिए अचित्त जल का उपयोग भी करता है। परन्तु वह बिना किसी प्रयोजन के केवल शृंगार के लिए स्नान आदि नहीं करता।

२. वैदिक परम्परा में अशुद्धि को दूर करने तथा पाप आदि की निवृत्ति के लिए पंचगव्य का पान करना श्रेष्ठ माना है और प्रसूता स्त्री को गोमूत्र का पान करा कर या गोमूत्र प्रधान पंचगव्य से स्नान कराकर शुद्ध करने की प्रथा अभी भी प्रचलित है।

आत्मशुद्धि के लिए ज्ञान एवं तप-त्याग का स्नान ही आवश्यक माना गया है<sup>१</sup>। इस तरह 'मोय' का संस्कृत रूप मोद मान लेने पर अर्थ में किसी तरह की असंगति नहीं रहती है। उत्तराध्ययन सूत्र में भी 'मोय' शब्द का 'मोद' के अर्थ में प्रयोग किया गया है। उसमें बताया गया है कि जैसे पक्षी स्वेच्छा पूर्वक आकाश में उड़ानें भरता है, उसी तरह काम-भोग का परित्याग करके लघुभूत बना हुआ मुनि 'अमोयमाणा-प्रमोदमना'<sup>२</sup> अर्थात् प्रसन्नता पूर्वक देश में विचरण करे। इस तरह 'मोय' शब्द का प्रसन्नता अर्थ ही अधिक संगत एवं उपयुक्त प्रतीत होता है।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं-

मूलम्- आयाणमेयं भिक्खुस्स गाहावईहिं सद्धिं सं० इह खलु गाहावइस्स अप्पणो सयट्ठाए विरूवरूवे भोयणजाए उवक्खडिए सिया, अह पच्छा भिक्खुपडियाए असणं वा ४ उवक्खडिज्ज वा उवकरिज्ज वा, तं च भिक्खू अभिकंखिज्जा भुत्तए वा पायए वा, वियट्ठित्तए वा अह भि० जं नो तह० ॥७३॥

आयाणमेयं भिक्खुस्स गाहावइणा सद्धिं सं० इह खलु गाहावइस्स अप्पणो सयट्ठाए विरूवरूवाइं दारुयाइं भिन्नपुव्वाइं भवन्ति, अह पच्छा भिक्खुपडियाए विरूवरूवाइं दारुयाइं भिंदिज्ज वा किणिज्ज वा पामिच्चेज्ज वा दारुणा वा दारुपरिणामं कट्ठु अगणिकायं उ० प०, तत्थ भिक्खू अभिकंखिज्जा आयावित्तए वा पयावित्तए वा वियट्ठित्तए वा, अह भिक्खू० जं नो तहप्पगारे० ॥७४॥

छाया- आदानमेतद् भिक्षोः गृहपतिभिः सार्द्धं संवसतः, इह खलु गृहपतिना आत्मना स्वार्थं विरूपरूपं भोजनजातं उपस्कृतं स्यात्, अथ पश्चाद् भिक्षुप्रतिज्ञया अशनं वा ४ उपस्कुर्यात् वा उपकुर्यात् वा तं च भिक्षुः अभिकांक्षेद् भोक्तुं वा पातुं वा विवर्तितुं वा, अथ भिक्षु० यत् नो तथाप्रकारे उपाश्रये स्थानं वा ३ चेतयेत् ॥ ७३ ॥

आदानमेतद् भिक्षोः गृहपतिना सार्द्धं संवसतः, इह खलु गृहपतिना आत्मना स्वार्थाय विरूपरूपाणि दारूणि भिन्नपूर्वाणि भवन्ति, अथ पश्चाद् भिक्षुप्रतिज्ञया विरूपरूपाणि दारूकाणि भिंद्वाद् वा क्रीणीयाद् वा अपमिमीत दारूणा वा दारुपरिणामं कृत्वा अग्निकायं, उज्ज्वालयेत् प्रञ्चालयेत् वा तत्र भिक्षुः अभिकांक्षेत् आतापयितुं वा परितापयितुं वा, विवर्तितुं वा, अथ भिक्षुः यत् तथाप्रकारे उपाश्रये नो स्थानादि चेतयेत्-कुर्यात् ॥ ७४ ॥

१ ज्ञान पाल परिक्षिप्ते ब्रह्मचर्यं दयाम्भसि, स्नात्वाति विमले तीर्थे पाप पंकापहारिणि । -स्याद्वादमंजरी, कारिका १९ (व्याख्या) तत्राभिषेकं कुरु पांडुपुत्र ! न वारिणा शुद्ध्यति चान्तरात्मा ।

पदार्थ— भिक्षुबुस्स-भिक्षु के लिए। आयाणमेयं-यह एक और भी कर्म बन्ध का कारण है, जैसे कि। गाहावड्ढिं सद्धिं-गृहस्थों के साथ। संवसमाणस्स-बसते हुए को यथा। इह खलु-निश्चय ही इस उपाश्रय में। गाहावड्ढस्स-गृहपति ने। अप्पणो सयट्ठाए-स्वयं अपने लिए। विरुवरूवे-नाना प्रकार के। भोयणजाए-खाद्य पदार्थों को। उवक्खडिए सिया-तैयार किया है। अह-अथ-फिर। पच्छा-पश्चात्-पीछे से। भिक्खुपडियाए-भिक्षुओं के लिए अर्थात् उनके निमित्त। असणं वा ४-चार प्रकार के अशनादिक आहार को। उवक्खडिज्ज वा-बनाता है अथवा। उवकरिज्ज वा-उनके लिए सामग्री एकत्रित करता है। तं च-और उस बनते हुए आहार को साधु। भुत्ताए वा-खाना अथवा। पायए वा-पीना। अभिकंखिज्जा-चाहते हैं और। वियट्ठत्ताए वा-उस आहार का अच्छी तरह से आस्वाद लेना चाहें। अह भि०-अतः तीर्थकरादि ने भिक्षुओं को पहले ही उपदेश किया है कि साधु इस प्रकार के उपाश्रय में। जं नो तह०-न ठहरे।

गाहावड्ढणा सद्धिं-गृहस्थों के साथ। संवसमाणस्स-बसते हुए। भिक्खुबुस्स-भिक्षु को। आयाणमेयं-यह एक और भी कर्म बन्ध का हेतु हो सकता है, यथा। इह खलु-निश्चय ही उस स्थान में। गाहावड्ढस्स-गृहपति ने। अप्पणो सयट्ठाए-स्वयं अपने लिए। विरुवरूवाड्ढं-नाना प्रकार के। दारुयाड्ढं-काष्ठ। भिन्नपुव्वाड्ढं भवंति-जो भेदन करके पहले ही रखे हुए हैं। अह पच्छा-अथ फिर पश्चात् पीछे से। भिक्खुपडियाए-भिक्षु-साधु के लिए। विरुवरूवाड्ढं-नाना प्रकार के। दारुयाड्ढं-काष्ठों को। भिंदिज्ज वा-भेदन करे अथवा। किण्णिज्ज वा-मोल ले अथवा। पामिच्चेज्ज वा-किसी से उधार ले; फिर। दारुणा वा दारुपरिणामं कट्टु-काष्ठ से काष्ठ को संघर्षित करके। अगणिकायं-अग्नि को। उ०-उज्ज्वलित करे। प०-प्रज्वलित करे। तत्थ-वहां पर। भिक्खू-साधु। आयावित्ताए-आताप लेना अथवा। पयावित्ताए वा-विशेष रूप से आताप लेना और। वियट्ठत्ताए वा-अग्नि के आताप में विशेष आसक्त होना। अभिकंखेज्जा-चाहे तो। अह भिक्खू-तीर्थकरादि ने भिक्षु के लिए यह पहले उपदेश दिया है कि। जं नो तहप्पगारे-भिक्षु इस प्रकार के उपाश्रय में स्थानादि न करे।

मूलार्थ—गृहस्थों के साथ निवास करते हुए भिक्षु के लिए यह भी एक कर्म बन्धन का कारण हो सकता है, जैसे कि-गृहस्थ अपने लिए नाना प्रकार का भोजन तैयार करके फिर साधु के लिए चतुर्विध आहार को तैयार करने एवं उसके लिए सामग्री एकत्रित करने में लगेगा, उस आहार को देखकर साधु भी उसका आस्वादन करना चाहेगा या उसमें आसक्त हो जाएगा। इसलिए तीर्थकर भगवान ने पहले ही यह प्रतिपादन कर दिया है कि साधु को इस प्रकार के उपाश्रय में नहीं ठहरना चाहिए।

इसी प्रकार गृहस्थों के साथ ठहरने से भिक्षु को एक यह भी दोष लगेगा कि गृहस्थ ने अपने लिए नाना प्रकार का काष्ठ-ईंधन एकत्रित कर रखा है, फिर वह साधु के लिए नाना प्रकार के काष्ठों का भेदन करेगा, मोल लेगा अथवा किसी से उधार लेगा, और काष्ठ से काष्ठ को संघर्षित करके अग्निकाय को उज्ज्वलित और प्रज्वलित करेगा, और उस गृहस्थ की तरह साधु भी शीत निवारणार्थ अग्नि का अताप लेगा और उसमें आसक्त हो जाएगा। इस लिए भगवान ने साधु के लिए ऐसे मकान में ठहरने का निषेध किया है।

हिन्दी विवेचन— प्रस्तुत उभय सूत्रों में यह बताया गया है कि यदि साधु गृहस्थ के साथ

ठहरेगा तो गृहस्थ अपने लिए भोजन बनाने तथा सर्दी निवारणार्थ ताप के लिए लकड़ी आदि की व्यवस्था कर चुकने के बाद अतिथि रूप में ठहरे हुए साधु के लिए भोजन बनाने की सामग्री एकत्रित करेगा और उसके शीत को दूर करने के लिए लकड़ियां खरीदेगा, उसका छेदन-भेदन कराएगा। उसे ऐसा करते हुए देखकर साधु के भावों में भी परिवर्तन आ सकता है और वह उस भोजन एवं आताप में आसक्त होकर संयम पथ से गिर भी सकता है। क्योंकि आत्मा का विकास एवं पतन भावों पर ही अधारित है। भावों के बनते एवं बिगड़ते विशेष देर नहीं लगती है। जैसे अपस्मार (मृगी) का रोगी पानी को देखते ही मूर्छित होकर गिर पड़ता है। इसी तरह आत्मा में सत्ता रूप से स्थित औदयिक भाव बाहर का निमित्त पाकर जागृत हो उठते हैं और आत्मा को सन्मार्ग के शिखर से पतन के गर्त में गिरा देते हैं। इसलिए साधु को सदा सावधान रहना चाहिए और उसे सदा ऐसे निमित्तों से बचकर रहना चाहिए जिससे उसकी आत्मा पतन की ओर गतिशील हो। इसीलिए आगम में यह आदेश दिया गया है कि साधु को गृहस्थ के साथ नहीं ठहरना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'गाहावइस्स' पद में तृतीया विभक्ति के अर्थ में षष्ठी-विभक्ति का प्रयोग किया गया है और 'उवस्साए' अर्थात् उपाश्रय शब्द का प्रयोग स्थानक के अर्थ में नहीं, प्रत्युत मकान मात्र के अर्थ में हुआ है। और जब हम प्रस्तुत पाठ का गहराई से अध्ययन करते हैं तो उपाश्रय का अर्थ गृहस्थों से युक्त एवं भोजनशाला के त्रिकटवर्ती स्थान विशेष पर ही स्पष्ट होता है। इसे अन्तरगृह भी कहते हैं और कल्पसूत्र में साधु-साध्वी को अन्तरगृह में ठहरने एवं मल-मूत्र के त्याग करने आदि क्रियाओं का निषेध किया गया है और दशवैकालिक सूत्र में भी अन्तरगृह में निवास करने एवं पर्यक आदि पर बैठने का निषेध किया गया है।<sup>१</sup> इससे स्पष्ट होता है कि संयम की सुरक्षा के लिए मुनि को ऐसे मकान में नहीं ठहरना चाहिए जिसमें गृहस्थ अपने परिवार सहित निवसित हो।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं-

मूलम्— से भिक्खू वा० उच्चारपासवणेण उच्चाहिज्जमाणे, राओ वा वियाले वा गाहावइकुलस्स दुवारबाहं अवंगुणिज्जा, तेणे य तस्संधिचारी अणुपविसिज्जा, तस्स भिक्खुस्स नो कप्पइ, एवं वइत्तए-अयं तेणो पविसइ वा नो वा पविसइ, उवल्लियइ वा नो वा०, आवयइ वा नो वा०, वयइ वा नो वा०, तेण हडं अन्नेण हडं, तस्स हडं अन्नस्स हडं, अयं तेणे, अयं उवचरेण अयं हंता, अयं इत्थमकासी, तं तवस्सिं भिक्खुं अतेणं तेणांति संकइ। अह भिक्खूणं पुं जाव नो ठा० ॥ ७५ ॥

छाया- स भिक्षुर्वा उच्चारप्रस्रवणेन उद्बाध्यमानः रात्रौ वा विकाले वा गृहपतिकुलस्य द्वारभागम् अपवृणुयात् स्तेनश्च तत्संधिचारी अनुप्रविशेत्, तस्य भिक्षोः नो

१ सिज्जायरपिंडं च आसंदीपलियंकए।

गिहंतर निसिज्जा य, गायस्सुव्वट्टणाणि य।

- दशवैकालिक सूत्र, ३,५।

कल्पते एवं वक्तुम्-अयं स्तेनः प्रविशति, वा नो वा प्रविशति उपलीयते वा नो वा० आपतति वा नो वा० वदति वा नो वा० तेन हृतं, अन्येन हृतं, तस्य हृतं अन्यस्य हृतं अयं स्तेनः अयं उपचारकः अयं हन्ता अयमत्राकार्षीत्, तं तपस्विनं भिक्षुं अस्तेनं स्तेनमिति शंकेत, अथ भिक्षूणां पूर्वोपदिष्टं यावन्नो स्थानं चेतयेत्।

**पदार्थ-** से-वह। भिक्खू-भिक्षु-साधु। उच्चारपासवणेण-मल-मूत्र से। उक्त्वाहिजमाणे-बाधित-पीड़ित होने से। राओ वा-रात्रि में। वियाले वा-अथवा विकाल में। गाहावइकुलस्स-गृहपति के घर के। दुवारबाहं-द्वार को। अवंगुणिज्जा-खोल कर बाहर निकले। य-और फिर। तेणे-चोर। तस्संधिचारी-और छिद्र देखने वाला व्यक्ति। अणुपविसिज्जा-घर में प्रवेश कर जाए तो। तस्स-उस। भिक्खुस्स-भिक्षु को। एवं-इस प्रकार। वइत्तुं-बोलना। नो कप्पइ-नहीं कल्पता, यथा। अयं तेणो-यह चोर। पविसइ वा-प्रवेश कर रहा है। नो वा पविसइ-अथवा नहीं प्रवेश कर रहा है। उवल्लियइ वा-यह यहां छिप रहा है। नो वा०-अथवा नहीं छिप रहा है। आवयइ वा-नीचे कूदता है। नो वा०-अथवा नीचे नहीं कूदता है। वयइ वा-बोलता है। नो वा०-अथवा नहीं बोलता है। तेण हडं-उसने चोरी की है। अनेण हडं-या अन्य ने चोरी की है। तस्स हडं-उसने उसका माल चुराया है। अन्नस्स हडं-या अन्य का चुराया है। अयं तेणे-यह चोर है। अयं उवचरे-यह उसका उपचारक-संरक्षक है। अयं हन्ता-यह मारने वाला है। अयं इत्थमकासी-इस चोर ने यहां यह काम किया। तं-उस। तवस्सिं-तपस्वी। भिक्खुं-भिक्षु के प्रति। अतेणं-जो चोर नहीं है। तेणंति-चोरपने की। संकइ-अशंका करता है। अह भिक्खूणं-भिक्षुओं को। पु०-तीर्थंकरादि ने पहले ही यह उपदेश दिया है कि इस प्रकार के उपाश्रय में साधु। जाव-यावत्। नो ठा०-कायोत्सर्गादि न करे।

**मूलार्थ-**रात्रि में अथवा विकाल में साधु ने मल-मूत्रादि की बाधा होने पर गृहस्थ के घर का द्वार खोला और उसी समय कोई चोर या उसका साथी घर में प्रविष्ट हो गया तो उस समय साधु तो मौन रहेगा। वह हल्ला नहीं मचाएगा, कि यह चोर घर में घुसता है, अथवा नहीं घुसता है, छिपता है, अथवा नहीं छिपता है, नीचे कूदता है अथवा नहीं कूदता है, बोलता है अथवा नहीं बोलता है, उसने चुराया है, अथवा अन्य ने चुराया है, उसका धन चुराया है, अथवा अन्य का धन चुराया है, यह चोर है, यह उसका उपचारक है, यह मारने वाला है, और इस चोर ने यहां यह कार्य किया है। और साधु के कुछ नहीं कहने पर उसे उस तपस्वी साधु पर जो वास्तव में चोर नहीं है, चोर होने का सन्देह हो जाएगा। इसलिए भगवान ने गृहस्थ से युक्त मकान में ठहरने एवं कायोत्सर्ग का निषेध किया है।

**हिन्दी विवेचन-** प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि साधु रात्रि में या विकाल में मल-मूत्र का त्याग करने के लिए द्वार खोलकर बाहर आए और यदि उसी समय कोई चोर घर में प्रविष्ट होकर छुप जाए और समय पाकर चोरी करके चला जाए। ऐसी स्थिति में साधु उस चोर को चोर नहीं कह सकता है और न हो-हल्ला ही कर सकता है। वह उस चोर को उपदेश दे सकता है। यदि उसने साधु का उपदेश नहीं माना तो उसके चोरी करके चले जाने के बाद गृहस्थ को मालूम पड़ने पर उस साधु पर चोरी का सन्देह हो जाएगा, अतः साधु को ऐसे स्थान में नहीं ठहरना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र से यह स्पष्ट होता है कि जिस मकान में मल-मूत्र के परिष्ठापन का योग्य स्थान न हो वहां साधु को नहीं ठहरना चाहिए तथा यह भी स्पष्ट होता है कि मल-मूत्र के त्याग के लिए साधु द्वार खोलकर जा सकता है एवं वापिस आने पर बन्द भी कर सकता है।

इस सूत्र से यह भी स्पष्ट होता है कि साधु को ऐसे मकान में नहीं ठहरना चाहिए, जिसमें गृहस्थ का कीमती सामान पड़ा हो। इस तरह गृहस्थ के साथ ठहरने से साधु की साधना में अनेक दोष आने की संभावना है। इसलिए साधु को गृहस्थ से युक्त मकान में नहीं ठहरना चाहिए।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्— से भिक्खू वा से जं० तणपुंजेसु वा, पलाल-पुंजेसु वा सअंडे जाव ससंताणए, तहप्पगारे उ० नो ठाणं वा ३। से भिक्खू वा० से जं० तणपुं० पलाल० अप्पंडे जाव चेइज्जा ॥७६ ॥**

छाया— स भिक्षुर्वा स यत् तृणपुंजेषु वा पलालपुंजेषु वा साण्डः यावत् ससन्तानकः तथाप्रकारे उपाश्रये नो स्थानं वा ३। स भिक्षुर्वा स यत् तृणपुंजेषु वा पलालपुं० अल्पाण्डे यावत् चेतयेत्।

पदार्थ— से-वह। भिक्खू वा-भिक्षु अथवा भिक्षुणी। से-वह। जं०-जो फिर उपाश्रय के सम्बन्ध में जाने, जैसे कि-। तणपुंजेसु वा-तृण के समूह में। पलालपुंजेसु वा-पलाल के समूह में। सअंडे-अण्डे। जाव-यावत्। ससंताणए-मकड़ी के जाले हैं तो। तहप्पगारे-इस प्रकार के। उ०-उपाश्रय में साधु। नो ठाणं वा ३-कायोत्सर्गादि क्रिया न करे। से-वह। भिक्खू वा०-भिक्षु-साधु या साध्वी। से-वह। जं०-उपाश्रय को जाने, जैसे कि। तणपुं०-तृण का समूह। पलाल०-अथवा पलाल के समूह में। अप्पंडे-अंडों से रहित है। जाव-यावत् मकड़ी आदि के जालों से रहित है तो इस प्रकार के उपाश्रय में। चेइज्जा-कायोत्सर्गादि क्रिया करे एवं ठहरें।

मूलार्थ—साधु अथवा साध्वी उपाश्रय के संबन्ध में यह जाने कि यदि तृण एवं पलाल का समूह अण्डों से युक्त है, अथवा मकड़ी के जालों से युक्त है तो इस प्रकार के उपाश्रय में कायोत्सर्गादि न करे। वह भिक्षु यदि यह जाने कि यह उपर्युक्त प्रकार का उपाश्रय अण्डों से रहित यावत् मकड़ी के जालों से रहित है, तो इस प्रकार के उपाश्रय में कायोत्सर्गादि क्रियाएं कर सकता है।

हिन्दी विवेचन— प्रस्तुत सूत्र में यह अभिव्यक्त किया गया है कि तृण और पलाल (घास) के पुंजों से निर्मित उपाश्रय अण्डे आदि से युक्त हो तो साधु को वहां नहीं ठहरना चाहिए और न कायोत्सर्ग (ध्यान) ही करना चाहिए। इससे स्पष्ट होता है कि उस युग में साधु गांवों में अधिक भ्रमण करते थे। क्योंकि, घास-फूस की झोंपड़िएं (मकान) प्रायः गांवों में ही मिलती हैं। और इस पाठ से यह भी ध्वनित होता है कि मकान के जिस भाग में साधु को कायोत्सर्ग आदि क्रियाएं करनी हों, उस भाग में अण्डा एवं त्रस जीव आदि न हों। दशवैकालिक सूत्र में भी बताया गया है कि कायोत्सर्ग करते समय या अन्य समय में मुनि के शरीर पर या वस्त्र-पात्र आदि पर ऊपर से त्रस जीव गिर गया हो तो मुनि उसे बिना किसी तरह



का कष्ट पहुँचाए एकान्त स्थान में छोड़ देवे।<sup>१</sup> इस तरह प्रस्तुत पाठ विधि और निषेध दोनों का परिबोधक है। जिस स्थान में साधु को ठहरना हो, कायोत्सर्ग आदि क्रियाएं करनी हों उस स्थान में अंडा आदि नहीं होना चाहिए।

साधु को किस स्थिति में किस तरह के मकान में नहीं ठहरना चाहिए, इस सम्बन्ध में सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्—** से आगंतारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावइकुलेसु वा परियावसहेसु वा अभिक्खणं साहम्मिएहिं उवयमाणेहिं नो उवइज्जा ॥७७॥

**छाया—** स आगन्तागारेषु, वा आरामागारेषु वा गृहपतिकुलेषु वा पर्यावसथेषु वा अभीक्षणं साधर्मिकैः अवपतद्भिः न अवपतेत्।

**यदार्थ—** आगंतारेसु—गांव के बाहर स्थित धर्मशाला आदि जिसमें यात्री ठहरते हैं। आरामागारेसु—बगीचे आदि में लोगों की विश्रान्ति के लिए बने हुए मकान में। गाहावइकुलेसु वा—गृहपति के कुल में। परियावसहेसु वा—तापस आदि के मठ में, यदि। साहम्मिएहिं—अन्य मत के साधु-संन्यासी। अभिक्खणं—बार-बार आते हों, उवयमाणेहिं—और ठहरते हों तो। से—वह निर्ग्रन्थ जैन मुनि, ऐसे स्थानों पर। नो उवइज्जा—मासकल्प आदि न करे।

**मूलार्थ—**धर्मशाला, उद्यान में बने हुए विश्रामगृह, गृहपति कुल एवं तापस आदि के मठों में जहां अन्य मत के साधु बार-बार आते-जाते हों, वहां जैन मुनि को मासकल्प नहीं करना चाहिए।

**हिन्दी विवेचन—** प्रस्तुत सूत्र में धर्मशाला, विश्रामगृह, गृहपति के अतिथ्यालय एवं तापस आदि के मठों में यदि अन्य मत के साधुओं का अधिक आवागमन रहता हो तो साधु को ऐसे स्थानों में मासकल्प नहीं करना चाहिए। इसका कारण यह है कि उनके अत्यधिक आवागमन से वहां का वातावरण शान्त नहीं रह पाएगा और उस कोलाहलमय वातावरण में साधु एकाग्र एवं शान्त मन से स्वाध्याय, ध्यान एवं चिन्तन-मनन नहीं कर सकेगा। दूसरी बात यह है कि जैन मुनि की वृत्ति उनसे कठिन होने के कारण उनकी अधिक प्रतिष्ठा को देखकर वे उससे ईर्ष्या रखने लगेंगे और उसे तंग करने का भी प्रयत्न करेंगे और इस कारण संक्लेश का वातावरण भी बन सकता है और उनके साथ अधिक परिचय होने से श्रद्धा में विपरीतता आने की संभावना रहती है। इसलिए साधु को अन्य मत के भिक्षुओं के अधिक आवागमन वाले स्थान में मासकल्प या चतुर्मास कल्प नहीं करना चाहिए।

इससे स्पष्ट होता है कि साधु को ऐसे स्थानों में परिस्थिति वश एक-दो दिन ठहरना पड़े तो उसका निषेध नहीं है। प्रस्तुत पाठ से यह भी ज्ञात होता है कि उस युग में यात्रियों के ठहरने की सुविधा के लिए गांव के बाहर धर्मशालाएं, विश्रामगृह एवं मठ आदि होते थे और गांव या शहर में गृहपतियों के अतिथ्यालय बने होते थे और उनमें बिना किसी जाति-पाति एवं सम्प्रदाय या पंथ भेद के सबको समान

रूप से ठहरने की सुविधा मिलती थी।

प्रस्तुत सूत्र में 'साहम्मिर्ह' पद का केवल साधर्मिक साधुओं के लिए नहीं, अपितु सभी साधुओं के लिए सामान्य रूप से प्रयोग किया गया है। अतः प्रस्तुत प्रसंग में इसका अर्थ अन्य मत के साधु संन्यासी करना चाहिए। वृत्तिकार ने भी यही अर्थ किया है।

साधु को अपनी विहार मर्यादा में काल का अतिक्रमण नहीं करना चाहिए, इस सम्बन्ध में सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्— से आगंतारेसु वा ४ जे भयंतारो उडुबद्धियं वा वासावासियं वा कप्यं उवाइणित्ता तत्थेव भुज्जो २ संवसन्ति अयमाउसो ! कालाइक्कंतकिरियावि भवति ॥७८ ॥**

छाया— स आगन्तागारेषु वा ४ भयत्रातारः ऋतुबद्धं वा वर्षावासं वा कल्पमुपनीय तत्रैव भूयः २ संवसन्ति अयमायुष्मन् ! कालातिक्रान्तक्रियापि भवति।

पदार्थ— से-वह-भिक्षु। आगंतारेसु वा ४-धर्मशाला आदि में। जे भयंतारो जो पूज्य भगवान। उडुबद्धियं-शीतोष्णकाल में मासकल्पादि तथा। वासावासियं वा-वर्षाकाल-चातुर्मास। कप्यं-कल्प की मर्यादा को। उवाइणित्ता-बिताकर। तत्थेव-वहीं पर। भुज्जो २-पुनः पुनः। संवसन्ति-बिना कारण रहते हैं। अयमाउसो-हे आयुष्मन् शिष्य! यह। कालाइक्कंतकिरियावि-कालातिक्रान्त क्रिया। भवति-होती है।

मूलार्थ—धर्मशाला आदि स्थानों में जो मुनिराज शीतोष्ण काल में मास कल्प एवं वर्षाकाल में चातुर्मासकल्प को बिताकर बिना कारण पुनः वहीं पर निवास करते हैं तो वे काल का अतिक्रमण करते हैं।

हिन्दी विवेचन— प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि जिस स्थान में साधु ने मास कल्प या वर्षावासकल्प किया हो उसे उसके बाद उस स्थान में बिना कारण के नहीं ठहरना चाहिए। यदि बिना किसी विशेष कारण के वे उस स्थान में ठहरते हैं तो कालातिक्रमण दोष का सेवन करते हैं। क्योंकि मर्यादा से अधिक समय तक एक स्थान में रहने से गृहस्थों के साथ अधिक घनिष्ठ परिचय हो जाता है और इससे उनके साथ राग-भाव हो जाता है और इस कारण आहार में भी उद्गमादि दोषों का लगना सम्भव है। और दूसरी बात यह है कि एक ही स्थान पर रुक जाने से अन्य गांवों में धर्म प्रचार भी नहीं होता है। अतः संयम शुद्धि एवं शासनोन्नति की दृष्टि से साधु को मर्यादित काल से अधिक नहीं ठहरना चाहिए। क्योंकि प्रत्येक क्रिया काल-मर्यादा में ही होनी चाहिए। इससे जीवन की व्यवस्था बनी रहती है और तप-संयम भी निर्मल रहता है। आगम में एक प्रश्न किया गया है कि काल की प्रतिलेखना करने से अर्थात् कालमर्यादा का पालन करने से जीव को किस फल की प्राप्ति होती है ? इसका उत्तर देते हुए श्रमण भगवान महावीर ने फरमाया है कि काल मर्यादा का सम्यक्तया परिपालन करने वाला व्यक्ति ज्ञानावरणीय कर्मों की निर्जरा करता है<sup>१</sup>। इसका कारण यह है कि प्रत्येक क्रिया समय पर करने के कारण

१ कालपडिलेहणघाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

कालपडिलेहणघाए णं नाणावरणिज्जं कम्मं खवेइ।

— उत्तराध्ययन सूत्र, २९, १५।

वह स्वाध्याय, ध्यान एवं चिन्तन-मनन के समय का उल्लंघन नहीं करेगा और स्वाध्याय आदि के करने से ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय या क्षयोपशम होगा और उसके ज्ञान में अभिवृद्धि होगी। और समय पर क्रियाएं न करके आगे-पीछे करने से अधिक स्वाध्याय आदि के लिए भी व्यवस्थित समय नहीं निकाल सकेगा। अतः मुनि को मास कल्प एवं वर्षावासकल्प के पश्चात् बिना किसी कारण के काल का अतिक्रमण नहीं करना चाहिए

अब सूत्रकार उपस्थान क्रिया के सम्बन्ध में कहते हैं

**मूलम्—** से आगंतारेसु वा ४ जे भयंतारा उडुबद्धियं वा वासावासियं वा कर्ष्यं उवाङ्गणवित्ता तं दुगुणतिगुणेण वा अपरिहरित्ता तत्थेव भुज्जो संवसन्ति, अयमाउसो ! उवट्ठाणकिरिया यावि भवति ॥७९॥

छाया— स आगन्तागारेषु वा ४ ये भयंतारः ( भयत्रातारः ) ऋतुबद्धं वा वर्षावासं वा कल्पमुपनीय तं द्विगुणत्रिगुणेन वा अपरिहृत्य तत्रैव भूयः संवसन्ति, अयमायुष्मन् ! उपस्थानक्रिया चापि भवति।

पदार्थ— से-वह-भिक्षु। आगंतारेसु वा ४-धर्मशाला आदि स्थानों में। जे भयंतारो-पूज्य मुनिराज। उडुबद्धियं-शीतोष्ण काल में मासकल्प तथा। वासावासियं वा-वर्षाऋतु में चातुर्मास। कर्ष्यं-कल्प को। उवाङ्गणित्ता-बिता कर। तं-वह अन्यत्र। दुगुणतिगुणेण वा-द्विगुण त्रिगुण काल को। अपरिहरित्ता-न बिता कर। तत्थेव-वहीं। भुज्जो-पुनः। संवसन्ति-निवास करते हैं। अयमाउसो-हे आयुष्मन् शिष्य ! यह। उवट्ठाण-किरिया यावि-उपस्थान क्रिया। भवति-होती है, अर्थात् इसे उपस्थान क्रिया कहते हैं।

मूलार्थ—हे आयुष्मन् ( शिष्य ) ! जो साधु धर्मशाला आदि स्थानों में, शेषकाल में मास कल्प आदि और वर्षा काल में चातुर्मासकल्प को बिताकर अन्य स्थानों में द्विगुण या त्रिगुण काल को न बिताकर जल्दी ही फिर उन्हीं स्थानों में निवास करते हैं, तो उन्हें उपस्थान क्रिया लगती है।

हिन्दी विवेचन— प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि साधु-साध्वी ने जिस स्थान में मास कल्प या वर्षावासकल्प किया है, उससे दुगुण या त्रिगुण काल व्यतीत किए बिना उक्त स्थान में फिर से मास या वर्षावास कल्प नहीं करना चाहिए। यदि कोई साधु-साध्वी अन्य क्षेत्र में मर्यादित काल बिताने से पहले पुनः उस क्षेत्र में आकर मास या वर्षावास कल्प करते हैं तो उन्हें उपस्थान क्रिया लगती है। इससे स्पष्ट है कि जिस स्थान में एक महीना ठहरे हों उस स्थान पर दो या तीन महीने अन्य क्षेत्रों में लगाए बिना मास कल्प करना नहीं कल्पता। इसी तरह जहां चातुर्मास किया है उस क्षेत्र में दो या तीन वर्षावास अन्य क्षेत्रों में किए बिना पुनः वर्षावास करना नहीं कल्पता। इस प्रतिबन्ध का कारण यह है कि नए-नए क्षेत्रों में घूमते रहने से साधु का संयम भी शुद्ध रहता है और अनेक क्षेत्रों को उनके उपदेश का लाभ भी मिलता है। और अनेक प्राणियों को आत्म विकास करने का अवसर मिलता है। मुनियों का आवागमन कम होने से कई बार लोगों की श्रद्धा में शिथिलता एवं विपरीतता भी आ जाती है। नन्दन-मणियार का उदाहरण हमारे सामने है। वह व्रतधारी श्रावक था, परन्तु साधुओं का संपर्क कम रहने से, साधुओं का दर्शन न होने से

तथा अन्य धर्म के विचारकों एवं भिक्षुओं का संपर्क रहने से उसकी श्रद्धा में विपरीतता आ गई थी<sup>१</sup>। इसी तरह भगवान् पार्श्वनाथ के पास से श्रावक व्रत स्वीकार करने के बाद सोमल ब्राह्मण को साधुओं का संपर्क नहीं मिला और परिणाम स्वरूप वह भी पथभ्रष्ट हो गया था<sup>२</sup>। इस लिए साधुओं को किसी स्थान विशेष से बंधकर नहीं रहना चाहिए, प्रत्युत उन्हें समभाव पूर्वक सभी क्षेत्रों को संभालते रहना चाहिए। इससे उनकी साधना भी शुद्धरूप से गतिशील रहती है और लोगों की श्रद्धा एवं चारित्र में भी अभिवृद्धि होती है।

अब तृतीय अभिक्रान्त क्रिया का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्—** इह खलु पाईणं वा ४ संतेगइया सड्ढा भवंति, तंजहा-गाहावई वा जाव कम्मकरीओ वा तेसिं च णं आयारगोयरे नो सुनिसंते भवइ, तं सहहमाणेहिं, पत्तियमाणेहिं रोयमाणेहिं बहवे समण-माहण-अतिहि-क्विण-वणीमए समुद्दिस्स तत्थं २ अगारीहिं अगाराइं चेइयाइं भवंति तंजहा-आएसणाणि वा आयतणाणि वा देवकुलाणि वा सहाओ वा पवाणि वा पणियगिहाणि वा पणियसालाओ वा जाणगिहाणि वा जाणसालाओ वा सुहाकम्मंताणि वा दब्भकम्मंताणि वा वंद्धकं० बक्कयकं० इंगालकम्मं० कट्ठकं० सुसाणकं० सुण्णागारगिरिकंदरसंतिसेलोवट्ठाणकम्मंताणि वा भवणगिहाणि वा, जे भयंतरो तहप्पगाराइं आएसणाणि वा जाव गिहाणि वा तेहिं उवयमाणेहिं उवयंति अयमाउसो ! अभिक्कंतकिरिया यावि भवइ ३ ॥८० ॥

**छाया—** इह खलु प्राचीनं वा ४ सन्ति एकका श्राद्धा भवन्ति, तद्यथा-गृहपतिर्वा यावत् कर्मकर्यो वा तेषां च आचारगोचरः न सुनिशान्तो भवति, तत् श्रद्धानैः प्रतीयमानैः रोचमानैः बहवः श्रमण-ब्राह्मण-अतिथि-कृपण-वनीपकान् समुद्दिश्य तत्र २ अगारिभिः अगाराणि चेतितानि भवन्ति, तद्यथा- आदेशनानि वा आयतनानि वा देवकुलानि वा सभाः वा प्रपाः वा पण्यगृहाणि वा पण्यशालाः वा यानगृहाणि वा यानशालाः वा सुधाकर्मान्तानि वा दर्भकर्मान्तानि वा वर्धकर्मान्तानि वा वल्कजकर्मान्तानि वा अंगारकर्मान्तानि वा काष्ठकर्मान्तानि वा श्मशानकर्मान्तानि वा शून्यागारगिरि-कंदर शान्ति-शैलोपस्थानकर्मान्तानि वा भवनगृहाणि वा ये भयत्रातारः तथाप्रकाराणि आदेशनानि वा यावत् गृहाणि वा तैः अवपतद्भिः अवपतन्ति अयमायुष्मन् ! अभिक्रान्तक्रिया चापि भवति ।

**पदार्थ—** इह-प्रज्ञापक की अपेक्षा से। खलु-वाक्यालंकार में है। पाईणं-पूर्वादि दिशाओं में।

१ ज्ञाता सूत्र, अध्या० १३।

२ पुष्किया सूत्र।

संतेगड्या-कई एक। सड्ढा भवति-श्रद्धालु गृहस्थ होते हैं। तंजहा-यथा। गाहावई वा-गाथापति। जाव-यावत्। कम्मकरीओ वा-दासियां। णं-वाक्यालंकार में है। तेसिं च-उन्होंने। आचारगोयेरे-साधु का आचार-विचार। नो सुनिसंते-भली-भांति श्रवण नहीं किया। भवइ-है, किन्तु उपाश्रय आदि का दान देने से स्वर्गादि का श्रेष्ठ फल मिलता है यह सुन रखा है। तं-उसकी। सइहमाणेहिं-श्रद्धा करने से। पत्तियमाणेहिं-प्रतीति करने से। रोयमाणेहिं-रूचि करने से। बहवे-बहुत से। समण-शाक्यादि श्रमण। माहण-ब्राह्मण। अतिहिं-अतिथि। किवण-कृपण। वणीमग-दरिद्र-भिखारी इनको। समुद्दिस्स-उद्देश्य करके। आगारीहिं-गृहस्थों ने। तत्थ तत्थ-जहां-तहां। आगाराइं-अपने और श्रमण आदि के लिए घर एवं। चेइयाइं भवति-उपाश्रय बनाए हुए हैं। तंजहा-जैसे कि। आएसणाणि वा-लुहार आदि की शाला। आयतणाणि वा-धर्मशाला। देवकुलाणि वा-देवमंदिर-देहरा। सहाओ वा-सभाभवन। पवाणि वा-प्रपा-पानी पिलाने का स्थान-प्याऊ आदि। पणियगिहाणि वा-दुकान। पणियसालाओ वा-पुण्यशाला-मालगोदाम आदि। जाणगिहाणि वा-रथ शाला-जहां रथ आदि ठहराए जाते हैं। जाणसालाओ वा-यानशाला-जहां रथ आदि यान बनाए जाते हैं। सुहाकम्मंताणि वा-चूने का कारखाना। दब्भकम्मंताणि वा-जहां कुशा की वस्तुएं बनाई जाती हैं। बद्धकं-जहां चमड़े की बाध बनाई जाती है। बक्कयकं-जहां छाल आदि तैयार की जाती है। इंगालकम्मं-जहां कोयले बनाए जाते हैं। कट्ठकं-जहां काठ आदि घड़ा जाता है। सुसाणकं-जहाँ श्मशान में कूपादि बनाए जाते हैं। सुण्णागार-शून्यागार-शून्यगृह। गिरिकंदर-पहाड़ के ऊपर बने हुए घर और गुफा आदि। संति-शान्ति कर्म के लिए बने हुए मन्दिर। सेलोवट्ठाण कम्मंताणि वा-पर्वत-भवन, पाषाणमण्डप। भवणगिहाणि वा-तलघर इत्यादि। जे भयंतारो-जो पूज्य साधु। तहप्पगाराइं-तथाप्रकार के। आएसणाणि वा जाव गिहाणि-लुहारशाला आदि को। तेहिं उवयमाणेहिं-अन्य मत के भिक्षुओं या गृहस्थों ने भोग लिया है और उन स्थानों में। उवयंति-साधु ठहरते हैं तो। आउसो-हे आयुष्मन् शिष्य ! अयं-यह। अभिक्कंतकिरिया-अभिक्रान्तक्रिया। भवइ-होती है अर्थात् इस प्रकार के स्थानों में उतरने से साधु को कोई दोष नहीं लगता है।

मूलार्थ—हे आयुष्मन् शिष्य ! इस संसार में पूर्वादि दिशाओं में कई व्यक्ति श्रद्धा और भक्ति से युक्त होते हैं। जैसे कि-गृहपति यावत् उनके दास-दासियां। उन्होंने साधु का आचार और व्यवहार तो सम्यक्तया नहीं सुना है परन्तु यह सुन रखा है कि उन्हें उपाश्रय आदि का दान देने से स्वर्गादि का फल मिलता है और इस पर श्रद्धा, विश्वास एवं अभिरूचि रखने के कारण उन्होंने बहुत से शाक्यादि श्रमण, ब्राह्मण, अतिथि, कृपण और भिखारी आदि का उद्देश्य करके तथा अपने कुटुम्ब का उद्देश्य रख कर अपने-अपने गांवों या शहरों में उन गृहस्थों ने बड़े-बड़े मकान बनाए हैं। जैसे कि लोहकार की शालाएं, धर्मशालाएं, देवकुल, सभाएं, प्रपाएं, प्याऊ, दुकानें, मालगोदाम, यानगृह, यानशालाएं, चूने के कारखाने, कुशा के कारखाने, बर्ध के कारखाने, बल्कल के कारखाने, कोयले के कारखाने, काष्ठ के कारखाने, श्मशान भूमि में बने हुए मकान, शून्यगृह, पहाड़ के ऊपर बने हुए मकान, पहाड़ की गुफा शान्तिगृह, पाषाण मण्डप भूमिघर-तहखाने इत्यादि और इन स्थानों में श्रमण-ब्राह्मणादि अनेक बार ठहर चुके हैं। यदि ऐसे स्थानों में जैन भिक्षु भी ठहरते हैं तो उसे अभिक्रान्त क्रिया कहते हैं अर्थात् साधु को ऐसे मकान में ठहरना कल्पता है।

**हिन्दी विवेचन**— प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि साधु के आचार एवं व्यवहार से अपरिचित श्रद्धा-निष्ठ, भद्रपरिणामों वाले गृहस्थों ने शाक्य आदि अन्यमत के भिक्षुओं के ठहरने के लिए या अपने व्यवसाय आदि के लिए कुछ मकान बनाए हैं और वे मकान अन्यमत के साधु-संन्यासियों एवं गृहस्थों द्वारा अभिक्रान्त हो चुके हैं अर्थात् भोग लिए गए हैं तो साधु उसमें ठहर सकता है और उसकी इस वृत्ति को अभिक्रान्त क्रिया कहा गया है। अन्य भिक्षुओं एवं गृहस्थों द्वारा मकान के अभिक्रान्त होने की क्रिया के आधार पर ही इस क्रिया का नाम अभिक्रान्त क्रिया रखा गया है।

प्रस्तुत पाठ में अभिव्यक्त किए गए मकानों के नाम से उस युग में चलने वाले विविध व्यापारों का स्पष्ट परिचय मिलता है। और यह भी स्पष्ट होता है कि उस युग में देवी-देवताओं के मन्दिर, भिक्षुओं के लिए मठ, धर्मशालाएं एवं पहाड़ों पर विश्रामगृह तथा गुफाएं बनाने की परम्परा रही है। वर्तमान में उपलब्ध अनेक विशाल गुफाओं से-जिनमें रहने के लिए प्रकोष्ठ भी बने हैं, उस युग की प्रवृत्तियों का स्पष्ट परिज्ञान होता है।

'सङ्घा' शब्द का वृत्तिकार ने 'श्रावकाः वा प्रकृति भद्रकाः अर्थात् भद्र प्रकृति के श्रावक' अर्थ किया है। परन्तु, मूल पाठ में यह भी स्पष्ट कर दिया है कि ऐसे श्रद्धालु भक्त जो साध्वाचार से अपरिचित हैं। इससे स्पष्ट होता है कि वे श्रद्धालु व्यक्ति श्रावक नहीं हो सकते। क्योंकि श्रावक साध्वाचार से अपरिचित नहीं हो सकता, अतः वृत्तिकार का अर्थ मूलपाठ से संगत प्रतीत नहीं होता।

इस पाठ से यह स्पष्ट होता है कि साधु को निर्दोष एवं सीधे-सादे मकानों में ठहरना चाहिए। जिससे उनकी साधना में किसी तरह का दोष न लगे। इसी कारण आगम में मनोहर एवं सुसज्जित मकानों में तथा गृहस्थ के साथ ठहरने का निषेध किया गया है। जितना एकान्त, सादा एवं निर्दोष स्थान होगा जीवन में उतनी ही अधिक समाधि एवं शान्ति रहेगी! इसलिए साधक को बगीचों में, श्मशान एवं शून्य गृहों में ठहरने का भी आदेश दिया गया है<sup>१</sup>। और इस पाठ से भी स्पष्ट होता है कि उस युग में श्मशान, जंगल एवं गिरिकन्द्राओं में भी स्थान बने होते थे, जिनमें वानप्रस्थ संन्यासी निवास किया करते थे और ऐसे निर्दोष एवं शान्त वातावरण वाले स्थानों में जैन साधु भी ठहर जाते थे और ऐसे स्थान उनकी आत्मसमाधि एवं चिन्तन में सहायक होते थे।

अब अनभिक्रान्त क्रिया का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्— इह खलु पाईणं वा जाव रोयमाणेहिं बहवे समण-माहण-  
अतिहि-किवण-वणीमए समुद्दिस्स तत्थ तत्थ अगारीहिं अगाराइं चेइयाइं भवंति  
तं० आएसणाणि वा जाव भवणगिहाणि वा, जे भयंतारो तहप्यगाराणि**

१ इंदियाणि उ भिक्खुस्स, तारिसम्मि उक्खसए ।  
दुक्कराइं निवारोउं, कामरागविविड्ढणे ॥  
सुसाणे सुन्नगारे वा, रुक्खमूले व इक्कओ ।  
पइरिक्के परकडे वा, वासं तत्थाभिरोगए ॥

आएसणाणि जाव गिहाणि वा तेहिं अणोवयमाणेहिं उवयंति अयमाउसो !  
अणाभिवक्कंतकिरिया यावि भवइ ॥८१ ॥

छाया— इह खलु प्राचीनं वा यावत् रोचमानैः बहून् श्रमण-ब्राह्मण-अतिथि-कृपण-वनीपकान् समुद्दिश्य तत्र तत्र अगारिभिः अगाराणि चेतितानि भवन्ति, तद्यथा-आदेशनानि वा यावत् भवनगृहाणि वा, ये भयत्रातारः तथाप्रकाराणि आदेशनानि यावद् गृहाणि वा तैः अनवपतद्भिः अवपतन्ति, अयमायुष्मन् ! अनभिक्रान्तक्रिया चापि भवति ।

पदार्थ— इह-इस संसार में। खलु-निश्चय ही। पाईणं-पूर्वादि दिशाओं में जो श्रद्धालु गृहस्थ रहते हैं, साधु क्रिया को नहीं जानते हैं परन्तु बसती दान का स्वर्गफल उन्होंने सुना है और उस पर। जाव-यावत् श्रद्धा और। रोयमाणेहिं-रूचि करने से। बहवे-बहुत से। समणमाहणअतिहिकिवणवणीमए-शाक्यादि श्रमण, ब्राह्मण, अतिथि, कृपण और वनीपकों को। समुद्दिस्स-उद्देश्य करके। तत्थ तत्थ-जहां तहां। अगारीहिं-उन-गृहस्थों ने। अगारइं-गृह। चेइयाइं-बड़े विशाल रूप में बनाए हैं। तं-जैसा कि। आएसणाणि-लोहकार शाला। जाव-यावत्। भवणगिहाणि-तलघर आदि। जे-जो। भयंतारो-पूज्य मुनिराज। तहप्यं-तथाप्रकार के। आएसणाणि-लोहकार शाला। जाव-यावत्। गिहाणि-तलघरों में जो कि। तेहिं-उन गृहस्थों और शाक्यादि श्रमणों से। अणोवयमाणेहिं-उपयोग में नहीं लिए गए हैं। उवयंति-ठहरते हैं तो। अयमाउसो-हे आयुष्मन् शिष्य ! यह। अणाभिवक्कंतकिरिया यावि भवइ-अनभिक्रान्त क्रिया है।

मूलार्थ—हे आयुष्मन् शिष्य ! संसार में बहुत से श्रद्धालु गृहस्थ ऐसे हैं जो साधु के आचार विचार को नहीं जानते हैं, परन्तु बसती दान के स्वर्गादि फल को जानते हैं। अस्तु, उन लोगों ने उक्त स्वर्ग के फल पर श्रद्धा और अभिरूचि करते हुए शाक्यादि श्रमणों का उद्देश्य करके लोहकार शाला यावत् तलघर आदि बनाए हैं। यदि ये लोहकारशाला यावत् तलघर आदि स्थान, गृहस्थों ने तथा शाक्यादि श्रमणों ने अपने उपभोग में नहीं लिए हैं, अर्थात् बनने के बाद वे खाली ही पड़े रहे हैं। ऐसे स्थानों में यदि जैन साधु ठहरते हैं तो उन्हें अनभिक्रान्त क्रिया लगती है।

हिन्दी विवेचन— प्रस्तुत सूत्र में पूर्व सूत्र में अभिव्यक्त की गई बात को दोहराते हुए कहा गया है कि यदि किसी श्रद्धालु गृहस्थ द्वारा शाक्य आदि श्रमणों एवं अपने उपभोग के लिए बनाए गए स्थानों में वे अन्यमत के श्रमण एवं गृहस्थ ठहरे नहीं हैं; उन्होंने उस मकान को अपने उपभोग में नहीं लिया है, तो जैन साधु को वहां नहीं ठहरना चाहिए। इसमें आरम्भ आदि के दोष की दृष्टि के अतिरिक्त एक कारण यह भी है कि यदि कालान्तर में उस मकान में कोई उपद्रव हो गया या उससे कोई विशेष लाभ नहीं हुआ तो लोगों में यह अपवाद फैल सकता है कि इसमें सबसे पहले जैन मुनि ठहरे थे। अतः इस तरह की भ्रान्ति न फैले इस दृष्टि से भी साधु को पुरुषान्तरकृत मकान में ही ठहरना चाहिए।

अब वर्णाभिधान क्रिया का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— इह खलु पाईणं वा ४ जाव कम्मकरीओ वा, तेसिं च णं एवं

वुत्तपुव्वं भवइ-जे इमे भवंति समणा भगवंतो जाव उवरया मेहुणाओ धम्माओ, नो खलु-एएसिं भयंताराणं कप्पइ आहाकम्मिए उवस्सए वत्थए, से जाणिमाणि अम्हं अप्पणो सयट्ठाए चेइयाइं भवंति, तं-आएसणाणि वा जाव गिहाणि वा, सव्वाणि ताणि समणाणं निसिरामो, अवियाइं वयं पच्छा अप्पणो सयट्ठाए चेइस्सामो, तं-आएसणाणि वा जाव, एयप्पगारं निग्घोसं सुच्चा निसम्म जे भयंतारो तहप्पं आएसणाणि वा जाव गिहाणि वा उवागच्छंति इयराइयरेहिं पाहुडेहिं वट्ठंति, अयमाउसो ! वज्जकिरिया यावि भवइ ॥८२ ॥

छाया- इह खलु प्राचीनं वा ४ यावत् कर्मकर्यो वा तेषां च एवमुक्त-पूर्वं भवति-ये इमे भवंति श्रमणाः भगवन्तो यावत् उपरताः मैथुनाद् धर्मात्, नो खलु एतेषां भयत्रातृणां कल्पते आधाकर्मिकं उपाश्रये वसितुं, अथ यानि इमानि अस्माभिः आत्मनः स्वार्थाय चेतितानि भवन्ति, तद्यथा-आदेशनानि वा यावत् गृहाणि वा सर्वाणि तानि श्रमणेभ्यो निसृजामः । अपि च वयं पश्चाद् आत्मनः स्वार्थाय करिष्यामः । तद्यथा आदेशनानि वा यावत् एतत् प्रकारं निर्घोषं श्रुत्वा निशम्य ये भयत्रातारः तथाप्रकाराणि आदेशनानि वा यावत् गृहाणि वा उपागच्छन्ति इतरेतरेषु प्राभृतेषु वर्तन्ते अयमायुष्मन् ! वर्ज्यक्रिया चापि भवति ।

पदार्थ- इह-इस संसार में । खलु-वाक्यालंकार में है । पाईणं ४-पूर्वादि दिशाओं में कई एक श्रद्धालु व्यक्ति होते हैं यथा- । जाव-यावत् । कम्मकरीओ-दासी आदि वे सब । एवं वुत्तपुव्वं भवइ-वे परस्पर ऐसा कहते हैं । जे-जो । इमे-ये । समणा-श्रमण । भगवंतो-भगवान् । जाव-यावत् । मेहुणाओ धम्माओ-मैथुन धर्म से । उवरया-उपरत हैं । खलु-पूर्ववत् । एएसिं-इन । भयंताराणं-भगवन्तों को । आहाकम्मिए-आधाकर्मिक । उवस्सए-उपाश्रय में । वत्थए-वसना । नो कप्पइ-नहीं कल्पता है । से-वह । जाणि-जो । इमाणि-ये । अम्हं-हमने । अप्पणो-अपने । सयट्ठाए-निजी प्रयोजन के लिए । चेइयाइं भवंति-ये विशाल मकान बनाए हैं । तं-जैसे कि । आएसणाणि वा-लोहकारशाला । जाव-यावत् । गिहाणि-तलघर आदि । ताणि-वे । सव्वाणि-सब । समणाणं-इन श्रमणों के लिए । निसिरामो-दे देते हैं । अवियाइं-अपि च । वयं-हम । पच्छा-बाद में । अप्पणो सयट्ठाए-अपने लिए और मकान । चेइस्सामो-बना लेंगे । तं-जैसे कि । आएसणाणि-लोहकार शाला आदि । जाव-यावत् तलघर आदि । एयप्पगारं-इस प्रकार के । निग्घोसं-निर्घोष-वचन को । सुच्चा-सुनकर । निसम्म-हृदय में विचार कर । जे-जो । भयंतारो-मुनिराज । तहप्पगां-तथाप्रकार के । आएसणाणि-लोहकारशाला । जाव-यावत् । गिहाणि वा-तलघर आदि में । उवागच्छंति-आकर ठहरते हैं और । इयराइयरेहिं पाहुडेहिं-छोटे-बड़े दिए हुए घरों को । वट्ठंति-वर्तते हैं-उपयोग में लाते हैं । अयमाउसो-हे आयुष्मन् शिष्य ! वज्जकिरिया यावि भवइ-यह वर्ज्य क्रिया होती है ।

मूलार्थ-संसार में पूर्वादि दिशाओं में बहुत से ऐसे श्रद्धालु गृहस्थ यावत् दास-दासी



अनेक व्यक्ति हैं जो साधु के आचार-विचार को जानते हैं, फलतः परस्पर बातचीत करते हुए कहते हैं कि-ये पूजनीय जैन साधु मैथुन धर्म से सर्वथा उपरत हैं एवं सावद्य क्रियाओं से विरक्त हैं। अतः इन्हें आधाकर्मिक- आधाकर्म दोष से दूषित उपाश्रय में बसना नहीं कल्पता है। अस्तु, हमने अपने लिए जो लोहकार शाला आदि मकान बनाए हैं, वे सब इन श्रमणों को दे देते हैं। और हम अपने लिए दूसरे नए लोहकार शाला आदि मकान बना लेंगे। गृहस्थों के उक्त निर्घोष को सुनकर तथा समझ कर भी जो मुनि-साधु तथा प्रकार के छोटे-बड़े लोहकार शाला आदि, गृहस्थों द्वारा दिए गए मकानों में उतरते हैं तो हे आयुष्मन् शिष्य ! उन्हें वर्ज्यक्रिया लगती है, अर्थात् जो साधु ऐसे स्थानों में ठहरता है उसे वर्ज्यक्रिया का दोष लगता है।

**हिन्दी विवेचन-** प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि जो श्रद्धालु गृहस्थ साध्वाचार से परिचित हैं, वे अपने-अपने परिजनों को बताते हैं कि ये जैन साधु आधाकर्म आदि दोष युक्त उपाश्रय में नहीं ठहरते हैं। अतः हम अपने लिए बनाए हुए मकान इन्हें ठहरने को दे देते हैं। अपने रहने के लिए दूसरा मकान बना लेंगे। इस तरह के विचारों को सुनकर साधु को उस मकान में नहीं ठहरना चाहिए। यदि यह जानने के पश्चात् भी वह उस मकान में ठहरता है तो उसे वर्ज्यक्रिया लगती है।

स्थानांग सूत्र में 'वज्र' शब्द की व्याख्या करते हुए आचार्य अभयदेव सूरि ने लिखा है- 'वज्रंति-वर्ज्यंति इतिवर्ज्यं, अवद्यं व अकार लोपात् वज्रवत् वज्र वा गुरुत्वात् हिंसा नृतादि पापं कर्म' अर्थात् 'वज्र की तरह भारी हिंसा, झूठ आदि पापों को वर्ज्य कहते हैं। और तत्सम्बन्धी क्रिया को वर्ज्य क्रिया कहते हैं।' इस अपेक्षा से ५ आश्रव वज्र या वर्ज्य हैं। अतः साधु के निमित्त इन दोषों से आहार या उपाश्रय यदि बनाया गया हो और साधु उसे जानते हुए भी उसका उपभोग कर रहा हो तो उसे वर्ज्य दोष लगता है। अतः साधु को ऐसे मकान में ठहरना नहीं कल्पता।

अब महावर्ज्य क्रिया का स्पष्टीकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं-

**मूलम्-** इह खलु पाईणं वा ४ संतेगइया सड्ढा भवंति, तेसिं च णं आयारगोयरे जाव तं रोयमाणोहिं बहवे समणमाहण जाव वणीमगे पगणिय २ समुद्दिस्स तत्थ तत्थ आगारिहिं अगाराइं चेइयाइं भवंति तं-आएसणाणि वा जाव गिहाणि वा, जे भयंतारो तहप्पगाराइं आएसणाणि वा जाव गिहाणि वा उवागच्छंति इयराइयरेहिं पाहुडेहिं अयमाउसो ! महावज्जकिरियायावि भवइ ॥८३॥

**छाया-** इह खलु प्राचीनं वा ४ सन्ति एककाः श्राद्धा भवन्ति, तेषां च आचारगोचरः यावत् तद् रोचमानैः बहून् श्रमणब्राह्मणान् यावत् वनीपकान् प्रगणय्य प्रगणय्य समुद्दिश्य अगारिभिः अगाराणि कृतानि भवन्ति, तद्यथा-आदेशनानि वा यावद् गृहाणि वा ये भयत्रातारः तथाप्रकाराणि आदेशनानि वा यावद् गृहाणि वा उपागच्छन्ति इतरेतरेषु प्राभृतेषु ), अयमायुष्मन्, महावज्रक्रिया चापि भवति।

**पदार्थ**—इह-इस संसार में। खलु-वाक्यालंकार सूचक अव्यय है। पाईणं वा ४-पूर्वादि दिशाओं में। एगइया-ऋई एक। सइढा-श्रद्धा वाले गृहस्थ। भवंति-रहते हैं। तैसिं च षं-उन्होंने। आयारगोयेर-आचार-विचार। जाव-यावत्। तं-उसके स्वर्गादि फल की। रोयमाणेहि-रुचि करने से। बहवे-बहुत से। समणमाहण-श्रमण और ब्राह्मण। जाव-यावत्। वणीमगे-भिखारी आदि को। पगणिय पगणिय-गिन-गिन कर और। समुद्धिस्स-उनको उद्देश्य करके। तत्थ तत्थ-जहां तहां। अगारिहिं-गृहस्थों ने। अगाराइं-कई मकान। चेइयाइं भवंति-बनाए हैं। तंजहा-जैसे कि। आएसणाणि वा-लोहकारशाला आदि। जाव-यावत्। गिहाणि वा-गृह-तलघर आदि। जे भयंतारो-जो पूज्य मुनिराज। तहप्पगाराइं-तथाप्रकार के। आएसणाणि वा-लोहकार शाला आदि। जाव-यावत्। गिहाणि-गृहों में। इयराइयेरिहिं-छोटे-बड़े। पाहुडेहिं-प्राभुत स्वरूप दिए गए उपाश्रयों में। उवागच्छंति-आते हैं और रहते हैं। अयमाउसो-हे आयुष्मन् शिष्य ! यह। महावज्जकिरिया यावि भवइ-महावर्ज्य क्रिया होती है।

**मूलार्थ**—इस संसार में पूर्वादि दिशाओं में बहुत से ऐसे श्रद्धालु गृहस्थ हैं जो साधु ( जैन मुनि ) के आचार-विचार को सम्यक्तया नहीं जानते हैं, परन्तु साधु को बसती दान देने के स्वर्गादि फल को सम्यक्तया जानते हैं और उस पर श्रद्धा-विश्वास तथा अभिरुचि रखते हैं। उन गृहस्थों ने बहुत से श्रमण, ब्राह्मण यावत् भिखारियों को गिन-गिन कर तथा उनका लक्ष्य करके लोहकार शाला आदि विशाल भवन बनाए हैं। जो पूज्य मुनिराज तथाप्रकार के छोटे-बड़े और गृहस्थों द्वारा सहर्ष भेंट किए गए उक्त लोहकार शाला आदि गृहों में आकर ठहरते हैं तो हे आयुष्मन् शिष्य ! यह उनके लिए महावर्ज्य क्रिया होती है, अर्थात् उनको यह क्रिया लगती है।

**हिन्दी विवेचन**—प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि कुछ श्रद्धालु लोग साध्वाचार से अनभिज्ञ हैं, परन्तु वे साधु को मकान का दान देने में स्वर्ग आदि की प्राप्ति के फल को जानते हैं और इस कारण उन्होंने श्रमण, भिक्षु आदि को लक्ष्य में रखकर उनके ठहरने के लिए मकान बनाए हैं। साधु को ऐसे मकान में नहीं ठहरना चाहिए, यदि वह ऐसे मकानों में ठहरता है तो उसे महावर्ज्य दोष लगता है। इस पर यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि गृहस्थ ने शाक्य आदि श्रमणों के लिए मकान बनाया है और वे उस मकान में ठहर भी चुके हैं, तो फिर साधु उस मकान में ठहरता है तो उसे महावर्ज्य क्रिया कैसे लगती है ? इसका समाधान यह है कि श्रमण शब्द का प्रयोग निर्ग्रन्थ के लिए भी होता है। आगम में बताया गया है— १-निर्ग्रन्थ ( जैन साधु ), २-बौद्ध भिक्षु, ३-तापस, ४-गैरिक ( संन्यासी ) और ५-आजीवक ( गौशालक मत के साधु ) आदि ५ सम्प्रदायों के साधुओं के लिए श्रमण शब्द का प्रयोग होता रहा है<sup>१</sup>। अतः श्रमण शब्द से जैन साधु का ग्रहण किया गया है, क्योंकि बौद्ध भिक्षुओं आदि के लिए भिक्षु शब्द का भी प्रयोग

१ से किं तं पासंड नामे ? समणे य पंडुरंगे भिक्खु, कावालिए अ तावसिए परिवायगे से तं पासंडनामे।

— अनुयोगद्वारा सूत्र।

वृत्ति — इह येन यत् पाषण्डमाश्रितं तस्य तन्नाम स्थाप्यमानं पाषण्ड स्थापना नामाभिधीयते तत्र निगंथ, सक्क, तावस, गेरुक्क, आजीव पंचहा समणा इति वचनात् निर्ग्रन्थादि पंच पाषण्डान्याश्रित्य श्रमण उच्यते एवं नैयायिकादि पाषण्डमाश्रितं पांडुरंगादयो भावनीया, नवरं भिक्षुर्बुद्धेदर्शनाश्रितः।

— आचार्य श्री मल्लधारी हेमचन्द्र।

क्रिया गया है। अतः जिस मकान को बनाने में जैन साधु का लक्ष्य रखा गया हो उस मकान के पुरुषान्तर होने पर भी जैन साधु को उसमें नहीं ठहरना चाहिए। यदि वह उसमें ठहरता है तो उसे महावर्ज्य क्रिया (दोष) लगती है।

अब सावद्य क्रिया को अभिव्यक्त करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्—** इह खलु पाईणं वा ४ संतेगइया जाव तं सहमाणेहिं तं पत्तियमाणेहिं तं रोयमाणेहिं बहवे समणमाहणअतिहिकिवणवणीमगे पगणिय २ समुद्दिस्स तत्थ तत्थ अगारीहिं अगाराइं चेइयाइं भवंति, तं-आएसणाणि वा जाव भवणगिहाणि वा जे भयंतारो तहप्पगाराणि आएसणाणि वा जाव भवणगिहाणि वा उवागच्छंति इयराइयरेहिं पाहुडेहिं अयमाउसो ! सावज्ज-किरिया यावि भवइ ॥८४॥

**छाया—** इह खलु प्राचीनं वा ४ सन्त्येकका यावत् तत् श्रद्धधानैः तत् प्रतीयमानैः तद् रोचयमानैः बहून् श्रमणब्राह्मणातिथिकृपणवनीपकान् प्रगण्य प्रगण्य समुद्दिश्य तत्र तत्र अगारिभिः अगाराणि कृतानि भवंति, तद्यथा-आदेशनानि वा यावद् भवनगृहाणि वा ये भयत्रातारः तथा प्रकाराणि आदेशनानि वा यावत् भवनगृहाणि उपागच्छन्ति, इतरेतरेषु प्राभृतेषु, इयमायुष्मन् ! सावद्यक्रिया चापि भवति।

**पदार्थ—** इह-संसार में। खलु-निश्चय। पाईणं वा ४-पूर्वादि दिशाओं में। संतेगइया-कई एक श्रद्धालु गृहस्थ ऐसे हैं, जिन्होंने उपाश्रय के दान के फल को सुन रखा है। तं-उस फल के प्रति। सहमाणेहिं-श्रद्धा करने से। तं पत्तियमाणेहिं-उस पर प्रतीति करने से। तं रोयमाणेहिं-उस पर रुचि करने से। बहवे-बहुत से। समणमाहणअतिहिकिवणवणीमगे-श्रमण-ब्राह्मण-अतिथि-कृपण और वनीपकों को। पगणिय २-गिन-गिनकर तथा उनको। समुद्दिस्स-उद्देश्य करके। अगारीहिं-गृहस्थों ने। तत्थ तत्थ-जहां-तहां। अगाराइं-मकान। चेइयाइं-बनाए। भवंति-हैं। तंजहा-जैसे कि। आएसणाणि वा-लोहकार शाला। जाव-यावत्। भवणगिहाणि वा-तल घर आदि। जे-जो। भयंतारो-पूज्य मुनिराज। तहप्पगाराणि-तथाप्रकार के। आएसणाणि वा-लोहकार शाला। जाव-यावत्। भवणगिहाणि-तलघर आदि उक्त। इयराइयरेहिं-छोटे-बड़े। पाहुडेहिं-भेंट स्वरूप दिए हुए उपाश्रयों में। उवागच्छंति-उतरते हैं तो। इयमाउसो-हे आयुष्मन् शिष्य ! यह। सावज्जकिरिया यावि भवइ-यह सावद्य क्रिया होती है।

**मूलार्थ—** इस संसार में बहुत पूर्वादि दिशाओं में बहुत से ऐसे श्रद्धालु गृहस्थ हैं जो उपाश्रय दान के फल पर श्रद्धा करने से, प्रीति करने से और रुचि करने से बहुत से श्रमण, ब्राह्मण, अतिथि, कृपण और भिखारियों का उद्देश्य रखकर लोहकार शालादि भवनों का निर्माण करते हैं अर्थात् उन्होंने बनाए हैं। जो मुनिराज तथाप्रकार के भेंटस्वरूप दिए गए छोटे-बड़े भवनों में उतरते हैं, तो हे आयुष्मन् शिष्य ! उनके लिए यह सावद्य क्रिया होती है।

**हिन्दी विवेचन**— प्रस्तुत सूत्र में भी पूर्व सूत्र की बात को दुहराया गया है। इसमें यह बताया गया है कि यदि श्रमण, भिक्षु आदि को लक्ष्य में रखकर किसी मकान में सावद्य क्रिया की गई हो तो साधु को उसमें नहीं ठहरना चाहिए। यदि कोई उसमें ठहरता है तो उसे सावद्य क्रिया लगती है।

अब महासावद्य क्रिया का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्**— इह खलु पाईणं वा ४ जाव तं रोयमाणेहिं एगं समणजायं समुद्दिस्स तत्थ २ अगारीहिं अगाराइ चेइयाइं भवंति, तं-आएसणाणि जाव गिहाणि वा महया पुढविकायसमारंभेणं जाव महया तसकायसमारंभेणं महया विरूवरूवेहिं पावकम्मकिच्चोहिं, तंजहा-छायणओ लेवणओ संथारदुवारपिहणओ सीओदए वा परट्ठवियपुव्वे भवइ, अगणिकाए वा उज्जालियपुव्वे भवइ, जे भयंतारो तहं आएसणाणि वा उवागच्छंति इयराइयरेहिं पाहुडेहिं वड्ढंति दुपक्खं ते कम्मं सेवंति अयमाउसो ! महासावज्जकिरिया यावि भवइ ॥८५ ॥

**छाया**— इह खलु प्राचीनं यावत् तद् रोचमानैः एकं श्रमणजातं समुद्दिश्य तत्र तत्र अगारिभि अगाराणि कृतानि भवन्ति। तद्यथा-आदेशनानि यावद् गृहाणि वा महता पृथ्वीकायसमारम्भेन यावत् महता त्रसकायसमारम्भेन महद्भि विरूपरूपैः पापकर्मकृत्यैः, तद्यथा- छादनतो, लेपनतः, संस्तारकद्वारपिधापनतः शीतोदकं वा परिष्ठापितपूर्वं भवति। अग्निकायो वा उज्ज्वालितपूर्वो भवति, ये भयत्रातारः तथाप्रकाराणि आदेशनानि वा, उपागच्छन्ति, इतरेतरेषु प्राभृतेषु द्विपक्षं ते कर्म सेवन्ते, इयमायुष्मन् ! महासावद्यक्रिया चापि भवति।

**पदार्थ**— खलु-वाक्यालंकार में है। इह-इस संसार में। पाईणं वा ४-पूर्वादि दिशाओं में। जाव-यावत्। तं-उपाश्रय प्रदान के स्वर्गादि फल की। रोयमाणेहिं-रुचि करने से। एगं समणजायं-किसी एक श्रमण को। समुद्दिस्स-उद्देश्य करके। तत्थ २-जहां-तहां। अगारीहिं-गृहस्थों ने। अगाराइं-भवन। चेइयाइं-बनाए हुए हैं। तं-जैसे कि। आएसणाणि-लोहकार शाला। जाव-यावत्। गिहाणि वा-तलघर आदि। महया पुढविकायसमारंभेणं-महान् पृथ्वीकाय के समारम्भ से। जाव-यावत्। महया तसकायसमारंभेणं-महान् त्रसकाय के समारम्भ से। महया विरूवरूवेहिं-नाना प्रकार के महान्। पावकम्मकिच्चोहिं-पापकर्मकृत्यों से। तंजहा-जैसे कि साधु के लिए। छायाणओ-मकान पर छत आदि डाली हुई है। लेवणओ-लीपी-पोती हुई है। संथारदुवारपिहणओ-संस्तारक के स्थान को सम-बराबर बनाया है, दरवाजे बनाए हैं और। सीओदए वा परट्ठवियपुव्वे भवइ-ठंडक करने के लिए शीतल जल का छिड़काव किया है, तथा। अगणिकाए वा उज्जालियपुव्वे भवइ-शीत निवारणार्थं अग्नि प्रज्वलित की है। ये भयंतारो-जो मुनिराज। तहं-तथा प्रकार के। आएसणाणि-लोहकार शाला आदि में। उवागच्छंति-आते हैं तथा। इयराइयरेहिं-साधु के लिए बने हुए

छोटे-बड़े। पाहुडेहिं-भेंट स्वरूप दिए गए उपाश्रयों में जो ठहरते हैं। ते-वे। दुपक्खं-द्विपक्ष अर्थात् द्रव्य से साधु और भाव से गृहस्थ रूप। कम्मं-कर्म का। सेवंति-सेवन करते हैं। इयमाउसो-हे आयुष्मन् शिष्य ! यह। महासावज्जकिरिया यावि भवइ-महासावद्य क्रिया होती है।

**मूलार्थ**—इस संसार में पूर्वादि चारों दिशाओं में बहुत से श्रद्धालु व्यक्ति हैं, जिन्होंने साधु का आचार तो सम्यक्तया नहीं सुना, केवल उपाश्रय दान के स्वर्गादि फल को सुना है। वे साधु के लिए ६ काय का समारम्भ करके लोहकार शाला आदि स्थान-मकान बनाते हैं। यदि साधु उनमें ज्ञात होने पर भी ठहरता है तो वह द्रव्य से साधु और भाव से गृहस्थ है, अर्थात् साधु का वेश होने से साधु और षट्काय के आरम्भ की अनुमति आदि से युक्त होने के कारण भाव से गृहस्थ जैसा है। अतः हे शिष्य ! इस क्रिया को महासावद्य क्रिया कहते हैं।

**हिन्दी विवेचन**— प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि जो उपाश्रय-मकान साधु के उद्देश्य से बनाया गया है और साधु के उद्देश्य से ही लोप-पोत कर साफ-सुथरा बनाया है और छप्पर आदि से आच्छादित किया है तथा दरवाजे आदि बनवाए हैं और गर्मी में ठण्डे पानी का छिड़काव करके मकान को शीतल एवं शरद् ऋतु में आग जलाकर गर्म किया गया है तो साधु को ऐसे मकान में नहीं ठहरना चाहिए। यदि साधु जानते हुए भी ऐसे मकान में ठहरता है तो उसे महासावद्य क्रिया लगती है। और ऐसे मकान में ठहरने वाला केवल भेष से साधु है, भावों से नहीं। क्योंकि उसमें साधु के लिए ६ काय के जीवों का आरंभ समारम्भ हुआ है। इसलिए सूत्रकार ने स्पष्ट शब्दों में कहा है— 'दुपक्खं ते कम्मं सेवंति।' आचार्य शीलांक ने प्रस्तुत पद की व्याख्या करते हुए लिखा है— 'ते द्विपक्षं कर्मा सेवन्ते तद्यथा— प्रव्रज्यामाधाकर्मिकवसत्यासेवद् गृहस्थत्वं च रागद्वेषं इर्यापथं साम्प्रायिकं च।'

इससे स्पष्ट हो जाता है कि ऐसे सदोष मकान में ठहरने वाले साधु साधुत्व के महापथ से गिर जाते हैं, उनकी साधना शुद्ध नहीं रह पाती। अतः साधु को सदा निर्दोष एवं निरवद्य मकान में ठहरना चाहिए।

अब अल्प सावद्य क्रिया का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्**— इह खलु पाईणं वा० रोयमाणोहिं अप्पणो सयट्ठाए तत्थ २ अगारिहिं जाव उज्जालियपुव्वे भवइ, जे भयंतारो तहप्प० आएसणाणि वा० उवागच्छन्ति इयराइयरेहिं पाहुडेहिं एगपक्खं ते कम्मं सेवंति, अयमाउसो ! अप्पसावज्जा किरिया यावि भवइ ९। एवं खलु तस्स० ॥८६ ॥

**छाया**— इह खलु प्राचीनं वा ४ रोचमानैः आत्मनः स्वार्थाय तत्र तत्र अगारिभिः यावत् उज्ज्वलितपूर्वं भवति, ये भयत्रातारः तथाप्रकाराणि आदेशनानि वा० उपागच्छन्ति इतरेतरेषु प्राभृतेषु एकपक्षं ते कर्म सेवंते। इयमायुष्मन् ! अल्पसावद्यक्रिया चापि भवति। एवं खलु तस्य भिक्षोः सामग्र्यम् ।

**पदार्थ**— इह-इस संसार में। खलु-वाक्यालंकार सूचक अव्यय है। पाईणं वा०-पूर्वादि दिशाओं में

किसी भद्र परिणामी गृहस्थ ने उपाश्रय दान का महत्व सुना है और उस पर। रोयमाणोर्हि—रुचि करने से। अप्पणो-सयट्ठाए-अपने निज के प्रयोजन के लिए। तत्थ २-जहां-तहां। अगारिर्हि-गृहस्थों ने स्थान बनाए हुए हैं। जाव-यावत्। उज्जालियपुव्वे भवइ-जिसमें अग्नि प्रज्वलित की गई हो। जे भयंतारो-जो पूज्य मुनिराज। तहप्प-तथाप्रकार के। आएसणाणि वा-लोहकार शाला आदि भवनों-स्थानों में। उवागच्छन्ति-आते हैं और। इयराइयरोर्हि-छोटे-बड़े। पाहुडेर्हि-दिए गए उक्त स्थानों में उतरते हैं। ते-वे। एगपक्खं-एक पक्ष अर्थात् एक मात्र पूर्ण साधुता सम्बन्धि। कम्मं-कर्म का। सेवन्ति-सेवन करते हैं। अयमाउसो-हे आयुष्मन् शिष्य ! यह। अप्पसावज्जकिरिया यावि भवइ-अल्प सावद्य क्रिया होती है। एवं खलु तस्स-इस प्रकार भिक्षु का यह समग्रभाव अर्थात् साधुता का भाव है।

**मूलार्थ**—इस संसार में स्थित कुछ श्रद्धालु गृहस्थ जो यह जानते हैं कि साधु को उपाश्रय का दान देने से स्वर्ग आदि फल की प्राप्ति होती है, वे अपने उपयोग के लिए बनाए गए मकान को तथा शीतकाल में जहां अग्नि प्रज्वलित की गई हो ऐसे छोटे-बड़े मकान को सहर्ष साधु को ठहरने के लिए देते हैं। ऐसे मकान में जो साधु ठहरते हैं वे एकपक्ष-पूर्ण साधुता का पालन करते हैं और इसे अल्पसावद्य क्रिया कहते हैं।

**हिन्दी विवेचन**—प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि जो मकान गृहस्थ ने अपने लिए बनाया हो और उसमें अपने लिए अग्नि आदि प्रज्वलित करने की सावद्य क्रियाएं की हों। साधु के उद्देश्य से उसमें कुछ नहीं किया हो तो ऐसे मकान में ठहरने वाला साधु पूर्ण रूप से साधुत्व का परिपालन करता है।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'अप्प' शब्द अभाव का परिबोधक है। वृत्तिकार ने भी इसका अभाव अर्थ किया है<sup>१</sup>। और मूलपाठ जो "एक पक्खं ते कम्मं सेवन्ति"—अर्थात् जो द्रव्य और भाव से एक रूप अर्थात् साधुत्व का परिपालक है।" यह पद दिया है, इससे 'अप्प' शब्द अभाव सूचक ही सिद्ध होता है।

कुछ हस्तलिखित प्रतियों में उक्त नव क्रियाओं की एक गाथा भी मिलती है<sup>२</sup>। उक्त नव प्रकार के उपाश्रयों में अभिक्रान्त और अल्प सावद्य क्रिया वाले दो प्रकार के मकान साधु के लिए ग्राह्य हैं, शेष सातों प्रकार के स्थान अकल्पनीय हैं।

॥ द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

१ अल्प शब्दोऽभाववाचीति।

— आचारांग वृत्ति।

२ कालाइक्कंत, व ठाण, अभिकंता, चेव अणभिकंता य।

वज्जा य महावज्जा, सावज्जा महऽप्पकिरिया य॥

## द्वितीय अध्ययन शय्यैषणा

### तृतीय उद्देशक

द्वितीय उद्देशक के अन्तिम सूत्र में शुद्ध वस्ती (मकान) का वर्णन किया गया है। अब प्रस्तुत उद्देशक में अशुद्ध वस्ती का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं-

मूलम्- से य नो सुलभे फासुए उंछे अहेसणिज्जे नो य खलु सुद्धे इमेहिं पाहुडेहिं, तंजहा-छायणओ लेवणओ संधारदुवारपिहणओ पिंडवाएसणाओ, से य भिक्खू चरियारए ठाणरए निसीहियारए सिज्जासंधारपिंडवाएसणारए, संति भिक्खुणो एवमक्खाइणो उज्जुया नियागपडिवन्ना अमायं कुव्वमाणा वियाहिया, संतेगइया पाहुडिया उक्खित्तपुव्वा भवइ, एवं निक्खित्तपुव्वा भवइ, परिभाइयनिक्खित्तपुव्वा भवइ, परिभाइयपुव्वा भवइ, परिभुत्तपुव्वा भवइ, परिट्ठवियपुव्वा भवइ, एवं वियागरेमाणे समियाए वियागरेइ ? हंता भवइ ॥८७॥

छाया- स च नो सुलभः प्रासुकः उञ्छः अथ एषणीयः, न च खलु शुद्धः एभिः प्राभृतैः, तद्यथा-छादनतः लेपनतः संस्तार-द्वार पिधानतः पिंडपातैषणातः ते च भिक्षवः चर्यारताः स्थानरताः निर्षीधिकारताः शय्यासंस्तार-पिंडपातैषणारताः संति भिक्षवः एवमाख्यायिनः ऋजवः नियागप्रतिपन्नाः अमायां कुर्वाणाः व्याख्याताः सन्ति एकका प्राभृतिका उत्क्षिप्तपूर्वा भवति, एवं निक्षिप्त पूर्वा भवति, परिभाजितपूर्वा भवति, परिभुक्तपूर्वा भवति, परिस्थापितपूर्वा भवति एवं व्याकुर्वन् कथयन् सम्यग् व्याकरोति ? हन्त भवति।

पदार्थ- से-वह भिक्षु किसी ग्रामादि में भिक्षा के लिए गया तब किसी गृहस्थ ने उसे वहां ठहरने की विनती की कि भगवन् ! आप यहां पर ही कृपा करें। इस नगर में अन्न-पानी का संयोग सुख पूर्वक मिल सकता है, इसके उत्तर में मुनि ने कहा, भद्र ! प्रासुक आहार-पानी का मिलना तो कठिन नहीं है, किन्तु जहां पर बैठकर शुद्ध निर्दोष आहार किया जाता है उस उपाश्रय का मिलना। नो सुलभे-सुलभ नहीं है। अब सूत्रकार उपाश्रय के विषय में वर्णन करते हैं। फासुए-प्रासुक-आधाकर्मादि दोषों से रहित। उंछे-छादनादि उत्तरगुणीय दोषों से रहित। अहेसणिज्जे-मूल एवं उत्तर गुणीय दोषों से शून्य होने के कारण एषणीय। य-और। खलु-निश्चय ही। नो सुद्धे-उत्तर गुणों से जो शुद्ध नहीं है। इमेहिं-इन। पाहुडेहिं-पाप कर्मों के उपादान से बनाए गए हैं। तंजहा-जैसे कि। छायाणओ-साधु के लिए आच्छादन करने से। लेवणओ-गोबर आदि का लेपन करने से।

संथारदुवारपिहणओ-संस्तारक भूमि को सम करने और द्वार बन्द करने के लिए किवाड़ आदि बनाने से। पिंडवाएसणाओ-तथा पिंडपानैषणा की दृष्टि से भी शुद्ध उपाश्रय का मिलना कठिन है अर्थात् जिसके उपाश्रय में साधु ठहरता है वह गृहस्थ प्रायः आहार का आमंत्रण करता है। अतः साधु वह आहार लेता है तो उसे दोष लगता है, और नहीं लेता तो गृहस्थ के मन को ठेस लगती है। अतः यह कारण भी उपाश्रय की प्राप्ति में विशेष कर बाधक है। यदि उत्तरदोष से शुद्ध उपाश्रय मिल भी गया है तो फिर स्वाध्याय आदि की अनुकूलता से युक्त उपाश्रय का मिलना तो और भी कठिन है, अब सूत्रकार यही बताते हैं कि। य-फिर। से-वे। भिक्खू-भिक्षु-मुनिराज। चरियारए-नव कल्पी विहार की चर्या में रत हैं। ठाणरए-तथा कायोत्सर्गादि करने में रत हैं। निसीहियारए-स्वाध्याय करने में रत हैं। सिज्जासंथारपिंडवाएसणारए-शय्या-वस्ती-संस्तार-अढाई हाथ प्रमाण शयन करने का स्थान अथवा रोगादि कारण से शय्या संस्तारक में रत है अर्थात् अंगार एवं धूम आदि दोषों से रहित आहार करते। संति-हैं। भिक्खुणो-कोई-कोई भिक्षु। एवमक्खाइणो-इस प्रकार वसती के यथावस्थित गुण-दोषों के कहने वाले हैं। उज्जुया-सरल हैं। नियागपडिवन्ना-संयम एवं मोक्ष से प्रतिपन्न हैं। अमायं कुव्वमाणा-माया नहीं करने वाले। वियाहिया-कहे गए हैं।

अब सूत्रकार गृहस्थों द्वारा साधु को वस्ती दान देने सम्बन्धि छल करने के विषय में बताते हैं। संति-कितने ही गृहस्थ ऐसे हैं जो साधु को उपाश्रय देने में छल करते हैं यथा- । पाहुडिया-जो उपाश्रय साधु के उद्देश्य से बनाया गया है उसको। उक्खित्तपुव्वा भवइ-दिखाकर कहते हैं कि आप इस उपाश्रय में रहें क्योंकि यह उपाश्रय। निक्खित्तपुव्वा भवइ-हमने अपने लिए बनाया है तथा। परिभाइयपुव्वा भवइ-हमने पहले ही आपस के बंटवारे में बांट लिया है। परिभुत्तपुव्वा भवइ-वह हम लोगों द्वारा पहले ही भोगा जा चुका है। परिट्ठवियपुव्वा भवइ-हमने बहुत पहले से इसे छोड़ा हुआ है अतः आपके लिए निर्दोष होने के कारण ग्राह्य है। गृहस्थ इस प्रकार कुछ भी छल-बल करें परन्तु साधु उनके प्रपंच को जानकर कदापि उक्त उपाश्रय में न रहे। यदि कोई गृहस्थ उपाश्रय के गुण दोषादि के विषय में पूछे तो साधु उसको शास्त्रानुसार उपाश्रय के गुण दोष बता दे। अब शिष्य प्रश्न करता है कि- हे भगवन् ! साधु उपाश्रय के गुणदोषों के सम्बन्ध में। एवं वियागरेमाणे-इस प्रकार कहता हुआ। समियाए वियागरेइ ?-क्या सम्यक् कथन करता है ? आचार्य उत्तर देते हैं। हंता भवइ-हां, वह सम्यक् कथन करता है।

**मूलार्थ**— भिक्षा के लिए ग्राम में गए हुए साधु को यदि कोई भद्र गृहस्थ यह कहे कि भगवन् ! यहां आहार-पानी की सुलभता है, अतः आप यहां रहने की कृपा करें। इसके उत्तर में साधु यह कहे कि यहां आहार-पानी आदि तो सब कुछ सुलभ है परन्तु निर्दोष उपाश्रय का मिलना दुर्लभ है। क्योंकि साधु के लिए कहीं उपाश्रय में छत डाली हुई होती है, कहीं लीपा-पोती की हुई होती है, कहीं संस्तारक के लिए ऊंची-नीची भूमि को समतल किया गया होता है और कहीं द्वार बन्द करने के लिए दरवाजे आदि लगाए हुए होते हैं, इत्यादि दोषों के कारण शुद्ध निर्दोष उपाश्रय का मिलना कठिन है। और दूसरी यह बात भी है कि शय्यातर का आहार साधु को लेना नहीं कल्पता है। अतः यदि साधु उसका आहार लेते हैं तो उन्हें दोष लगता है और उनके नहीं लेने से बहुत से शय्यातर गृहस्थ रुष्ट हो जाते हैं। यदि कभी उक्त दोषों से रहित उपाश्रय मिल भी जाए, फिर भी साधु की आवश्यक क्रियाओं के योग्य उपाश्रय का मिलना कठिन है। क्योंकि साधु



विहारचर्या वाले भी हैं, कायोत्सर्ग करने वाले भी हैं, एकान्त स्वाध्याय करने वाले भी हैं, तथा शय्या-संस्तारक और पिंडपात की शुद्ध गवेषणा करने वाले भी हैं। अस्तु, उक्त क्रियाओं के लिए योग्य उपाश्रय मिलना और भी कठिन है। इस प्रकार कितने ही सरल-निष्कपट एवं मोक्ष पथ के गामी भिक्षु उपाश्रय के दोष बता देते हैं।

कुछ गृहस्थ मुनि के लिए ही मकान बनाते हैं, और फिर यथा अवसर आगन्तुक मुनि से छल युक्त वार्तालाप करते हैं। वे साधु से कहते हैं कि 'यह मकान हमने अपने लिए बनाया है', आपस में बांट लिया है, परिभोग में ले लिया है, परन्तु अब नापसंद होने के कारण बहुत पहले से जैसे ही खाली छोड़ रखा है। अतः पूर्णतया निर्दोष होने के कारण आप इस उपाश्रय में ठहर सकते हैं। परन्तु विचक्षण मुनि इस प्रकार के छल में न फंसे, तथा सदोष उपाश्रय में ठहरने से सर्वथा इन्कार कर दे। गृहस्थों के पूछने पर जो मुनि इस प्रकार उपाश्रय के गुण-दोषों को सम्यक् प्रकार से बता देता है, उसके संबन्ध में शिष्य प्रश्न करता है कि हे भगवन् ! क्या वह सम्यक् कथन करता है? सूत्रकार उत्तर देते हैं कि हां, वह सम्यक् कथन करता है।

**हिन्दी विवेचन-** प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि साधु किसी गांव या शहर में भिक्षा के लिए गया, उस समय कोई श्रद्धानिष्ठ गृहस्थ उक्त मुनि से प्रार्थना करे कि हमारे गांव या शहर में आहार-पानी आदि की सुविधा है, अतः आप इसी गांव में ठहरें। गृहस्थ के द्वारा इस प्रकार प्रार्थना करने पर मुनि सरल एवं निष्कपट भाव से कहे कि आहार-पानी की तो यहां सुलभता है, परन्तु ठहरने के लिए निर्दोष मकान का उपलब्ध होना कठिन है। मूल एवं उत्तर गुणों की दृष्टि से निर्दोष मकान सर्वत्र सुलभ नहीं होता। कहीं मकानों की कमी के कारण मूल से ही साधु के लिए मकान बनाया जाता है। कहीं साधु के उद्देश्य से नहीं बने हुए मकान पर साधु के लिए छत डाली जाती है, उसमें सफेदी करवाई जाती है, शय्या के लिए योग्य स्थान बनाया जाता है, दरवाजे तथा खिड़कियां लगाई जाती हैं। इस तरह मूल उत्तर गुण में दोष लगने की संभावना रहती है।

यदि कहीं सब तरह से निर्दोष मकान मिल जाए तो दूसरा प्रश्न यह सामने आएगा कि हम शय्यातर (मकान मालिक) के घर का आहार-पानी आदि ग्रहण नहीं करते। कभी वह भक्तिवश आहार आदि के लिए आग्रह करे और हमारे द्वारा इन्कार करने पर क्रोधित होकर धर्म से या साधु-सन्तों से विमुख होकर उनका विरोध कर सकता है। वृत्तिकार ने भी यही भाव अभिव्यक्त किया है।

निर्दोष मकान एवं शय्यातर के अनुकूल मिलने के बाद तीसरी समस्या साधना की रह जाती है। कुछ साधु विहार चर्या वाले होते हैं, कुछ कायोत्सर्ग करने में अनुरक्त रहते हैं, कुछ स्वाध्याय एवं चिन्तन-मनन में व्यस्त रहते हैं। अतः इन सब साधनाओं की दृष्टि से भी मकान अनुकूल होना आवश्यक है, अर्थात् साधना के लिए एकान्त एवं शान्त वातावरण का होना जरूरी है। इस तरह मुनि स्थान सम्बन्धी निर्दोषता एवं सदोषता को स्पष्ट रूप से बता दे और सभी दृष्टियों से शुद्ध एवं निर्दोष मकान की गवेषणा करने के पश्चात् उसमें ठहरे।

साधु से मकान सम्बन्धी सभी गुण-दोष सुनने के बाद यदि कोई गृहस्थ साधु के लिए बनाए गए मकान को भी शुद्ध बताए और छल-कपट के द्वारा उसकी सदोषता को छिपाने का प्रयत्न करे तो

साधु को उसके धोखे में नहीं आना चाहिए और उसकी तरह स्वयं को भी छल-कपट का सहारा नहीं लेना चाहिए। साधु को सदा सरल एवं निष्कपट भाव ही रखना चाहिए। यदि कोई गृहस्थ छल-कपट रखकर उपाश्रय के गुण-दोष जानना चाहे, तब भी साधु को बिना हिचकिचाहट के उपाश्रय सम्बन्धी सारी जानकारी करा देनी चाहिए। इसी से साधु की साधना सम्यक् रह सकती है।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'चरियारए' पद से विहार चर्या का 'ठाणरए' से ध्यानस्थ होने का, 'निसिहियाए' से स्वाध्याय का, 'उज्जुया' से छल-कपट रहित सरल स्वभाव वाला होने का एवं 'नियाग पडिवन्ना' से संयम में मोक्ष के ध्येय को सिद्ध करने वाला बताया गया है। और 'संतेगइय पाहुडिया उक्खित्तपुव्वा भवइ' पद से यह स्पष्ट किया गया है कि साधु के उद्देश्य से बनाए गए उपाश्रय को निर्दोष बताना तथा 'एवं परिभु क्षुत्तव्व भवइ, परिट्ठवियपुव्वा भवइ' आदि पदों से इस बात को बताया गया है कि कुछ श्रद्धालु भक्त रागवश सदोष मकान को भी छल-कपट से निर्दोष सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं, साधु को उनकी बातों में नहीं आना चाहिए

यदि कभी परिस्थितिवश साधु को चरक आदि अन्य मत के भिक्षुओं के साथ ठहरना पड़े, तो किस विधि से ठहरना चाहिए इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— से भिक्खू वा० से जं पुण उवस्सयं जाणिज्जा खुड्डियाओ खुड्डदुवारियाओ निययाओ संनिरुद्धाओ भवन्ति, तहप्पगा० उवस्सए राओ वा वियाले वा निक्खममाणे वा षं पुरा हत्थेण वा पच्छा पाएण वा, तओ संजयामेव निक्खमिज्ज वा २ । केवली बूया-आयाणमेयं, जे तत्थ समणाण वा माहणाण वा छत्तए वा मत्तए वा दंडए वा लट्ठिया वा भिसिया वा नालिया वा चेलं वा चिलिमिली वा चम्मए वा चम्मकोसए वा चम्मछेयणए वा दुब्बद्धे दुन्निक्खित्ते अणिकंपे चलाचले, भिक्खू य राओ वा वियाले वा निक्खममाणे वा २ पयलिज्ज वा २, से तत्थ पयलमाणे वा० हत्थं वा० लूसिज्ज वा पाणाणि वा ४ जाव ववरोविज्ज वा । अह भिक्खूणं पुव्वोवइट्ठं जं तह० उवस्सए पुराहत्थेण निक्ख० वा पच्छा पाएणं तओ संजयामेव नि० पविसिज्ज वा ॥८८॥

छाया— स भिक्षुर्वा० स यत् पुनरुपाश्रयं जानीयात्-क्षुद्रिकाः क्षुद्रद्वाराः नीचाः संनिरुद्धा भवन्ति, तथाप्रकारे उपाश्रये रात्रौ वा विकाले वा निष्क्रममाणः वा प्रविशन् पुरो हस्तेन वा पश्चात् पादेन वा ततः संयतमेव निष्क्रामेद् वा प्रविशेद् वा, केवली बूयाद् आदानमेतत्, ये तत्र श्रमणानां ब्राह्मणानां वा छत्रको वा मात्रकं वा दण्डको वा यष्टिर्वा वृशिका वा नलिका वा चेलं वा चिलिमिली वा चर्मको वा चर्मकोशको वा चर्मछेदनं वा दुर्बद्धः दुर्निक्षिप्तोऽनिष्क्रम्यः चलाचलः भिक्षुश्च रात्रौ वा विकाले वा निष्क्रममाणः प्रविशन् वा प्रस्खलेत् वा पतेद् वा स तत्र प्रस्खलन् वा पतन् वा हस्तं वा लूषयेत् वा प्राणानि ४ यावद्

व्यपरोपयेद् वा, अथ भिक्षूणां पूर्वोपदिष्टं यत्- तथाप्रकारे उपाश्रये पुरो हस्तेन वा निष्क्रामेद् वा प्रविशेद् वा पश्चात् पादेन ततः संयतमेव निष्क्रामेद् वा प्रविशेद् वा ।

**पदार्थ-** से-वह । भिक्खू वा-साधु अथवा साध्वी । से जं-वह साधु जो आगे कहा जाता है । पुण-फिर । उवस्सयं-उपाश्रय को । जाणिज्जा-जाने । खुड्डियाओ-छोटा उपाश्रय । खुड्डुदुवारियाओ-लघु द्वार वाला उपाश्रय । निययाओ-नीचा है । सनिरुद्धाओ-जो चरक आदि अन्य मत के भिक्षुओं के । भवंति-ठहरने से खाली नहीं हैं । तहप्पगा-ऐसे । उवस्सए-उपाश्रय में ठहरा हुआ साधु । राओ वा-रात्रि में । वियाले वा-विकाल में । निक्खममाणे वा-भीतर से बाहर निकलता हुआ अथवा । पविसमाणे वा-बाहर से भीतर प्रवेश करता हुआ । पुरा-पहले । हत्थेण वा-हाथ से अर्थात् हाथ आगे करके भूमि को देखकर । पच्छा-पीछे । पाएण वा-पैर से गमन करे जिससे चरक आदि भिक्षुओं के उपकरण का तथा उनके किसी अवयव का उपघात न हो । तओ-तदनन्तर । संजयामेव-संयत-साधु यत्नपूर्वक । निक्खमिज्ज वा-निकले अथवा प्रवेश करे क्योंकि । केवली-केवली भगवान् । बूया-कहते हैं कि । आयाणमेयं-यह कर्म आने का मार्ग है, जैसे कि- । जे-यदि । तत्थ-वहां पर । समणाण वा-शाक्यादि श्रमणों के । माहणाण वा-ब्राह्मणों के । छत्तए वा-छत्र । मत्तए वा-भाजन विशेष । दंडए वा-दंड अथवा । लट्ठिया वा-लाठी । भिसिया वा-योग आसन विशेष । नालिया वा-अपने शरीर से चार अंगुल लम्बी लाठी । चेलं वा-वस्त्र । चिलिमिली वा-यवनिका-परदा अर्थात् मच्छर दानी । चम्मए वा-मृगचर्म । चम्मकोसए वा-चर्म कोष- मृगचर्म की थैली या झोली । चम्मछेयणए वा-चर्म छेदने का उपकरण इत्यादि उपकरण, जोकि । दुब्बद्धे-अच्छी तरह से नहीं बन्धा हुआ । दुन्निक्खत्ते-भली प्रकार से नहीं रखा हुआ तथा । अणिकंपे-जो थोड़ा बहुत हिलता है । चलाचले-जो विशेष रूप से हिल रहा है; अतः । भिक्खू-भिक्खु । य-फिर । राओ वा-रात्रि में । वियाले वा-विकाल में । निक्खममाणे वा-भीतर से बाहर निकलता हुआ अथवा बाहर से भीतर प्रवेश करता हुआ । पयलिज्ज वा २-फिसल पड़े या गिर पड़े । से-भिक्खु के । तत्थ-वहां पर । पयलमाणे वा २-फिसलने या गिर पड़ने से उनके उपकरण आदि गिर पड़े अथवा । हत्थं वा-हाथ-पैर आदि । लूसिज्ज वा-टूट जावे या । पाणाणि वा-क्षुद्र जीव-जन्तुओं की । जाव-यावत् विराधना और । ववरोविज्ज वा-नाश हो जाए । अह-इसलिए । भिक्खूणां-भिक्खुओं को । पुव्वोवड्ठं-तीर्थकरादि ने पहले ही यह उपदेश किया है । जं-जो कि । तहं-तथाप्रकार के । उवस्सए-उपाश्रय में । पुरा-पहले । हत्थेण वा-हाथ से देखभाल कर । पच्छा पाएण वा-पीछे पैर रखे । तओ-तदनन्तर । संजयामेव-संयत साधु यत्न पूर्वक । नि-बाहर निकले । पविसिज्ज वा-अथवा भीतर प्रवेश करे ।

**मूलार्थ-**वह साधु या साध्वी फिर उपाश्रय को जाने, जैसे कि-जो उपाश्रय छोटा है अथवा छोटे द्वार वाला है, तथा नीचा है और चरक आदि भिक्षुओं से भरा हुआ है, इस प्रकार के उपाश्रय में यदि साधु को ठहरना पड़े तो वह रात्रि में और विकाल में, भीतर से बाहर निकलता हुआ या बाहर से भीतर प्रवेश करता हुआ, प्रथम हाथ से देखकर पीछे पैर रखे । इस प्रकार साधु यत्नपूर्वक निकले या प्रवेश करे । क्योंकि केवली भगवान् कहते हैं कि यह कर्म बन्धन का कारण है, क्योंकि वहां पर जो शाक्यादि श्रमणों तथा ब्राह्मणों के छत्र, अमत्र ( भाजन विशेष ) मात्रक, दंड, यष्टी, योगासन, नलिका ( दण्ड विशेष ) वस्त्र, यमनिका ( मच्छर-दानी ) मृगचर्म, मृगचर्मकोष, चर्मछेदन-उपकरण विशेष जो कि कुछ अच्छी तरह से बन्धे हुए और ढंग से रखे हुए नहीं हैं, कुछ

हिलते हैं और कुछ अधिक चंचल हैं उनको आघात पहुंचने का डर है, क्योंकि रात्रि में और विकाल में अन्दर से बाहर और बाहर से अन्दर निकलता या प्रवेश करता हुआ साधु यदि फिसल पड़े या गिर पड़े तो वे उपकरण टूट जाएंगे, अथवा उस भिक्षु के फिसलने या गिर पड़ने से उसके हाथ-पैर आदि के टूटने का भी भय है और उसके गिरने से वहां पर रहे हुए अन्य क्षुद्र जीवों के विनाश का भी भय है, इसलिए तीर्थकरादि आस पुरुषों ने पहले ही साधुओं को यह उपदेश दिया है कि इस प्रकार के उपाश्रय में पहले हाथ से टटोल कर फिर पैर रखना चाहिए और यत्नापूर्वक बाहर से भीतर एवं भीतर से बाहर गमनागमन करना चाहिए।

**हिन्दी विवेचन-** प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि अपनी आत्मा एवं संयम की विराधना से बचने के लिए साधु को रात्रि एवं विकाल के समय आवश्यक कार्य से उपाश्रय के बाहर जाते एवं पुनः उपाश्रय में प्रविष्ट होते समय विवेक एवं यत्नापूर्वक गमनागमन करना चाहिए। यदि किसी उपाश्रय के द्वार छोटे हों या उपाश्रय छोटा हो और उसमें कुछ गृहस्थ रहते भी हों या अन्य मत के भिक्षु ठहरे हुए हों तो साधु को रात के समय बाहर आते-जाते समय पहले हाथ से टटोल कर फिर पैर रखना चाहिए। क्योंकि ऐसा करने से उसके कहीं चोट नहीं लगेगी और न किसी से टक्कर खाकर गिरने या फिसलने का भय रहेगा। यदि वह अपने हाथ से टटोल कर सावधानी से नहीं चलेगा तो संभव है दरवाजा छोटा होने के कारण उसके सिर आदि में चोट लग जाए या वह फिसल पड़े या किसी भिक्षु की उपधि पर पैर पड़ जाने से वह टूट जाए और इससे उसके मन को संक्लेश हो और परस्पर कलह भी हो जाए। इस तरह समस्त दोषों से बचने के लिए साधु को विवेक एवं यत्नापूर्वक गमनागमन करना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र से उस युग के साधु समाज में प्रचलित उपधियों का एवं उस युग की विभिन्न साधना पद्धतियों का परिचय मिलता है और साथ में गृहस्थ की उदारता का भी परिचय मिलता है कि वह बिना किसी भेद भाव से सभी संप्रदाय के भिक्षुओं को विश्राम करने के लिए मकान दे देता था। उसके द्वार सभी के लिए खुले थे।

साधु को स्थान की याचना किस तरह करनी चाहिए, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं-

**मूलम्-** से आगंतारेसु वा अणुवीड उवस्सयं जाइज्जा, जे तत्थ ईसरे, जे तत्थ समहिट्ठाए ते उवस्सयं अणुन्विज्जा कामं खलु आउसो ! अहालंदं अहापरिन्नायं वसिस्सामो जाव आउसंतो ! जाव आउसंतस्स उवस्सए जाव साहम्मियाइं ततो उवस्सयं गिण्हस्सामो, तेण परं विहरिस्सामो ॥८९॥

**छाया-** स आगन्तारेषु वा अनुविचिन्त्य उपाश्रयं याचेत्, यस्तत्र ईश्वरः, यस्तत्र समधिष्ठाता तानुपाश्रयं अनुज्ञापयेत् कामं खलु आयुष्मन् ! यथालंदं यथापरिज्ञातं वत्स्यामः यावद् आयुष्मन्तः ! यावत् आयुष्मत उपाश्रयं यावत् साधर्मिकाः ततः उपाश्रयं ग्रहीष्यामः, ततः परं विहरिष्यामः ।

**पदार्थ-** से-वह भिक्षु। आगंतारेसु वा-धर्मशाला आदि में प्रवेश करके और। अणुवीड़-विचार करके-यह उपाश्रय कैसा है और इसका स्वामी कौन है, फिर। उवस्सयं-उपाश्रय की। जाइज्जा-याचना करे, जैसे कि। जे-जो। तत्थ-वहां पर। ईसरे-उस उपाश्रय का स्वामी है और। जे-जो। तत्थ-वहां पर। समहिट्ठाए-जिनके अधिकार में दिया हुआ है। ते-उनको। अणुन्नविज्जा-अनुज्ञापन करे अर्थात् उनसे आज्ञा मांगे और कहे। कामं खलु आउसो-हे आयुष्मन् ! निश्चय ही आपकी इच्छानुसार। अहालंदं-जितना काल आप कहें। अहापरिन्नारयं-जितना भाग इस उपाश्रय का आप देना चाहें उतने ही भाग में हम। वसिस्सामो-रहेंगे, तब मुनि के प्रति गृहस्थ बोले। जाव-यावत्। आउसंतो-हे पूज्य ! आप कितना समय यहां ठहरेंगे ? तब मुनि ने उसके प्रति कहा कि हे आयुष्मन्- गृहस्थ ! हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु में तो बिना कारण एक मास तक रह सकते हैं, और वर्षा ऋतु में चार मास तक। जाव-यावत्। आउसंतस्स-आयुष्मन् के। उवस्सए-उपाश्रय में रहेंगे। तब गृहस्थ ने कहा कि आयुष्मन् श्रमण ! एतावत् इतने समय के लिए यह उपाश्रय और इसका इतना भाग आप को नहीं दिया जा सकता। तब मुनि उस गृहस्थ के प्रति कहे कि आयुष्मन्-गृहस्थ ! जितने समय के लिए आपकी आज्ञा हो तथा जितना भाग इस उपाश्रय का आप देना चाहें हम उस में आपकी आज्ञा से उतना समय रहकर फिर विहार कर देंगे। तब उस गृहस्थ ने मुनि के प्रति कहा कि आप कितने साधु हैं ? इसके उत्तर में मुनि बोला कि हे सदगृहस्थ ! हमारा साधु वर्ग समुद्र के समान है जिसका कोई प्रमाण नहीं। कुछ साधु अपने पठन-पाठन आदि कार्य के लिए आते हैं, और अपना कार्य करके चले जाते हैं अतः। जाव-यावन्मात्र। साहम्मियाइ-साधमी साधु आवेंगे। ताव-जितने काल तक आप कहेंगे उतने काल पर्यन्त। उवस्सयं-उपाश्रय को। गिण्हस्सामो-ग्रहण करेंगे। तेण परं-तत्पश्चात्। विहरिस्सामो-विहार कर जावेंगे अर्थात् आपकी आज्ञानुसार रहकर फिर चले जावेंगे।

**मूलार्थ-**—वह साधु धर्मशालाओं आदि में प्रवेश करने के अनन्तर यह विचार करे कि यह उपाश्रय किसका है और यह किसके अधिकार में है? तदनन्तर उपाश्रय की याचना करे। [ इस सूत्र का विषय कुछ क्लिष्ट है इसलिए प्रश्नोत्तर के रूप में लिखा जाता है ]

**मुनि-** आयुष्मन् गृहस्थ ! यदि आप आज्ञा दें तो आपकी इच्छानुकूल जितने समय पर्यन्त और जितने भूमि भाग में आप रहने की आज्ञा देंगे, उतने ही समय और उतने ही भूमि भाग में हम रहेंगे।

**गृहस्थ-** आयुष्मन् मुनिराज ! आप कितने समय तक रहेंगे ?

**मुनि-** आयुष्मन् सदगृहस्थ ! किसी कारण विशेष के बिना हम ग्रीष्म और हेमन्त ऋतु में एक मास और वर्षा ऋतु में चार मास पर्यन्त रह सकते हैं।

**गृहस्थ-** इतने समय के लिए आप को यह उपाश्रय नहीं दिया जा सकता।

**मुनि-** यदि इतने समय तक की आज्ञा नहीं दे सकते तो कोई बात नहीं आप जितने समय के लिए कहेंगे उतने समय तक यहां ठहर कर फिर हम विहार कर जाएंगे।

**गृहस्थ-** आप कितने साधु हैं ?

**मुनि-** साधु तो समुद्र के समान अनगिनत हैं। क्योंकि अपने पठन-पाठन आदि कार्य के लिए कई मुनि आते हैं, और अपना कार्य करके चले जाते हैं। किन्तु जो यहां पर आवेंगे वे सब आपकी आज्ञानुसार रह कर विहार कर जाएंगे। इस प्रकार मुनि को गृहस्थ के पास उपाश्रय की

याचना करनी चाहिए।

**हिन्दी विवेचन**— प्रस्तुत सूत्र में उपाश्रय की याचना करने की विधि का उल्लेख किया गया है। इसमें बताया गया है कि साधु को सबसे पहले यह जानना चाहिए कि यह मकान किसके अधिकार में है अथवा किस का है ? मकान मालिक का परिज्ञान करने के बाद उससे उस मकान में ठहरने की आज्ञा मांगनी चाहिए। यदि वह पूछे कि आप कितने समय तक ठहरेंगे तो मुनि उससे कहे कि हम वर्षावास में ४ महीने और शेष काल में एक महीने से ज्यादा बिना किसी कारण के एक स्थान में नहीं ठहरते हैं। यदि वह एक महीने के लिए मकान देने को तैयार न हो तो वह जितने दिन ठहरने की आज्ञा दे उतने दिन उस मकान में ठहरे। उसकी आज्ञा की अवधि पूरी होने के बाद उसकी पुनः आज्ञा लिए बिना साधु को उस मकान में नहीं ठहरना चाहिए। गृहस्थ ने जितने समय के लिए जितने भू-भाग को उपभोग में लेने की आज्ञा दी हो उतने समय तक उतने ही क्षेत्र को अपने काम में ले। यदि कोई गृहस्थ साधुओं की संख्या के विषय में पूछे तो मुनि को निश्चित संख्या में नहीं बंधना चाहिए। क्योंकि, कई बार स्वाध्याय आदि के लिए स्थान की अनुकूलता देखकर आस-पास के क्षेत्र में स्थित साधु भी स्वाध्याय, ध्यान आदि के लिए आ जाते हैं और वापिस चले भी जाते हैं। इस तरह सन्तों की संख्या कम-ज्यादा भी होती रहती है। इसलिए इस सम्बन्ध में उसे इतना ही कहना चाहिए कि साधुओं की संख्या असीम है, उसे नियमित रूप से नहीं बताया जा सकता, परन्तु आपने जितने समय के लिए आज्ञा दी है उससे ज्यादा समय आपकी आज्ञा लिए बिना कोई भी साधु नहीं ठहरेगा।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'अहालन्द-यथालन्द' पद का अर्द्धमागधी कोष में निम्न अर्थ किया है— 'जितने समय के लिए कहा गया हो उतने समय तक ठहरे।' पानी से भीगा हुआ हाथ जितनी देर में सूखे उतने समय को जघन्य यथालन्द काल कहते हैं और पांच दिन की अवधि को उत्कृष्ट यथालन्द काल कहते हैं तथा उन दोनों के बीच के समय को मध्यम यथालन्द काल कहते हैं<sup>१</sup>।

इस तरह उपाश्रय की आज्ञा लेने के बाद साधु को किस तरह रहना चाहिए इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्**— से भिक्खू वा जस्सुवस्सए संवसिज्जा तस्स पुव्वामेव नामगुत्तं जाणिज्जा । तओ पच्छा तस्स गिहे निमंतेमाणस्स वा अनिमंतेमाणस्स वा असणं वा ४ अफासुयं जाव नो पडिगाहेज्जा ॥१० ॥

**छाया**— स भिक्षुर्वा यस्योपाश्रये संवसेत् तस्य पूर्वमेव नामगोत्रं जानीयात् , ततः पश्चात् तस्य गृहे निमंत्रयतः वा अनिमंत्रयतः वा अशनं वा ४ अप्रासुकं यावन्न प्रतिगृण्णीयात् ।

**पदार्थ**— से-वह। भिक्खू वा-साधु अथवा साध्वी। जस्सुवस्सए-जिसके उपाश्रय में। संवसिज्जा-ठहरे। तस्स-उसके। नामगुत्तं-नाम और गोत्र को। पुव्वामेव-पहले ही। जाणिज्जा-जाने। तओ पच्छा-

तत्पश्चात् । तस्स गिहे-उसके घर में । निमंतेमाणस्स वा-निमंत्रित करने पर अथवा । अनिमंतेमाणस्स-अनिमंत्रित करने पर । असणं वा-अशनादि चतुर्विध आहार को । अफासुर्यं-अप्रासुक । जाव-यावत् अनेषणीय जानकर । नो पडिगाहेज्जा-ग्रहण न करे ।

**मूलार्थ**—साधु या साध्वी जिस गृहस्थ के उपाश्रय-स्थान में ठहरे, उसका नाम और गोत्र पहले ही जान ले । तत्पश्चात् उसके घर में निमंत्रित करने या न करने पर भी अर्थात् बुलाने या न बुलाने पर भी उसके घर का अशनादि चतुर्विध आहार ग्रहण न करे ।

**हिन्दी विवेचन**— प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि मकान में ठहरने के पश्चात् शय्यातर के नाम एवं गोत्र तथा उसके मकान आदि का परिचय करना चाहिए । आगमिक परिभाषा में मकान मालिक को शय्यातर कहते हैं । शय्या का अर्थ है-मकान और तर का अर्थ है-तैरने वाला, अर्थात् शय्या+तर का अर्थ हुआ- साधु को मकान का दान देकर संसार-समुद्र से तैरने वाला । शय्यातर के नाम आदि का परिचय करने का यह तात्पर्य है कि उसके घर को अच्छी तरह पहचान सके । क्योंकि; भगवान् ने शय्यातर के घर का आहार-पानी लेने का निषेध किया है । इसका कारण यह रहा है कि अन्य सम्प्रदायों में यह परम्परा थी कि जो किसी अन्य मत के साधु को ठहरने के लिए स्थान देता था उसे ही उसके आहार-पानी आदि का सारा प्रबन्ध करना पड़ता था । इस तरह वह भिक्षु उसके लिए बोझ रूप बन जाता था । इस कारण कई व्यक्ति निर्दोष मकान होते हुए भी देने से इन्कार कर देते थे । परन्तु, जैन साधु का जीवन किसी भी व्यक्ति पर बोझ रूप नहीं रहा है । इसी कारण भगवान् ने साधुओं को यह आदेश दिया है कि जिस समय से शय्यातर के मकान में ठहरें तब से लेकर जब तक उस मकान में रहें तब तक शय्यातर के घर का आहार-पानी आदि ग्रहण न करें अर्थात् मकान का दान देने वाले पर दूसरा किसी तरह का बोझ नहीं डालें । इसलिए शय्यातर के नाम आदि का परिचय करना जरूरी है, जिससे आहारादि के लिए उसके घर को छोड़ा जा सके ।

उपाश्रय की योग्यता एवं अयोग्यता के विषय को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्— से भिक्खू वा० से जं० ससागारियं सागणियं सउदयं, नो पन्नस्स निक्खमणपवेसाए जावणुचिंताए तहप्पगारे उवस्साए नो ठा० ॥११ ॥**

**छाया**— स भिक्षुर्वा० स यत् ससागारिकं साग्निकं सोदकं न प्राज्ञस्य निष्क्रमणप्रवेशाय यावदनुचिंतया, तथाप्रकारे उपाश्रये नो स्थानं ० ।

**पदार्थ**— से-वह । भिक्खू वा-साधु अथवा साध्वी । से जं०-वह फिर उपाश्रय को जाने यथा । ससागारियं-गृहस्थों से युक्त । सागणियं-अग्नि से युक्त । सउदयं-जल से युक्त उपाश्रय । पन्नस्स-प्रज्ञावान् के लिए । नो निक्खमणपवेसाए-निकलने और प्रवेश करने योग्य नहीं है । जाव-यावत् । अणुचिन्ताए-अनुचिन्तन अर्थात् धर्मानुयोग के चिन्तन करने योग्य भी नहीं है । तहप्पगारे-साधु तथाप्रकार के । उवस्साए-उपाश्रय में । नो ठाणं-न ठहरे ।

**मूलार्थ**—जो उपाश्रय गृहस्थों से, अग्नि से और जल से युक्त हो, उसमें प्रज्ञावान् साधु

या साध्वी को निष्क्रमण और प्रवेश नहीं करना चाहिए तथा वह उपाश्रय धर्मचिन्तन के लिए भी उपयुक्त नहीं है। अतः साधु को उसमें कायोत्सर्गादि क्रियाएं नहीं करनी चाहिए।

**हिन्दी विवेचन**— प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि साधु को ऐसे उपाश्रय में नहीं ठहरना चाहिए जिसमें गृहस्थों का, विशेष करके साधुओं के स्थान में बहनों का एवं साध्वियों के स्थान में पुरुषों का आवागमन रहता हो और जिन स्थानों में अग्नि एवं पानी रहता हो<sup>१</sup>। क्योंकि इन सब कारणों से साधु के मन में विकृति आ सकती है। इसलिए साधु को इन सब बातों से रहित स्थान में ठहरना चाहिए।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्—** से भिक्खू वा० से जं० गाहावइकुलस्स मज्झंमज्झेणं गंतुं पंथाए पडिबद्धं वा नो पन्नस्स जाव चिंताए, तह० उ० नो ठा० ॥१२ ॥

**छाया—** स भिक्षुर्वा० स यत् गृहपतिकुलस्य मध्यमध्येन गन्तुं पंथाः प्रतिबद्धं वा नो प्राज्ञस्य यावच्चिंतया तथाप्रकारे उपाश्रये न स्था०।

**पदार्थ—** से-वह। भिक्खू वा-साधु अथवा साध्वी। से जं०-वह जो फिर उपाश्रय को जाने, जिस उपाश्रय का मार्ग। गाहावइकुलस्स-गृहपति के घर के। मज्झंमज्झेणं-मध्य में होकर। गंतुं-जाने का। पंथाए-मार्ग है। वा-अथवा। पडिबद्धं-प्रतिबद्ध है अर्थात् उसके अनेक द्वार हैं तथा वहां पर स्त्री आदि विशेष रूप से आती-बैठती हैं तो। पन्नस्स-प्रज्ञावान साधु को। जाव चिंताए-यावत् पांच प्रकार का स्वाध्याय करना। नो-नहीं कल्पता है और। तहप्पगारे-तथाप्रकार के। उ०-उपाश्रय में। नो ठाणं-स्थानादि कायोत्सर्गादि करना योग्य नहीं है।

**मूलार्थ—**जिस उपाश्रय में जाने के लिए गृहपति के कुल से-गृहस्थ के घर से होकर जाना पड़ता हो, और जिसके अनेक द्वार हों ऐसे उपाश्रय में बुद्धिमान साधु को स्वाध्याय और कायोत्सर्ग-ध्यान नहीं करना चाहिए अर्थात् ऐसे उपाश्रय में वह न ठहरे।

**हिन्दी विवेचन**— प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि जिस उपाश्रय में जाने का मार्ग गृहस्थ के घर में से होकर जाता हो तो साधु को ऐसे स्थान में नहीं ठहरना चाहिए। क्योंकि, बार-बार गृहस्थ के घर में से आते-जाते स्त्रियों को देखकर साधु के मन में विकार जागृत हो सकता है तथा साधु के बार-बार आवागमन करने से गृहस्थ के कार्य में भी विघ्न पड़ सकता है या बहिनों के मन में संकोच या अन्य भावना उत्पन्न हो सकती है। इसी कारण आगम में ऐसे स्थानों में ठहरने का निषेध किया गया है, परन्तु साध्वियों के लिए ऐसे स्थान में ठहरने का निषेध नहीं किया गया है<sup>२</sup>।

१ इस संबन्ध में विशेष जानकारी करने की जिज्ञासा रखने वाले पाठकों को बृहत्कल्प सूत्र का १, २ उद्देशक और निशीथ सूत्र का ८वां उद्देशक देखना चाहिए।

२ नो कप्पइ निगंथाणं गाहावइकुलस्स मज्झंमज्झेणं ठातुं वत्थए। कप्पइ निगंथीणं गाहावइकुलस्स मज्झंमज्झेणं गंतुं वत्थए। - बृहत्कल्प सूत्र, १, ३३, ३४।



इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— से भिक्खू वा० से जं०, इह खलु गाहावई वा० कम्मकरीओ वा  
अन्नमन्नं अक्कोसंति वा जाव उह्वंति वा नो पन्नस्स० सेवं नच्चा तहप्पगारे उ०  
नो ठा० ॥१३॥

मूलम्— से भिक्खू वा० से जं पुण० इह खलु गाहावई वा कम्मकरीओ  
वा अन्नमन्नस्स गायं तिल्लेण वा नव० घ० वसाए वा अब्भंगेंति वा मक्खेंति वा  
नो पण्णस्स जाव तहप्प० उव० नो ठा० ॥१४॥

मूलम्— से भिक्खू वा० से जं पुण०—इह खलु गाहावई वा जाव  
कम्मकरीओ वा अन्नमन्नस्स गायं सिणाणेण वा क० लु० चु० प० आघंसंति वा  
पघंसंति वा उव्वलंति वा उव्वट्ठिंति वा नो पन्नस्स० ॥१५॥

मूलम्— से भिक्खू० से जं पुण उवस्सयं जाणिज्जा, इह खलु गाहावई  
वा जाव कम्मकरी वा अणमण्णस्स गायं सीओदग० उसिणो० उच्छो० प्होयंति  
वा सिंचंति वा सिणायंति वा नो पन्नस्स जाव नो ठाणं० ॥१६॥

छाया— स भिक्षुर्वा० स यत् इह खलु गृहपतिर्वा० कर्मकर्यो वा अन्योऽन्य आक्रोशन्ति  
वा यावत् उपद्रवन्ति वा नो प्राज्ञस्य० तदेवं ज्ञात्वा तथाप्रकारे उपाश्रये नो स्थानं० ॥ १३ ॥

छाया— स भिक्षु० स यत् पुनः० इह खलु गृहपतिः वा० कर्मकर्यो वा अन्योऽन्यस्य  
गात्रं तैलेन वा नवनीतेन वा घृतेन वा वसया वा अभ्यंगयन्ति वा प्रक्षयन्ति वा नो प्राज्ञस्य  
यावत् तथाप्रकारे उपाश्रये नो स्थानं० ॥ १४ ॥

छाया— स भिक्षुर्वा० स यत् पुनः इह खलु गृहपतिर्वा० यावत् कर्मकर्यो वा अन्योऽन्यस्य  
गात्रं स्नानेन वा कर्केण वा लोध्रेण वा चूर्णेन वा पद्मेन० आघर्षयन्ति वा प्रघर्षयन्ति उद्वलयन्ति  
वा उद्वर्तयन्ति वा नो प्राज्ञस्य० ॥ १५ ॥

छाया— स भिक्षुः० स यत् पुनरुपाश्रयं जानीयात्, इह खलु गृहपतिर्वा० यावत्  
कर्मकर्यो वा अन्योऽन्यस्य गात्रं शीतोदक० उष्णो० उच्छोल० प्रधावयन्ति वा सिंचन्ति वा स्नपयन्ति  
वा नो प्राज्ञस्य यावत् नो स्थानम्० ॥ १६ ॥

पदार्थ— से—वह। भिक्खू वा—साधु अथवा साध्वी। से जं—फिर वह जो उपाश्रय को जाने जैसे कि।  
इह खलु—निश्चय ही इस संसार में। गाहावई—गृहपति। जाव—यावत्। कम्मकरीओ वा—गृहपति की दासियें।  
अन्नमन्नं—परस्पर। अक्कोसंति वा—आक्रोश करती हैं। जाव—यावत्। उह्वंति वा—उपद्रव करती हैं अतः वहां।  
पन्नस्स—बुद्धिमान साधु को स्वाध्याय आदि नहीं करना चाहिए तथा। सेवं नच्चा—वह साधु इस प्रकार जानकर।  
तहप्पगारे—तथाप्रकार के। उ०—उपाश्रय में। नो ठा०—कायोत्सर्गादि न करे।

**पदार्थ**— से-वह। भिक्खू वा-साधु अथवा साध्वी। से जं-फिर जो उपाश्रय को जाने जैसे कि। इह खलु-निश्चय ही इस संसार में। गाहावई वा-गृहपति। जाव-यावत्। कम्मकरीओ वा-गृहपति की दासियें। अन्नमन्नस्स-परस्पर एक-दूसरे के। गायं-शरीर को। तिल्लेण वा-तेल से अथवा। नव-नवनीत-मक्खन से। घ-घी से। वसाए वा-वसा से। अब्भंगेति वा-मर्दन करते या करती हैं। मक्खेति वा-तेल आदि लगाती हैं तो। नो पण्णस्स-प्रज्ञावान साधु को वहां पर स्वाध्याय आदि नहीं करना चाहिए। जाव-यावत्। तहप्प-तथाप्रकार के। उप-उपाश्रय में। नो ठा-स्थानादि नहीं करना चाहिए।

**पदार्थ**— से-वह। भिक्खू वा-साधु अथवा साध्वी। से जं पुण-वह जो फिर उपाश्रय को जाने। इह खलु-निश्चय ही इस संसार में। गाहावई वा-गृहपति। जाव-यावत्। कम्मकरीओ वा-उसकी दासियें। अन्नमन्नस्स-परस्पर एक-दूसरे के। गायं-शरीर को। सिणाणेण वा-पानी से। क-कक-सुगन्धित द्रव्य से। लु-लोध्र से। चु-चूर्ण से-प-पद्म से-पद्म द्रव्य से। आघंसति वा-साफ करती हैं। पघंसति वा-प्रघर्षित करती हैं। उव्वलंति वा-तेल आदि से मर्दन करती हैं। उव्वट्ठति वा- उद्धर्तन करती हैं-उबटन करती हैं। नो पन्नस्स-अतः प्रज्ञावान साधु को इस प्रकार के उपाश्रय में स्वाध्याय और ध्यानादि नहीं करना चाहिए।

**पदार्थ**— से-वह। भिक्खू वा-साधु अथवा साध्वी। से जं पुण-फिर वह। उवस्सयं-उपाश्रय को जाने। इह खलु-निश्चय ही इस संसार में। गाहावई वा-गृहपति। जाव-यावत्। कम्मकरीओ वा-गृहपति की दासियें। अण्णमण्णस्स-परस्पर एक-दूसरे के। गायं-शरीर को। सीओदग-शीतल जल से। उसिणो-उष्ण जल से। उच्छो-अभिसिक्त करती हैं, छींटे देती हैं। पहोयंति-धोती हैं। सिंचंति-जल से सिंचन करती हैं। सिणायंति वा-स्नान करती हैं तो। नो पन्नस्स जाव नो ठाण-प्रज्ञावान् साधु को इस प्रकार के उपाश्रय में स्थानादि नहीं करना चाहिए।

**मूलार्थ**—साधु और साध्वी गृहस्थ के उपाश्रय को जाने, जैसे कि जिस उपाश्रय-बसती में, गृहपति और उसकी स्त्री यावत् दास-दासिएं परस्पर एक-दूसरे को आक्रोशती-कोसती हैं, मारती और पीटती यावत् उपद्रव करती हैं। तथा परस्पर एक-दूसरे के शरीर को तेल से, मक्खन से, घी से और वसा से मर्दन करती हैं और एक-दूसरे के शरीर को पानी से, कक से, लोध्र से, चूर्ण से और पद्मद्रव्य से साफ करती हैं मैल उतारती हैं तथा उबटन करती हैं और एक-दूसरे के शरीर को शीतल जल से, उष्ण जल से छींटे देती हैं, धोती हैं, जल से सिंचन करती हैं और स्नान कराती हैं, प्रज्ञावान् साधु को इस प्रकार के उपाश्रय में न ठहरना चाहिए और न कायोत्सर्गादि क्रियाएं करनी चाहिए।

**हिन्दी विवेचन**— प्रस्तुत चार सूत्रों में यह बताया गया है कि जिस वस्ती में स्त्रियां परस्पर लड़ती झगड़ती हों, मार-पीट करती हों, या एक-दूसरी के शरीर पर तेल आदि स्निग्ध पदार्थों की मालिश करती हों, मैल उतारती हों, या परस्पर पानी उछालती हों, छींटे मारती हों या इसी तरह की अन्य क्रीड़ाएं करती हों तो मुनि को ऐसे स्थान में नहीं ठहरना चाहिए। ये चारों सूत्र स्त्रियों से सम्बन्धित हैं, अतः ऐसे स्थानों में साधुओं को ठहरने के लिए निषेध किया गया है, क्योंकि, इससे उनके मन में विकार जागृत हो

सकता है। परन्तु, साध्वियां ऐसे स्थान में ठहर सकती हैं। यदि किसी वस्ती में उपरोक्त क्रियाएं पुरुष करते हों तो वहां साध्वियों को नहीं ठहरना चाहिए। छेद सूत्रों में भी बताया गया है कि जिस मकान में स्त्रियां रहती हों उस मकान में साधु को तथा जिस मकान में पुरुष रहते हों उस मकान में साध्वियों को ठहरना नहीं कल्पता<sup>१</sup>।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार लिखते हैं—

**मूलम्—** से भिक्खू वा० से जं० इह खलु गाहावई वा जाव कम्मकरीओ वा निगिणा ठिया निगिणा उल्लीणा मेहुणधम्मं विन्निविति रहस्सियं वा मंतं मंतंति नो पन्नस्स जाव नो ठाणं वा ३ चेइज्जा ॥९७ ॥

**छाया—** स भिक्षुर्वा० स यत् इह खलु गृहपतिर्वा यावत् कर्मकर्यो वा नग्नाः स्थिताः नग्नाः उपलीनाः मैथुनधर्मं विज्ञपयन्ति रहस्यं वा मंत्रं मंत्रयन्ते न प्राज्ञस्य यावन्न स्थानं वा ३ चेतयेत्।

**पदार्थ—** से-वह। भिक्खू वा०-साधु अथवा साध्वी। से जं०-यदि उपाश्रय के सम्बन्ध में जाने कि। खलु-वाक्यालंकार में है। इह-इस संसार में। गाहावई वा-गृहपति। जाव-यावत्। कम्मकरीओ वा-उसकी दासियां। निगिणा ठिया-नग्न हो कर खड़ी हैं। निगिणा उल्लीणा-नग्न प्रच्छन्न। मेहुणधम्मं-मैथुन धर्म विषयक। रहस्सियं-किंचित् रहस्य को। विन्निविति-परस्पर- आपस में कह रही हैं अथवा। मंतं मंतंति-अकार्य के लिए परस्पर गुप्त मन्त्रणा, गुप्त विचार करती हैं इसलिए। नो पन्नस्स जाव-प्रज्ञावान साधु को इस प्रकार के उपाश्रय में निष्क्रमण और प्रवेश नहीं करना चाहिए तथा। नो ठाणं वा ३ चेइज्जा-कायोत्सर्गादि भी नहीं करना चाहिए।

**मूलार्थ—**जिस उपाश्रय-वस्ती में गृहपति यावत् उसकी स्त्रियां और दासियां आदि नग्न अवस्था में खड़ी हैं, और नग्न होकर मैथुनधर्म विषय परस्पर वार्तालाप करती हैं, अथवा कोई रहस्यमय अकार्य के लिए गुप्तमन्त्रणा-गुप्त विचार करती हैं तो बुद्धिमान साधु को ऐसे उपाश्रय में नहीं ठहरना चाहिए और उसमें कायोत्सर्गादि भी नहीं करना चाहिए।

**हिन्दी विवेचन—** प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि जिस मकान में स्त्री-पुरुष नग्न होकर आमोद-प्रमोद में व्यस्त हों, विषय-भोग सम्बन्धी वार्तालाप करते हों, रात्रि में मैथुन सेवन के लिए परस्पर प्रार्थना करते हों या किसी रहस्यमय कार्य के लिए गुप्त मन्त्रणा कर रहे हों, तो विवेक सम्पन्न साधु को ऐसे

- १ नो कप्पइ निग्गंथाणं इत्थीसागारिणं उवस्सए वत्थए।
- कप्पइ निग्गंथाणं पुरिससागारिणं उवस्सए वत्थए।
- नो कप्पइ निग्गंथीणं पुरिससागारिणं उवस्सए वत्थए।
- कप्पइ निग्गंथीणं इत्थीसागारिणं उवस्सए वत्थए।
- नो कप्पइ निग्गंथाणं पडिबद्धए सेज्जाए वत्थए।
- कप्पइ निग्गंथीणं पडिबद्धए सेज्जाए वत्थए।

स्थान में नहीं ठहरना चाहिए। क्योंकि इससे साधु के स्वाध्याय, ध्यान एवं चिन्तन-मनन में विघ्न पड़ेगा और उसके मन में भी विकार भावना जागृत हो सकती है। इसलिए साधु को सदा ऐसे स्थानों से बचकर ही रहना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र से यह स्पष्ट होता है कि जब मानव मन में विषय-वासना की आग प्रज्वलित होती है तो उस समय वह अपना सारा विवेक भूल जाता है। कभी-कभी तो वह मानवीय सभ्यता को त्याग कर पशुता के स्तर पर भी पहुँच जाता है। उस समय उसे वस्त्रों का त्याग करने में भी हिचक नहीं होती और अश्लील शब्दों पर तो उसका जरा भी प्रतिबन्ध नहीं रहता है। इसलिए साधु-साध्वियों को ऐसे अश्लील वातावरण से सदा दूर रहना चाहिए।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्— से भिक्खू वा से जं पुण उ० आइन्नसंलिक्खं नो पन्नस्स० ॥१८ ॥**

**छाया— स भिक्षुर्वी स यत् पुनः उ० आकीर्णसंलेख्यं नो प्राज्ञस्य० ।**

**पदार्थ—** से-वह। भिक्खू वा-साधु अथवा साध्वी। से जं पुण उ०-फिर वह उपाश्रय के सम्बन्ध में यह जाने कि। आइन्नसंलिक्खं-जो मकान स्त्री-पुरुष आदि के चित्रों से सुसज्जित है तो। नो पन्नस्स-प्रज्ञावान साधु को उस स्थान पर नहीं ठहरना चाहिए और वहाँ स्वाध्याय आदि भी नहीं करना चाहिए।

**मूलार्थ—**जो उपाश्रय स्त्री-पुरुष आदि के चित्रों से सज्जित हो रहा है तो उस उपाश्रय में प्रज्ञावान साधु को नहीं ठहरना चाहिए और वहाँ पर स्वाध्याय अथवा ध्यानादि भी नहीं करना चाहिए।

**हिन्दी विवेचन—** प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि साधु को चित्रों से आकीर्ण उपाश्रय में नहीं ठहरना चाहिए। इसमें चित्र मात्र का उल्लेख किया गया है। यहाँ स्त्रियों एवं पुरुषों आदि के चित्र का भेद नहीं किया गया है। इससे यह ध्वनित होता है कि केवल चित्र का अवलोकन करने मात्र से ही विकार की जागृति नहीं होती। यदि स्त्री का चित्र देखते ही साधु का मन साधना के बांध को तोड़कर वासना की ओर प्रवहमान होने लगे तो फिर कोई भी साधु संयम में स्थिर नहीं रह सकेगा। क्योंकि, व्याख्यान सुनने एवं दर्शन के लिए आने वाली बहिनों को प्रत्यक्ष रूप में देखकर तथा आहार-पानी के समय भी उन्हें देखकर या उनसे बातें करके तो वह न मालूम कहां जा गिरेगा। अस्तु, संयम का नाश केवल स्त्री के चित्र या शरीर को देखने मात्र से नहीं होता, अपितु विकारी भाव से देखने पर होता है।

इससे प्रश्न पैदा होता है कि फिर सूत्रकार ने चित्रों से युक्त मकान में ठहरने का निषेध क्यों किया ? इसका समाधान यह है कि चित्र केवल विकृति के ही साधन नहीं हैं, उसका और रूप में भी प्रभाव पड़ता है। यदि केवल विकार उत्पन्न होने की दृष्टि से ही निषेध किया जाता तो यह उल्लेख अवश्य किया जाता कि साधु को स्त्री के चित्रों से चित्रित उपाश्रय में तथा साध्वी को पुरुषों के चित्र युक्त उपाश्रय में नहीं ठहरना चाहिए। परन्तु, प्रस्तुत सूत्र में तो केवल स्त्री-पुरुष के चित्र ही नहीं, अपितु पशु-पक्षी एवं नदी, पर्वत, जंगल आदि के प्राकृतिक चित्रों से युक्त उपाश्रय में भी ठहरने का निषेध किया है।

जब कि पशु-पक्षी एवं प्रकृति सम्बन्धी चित्रों को देखकर विकार भाव जागृत नहीं होते हैं। फिर भी इसका निषेध किया गया है। इसका मुख्य उद्देश्य यह है कि उपाश्रय में चित्रित चित्र चाहे स्त्री-पुरुष के हों या अन्य किन्हीं प्राणियों एवं प्राकृतिक दृश्यों के हों, साधु उन्हें देखने में व्यस्त हो जाएगा और उसका स्वाध्याय एवं ध्यान का समय चक्षुइन्द्रिय के पोषण में लग जाएगा। इस तरह उसकी ज्ञान और ध्यान की साधना में विघ्न पड़ेगा और यदि उन चित्रों में आसक्ति उत्पन्न हो गई तो मन में विकृत भाव भी उत्पन्न हो सकते हैं। अस्तु ज्ञान-दर्शन की साधना के प्रवाह को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए साधु को ऐसे स्थानों में ठहरने का निषेध किया गया है। छेद सूत्रों में भी ऐसे स्थानों में ठहरने का निषेध किया गया है<sup>१</sup>।

मकान में ठहरने के बाद तख्त आदि की आवश्यकता होती है, अतः साधु को कैसा तख्त ग्रहण करना चाहिए, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं-

**मूलम्-** से भिक्खू वा० अभिकंखिज्जा संथारगं एसित्तए, से जं० संथारगं जाणिज्जा सअंडं जाव ससंताणयं, तहप्पगारं संथारं लाभे संते नो पडि० १। से भिक्खू वा से जं० अप्पंडं जाव संताणगरुयं तहप्पगारं नो प० २। से भिक्खू वा० अप्पंडं लहुयं अपाडिहारियं तह० नो प० ३। से भिक्खू वा० अप्पंडं जाव अप्पसंताणगं लहुयं पाडिहारियं नो अहाबद्धं, तहप्पगारं लाभे संते नो पडिगाहिज्जा ४। से भिक्खू वा २ से जं पुण संथारगं जाणिज्जा अप्पंडं जाव संताणगं लहुअं पाडिहारियं अहाबद्धं, तहप्पगारं संथारगं लाभे संते पडिगाहिज्जा ५ ॥९९।

**छाया-** स भिक्षुर्वा० अभिकांक्षेत् संस्तारकं एषितुं स यत् संस्तारकं जानीयात् साण्डं यावत् संसतानकं तथाप्रकारं संस्तारकं लाभे सति न प्रति० १। स भिक्षुर्वा स यत् अल्पांडं यावत् सन्तानगुरुकं तथाप्रकारं नो प्र० २। स भिक्षुर्वा० अल्पांडं लघुकं अप्रतिहारकं तथाप्रकारं न प्र० ३। स भिक्षुर्वा० अल्पांडं यावत् अल्पसन्तानकं लघुकं प्रतिहारकं नो यथाबद्धं तथाप्रकारं लाभेसति नो प्रतिगृहणीयात् ४। स भिक्षुर्वा २ स यत् पुनः संस्तारकं जानीयात् अल्पांडं यावत् सन्तानकं लघुकं प्रतिहारकं यथाबद्धं तथाप्रकारं संस्तारकं लाभे सति प्रतिगृहणीयात् ५।

**पदार्थ-** से-वह। भिक्खू वा०-साधु या साध्वी। संथारगं-फलक आदि संस्तारक की। एसित्तए-गवेषणा करनी। अभिकंखेज्जा-चाहे तो। से जं०-वह भिक्षु-साधु। संथारगं-संस्तारक तख्त आदि जो। सअंडं-अंडों से युक्त है। जाव-यावत्। ससंताणयं-मकड़ी के जालों आदि से युक्त है। जाणिज्जा-जाने। तहप्पगारं-तथाप्रकार के। संथारं-संस्तारक को। लाभे संते-मिलने पर भी। नो पडि०-ग्रहण न करे।

से-वह। भिक्खू वा-साधु या साध्वी। से जं०-वह फिर संस्तारक को जाने जो। अप्पंडं-अंडों से

रहित है। जाव-यावत्। संताणगं-जालों से रहित है, किन्तु। गुरुयं-गुरु-भारी है। तहप्पगारं-तथाप्रकार के संस्तारक को मिलने पर ग्रहण न करे।

से-वह। भिक्खू वा-साधु या साध्वी संस्तारक को जाने; जैसे कि। अप्पंडं-अंडों से रहित है। लहुयं-लघु-हल्का भी है किन्तु। अप्पडिहारियं-गृहस्थ उसे देने के बाद वापिस लेना नहीं चाहता है। तह-तथाप्रकार के संस्तारक मिलने पर भी। नो प-ग्रहण न करे।

से-वह। भिक्खू वा-साधु या साध्वी संस्तारक को जाने जैसे कि। अप्पंडं-जो अंडों से रहित है। जाव-यावत्। अप्पसंताणगं-जाले आदि से रहित है। लहुयं-लघु भी है। पाडिहारियं-गृहस्थ देकर वापिस लेना भी स्वीकार करता है किन्तु। नो अहाबद्धं-उसके बन्धन शिथिल हैं तो। तहप्पगारं-इस प्रकार का संस्तारक। लाभे संते-मिलने पर भी। नो पडिगाहिजा-ग्रहण न करे।

से-वह। भिक्खू वा-साधु या साध्वी। से जं पुण-फिर जो। संथारगं-संस्तारक है उसे। जाणिजा-जाने। अप्पंडं-जो अंडो से रहित है। जाव-यावत्। संताणगं-जाला आदि से रहित है। लहुअं-लघु है। पाडिहारियं-गृहस्थ देकर फिर पीछे लेना स्वीकार करता है और। अहाबद्धं-उसके बन्धन भी दृढ़ हैं। तहप्पगारं-इस प्रकार का। संथारगं-संस्तारक। लाभे संते-मिलने पर। पडिगाहिजा-ग्रहण कर ले।

**मूलार्थ**—जो साधु या साध्वी फलक आदि संस्तारक की गवेषणा करनी चाहे तो वह संस्तारक के सम्बन्ध में यह जाने कि जो संस्तारक अण्डों से यावत् मकड़ी आदि के जालों से युक्त है, ऐसे संस्तारक को मिलने पर भी ग्रहण न करे।

इसी प्रकार जो संस्तारक अण्डों और जाले आदि से तो रहित है, किन्तु भारी है, ऐसे संस्तारक का भी मिलने पर ग्रहण न करे।

जो संस्तारक अण्डों आदि से रहित है एवं लघु भी है किन्तु गृहस्थ उसे देकर फिर वापिस लेना नहीं चाहता है, तो ऐसा संस्तारक भी मिलने पर स्वीकार न करे।

इसी तरह जो संस्तारक अण्डादि से रहित है, लघु है और गृहस्थ ने उसे वापिस लेना भी स्वीकार कर लिया है परन्तु उसके बन्धन शिथिल हैं तो ऐसा संस्तारक भी स्वीकार न करे।

जो संस्तारक अण्डों आदि से रहित है, लघु है, गृहस्थ ने वापिस लेना भी स्वीकार कर लिया है और उसके बन्धन भी सुदृढ़ हैं, तो ऐसे संस्तारक को मिलने पर साधु ग्रहण कर ले।

**हिन्दी विवेचन**—प्रस्तुत सूत्र में संस्तारक-तख्त, पट्टा आदि के ग्रहण करने की विधि बताई गई है। इसमें बताया गया है कि जो तख्त अण्डे एवं जीव-जन्तुओं से युक्त हो, भारी हो, जिसे गृहस्थ ने वापिस लेने से इन्कार कर दिया हो तथा जिसके बन्धन शिथिल (ढीले) हों, वह तख्त ग्रहण नहीं करना चाहिए। या चारों या इसमें से कोई भी एक कारण उपस्थित हो तो साधु-साध्वी को वैसा तख्त ग्रहण नहीं करना चाहिए। परन्तु, जो तख्त इन चारों कारणों से रहित हो वही तख्त साधु ग्रहण कर सकता है।

इसका कारण यह है कि अण्डे आदि से युक्त तख्त ग्रहण करने से जीवों की हिंसा होगी, अतः

संयम की विराधना होगी। और भारी तख्त उठाकर लाने से शरीर को संक्लेश होगा, कभी अधिक बोझ के कारण रास्ते में पैर के इधर-उधर पड़ने से पैर आदि में चोट भी आ सकती है, इस तरह आत्म विराधना होगी। यदि गृहस्थ उस तख्त को वापिस नहीं लेता है तो फिर साधु के सामने यह प्रश्न उपस्थित होगा कि वह उसे कहां रखे। क्योंकि उसे उठाकर तो वह विहार कर नहीं सकता, और एक व्यक्ति के यहां से ली हुई वस्तु दूसरे के यहां रख भी नहीं सकता, और यदि वह उसे यों ही त्याग देता है तो उसे परित्याग करने का दोष लगता है, और शिथिल बन्धन वाला तख्त लेने से उसे पलिमंथ दोष लगेगा। क्योंकि यदि उसकी कोई कील निकल गई या वह कहीं से टूट गया तो, साधु क्या करेगा। अतः साधु को इन सब दोषों से मुक्त तख्त ही ग्रहण करना चाहिए।

अस्तु जो तख्त अपण्डे, जाले आदि से रहित हो, वजन में हल्का हो<sup>१</sup>, साधु की आवश्यकता पूरी होने पर गृहस्थ उसे वापिस लेने के लिए कह चुका हो और जिसके बंधन मजबूत हों, वही तख्त साधु-साध्वी को ग्रहण करना चाहिए।

संस्तारक ग्रहण करने के लिए किए जाने वाले अभिग्रहों का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं-

**मूलम्—** इच्चेयाइं आयतणाइं उवाइक्कम-अह भिक्खू जाणिज्जा इमाइं चउहिं पडिमाहिं संथारगं एसित्तए, तत्थ खलु इमा पढमा पडिमा-से भिक्खू वा २ उद्दिसिय २संथारगं जाइज्जा; तंजहा-इक्कडं वा, कठिणं वा, जंतुयं वा, परगं वा, मोरगं वा, तणगं वा, सोरगं वा, कुसं वा, कुच्चगं वा, पिप्पलगं वा, पलालगं वा, से पुव्वामेव आलोइज्जा-आउसो त्ति वा भ० दाहिसि मे इत्तो अन्नयरं संथारगं ? तह० संथारगं सयं वा णं जाइज्जा, परो वा देज्जा, फासुयं एसणिज्जं जाव पडि०, पढमा पडिमा ॥१००॥

**छाया—** इत्येतानि आयतनानि उपातिक्रम्य-अथ भिक्षुः जानीयात् आभिः चतसृभिः प्रतिमाभिः संस्तारकमेषितुं तत्र खलु इयं प्रथमा प्रतिमा-स भिक्षुः वा २ उद्दिश्य २ संस्तारकं याचेत्, तद्यथा- इक्कडं वा, कठिनं वा, जन्तुकं वा, परकं वा, मयूरकं वा, तृणकं वा, सोरकं वा, कुशं वा, कुर्चकं वा, पिप्पलकं वा, पलालकं वा, स पूर्वमेव आलोचयेत्-आयुष्मन् ! इति वा भगिनि ! ( इति वा ) दास्यसि मे इतोऽन्यतरं संस्तारकं ? तथाप्रकारं संस्तारकं स्वयं वा याचयेत् परो वा दद्यात् प्रासुकमेषणीयं यावत् प्रतिगृहणीयात्, प्रथमा प्रतिमा ।

**पदार्थ—** इच्चेयाइं-ये सब पूर्वोक्त। आयतणाइं-वस्ती और संस्तारक के दोषों का स्थान है। उवाइक्कम-इसे अतिक्रम करके अर्थात् तद्गत दोषों को दूर करके। अह भिक्खू-अथ साधु। जाणिज्जा-यह

१ व्यवहार भाष्य में बताया गया है कि जिस तख्त को साधु सहज ही अर्थात् बिना किसी खेद के साथ एक ही हाथ से ( बिना दूसरे हाथ में बदलते हुए ) ला सके, ऐसा तख्त ग्रहण करना चाहिए।

जाने। इमाइं-इन। चउहिं-चार। पडिमाहिं-प्रतिमाओं-प्रतिज्ञाओं से साधु को। संधारगं-संस्तारक को। एसित्तए-गवेषणा करनी चाहिए। खलु-वाक्यालंकार में है। तत्थ-इन चार प्रतिमाओं-प्रतिज्ञाओं में से। इमा-यह। पढमा-पहली। पडिमा-प्रतिमा-प्रतिज्ञा है अर्थात् अभिग्रह विशेष है। से भिक्खू वा-वह साधु या साध्वी। उदिसिय २-नाम ले ले कर। संधारगं-संस्तारक की। जाइज्जा-याचना करे। तंजहा-जैसे कि। इक्कडं वा-तृण विशेष से निर्मित। कठिणं वा-बांस की त्वचा से निर्मित। जंतुयं वा-तृण से निष्पन्न। परगं वा-परक-जिससे पुष्पादि गून्धे जाते हैं, वह तृण। मोरगं वा-मयूर-पिच्छ से निर्मित। तणगं वा-तृण विशेष। सोरगं वा-कोमल तृण विशेष से निर्मित। कुसं वा-दूर्वा आदि से निष्पन्न। कुच्चयं वा-कूर्चक-जिससे कूर्चक बनाए जाते हैं उसका बना हुआ। पिप्पलगं वा-पीपल के काष्ठ विशेष से निर्मित और। फलगं वा-शाली आदि के घास से बना हुआ संस्तारक। से-वह साधु। पुष्वामेव-पहले ही। आलोइज्जा-देखे और कहे कि। आउसोत्ति वा-हे आयुष्मन् ! गृहस्थ ! भ०-हे भगिनि ! मे-मुझेको। इत्तो-इन संस्तारकों में से। अन्नयरं-कोई एक। संधारगं-संस्तारक। दाहिसि-दोगी ? तह०-तथाप्रकार के। संधारगं-संस्तारक की। सयं वा णं-स्वयं-अपने आप। जाइज्जा-याचना करे। वा-अथवा। परो-गृहस्थ बिना याचना किए ही। देज्जा-दे तो। फासुयं-उसे प्रासुक अथवा। एसणीयं-एषणीय मिलने पर। जाव-यावत्। पडि०-ग्रहण करे। पढमा पढिमा-यह पहली प्रतिमा अर्थात् अभिग्रह विशेष है।

**मूलार्थ**—साधु या साध्वी को बस्ती और संस्तारक सम्बन्धि दोषों को छोड़कर इन चार प्रतिज्ञाओं से संस्तारक की गवेषणा करनी चाहिए, इन चार प्रतिज्ञाओं में से पहली प्रतिज्ञा यह है—साधु तृण आदि का नाम ले लेकर याचना करे। जैसे— इक्कडं-तृण विशेष, कठिन बांस से उत्पन्न हुआ तृण विशेष, तृण विशेष, तृणविशेषोत्पन्न पुष्पादि के गुन्धन करने वाला मयूर पिच्छ से निष्पन्न संस्तारक, दूब, कुशादि से निर्मित संस्तारक पिप्पल और शाली आदि की पलाल आदि को देख कर साधु कहे कि हे आयुष्मन् गृहस्थ! अथवा भगिनि ! बहन ! क्या तुम मुझे इन संस्तारकों में से किसी एक संस्तारक को दोगी ? इस प्रकार के प्रासुक और निर्दोष संस्तारक की स्वयं याचना करे अथवा गृहस्थ ही बिना याचना किए दे तो साधु उसे ग्रहण कर सकता है। यह प्रथम अभिग्रह की विधि है।

**हिन्दी विवेचन**— प्रस्तुत सूत्र में निर्दोष संस्तारक की गवेषणा के लिए उदिष्ट, प्रेक्ष्य, तस्यैव और यथासंस्तुत<sup>१</sup> चार प्रकार के अभिग्रह का उल्लेख किया गया है। प्रस्तुत प्रसंग में सूत्रकार को संस्तारक से तृण, घास-फूस आदि बिछौना ही अभिप्रेत है। अतः यदि साधु-साध्वी को बिछाने के लिए तृण आदि की आवश्यकता पड़े तो, उन्हें ग्रहण करने के लिए वह साधु या साध्वी जिस प्रकार का तृण या घास ग्रहण करना हो उसका नाम लेकर उसकी गवेषणा करे। अर्थात् तृण आदि की याचना के लिए जाने से पूर्व यह उद्देश्य बना ले कि मुझे अमुक प्रकार के तृण का संस्तारक ग्रहण करना है। जैसे-इक्कडं आदि के तृण, जिनका नाम मूलार्थ में दिया गया है। इस तरह उस समय एवं आज भी साधु-साध्वी विभिन्न तरह के तृण एवं घास-फूस के बिछौने का प्रयोग करते हैं। अतः संस्तारक सम्बन्धी पहली प्रतिमा (अभिग्रह) है कि साधु यह निश्चय करके गवेषणा करे कि मुझे संस्तारक के लिए अमुक तरह का तृण ग्रहण करना है। इस

१. प्रस्तुत चार प्रतिमाओं में से जिनकल्पी मुनि को तस्यैव और यथासंस्तुत ये दो प्रतिमाएं ही कल्पती हैं। परन्तु, स्थविरकल्पी मुनि को चारों प्रतिमाएं कल्पती हैं।  
- आचाराङ्ग वृत्ति।



तरह साधु किसी भी एक प्रकार के तृण का नाम निश्चित करके उसकी याचना करता है और यदि कोई गृहस्थ उसे उस तरह के तृण का आमंत्रण करे तब भी वह उसे ग्रहण कर सकता है। यह प्रथम प्रतिमा हुई।

अब दूसरी एवं तीसरी प्रतिमा का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्—** अहावरा दुच्या पडिमा-से भिक्खू वा० पेहाए संथारगं जाइज्जा, तंजहा-गाहावइं वा कम्मकरिं वा से पुव्वामेव आलोइज्जा-आउं ? भइं ? दाहिसि मे? जाव-पडिगाहिज्जा, दुच्या पडिमा।

अहावरा तच्चा पडिमा-से भिक्खू वा०-जस्सुवस्सए संवसिज्जा जे तत्थ अहासमन्नागए, तंजहा-इक्कडे इ वा जाव पलाले इ वा तस्स लाभे संवसिज्जा, तस्सालाभे उक्कुडुए वा नेसज्जिए वा विहरिज्जा, तच्चा पडिमा ॥१०१॥

छाया— अथापरा द्वितीया प्रतिमा, स भिक्षुर्वा० प्रेक्ष्य संस्तारकं याचेत् तद्यथा- गृहपतिं वा कर्मकरिं वा स पूर्वमेव आलोचयेद् आयुष्मन्! भगिनि ! दास्यसि मे ? यावत् प्रतिगृहणीयाद्, द्वितीया प्रतिमा।

अथापरा तृतीया प्रतिमा स भिक्षुर्वा० यस्योपाश्रये संवसेद् ये तत्र यथा- समन्वागताः तद्यथा-इक्कड इति वा यावत् पलाल इति वा तस्य लाभे संवसेत् तस्यालाभे उत्कटुको वा निषण्णो वा विहरेत्, तृतीया प्रतिमा।

**पदार्थ—** अहावरा-अथ अन्य। दुच्या पडिमा-दूसरी प्रतिमा के सम्बन्ध में कहते हैं। से भिक्खू वा०-अभिग्रह करने वाला साधु या साध्वी। संथारगं-संस्तारक को। पेहाए-देख कर। जाइज्जा-याचना करे। तंजहा-जैसे कि। गाहावइं वा-गृहपति को अथवा। कम्मकरिं वा-दासी को। से-वह भिक्षु-साधु। पुव्वामेव-पहले ही। आलोइज्जा-देखे और उनके प्रति कहे। आउं-हे आयुष्मन् ! गृहपते ! अथवा। भइं-हे भगिनि ! मे-मुझे। दाहिसि-यह संस्तारक दोगी ? जाव-यावत्। पडिगाहिज्जा-उसके देने पर उसे ग्रहण करे। दुच्या-पडिमा-यह दूसरी प्रतिमा है।

**पदार्थ—** अहावरा-अथ अन्य। तच्चा पडिमा-तीसरी प्रतिमा के सम्बन्ध में कहते हैं जैसे कि। से भिक्खू वा०-वह साधु या साध्वी। जस्सुवस्सए-जिसके उपाश्रय में। संवसिज्जा-निवास करे। जे-जो। तत्थ-वहां पर अर्थात् उस उपाश्रय में। अहासमन्नागए-यावन्मात्र उस उपाश्रय में संस्तारक हैं-जैसे कि। इक्कडे इ वा-इक्कड तृण विशेष। जाव-यावत्। पलाले इ वा-पलाल आदि से निर्मित संस्तारक हैं। तस्स लाभे-अतः उसके मिलने पर। संवसिज्जा-वह वहां पर निवास करे अर्थात् उसके ऊपर शयनादि क्रिया करे। तस्सालाभे-उसके न मिलने पर अर्थात् उपाश्रय में उक्त प्रकार के तृण आदि के संस्तारकों के न मिलने पर। उक्कुडुए वा-वह उत्कटुक आसन। नेसज्जिए वा-पद्म आसन आदि के द्वारा। विहरिज्जा-विचरे अर्थात् रात्रि व्यतीत करे। तच्चा पडिमा-यह तीसरी प्रतिमा है।

**मूलार्थ**—द्वितीया प्रतिमा यह है कि साधु या साध्वी गृहपति आदि के परिवार में रखे हुए संस्तारक को देखकर उस की याचना करे— यथा—हे आयुष्मन् गृहस्थ ! अथवा बहन ! क्या तुम मुझे इन संस्तारकों में से अमुक संस्तारक दोगी ? तब यदि निर्दोष और प्रासुक संस्तारक मिले तो उसे लेकर वह संयम साधना में संलग्न रहे।

तृतीया प्रतिमा यह है कि साधु जिस उपाश्रय में रहना चाहता है यदि उसी उपाश्रय में संस्तारक विद्यमान हो तो गृहस्वामी की आज्ञा लेकर संस्तारक को स्वीकार करके विचरे, यदि उपाश्रय में संस्तारक विद्यमान नहीं है तो वह उत्कुटुक आसन, पद्मासन आदि आसनों के द्वारा रात्रि व्यतीत करे।

**हिन्दी विवेचन**— प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि गृहस्थ के घर में जो तृण आदि रखे हुए हैं, उन्हें देखकर साधु उसकी याचना करे और यदि वह प्रासुक एवं निर्दोष हों तो वह उन्हें ग्रहण करे। यह दूसरी प्रेक्ष्य प्रतिमा है। तीसरी प्रतिमा को स्वीकार करने वाला मुनि जिस उपाश्रय में ठहरना चाहता है उसी उपाश्रय में स्थित प्रासुक एवं निर्दोष तृण ही ग्रहण कर सकता है। यदि उपाश्रय में तृण आदि नहीं हैं तो वह उत्कुटुक या पद्मासन आदि आसनों से ध्यानस्थ होकर रात व्यतीत करे, परन्तु अन्य स्थान से लाकर तृण आदि न बिछाए। ये दोनों आसन कायोत्सर्ग से ही सम्बद्ध हैं। अतः इनका उल्लेख कायोत्सर्ग के लिए किया गया है। क्योंकि, कायोत्सर्ग का प्रमुख साधन आसन ही होता है। अतः प्रस्तुत उभय आसनों का उल्लेख करने का उद्देश्य यही है कि यदि तृतीया प्रतिमाधारी मुनि को उपाश्रय में संस्तारक प्राप्त न हो तो वह अपना समय ध्यान एवं चिन्तन-मनन में व्यतीत करे।

अब चतुर्थ प्रतिमा का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्**— अहावरा चउत्था पडिमा—से भिक्खू वा अहासंथडमेव संथारगं जाइज्जा, तंजहा—पुढविसिलं वा कट्ठसिलं वा अहासंथडमेव, तस्स लाभे संते संवसिज्जा, तस्सालाभे उक्कुडुए वा २ विहरिज्जा, चउत्था पडिमा ४ ॥१०२ ॥

**छाया**— अथापरा चतुर्थी प्रतिमा—स भिक्षुर्वा यथासंस्तृतमेव संस्तारकं याचेत् तद्यथा पृथ्वीशिलां वा काष्ठशिलां वा यथासंस्तृतमेव तस्य लाभे सति संवसेत् तस्यालाभे उत्कुटुको वा २ विहरेत्, चतुर्थी प्रतिमा।

**पदार्थ**— अहावरा—अथ अन्य। चउत्था पडिमा—चतुर्थी प्रतिमा के सम्बन्ध में कहते हैं, जैसे कि। से भिक्खू वा—वह साधु या साध्वी। अहासंथडमेव—जिस उपाश्रय में रहना चाहता है उस उपाश्रय में बिछाए हुए। संथारगं—संस्तारक की। जाइज्जा—याचना करे। तंजहा—जैसे कि। पुढविसिलं वा—पृथ्वी की शिला अथवा। कट्ठसिलं वा—काष्ठ की शिला-फलक आदि अथवा। अहासंथडमेव—जो तृणादि पहले से बिछाए हुए हैं। तस्स लाभे संते—उसके मिलने पर। संवसिज्जा—वह वहां निवास करे। तस्स अलाभे—और उसके न मिलने पर। उक्कुडुए वा—वह उत्कुटुक आसन वा पद्म आसनादि के द्वारा रात्रि व्यतीत करता हुआ। विहरिज्जा—विचरे-समय बिताए। चउत्था—पडिमा—यह चौथी प्रतिमा है।

**मूलार्थ—** चतुर्थी प्रतिमा में यह अभिग्रह होता है कि -उपाश्रय में संस्तारक पहले से ही बिछा हुआ हो, या पत्थर की शिला या काष्ठ का तख्त बिछा हुआ हो तो वह उस पर शयन कर सकता है। यदि वहाँ कोई भी संस्तारक बिछा हुआ न मिले तो पूर्व कथित आसनों के द्वारा रात्रि व्यतीत करे, यह चौथी प्रतिमा है।

**हिन्दी विवेचन—** प्रस्तुत सूत्र में चतुर्थी प्रतिमा के सम्बन्ध में यह बताया गया है कि उक्त प्रतिमा को स्वीकार करने वाला मुनि जिस उपाश्रय में ठहरे उस उपाश्रय में प्रासुक एवं निर्दोष तृण आदि पहले से बिछे हुए हों या पत्थर की शिला या लकड़ी का तख्त बिछा हुआ हो तो वह उस पर शयन कर सकता है, अन्यथा तृतीया प्रतिमा में उल्लिखित आसनों के द्वारा रात्रि को आध्यात्मिक चिन्तन करते हुए व्यतीत करता है, परन्तु स्वयं संस्तारक बिछाकर शयन नहीं कर सकता है।

इससे स्पष्ट होता है कि अन्तिम की दोनों प्रतिमाएं ध्यान एवं स्वाध्याय आदि की दृष्टि से रखी गई हैं। वृत्तिकार का भी यही मन्तव्य है। प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'कट्टसिलं' पद का तात्पर्य काष्ठ के तख्त से ही है।

संस्तारक सम्बन्धी प्रतिमाओं के विषय का उपसंहार करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्— इच्छेयाणं चउण्हं पडिमाणं अन्नयरं पडिमं पडिवज्जमाणे तं चेव जाव अन्नोऽन्नसमाहिए एवं च णं विहरंति ॥१०३॥**

**छाया—** इत्येतासां चतसृणां प्रतिमानामन्यतरां प्रतिमां प्रतिपद्यमानः तच्चैव यावद् अन्नोऽन्नसमाधिना एवं च विहरन्ति।

**पदार्थ—** इच्छेयाणं—इन। चउण्हं—चार। पडिमाणं—प्रतिमाओं में से। अन्नयरं पडिमं—किसी एक प्रतिमा को। पडिवज्जमाणे—ग्रहण करता हुआ अन्य प्रतिमाधारी साधु की हीलना न करे किन्तु। तं चेव—शेष वर्णन पिण्डैषणा की तरह जानना। जाव—यावत्। अन्नोऽन्नसमाहिए—परस्पर समाधि के द्वारा बुद्धिमान साधु। एवं—इस प्रकार से। विहरंति—विचरते हैं। च णं—पूर्ववत्।

**मूलार्थ—** इन चार प्रतिमाओं में से किसी एक प्रतिमा को धारण करके विचरने वाला साधु, अन्य प्रतिमाधारी साधुओं की अवहेलना निन्दा न करे। किन्तु, सब साधु जिनेन्द्र देव की आज्ञा में विचरते हैं ऐसा समझ कर परस्पर समाधि-पूर्वक विचरण करे।

**हिन्दी विवेचन—** प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि भगवान की आज्ञा के अनुरूप आचरण करने वाले सभी साधु समाधियुक्त एवं मोक्ष मार्ग के आराधक होने से वन्दनीय एवं पूजनीय हैं। अतः उक्त चारों प्रतिमाओं में से किसी एक प्रतिमा को धारण करने वाले मुनि को अन्य मुनियों को अपने से तुच्छ समझकर गर्व नहीं करना चाहिए। क्योंकि, त्याग चारित्र्यवरणीय कर्म के क्षयोपशम के अनुरूप ही ग्रहण किया जाता है। अतः प्रत्येक चारित्र्य निष्ठ मुनि का सम्मान करना चाहिए और अपने अहंकार का त्याग करके सबके साथ प्रेम-स्नेह रखना चाहिए।

गृहस्थ से ग्रहण किए गए संस्तारक को वापिस लौटाने की विधि का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्—** से भिक्खू वा अभिकंखिज्जा संथारगं पच्चप्पिणित्तए, से जं पुण संथारगं जाणिज्जा सअंडं जाव ससंताणयं तहप्पं संथारगं नो पच्चप्पिणिज्जा ॥१०४॥

**छाया—** स भिक्षुर्वा० अभिकांक्षेत् संस्तारकं प्रत्यर्पयितुं स यत् पुनः संस्तारकं जानीयात् साण्डं यावत् ससन्तानकं तथाप्रकारं संस्तारकं न प्रत्यर्पयेत् ।

**पदार्थ—** से-वह। भिक्खू वा-साधु अथवा साध्वी। संथारगं-संस्तारक को। पच्चप्पिणित्तए-गृहस्थ को पीछे देना। अभिकंखिज्जा-चाहे तब। से-वह भिक्षु। जं पुण-जो फिर। संथारगं-संस्तारक को। जाणिज्जा-जाने कि। सअंडं-जो संस्तारक अण्डों से युक्त। जाव-यावत्। ससंताणयं-मकड़ी आदि के जालों से युक्त है। तहप्पगारं-उस प्रकार के। संथारगं-संस्तारक को। नो पच्चप्पिणिज्जा-गृहस्थ को प्रत्यर्पण न करे अर्थात् गृहस्थ को वापिस न देवे।

**मूलार्थ—** साधु या साध्वी यदि प्रतिहारिक संस्तारक, गृहस्थ को वापिस देना चाहे तो वह संस्तारक अण्डों यावत् मकड़ी के जाले आदि से युक्त नहीं होना चाहिए। यदि वह इन से युक्त है तो वह उसे गृहस्थ को वापिस न करे।

**हिन्दी विवेचन—**प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि साधु को अपनी नेत्राय में स्थित प्रत्येक वस्तु की प्रतिलेखना करते रहना चाहिए। चाहे वह वस्तु गृहस्थ को वापिस लौटाने की भी क्यों न हो, फिर भी जब तक साधु के पास है, तब तक प्रतिदिन नियत समय पर उसका प्रतिलेखन करना चाहिए। जिससे उस में जीव-जन्तु की उत्पत्ति न हो। और उसे वापिस लौटाने समय भी प्रतिलेखन करके लौटाना चाहिए। यदि कभी संस्तारक पर किसी पक्षी ने अंडे दे दिए हों या मकड़ी ने जाले बना लिए हों तो वह संस्तारक गृहस्थ को वापिस नहीं देना चाहिए। क्योंकि, गृहस्थ उसे शुद्ध बनाने का प्रयत्न करेगा और परिणामस्वरूप उन जीवों की घात हो जाएगी। इस तरह साधु के प्रथम महाव्रत में दोष लगेगा, अतः उन जीवों की रक्षा के लिए ऐसे संस्तारक को वापिस नहीं लौटाना चाहिए।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्—** से भिक्खू० अभिकंखिज्जा सं० से जं० अप्पंडं० तहप्पगारं संथारगं पडिलेहिय २ पं० २ आयाविय २ विहुणिय २ तओ संजयामेव पच्चप्पिणिज्जा ॥१०५॥

**छाया—** स भिक्षुः० अभिकांक्षेत् सं० स यत् अत्पांडं० तथाप्रकारं संस्तारकं प्रतिलिख्य २ प्रं० २ आताप्य २ विधूय २ ततः संयतमेव प्रत्यर्पयेत् ।

**पदार्थ—** से भिक्खू०-वह साधु या साध्वी। संथारगं-संस्तारक को गृहस्थ के प्रति अर्पण करना। अभिकंखिज्जा-चाहे तो। से-वह साधु। जं-जो संस्तारक। अप्पंडं-अंडादि से रहित हो। तहप्पगारं-तथाप्रकार के संस्तारक को। पडिलेहिय २-दृष्टि से प्रतिलेखन करके। पमजिय २-रजोहरण आदि से प्रमार्जित करके।

आयाविय २-सूर्य की आतापना देकर और। विहुणिय २-यत्नापूर्वक झाड़कर। तओ-तदनन्तर। संजयामेव-यत्नापूर्वक। पच्चप्पिणिज्जा-गृहस्थ को वापिस लौटाए।

**मूलार्थ**—अण्डे एवं मकड़ी के जाले आदि से रहित जिस संस्तारक को साधु-साध्वी वापिस लौटाना चाहे, तो वह उसका प्रतिलेखन करके, रजोहरण से प्रमार्जित करके, सूर्य की धूप में सुखा कर एवं यत्ना पूर्वक झाड़ कर फिर गृहस्थ को लौटावे।

**हिन्दी विवेचन**— इस सूत्र में बताया गया है कि साधु को गृहस्थ के घर से लाए हुए संस्तारक को वापिस लौटाते समय उसकी शुद्धता का पूरा ख्याल रखना चाहिए। प्रतिदिन उसकी प्रतिलेखना करनी चाहिए जिससे उस पर जीव-जन्तु पैदा न हों, और वापिस लौटाते समय भी उसे अच्छी तरह से देख लेना चाहिए और रजोहरण से प्रमार्जन कर लेना चाहिए जिससे उस पर कूड़ा-कंकट भी न जमा रहे। इतना ही नहीं, फिर उसे सूर्य की धूप में रखकर और भली-भांति झाड़-पोंछकर लौटाना चाहिए। इससे साधु जीवन की व्यवहारिकता पर विशेष प्रकाश डाला गया है। यदि वह उस संस्तारक को बिना साफ किए ही दे आएगा, तो गृहस्थ उसे साफ करके रखेगा और यह भी स्पष्ट है कि वह सफाई करते समय साधु जितना विवेक नहीं रख सकेगा, अतः साधु को ऐसी स्थिति ही नहीं आने देनी चाहिए कि उसके द्वारा उपभोग किए गए संस्तारक को साफ करने के लिए कोई अयत्नापूर्वक प्रयत्न करे। दूसरे में साफ की हुई वस्तु को देखकर गृहस्थ के मन में फिर से किसी साधु को देने की भावना सहज ही जागृत होगी और अस्वच्छ रूप में प्राप्त करके उसके मन में कुछ रोष भी आ सकता है। अतः गृहस्थ के यहां से लाए हुए संस्तारक आदि को यत्नापूर्वक साफ करके ही लौटाना चाहिए।

साधु को बस्ती में किस तरह निवास करना चाहिए इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्**— से भिक्खू वा० समाणे वा वसमाणे वा गामाणुगामं दूइज्जमाणे वा पुव्वामेव पन्नस्स उच्चारपासवणभूमिं पडिलेहिज्जा, केवली बूया-आयाणमेयं, अपडिलेहियाए उच्चारपासवणभूमीए, से भिक्खू वा० राओ वा वियाले वा उच्चारपासवणं परिट्ठवेमाणे पयलिज्ज वा २, से तत्थ पयलमाणे वा २ हत्थं वा पायं वा जाव लूसेज्ज वा पाणाणि वा ४ ववरोविज्जा, अह भिक्खूणं पु० जं पुव्वामेव पन्नस्स उ० भूमिं पडिलेहिज्जा ॥१०६ ॥

**छाया**— स भिक्षुर्वा० समानो वा बसन् वा ग्रामानुग्रामं गच्छन् वा पूर्वमेव प्राज्ञस्य उच्चारप्रस्रवणभूमिं प्रतिलेखयेत्। केवली बूयात्-आदानमेतत् अप्रतिलिखितायां उच्चारप्रस्रवणभूमौ, स भिक्षुः वा० रात्रौ वा विकाले वा उच्चारप्रस्रवणं-परिष्ठापयन् प्रस्रखलेद् वा सः तत्र प्रस्रखलन् वा० हस्तं वा पादं वा यावत् लूषयेत् प्राणान् वा ४ व्यपरोपयेत्, अथ भिक्षूणां पूर्वोपदिष्टं यत् पूर्वमेव प्राज्ञस्य उच्चारप्रस्रवणभूमिं प्रतिलेखयेत्।

**पदार्थ**— से-वह। भिक्खू वा-साधु अथवा साध्वी। समाणे वा-जंघादि बल से क्षीण होने के कारण किसी एक स्थान में रहता हुआ। वसमाणे वा-वस्ती में मास कल्पादि करके निवास करता हुआ। गामाणुगामं दूडुज्जमाणे वा-ग्रामानुग्राम-एक ग्राम से दूसरे ग्राम में विहार करता हुआ जहां पर जाकर रहे वहां पर। पुव्वामेव-पहले ही। पन्नस्स-प्रज्ञावान् साधु को योग्य है कि वह। उच्चारपासवणभूमिं-उच्चार-मल-मूत्र त्यागने की भूमि को। पडिलेहिज्जा-अपनी दृष्टि से भली-भांति अवलोकन करे, क्योंकि। केवली बूया-केवली भगवान कहते हैं। आयाणमेयं-कि यह कर्म बन्धन का कारण है। क्योंकि। अपडिलेहियाए-बिना प्रतिलेखन की हुई। उच्चारपासवणभूमिए-मल-मूत्र परित्याग करने की भूमि में। से भिक्खू-वह भिक्षु कदाचित्। राओ वा-रात्रि में। वियाले वा-विकाल में। उच्चारपासवणं-मल-मूत्र को। परिट्ठवेमाणे-परठता हुआ। पयलिज्ज वा २-फिसल जाए या गिर पड़े तो। तत्थ-वहां पर। पयलमाणे वा २-उसके फिसलने एवं गिरने से। से-उसके। हत्थं वा-हाथ। पायं वा-या पैर। जाव-यावत् अन्य कोई शरीर का अंग ही। लूसेज्ज वा-दूट जाएगा या। पाणाणि वा-अन्य किसी त्रस प्राणी का। ववरोविज्ज वा-विनाश हो जाएगा। अह भिक्खूणां-इस लिए साधु को। पुं-तीर्थकरादि ने पहले ही उपदेश दिया है कि। जं-जो। पन्नस्स-प्रज्ञावान् साधु को चाहिए कि वह। पुव्वामेव-पहले ही। उं भूमिं-मल-मूत्र त्यागने की भूमि का। पडिलेहिज्जा-सम्यक्तया अवलोकन करे।

**मूलार्थ**—जो साधु या साध्वी जंघादि बल से क्षीण होने के कारण एक स्थान में स्थित हो, या उपाश्रय में मास कल्पादि से रहता हो या ग्रामानुग्राम विहार करता हुआ उपाश्रय में आकर रहे तो उस बुद्धिमान साधु को चाहिए कि वह जिस स्थान में ठहरे, वहां पर पहले मल-मूत्र का त्याग करने की भूमि को अच्छी तरह से देख ले। क्योंकि भगवान ने बिना देखी भूमि को कर्म बन्धन का कारण कहा है। बिना देखी हुई भूमि में कोई भी साधु या साध्वी रात्रि में अथवा विकाल में मल-मूत्रादि को परठता हुआ यदि कभी पैर फिसलने से गिर पड़े, तो उसके फिसलने या गिरने से उसके हाथ-पैर या शरीर के किसी अवयव को आघात पहुंचेगा या उसके गिरने से वहां स्थित अन्य किसी क्षुद्र जीव का विनाश हो जाएगा। यह सब कुछ संभव है, इसलिए तीर्थकरादि आप्त पुरुषों ने पहले ही भिक्षुओं को यह आदेश दिया है कि साधु को उपाश्रय में निवास करने से पहले वहां मल-मूत्र त्यागने की भूमि की अवश्य ही प्रतिलेखना कर लेनी चाहिए।

**हिन्दी विवेचन**—इस सूत्र में साधु को यह आदेश दिया गया है कि वह जिस मकान में स्थानापति रहना चाहे या मास एवं वर्षावास कल्प के लिए ठहरे या विहार करते हुए कुछ समय के लिए ठहरे, तो उसे उस मकान में मल-मूत्र त्याग करने की भूमि अवश्य देख लेनी चाहिए। क्योंकि, यदि वह दिन में उक्त भूमि की प्रतिलेखना नहीं करेगा तो सम्भव है कि रात्रि के समय भूमि की विषमता आदि का ज्ञान न होने से उसका पैर फिसल जाए और परिणामस्वरूप उसके हाथ-पैर में चोट आ जाए और उसके शरीर के नीचे दब कर छोटे-मोटे जीव-जन्तु भी मर जाएं। इस लिए भगवान ने सबसे पहले मल-मूत्र का त्याग करने की भूमि का प्रतिलेखन करना जरूरी बताया है और बिना देखी भूमि में मल-मूत्र का त्याग करने की प्रवृत्ति को कर्म बन्ध का कारण बताया है।

अब संस्तारक भूमि का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्**— से भिक्खू वा २ अभिकंखिज्जा सिज्जासंथारगभूमिं

पडिलेहित्त्वा, नन्नत्थ आयरिण वा उ० जाव गणावच्छेण वा बालेण वा वुड्ढेण वा सेहेण वा गिलाणेण वा आएसेण वा अंतेण वा मज्जेण वा समेण वा विसमेण वा पवाएण वा निवाएण वा तओ संजयामेव पडिलेहिय २ पमज्जिय २ तओ संजयामेव बहुफासुयं सिज्जासंथारगं संथरिज्जा ॥१०७॥

छाया- स भिक्षुर्वा २ अभिकांक्षेत् शय्यासंस्तारकभूमिं प्रतिलेखयितुं नान्यत्र आचार्येण वा उपाध्यायेन वा यावत् गणावच्छेदकेन वा बालेन वा वृद्धेन वा शैक्षेण वा ग्लानेन वा आदेशेन वा अन्तेन वा मध्येन वा समेन वा विषमेण वा प्रवातेन वा निर्वातेन वा ततः संयतमेव प्रतिलिख्य प्रतिलिख्य प्रमृज्य प्रमृज्य ततः संयतमेव बहुप्रासुकं शय्यासंस्तारकं संस्तरेत्।

पदार्थ- से भिक्षु वा-वह साधु या साध्वी। सिज्जासंथारगभूमिं-शय्या संस्तारक की भूमि का। पडिलेहित्त्वा-प्रतिलेखन करना। अभिकांखेज्जा-चाहे। नन्नत्थ-इतना विशेष है कि। आयरिण वा-आचार्य। उ०-उपाध्याय। जाव-यावत्। गणावच्छेण वा-गणावच्छेदक अथवा। बालेण वा-बालक साधु। वुड्ढेण वा-वृद्ध साधु। सेहेण वा-नव दीक्षित साधु। गिलाणेण वा-रोगी या। आएसेण वा-मेहमान, साधु ने शयन करने के लिए जो भूमि स्वीकार कर रखी है उसको छोड़कर उपाश्रय के। अंतेण वा-अन्दर या। मज्जेण वा-मध्य स्थान में। समेण वा-सम स्थान में। विसमेण वा-विषम स्थान में। पवाएण वा-अत्यन्त वायु युक्त स्थान में। निवाएण वा-वायु रहित स्थान में। तओ-तदनन्तर। संजयामेव-यतना पूर्वक। पडिलेहिय २-भूमि की प्रतिलेखना करके। पमज्जिय २-और प्रमार्जना करके। तओ-तत् पश्चात्। संजयामेव-यत्ना पूर्वक। बहुफासुयं-अत्यन्त प्रासुक। सिज्जासंथारगं-शय्या संस्तारक को। संथरिज्जा-बिछाए।

मूलार्थ- साधु या साध्वी यदि शय्या संस्तारक भूमि की प्रतिलेखना करनी चाहे तो आचार्य, उपाध्याय यावत् गणावच्छेदक, बाल, वृद्ध, नव दीक्षित, रोगी और मेहमान रूप से आए साधु के द्वारा स्वीकार की हुई भूमि को छोड़कर उपाश्रय के अन्दर, मध्यस्थान में या सम और विषम स्थान में या वायु युक्त और वायु रहित स्थान में भूमि की प्रतिलेखना, और प्रमार्जना करके तदनन्तर अत्यन्त प्रासुक शय्या-संस्तारक को बिछाए।

हिन्दी विवेचन- प्रस्तुत सूत्र में शयन करने की विधि का उल्लेख करते हुए बताया गया है कि साधु को आसन बिछाते समय यह देखना चाहिए कि आचार्य, उपाध्याय आदि ने कहां आसन लगाया है। उन्होंने जिस स्थान पर आसन किया हो उस स्थान को छोड़कर शेष अवशिष्ट भाग में सम-विषम, हवादार या बिना हवा वाली जैसी भी भूमि हो उसका प्रतिलेखन करके वहां पर आसन कर ले। इसका तात्पर्य यह है कि वह आचार्य आदि की सुविधा का ध्यान अवश्य रखे। इसके लिए वह विषम एवं बिना हवादार भूमि पर आसन अवश्य कर ले, परन्तु उसके लिए किसी के स्थान का परिवर्तन न करे और न परिवर्तन करने के लिए संघर्ष करे। इससे साधु समाज के पारस्परिक प्रेम-स्नेह का भाव अभिव्यक्त होता है।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'सिञ्जा संधारणं' का अर्थ है शय्या या आसन करने का उपकरण<sup>१</sup>। साधु को संस्तारक पर कैसे बैठना चाहिए, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्—** से भिक्खू वा० बहु० संधरित्ता अभिकंखिज्जा— बहुफासुए सिञ्जासंधारए दुरुहित्तए ॥ से भिक्खू बहु० दुरुहमाणे पुव्वामेव ससीसोवरियं कायं पाए य पमज्जिय २ तओ संजयामेव बहु० दुरुहित्ता तओ संजयामेव बहु० सइज्जा ॥१०८ ॥

छाया— स भिक्षुः वा० बहु० संस्तीर्य अभिकांक्षेत् बहुप्रासुके शय्यासंस्तारके दूरोहितुं, स भिक्षुः० बहु० दूरोहन् पूर्वमेव सशीर्षोपरिकं कायं पादौ च प्रमृज्य २ ततः संयतमेव बहु० दूरुह्य ततः संयतमेव बहु० शयीत ।

**पदार्थ—** से भिक्खू वा०—वह साधु या साध्वी। बहु०—बहु प्रासुक शय्या संस्तारक को। संधरित्ता—बिछा करके। बहुफासुए—बहु प्रासुक। सिञ्जासंधारए—शय्या संस्तारक पर। दुरुहित्तए—बैठना। अभिकंखिज्जा—चाहे तो—अब सूत्रकार बैठने के विषय में कहते हैं। से भिक्खू— वह साधु या साध्वी। बहु०—बहु प्रासुक शय्या संस्तारक पर। दुरुहमाणे—बैठता हुआ। पुव्वामेव—बैठने से पहले ही। ससीसोवरियं कायं—शीर्ष-सिर के ऊपर का भाग और सर्व शरीर, तथा। पाए—पैर पर्यन्त। पमज्जिय २—सारे शरीर को प्रमार्जित करके। तओ—तदनन्तर। संजयामेव—साधु या साध्वी यत्ना पूर्वक। बहु०—बहु प्रासुक शय्या संस्तारक पर बैठे। दुरुहित्ता—बैठकर। तओ—तदनन्तर। संजयामेव—संयत—साधु या साध्वी। बहु०—बहु प्रासुक शय्या संस्तारक पर यतना पूर्वक। सइज्जा—शयन करे।

**मूलार्थ—** साधु या साध्वी प्रासुक शय्यासंस्तारक पर जब बैठकर शयन करना चाहे तब पहले सिर से लेकर पैरों तक शरीर को प्रमार्जित करके फिर यतना पूर्वक उस पर शयन करे।

**हिन्दी विवेचन—** प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि साधु संस्तारक को यत्ना पूर्वक बिछाने के बाद उस पर शयन करने से पहले अपने शरीर का सिर से लेकर पैरों तक प्रमार्जन कर ले। क्योंकि, यदि शरीर पर कोई क्षुद्र जन्तु चढ़ गया हो या बैठ गया हो तो उसकी हिंसा न हो जाए और शरीर पर लगी हुई धूल से वस्त्र भी मैले न हों। अस्तु, संयम की साधना को शुद्ध बनाए रखने के लिए साधु को शरीर का प्रमार्जन करके ही शयन करना चाहिए।

शयन किस तरह करना चाहिए, उसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्—** से भिक्खू वा० सयमाणे नो अन्नमन्नस्स हत्थेण हत्थं, पाएण पायं, कायेण कायं आसाइज्जा, से अनासायमाणे तओ संजयामेव बहु० सइज्जा ॥ से भिक्खू वा० उस्सासमाणे वा, नीसासमाणे वा, कासमाणे वा, छीयमाणे वा, जंभायमाणे वा, उड्डोए वा, वायनिसग्गं वा करेमाणे पुव्वामेव आसयं वा,



पोसयं वा पाणिणा परिपिहित्ता तओ संजयामेव ऊससिज्जा वा जाव वायनिसर्गं वा करेज्जा ॥१०९॥

छाया- स भिक्षु वा० बहु० शयानः न अन्योऽन्यस्य हस्तेन हस्तं, पादेन पादं, कायेन कायं आशातयेत् स अनाशातयन् ततः संयतमेव बहु० शयीत। सभिक्षुः वा० उच्छ्वसन् वा निश्श्वसन् वा कासमानः वा क्षुतंकुर्वाणः वा जृम्भमाणो वा उद्गिरन् वा वातनिसर्गं कुर्वन् वा पूर्वमेव वा आस्यं वा पोष्यं वा पाणिना परिपिधाय ततः संयतमेव उच्छ्वसेत् वा यावत् वातनिसर्गं वा कुर्यात्।

पदार्थ- से भिक्खू वा-वह साधु या साध्वी। बहु०-बहु प्रासुक शय्या संस्तारक पर। सयमाणे-शयन करता हुआ। अन्नमन्नस्स-परस्पर-एक साधु दूसरे साधु के प्रति। हत्थेण हत्थं-अपने हाथ से दूसरे के हाथ को। पाएण-पैर से दूसरे के। पायं-पैर को। कायेण कायं-शरीर से दूसरे के शरीर को। नो आसाइज्जा-आशातना न करे। से-वह साधु। अणासायमाणे-आशातना न करता हुआ। तओ-तदनन्तर। संजयामेव-यत्ना पूर्वक। बहु०-प्रासुक शय्या संस्तारक पर। सइज्जा-शयन करे।

से भिक्खू वा-वह साधु अथवा साध्वी। उस्सासमाणे वा-उच्छ्वास लेता हुआ, अथवा। नीसासमाणे वा-निश्वास लेता हुआ इसी प्रकार। कासमाणे वा-खांसता हुआ। छीयमाणे वा-छींकता हुआ। जंभायमाणे वा-उवासी लेता हुआ। उड्ढोए वा-डकार लेता हुआ अथवा। वायनिसर्गं वा करेमाणे-अपान वायु को छोड़ता हुआ। पुव्वामेव-पहले ही। आसयं वा पोसयं वा-मुख को, या गुदा को। पाणिणा-हाथ से। परिपिहित्ता-ढांप कर। तओ-तत् पश्चात्। संजयामेव-यत्ना पूर्वक। ऊससिज्जा वा-उच्छ्वास ले। जाव-यावत्। वायनिसर्गं वा-अपान वायु का निस्सरण। करेज्जा-करे अर्थात् अधो द्वार से वायु को छोड़े।

मूलार्थ- साधु या साध्वी शयन करते हुए परस्पर-एक-दूसरे को अपने हाथ से दूसरे के हाथ की, पैर से दूसरे के पैर की और शरीर से दूसरे के शरीर की आशातना न करे। अर्थात् इनका एक-दूसरे से स्पर्श न हो। किन्तु आशातना न करते हुए ही शयन करे।

इसके अतिरिक्त साधु या साध्वी उच्छ्वास अथवा निश्वास लेता हुआ, खांसता हुआ, छींकता हुआ, उवासी लेता हुआ अथवा अपान वायु को छोड़ता हुआ पहले ही मुख या गुदा को हाथ से ढांप कर उच्छ्वास ले या अपान वायु का परित्याग करे।

हिन्दी विवेचन- प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि साधु को शयन करते समय अपने हाथ-पैर से एक-दूसरे साधु की आशातना नहीं करनी चाहिए। अपने शरीर एवं हाथ-पैर का दूसरे के शरीर आदि से स्पर्श नहीं करना चाहिए। क्योंकि, ऐसी प्रवृत्ति से शारीरिक कुचेष्टा एवं अविनय प्रकट होता है, और मनोवृत्ति की चञ्चलता एवं मोहनीय कर्म की उदीरणा के कारण मोहनीय कर्म का उदय भी हो सकता है। अतः साधु को शयन करते समय किसी भी साधु के शरीर को हाथ एवं पैर आदि से स्पर्श नहीं करना चाहिए।

यदि साधु को श्वासोच्छ्वास, छींक आदि के आने पर मुंह एवं गुदा स्थान पर हाथ रखने को

कहा गया है, उसका अभिप्राय इतना ही है कि उससे वायुकायिक जीवों की हिंसा न हो। प्रस्तुत प्रसंग में इतना अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि यह वर्णन सामान्य रूप से चलने वाले श्वासोच्छ्वास के लिए नहीं, अपितु विशेष प्रकार के श्वासोच्छ्वास के लिए है। आगम में लिखा है कि फूंक आदि मारने से वायु काय की हिंसा होती है। इसलिए साधु को इस तरह से यत्ना करने का आदेश दिया गया है<sup>१</sup>।

कुछ लोगों का कहना है कि भाषा के पुद्गल चार स्पर्श वाले होते हैं। अतः वे आठ स्पर्श वाले वायुकाय की हिंसा कैसे कर सकते हैं ? इसका समाधान यह है कि भाषा-वर्गणा के पुद्गल उत्पन्न होते समय चार स्पर्श वाले होते हैं, परन्तु भाषा के रूप में व्यक्त होते समय आठ स्पर्श वाले हो जाते हैं। इसी कारण शरीर से उत्पन्न होने वाली अचित्त वायुकाय को आठ स्पर्श युक्त माना गया है और वह ५ प्रकार की मानी गई है<sup>२</sup>। अतः मुंह से निकलने वाली वायु से वायुकायिक जीवों की हिंसा होती है।

यहां एक प्रश्न पैदा हो सकता है कि जब साधु-साध्वी मुख पर मुखवस्त्रिका लगाते हैं, तब फिर श्वासोच्छ्वास से होने वाली वायुकायिक जीवों की हिंसा को रोकने के लिए मुंह पर हाथ रखने की क्या आवश्यकता है ? हम यह पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि यहां सामान्य रूप से चलने वाले श्वासोच्छ्वास के समय मुंह पर हाथ रखने का विधान नहीं किया है। यह विधान विशेष परिस्थिति के लिए है- जैसे उबासी, डकार एवं छींक आदि के समय जोर से निकलने वाली वायु का वेग मुखवस्त्रिका से नहीं रुक सकता है, ऐसे समय पर मुंह पर हाथ रखने का आदेश दिया गया है और मुख के साथ नाक का भी ग्रहण किया गया है। जैसे मुख से निकलने वाली वायु के वेग को रोकने के लिए मुख पर हाथ रखने को कहा है, उसी तरह अपान वायु के वेग को रोकने के लिए गुदा स्थान पर भी हाथ रखने का आदेश दिया है। इससे यह मानना पड़ेगा कि उस समय साधु चोलपट्टक (धोती के स्थान में पहनने का वस्त्र) भी नहीं रखते थे। परन्तु, ऐसी बात नहीं है। आगम में चोलपट्टक एवं मुखवस्त्रिका दोनों का विधान मिलता है। अतः इन प्रसंगों पर उक्त स्थानों पर हाथ रखने का उद्देश्य केवल वायुकायिक जीवों की रक्षा करना ही है।

अब सामान्य रूप से शय्या का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं-

मूलम्— से भिक्खू वा० समा वेगया सिज्जा भविज्जा विसमा वेगया सि०  
पवाया वे० निवाया वे० ससरक्खा वे० अप्पससरक्खा वे० सदंसमसगा वे०  
अप्पदंसमसगा० सपरिसाडा वे० अपरिसाडा वे० सउवसग्गा वे० निरुवसग्गा वे०  
तहप्पगाराहिं सिज्जाहिं संविज्जमाणाहिं पग्गहियतरागं विहारं विहरिज्जा नो  
किंचिवि गिलाइज्जा, एवं खलु० जं सव्वट्ठेहिं सहिए सया जए त्ति बेमि ॥११० ॥

छाया— स भिक्षु वा० समा वा एकदा शय्या भवेत् विषमा वा एकदा शय्या० प्रवाता  
वा० निर्वाता वा० सरजस्का वा० अल्परजस्का वा० सदंशमशका वा० अल्पदंशमशका वा०

१ प्रश्न व्याकरण सूत्र, अ० १, दशवैकालिक सूत्र, अ० ४।

२ पंचविहा अचित्ता वाउकाइया पं० तं० अवकंते, धंते, पीलिए, सरीराणुगए, संमुच्छिमे।

# तृतीय अध्ययन ईर्येषणा

## प्रथम उद्देशक

द्वितीय श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन में संयम साधना को गतिशील बनाए रखने के लिए साधु को कैसा आहार-पानी ग्रहण करना चाहिए, इसका उल्लेख किया गया है और द्वितीय अध्ययन में यह बताया गया है कि गृहस्थ के घरों से ग्रहण किया गया निर्दोष आहार-पानी करने तथा ठहरने के लिए साधु को कैसे मकान की, किस तरह से गवेषणा करनी चाहिए। और प्रस्तुत अध्ययन में ईर्या समिति का वर्णन किया गया है। आहार आदि लाने के लिए तथा एक गांव से दूसरे गांव को जाते समय साधु को गमन करना पड़ता है। अतः साधु को कब, क्यों और कैसे गमन करना चाहिए, यह प्रस्तुत अध्ययन में बताया गया है। एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने की आवश्यकता पड़ने पर विवेक एवं यत्ना पूर्वक गमन करने की क्रिया को आगमिक भाषा में ईर्या समिति कहते हैं। यह द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के भेद से ४ चार प्रकार की होती है। सचित्त, अचित्त एवं मिश्रित पदार्थों के गतिशील होने की क्रिया को द्रव्य ईर्या कहते हैं। जिस क्षेत्र में गमन किया जाए वह क्षेत्र ईर्या और जिस काल में गति की जाए वह काल ईर्या कहलाती है। भाव ईर्या संयम और चरण के भेद से दो प्रकार की है। १७ प्रकार के संयम में गति करना संयम ईर्या है और चरण ईर्या आलम्बन, काल, मार्ग और यत्ना के भेद से ४ प्रकार की है। शासन, संघ, गच्छ आदि की सेवा के प्रयोजन से गति करना आलम्बन है। गति करने योग्य काल में गमन करना काल ईर्या है, सुमार्ग पर गति करना मार्ग ईर्या है और संघ आदि के प्रयोजन से उपयुक्त काल में अच्छे मार्ग पर विवेक एवं यत्ना पूर्वक गति करना यत्ना ईर्या है। यत्ना और विवेक के साथ चलने वाला साधक पाप कर्म का बन्ध नहीं करता है<sup>१</sup>।

इस ईर्या-एषणा अध्ययन के तीन उद्देशक हैं। प्रथम उद्देशक में बताया गया है कि साधु को कब विहार करना चाहिए और यदि कहीं मार्ग में नदी हो तो उसे कैसे पार करना चाहिए। द्वितीय उद्देशक में यह अभिव्यक्त किया गया है कि नौका से नदी पार करते समय नाविक छल-कपट से बर्ताव करे तो उस समय साधु को क्या करना चाहिए। और तृतीय उद्देशक में गति करते समय अहिंसा, सत्य आदि की रक्षा कैसे करनी चाहिए, इसका विस्तार से वर्णन किया गया है। प्रस्तुत उद्देशक में वर्णावास कल्प समाप्त होते ही विहार करने का आदेश देते हुए सूत्रकार कहते हैं—

१ जयं चरे, जयं चिद्दटे, जयमासे जयं सए।

जयं भुञ्जन्तो-भासन्तो, पावकम्मं न बंधइ ॥ - दशवैकालिक सूत्र, ४,८।

# तृतीय अध्ययन ईर्येषणा

## प्रथम उद्देशक

द्वितीय श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन में संयम साधना को गतिशील बनाए रखने के लिए साधु को कैसा आहार-पानी ग्रहण करना चाहिए, इसका उल्लेख किया गया है और द्वितीय अध्ययन में यह बताया गया है कि गृहस्थ के घरों से ग्रहण किया गया निर्दोष आहार-पानी करने तथा ठहरने के लिए साधु को कैसे मकान की, किस तरह से गवेषणा करनी चाहिए। और प्रस्तुत अध्ययन में ईर्या समिति का वर्णन किया गया है। आहार आदि लाने के लिए तथा एक गांव से दूसरे गांव को जाते समय साधु को गमन करना पड़ता है। अतः साधु को कब, क्यों और कैसे गमन करना चाहिए, यह प्रस्तुत अध्ययन में बताया गया है। एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने की आवश्यकता पड़ने पर विवेक एवं यत्ना पूर्वक गमन करने की क्रिया को आगमिक भाषा में ईर्या समिति कहते हैं। यह द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के भेद से ४ चार प्रकार की होती है। सचित्त, अचित्त एवं मिश्रित पदार्थों के गतिशील होने की क्रिया को द्रव्य ईर्या कहते हैं। जिस क्षेत्र में गमन किया जाए वह क्षेत्र ईर्या और जिस काल में गति की जाए वह काल ईर्या कहलाती है। भाव ईर्या संयम और चरण के भेद से दो प्रकार की है। १७ प्रकार के संयम में गति करना संयम ईर्या है और चरण ईर्या आलम्बन, काल, मार्ग और यत्ना के भेद से ४ प्रकार की है। शासन, संघ, गच्छ आदि की सेवा के प्रयोजन से गति करना आलम्बन है। गति करने योग्य काल में गमन करना काल ईर्या है, सुमार्ग पर गति करना मार्ग ईर्या है और संघ आदि के प्रयोजन से उपयुक्त काल में अच्छे मार्ग पर विवेक एवं यत्ना पूर्वक गति करना यत्ना ईर्या है। यत्ना और विवेक के साथ चलने वाला साधक पाप कर्म का बन्ध नहीं करता है<sup>१</sup>।

इस ईर्या-एषणा अध्ययन के तीन उद्देशक हैं। प्रथम उद्देशक में बताया गया है कि साधु को कब विहार करना चाहिए और यदि कहीं मार्ग में नदी हो तो उसे कैसे पार करना चाहिए। द्वितीय उद्देशक में यह अभिव्यक्त किया गया है कि नौका से नदी पार करते समय नाविक छल-कपट से बर्ताव करे तो उस समय साधु को क्या करना चाहिए। और तृतीय उद्देशक में गति करते समय अहिंसा, सत्य आदि की रक्षा कैसे करनी चाहिए, इसका विस्तार से वर्णन किया गया है। प्रस्तुत उद्देशक में वर्षावास कल्प समाप्त होते ही विहार करने का आदेश देते हुए सूत्रकार कहते हैं-

१ जयं चरे, जयं चिद्दृठे, जयमासे जयं सए।

जयं भुञ्जन्तो-भासन्तो, पावकम्मं न बंधइ ॥ - दशवैकालिक सूत्र, ४,८।

मूलम्— अब्भुवगए खलु वासावासे अभिपवुट्ठे बहवे पाणा, अभिसंभूया बहवे बीया अहुणाभिन्ना अंतरा से मग्गा बहुपाणा, बहुबीया जाव ससंताणगा अणभिवक्कंता पंथा नो विन्नाया मग्गा सेवं नच्चा नो गामाणुगामं दूइज्जिज्जा, तओ संजयामेव वासावासं उवल्लिइज्जा ॥१११॥

छाया— अभ्युपगते खलु वर्षावासे अभिप्रवृष्टे बहवः प्राणिनः अभिसंभूताः बहूनि बीजानि अधुना भिन्नानि अन्तराले तस्य मार्गाः बहुप्राणिनः बहुबीजा यावत् संसन्तानकाः अनधिक्रान्ताः पन्थानः नो विज्ञाता मार्गाः स एवं ज्ञात्वा न ग्रामानुग्रामं यायात् ततः संयतमेव वर्षावासम् उपलीयेत ।

पदार्थ— खलु—वाक्यालंकार में है। वासावासे—वर्षाकाल के सामने। अब्भुवगए—आ जाने पर। अभिपवुट्ठे—वर्षा ऋतु अर्थात् आषाढ चातुर्मास के पहले ही वर्षा के हो जाने से। बहवे पाणा—बहुत से द्विन्द्रिय आदि जीव। अभिसंभूया—उत्पन्न हो गए हैं और। बहवे बीया—बहुत से बीज। अहुणाभिन्ना—अंकुरित हो गए हैं अर्थात् बरसात के कारण उत्पन्न हुए अंकुरों से पृथ्वी हरी-भरी हो गई है। अन्तरामग्गा—मार्ग के मध्य में। से—उस भिक्षु को विहार करना कठिन हो गया है, क्योंकि मार्ग में। बहुपाणा—बहुत से प्राणी और। बहुबीया—बहुत से बीज। जाव—यावत्। ससंताणगा—बहुत से जाले उत्पन्न हो गए हैं तथा वर्षा के कारण। अणभिवक्कंता पंथा—जनता के गमनागमन के अभाव से मार्ग अवरुद्ध हो गया है तथा रास्ते में हरियाली के उत्पन्न हो जाने से। नो विन्नाया मग्गा—मार्ग एवं उन्मार्ग का पता नहीं लगता है। सेवं—वह साधु इस प्रकार। नच्चा—जानकर। गामाणुगामं—एक ग्राम से दूसरे ग्राम की ओर। नो दूइज्जिज्जा—विहार न करे किन्तु। संजयामेव—संयत—साधु। तओ—तदनन्तर। वासावासं—वहीं वर्षाकाल। उवल्लिइज्जा—करे।

मूलार्थ—वर्षाकाल में वर्षा हो जाने से मार्ग में बहुत से प्राणी उत्पन्न हो जाते हैं तथा बीज अंकुरित हो जाते हैं, पृथ्वी घास आदि से हरी हो जाती है। मार्ग में बहुत से प्राणी, बहुत से बीज तथा जाले आदि की उत्पत्ति हो जाती है, एवं वर्षा के कारण मार्ग अवरुद्ध हो जाने से मार्ग और उन्मार्ग का पता नहीं लगता। ऐसी परिस्थिति में साधु को एक ग्राम से दूसरे ग्राम में विहार नहीं करना चाहिए। किन्तु वर्षाकाल के समय एक स्थान पर ही स्थित रहना चाहिए। तात्पर्य यह है कि साधु वर्षा-काल पर्यन्त भ्रमण न करे किन्तु एक ही स्थान पर ठहरे।

हिन्दी विवेचन— प्रस्तुत सूत्र में साधु को वर्षाकाल में विहार करने का निषेध किया गया है। एक वर्ष में तीन चातुर्मास होते हैं— १-ग्रीष्म, २-वर्षा और ३-हेमन्त। इनमें वर्षाकाल में ही साधु को एक स्थान में स्थित होने का आदेश दिया गया है क्योंकि वर्षाकाल में पृथ्वी शस्य-श्यामला हो जाती है, क्षुद्र जन्तुओं की उत्पत्ति बढ़ जाती है और हरियाली एवं पानी की अधिकता के कारण मार्ग अवरुद्ध हो जाते हैं। अतः उस समय विहार करने से अनेक जीवों की विराधना होना संभव है। इस कारण साधु को वर्षाकाल में विहार नहीं करना चाहिए।

इससे स्पष्ट होता है कि आषाढ़ पूर्णिमा के बाद कार्तिक पूर्णिमा तक विहार नहीं करना चाहिए। यदि कभी आषाढ़ी पूर्णिमा से पूर्व ही वर्षा प्रारम्भ हो जाए और चारों तरफ हरियाली छा जाए तो साधु को उसी समय से एक स्थान पर स्थित हो जाना चाहिए और वर्षावास के लिए आवश्यक वस्त्र आदि ग्रहण कर लेना चाहिए। क्योंकि, वर्षावास में वस्त्र आदि ग्रहण करना नहीं कल्पता, इसलिए साधु उनका वर्षावास के पूर्व ही संग्रह कर ले।

वर्षावास का प्रारम्भ चन्द्रमास से माना गया है। अतः वह श्रावण कृष्णा प्रतिपदा से प्रारम्भ होता है और कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा को समाप्त होता है। शाकटायन ने भी आषाढ़, कार्तिक एवं फाल्गुन की पूर्णिमा को चातुर्मास की पूर्णिमा स्वीकार किया है। उसने भी वर्ष में तीन चातुर्मासी को मान्य किया है<sup>१</sup>।

इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि साधु को वर्षाकाल में विहार नहीं करना चाहिए। परन्तु, वर्षावास के लिए साधु को किन बातों का विशेष ख्याल रखना चाहिए इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— से भिक्खू वा० से जं पुण जाणिज्जा गामं वा जाव रायहाणिं वा इमंसि खलु गामंसि वा जाव राय० नो महई विहारभूमि नो महई वियारभूमि नो सुलभे पीठफलगसिज्जासंधारगे नो सुलभे फासुए उंछे अहेसणिज्जे जत्थ बहवे समण० वणीमगा उवागया उवागमिस्संति य अच्चाइन्ना वित्ती नो पन्नस्स निक्खमण जाव चिंताए, सेवं नच्चा तहप्पगारं गामं वा नगरं वा जाव रायहाणिं वा नो वासावासं उवल्लिइज्जा ॥

से भि० से जं० गामं वा जाव राय० इमंसि खलु गामंसि वा जाव महई विहारभूमि महई वियार० सुलभे जत्थपीठ ४ सुलभे फा० नो जत्थ बहवे समण० उवागमिस्संति वा अप्पाइन्ना वित्ती जाव रायहाणिं वा तओ संजयामेव वासावासं उवल्लिइज्जा ॥११२ ॥

छाया— स भिक्षुर्वा० स यत्० ग्रामे वा यावत् राजधान्यां वा अस्मिन् खलु ग्रामे वा यावद् राजधान्यां वा न महती विहारभूमिः, न महती विचारभूमिः न सुलभानि पीठफलकशय्यासंस्तारकानि न सुलभः प्रासुकः उच्छः अथैषणीयः यत्र बहवः श्रमण० वनीपकाः उपागताः, उपागमिष्यन्ति च अत्याकीर्णा वृत्तिः नो प्राज्ञस्य निष्क्रमणं यावत् चिन्तायै, तदेवं ज्ञात्वा तथाप्रकारे ग्रामे वा नगरे वा यावद् राजधान्यां वा न वर्षावासं उपलीयेत। स भिक्षु० स

१ चातुर्मासानाम्नि, ३, १, १२१ ॥

अणिति वर्तते। चतुर्मास शब्दात् तत्र भवे अण् भवति प्रत्ययान्ते नाम्नि। चतुर्भुमासेषु भवा चातुर्मासी, पौर्णमासी-आषाढी, कार्तिकी, फाल्गुनी चोच्यते। अन्यत्र चातुर्मासः श्लुब् द्विगोरिति श्लुक्। — शाकटायन व्याकरण।

यत् ग्रामे वा यावत् राजधान्यां वा अस्मिन् खलु ग्रामे वा यावत् महती विहारभूमिः, महती विचारभूमिः सुलभानि यत्र पीठं ४ सुलभः प्रासुकः न यत्र बहवः श्रमणं उपागमिष्यन्ति वा अल्पाकीर्णा वृत्तिः यावत् राजधान्यां वा ततः संयतमेव वर्षावासं उपलीयेत।

**पदार्थ-** से भिक्खू वा-वह साधु अथवा साध्वी। से जं-यदि वह यह जाने। गामं वा-ग्राम को अथवा नगर। जाव-यावत्। रायहाणिं वा-राजधानी को। खलु-वाक्यालंकार में। इमंसि-इस। गामंसि-ग्राम। जाव-यावत्। राय-राजधानी में। विहारभूमी-स्वाध्याय करने के लिए। नो महई-विशाल स्थान नहीं है। विचारभूमी-और नगर से बाहर मल-मूत्रादि के त्याग करने की भूमि भी। न महई-विशाल नहीं है। पीठ-और पीठ। फलक-पाटिया। शय्या-शय्या और। संस्तारके-तृणादि के संस्तारक भी। नो सुलभे-सुलभ नहीं है और। फासुए-उसे जो प्रासुक। उंछे-थोड़ा २ आहार ग्रहण करना है। अहेसणिज्जे-उस निर्दोष आहार का मिलना भी। नो सुलभे-सुलभ नहीं है और। जत्थ-जहां पर। बहवे-बहुत से। समणं-शाक्यादि श्रमण। जाव-यावत्। वणीमगा-वनीपक रंग भिखारी आदि। उवागया-आए हुए हैं। य-या। उवागमिस्संति-आयेंगे। अच्छाइन्ना वित्ती-अत्यन्ताकीर्ण वृत्ति अर्थात् भिक्षा जाते समय तथा स्वाध्याय, ध्यान और बाहर गमन करते समय वे लोग अधिक संख्या में बार-बार मिलते रहते हैं। पन्नस्स-जिस से प्रजावान साधु। नो निक्खमण जाव चिंताए-न तो सुख पूर्वक निकल सकता है, और न प्रवेश ही कर सकता है तथा वह पांच प्रकार का स्वाध्याय भी नहीं कर सकता है। सेवं नच्चा-अतः वह साधु इस प्रकार जानकर। तहप्पगारं गामं वा-तत्राप्रकार के ग्राम में। नगरं वा-नगर में। जाव-यावत्। रायहाणिं वा-राजधानी में। वासावासं-वर्षाकाल अर्थात् चतुर्मास। नो उवल्लिइज्जा-न करे।

से भिक्खू वा-वह साधु या साध्वी। से जं-यदि वह यह जाने कि। गामं वा जाव राय वा-ग्राम, नगर यावत् राजधानी को। खलु-वाक्यालंकार में है। इमंसि गामंसि-इस ग्राम में। जाव-यावत् राजधानी में। महई विहारभूमी-स्वाध्याय के लिए विशाल भूमि है और। महई विचारभूमी-मलमूत्रादि के त्यागने की भूमि भी विशाल है। जत्थ-जहां पर। पीठ ४-पीठ, फलक, शय्या और संस्तारक की प्राप्ति। सुलभे फा-सुलभ हैं प्रासुक एषणीय आहार का मिलना भी। सुलभे-सुलभ है। जत्थ-जहां पर। बहवे-बहुत से। समणं-शाक्यादि भिक्षुगण। नो उवागमिस्संति-भी आए हुए नहीं हैं और न आयेंगे। अप्पाइन्ना वित्ती-मार्ग में भीड़ भी नहीं है, अर्थात् भिक्षा आदि के समय जाते-आते वे मिलते भी नहीं हैं। जाव-यावत् स्वाध्याय आदि भी ठीक हो सकता है। इस प्रकार के ग्राम, नगर यावत्। रायहाणिं वा-राजधानी में। तओ-तत् पश्चात्। संजयामेव-संयत-संयमशील साधु। वासावासं-वर्षाकाल। उवल्लिइज्जा-रहे।

**मूलार्थ-** वर्षावास करने वाले साधु या साध्वी को ग्राम, नगर, यावत् राजधानी की स्थिति को भली-भांति जानना चाहिए। जिस ग्राम, नगर यावत् राजधानी में एकान्त स्वाध्याय करने के लिए कोई विशाल भूमि न हो, नगर से बाहर मल-मूत्रादि के त्यागने की भी कोई विशाल भूमि न हो, और पीठ-फलक-शय्या-संस्तारक की प्राप्ति भी सुलभ न हो, एवं प्रासुक और निर्दोष आहार का मिलना भी सुलभ न हो और बहुत से शाक्यादि भिक्षु यावत् भिखारी लोग आए हुए हों जिससे ग्रामादि में भीड़-भाड़ बहुत हो और साधु-साध्वी को सुखपूर्वक स्थान से निकलना और

प्रवेश करना कठिन हो तथा स्वाध्याय आदि भी न हो सकता हो तो ऐसे ग्रामादि में साधु वर्षाकाल व्यतीत न करे।

जिस ग्राम या नगर आदि में विहार और विचार के लिए अर्थात् स्वाध्याय और मल-मूत्रादि का त्याग करने के लिए विशाल भूमि हो, पीठ-फलकादि की सुलभता हो, निर्दोष आहार-पानी भी पर्याप्त मिलता हो और शाक्यादि भिक्षु या भिखारी लोग भी आए हुए न हों एवं उनकी अधिक भीड़-भाड़ भी न हो तो ऐसे गांव या शहर आदि में साधु-साध्वी वर्षाकाल व्यतीत कर सकता है।

**हिन्दी विवेचन-** प्रस्तुत सूत्र में वर्षावास के क्षेत्र को चुनते समय ५ बातों का विशेष ख्याल रखने का आदेश दिया गया है १-स्वाध्याय एवं चिन्तन मनन के लिए विशाल भूमि, २-शहर या गांव के बाहर मल-मूत्र का त्याग करने के लिए विशाल निर्दोष भूमि, ३-साधु-साध्वी के ग्रहण करने योग्य निर्दोष शय्या-तख्त आदि की सुलभता, ४-प्रासुक एवं निर्दोष आहार-पानी की सुलभता और ५-शाक्यादि अन्य मत के साधुओं तथा भिखारियों के जमघट का नहीं होना। जिस क्षेत्र में उक्त सुविधाएं न हों वहां साधु को वर्षावास नहीं करना चाहिए। क्योंकि विचार एवं चिन्तन की शुद्धता के लिए शान्त-एकान्त स्थान का होना आवश्यक है। बिना एकान्त स्थान के स्वाध्याय एवं ध्यान में मन एकाग्र नहीं हो सकता और मन की एकाग्रता के अभाव में साधना में तेजस्विता नहीं आ सकती। इसलिए सबसे पहले अनुकूल स्वाध्याय भूमि का होना आवश्यक है।

संयम की शुद्धता को बनाए रखने के लिए परठने के लिए भी निर्दोष भूमि, निर्दोष आहार-पानी एवं निर्दोष शय्या-तख्त आदि की प्राप्ति भी आवश्यक है और इनकी निर्दोषता के लिए यह भी आवश्यक है कि उस क्षेत्र में अन्यमत के भिक्षुओं का अधिक जमाव न हो। यदि वे भी अधिक संख्या में होंगे तो शुद्ध आहार-पानी आदि की सुलभता नहीं मिल सकेगी।

इससे यह भी स्पष्ट होता है कि उस युग में अन्य मत के भिक्षु भी वर्षाकाल में एक स्थान पर रहते थे। और इस सूत्र से यह भी ध्वनित होता है कि उस युग में सांप्रदायिक बाड़े बन्दी भी अधिक नहीं थी। यदि वर्तमान की तरह उस युग में भी जनता संप्रदायों में विभक्त होती तो सूत्रकार के सामने यह प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। क्योंकि, फिर तो साधु अपनी संप्रदाय के भक्तों से संबद्ध मकान में ठहर जाता और उनके यहां उसे किसी तरह की असुविधा नहीं रहती। परन्तु उस समय ऐसी परिस्थिति नहीं थी, गृहस्थ लोग सभी तरह के साधुओं को स्थान एवं आहार आदि देते थे। इसी दृष्टि से साधु के लिए यह निर्देश किया गया कि उसे वर्षावास करने के पूर्व अपने स्वाध्याय की अनुकूलता एवं संयम शुद्धि आदि का पूरी तरह अवलोकन कर लेना चाहिए। क्योंकि वर्षावास जीवों की रक्षा, संयम की साधना एवं ज्ञान-दर्शन और चारित्र की आराधना के लिए किया जाता है। अतः इन में तेजस्विता लाने का विशेष ध्यान रखना चाहिए।

यदि वर्षाकाल के समाप्त होने के पश्चात् भी वर्षा होती रहे तो साधु को क्या करना चाहिए, इसके लिए सूत्रकार कहते हैं-

**मूलम्-** अह पुणेवं जाणिज्जा-चत्तारि मासा वासावासाणं वीइक्कंता



हेमंताण य पंचदसरायकप्ये परिवुसिए, अंतरा से मग्गे बहुपाणा जाव ससंताणगा नो जत्थ बहवे जाव उवागमिस्संति, सेवं नच्चा नो गामाणुगामं दूइज्जिज्जा । अह पुणेवं जाणिज्जा चत्तारि मासा० कप्ये परिवुसिए, अंतरा से मग्गे अप्पंडा जाव असंताणगा बहवे जत्थ समणा० उवागमिस्संति, सेवं नच्चा तओ संजयामेव० दूइज्जिज्जा ॥११३॥

छाया— अथ पुनरेवं जानीयात् चत्वारो मासा वर्षावासानां व्यतिक्रान्ताः हेमन्तानां च पंचदशरात्रकल्पे पर्युषिते अन्तरा ते मार्गाः बहु प्राणिनो यावत् ससन्तानकाः न यत्र बहवः यावद् उपागमिष्यन्ति स एवं ज्ञात्वा न ग्रामानुग्रामं यायात् । अथ पुनरेवं जानीयात् चत्वारो मासा० कल्पे पर्युषिते अन्तरा ते मार्गाः अल्पांडाः यावत् असन्तानकाः बहवः यत्र श्रमण० उपागमिष्यन्ति स एवं ज्ञात्वा ततः संयतमेव० यायात् ।

पदार्थ— अह-अथ । पुण-फिर । एवं-इस प्रकार । जाणिज्जा-जाने । वासावासाणं-वर्षाकाल के । चत्तारि मासा-चार मास । वीइक्कंता-अतिक्रान्त हो जाने पर अर्थात् कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा के पश्चात् मार्गशीर्ष प्रतिपदा को साधु को विहार कर देना चाहिए । यह उत्सर्ग मार्ग है । अब सूत्रकार अपवाद मार्ग के विषय में कहते हैं । य-और । हेमंताण-यदि वर्षा फिर हो जाए तो हेमन्तकाल के । पंचदसरायकप्ये-पंचदशरात्र कल्प में अर्थात् मर्यादा में । परिवुसिए-रहे । अंतरा से मग्गे-उस मार्ग के मध्य में । बहुपाणा-बहुत प्राणी । जाव-यावत् । ससंताणगा-जालों से युक्त मार्ग हो रहा हो और । जत्थ-जहां पर । बहवे-बहुत से श्रमण आदि । जाव-यावत् । नो उवागमिस्संति-मार्ग के ठीक न होने के कारण वे नहीं आएंगे । सेवं नच्चा-वह साधु इस प्रकार जानकर । गामाणुगामं-ग्रामानुग्राम । नो दूइज्जिज्जा-विहार न करे, एक ग्राम से दूसरे ग्राम न जाए । अह-अथ । पुण-फिर यदि । एवं-इस प्रकार । जाणिज्जा-जाने कि । चत्तारिमासा० कप्ये परिवुसिए-वर्षाकाल के चार मास व्यतीत हो गए हैं, तदनन्तर हेमन्त काल के भी पंचदशरात्र १५ दिवस व्यतीत हो गए हैं । अंतरा से मग्गे-मार्ग के मध्य में । अप्पंडा-अण्डादि से रहित । जाव-यावत् । असंताणगा-जाला आदि से रहित मार्ग हो गया है । जत्थ-जहां पर । बहवे-बहुत से । समण०-शाक्यादि श्रमण आ गए हैं तथा । उवागमिस्संति-और भी आ जाएंगे । सेवं नच्चा-वह साधु इस प्रकार जानकर । तओ-तदनन्तर । संजयामेव-यत्ना-पूर्वक ग्रामानुग्राम । दूइज्जिज्जा-विहार करे ।

मूलार्थ—वर्षाकाल के चार मास व्यतीत हो जाने पर साधु को अवश्य विहार कर देना चाहिए, यह मुनि का उत्सर्गमार्ग है । यदि कार्तिक मास में पुनः वर्षा हो जाए और उसके कारण मार्ग आवागमन के योग्य न रहें और वहां पर शाक्यादि भिक्षु नहीं आए हों तो मुनि को चतुर्मास के पश्चात् वहां १५ दिन और रहना कल्पता है । यदि १५ दिन के पश्चात् मार्ग ठीक हो गया हो, अन्यमत के भिक्षु भी आने लगे हों तो मुनि ग्रामानुग्राम विहार कर सकता है । इस तरह वर्षा के कारण मुनि कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा के पश्चात् मार्गशीर्षकृष्णा अमावस पर्यन्त ठहर सकता है ।

हिन्दी विवेचन— प्रस्तुत सूत्र में वर्षावास समाप्त होने के बाद ठहरने के सम्बन्ध में उत्सर्ग एवं अपवाद मार्ग को सामने रखकर आदेश दिया गया है । इस में बताया गया है कि यदि वर्षाकाल के अन्तिम

दिनों में वर्षा हो जाए और उसके कारण मार्ग हरियाली से ढक जाएं, जीवों की उत्पत्ति हो जाए और अन्य मत के भिक्षु भी अधिक संख्या में न आए हों तो वर्षाकाल के समाप्त होने पर भी मुनि हेमन्त काल के १५ दिन तक उस स्थान में ठहर सकता है, इससे स्पष्ट होता है कि मुनि का जीवन जीव रक्षा के लिए है। क्षुद्र जीवों की यत्ना के लिए ही वह चार महीने एक स्थान पर स्थित होता है। अतः उसके पश्चात् भी क्षुद्र जीवों की एवं वनस्पति की अधिक उत्पत्ति हो तो वह १५ दिन और रुक जाता है। प्रस्तुत सूत्र में इससे अधिक समय का उल्लेख नहीं किया गया है और प्रायः हेमन्त काल में मार्ग भी साफ हो जाता है। फिर भी यदि कभी अकस्मात् वर्षा की अधिकता से मार्ग में हरियाली एवं क्षुद्र जन्तुओं की अधिक उत्पत्ति हो जाए और उससे संयम की विराधना होने की संभावना देखकर साधु कुछ दिन और ठहर जाता है, तो भी वह आज्ञा का उल्लंघन नहीं करता। क्योंकि वह केवल संयम की विशुद्ध आराधना के लिए ही ठहरता है। यदि वर्षाकाल के पश्चात् मौसम साफ हो, मार्ग में किसी तरह की रुकावट न हो तो साधु को मार्गशीर्ष कृष्णा प्रतिपदा को विहार कर देना चाहिए।

आगम में स्पष्ट शब्दों में आदेश दिया गया है कि साधु-साध्वी को वर्षाकाल में विहार करना नहीं कल्पता परन्तु हेमन्त और ग्रीष्म काल में विहार करना कल्पता है<sup>१</sup>। आचारांग सूत्र में भी एक स्थल पर कहा है कि यदि साधु मास या वर्षावास कल्प के बाद उसी स्थान पर ठहरता है तो उसे कालातिक्रम दोष लगता है<sup>२</sup>। और श्रमण भगवान महावीर ने भी कार्तिक चातुर्मासी (पुर्णिमा) के पश्चात् मार्गशीर्ष कृष्णा प्रतिपदा को विहार कर दिया था<sup>३</sup>। इससे स्पष्ट होता है कि वर्षा आदि विशिष्ट कारणों के उपस्थित हुए बिना साधु को वर्षा काल के पश्चात् उसी स्थान पर नहीं ठहरना चाहिए।

वृत्तिकार ने यह भी लिखा है कि यदि वृष्टि आदि न हो तो उत्सर्ग मार्ग में साधु को वर्षावास के समाप्त होने पर चातुर्मासी के तप का पारणा अन्य स्थान पर जाकर करना चाहिए। परन्तु आगम में ऐसा उल्लेख नहीं मिलता, इसलिए यह कथन प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। आगम में वर्षावास के पश्चात् बिना कारण रात को ठहरना नहीं कल्पता अर्थात् जिस स्थान में वर्षावास किया हो साधु को वहां मार्गशीर्ष कृष्णा की प्रतिपदा की रात को नहीं ठहरना चाहिए।

विहार के समय साधु को मार्ग की यत्ना कैसे करनी चाहिए, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— से भिक्खू वा० गामाणुगामं दूइज्जमाणे पुरओ जुगमायाए पेहमाणे दट्टूण तसे पाणे उद्धट्टु पायं रीइज्जा साहट्टु पायं रीइज्जा वित्तिरिच्छं वा कट्टु पायं रीइज्जा, सइ परक्कमे संजयामेव परिक्कमिज्जा नो उज्जुयं गच्छिज्जा,

१ नो कप्पइ निग्गंधाण वा निग्गंधीण वा वासावासासु चारए।

कप्पइ निग्गंधाण वा निग्गंधीण वा हेमन्तगिम्हासु चारए।

— बृहत्कल्प सूत्र, १, ३६-३७।

२ श्री आचारांग सूत्र, २, २, २।

३ श्री भगवती सूत्र, शतक १५।

तओ संजयामेव गामाणुगामं दूइज्जिज्जा ॥

से भिक्खू वा० गामा० दूइज्जमाणे अंतरा से पाणाणि वा बी० हरि० उदए वा मट्टिया वा अविद्धत्थे० सइ परक्कमे जाव नो उज्जुयं गच्छिज्जा, तओ संजया० गामा० दूइज्जिज्जा ॥११४॥

छाया— सभिक्षुर्वा० ग्रामानुग्रामं गच्छन् पुरतः युगमात्रया पश्यन् दृष्ट्वा त्रसान् प्राणिनः उद्धृत्य पादं रीयेत संहृत्य पादं रीयेत ( गच्छेत् ) तिरश्चीनं वा कृत्वा पादं रीयेत-गच्छेत् सति पराक्रमे संयतमेव पराक्रमेनो ऋजुना गच्छेत्, ततः संयतमेव ग्रामानुग्रामं गच्छेत् । स भिक्षुर्वा० ग्रामा० गच्छन् अन्तराले स प्राणिनः वा बीजानि, हरितानि, उदकं वा मृत्तिका वा अविध्वंसमानः सति पराक्रमे यावन्नो ऋजुना गच्छेत् ततः संयतमेव ग्रामानुग्रामं गच्छेत् ।

पदार्थ— से भिक्खू वा-वह साधु या साध्वी । गामाणुगामं-ग्रामानुग्राम-एक गांव से दूसरे गांव को । दूइज्जमाणे-विहार करता हुआ । पुरओ-मुख के आगे की ओर । जुगमायाए-चार हाथ प्रमाण भूमि को । पेहमाणे-देखता हुआ चले तथा मार्ग में । तसे पाणे-त्रस प्राणियों को । दट्टूणं-देखकर । पायं-पाद का अग्रभाग । उद्धट्टु-उठाकर । रीइज्जा-ईर्ष्यासमिति पूर्वक चले । साहट्टु पायं रीइज्जा-यदि अपने से दक्षिण और उत्तर में जीव को देखे तो उनकी रक्षा के लिए पैर को संकोच कर चले अथवा । वित्तिरिच्छं वा कट्टु पायं रीइज्जा-जीव रक्षा के निमित्त दोनों ओर जीव हों तो तिर्यक् पाद करके चले । सइ परक्कमे संजयामेव परिवक्कमिज्जा-यदि अन्य मार्ग हो तो उस मार्ग से यत्नापूर्वक गमन करे, अर्थात् यह विधि तो अन्य मार्ग के अभाव में कथन की गई है, किन्तु । उज्जुयं-सरल मार्ग में अर्थात् सीधा । न गच्छिज्जा-गमन न करे । तओ-तदनन्तर । संजयामेव-यत्नापूर्वक । गामाणुगामं एक गांव से दूसरे गांव को । दूइज्जिज्जा-विहार करे । से भिक्खू वा-वह साधु या साध्वी । गामा० दूइज्जमाणे-ग्रामानुग्राम विहार करता हुआ । अन्तरा से-उस मार्ग के मध्य में । पाणाणि वा-द्वीन्द्रियादि जीव अथवा । बीयाणि वा-शाली आदि के बीज । हरि०-अथवा हरि वनस्पति । उदए वा-अथवा जल, अथवा । मट्टिया वा-मिट्टी, जो व्यवहार पक्ष में अचित्त प्रतीत नहीं होती हो तो । सइ परक्कमे-अन्य मार्ग के होने पर साधु उस मार्ग में गमन न करे । जाव-यावत् प्राणियों से युक्त । उज्जुयं-सरल मार्ग से । न गच्छिज्जा-गमन न करे । तओ-तदनन्तर । संजयामेव-यत्नापूर्वक । गामा०-ग्रामानुग्राम-एक गांव से दूसरे गांव को । दूइज्जिज्जा-विहार करे ।

मूलार्थ—साधु या साध्वी ग्रामानुग्राम विहार करता हुआ अपने मुख के सामने चार हाथ प्रमाण भूमि को देखता हुआ चले और मार्ग में त्रस प्राणियों को देखकर पैर के अग्रभाग को उठाकर चले । यदि दोनों ओर जीव हों तो पैरों को संकोच कर या तिर्यक्-टेढ़ा पैर रखकर चले । यह विधि अन्यमार्ग के अभाव में कही गई है । यदि अन्य साफ मार्ग हो तो उस मार्ग से चलने का प्रयत्न करे, किन्तु जीव युक्त सरल ( सीधे ) मार्ग पर न चले । यदि मार्ग में प्राणी, बीज, हरी, जल और मिट्टी आदि अचित्त न हुए हों तो साधु को अन्य मार्ग के होने पर उस मार्ग से नहीं जाना चाहिए ।

यदि अन्य मार्ग न हो तो उस मार्ग से यत्नापूर्वक जाना चाहिए।

**हिन्दी विवेचन-** प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि साधु को विहार करते समय अपनी दृष्टि गन्तव्य मार्ग पर रखनी चाहिए। अपने सामने की साढ़े तीन हाथ भूमि को देखकर चलना चाहिए। उस समय अपने मन, वचन एवं काय योग को भी इधर-उधर नहीं लगाना चाहिए। यहां तक कि साधु को चलते समय स्नाध्याय एवं आत्मचिन्तन भी नहीं करना चाहिए। उस समय उसका ध्यान विवेक पूर्वक चलने की ओर होना चाहिए और रास्ते में आने वाले क्षुद्र जन्तुओं एवं हरित काय की रक्षा करते हुए गति करनी चाहिए। यदि रास्ते में बीज, हरियाली एवं क्षुद्र जन्तु अधिक हों और उस गांव को दूसरा रास्ता जाता हो- चाहे वह कुछ लम्बा भी पड़ता हो, परन्तु जीवों से रहित हो, तो मुनि को वह जीव-जन्तुओं से युक्त सीधा रास्ता छोड़कर उस निर्दोष मार्ग से जाना चाहिए। यदि दूसरा मार्ग न हो तो यत्नापूर्वक पैरों को संकोच कर या टेढ़े-मेढ़े पैर रखकर या अंगूठे आदि के बल पर उस रास्ते को तय करे अर्थात् उस मार्ग को विवेकपूर्वक पार करे जिससे जीवों को किसी तरह की पीड़ा एवं कष्ट न पहुंचे।

इसी विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं-

**मूलम्-** से भिक्खू वा० गामा० दूइज्जमाणे अंतरा से विरूवरूवाणि पच्चंतिगाणि दस्सुगाययाणि मिलक्खूणि अणायरियाणि दुस्सन्नप्पाणि दुप्पन्नवणिज्जाणि, अकालपडिबोहीणि अकालपरिभोईणि सइ लाढे विहाराए संथरमाणेहिं जाणवएहिं नो विहारवडियाए पवज्जिजा गमणाए, केवली बूया आयाणमेयं, ते णं बाला अयं तेणे अयं उवचरए अयं ततो आगए त्तिकट्टु तं भिक्खुं अक्कोसिज्ज वा जाव उद्विज्ज वा वत्थं प० कं० पाय० अच्छिंदिज्ज वा भिंदिज्ज वा अवहरिज्ज वा परिट्ठविज्ज वा, अह भिक्खूणं पु० जं तहप्पगाराइं विरू० पच्चंतियाणि दस्सुगा० जाव विहारवत्तियाए नो पवज्जिज्ज वा गमणाए तओ संजया गा० दू० ॥११५ ॥

**छाया-** स भिक्षुर्वा० ग्रामानुग्रामं गच्छन् अन्तराले स विरूपरूपाणि प्रात्यन्तिकानि दस्युकायतनानि म्लेच्छानि अनार्याणि दुःसंज्ञाप्यानि दुष्प्रज्ञाप्यानि अकालप्रतिबोधीनि अकालभोजीनि सति लाढे विहाराय संस्तरमाणेषु जनपदेषु न विहारप्रतिज्ञया प्रतिपद्येत गमनाय। केवली बूयात् आदानमेतत् ते बालाः अयंस्तेनः अयमुपचारकः अयं ततः आगतः इति कृत्वा तं भिक्षुं आक्रोशेयुः वा यावत् उपद्रवेयुः वा वस्त्रं वा पतद्ग्रहं ( पात्रं ) वा कंबलं वा पादप्रोज्जनं वा आच्छिन्द्युः वा भिन्द्युः वा अपहरेयुः वा परिष्ठापयेयुः वा अथ भिक्षूणां पूर्वोपदिष्टं यत् तथाप्रकाराणि विरूपरूपाणि प्रात्यन्तिकानि दस्युकायतनानि यावत् विहार- प्रत्ययाय न प्रतिपद्येत वा गमनाय ततः संयतः ग्रामानुग्रामं गच्छेत्।

**पदार्थ-** से भिक्खु वा०-वह साधु या साध्वी। ग्रामा०-ग्रामानुग्राम। दूइजमाणे-विहार करता हुआ। अन्तरा से-जिस मार्ग के मध्य में। विरुवखूवाणि-नाना प्रकार के। पच्चंतिगाणि-देश की सीमा में रहने वाले। दस्सुगायणाणि-चोरों के स्थान हों। मिलक्खूणि-म्लेच्छों के स्थान हों। अणायरियाणि-अनार्यों के स्थान हों। दुस्सन्नप्पाणि-जिन्हें आर्य देश की भाषा आदि कठिनाई से समझाई जा सकती है और। दुप्पन्नवणिज्जाणि-जिन्हें कष्ट पूर्वक उपदेश दिया जा सकता है अर्थात् कष्टपूर्वक उपदेश देने पर भी जो धर्म मार्ग में नहीं आते। अकालपडिबोहीणि-अकाल में जागने वाले और अकाल में ही मृगया-शिकार के लिए उठकर जाने वाले। अकालपरिभोईणि-अकाल में भोजन करने वाले। सइ लाढे विहाराए-अन्य अच्छे आर्य देश के। संथरमाणेहिं-विद्यमान होने पर तथा। जाणवएहिं-अच्छे अन्य भद्र देश के विद्यमान होने पर। विहारवडियाए-ऐसे देश में विचरने की प्रतिज्ञा से-विहार करने का। नो पवज्जिजा गमणाए-मन में विचार न करे अर्थात् ऐसे देशों में विहार करने के लिए कभी संकल्प न करे। केवली बूया-केवली भगवान कहते हैं। आयाणमेयं-यह कर्म के आने का कारण है अर्थात् वहां जाने पर कर्म का बन्ध होता है यथा। ते-वे। णं-वाक्यालंकार में है। बाला-बाल-अज्ञानी साधु को देखकर साधु के प्रति कहते हैं। अयं-यह। तेणे-चोर है। अयं-यह व्यक्ति। उवचरए-उपचर अर्थात् गुप्तचर ( जासूस ) है। अयं-यह। ततो-वहां से-हमारे शत्रु के गांव से। आगए-आया है अर्थात् हमारा भेद लेने को आया है। त्तिकट्टु-ऐसा कहकर। तं भिक्खुं-उस भिक्षु को। अवकोसिज्ज वा-कठोर वचन बोलेंगे। जाव-यावत्। उइविज्ज वा-मारणातिक उपसर्ग देंगे, या मारेंगे या साधु के। वत्थं वा-वस्त्र। प०-पात्र। क०-कम्बल। पाय०-पादप्रोच्छन तथा रजोहरण या पैर पूंछने के वस्त्र आदि का। अच्छिंदिज्ज-छेदन करेंगे। वा-अथवा। भिदिज्ज-भेदन करेंगे या। अवहरिज्ज वा-उनका अपहरण करेंगे अर्थात् छीन लें। परिट्ठविज्ज वा-या उस मुनि के उपकरणों को तोड़-फोड़ कर फैंक दें। अह भिक्खुणां-अतः भिक्षुओं को। पु०-तीर्थकरादि ने पहले ही यह उपदेश दिया है कि। जं-जो। तहप्पगाराइं-तथा प्रकार के। विरुव०-नानाविध। पच्चंतियाणि-देश की सीमा में होने वाले। दस्सुगा०-चोरों के स्थान में। जाव-यावत्। विहारवत्तियाए-विहार करने के लिए। नो पवज्जिज्ज वा गमणाए-मन में विचार भी न करे। तओ-तदनन्तर उक्त स्थानों को छोड़ता हुआ। संजया-संयमशील साधु। गा० दू०-ग्रामानुग्राम-एक गांव से दूसरे गांव को विहार करे।

**मूलार्थ-**साधु या साध्वी ग्रामानुग्राम विचरता हुआ जिस मार्ग में नाना प्रकार के देश की सीमा में रहने वाले चोरों के, म्लेच्छों के और अनार्यों के स्थान हों तथा जिनको कठिनता पूर्वक समझाया जा सकता है या जिन्हें आर्य धर्म बड़ी कठिनता से प्राप्त हो सकता है ऐसे अकाल ( कुसमय ) में जागने वाले, अकाल ( कुसमय ) में खाने वाले मनुष्य रहते हों, तो अन्य आर्य क्षेत्र के होते हुए ऐसे क्षेत्रों में विहार करने को कभी मन में भी संकल्प न करे। क्योंकि केवली भगवान कहते हैं कि वहां जाना कर्म-बन्धन का कारण है। वे अनार्य लोग साधु को देखकर कहते हैं कि यह चोर है, गुप्तचर है, यह हमारे शत्रु के गांव से आया है, इत्यादि बातें कह कर वे उस भिक्षु को कठोर वचन बोलेंगे, उपद्रव करेंगे और उस साधु के वस्त्र, पात्र, कम्बल और पाद प्रोच्छन आदि का छेदन-भेदन या अपहरण करेंगे या उन्हें तोड़-फोड़कर दूर फैंक देंगे क्योंकि ऐसे स्थानों में यह सब संभव हो सकता है। इसलिए भिक्षुओं को तीर्थकरादि ने पहले ही यह उपदेश दिया है कि साधु इस

प्रकार के प्रदेशों में विहार करने का संकल्प भी न करे।

**हिन्दी विवेचन**— प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि साधु को ऐसे प्रान्तों में विचरना चाहिए जहाँ आर्य एवं धर्म-निष्ठ भद्र लोग रहते हों। परन्तु, सीमान्त पर जो अनार्य देश हैं, जहाँ पर चोर-डाकू, भील, अनार्य एवं म्लेच्छ लोग रहते हों उन देशों में नहीं जाना चाहिए। क्योंकि, ये लोग दुर्लभ बोधि होते हैं अर्थात् धर्म एवं आर्यत्व को जल्दी ग्रहण नहीं कर पाते। ये कुसमय में जागृत रहते हैं अर्थात् जिस समय सभ्य एवं सज्जन लोग शयन करते हैं, उस समय उनका धन लूटने के लिए ये लोग जागते रहते हैं और कुसमय में ही भोजन करते हैं तथा उन्हें भक्ष्य-अभक्ष्य का भी विवेक नहीं होता है। यदि ऐसे अनार्य व्यक्तियों के निवास स्थानों की ओर साधु चला जाए तो वे उसे चोर, गुप्तचर आदि समझकर कष्ट देंगे, मारेंगे-पीटेंगे तथा उसके उपकरण एवं वस्त्र आदि छीन लेंगे या तोड़-फोड़कर दूर फेंक देंगे। इसलिए मुनि को ऐसे प्रदेशों की ओर विहार नहीं करना चाहिए।

इससे यह स्पष्ट होता है कि वर्तमान युग की तरह उस समय भी एक-दूसरे देश की सीमाओं पर तथा अपने राज्य की आन्तरिक स्थिति का तथा चोर-डाकूओं के गुप्त स्थानों का पता लगाने के लिए गुप्तचरों की नियुक्ति की जाती थी।

प्रस्तुत सूत्र में ऐसे स्थानों पर जाने का निषेध साधु के लिए ही किया गया है, न कि सम्यग्दृष्टि एवं श्रावक के लिए। सम्यग्दृष्टि एवं श्रावक अनुकूल साधनों के प्राप्त होने पर वहाँ जाकर उन्हें संस्कारित एवं सभ्य बनाने का प्रयत्न कर सकते हैं।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्**— से भिक्खू० दूइज्जमाणे अंतरा से अरायाणि वा गणरायाणि वा जुवरायाणि वा दोरजाणि वा वेरजाणि वा विरुद्धरजाणि सइ लाढे विहाराए संथ० जण० नो विहारवडियाए०, केवली बूया आयाणमेयं, ते णं बाला तं चेव जाव गमणाए तओ सं० गा० दू० ॥११६ ॥

**छाया**— स भिक्षुर्वा० गच्छन् अन्तराले स अराजानि वा गणराजानि वा युवराजानि वा द्विराज्यानि वा वैराज्यानि वा विरुद्धराज्यानि वा सति लाढे विहाराय संस्तरमाणेषु जनपदेषु नो विहारप्रत्ययाय० केवली बूयात् आदानमेतत् ते बाला तच्चैव यावत् गमनाय ततः संयतः ग्रामानुग्रामं गच्छेत्।

**पदार्थ**— से भिक्खू वा—साधु या साध्वी। दूइज्जमाणे—ग्रामानुग्राम विहार करता हुआ। अन्तरा से—उस मार्ग के मध्य में। अरायाणि वा—जिस देश में राजा की मृत्यु हो गई हो, और नवीन राजा को अभी तक सिंहासनारूढ़ नहीं किया गया हो उस अराजक देश में। गणरायाणि वा—प्रजा की सर्व सम्मति या बहु सम्मति से कुछ समय के लिए किसी व्यक्ति को राज्य सिंहासन पर बैठाया गया हो। जुवरायाणि वा—अथवा राजकुमार-

जिसका अभी राज्याभिषेक नहीं हुआ हो। दौरज्जाणि वा-अथवा जिस देश में दो राजाओं का शासन हो अथवा। वैरज्जाणि वा-परस्पर राजकुमारों का जहां वैर-विरोध हो अथवा। विरुद्धरज्जाणि वा-जहां राजा और प्रजा का आपस में विरोध हो तो। सड़ लाढे विहाराए संथ० जण०-अन्य किसी विहार के योग्य देश के होने पर साधु। नो विहारवडियाए०-उक्त स्थानों में विचरने का संकल्प न करे क्योंकि। केवली बूया-केवली भगवान कहते हैं कि। आयाणमेयं-ये कर्म बन्धन के कारण हैं। णं-यह वाक्यालंकार में है। ते बाला-वे अज्ञानी पुरुष। तं चेव-पूर्ववत्। जाव-यावत्। गमणाए-जाने के लिए संकल्प न करे। तओ-तदनन्तर अन्य देश में। संजया०-साधु यत्नापूर्वक। गा०-ग्रामानुग्राम। दू०-विहार करे।

**मूलार्थ**—साधु या साध्वी विहार करते हुए जिस देश में राजा का शासन नहीं है, अथवा अशांतियुक्त गणराज्य है, अथवा केवल युवराज है, जो कि राजा नहीं बना है, दो राजाओं का शासन चलता है, या दो राजकुमारों में परस्पर वैर-विरोध है, या राजा तथा प्रजा में परस्पर विरोध है, तो विहार के योग्य अन्य प्रदेश के होते हुए इस प्रकार के स्थानों में विहार करने का संकल्प न करे। साधु को विहार योग्य अन्य स्थानों में विहार करना चाहिए शेष वर्णन पूर्ववत् समझें।

**हिन्दी विवेचन**—प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि जिस राज्य में राजा न हो या जिस राज्य में या गणतन्त्र में अशान्ति हो, कलह हो, राज्य प्रबन्ध ठीक न हो, राजा और प्रजा में संघर्ष चल रहा हो, एक ही प्रदेश के दो राजा या दो राजकुमार शासक हों और दोनों में संघर्ष चल रहा हो तो ऐसे देश में साधु को नहीं जाना चाहिए। क्योंकि उसे किसी देश का गुप्तचर आदि समझकर वे उसके साथ दुर्व्यवहार कर सकते हैं।

इससे यह स्पष्ट होता है कि उस युग में भारत में गणराज्य की व्यवस्था भी थी। काशी और कौशल में मल्ल और लिच्छवी जाति के क्षत्रियों का गणराज्य था। इससे यह भी सिद्ध होता है कि उस समय भी भारत कई प्रान्तों (देशों) में विभक्त था, जिनमें अलग-अलग राजाओं का शासन था और एक-दूसरे देश के राजा सीमाओं आदि के परस्पर संघर्ष भी करते रहते थे।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्**— से भिक्खू वा गा० दूइज्जमाणे अंतरा से विहं सिया, से जं पुण विहं जाणिज्जा एगाहेण वा दुआहेण वा तिआहेण वा चउआहेण वा पंचाहेण वा पाउणिज्ज वा नो पाउणिज्ज वा तहप्पगारं विहं अणेगाहगमणिज्जं सड़ लाढे जाव गमणाए, केवली बूया आयाणमेयं, अंतरा से वासे सिया पाणेसु वा पणाएसु वा बीएसु वा हरि० उद० मड्डियाए वा अविद्धत्थाए, अह भिक्खू जं तह० अणेगाह० जाव नो पव० तओ सं० गा० दू० ॥११७॥

**छाया**— स भिक्षुर्वा ग्रामानुग्रामं गच्छन्, अन्तराले तस्य विहं स्यात्, स यत् पुनः विहं जानीयात् एकाहेन वा द्व्यहेन वा त्र्यहेन वा चतुरहेण वा पंचाहेन वा प्रापणीयं वा नो प्रापणीयं वा तथाप्रकारं विहं अनेकाहगमनीयं सति लाढे यावद् गमनाय, केवली ब्रूयात् आदानमेतत्

अन्तराले तस्य वर्षा स्यात् प्राणेषु वा पनकेषु वा बीजेषु वा हरितेषु उदकेषु वा मृत्तिकायां वा अविध्वस्तायां, अथ भिक्षुः यत् तथाप्रकारमनेकाहगमनीयं यावत् न प्रतिपद्येत् ततः संयतः ग्रामानुग्रामं गच्छेत्।

**पदार्थ-** से भिक्खू वा-वह साधु या साध्वी। गा०-ग्रामानुग्राम। दूइजमाणे-विहार करता हुआ। अन्तरा से-मार्ग में। विहं सिया-अटवी हो तो। से जं-वह भिक्षु जो। पुण-फिर। विहं जाणिज्जा-अटवी के सम्बन्ध में यह जाने कि वह अटवी। एगाहेण वा-एक दिन में उलंघी जा सकती है। दुआहेण वा-दो दिन में या। तिआहेण वा-तीन दिन में या। चउआहेण वा-चार दिन में या। पंचाहेण वा-पांच दिन में। पाउणिज्ज वा-उल्लंघी जा सकती है। नो पाउणिज्ज वा-नहीं उलंघी जा सकती है। तहप्पगारं-तथाप्रकार की। विहं-अटवी जो कि। अणेगाहगमणिज्जं-अनेक दिनों में उलंघी जा सकती है तो। सइ लाढे जाव गमणाए-विहार योग्य अन्य प्रदेश के होने पर साधु इस प्रकार की अटवी को उलंघ कर जाने का विचार न करे क्योंकि। केवली बूया-केवली भगवान कहते हैं कि। आयाणमेयं-यह कर्म बन्धन का कारण है, क्योंकि। अन्तरा से वासे सिया-उस मार्ग के मध्य में वर्षा हो जाए तो फिर। पाणेसु वा-द्वीन्द्रियादि प्राणियों के उत्पन्न होने पर या। पणाएसु वा-पांच वर्ण की नीलन फूलन के उत्पन्न होने पर। बीएसु वा-बीजों के अंकुरित हो जाने। हरिं-हरियाली के उत्पन्न हो जाने। उदं-पानी के भर जाने पर या। मट्टियाए वा-सचित्त मिट्टी के उत्पन्न हो जाने से। अविद्धत्थाए-संयम एवं आत्मा की विराधना होगी। अह-अतः। भिक्खू-भिक्षु-साधु। जं तहं-तथा प्रकार की अटवी जो। अणेगाहं-अनेक दिनों में उलंघी जा सकती है। जाव-यावत्-उस में जाने के लिए। नो पवं-मन में विचार भी न करे। तओ-तदनन्तर। संं-साधु, अन्य विहार करने योग्य। गां-गांव को। दूं-विहार करे।

**मूलार्थ-**साधु या साध्वी ग्रामानुग्राम विहार करता हुआ मार्ग में उपस्थित होने वाली अटवी को जाने, जिस अटवी को एक दिन में, दो दिन में, तीन और चार अथवा पांच दिन में उल्लंघन किया जा सके, अन्य मार्ग होने पर उस अटवी को लांघकर जाने का विचार न करे। केवली भगवान कहते हैं कि यह कर्म बन्धन का कारण है। क्योंकि मार्ग में वर्षा हो जाने पर, द्वीन्द्रियादि जीवों के उत्पन्न हो जाने पर, नीलन-फूलन, एवं सचित्त जल और मिट्टी के कारण संयम की विराधना का होना सम्भव है। इस लिए ऐसी अटवी जो कि अनेक दिनों में पार की जा सके मुनि उसमें जाने का संकल्प न करे, किन्तु अन्य सरल मार्ग से अन्य गावों की ओर विहार करे।

**हिन्दी विवेचन-** प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि मुनि को ऐसी अटवी में से होकर नहीं जाना चाहिए जिसे पार करने में लम्बा समय लगता हो। क्योंकि, इस लम्बे समय में वर्षा होने से द्वीन्द्रिय आदि क्षुद्र जन्तुओं एवं निगोदकाय तथा हरियाली आदि की उत्पत्ति हो जाने से संयम की विराधना होगी और कीचड़ आदि हो जाने के कारण यदि कभी पैर फिसल गया तो शरीर में चोट आने से आत्म-विराधना भी होगी। और बहुत दूर तक जंगल होने के कारण रास्ते में विश्राम करने को स्थान की प्राप्ति एवं आहार-पानी की प्राप्ति में भी कठिनता होगी। इसलिए मुनि को सदा सरल एवं सहज ही समाप्त होने वाले मार्ग से विहार करना चाहिए।



यदि कभी विहार करते समय मार्ग में नदी पड़ जाए तो साधु को क्या करना चाहिए, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— से भि० गामा० दूइज्जिजा० अंतरा से नावासंतरिमे उदए सिया, से जं पुण नावं जाणिजा असंजए भिक्खुपडियाए किणिज्ज वा पामिच्चेज्ज वा नावाए वा नावं परिणामं कट्टु थलाओ वा नावं जलंसि ओगाहिजा जलाओ वा नावं थलंसि उक्कसिजा पुण्णं वा नावं उस्सिंचिजा सन्नं वा नावं उप्पीलाविजा तहप्पगारं नावं उड्डुगामिणिं वा अहेगा० तिरियगामि० परं जोयणमेराए अद्धजोयणमेराए अप्पतरे वा भुज्जतरे वा नो दुरूहिजा गमणाए ॥

से भिक्खू वा० पुव्वामेव तिरिच्छसंपाइमं नावं जाणिजा, जाणित्ता से तमायाए एगंतमवक्कमिजा २ भंडगं पडिलेहिजा २ एगओ भोयणभंडगं करिजा २ सीसोवरियं कायं पाए पमज्जिजा सागारं भत्तं पच्चक्खाइजा, एगं पायं जले किच्चा एगं पायं थले किच्चा तओ सं० नावं दुरूहिजा ॥११८ ॥

छाया— स भिक्षुर्वा० ग्रामानुग्रामं गच्छेत्० अन्तराले तस्य नौसन्तार्यमुदकं स्यात्, स यत् पुनः नावं जानीयात् असंयतश्च भिक्षुप्रतिज्ञया क्रीणीयात् पापमिमीत वा नावा वा नावं परिणामं कृत्वा स्थलाद् वा नावं जले अवगाहेत, जलाद् वा नावं स्थले उत्कर्षयेत्, पूर्णां वा नावं उत्सिंचेत सन्नां वा नावं उत्प्लावयेत् तथाप्रकारां नावं ऊर्ध्वगामिनीं वा अधोगामिनीं वा तिर्यग्गामिनीं वा परं योजनमर्यादया अर्द्धयोजनमर्यादया अल्पतरो वा भूयस्तरो वा नो दुरूहेत् गमनाय, स भिक्षुर्वा० पूर्वमेव तिर्यक् संपातिमां नावं जानीयात् ज्ञात्वा सः तामादाय एकान्तमपक्रमेत् अपक्रम्य भंडगं प्रतिलेखयेत् प्रतिलिख्य एकतः भोजनभण्डकं कुर्यात् कृत्वा सशीर्षोपरिकं कायं पादं प्रमृज्यात्, सागारं भक्तं प्रत्याख्यायात् एकं पादं जले कृत्वा एकं पादं स्थले कृत्वा ततःसंयतः नावं दूरोहेत्।

पदार्थ— से भि० वा०—वह साधु या साध्वी। गामाणुगामं—ग्रामानुग्राम। दूइज्जिजा—विहार करते हुए। अंतरा से—उस मार्ग के मध्य में। नावासंतरिमे उदए सिया—नौका द्वारा तैरने योग्य जल हो तो, इस प्रकार के जल से पार होने के लिए। से जं—वह साधु जो। पुण—फिर। नावं जाणिजा—नौका के सम्बन्ध में जाने कि। अ—यदि। असंजए—गृहस्थ। भिक्खुपडियाए—भिक्षु के लिए। किणिज्ज वा—नौका खरीद ले या। पामिच्चेज्ज वा—नौका को उधार लेकर साधु को पार उतारे या। नावाए नावं परिणामं कट्टु—एक नौका से दूसरी नौका का परिवर्तन करके साधु को पार उतारे या। थलाओ वा नावं जलंसि ओगाहिजा—स्थल भूमि पर स्थित नौका को साधु के लिए स्थल से जल में लाए। वा—या। जलाओ वा नावं थलंसि उक्कसिजा—जल से स्थल में लाए। वा—या। पुण्णं नावं उस्सिंचिजा—जल से भरी हुई नौका को साधु के लिए खाली करे या। सन्नं वा नावं उप्पीलाविजा—कीचड़ में डूबी हुई नौका को निकाल कर चलने के लिए तैयार करे। तहप्पगारं—तथा प्रकार की नौका। उड्डुगामिणिं—

चाहे जल के ऊपर चलने वाली हो अर्थात् पानी के स्रोत के सामने चलने वाली हो या। अहेगा०—जल के नीचे चलने वाली हो। तिरियगामि०—तिर्यक् चलने वाली हो। परं जोयणमेराए—उत्कृष्ट योजन की मर्यादा से ( एक घण्टे में ८ मील की चाल से ) चलने वाली हो। अद्धजोयणमेराए—या अद्धयोजन की मर्यादा से चलने वाली। अप्तरे वा—ऐसी नौका पर थोड़े काल या। भुज्तरे वा—बहुत काल के लिए। गमणाए—नदी से पार जाने के लिए। नो दुरूहिजा—सवार न हो।

से भिक्खू वा०—वह साधु अथवा साध्वी। पुव्वामेव—पहले ही। तिरिच्छसंपाइमं—तिर्यक् जल में चलने वाली। नामं जाणिजा—नौका के सम्बन्ध में जाने। जाणित्ता—और जानकर। से—वह भिक्षु। तमायाए—उस गृहस्थ की आज्ञा लेकर। एगंतमवक्कमिजा—एकान्त स्थान में चला जाए और वहां जाकर। भंडगं पडिलेहिजा २—भण्डोपकरण की प्रतिलेखना करे और प्रतिलेखन करके। एगओ भोयणभंडगं करिजा २—फिर भंडोपकरण को एकत्रित करके। ससीसोवरियं कायं—सिर से लेकर शरीर को और। पाए—पैरों को। पमज्जिजा—प्रमार्जित करे, उसके पश्चात्। सागारं भत्तं पच्चक्खाइजा—आगार पूर्वक अन्न-पानी का त्याग करे अर्थात् यदि मैं सकुशल पार हो गया तो आहार-पानी करूंगा अन्यथा जीवन पर्यन्त के लिए मेरे आहार-पानी का त्याग है, इस प्रकार आगार सहित प्रत्याख्यान करे। एगं पायं जले किच्चा—एक पैर जल में रखे और। एगं पायं थले किच्चा—एक पैर स्थल में रखे। तओ—तदनन्तर। सं०—वह साधु। नावं दुरूहिजा—नौका पर चढ़े।

**मूलार्थ**—साधु या साध्वी ग्रामानुग्राम विहार करता हुआ यदि मार्ग में नौका द्वारा तैरने योग्य जल हो तो नौका से नदी पार करे। परन्तु इस बात का ध्यान रखे कि यदि गृहस्थ साधु के निमित्त मूल्य देता हो या नौका उधार लेकर या परस्पर परिवर्तन करके या नौका को स्थल से जल में या जल से स्थल में लाता हो, या जल से परिपूर्ण नौका को जल से खाली करके या कीचड़ में फंसी हुई को बाहर निकाल कर और उसे तैयार कर के साधु को उस पर चढ़ने की प्रार्थना करे, तो इस प्रकार की ऊर्ध्वगामिनी, अधोगामिनी या तिर्यग् गामिनी नौका, जो कि उत्कृष्ट एक योजन क्षेत्र प्रमाण में, चलने वाली है या अद्धयोजन प्रमाण में चलने वाली है, ऐसी नौका पर थोड़े या बहुत समय तक गमन करने के लिए साधु सवार न हो अर्थात् ऐसी नौका पर बैठ कर नदी को पार न करे। किन्तु, पहले से ही तिर्यग् चलने वाली नौका को जानकर, गृहस्थ की आज्ञा लेकर फिर एकान्त स्थान में चला जाए और वहां जाकर भण्डोपकरण की प्रतिलेखना करके उसे एकत्रित करे, तदनन्तर सिर से पैर तक सारे शरीर को प्रमार्जित करके अगार सहित भक्त पान का परित्याग करता हुआ एक पांव जल में और एक स्थल में रखकर नौका पर यत्नापूर्वक चढ़े।

**हिन्दी विवेचन**—प्रस्तुत सूत्र में यह अभिव्यक्त किया गया है कि विहार करते हुए यदि मार्ग में नदी आ जाए और उसे बिना नौका के पार करना कठिन हो तो साधु अपनी मर्यादा का परिपालन करते हुए विवेक एवं यत्नापूर्वक नौका का उपयोग कर सकता है। यदि मुनि को नदी के किनारे खड़ा देखकर कोई गृहस्थ उसे पार पहुंचाने के लिए नाविक को पैसा देता हो या उससे नौका उधार लेता हो या उससे नाव का परिवर्तन करता हो, तो साधु को उस नाव पर नहीं बैठना चाहिए। इसी तरह यदि कोई नाविक साधु को नदी से पार करने के लिए अपनी नौका को जल में से स्थल पर लाता हो या स्थल पर से जल में ले जाता हो या कर्दम में फंसी हुई नाव को निकाल कर लाता हो, तो साधु उस नौका पर भी सवार न

हो, भले ही वह नाव एक योजन गामिनी हो या इससे भी अधिक तेज गति से चलने वाली क्यों न हो। जिस नौका के लिए गृहस्थ को पैसा देना पड़े या जिसमें साधु के लिए नए रूप से आरम्भ करना पड़े साधु उस नाव में न बैठे। परन्तु, जो नाव पहले से ही पानी में हो, तो उस नाव से पार होने के लिए वह नाविक से याचना करे और उसके स्वीकार करने पर एकान्त स्थान में जाकर अपने भण्डोपकरणों को एकत्रित करे और अपने शरीर का सिर से लेकर पैर तक प्रमार्जन करे। उसके पश्चात् सागारिक संधारा करके विवेक पूर्वक एक पैर पानी में और एक पैर स्थल पर रखकर यत्ना से नौका पर चढ़े।

प्रस्तुत सूत्र में ऊर्ध्वगामिनी, अधोगामिनी और तिर्यग् गामिनी नौकाओं का उल्लेख किया गया है। और इसमें ऊर्ध्व और अधोगामिनी नौकाओं में बैठने का निषेध किया गया है। कारणवश केवल तिर्यग् गामिनी नौका पर सवार होने का ही आदेश दिया गया है। निशीथ सूत्र में भी ऊर्ध्व और अधोगामिनी नौकाओं पर सवार होने वाले को प्रायश्चित्त का अधिकारी बताया गया है<sup>१</sup>। इससे स्पष्ट होता है कि उस समय आकाश में उड़ने एवं पानी के भीतर चलने वाली नौकाएं भी होती थीं। उर्ध्वगामी नौका से वर्तमान युग के हवाई जहाज जैसे यान का होना सिद्ध होता है और अधोगामी नौका से पनडुबी का होना भी प्रमाणित होता है। वृत्तिकार ने उक्त तीनों तरह की नौकाओं का कोई स्पष्टीकरण नहीं किया है। उपाध्याय पार्श्वचन्द्र ने इन्हें स्रोत के सामने और स्रोत के अनुरूप और जल के मध्य में गतिशील नौकाएं बताया है। परन्तु यह अर्थ उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। क्योंकि आकाश एवं जल के भीतर चलने वाली नौकाओं के निषेध का तात्पर्य तो स्पष्ट रूप से समझ में आ जाता है, परन्तु, स्रोत के सामने एवं जल के मध्य में चलने वाली नौका पर सवार नहीं होने का तात्पर्य समझ में नहीं आता। इससे निष्कर्ष यह निकला कि साधु तिर्यग् गामिनी (पानी के ऊपर गति करने वाली) नौका पर सवार हो सकता है<sup>२</sup>।

प्रस्तुत सूत्र में एक या अर्ध योजन (८ या ४ मील) तक पानी में रहने वाली नौका पर सवार होने का निषेध किया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि इतनी या इससे अधिक दूरी का मार्ग नौका के द्वारा तय करना नहीं कल्पता।

नौका में सवार होने के पूर्व जो सागारी अनशन करने का उल्लेख किया गया है, उसका तात्पर्य यह है कि यदि मैं कुशलता पूर्वक किनारे पहुंच जाऊं तो मेरे आहार-पानी का त्याग नहीं है। परन्तु, कभी

१ जे भिक्खु उड्ढगामिणिं वा पावं अहोगामिणिं वा पावं दुरुहति दुरुहंतं वा साङ्गज्ज।

— निशीथसूत्र, १८, १७।

२ यह अपवाद मार्ग है। यदि दूसरा साफ मार्ग हो-जिसमें नदी नहीं पड़ती हो तो साधु को उस मार्ग से जाना चाहिए। यदि अन्य मार्ग न हो और नदी में पानी की अधिकता हो तो मुनि नौका द्वारा उसे पार कर सकता है और यह अपवाद मार्ग उत्सर्ग मार्ग की भांति संयम में सहायक एवं निर्दोष माना गया है। क्योंकि, आगम में इसके लिए कहीं भी प्रायश्चित्त का विधान नहीं किया गया है। वर्तमान में नदी पार करने पर जो प्रायश्चित्त लेने की परम्परा है, वह नौका पर सवार होने या नदी पार करने का प्रायश्चित्त नहीं है। परन्तु, उसके लेने का उद्देश्य यह है कि आगम में जिस विधि से नदी पार करने एवं नौका में सवार होने का उल्लेख किया गया है, उस विधि का यथार्थ पालन नहीं होता है। अतः प्रमादवश जो आगम की विधि का उल्लंघन होता है, उसका प्रायश्चित्त लिया जाता है, न कि अपवाद मार्ग में नौका में सवार होने का। क्योंकि, अपवाद भी उत्सर्ग की तरह का सन्मार्ग है, यदि आगम में उल्लिखित विधि के अनुरूप समभाव से उसका सेवन किया जाए।

प्रसंगवश बीच में कोई दुर्घटना हो जाए तो मेरे आहार-पानी आदि का जीवन पर्यन्त के लिए त्याग है।

एक पैर पानी में तथा दूसरा पैर स्थल पर रखने का विधान अप्कायिक जीवों की दया के लिए किया गया है और यहां स्थल का अर्थ पानी के ऊपर का आकाश-प्रदेश है, न कि पृथ्वी। इसका तात्पर्य यह है कि साधु को पानी को मथते हुए-आलोड़ित करते हुए नहीं चलना चाहिए, परन्तु विवेक पूर्वक धीरे से एक पैर पानी में और दूसरा पैर पानी के ऊपर आकाश में रखना चाहिए, इसी विधि से नौका तक पहुंच कर विवेक के साथ नौका पर सवार होना चाहिए।

नौका से सम्बन्धित विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं-

मूलम्— से भिक्खू वा० नावं दुरूहमाणे नो नावाओ पुरओ दुरूहिज्जा,  
नो नावाओ मग्गओ दुरूहिज्जा, नो नावाओ मज्झओ दुरूहिज्जा, नो बाहाओ  
पगिञ्जिय २ अंगुलियाए उद्विसिय २ ओणमिय २ उन्नमिय २ निज्झाइज्जा। से  
णं परो नावागओ नावागयं वइज्जा-आउसंतो ! समणा एयं ता तुमं नावं  
उक्कसाहिज्जा वा वुक्कसाहि वा खिवाहि वा रज्जुयाए वा गहाय आकासाहि,  
नो से तं परिन्नं परिजाणिज्जा तुसिणीओ उवेहिज्जा। से णं परो नावागओ  
नावाग० वइ-- आउसं० नो संचाएसि तुमं नावं उक्कसित्तए वा ३ रज्जुयाए वा  
गहाय आकसित्तए वा आहर एयं नावाए रज्जुयं सयं चैव णं वयं नावं  
उक्कसिस्सामो वा जाव रज्जुए वा गहाय आकसिस्सामो, नो से तं प० तुसि०। से  
णं प० आउसं० एयं ता तुमं नावं आलित्तेण वा पीढएण वा वंसेण वा बलएण  
वा अवलुएण वा वाहेहि, नो से तं प० तुसि०। से णं परो० एयं ता तुमं नावाए उदयं  
हत्थेण वा पाएण वा मत्तेण वा पडिग्गहेण वा नावाउस्सिंचणेण वा उस्सिचाहि,  
नो से तं० से णं परो० समणा ! एयं तुमं नावाए उत्तिंगं हत्थेण वा पाएण वा  
बाहुणा वा उरुणा वा उदरेण वा सीसेण वा काएण वा उस्सिंचणेण वा चलेण  
वा मट्टियाए वा कुसपत्तएण वा कुविंदएण वा पिहेहि, नो से तं० ॥ से भिक्खू  
वा २ नावाए उत्तिंगेण उदयं आसवमाणं पेहाए उवरुवरिं नावं कज्जलावेमाणिं  
पेहाए नो परं उवसंकमित्तु एवं बूया-आउसंतो! गाहावइ एयं ते नावाए उदयं  
उत्तिंगेण आसवइ उवरुवरिं नावा वा कज्जलावेइ, एयप्पगारं मणं वा वायं वा  
नो पुरओ कट्टु विहरिज्जा अप्पुस्सुए अबहिज्जेसे एगंतगएण अप्पाणं विउसेज्जा  
समाहीए, तओ सं० नावा संतारिमे उदए आहारियं रीइज्जा, एयं खलु० सया

## जड़जासि त्तिबेमि ॥१११॥

छाया- स भिक्षुर्वा० नावं दूरोहन् न नावः पुरतो दूरोहेत्- ( आरोहेत् ) न नावः  
मार्गतः दूरोहेत्-आरोहेत् नो नावः मध्यतः आरुहेन्न बाहुभ्यां प्रगृह्य २ अङ्गुल्या उद्दिश्य २  
अवनम्य २ उवनम्य २ निध्यायेत् । स परः नौगतः नौगतं वदेद् आयुष्मन्तः श्रमणाः ! एतां  
तावत् त्वं नावमुत्कर्षस्व, व्युत्कर्षस्व, क्षिपस्व वा रज्ज्वा वा गृहीत्वा आकर्षस्व ? न स तां  
परिज्ञां परिजानीयात् तूष्णीकः उपेक्षेत । स परो नौगतो नौगतं वदेद्-आयुष्मन्तः श्रमणाः ! न  
शक्नोषि त्वं नावमुत्कर्षयितुं वा ३ रज्ज्वा वा गृहीत्वा आकर्षयितुं वा आहर एतां नावः रज्जूकां  
स्वयं चैव वयं नावं उत्कर्षिष्यामः वा यावद् रज्ज्वा गृहीत्वा आकर्षिष्यामः, न स तां परिज्ञां  
परिजानीयात् तूष्णीकं उपेक्षेत । स परः आयुष्मन्तः श्रमणाः ! एतां त्वं नावमालिसेन वा  
पीठकेन वा वंशेन वा बलकेन वा अवलुकेन वा वह, न स तां परिज्ञां परिजानीयात् तूष्णीकः  
उपेक्षेत । स परः एतां तावत् त्वं नावि उदकं हस्तेन वा पादेन वा अमत्रेण वा पतद्ग्रहेण वा  
नावुत्सिंचनेन वा उत्सिंचस्व ? न स तां० । स परः० श्रमणाः ! एतां त्वं नावः रन्ध्रं हस्तेन वा  
पादेन वा बाहुना वा उरुणा वा उदरेण वा शीर्षेण वा कायेन वा उत्सिंचनेन वा चलेन वा  
मृत्तिकया वा कुशपत्रेण वा कुविन्दकेन वा पिथेहि न स तां० । स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा नावः  
रन्ध्रोदकमाश्रवमाणं प्रेक्ष्य उपर्युपरि नावं प्लाव्यमानां प्रेक्ष्य न परं उपसंक्रमितुमेवं ब्रूयात् आयुष्मन् !  
गृहपते ! एतत् ते नावि उदकं रन्ध्रेण आस्रवति, उपर्युपरि नौ वा प्लवते, एतत् प्रकारं मनो वा  
वाचं वा न पुरतः कृत्वा विहरेत् । अल्पोत्सुकः अबहिलेश्यः एकान्तगतेन आत्मानं व्युत्सृजेत्  
समाधिना, ततः संयतः नौ सन्तार्यं चोदकं यथाऽऽर्यं रीयेत्- गच्छेत् एतां खलु सदा यायात्  
इति ब्रवीमि ।

पदार्थ- से भिक्खू वा-वह साधु या साध्वी । नावं-नौका पर । दुरूहमाणं-चढ़ता हुआ । नावाओ-  
नौका के । पुरओ-आगे । नो दुरूहिजा-न बैठे । नावाओ-नौका के । मज्झओ-मध्य में । नो दुरूहिजा-न बैठे ।  
नावाओ-नौका के । मग्गओ-पीछे । नो दुरूहिजा-न बैठे । बाहओ-नौका की दोनों ओर की बाहों को ।  
पगिञ्जिय २-पकड़ कर २ । अंगुलियाए-अंगुली को । उद्दिसिय २-उद्देश्य करके । ओणमिय-अंगुली ऊंची  
करके और । उन्नमिय २-विशेष ऊंची करके । नो निञ्जाइजा-पानी को न देखे । णं-वाक्यालंकार में है । से-वह  
नाविक । परो-अन्य । नावागओ-नाव में बैठा हुआ । नावागयं-नौका में सवार साधु के प्रति यदि । वइजा-कहे  
कि । आउसंतो समणा-हे आयुष्मन् श्रमण ! तां-पहले । एयं-इस । नावं-नौका को । तुमं-तू । उक्कसाहिजा-  
अमुक दिशा की ओर खींच ले अथवा । तुक्कसाहि वा-विशेष रूप से खींच ले । खिवाहि वा-अथवा अमुक  
वस्तु को नौका में रखकर इसे चला ले या । रज्जुयाए वा गहाय-रस्सी को पकड़ कर खींच ले । से-वह भिक्षु । तं-  
उस नाविक के । परिन्नं-इस प्रकार के वचन को । नो परिजाणिजा-स्वीकार न करे, किन्तु । तुसिणीओ-मौन  
रूप में । उवेहिजा-स्थित रहे अर्थात् उसको हां या ना कुछ भी न कहे । णं-वाक्यालंकार में है ।

से-वह । परो-अन्य । नावागओ-नौका में बैठा हुआ नाविक । नावागं-नौका में स्थित साधु के प्रति ।

वड़०-कहे कि। आउसं०-हे आयुष्मन् श्रमण ! यदि। तुमं-तू। नावं-नीका को। उक्कसित्ते वा-खींचने के लिए। नो संचाएसि-समर्थ नहीं है तो फिर। रज्जुयाए वा-रस्सी को। गहाय-पकड़ कर। आकसित्ते वा-यह रस्सी। आहर-मुझे दे दे। एयं-इस। नावाए-नीका को। रज्जूए-रज्जू से। सयं-मैं स्वयं अपने आप। च-फिर। एवं-निश्चय ही। णं-वाक्यालंकार में है। वयं-हम लोग। नावं-नीका को। उक्कसिस्सामो-दुढ़ कर लेंगे। जाव-यावत्। रज्जूए-रज्जू को। गहाय-ग्रहण करके। आकसिस्सामो-रज्जू बान्ध कर विशेष रूप से दुढ़ करेंगे। से-वह भिक्षु। तं-उस नाविक के। प०-इस वचन को भी। नो परिजाणिज्जा-स्वीकार न करे किन्तु। तुसि०-मीन भाव में रहे अर्थात् चुप रहे।

से-वह गृहस्थ। णं-वाक्यालंकार में है। प०-पर-अन्य नाव में बैठा हुआ नाविक साधु के प्रति कहता है कि। आउसं०-हे आयुष्मन् श्रमण ! ता-पहले। तुमं-तू। एयं-इस। नावं-नाव को। आलित्तेण वा-नीका के चलाने वाले चप्पू से या। पीढाएण वा-पीठ से या। वसेण वा-बांस से अथवा। वलएण वा-बल्ली से-नीका के उपकरण विशेष से या। अवलुएण वा-नीका को चलाने का बांस विशेष, उससे। वाहेहि-नीका को आगे चला। से-वह भिक्षु। तं-उस नाविक के। प०-इस वचन को भी। नो परिजाणिज्जा-स्वीकार न करे किन्तु। तुसि०-मीन भाव से चुप रहे। णं-वाक्यालंकार में है।

से-वह। परो-अन्य नाव में बैठा हुआ नावागत साधु के प्रति कहने लगा कि हे आयुष्मन् श्रमण ! ता-पहले। तुमं-तू। एयं-इस। नावाए-नीका में। उदयं-भरे हुए पानी को। हत्थेण वा-हाथ से। पाएण वा-अथवा पैर से या। मत्तेण वा-पात्र से। पडिगहेण वा-या बर्तन से या। नावाउस्सिंचणेण वा-नीका में रखे हुए पानी उलीचने के पात्र से। उस्सिंचाहि-इस पानी को नीका से बाहर निकाल। नो से तं-वह साधु उस नाविक के उन वचनों को भी स्वीकार न करे किन्तु मीन धारण करके बैठा रहे। णं-वाक्यालंकार में है।

से-वह। परो-अन्य नावा में बैठा हुआ नावागत साधु के प्रति कहने लगा। समणा !-हे आयुष्मन् श्रमण ! तुमं-तू। एयं-इस। नावाए-नीका के। उत्तिंगं-छिद्र को। हत्थेण वा-हाथ से। पाएण वा-पैर से। बाहुणा वा-बाहु-भुजा से। उरुणा वा-जंघादि से। उदरेण वा-पेट से। सीसेण वा-सिर से। काएण वा-शरीर से। उस्सिंचणेण वा-उत्सिंचन-नीका से जल निकालने के पात्र विशेष से या। चलेण वा-वस्त्र से। मट्टिया वा-मिट्टी से या। कुसपत्तेण वा-कुशापत्र से। कुविंदएण वा-कुविन्द नामक तृण विशेष से। पिहेहि-बन्द कर दे। नो से तं०-वह साधु उस नाविक के इस वचन को भी स्वीकार न करे किन्तु मीनावलम्बन करके बैठा रहे।

से भिक्खू वा०-वह साधु अथवा साध्वी। नावाए-नीका के। उत्तिंगेण-छिद्र के द्वारा। उदयं-पानी को। आसवमाणं-आता हुआ। पेहाए-देखकर। उवरुवरिं-बहुत से जल से। नावं-नीका को। कज्जलावेमाणिं-भरी हुई। पेहाए-देखकर। परं-अन्य गृहस्थ के। उवसंकमित्तु-पास जाकर। नो एयं बूया-इस प्रकार न कहे कि। आउसंतो गाहावड़-हे आयुष्मन् गृहपते ! एयं ते-तुम्हारी इस। नावाए-नीका में। उत्तिंगेण-छिद्र के द्वारा। उदयं-जल। आसवड़-आ रहा है। उवरुवरिं-ऊपर २ बहुत जल से। नावा वा-नीका। कज्जलावेड़-भर रही है। एयप्पगारं-इस प्रकार के। मणं वा वायं वा-मन अथवा वचन को। पुरओ कट्टु-आगे करके अर्थात्

प्रधान रखकर। नौ विहरिजा-विहरण न करे किन्तु। अप्पुस्सुए-शरीर तथा उपकरणादि पर ममत्व न रखता हुआ, और। अबहित्त्से-जिस की संयम से बाहर लेश्या नहीं है तथा। एगंतगएण-एकान्त गत अर्थात् राग-द्वेष से रहित होकर। अप्पाणं-आत्मा को- आत्मगत ममत्व भाव को। विउसेजा-छोड़कर और। समाहीए-ज्ञानदर्शन तथा चारित्र में समाहित होकर रहे। तओ-तदनन्तर। संजयामेव-संयत साधु। नावासंतारिमे-नौका से तरने योग्य। उदए-जल में। आहारियं-जिस प्रकार अनन्त तीर्थकरों ने ईर्या का वर्णन किया है उसी प्रकार। रीइज्जा-चले। एवं खलु-निश्चय ही यह। सथा-सदा ही। जइज्जासि-यतनाशील बने। त्तिबेमि-इस प्रकार मैं कहता हूँ।

**मूलार्थ**—साधु या साध्वी नौका पर चढ़ते हुए नौका के आगे, पीछे और मध्य में न बैठे। और नौका के बाजू को पकड़कर या अंगुली द्वारा उद्देश्य (स्पर्श) करके तथा अंगुली ऊंची करके जल को न देखे। यदि नाविक साधु के प्रति कहे कि हे आयुष्मन् श्रमण ! तू इस नौका को खींच या अमुक वस्तु को नौका में रखकर और रज्जू को पकड़कर नौका को अच्छी तरह से बान्ध दे। या रज्जू के द्वारा जोर से कस दे। इस प्रकार के नाविक के वचनों को साधु स्वीकार न करे किन्तु मौन वृत्ति को धारण कर अवस्थित रहे।

यदि नाविक फिर कहे कि आयुष्मन् श्रमण ! यदि तू इस प्रकार नहीं कर सकता तो मुझे रज्जू लाकर दे। हम स्वयं नौका को दृढ़ बन्धनों से बान्ध लेंगे और उसे चलाएंगे फिर भी साधु चुप रहे।

यदि नाविक कहे कि आयुष्मन् श्रमण ! तू इस नौका को चप्पू से, पीठ से, बांस से, बलक और अबलुक से आगे कर दे। नाविक के इस वचन को भी स्वीकार न करता हुआ साधु मौन रहे।

फिर नाविक बोले कि आयुष्मन् श्रमण ! तू नाव में भरे हुए जल को हाथ से, पांव से, भाजन से, पात्र से और उत्सिंचन से बाहर निकाल दे। नाविक के इस कथन को भी अस्वीकार करता हुआ साधु मौन रहे। यदि फिर नाविक कहे कि-आयुष्मन् श्रमण ! तू नावा के इस छिद्र को हाथ से, पैर से, भुजाओं से, जंघा से, उदर से, सिर से और शरीर से, नौका से जल निकालने वाले उपकरणों से, वस्त्र से, मिट्टी से, कुश पत्र और कुबिंद से रोक दे- बन्द कर दे। साधु नाविक के उक्त कथन को भी अस्वीकार कर मौन धारण करके बैठा रहे।

साधु या साध्वी नौका में छिद्र के द्वारा जल भरता हुआ देखकर एवं नौका को भरती हुई देखकर, नाविक के पास जाकर ऐसे न कहे कि हे आयुष्मन् गृहपते ! तुम्हारी यह नौका छिद्र द्वारा जल से भर रही है और छिद्र से जल आ रहा है। इस प्रकार के मन और वचन को उस ओर न लगाता हुआ विचरे। वह शरीर एवं उपकरणादि पर मूर्छा न करता हुआ, लेश्या को संयम में रखे तथा ज्ञान, दर्शन और चारित्र में समाहित होकर आत्मा को राग और द्वेष से रहित करने का-प्रयत्न करे। और नौका के द्वारा तरने योग्य जल को पार करने के बाद जिस प्रकार तीर्थकरों ने जल के विषय में ईर्या समिति का वर्णन किया है- उसी प्रकार उसका पालन करे। यही साधु का समग्र आचार है अर्थात् इसी में उसका साधु भाव है। इस प्रकार मैं कहता हूँ।

**हिन्दी विवेचन**— प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि यदि नाविक साधु को नौका के बांधने एवं खोलने तथा चलाने आदि का कोई भी कार्य करने के लिए कहे तो साधु को उसके वचनों को स्वीकार नहीं करना चाहिए। परन्तु, मौन रहकर आत्म-चिन्तन में संलग्न रहना चाहिए। इसी तरह नौका में पानी भर रहा हो तो साधु को उसकी सूचना भी नहीं देनी चाहिए। इन सूत्रों से कुछ पाठकों के मन में यह सन्देह हो सकता है कि यह सूत्र दया-निष्ठ साधु की अहिंसा एवं दया भावना का परिपोषक नहीं है। परन्तु, यदि इस सूत्र पर गहराई से सोचा-विचारा जाए तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि प्रस्तुत सूत्र साधु के अहिंसा महाव्रत का परिपोषक है। क्योंकि, साधु छह काय का संरक्षक है, यदि वह नाव को खींचने, बांधने एवं चलाने आदि का प्रयत्न करेगा तो उसमें अनेक त्रस एवं स्थावर कायिक जीवों की हिंसा होगी और नौका में छिद्र आदि का कथन करने से एकाएक लोगों के मन में भय की भावना का संचार होगा। जिससे उनमें भाग दौड़ मच जाना सम्भव है और परिणाम स्वरूप नाव खतरनाक स्थिति में पहुंच सकती है। इसलिए साधु को इन सब झंझटों से दूर रहकर अपने आत्म-चिन्तन में संलग्न रहना चाहिए। इसमें उन अन्य व्यक्तियों के साथ साधु स्वयं भी तो उसी नौका में सवार है। यदि नौका में किसी तरह की गड़बड़ होती है तो उसमें साधु का जीवन भी तो खतरे में पड़ता है। फिर भी साधु अपने लिए किसी तरह का प्रयत्न नहीं करता। क्योंकि, जिस प्रवृत्ति में अन्य जीवों की हिंसा हो वैसी प्रवृत्ति करना साधु को नहीं कल्पता। प्रस्तुत सूत्र में साधुत्व की उत्कृष्ट साधना को लक्ष्य में रखकर यह आदेश दिया है कि वह मृत्यु का प्रसंग उपस्थित होने पर भी नाव में होने वाली किसी तरह की सावद्य प्रवृत्ति में भाग नहीं ले परन्तु मौन भाव से आत्म-चिन्तन में लगा रहे।

यदि कोई साधारण साधु कभी परिस्थितिवाश व्यावहारिक दृष्टि को सामने रखकर नौका को संकट से बचाने के लिए कोई प्रयत्न करे तो उसे भगवान द्वारा दी गई आज्ञा के उल्लंघन का प्रायश्चित्त लेना चाहिए। निशीथ सूत्र में नौका सम्बन्धी कार्य करने का जो प्रायश्चित्त बताया गया है वह— जो लोगों के प्रति मुनि की दया भावना है, उनकी रक्षा की दृष्टि है, उसका नहीं है। वह प्रायश्चित्त केवल मर्यादा भंग का है। क्योंकि, उक्त प्रवृत्ति में प्रमादवश हिंसा का होना भी सम्भव है, इसलिए उक्त दोष का निवारण करने के लिए ही प्रायश्चित्त का विधान किया गया है। और उक्त क्रियाओं के करने का लघु चौमासिक प्रायश्चित्त बताया गया है<sup>१</sup>।

कुछ प्रतियों में प्रस्तुत सूत्र का अन्तिम अंश इस प्रकार भी मिलता है— 'एवं खलु तस्स भिक्खुस्स भिक्खुणीए वा सामगियं जं सव्वट्ठेहिं सहिते सदा जएज्जासि।' परन्तु, इससे अर्थ में कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता है।

प्रस्तुत सूत्र में साधु की विशिष्ट साधना एवं उत्कृष्ट अध्यवसायों का उल्लेख किया गया है। नौका में आरूढ़ हुआ साधु अपने विचार एवं चिन्तन को इधर-उधर न लगाकर आत्म चिन्तन में लगाए रहता है और ६ काय की रक्षा के लिए अपने जीवन का व्यामोह भी नहीं रखता है। इसलिए नौका में पानी भरने की स्थिति में भी जब कि उसका अपना जीवन भी संकट में पड़ा हो, आध्यात्मिक विचारणा में



व्यस्त रहना उसकी विराट् साधना का प्रतीक है, इससे उसके आत्म-चिन्तन की स्थिरता का स्पष्ट परिचय मिलता है। इस तरह प्रस्तुत सूत्र में दिया गया आदेश साधुत्व की विशुद्ध साधना के अनुकूल ही प्रतीत होता है।

‘त्तिबेमि’ की व्याख्या पूर्ववत् समझें।

॥ प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

## तृतीय अध्ययन ईर्येषणा

### द्वितीय उद्देशक

प्रथम उद्देशक के अन्तिम दो सूत्रों में नौका से नदी पार करने का उल्लेख किया गया है। अब प्रस्तुत उद्देशक में यह अभिव्यक्त किया गया है कि नौका पर सवार होने के पहले और बाद में साधु को किन-किन बातों का ध्यान रखना चाहिए। इस विषय को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्— से णं परो णावा० आउसंतो समणा ! एयं ता तुमं छत्तगं वा जाव चम्मछेयणगं वा गिणहाहि, एयाणि तुमं विरूवरूवाणि सत्थजायाणि धारेहि, एयं ता तुमं दारगं वा पज्जेहि, नो से तं ॥१२० ॥**

**छाया—** स परः नाविगतः नाविगतं वदेत् आयुष्मन् श्रमण ! एतत् तावत् त्वं छत्रकं वा यावत् चर्मछेदनकं वा गृहाण एतानि त्वं विरूपरूपाणि शस्त्रजातानि धारय । एतं तावत् त्वं दारकं वा पायय, न स तां परिजां परिजानीयात्, तूष्णीकः उपेक्षेत् ।

**पदार्थ—** णं—वाक्यालंकार में है। से—वह। परो णावा०—यदि नाविक नौका में बैठे हुए मुनि को इस प्रकार। वदेजा—कहे। आउसंतो समणा—हे आयुष्मन् श्रमण ! ता—पहले। तुमं—तू। एयं—मेरे इस। छत्तगं वा—छत्र। जाव—यावत्। चम्मछेयणगं वा—चर्म छेदिका—चमड़े को काटने के शस्त्र विशेष को। गिणहाहि—ग्रहण कर और फिर। तुमं—तू। एयाणि—ये। विरूवरूवाणि—नाना प्रकार के जो। सत्थजायाणि—शस्त्र आयुध विशेष हैं इनको। धारेहि—धारण कर, तथा। ता—पहले। तुमं—तू। एयं—इस। दारगं—बालक को। पज्जेहि—पानी आदि पिला दे। से—वह साधु। तं—उस नाविक—गृहस्थ के इस। परिन्नं—वचन को। नो परिजाणिजा—स्वीकार न करे किन्तु। तुसिणीओ—मौन धारण करके। उवेहेजा—बैठा रहे।

**मूलार्थ**—यदि नाविक नाव पर सवार मुनि को यह कहे कि हे आयुष्मन् श्रमण ! पहले तू मेरा छत्र यावत् चर्मछेदन करने के शस्त्र को ग्रहण कर। इन विविध शस्त्रों को धारण कर और इस बालक को पानी पिला दे। वह साधु उसके उक्त वचन को स्वीकार न करे, किन्तु मौन धारण करके बैठा रहे।

**हिन्दी विवेचन—** प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि यदि नाविक साधु को छत्र, शस्त्र आदि धारण करने के लिए कहे या अपने बालक को पानी पिलाने के लिए कहे तो साधु उसकी बात स्वीकार न करे, किन्तु मौन भाव से आत्म-चिन्तन में संलग्न रहे। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि नाविक मुनि जीवन से सर्वथा अपरिचित होने के कारण उसे ऐसे आदेश देता है। यदि वह साधु के त्यागनिष्ठ जीवन से परिचित

हो तो वह साधु के साथ ऐसा व्यवहार नहीं कर सकता। अतः उसके भाषण करने के ढंग से उसकी अनभिज्ञता प्रकट होती है और साधु के मौन रहकर उसके आदेश को अस्वीकार करने के पीछे एकमात्र प्राणी जगत की रक्षा एवं संयम साधना को विशुद्ध रखने का भाव स्पष्ट होता है। क्योंकि, यदि साधु छत्र, शस्त्र आदि धारण करेगा तथा नाविक के बच्चों को पानी पिलाएगा या उसके ऐसे ही अन्य कार्य करेगा तो उसमें त्रस एवं स्थावर अनेक जीवों की हिंसा होगी और परिणाम स्वरूप उसकी संयम साधना भी टूट जाएगी। अतः साधु को नाविक के आदेशानुसार कार्य नहीं करना चाहिए, परन्तु मौन भाव से उसे अस्वीकार करके अपनी आध्यात्मिक साधना में व्यस्त रहना चाहिए।

नाविक का कार्य न करने पर यदि कोई नाविक क्रुद्ध होकर साधु के साथ दुष्टता का व्यवहार करे, उसे उठाकर नदी की धारा में फेंक दे तो उस समय साधु को क्या करना चाहिए। इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— से णं परो नावागए नावागयं वएज्जा-आउसंतो ! एस णं समणे नावाए भंडभारिए भवइ, से णं बाहाए गहाय नावाओ उदगंसि पक्खिविज्जा, एयप्पगारं निग्घोसं सुच्चा निसम्म से य चीवरधारी सिया खिप्पामेव चीवराणि उव्वेढिज्ज वा निवेढिज्ज वा उप्फेसं वा करिज्जा, अहं अभिक्कंत-कूरकम्मा खलु बाला बाहाहिं गहाय ना० पक्खिविज्जा से पुव्वामेव वइज्जा-आउसंतो ! गाहावई मा मेत्तो बाहाए गहाय नावाओ उदगंसि पक्खिवह, सयं चैव णं अहं नावाओ उदगंसि ओगाहिस्सामि, से णेवं वयंतं परो सहसा बलसा बाहाहिं ग० पक्खिविज्जा तं नो सुमणे सिया, नो दुम्मणे सिया, नो उच्चावयं मणं नियंछिज्जा नो तेसिं बालाणं घायए वहाए समुट्ठिज्जा, अप्पुस्सुए जाव समाहीए तओ सं० उदगंसि पविज्जा ॥१२१॥

छाया— स परो नौगतः नौगतं वदेत्-आयुष्मन् ! एष श्रमणः नावि भाण्डभारो भवति, तदेनं बाहुभ्यां गृहीत्वा नावः उदके प्रक्षिपत एतत् प्रकारं निर्घोषं श्रुत्वा निशम्य स च चीवरधारी स्यात्, क्षिप्रमेव चीवराणि उद्वेष्टयेद् वा निर्वेष्टयेद् वा, उप्फेसं-शिरोवेष्टनं वा कुर्यात्, अथ पुनरेवं जानीयाद् अभिक्रान्तकूरकर्माणः खलु बालाः बाहुभ्यां गृहीत्वा नावः उदके प्रक्षिपेयुः स पूर्वमेव वदेत्-आयुष्मन् गृहपते ! मा मां, इतो बाहुभ्यां गृहीत्वा नावः उदके प्रक्षिपत ! स्वयं चैव अहं नावः उदके अवगाहिष्ये तम् एवं वदन्तं परः सहसा बलेन बाहुभ्यां गृहीत्वा नावः उदके प्रक्षिपेत् तदा न सुमनाः स्यान् दुर्मनाः स्यान् उच्चावचं मनः नियच्छेन्न तेषां बालानां घाताय वधाय समुत्तिष्ठेद् अल्पोत्सुकः यावत् समाधिना ततः संयतमेव उदके प्लवेत ।

**पदार्थ**— पां=वाक्यालंकार में है। से-वह। परो नावागए-नीका पर सवार नाविक। नावागयं-यदि नीका पर चढ़े हुए अन्य गृहस्थ को। वएजा-इस प्रकार कहे। पां-वाक्यालंकार में है। आउसंतो-हे आयुष्मन् गृहस्थ। एस-यह। समणे-साधु। नावाए-नीका में बैठा हुआ साधु। भंडभारिए भवइ-चेष्टारहित भाण्डोपकरण की भांति भाण्ड रूप है। पां-प्राग्वत्। से-इसको। बाहाए-भुजाओं से। गहाय-पकड़कर। नावाओ-नाव से बाहर। उदगंसि-जल में। पक्खिविजा-फैंक दो-गिरा दो। एयप्पगारं-इस प्रकार के। निग्घोसं-निर्घोष शब्द को। सुच्चा-सुनकर। निसम्म-दिल में विचार कर। य-फिर। से-वह साधु। चीवरधारी सिया-यदि वस्त्रधारी हो तो। खिप्पामेव-जल्दी ही। चीवराणि-वस्त्रों को। उव्वेढिजा-पृथक् कर दे। वा-अथवा। निवेढिजा वा-एकत्र कर उन्हें भली-भान्ति बान्ध ले या। उप्फेसं वा करिजा-सिर पर लपेट ले। अह पुणेवं जाणिजा-और फिर इस प्रकार जाने। खलु-निश्चयार्थक है। अभिकंतकूरकम्मा-अत्यन्त कूर कर्म करने वाला। बाला-ये अज्ञानी जीव। बाहाहिं गहाय-मुझे-भुजाओं से पकड़ कर। नावाओ-नीका से बाहर। उदगंसि-जल में। पक्खिविजा-गिरावेंगे। से-वह साधु। पुव्वामेवं-उससे पूर्व ही उनके प्रति इस प्रकार। वइजा-कहे। आउसंतो गाहावई-आयुष्मन् गृहस्थो ! मेत्तो-मुझे इस नीका से। बाहाए-गहाय-भुजाओं से पकड़ कर। नावाओ-नीका से बाहर। उदगंसि-जल में। मा पक्खिवह-मत फैंको। च-फिर। एव-निश्चय। पां-वाक्यालंकार में है। अहं-मैं। सयं-स्वयं ही। नावाओ-तुम्हारी नीका से। उदगंसि-जल में। ओगाहिस्सामि-उतर जाऊंगा। से-उस साधु के। पां-प्राग्वत्। एवं-इस प्रकार। वयंतं-बोलते हुए यदि। परो-अन्य गृहस्थ। सहसा-साहस पूर्वक शीघ्र ही। बलसा-बलपूर्वक। बाहाहिं गहाय-उसे भुजाओं से पकड़ कर। पक्खिविजा-जल में फैंक दे। तं-तो वह साधु। सुमणे-श्रेष्ठ मन वाला। नो सिया-न हो तथा। दुम्मणे-दुष्ट मन वाला भी। नो सिया-न होवे और। नो उच्चावयं मणं नियंछिजा-अपने मन को ऊंचा-नीचा भी न करे तथा। तेसिं बालाणं-उन बाल अज्ञानी जीवों का। घायाए-घात करने के लिए। वहाए-वध करने के लिए भी। नो समुट्ठिजा-उद्यत न हो अर्थात् उनके विनाश का उद्योग न करे किन्तु। अप्पुस्सुए-राग-द्वेष से रहित होकर। जाव-यावत्। समाहीए-समाधि से संयम में विचरे। तओ-तदनन्तर। से-साधु। उदगंसि-जल में। पविजा-शांति पूर्वक प्रविष्ट हो जाए, तात्पर्य यह है कि जल में बहता हुआ मन में उन गृहस्थादि के प्रति किसी प्रकार का राग-द्वेष न रखे।

**मूलार्थ**— यदि नाविक नीका पर बैठे हुए किसी अन्य गृहस्थ को इस प्रकार कहे कि हे आयुष्मन् गृहस्थ ! यह साधु जड़ वस्तुओं की तरह नीका पर केवल भार भूत ही है। यह न कुछ सुनता है और ना कोई काम ही करता है। अतः इसको भुजा से पकड़ कर इसे नीका से बाहर जल में फैंक दो। इस प्रकार के शब्दों को सुनकर और उन्हें हृदय में धारण करके वह मुनि यदि वस्त्रधारी है तो शीघ्र ही वस्त्रों को फैलाकर, फिर उन्हें अपने सिर पर लपेट कर विचार करे कि ये, अत्यन्त कूर कर्म करने वाले अज्ञानी लोग मुझे भुजाओं से पकड़कर नीका से बाहर जल में फैंकना चाहते हैं। ऐसा विचार कर वह उनके द्वारा फैंके जाने के पूर्व ही उन गृहस्थों को सम्बोधित करके कहे कि आयुष्मन् गृहस्थो ! आप लोग मुझे भुजाओं से पकड़ कर जबरदस्ती नीका से बाहर जल में मत फैंको। मैं स्वयं ही इस नीका को छोड़ कर जल में प्रविष्ट हो जाऊंगा। साधु के ऐसे कहने पर भी यदि कोई अज्ञानी जीव शीघ्र ही बलपूर्वक साधु की भुजाओं को पकड़ कर उसे नीका से बाहर

जल में फैंक दे, तो जल में गिरा हुआ साधु मन में हर्ष-शोक न करे। वह मन में किसी तरह का संकल्प-विकल्प भी न करे और उनकी घात-प्रतिघात करने का तथा उनसे प्रतिशोध लेने का विचार भी न करे, इस तरह वह मुनि राग-द्वेष से रहित होकर समाधिपूर्वक जल में प्रवेश कर जाए।

**हिन्दी विवेचन**— प्रस्तुत सूत्र में साधु को हर परिस्थिति में समभाव बनाए रखने का आदेश दिया गया है। साधुता का आदर्श ही यह है कि वह दुःखों की तपती हुई दोपहरी में भी समभाव की सरस धारा को न सूखने दे। अपने आदेश का पालन होते हुए न देखकर यदि कोई नाविक उसे नदी की धारा में फैंकने की योजना बनाए और साधु उसे सुन ले तो उस समय साधु उस पर क्रोध न करे और न उसका अनिष्ट करने का प्रयत्न करे, प्रत्युत वह उससे मधुर शब्दों में कहे कि तुम मुझे फैंकने का कष्ट क्यों करते हो। यदि मैं तुम्हें बोझ रूप प्रतीत होता हूँ और तुम मुझे तुरन्त नौका से हटाना चाहते हो तो लो मैं स्वयं ही सरिता की धारा में उतर जाता हूँ। उसके इतना कहने पर भी यदि कोई अज्ञानी नाविक उसका हाथ पकड़कर उसे जल में फैंक दे, तो साधु उस समय शांत भाव से अपने भौतिक देह का त्याग कर दे। परन्तु, उस समय उन व्यक्तियों पर मन से भी क्रोध न करे और न उनसे प्रतिशोध लेने का ही सोचे और उन्हें किसी तरह का अभिशाप भी न दे और न दुर्वचन ही कहे।

प्रस्तुत सूत्र में साधुता के आदर्श एवं उज्वल स्वरूप का एक चित्र उपस्थित किया गया है। साधु की इस विराट् साधना का यथार्थ रूप तो अनुभव गम्य ही है, शब्दों के द्वारा उस स्वरूप को प्रकट करना कठिन ही नहीं, असम्भव है। आत्मा के इस विशुद्ध आचरण के सामने दुनिया की सारी शक्तियां निस्तेज हो जाती हैं। इसके प्रखर प्रकाश के सामने सहस्र-सहस्र सूर्यों का प्रकाश भी धूमिल सा प्रतीत होता है। आत्मा की यही महान् शक्ति है जिसकी साधना करके मानव आत्मा से परमात्मा बनता है, साधक से सिद्ध अवस्था को प्राप्त करता है।

इस सूत्र में सचेलक साधु को ही निर्देश करके यह आदेश दिया गया है। क्योंकि, जिनकल्पी मुनि मुखवस्त्रिका एवं रजोहरण ही रखते हैं, परन्तु, यहां पर वस्त्रों को फैलाकर फिर उन्हें समेटने का आदेश दिया गया है। इससे यही स्पष्ट होता है कि यह पाठ स्थविर कल्पी मुनि को लक्ष्य करके कहा गया है। परन्तु, सूत्रकार ने प्रस्तुत प्रकरण में वस्त्र की तरह पात्र का स्पष्ट उल्लेख क्यों नहीं किया, यह विद्वानों के लिए विचारणीय है।

यदि कोई नाविक साधु को जल में फैंक दे तो उस समय उसे क्या करना चाहिए, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्**— से भिक्खू वा० उदगंसि पवमाणे नो हत्थेण हत्थं पाएण पायं काएण कायं आसाइज्जा, से अणासायणाए अणासायमाणे तओ सं० उदगंसि पविज्जा ॥ से भिक्खू वा० उदगंसि पवमाणे नो उम्मुग्गनिमुग्गियं करिज्जा, मामेयं उदगं कन्नेसु वा अच्छीसु वा नक्कंसि वा मुहंसि वा परियावज्जिज्जा, तओ० संजयामेव उदगंसि पविज्जा ॥ से भिक्खू वा उदगंसि पवमाणे दुब्बलियं

पाउणिज्जा, खिप्पामेव उवहिं विगिंचिज्ज वा विसोहिज्ज वा, नो चेव णं साइज्जिज्जा, अह पु० पारए सिया उदगाओ तीरं पाउणित्तए, तओ संजयामेव उदउल्लेण वा ससिणिद्धेण वा काएण उदगतीरे चिट्ठिज्जा ॥ से भिक्खू वा० उदउल्लं वा २ कायं नो आमज्जिज्जा वा णो पमज्जिज्जा वा संलिहिज्जा वा निल्लिहिज्जा वा उव्वलिज्जा वा उव्वट्ठिज्जा वा आयाविज्ज वा पया०, अह पु० विगओदओ मे काए छिन्नसिणेहे काए तहप्पगारं कायं आमज्जिज्ज वा पयाविज्ज वा तओ सं० गामा० दूइज्जिज्जा ॥१२२ ॥

छाया— स भिक्षुर्वा० उदके प्लवमानः नो हस्तेन हस्तं पादेन पादं कायेन कायं आसादयेत्, स अनासादनया अनासादमानः ततः संयतमेव उदके प्लवेत् । स भिक्षुर्वा० उदके प्लवमानः नो उन्मज्जननिमज्जने कुर्यात् मा मे एतद् उदकं कर्णयोः वा अक्षयोः वा नासिकयोः वा मुखे वा पर्यापयेत्, ततः संयतमेव उदके प्लवेत् । स भिक्षुर्वा० उदके प्लवमानः दौर्बल्यं प्राप्नुयात् । क्षिप्रमेव उपधिं विगिंचेत्-त्यजेत् वा विशोधयेत् वा नो चैवंसादयेत् । अथ पुनरेवं जानीयात् पारगः स्याद् उदकात् तीरं प्राप्तुं ततः संयतमेव उदकार्द्रेण सस्निग्धेन वा कायेन उदकतीरे तिष्ठेत् । स भिक्षुर्वा० उदकार्द्रं वा २ कायं नो आमार्जयेद् वा प्रमार्जयेद् वा संलिखेद् वा निलिखेद् वा उद्वलेद् वा उद्वेष्टयेद् वा आतापयेद् वा प्रतापयेद् वा, अथ पुनरेवं जानीयात् विगतोदको मे कायः छिन्नस्नेहः कायः तथाप्रकारं कायं आमर्जयेद् वा प्रतापयेद् वा ततः संयतमेव ग्रामानुग्रामं गच्छेत् ।

पदार्थ— से-वह । भिक्खू वा-साधु अथवा साध्वी । उदगंसि-जल में । पवमाणे-बहता हुआ । हत्थेण हत्थं-हाथ से हाथ को । पाएण पायं-पैर से पैर को । काएण कायं-शरीर से शरीर को । नो आसाइज्जा-स्पर्श न करे । से-वह भिक्षु । अणासायणाए-हस्तादि का परस्पर स्पर्श न करने से फिर । अणासायमाणे-स्पर्श न करता हुआ । तओ-तदनन्तर । सं०-साधु । उदगंसि-जल में । पविज्जा-बहे या तरे किन्तु अप्काधिक जीवों की रक्षा के लिए काया के द्वारा किंचिन्मात्र भी पुरुषार्थ न करे । से भिक्खू वा-वह साधु या साध्वी । उदगंसि-जल में । पवमाणे-बहता हुआ । उम्पुगनिपुगिगयं-नीचे से ऊपर आने-जाने अर्थात् डुबकिएं लगाने का यत्न । नो करिज्जा-न करे । मे-मैरे । एयं-यह । उदगं-जल । कन्नेसु वा-कानों में । अच्छीसु वा-आंखों में । नक्कंसि वा-नासिका में । मुहंसि वा-अथवा मुख में । मा परियावज्जिज्जा-मत प्रवेश करे; इस प्रकार की भावना भी न करे । तओ-तदनन्तर । संजयामेव-साधु । उदगंसि-जल में । पविज्जा-बहता जाए । से भिक्खू वा-वह साधु या साध्वी । उदगंसि-जल में । पवमाणे-बहता हुआ । दुब्बलियं-दुर्बलता अर्थात् कष्ट को । पाउणिज्जा-प्राप्त करे तो । खिप्पामेव-शीघ्र ही । उवहिं-उपधि वस्त्रादि का । विगिंचिज्ज वा-त्याग कर दे या । विसोहिज्ज वा-थोड़े से उपकरणों का त्याग कर दे । च-पुनः । एव-निश्चय । णं-वाक्यालंकार में है । नो साइज्जा-उपधि पर ममत्व न करे ।

अह-अथ। पुण-फिर। एवं-इस प्रकार। जाणिज्जा-जाने कि यदि वह उपधि युक्त ही। पारए सिया-किनारे पर पहुंचने में समर्थ है। उदगाओ-पानी से। तीरं-तीर को। पाउणित्तए-प्राप्त करने के समर्थ है। तओ-तो तीर पर पहुंचकर। संजयामेव-संयम पूर्वक। उदउल्लेण वा-जल से भीगे हुए शरीर से अर्थात् जब तक शरीर से जल बिन्दु टपक रहे हैं या। ससिणद्धेण वा-जल से उसका शरीर स्निग्ध है। काएण वा-या जब तक शरीर भीगा हुआ है तब तक। उदगतीरं-नदी के किनारे पर ही। चिट्ठज्जा-ठहरे। से भिक्खू वा-वह साधु या साध्वी। उदउल्लं वा-जलाद्रं-जब तक जल बिन्दु टपक रहे हों। कायं-तब तक उस भीगे हुए शरीर को। नो आमजिज्जा-हाथ से स्पर्श न करे। नो पमजिज्जा-प्रमार्जित न करे तथा। संलिहिज्जा-पूँछे नहीं। निल्लिहिज्ज वा-बार २ पोंछे नहीं, और। उच्चलिज्ज वा-हाथ से मले नहीं तथा। उच्चट्टिज्जा वा-उबटन की भांति शरीर को मल कर मैल को उतारे नहीं। आयाविज्ज वा पया-सूर्य के थोड़े या अधिक आताप से शरीर को सुखाए भी नहीं। अह पु-फिर इस प्रकार जाने कि। विगओदओ-मेरा शरीर जल बिन्दुओं से रहित और। छिन्नसिणोहे-स्नेह से रहित हो गया है अर्थात् अब गीला नहीं रहा है। मे काए-मेरे शरीर से न तो जल बिन्दु टपक रहे हैं और न वह गीला ही है। तहप्पगारं-तथा प्रकार के। कायं-शरीर को। आमजिज्ज वा-हाथ से स्पर्श करे। जाव-यावत्। पयाविज्ज वा-धूप में आतापना दे। तओ-तदनन्तर। संजयामेव-संयमशील साधु। गामा-ग्रामानुग्राम। दूइज्जिज्जा-विचरे।

**मूलार्थ-** साधु या साध्वी जल में बहते समय अप्काय के जीवों की रक्षा के लिए अपने एक हाथ से दूसरे हाथ का एवं एक पैर से दूसरे पैर का और शरीर के अन्य अवयवों का भी स्पर्श न करे। इस तरह वह परस्पर में स्पर्श न करता हुआ जल में बहता हुआ चला जाए वह बहते समय डुबकी भी न मारे, एवं इस बात का भी विचार न करे कि यह जल में कानों में, आंखों में, नाक और मुख में प्रवेश न कर जाएगा। तदनन्तर जल में बहता हुआ साधु यदि दुर्बलता का अनुभव करे तो शीघ्र ही थोड़ी या समस्त उपधि का त्याग कर दे वह उस पर किसी प्रकार का ममत्व न रखे। यदि वह यह जाने कि मैं उपधि युक्त ही इस जल से पार हो जाऊंगा तो किनारे पर आकर जब तक शरीर से जल टपकता रहे, शरीर गीला रहे तब तक नदी के किनारे पर ही ठहरे किन्तु जल से भीगे हुए शरीर को एक बार या एक से अधिक बार हाथ से स्पर्श न करे, मसले नहीं और न उद्धर्तन की भांति मैल उतारे, इसी प्रकार भीगे हुए शरीर और उपधि को धूप में सुखाने का भी प्रयत्न न करे। वह यह जान ले कि मेरा शरीर तथा उपधि पूरी तरह सूख गई है तब अपने हाथ से शरीर का स्पर्श या मर्दन कर एवं धूप में खड़ा हो जाए फिर किसी गांव की ओर अर्थात् विहार कर दे।

**हिन्दी विवेचन-** प्रस्तुत सूत्र में मुनि की अहिंसा साधना का विशिष्ट परिचय दिया गया है। इसमें बताया गया है कि नाविक द्वारा जल में कैंके जाने पर भी मुनि अपने जीवन की ओर विशेष ध्यान नहीं देता। उसे अपने जीने एवं मरने की परवाह नहीं है। परन्तु, ऐसी विकट परिस्थिति में भी वह अन्य जीवों की दया का पूरा-पूरा ध्यान रखता है। उसके जीवन के कण-कण में दया का दरिया प्रवहमान रहता है। वह नदी में बहता हुआ भी अपने हाथों एवं पैरों का तथा शरीर के अन्य अंग-प्रत्यंगों का इसलिए परस्पर स्पर्श नहीं करता है कि इससे अप्कायिक जीवों की एवं उसमें स्थित अन्य प्राणियों की हिंसा न हो। इसी दया भावना से न वह डुबकी लगाता है और न अपने कान, नाक, आंख आदि में भरते हुए पानी को ही निकालता है। इस तरह वह यत्नापूर्वक बहता चलता है।

यदि सरिता की धारा में बहते समय कमजोरी के कारण वह उपकरणों के बोझ को सहने में असमर्थ हो तो उसे चाहिए कि उन्हें विवेक पूर्वक धीरे से नदी में त्याग दे। इस प्रकार नदी के तट पर पहुंचने के पश्चात् वह तब तक स्थिर खड़ा रहे जब तक उसका शरीर एवं उसके वस्त्र आदि सूख न जाएं। परन्तु, वह अपने भीगे हुए वस्त्रों को निचोड़ कर धूप में सुखाने का तथा अपने शरीर को वस्त्र से पोंछकर या धूप में खड़ा होकर सुखाने का प्रयत्न भी नहीं करे। जब उसका शरीर स्वभाविक रूप से सूख जाए तब वह वहां से गांव की ओर विहार करे।

इस सम्बन्ध में वृत्तिकार का कहना है कि यदि वहां चोर आदि का भय हो तो वह अपने हाथों को लम्बा फैलाकर गीला शरीर भी सुखाकर गांव की ओर जा सकता है परन्तु, आगम में इस अपवाद का उल्लेख नहीं मिलने से यह जरा विचारणीय एवं चिन्तनीय है।

प्रस्तुत पाठ में नदी पार करके किनारे पर आने के पश्चात् उसे ईर्यापथिक प्रतिक्रमण करने का उल्लेख नहीं किया है। परन्तु वृत्तिकार ने इसका उल्लेख किया है। इसका कारण यह है कि यदि आगम में बताई गई विधि से प्रवृत्ति न की गई हो तो उसकी शुद्धि के लिए ईर्यापथिक प्रतिक्रमण करना चाहिए। अन्यथा प्रतिक्रमण की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती है।

आगम में मांस में दो या तीन बार महानदी का उल्लंघन करने का निषेध किया गया है<sup>१</sup> तथा उसका प्रायश्चित्त भी बताया गया है<sup>२</sup>। इससे स्पष्ट होता है कि मांस में एक बार महानदी पार करने का निषेध नहीं है, न उसे सबल दोष ही माना गया है और न उसके लिए प्रायश्चित्त का ही विधान<sup>३</sup> किया गया है। आगम में यह भी बताया गया है कि यदि कोई साध्वी जल में गिर गई हो तो साधु उसे पकड़कर निकाल ले<sup>४</sup>। आगम में यह भी बताया गया है कि एक समय में समुद्र के जल में<sup>५</sup> दो एवं नदी के जल में ३ जीव सिद्ध हो सकते हैं। इससे सूर्य के उजाले की तरह यह साफ हो जाता है कि आत्मा की शुद्धि एवं अशुद्धि भावों पर आधारित है। दुर्भाव पूर्वक की गई द्रव्य हिंसा ही पापकर्म के बन्ध का कारण हो सकती है। आगम में स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि विवेक एवं यत्ना पूर्वक चलते समय यदि साधु के पैर के नीचे आकर कुक्कट आदि कोई जीव मर जाए तब भी साधु को ईर्यापथिक क्रिया अथवा पुण्य कर्म का बन्ध होता है, सांप्रायिकी क्रिया का बन्ध नहीं होता<sup>६</sup>। अस्तु वीतराग भगवान की आज्ञा के अनुसार विवेक पूर्वक नदी पार करने का कोई प्रायश्चित्त नहीं बताया गया है और न उसके लिए ईर्यापथिक प्रतिक्रमण का ही उल्लेख किया गया है। क्योंकि प्रायश्चित्त विवेक पूर्वक, सावधानी से कार्य करने का नहीं होता, वह तो असावधानी एवं आज्ञा के उल्लंघन करने का होता है।

साधु-साध्वी को रास्ते में किस तरह चलना चाहिए, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं-

- १ बृहत्कल्प सूत्र, उ० ४।
- २ निशीथ सूत्र, उ० १२।
- ३ समवायांग सूत्र, २१।
- ४ स्थानांग सूत्र, स्थान ५, उ० २।
- ५ उत्तराध्ययन सूत्र, ३६, ५०-५४।
- ६ भगवती सूत्र, १८, ८।



मूलम्— से भिक्खू वा० गामाणुगामं दूइज्जमाणे नो परेहिं सद्धिं परिजविय  
२ गामा० दूइ०, तओ० सं० गामा० दूइज्जिज्जा ॥१२३॥

छाया— स भिक्षुर्वा० ग्रामानुग्रामं गच्छन् न परैः सार्द्धं परियाप्य २ ग्रामानुग्रामं गच्छेत्  
ततः संयतमेव ग्रामानुग्रामं गच्छेत् ।

पदार्थः— से-वह । भिक्खू वा-साधु अथवा साध्वी । गामाणुगामं-एक ग्राम से दूसरे ग्राम को ।  
दूइज्जमाणे-जाता हुआ । परेहिं-गृहस्थों के । सद्धिं-साधु । परिजविय २-बहुत बोलता हुआ । नो दूइ०-न जाए ।  
तओ सं०-तदनन्तर साधु यत्नापूर्वक । गामा० दूइ०-ग्रामानुग्राम विहार करे ।

मूलार्थ— साधु या साध्वी ग्रामानुग्राम विहार करते हुए गृहस्थों के साथ वार्तालाप करता  
हुआ गमन न करे । किन्तु ईर्यासमिति का यथाविधि पालन करता हुआ ग्रामानुग्राम विहार करे ।

हिन्दी विवेचन— प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि साधु या साध्वी को विहार करते समय या  
चलते समय अपने साथ के अन्य साधु से या गृहस्थ से बातें नहीं करनी चाहिएं । क्योंकि, बातें करने से  
मार्ग में आने वाले जीव-जन्तुओं को बचाया नहीं जा सकेगा तथा मार्ग का सम्यक्तया अवलोकन भी नहीं  
हो सकेगा । आगम में यहां तक कहा गया है कि साधु को चलते समय पांचों तरह का स्वाध्याय— १  
वाचना, २ पृच्छना, ३ परियटना, ४ अनुप्रेक्षा और ५ धर्मकथा का स्वाध्याय भी नहीं करना चाहिए<sup>१</sup> । इस  
तरह अपने योगों को सब ओर से हटाकर ईर्यासमिति का पालन करना चाहिए ।

जिस नदी में जंघा प्रमाण पानी हो उस नदी को साधु किस तरह पार करे, इस विषय को स्पष्ट  
करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— से भिक्खू वा० गामा० दू० अंतरा से जंघासंतारिमे उदगे सिया,  
से पुव्वामेव ससीसोवरियं कायं पाए य पमज्जिज्जा २ एगं पायं जले किच्चा एगं  
पायं थले किच्चा तओ सं० उदगंसि अहारियं रीएज्जा ॥ से भिक्खू वा० अहारियं  
रीयमाणे नो हत्थेण हत्थं जाव आणासायमाणे तओ संजयामेव जंघासंतारिमे  
उदए अहारियं रीएज्ज । से भिक्खू वा० जंघासंतारिमे उदए अहारियं रीयमाणे नो  
सायावडियाए नो परिदाहवडियाए महइ महालयंसि उदयंसि कायं विउसिज्जा,  
तओ संजयामेव जंघासंतारिमे उदए अहारियं रीएज्जा, अह पुण एवं जाणिज्जा  
पारए सिया उदगाओ तीरं पाउणित्तए, तओ संजयामेव उदउल्लेण वा २ काएण  
दगतीरए चिट्ठिज्जा ॥ से भि० उदउल्लं वा कायं ससि० कायं नो आमज्जिज्ज वा  
नो० अह पु० विगओदए मे काए छिन्नसिणेहे तहप्पगारं कायं आमज्जिज्ज वा०  
पयाविज्ज वा तओ सं० गामा० दूइ० ॥१२४॥

छाया- स भिक्षुर्वा० ग्रामानुग्रामं गच्छन् अन्तराले तस्य जंघासन्तार्यमुदकं स्यात्, सः पूर्वमेव सशीर्षोपरिकं कायं पादं च प्रमृज्य २ एकं पादं जले कृत्वा- एकं पादं स्थले कृत्वा- ततः संयतमेव उदके यथाऽऽर्यं रीयेत्। स भिक्षुः० यथार्यं रीयमाणो ( गच्छन् ) न हस्तेन हस्तं यावद् अनासादयन् ततः संयतमेव जंघासन्तार्यमुदकं यथार्यं रीयेत्। स भिक्षुर्वा० जंघासन्तार्यमुदकं यथार्यं रीयमाणो न साताप्रतिपत्त्या नो परिदाहप्रतिपत्त्या महतिमहालये उदके कायं व्युत्सृजेत्, ततः संयतमेव जंघासन्तार्यमुदकं यथार्यं रीयेत्, अथ पुनरेवं जानीयात् पारगः स्यादुदकात् तीरं प्राप्तुं, ततः संयतमेव उदकार्द्रेण वा २ कायेन दकतीरके तिष्ठेत्। स भिक्षुर्वा० उदकार्द्रं वा कायं सस्निग्धं वा कायं न आमृज्यात् वा न०। अथ पुनरेवं जानीयात् विगतोदकः मे कायः छिन्नस्नेहः तथाप्रकारं कायं आमृज्याद् वा० प्रतापयेद् वा ततः संयतमेव ग्रामानुग्रामं गच्छेत्।

पदार्थ- से-वह। भिक्खू वा०-साधु अथवा साध्वी। गामा० दू०-ग्रामानुग्राम विहार करता हुआ। से-उसके। अंतरा-मार्ग में। जंघासन्तारिमे-जंघा से तैरने-पार करने योग्य। उदगे-पानी। सिया-हो तो। से-वह भिक्षु। पुष्पामेव-पहले ही। सीसोवरियं कायं-अपने शरीर को मस्तक। य-से लेकर। पाए-पैरों तक। पमजिज्ज वा-प्रमार्जित करे और प्रमार्जित करके। एगं पायं-एक पैर को। जले किच्चा-जल में रखकर। एगं पायं-दूसरे पैर को। थले किच्चा-स्थल में-जल से बाहर रखकर। तओ-तदनन्तर। सं०-संयम-पूर्वक। उदगंसि-जल में। अहारियं-जिस प्रकार तीर्थंकरों ने ईर्यासमिति विषयक कथन किया है उसी प्रकार। रीइज्जा-गमन करे। से भि०-वह साधु या साध्वी। अहारियं-जंघा प्रमाण जल में ईर्यासमिति पूर्वक। रीयमाणे-चलता हुआ। नो हत्थेण हत्थं जाव-हाथ से हाथ यावत् शरीर के अवयवों का स्पर्श न करे और। अणासायमाणे-हाथ आदि का स्पर्श न करता हुआ। तओ-तदनन्तर। संजयामेव-यत्नापूर्वक। जंघासन्तारिमे उदए-जंघा द्वारा तैरने-पार करने योग्य पानी में। अहारियं-जैसे तीर्थंकरादि ने ईर्यासमिति का वर्णन किया है उसी प्रकार। रीइज्जा-उसमें गमन करे। से भिक्खू वा०-वह साधु या साध्वी। जंघासन्तारिमे-जंघाप्रमाण-जंघा द्वारा तरने योग्य। उदए-जल में। अहारियं-यथाहं-ईर्यासमिति पूर्वक। रीयमाणे-चलता हुआ साधु। सायावडियाए-साता के लिए। परिदाहवडियाए-दाह शांति के लिए। महइमहालयंसि-बड़े विस्तृत और गहरे। उदगंसि-पानी में। कायं-शरीर को। नो विउसिज्जा-प्रविष्ट न करे, अर्थात् साता के लिए गहरे जल में प्रवेश न करे। तओ-तदनन्तर। संजयामेव-यत्नापूर्वक। जंघासन्तारिमे उदए-जंघा-प्रमाण जल में। अहारियं-यथाहं-ईर्यासमिति पूर्वक। रीएज्जा-चले गमन करे। अह पुण एवं जाणिज्जा-अथ पुनः इस प्रकार जाने, यथा। पारए सिया-में उपधि के साथ पार हो सकता हूँ। तब उपधि का परित्याग न करे और। उदगाओ-जल में से। तीरं-तीर को। पाउणित्तए-प्राप्त करे। तओ-तदनन्तर। संजयामेव-संयमपूर्वक। उदउल्लेण वा २ कायेण-जब तक शरीर पर से जल बिन्दु गिरते हैं और शरीर गीला है तब तक। दगतीरए चिट्ठिज्जा-पानी के किनारे पर ही खड़ा रहे। से भि०-वह साधु या साध्वी। उदउल्लं वा कायं-जलाद्रं काय को, अर्थात् जिससे जल बिन्दु टपक रहे हों तथा। ससिणिद्धं वा कायं-जल से भीगे हुए शरीर को।

नो आमजिज्ज वा-स्पर्श न करे। जाव-यावत्। नो-आतापित न करे, धूप में न बैठे। अह पु-अथ फिर इस प्रकार जाने कि। मे-मेरा। काए-शरीर। विगओदए-विगतोदक-सचित्त जल से रहित हो गया है तथा। छिन्न-सिणेहे-किंचिन्मात्र भी आर्द्र-गीला नहीं रहा। तहप्पगारं-तथा प्रकार के। कार्य-शरीर-को। आमजिज्ज वा-हाथ से स्पर्श यावत् पोंछे और। पयाविज्ज वा-सूर्य का आताप दे अर्थात् जल को अचित्त हुआ जानकर शरीर आदि को पोंछे सुखावे। तओ-तदनन्तर। सं-यत्तापूर्वक। गामा-ग्रामानुग्राम। दूइजिज्जा-विहार करे।

**मूलार्थ-** साधु या साध्वी को ग्रामानुग्राम विहार करते हुए यदि मार्ग में जंघा प्रमाण जल पड़ता हो तो उसे पार करने के लिए साधु सिर से लेकर पैर तक शरीर की प्रतिलेखना करके एक पैर जल में और एक पैर स्थल में रखकर, जैसे भगवान ने ईर्यासमिति का वर्णन किया है उस के अनुसार उस पानी के स्रोत को पार करना चाहिए। उस नदी में चलते समय मुनि को हाथों और पैरों का परस्पर स्पर्श नहीं करना चाहिए। और शारीरिक शान्ति के लिए या दाह उपशान्त करने के लिए गहरे और विस्तार वाले जल में भी प्रवेश नहीं करना चाहिए और उसे यह अनुभव होने लगे कि मैं उपधि अर्थात् उपकरणादि के साथ जल से पार नहीं हो सकता तो उपकरणादि को छोड़ दे, और यदि यह जाने कि मैं उपकरणादि के साथ पार हो सकता हूँ तब उपकरण सहित पार हो जाए। परन्तु, पार पहुंचने के पश्चात् जब तक उसके शरीर से जल बिन्दु टपकते रहें और जब तक शरीर गीला रहे तब तक जल के किनारे पर ही खड़ा रहे और तब तक अपने शरीर को हाथ से स्पर्श भी न करे यावत् आतापना भी न देवे। जब तक शरीर बिलकुल सूख न जाए अर्थात् उसको यह निश्चय हो जाए कि मेरा शरीर पूर्णतया सूख गया है, तब शरीर को प्रमार्जना करके ईर्यासमिति पूर्वक ग्रामानुग्राम विचरने का प्रयत्न करे।

**हिन्दी विवेचन-** प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि यदि विहार करते समय रास्ते में नदी आ जाए और उसमें जंघा प्रमाण पानी हो और उसके अतिरिक्त अन्य मार्ग न हो तो मुनि उसे पार करके जा सकता है। इसके लिए पहले वह सिर से पैर तक अपने शरीर का प्रमार्जन करे। इस प्रसंग में वृत्तिकार का कहना है कि मुख से नीचे के भाग का रजोहरण से और उससे ऊपर के भाग का मुखवस्त्रिका से प्रमार्जन करे। परन्तु, मुखवस्त्रिका से प्रमार्जन की बात आगम अनुकूल प्रतीत नहीं होती। क्योंकि, मुखवस्त्रिका का प्रयोग भाषा की सावद्यता को रोकने एवं वायुकायिक जीवों की रक्षा की दृष्टि से किया जाता है न कि मुंह आदि पोंछने के लिए। शरीर आदि का प्रमार्जन करने के लिए रजोहरण एवं प्रमार्जनिका रखने का विधान है। और प्रमार्जनिका शरीर के प्रमार्जन के लिए ही रखी गई है। अतः यहां रजोहरण एवं प्रमार्जनिका से शरीर का प्रमार्जन करना ही युक्ति संगत प्रतीत होता है।

इस तरह शरीर का प्रमार्जन करके विवेक पूर्वक नौका पर सवार होने के प्रकरण में बताई गई विधि के अनुसार साधु एक पैर जल में और दूसरा पैर स्थल (पानी के ऊपर के आकाश प्रदेश) पर रखकर गति करे। परन्तु, भैसे की तरह पानी को रौंदता हुआ न चले और मन में यह भी कल्पना न करे कि मैं पानी में उतर तो गया हूँ अब कुछ गहराई में डुबकी लगाकर शरीर की दाह को शान्त कर लूं। उसे चाहिए कि वह अपने हाथ-पैरों को भी परस्पर स्पर्श न करता हुआ, अप्कायिक जीवों को विशेष पीड़ा न

पहुँचाता हुआ नदी को पार करे। यदि नदी पार करते समय उसे अपने उपकरण बोझ रूप प्रतीत होते हों और उन्हें लेकर नदी से पार होना कठिन प्रतीत होता हो, तो वह उन्हें वहीं छोड़ दे। यदि उपकरण लेकर पार होने में कठिनाता का अनुभव न होता हो तो उन्हें लेकर पार हो जाए। परन्तु, नदी के किनारे पर पहुँचने के पश्चात् जब तक शरीर एवं वस्त्रों से पानी टपकता हो या वे गीले हों तब तक वह वहीं खड़ा रहे। उस समय वह अपने हाथ से शरीर का स्पर्श न करे और न वस्त्रों को ही निचोड़े। उनके सूख जाने पर अपने शरीर का प्रतिलेखन करके विहार करे।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त जंघा का अर्थ साधल पर्यन्त पानी नहीं, परन्तु गोड़े से नीचे के भाग तक पानी समझना चाहिए। क्योंकि, यदि साधल या कमर तक पानी होगा तो ऐसी स्थिति में पैरों को उठाकर आकाश में रखना कठिन होगा। और कोष में भी इस का अर्थ गोड़े से नीचे का भाग ही किया है<sup>१</sup>। वृत्तिकार ने भी इसी बात को पुष्ट किया है। अतः जानु का अर्थ जंघा या गोड़े तक पानी का होना ही युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

नदी पार करने के पश्चात् साधु को किस प्रकार चलना चाहिए, इस सम्बन्ध में सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— से भिक्खू वा० गामा० दूइज्जमाणे नो मट्टियागएहिं पाएहिं हरियाणि छिंदिय २, विकुज्जिय २, विफालिय २ उम्मग्गेण हरियवहाए, गच्छिज्जा जमेयं पाएहिं मट्टियं खिप्पामेव हरियाणि अवहरंतु, माइट्ठाणं संपासे नो एवं करिज्जा से पुव्वामेव अप्पहरियं मग्गं पडिलेहिज्जा तओ० सं० गामा० ॥ से भिक्खू वा २ गामाणुगामं दूइज्जमाणे अंतरा से वप्पाणि वा फ० पा० तो० अ० अग्गलपासगाणि वा गड्डाओ वा दरीओ वा सइ परक्कमे संजयामेव परिक्कमिज्जा नो उज्जु० केवली० से तत्थ परक्कममाणे पयलिज्ज वा २ से तत्थ पयलमाणे वा २ रुक्खाणि वा गुच्छाणि वा गुम्पाणि वा लयाओ वा वल्लीओ वा तणाणि वा गहणाणि वा हरियाणि वा अवलंबिय २ उत्तरिज्जा, जे तत्थ पाडिपहिया उवागच्छंति ते पाणी जाइज्जा २, तओ सं० अवलंबिय २ उत्तरिज्जा तओ सं० गामा० दू०। से भिक्खू वा० गा० दूइज्जमाणे अंतरा से जवसाणि वा सगडाणि वा रहाणि वा सचक्काणि वा परचक्काणि वा से णं वा विरूवरूवं संनिरुद्धं पेहाए सइ परक्कमे सं० नो उ०, से णं परो सेणागओ वइज्जा आउसंतो! एस णं समणो सेणाए अभिनिवारियं करेइ, से णं बाहाए गहाय आगसह, स णं

परो बाहाहिं गहाय आगसिज्जा, तं नो सुमणे सिया जाव समाहिए तओ सं-  
गामां दू० ॥१२५ ॥

छाया- स भिक्षुर्वा० ग्रामानुग्रामं गच्छन् न मृत्तिकागतैः पादैः हरितानि छित्वा २  
विकुब्ध्य २ विपाट्य २ उन्मार्गेण हरितवधाय गच्छेत्। यदेनां पादाभ्यां मृत्तिकां क्षिप्रमेव  
हरितानि अपहरन्तु, मातृस्थानं संस्पृशेत् न एवं कुर्यात् स पूर्वमेव अल्पहरितं मार्गं प्रतिलेखयेत्  
ततः संयतमेव ग्रामानुग्रामं गच्छेत्। स भिक्षुर्वा० वा ग्रामानुग्रामं गच्छन् अन्तराले तस्य वप्राणि  
वा परिखा वा प्राकाराणि वा तोरणानि वा अर्गलानि वा अर्गलपाशका वा गर्ता वा दर्यो वा  
सति परक्रमे संयतमेव परिक्रामेन्न ऋजुकं गच्छेत्, केवली ब्रूयाद् आदानमेतत्, स तत्र  
पराक्रममाणः प्रस्खलेद् वा २ स तत्र प्रस्खलन् वा २ वृक्षान् वा गुच्छानि वा गुल्मानि वा लताः  
वा तृणानि वा गहनानि वा हरितानि वा अवलम्ब्य २ उत्तरेत् ये तत्र प्रातिपथिका उपागच्छन्ति  
तेभ्यः पाणिं याचेत् याचित्वा ततः संयतमेव अवलम्ब्य २ उत्तरेत् ततः संयतमेव ग्रामानुग्रामं  
गच्छेत्। स भिक्षुर्वा० ग्रामानुग्रामं गच्छन् अन्तराले तस्य यवसानि वा शकटानि वा रथा वा  
स्वचक्राणि वा परचक्राणि वा सैन्यं वा विरूवरूपं संनिरुद्धं प्रेक्ष्य सति परक्रमे संयतमेव  
पराक्रमेत् न ऋजुकं गच्छेत् स परः सेनागतः वदेत्, आयुष्मन् ! एष श्रमणः सेनायाः  
अभिनिवारिकां करोति एनं बाहुना गृहीत्वा आकर्षत स परः बाहुभ्यां गृहीत्वा आकर्षेत् तन्न  
सुमनाः स्यात्, यावत् समाधिना, संयतमेव ग्रामानुग्रामं गच्छेत्।

पदार्थ- से-वह। भिक्खू वा-साधु अथवा साध्वी। गामां-ग्रामानुग्राम। दूइज्जमाणे-जाते हुए।  
मट्टियाहिं-मिट्टी या कीचड़ से भरे हुए। पाएहिं-पैरों की मिट्टी या कीचड़ उतारने के लिए। हरियाणि-हरी  
वनस्पति को। छिंदिय २-छेद २ कर। विकुज्जिय २-या हरे पत्ते एकत्रित करके। विफालिय २-हरित वनस्पति  
को छील कर मिट्टी को न उतारे तथा मिट्टी को उतारने के लिए। हरियवहाए-हरित काय के बध के लिए।  
उम्मार्गेण-उन्मार्ग से। नो गच्छेज्जा-गमन न करे। जमेयं-जैसे यह। पाएहिं-पैरों की। मट्टियं-मिट्टी को।  
खिप्पामेव-शीघ्र ही। हरियाणि-हरितकाय। अवहरंतु-अपहरण करे, अर्थात् हरित काय के स्पर्श से स्वयमेव  
मिट्टी उतर जाएगी, यदि इस प्रकार के भाव लाकर वह हरियाली पर चलता है, तो। माइट्ठाणं संफासे-  
मातृस्थान-कपट का सेवन करता है अतः। एवं-इस प्रकार। नो करिज्जा-न करे किन्तु। से-वह भिक्षु। पुव्वामेव-  
पहले ही। अप्पहरिय-हरितकाय से रहित। मग्गं-मार्ग का। पडिलेहिज्जा-प्रतिलेखन करे। तओ-तदनन्तर।  
सं-यत्नापूर्वक। गामां-ग्रामानुग्राम। दू०-विहार करे। से भिक्खू वा-वह साधु या साध्वी। गामाणुगामं-एक  
ग्राम से दूसरे ग्राम को। दूइज्जमाणे-जाता हुआ। से-उसके। अंतरा-मार्ग में यदि। वप्पाणि वा-खेत की क्षारियें  
या। क०-कोट की खाई या। प०-प्रकोट। तो०-तोरण-द्वार या। अ०-अर्गला-कपाट निरोधक-कीली।  
अर्गलपासगाणि वा-अर्गला पाशक। गड्डाओ वा-गर्त खड्डे अथवा। दरीओ-पर्वत की गुफाएं आ जाएं  
तो। सइ परक्कमे-अन्य मार्ग के होने पर वह उस मार्ग से। संजयामेव-यत्नापूर्वक। परिवक्किज्जा-गमन करे।

नो उज्जु०-किन्तु सीधा न जाए अर्थात् अन्य मार्ग के सद्भाव में उक्त विषम मार्ग से गमन न करे। केवली०-केवली भगवान कहते हैं कि यह कर्म बन्धन का कारण है। से-वह साधु। तत्थ-उस निषिद्ध मार्ग में। परक्कममाणे-चलता हुआ कदाचित्। पयलिज्ज वा २-फिसल कर गिर पड़े, अथवा। से-वह भिक्षु। तत्थ-उस स्थान पर। पयलमाणे वा-फिसलता एवं गिरता हुआ। रुक्खाणि वा-वृक्षों को अथवा। गुच्छाणि वा-गुच्छों को। गुम्पाणि वा-अथवा गुल्मों को। लयाओ-लताओं को। बल्लीओ वा-बल्लियों अथवा। तिणाणि-तृणों को। गहणाणि वा-अथवा आकीर्ण वनस्पति को। अवलंबिय २-पकड़ २ कर। उत्तरिज्जा-उतरे अथवा। जे तत्थ-जो वहां पर। पडिपहिया-प्रति पथिक प्रतिपान्थ। उवागच्छंति-आते हैं। ते-उनसे। पाणी जाइज्जा २-हाथ मांग २ कर; जैसे कि हे आयुष्मन् ! तू मुझे अपना हाथ दे जिसे पकड़कर मैं उतर सकूं। तओ-तदनन्तर। संजयामेव-यत्नापूर्वक। अवलंबिय २-उसका सामने से आने वाले पथिक का हाथ पकड़ २ कर। उत्तरिज्जा-उतरे इन दोषों को देखता हुआ साधु विषम मार्ग को छोड़कर। तओ-तदनन्तर। सं-यत्नायुक्त साधु। गा०-ग्रामानुग्राम। दू०-विहार करे। से भिक्खू वा-वह साधु अथवा साध्वी। गामा० दूइज्जमाणे-ग्रामानुग्राम विहार करता हुआ। से-उसके। अंतरा-मार्ग में अर्थात् मार्ग के मध्य में। जवसाणि वा-यव और गोधूमादि धान वा। सगडाणि वा-शकट आदि गड्डा-गड्डी आदि। रहाणि वा-अथवा रथ अथवा। सचक्काणि-स्वचक्र-स्वकीय राज्य सेना। परचक्काणि वा-पर चक्र पर राजा की सेना। सेपां वा-सेना को। विरुवरुवं-नाना प्रकार के। संनिरुद्धं-एकत्र मिले हुए संघ को। पेहाए-देखकर। सइपरक्कमे-जाने योग्य अन्य मार्ग के सद्भाव में। संजयामेव-यत्नापूर्वक। परक्कमिज्जा-उसी मार्ग में जाने का प्रयत्न करे किन्तु। नो० उ०-सरल-सीधे मार्ग से न जाए कारण कि उधर से जाने पर अनेक प्रकार के कष्टों की सम्भावना है यथा-जब साधु सेना युक्त मार्ग में प्रयाण करेगा तब। णं-वाक्यालंकार में है। से-वह। परो-सेनापति आदि साधु को देखकर। सेणागओ-सेना में रहने वाला पुरुष किसी से। वइज्जा-कहे कि। आउसंतो-हे आयुष्मन् सद् गृहस्थ ! एस णं-यह। समणे-श्रमण साधु। सेणाए-सेना का। अभिनिवारियं-गुप्तचरी ( जासूसी )। करेइ-करता है अर्थात् यह श्रमण हमारी सेना का भेद लेता फिरता है। णं-वाक्यालंकार में है। से-इसकी। बाहाए-भुजाओं को। गहाय-पकड़ कर। आगसह-आकर्षित करो अर्थात् आगे-पीछे खैंचो। णं-पूर्ववत्। से-वह। परो-अन्य आज्ञा पाने वाला व्यक्ति उस साधु को। बाहाहिं-भुजाओं से। गहाय-पकड़ कर। आगसिज्जा-खींच कर आगे-पीछे करे। तं-तो वह साधु। नो सुमणे सिधा-न तो प्रसन्न हो और न रुष्ट हो किन्तु। जाव-यावत्। समाहिए-समभाव से विचरे। तओ-तदनन्तर। सं-संयत-साधु। गामा०-ग्रामानुग्राम। दूइ०-विहार करे।

**मूलार्थ-** साधु या साध्वी ग्रामानुग्राम में विचरते हुए मिट्टी और कीचड़ से भरे हुए पैरों को, हरितकाय का छेदन कर, तथा हरे पत्तों को एकत्रित कर उनसे मसलता हुआ मिट्टी को न उतारे, और न हरितकाय का वध करता हुआ उन्मार्ग से गमन करे। जैसे कि-ये मिट्टी और कीचड़ से भरे हुए पैर हरी पर चलने से हरितकाय के स्पर्श से स्वतः ही मिट्टी रहित हो जाएंगे, ऐसा करने पर साधु को मातृस्थान ( कपट ) का स्पर्श होता है। अतः साधु को इस प्रकार नहीं करना चाहिए। किन्तु, पहले ही हरी से रहित मार्ग को देखकर यत्नपूर्वक गमन करना चाहिए। और यदि मार्ग के मध्य में खेतों के क्यारे हों, खाई हो, कोट हो, तोरण हो, अर्गला और अर्गलापाश हो, गर्त हो तथा गुफाएं

हों, तो अन्य मार्ग के होते हुए इस प्रकार के विषम मार्ग से गमन न करे। केवली भगवान कहते हैं कि यह मार्ग दोष युक्त होने से कर्म बन्धन का कारण है। जैसे कि-पैर आदि के फिसलने तथा गिर पड़ने से शरीर के किसी अंग-प्रत्यंग को आघात पहुंचने के साथ-साथ जो वृक्ष, गुच्छ-गुल्म और लतायें एवं तृण आदि हरितकाय को पकड़ कर चलना या उतरना है और वहां पर जो पथिक आते हैं उनसे हाथ मांगकर अर्थात् हाथ के सहारे की याचना करके और उसे पकड़ कर उतरना है, ये सब दोष युक्त हैं, इसलिए उक्त सदोष मार्ग को छोड़कर अन्य निर्दोष मार्ग से एक ग्राम से दूसरे ग्राम की ओर प्रस्थान करे। तथा यदि मार्ग में यव और गोधूम आदि धान्य, शकट, रथ, स्वकीय राजा की या पर राजा की सेना चल रही हो, तब नाना प्रकार की सेना के समुदाय को देखकर, यदि अन्य गन्तव्य मार्ग हो तो उसी मार्ग से जाए किन्तु कष्टोत्पादक इस सदोष मार्ग से जाने का प्रयत्न न करे। इस मार्ग से जाने में कष्टोत्पत्ति की सम्भावना है। जैसे कि जब उस मार्ग से साधु जाएगा तो सम्भव है उसे देखकर कोई सैनिक किसी दूसरे सैनिक को कहे कि आयुष्मन् ! यह श्रमण हमारी सेना का भेद लेने आया है। अतः इसे भुजाओं से पकड़ कर खैंचो अर्थात् आगे-पीछे करो, और तदनुसार वह सैनिक साधु को पकड़ कर खैंचे, परन्तु साधु को उस समय उस पर न प्रसन्न और न रुष्ट होना चाहिए, किन्तु उसे समभाव एवं समाधि पूर्वक एक ग्राम से दूसरे ग्राम को विहार करने का प्रयत्न करना चाहिए।

**हिन्दी विवेचन-** प्रस्तुत सूत्र में साधु को तीन बातों का ध्यान रखने का आदेश दिया है-१. नदी पार करके किनारे पर पहुंचने के बाद वह अपने पैरों में लगा हुआ कीचड़ हरितकाय (हरी वनस्पति-घास आदि) से साफ न करे और न इस भावना से हरियाली पर चले कि इस पर चलने से मेरे पैर स्वतः ही साफ हो जाएंगे, २. यदि अन्य मार्ग हो तो जिस मार्ग में खेत की क्यारियां, खड्डे, गुफाएं आदि पड़ती हों उस विषम मार्ग से भी न जाए, क्योंकि पैर फिसल जाने से वह गिर पड़ेगा और परिणाम स्वरूप शरीर में चोट आएगी या कभी बचाव के लिए वृक्ष आदि को पकड़ना पड़ेगा, इससे वनस्पति कायिक जीवों की हिंसा होगी और ३. जिस मार्ग पर सेना का पड़ाव हो या सैनिक घूम रहे हों तो अन्य मार्ग के होते हुए उस मार्ग से भी न जाए। क्योंकि वे साधु को गुप्तचर समझकर उसे परेशान कर सकते हैं एवं कष्ट भी दे सकते हैं। कभी अन्य मार्ग न होने पर जिस मार्ग पर सेना का पड़ाव हो उस मार्ग से जाते हुए साधु को यदि कोई सैनिक पकड़ कर कष्ट देने लगे तो उस समय उसे उस पर राग-द्वेष नहीं करना चाहिए। ऐसे विकट समय में भी उसे समभाव पूर्वक उस वेदना को सहन करना चाहिए।

इससे स्पष्ट होता है कि साधु को अपने पैरों में लगी हुई मिट्टी को साफ करने के लिए वनस्पति काय की हिंसा नहीं करनी चाहिए। जैसे अपवाद मार्ग में मास में एक बार महानदी पार करने का आदेश दिया गया है, वैसे वृक्ष पर चढ़ने एवं हरितकाय को कुचलते हुए चलने का आदेश नहीं दिया गया है, अपितु उसका निषेध किया गया है और वृक्ष पर चढ़ने वाले को प्रायश्चित्त का अधिकारी बताया है<sup>१</sup>।

इस तरह साधु को वनस्पति काय की हिंसा न करते हुए एवं विषम मार्ग तथा सेना से युक्त रास्ते का त्याग करके सम मार्ग से विहार करना चाहिए। जिससे स्व एवं पर की विमिश्रण न हो।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं-

**मूलम्-** से भिक्खू वा० गामा० दूइज्जमाणे अंतरा से पाडिवहिया उवागच्छिज्जा, ते णं पाडिवहिया एवं वइज्जा-आउ० समणा ! केवइए एस गामे जाव रायहाणी वा ? केवइया इत्थ आसा हत्थी गामपिंडोलगा मणुस्सा परिवसंति ? से बहुभत्ते बहुउदए बहुजणे बहुजवसे से अप्पभत्ते अप्पुदए अप्पजणे अप्पजवसे ? एयप्पगाराणि पसिणाणि पुच्छिज्जा, एयप्प० पुट्ठो वा अपुट्ठो वा नो वागरिज्जा, एवं खलु० जं सव्वट्ठेहिं० ॥१२६ ॥

**छाया-** स भिक्षुर्वा० ग्रामानुग्रामं गच्छन् अन्तराले तस्य प्रातिपथिकाः उपागच्छेयुः, ते प्रतिपथिकाः एवं वदेयुः आयुष्मन् श्रमण ! कियान् एष ग्रामः ? वा यावत् राजधानी वा कियन्तः अत्र अश्वाः हस्तिनः ग्रामपिण्डावलका मनुष्याः परिवसन्ति ? स बहुभक्तः बहूदकः बहुजनो स ( अथ ) अल्पभक्तः अल्पोदकः अल्पजनः अल्पयवसः ? एतत्प्रकारान् प्रश्नान् पृच्छेत् एतत् प्रकारान् प्रश्नान् पृष्टो वा अपृष्टो वा नो व्याकुर्यात् । एवं खलु यत्० सर्वाथैः० । इति ब्रवीमि ।

**पदार्थ-** से भिक्खू वा-वह साधु या साध्वी । गामाणुगामं-ग्रामानुग्राम । दूइज्जमाणे-विहार करता हुआ । अंतरा से-उसके मार्ग में । पाडिवहिया-सम्मुख-सामने आने वाले पथिक मुसाफिर-यदि । उवागच्छिज्जा-आ जावें और । णं-वाक्यालंकार में । ते-वे पथिक । एवं वइज्जा-इस प्रकार कहें । आउ० समणा-आयुष्मन् श्रमण ! । केवइया-कितने प्रमाण में । एस-यह । गामे वा-ग्राम है । जाव-यावत् । रायहाणी वा-राजधानी है ? और । केवइया-कितने । इत्थ-यहां पर । आसा-अश्व-घोड़े । हत्थी-हाथी हैं ; तथा यहां पर कितने । गामपिंडोलगा-ग्राम याचक ग्राम में भिक्षावृत्ति से निर्वाह करने वाले भिखारी लोग हैं, तथा यहां पर कितने । मणुस्सा-मनुष्य । परिवसंति-निवास करते हैं तथा । से-इस ग्राम आदि में क्या । बहुभत्ते-आहारादि खाद्य पदार्थ प्रचुर हैं ? बहुउदए-यहां पानी पर्याप्त है ? बहुजणे-बहुत लोग बसते हैं । बहुजवसे-बहुत धान्यादि हैं ? से-अथवा । अप्पभत्ते-आहार । अप्पुदए-पानी आदि थोड़ा है । अप्पजणे-लोग भी कम हैं और । अप्पजवसे-अल्प धान्यादि हैं ? एयप्पगाराणि-इस प्रकार के । पसिणाणि-प्रश्नों को यदि । पुच्छिज्जा-पूछें तब साधु । एयप्प०-इस प्रकार के प्रश्नों का । पुट्ठो वा-पूछने पर या । अपुट्ठो वा-न पूछने पर भी । नो वागरिज्जा-उत्तर न दे । एवं-इस प्रकार । खलु-निश्चय ही । तस्स-उस । भिक्खुस्स-साधु या साध्वी का । सामग्गियं-समग्र-सम्पूर्ण आचार है । जं-जो । सव्वट्ठेहिं-ज्ञान, दर्शन और चरित्र से तथा । समिह-समिति में । सहिए-युक्त हुआ । सया-सदा । जएज्जासि-यत्न करे । तिर्बेमि-इस प्रकार से कहता हूं ।

**मूलार्थ-** साधु या साध्वी ग्रामानुग्राम विहार करता हुआ उसके मार्ग में यदि कोई सामने से और पथिक आ जाए और साधु से पूछे कि- आयुष्मन् श्रमण ! यह ग्राम यावत् राजधानी कैसी है ? यहां पर कितने घोड़े, हाथी और ग्राम याचक हैं, तथा कितने मनुष्य निवास करते हैं ? क्या



इस ग्राम यावत् राजधानी में अन्न, पानी, मनुष्य एवं धान्य बहुत है या थोड़ा है ? ऐसे प्रश्नों को पूछने पर साधु जवाब न देवे और उसके बिना पूछे भी ऐसी बातें न करे। परन्तु, वह मौन भाव से विहार करता रहे और सदा संयम साधना में संलग्न रहे।

**हिन्दी विवेचन-** प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि विहार करते समय रास्ते में यदि कोई पथिक मुनि से पूछे कि-जिस गांव या शहर से तुम आ रहे हो उसमें कितने हाथी-घोड़े हैं, कितना अन्न है, कितने मनुष्य हैं अर्थात् वह गांव धन-धान्य से सम्पन्न है या अभाव ग्रस्त है ? तो मुनि को इसका कोई उत्तर नहीं देना चाहिए। क्योंकि, इस चर्चा से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है और न यह चर्चा आत्म विकास में ही सहायक है। यह तो एक तरह की विकथा है, जो आध्यात्मिक प्रगति में बाधक मानी गई है। इसलिए साधु को उस समय मौन रहना चाहिए। यदि पूछने वाला कोई आध्यात्मिक साधक हो और उससे आध्यात्मिक विचारों के प्रसार होने की सम्भावना हो तो साधु के लिए उक्त प्रश्नों का उत्तर देने का निषेध नहीं है। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि यह प्रतिबन्ध इस लिए लगाया गया है कि केवल व्यर्थ की बातों में साधक का समय नष्ट न हो।

कुछ हस्त लिखित प्रतियों में "अप्पजवसे" पद के आगे यह पाठ मिलता है- "एयप्पगाराणि पसिणाणि पुट्टो वा अपुट्टो वा नो आइक्खेज्जा एयप्पगाराणि पसिणाणि नो पुच्छेज्जा।" और उपाध्याय पार्श्वचन्द्र एवं राजकोट से प्रकाशित आचाराङ्ग सूत्र (मूल एवं भाषान्तर) में यह पाठ उपलब्ध होता है- "एयप्पगाराणि पसिणाणि पुट्टो नो आइक्खेज्जा एयप्पगाराणि पसिणाणि नो पुच्छेज्जा।" इन उभय पाठों में केवल शब्दों के हेर-फेर हैं, परन्तु इनके अर्थ में कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता है।

प्रस्तुत सूत्र से यह स्पष्ट होता है कि उस युग में हाथी-घोड़े का अधिक उपयोग होता था और उन्हीं के आधार पर गांव के वैभव का अनुमान लगाया जाता था। इस कारण प्रश्नों की पंक्ति में सबसे पहले उनका उल्लेख किया गया है।

कुछ हस्तलिखित प्रतियों में 'त्तिबेमि' पद भी मिलता है, जिसकी व्याख्या पूर्ववत् समझें।

## तृतीय अध्ययन-ईर्ष्यणा

### तृतीय उद्देशक

द्वितीय उद्देशक के अन्तिम सूत्रों में जो गमन विधि का उल्लेख किया गया है, उसी विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं-

मूलम्— से भिक्खू वा० गामा० दूइज्जमाणे अंतरा से वप्पाणि वा जाव दरीओ वा जाव कूडांगाराणि वा पासायाणि वा नूमगिहाणि वा रुक्खगिहाणि वा पव्वयगि० रुक्खं वा चेइयकडं थूभं वा चेइयकडं आएसणाणि वा जाव भवणगिहाणि वा नो बाहाओ पगिज्झिय २ अंगुलियाए उद्दिसिय २ ओणमिय २ उन्नमिय २ निज्जाइज्जा, तओ सं० गामा० ॥ से भिक्खू वा गामा० दू० माणे अंतरा से कच्छाणि वा दवियाणि वा नूमाणि वा वलयाणि वा गहणाणि वा गहणविदुग्गाणि वा वणाणि वा वणवि० पव्वयाणि वा पव्वयवि० अगडाणि वा तलागाणि वा दहाणि वा नईओ वा वावीओ वा पुक्खरिणीओ वा दीहियाओ वा गुंजालियाओ वा सराणि वा सरपंतियाणि वा सरसरपंतियाणि वा नो बाहाओ पगिज्झिय २ जाव निज्जाइज्जा, केवली०, जे तत्थ मिगा वा पसू वा पंखी वा सरीसिवा वा सीहा वा जलचरा वा थलचरा वा, खहचरा वा सत्ता ते उत्तसिज्ज वा वित्तसिज्ज वा वाडं वा सरणं वा कंखिज्जा, वारेइत्ति मे अयं समणे, अह भिक्खूणं पु० जं नो बाहाओ पगिज्झिय २ निज्जाइज्जा, तओ संजयामेव आयरियउवज्जायएहिं सद्धिं गामाणुगामं दूइज्जिज्जा ॥१२७॥

छाया— स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा ग्रामानुग्रामं गच्छन् अन्तराले तस्य वप्राणि वा यावत्, दर्यो वा यावत् कूटागाराणि वा प्रासादा वा नूमगृहाणि ( भूमी-गृहाणि ) वा वृक्षगृहाणि वा पर्वतगृहाणि वा वृक्षं वा चैत्यकृतं, स्तूपं वा चैत्यकृतं आदेशनानि वा यावत् भवनगृहाणि वा नो बाहू प्रगृह्य २ अंगुल्या उद्दिश्य २ अवनम्य २ उन्नम्य २ निध्यायेत् । ततः संयतमेव ग्रामानुग्रामं गच्छेत् । स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा ग्रामानुग्रामं गच्छन् अन्तराले तस्य कच्छा वा,

द्रविकानि वा निम्नानि वा बलानि वा गहनानि वा गहनविदुर्गानि वा वनानि वा वनवि० वा पर्वता वा पर्वतवि० वा अवटा वा तड़ागा वा हृदा वा नद्यो वा वाप्यो वा पुष्करिण्यो वा दीर्घिका वा गुञ्जालिका वा सरांसि वा सरः-पंक्तयः वा सरःसरःपंक्तयः वा नो बाहु प्रगृह्य २ यावत् निध्यायेत्, केवली ब्रूयात् आदानमेतत्। ये तत्र मृगा वा पशवो वा पक्षिणो वा सरिसृपा वा सिंहा वा जलचरा वा स्थलचरा वा खेचरा वा सत्त्वास्ते उत्त्रसेयुः वा वित्रसेयुः वा वाटं वा शरणं वा कांक्षेयुः वारयतीति मे अयं श्रमणः अथ भिक्षूणां पूर्वोपदिष्टं यत् नो बाहु प्रगृह्य २ निध्यायेत् ततः संयतमेव आचार्योपाध्यायैः साद्धं ग्रामानुग्रामं गच्छेत्।

पदार्थ- से भिक्खू वा-वह साधु या साध्वी। गामा०-ग्रामानुग्राम। दूइज्जमाणे-विहार करता हुआ। अंतरा-मध्य में। से-उसके अर्थात् उसके मार्ग में यदि। वप्पाणि वा-खेत की व्यापारिणं। जाव-यावत्। दरीओ वा-पर्वत की गुफाएं। जाव-यावत्। कूडागाराणि-पर्वत के ऊपर के घर अथवा। पासायाणि-प्रासाद-महल। नूमगिहाणि वा-भूमि घर-तहखाने आदि। रुक्खगिहाणि वा-वृक्ष के आश्रित घर अथवा वृक्ष के ऊपर का निवास स्थान। पव्वयाणि-पर्वत की गुफा आदि। रुक्खं वा-वृक्ष अथवा। चेइयकडं-वृक्ष के नीचे का व्यन्तर स्थान। थूभं वा-व्यन्तर का स्तूप। चेइयकडं-चैत्यकृत अर्थात् व्यन्तर-आदि के आकार युक्त स्तूप। आएसणाणि वा-लोहकार शाला आदि। जाव-यावत्। भवणागिहाणि वा-भवन गृह आदि आ जाए तो वह इनको। बाहाओ-भुजाओं को। पगिञ्जिय २-उठा-उठा कर। अंगुलियाए-अंगुलियों को। उद्दिसिय २-फैला-फैला कर। ओणामिय २-शरीर को नीचा करके। उन्नमिय २-शरीर को ऊंचा करके। नो निञ्जाइज्जा-न देखे। तओ-तदनन्तर। सं०-साधु। गामा०-ग्रामानुग्राम विहार करे। से भिक्खू वा-वह साधु या साध्वी। गामा०-ग्रामानुग्राम। दूइज्जमाणे-विहार करता हुआ। अंतरा-मध्य में। से-वह। कच्छाणि वा-नदी के समीपवर्ती निम्नप्रदेश तथा खरबूजे आदि के खेत, या। दवियाणि वा-जंगल में घास आदि के लिए राजा के द्वारा रोकी हुई भूमि। नूमाणि वा-खड्ड आदि। वलयाणि वा-अथवा नदी आदि से वेष्टित भूमि भाग। गहणाणि वा-जल से रहित प्रदेश अरण्यक्षेत्र तथा। गहणविदुग्गाणि वा-अरण्य में विषम स्थान। वणाणि वा-अथवा वन। वणविदुग्गाणि वा-वन में विषम स्थान। पव्वयाणि वा-पर्वत। पव्वयविदुग्गाणि वा-पर्वत में विषम स्थान। अगडाणि वा-अथवा कूप। तलागाणि वा-तालाब अथवा। दहाणि वा-झील। नईओ वा-नदियें अथवा। वावीओ वा-कमल रहित बावड़ी। पुक्खरिणीओ वा-पुष्करणी-कमल युक्त बावड़ी। दीहियाओ वा-दीर्घिका-लम्बी बावड़ी जिसमें जनता जल-क्रीड़ा करती है। गुञ्जालियाओ वा-अथवा दीर्घ गम्भीर और कुटिल जलाशय। सराणि वा-अथवा बिना खोदा हुआ तालाब। सरपंतियाणि वा-परस्पर मिले हुए बहुत से सरोवर। सरसरपंतियाणि वा-बहुत से सरोवरों की पंक्तिएं आदि रास्ते में हों तो वह साधु। बाहाओ-भुजाओं को। पगिञ्जिय २-ऊंची कर के। जाव-यावत्। नो निञ्जाइज्जा-उन्हें न देखे क्योंकि। केवली०-केवली भगवान कहते हैं कि ये कर्म बन्धन के कारण हैं जैसे कि। जे-जो। तत्थ-वहां पर। मिगा वा-मृग-हरिण हैं। पसू वा-पशु अर्थात् अन्य पशु हैं। पक्खी वा-पक्षी हैं। सरिसिवा-अथवा सांप हैं। सीहा वा-सिंह-शेर हैं अथवा। जलचरा-जलचर जीव हैं। थलचरा वा-स्थलचर जीव हैं। खहचरा वा-खेचर-अकाश में विचरने वाले जीव हैं, इस प्रकार

के जो। सत्ता-सत्व-जीव हैं वो साधु की उक्त चेष्टा को देखकर। उत्तसिज्ज वा-त्रास को प्राप्त होंगे। वित्तसिज्ज वा-वित्रास-विशेष रूप से त्रास पाएंगे। वाडं वा सरणं वा-आश्रय को। कंखिज्जा-चाहेंगे अथवा। मे-मुझे। अयं समणे-यह श्रमण। वारेइत्ति-हटाता है इस प्रकार जान कर भागेंगे। अह-इसलिए। भिक्खूणां-भिक्षुओं को। पुब्बो वा दिट्ठा-तीर्थकरादि ने पहले ही यह आदेश दिया है कि। जं-साधु इस प्रकार के स्थानों की। बाहाओ-भुजाओं को। पगिज्झिय-ऊपर उठाकर के। नो निज्झाइज्जा-न देखे। तओ-तदनन्तर। संजयामेव-साधु यत्नापूर्वक। आयरियउवज्जाएहिं-सिद्धि-आचार्य और उपाध्यायादि के साथ। गामाणुगामं-ग्रामानुग्राम। दूइज्जिज्जा-विहार करे।

**मूलार्थ-** साधु अथवा साध्वी को ग्रामानुग्राम विहार करते हुए मार्ग में यदि खेत की क्यारियां यावत् गुफाएं, पर्वत के ऊपर के घर, भूमिगृह, वृक्ष के नीचे या ऊपर का निवास स्थान, पर्वत-गुफा, वृक्ष के नीचे व्यन्तर का स्थान, व्यन्तर का स्तूप और व्यन्तरायतन, लोहकारशाला यावत् भवनगृह आए तो इनको अपनी भुजा ऊपर उठाकर, अंगुलियों को फैला कर, शरीर को ऊंचा-नीचा करके न देखे। किन्तु यत्नापूर्वक अपनी विहार यात्रा में प्रवृत्त रहे। यदि मार्ग में नदी के समीप निम्न-प्रदेश हो या खरबूजे आदि का खेत हो या अटवी में घोड़े आदि पशुओं के घास के लिए राजाज्ञा से छोड़ी हुई भूमी-बीहड़ एवं खड्डा आदि हों, नदी से वेष्टित भूमि हो, निर्जल प्रदेश और अटवी हो, अटवी में विषम स्थान हो, वन हो और वन में भी विषम स्थान हो, इसी प्रकार पर्वत, पर्वत पर का विषम स्थान, कूप, तालाब, झीलें, नदियां, बावड़ी, और पुष्करिणी और दीर्घिका अर्थात् लम्बी बावड़ियां, गहरे एवं कुटिल जलाशय, बिना खोदे हुए तालाब, सरोवर, सरोवर की पंक्तियां और बहुत से मिले हुए तालाब हों तो इनको भी अपनी भुजा ऊपर उठाकर या अंगुली पसार कर, शरीर को ऊंचा-नीचा करके न देखे, कारण कि, केवली भगवान इसे कर्मबन्धन का कारण बताते हैं, जैसे कि-उन स्थानों में मृग, पशु-पक्षी, सांप, सिंह, जलचर, स्थलचर और खेचर जीव होते हैं, वे साधु को देखकर त्रास पाएंगे, वित्रास पाएंगे और किसी बाड़ की शरण चाहेंगे तथा विचार करेंगे कि यह साधु हमें हटा रहा है, इसलिए भुजाओं को ऊंची करके साधु न देखे किन्तु यत्ना पूर्वक आचार्य और उपाध्याय आदि के साथ ग्रामानुग्राम विहार करता हुआ संयम का पालन करे।

**हिन्दी विवेचन-** प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि साधु को विहार करते समय रास्ते में पड़ने वाले दर्शनीय स्थलों को अपने हाथ को ऊपर उठाकर या अंगुलियों को फैलाकर या कुछ ऊंचा होकर या झुक कर नहीं देखना चाहिए। इसका तात्पर्य यह है कि इससे वह अपने गन्तव्य स्थान पर कुछ देर से पहुंचेगा, जिससे उसकी स्वाध्याय एवं ध्यान साधना में अन्तराय पड़ेगी और किसी सुन्दर स्थल को देखकर उसके मन में विकार भाव भी जाग सकता है और उसे इस तरह झुककर या ऊपर उठकर ध्यान से देखते हुए देखकर किसी के मन में साधु के प्रति सन्देह भी उत्पन्न हो सकता है। यदि संयोग से उस दिन या उस समय के आस-पास उक्त स्थान में आग लग जाए या चोरी हो जाए तो उसके अधिकारी साधु पर इसका दोषारोपण भी कर सकते हैं। अतः इन सब दोषों से बचने के लिए साधु को मार्ग में पड़ने वाले

दर्शनीय स्थलों की ओर अपना ध्यान न लगाकर यत्नापूर्वक अपना रास्ता तय करना चाहिए।

यहां यह बात ध्यान रखनी चाहिए कि सूत्रकार ने दर्शनीय स्थलों को इस तरह से देखने के लिए इन्कार किया है, जिससे किसी के मन में साधु के प्रति सन्देह उत्पन्न होता हो या उसके मन में विकारी भाव जागृत होता हो। परन्तु, इसका अर्थ यह नहीं है कि साधु उस तरफ से निकलते हुए आंखों को मूंद कर चले। साधु अपनी गति से चलता है और आंखों के सामने आने वाले दृश्य उसके सामने आएँ तो वह आंखें बन्द नहीं करेगा, परन्तु उस तरफ विशेष गौर से न देखता हुआ स्वाभाविक गति से अपना रास्ता तय करेगा।

प्रस्तुत सूत्र में दर्शनीय स्थानों के प्रसंग में— व्यन्तर आदि देव मन्दिर का वर्णन किया गया है, परन्तु जिन मन्दिर का उल्लेख नहीं किया गया है। इससे स्पष्ट होता है कि उस समय जिन मन्दिर नहीं थे। यदि उस समय जिन मन्दिर की परम्परा होती तो सूत्रकार उसका भी अवश्य उल्लेख करते।

इस सूत्र से यह भी ज्ञात होता है कि उस समय राजा गांव या शहर के बाहर जंगल में गायों एवं घोड़े आदि पशुओं के चरने के लिए कुछ गोचर भूमि या चरागाह छोड़ते थे, जिन पर किसी तरह का कर नहीं लिया जाता था। इससे यह सहज ही ज्ञात हो जाता है कि उस समय पशु रक्षा की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था। इसके अतिरिक्त खेत, जलाशय, गुफाओं आदि का उल्लेख करके उस युग की वास्तु कला एवं संस्कृति पर विशेष प्रकाश डाला गया है।

यदि साधु को आचार्य एवं उपाध्याय आदि के साथ विहार करना हो तो उन्हें किस तरह चलना चाहिए, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्—** से भिक्खू वा २ आयरियउवज्झा० गामा० नो आयरियउवज्झा-  
यस्स हत्थेण वा हत्थं जाव अणासायमाणे तओ संजयामेव आयरियउ० सद्धिं  
जाव दूइज्जिजा ॥ से भिक्खू वा आय० सद्धिं दूइज्जमाणे अंतरा से पाडिवहिया  
उवागच्छिजा, ते णं पा० एवं वइज्जा—आउसंतो ! समणा ! के तुब्भे ? कओ  
वा एह ? कहिं वा गच्छिहिह ? जे तत्थ आयरिए वा उवज्झाए वा से भासिज्ज  
वा वियागरिज्ज वा, आयरियउवज्झायस्स भासमाणस्स वा वियागरेमाणस्स  
वा नो अंतरा भासं करिज्जा, तओ सं० अहाराइणिए वा दूइज्जिजा ॥ से भिक्खू  
वा अहाराइणियं गामा० दू० नो राइणियस्स हत्थेण हत्थं जाव अणासायमाणे  
तओ सं० अहाराइणियं गामा० दू० ॥ से भिक्खू वा २ अहाराइणियं गामाणुगामं  
दूइज्जमाणे अंतरा से पाडिवहिया उवगच्छिजा, ते णं पाडिवहिया एवं वइज्जा—  
आउसंतो ! समणा ! के तुब्भे ? जे तत्थ सव्वराइणिए से भासिज्ज वा वागरिज्ज  
वा, राइणियस्स भासमाणस्स वा वियागरेमाणस्स वा नो अंतरा भासं भासिजा,  
तओ संजयामेव अहाराइणियाए गामाणुगामं दूइज्जिजा ॥१२८ ॥

छाया- भिक्षुर्वा० आचार्योपाध्यायैः सार्द्धं ग्रामानुग्रामं गच्छन् न आचार्योपाध्यायस्य हस्तेन वा हस्तं यावत् अनासादमानः ततः संयतमेव आचार्योपाध्यायैः सार्द्धं यावत् गच्छेत् । स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा आचार्योपाध्यायैः सार्द्धं गच्छन् अन्तराले तस्य प्रातिपथिका उपागच्छेयुः ते प्रातिपथिकाः एवं वदेयुः आयुष्मन्तः श्रमणाः ! के यूयम् ? कुतो वा आगच्छथ ? कुत्र वा गमिष्यथ ? यः तत्र आचार्यो वा उपाध्यायो वा स भाषेत वा व्यागृणीयाद् वा आचार्योपाध्यायस्य भाषमाणस्य व्यागृणतः वा नो अंतरा-मध्ये भाषां कुर्यात्, ततः संयतमेव यथा रालिकैः सार्द्धं गच्छेत् । स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा यथारालिकं ग्रामानुग्रामं गच्छन् न रालिकस्य हस्तेन हस्तं-यावत् अनासादमानः ततः संयतमेव यथारालिकं ग्रामानुग्रामं गच्छेत् । स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा यथा रालिकं ग्रामानुग्रामं गच्छन् अन्तराले तस्य प्रातिपथिका उपागच्छेयुः, ते प्रातिपथिकाः एवं वदेयुः आयुष्मन्तः श्रमणाः ! के यूयं ? यस्तत्र सर्वरालिकः स भाषेत व्यागृणीयात् वा रालिकस्य भाषमाणस्य वा व्यागृणतः वा न अन्तराले भाषां भाषेत ततः संयतमेव यथारालिकैः सार्द्धं ग्रामानुग्रामं गच्छेत् ।

पदार्थ- से भिक्खू वा०-वह साधु अथवा साध्वी । आयरियउवज्जाएहिं-आचार्य और उपाध्याय के । सद्धिं-साथ । गामा०-एक ग्राम से दूसरे ग्राम को । दूइज्जमाणे-विहार करता हुआ । आयरियउवज्जायस्स-आचार्य और उपाध्याय के । हत्थेण हत्थं-हाथ से हाथ । जाव नो०-यावत् स्पर्श न करे अर्थात् हाथ से हाथ पकड़ कर न चले । जाव-यावत् । अणासायमाणे-आशातना न करता हुआ । तओ-तदनन्तर । संजयामेव-यत्नापूर्वक । आयरियउवज्जाएहिं-आचार्य और उपाध्याय के । सद्धिं-साथ । जाव-यावत् । दूइज्जिज्जा-गमन करे-विहार करे ।

से भिक्खू वा-वह साधु अथवा साध्वी । आय०-आचार्य और उपाध्याय के । सद्धिं-साथ । दूइज्जमाणे-गमन करते हुए । अंतरा से-उसके मार्ग में यदि कोई । पाडिवहिया-पथिक । उवागच्छिजा-सामने आ जाए । णं-और । ते-वह । पाडिवहिया-पथिक । एवं-साधु को इस प्रकार । वइज्जा-कहे । आउसंतो समणा-आयुष्मन् श्रमण । के तुम्हे-आप कौन हैं ? कओ वा एह-कहां से आ रहे हो ? कहिं वा गच्छिहिह-कहां पर जाएंगे, तो । तत्थ-वहां पर । जे-जो । आयरिए-आचार्य । वा-या । उवज्जाए वा-उपाध्याय हैं तो । से-वह । भासिजा-उसे उत्तर दें या । वियागरिजा-विशेष प्रकार के उत्तर दें तब । आयरियउवज्जायस्स-आचार्य अथवा उपाध्याय के । भासमाणस्स-उत्तर देते हुए या । वियागरेमाणस्स-विशिष्ट उत्तर देते हुए वह साधु । अंतरा-बीच में । नो भासं करिजा-किसी प्रकार का उत्तर प्रत्युत्तर न करे अर्थात् बीच में न बोले । तओ-तदनन्तर । सं-साधु । अहाराइणिए वा-यथारत्नाधिक के साथ । दूइज्जिज्जा-गमन करे ।

से भिक्खू वा-वह साधु या साध्वी । अहाराइणियं-रत्नाधिक के साथ । गामा०-ग्रामानुग्राम । दू०-विहार करता हुआ । राइणियस्स-रत्नाधिक के । हत्थेण-हाथ से । हत्थं-हाथ को । नो-स्पर्श न करे । जाव-यावत् । अणासायमाणे-आशातना न करता हुआ । तओ-तदनन्तर । सं०-साधु । अहाराइणियं-रत्नाधिक के

साथ। गामा०-ग्रामानुग्राम। दू०-विहार करे। से भिक्खू वा-वह साधु अथवा साध्वी। अहाराङ्गिण्यं-रत्नाधिक के साथ। गामाणुगामं-एक ग्राम से दूसरे ग्राम के प्रति। दूइज्जमाणे-विहार करते हुए। अंतरा से-उसके मार्ग में यदि कोई। पाडिवहिया-पथिक ( मुसाफिर ) सामने से। उवागच्छिज्जा-आ जाए। णं-और। ते-वे। पाडिवहिया-पथिक, उस साधु को। एवं वइज्जा-इस प्रकार कहें। आउसंतो समणा-आयुष्मन् श्रमणो ! के तुम्हे-आप कौन हैं ? तो। जे-जो। तत्थ-वहां पर। सव्वराइणिए-सर्वरत्नाधिक है अर्थात् जिसका दीक्षा पर्याय सब से अधिक है। से-वह। भासिज्ज वा-उत्तर दे। वागरिज्ज वा-अथवा विशेष रूप से संभाषण करे। राइणियस्स-उस ज्येष्ठ साधु के। भासमाणस्स-भाषण करते या। वियागरेमाणस्स-विशेष रूप से उत्तर देने समय। अंतरा-उसके बीच में। नो भासं भासिज्जा-संभाषण न करे अर्थात् बीच में न बोले। तओ-तदनन्तर। संजयामेव-संयत-साधु। अहाराङ्गियाए-रत्नाधिक के साथ। गामाणुगामं-ग्रामानुग्राम। दूइज्जिज्जा-विहार करे।

**मूलार्थ-** साधु अथवा साध्वी आचार्य और उपाध्याय के साथ विहार करता हुआ, आचार्य और उपाध्याय के हाथ से अपने हाथ का स्पर्श न करे, और अशातना न करता हुआ ईर्यासमिति पूर्वक उनके साथ विहार करे। उनके साथ विहार करते हुए मार्ग में यदि कोई व्यक्ति मिले और वह इस प्रकार कहे कि आयुष्मन् श्रमण ! आप कौन हैं ? कहां से आये हैं ? और कहां जाएंगे ? तो आचार्य या उपाध्याय जो भी साथ में हैं वे उसे सामान्य अथवा विशेष रूप से उत्तर दें। परन्तु, साधु को उनके बीच में नहीं बोलना चाहिए। किन्तु, ईर्यासमिति का ध्यान रखता हुआ उनके साथ विहार चर्या में प्रवृत्त रहे। और यदि कभी साधु रत्नाधिक ( अपने से दीक्षा में बड़े साधु ) के साथ विहार करता हो तो उस रत्नाधिक के हाथ से अपने हाथ का स्पर्श न करे और यदि मार्ग में कोई पथिक सामने मिले और पूछे कि आयुष्मन् श्रमणो ! तुम कौन हो ? तो वहां पर जो सबसे बड़ा साधु हो वह उत्तर देवे उसके संभाषण में अर्थात् उत्तर देने के समय उसके बीच में कोई साधु न बोले किन्तु यत्नापूर्वक रत्नाधिक के साथ विहार में प्रवृत्त रहे।

**हिन्दी विवेचन-** प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि साधु आचार्य, उपाध्याय एवं रत्नाधिक ( अपने से दीक्षा में बड़े साधु ) के साथ विहार करते समय अपने हाथ से उनके हाथ का स्पर्श करता हुआ न चले और यदि रास्ते में कोई व्यक्ति मिले और वह पूछे कि आप कौन हैं ? कहां से आ रहे हैं ? और कहां जाएंगे ? आदि प्रश्नों का उत्तर साथ में चलने वाले आचार्य, उपाध्याय या बड़े साधु दें, परन्तु छोटे साधु को न तो उत्तर देने का प्रयत्न करना चाहिए और न बीच में ही बोलना चाहिए। क्योंकि आचार्य आदि के हाथ एवं अन्य अङ्गोपांग का अपने हाथ आदि से स्पर्श करने से तथा वे किसी के प्रश्नों का उत्तर दे रहे हों उस समय उनके बीच में बोलने से उनकी अशातना होगी और वह साधु भी असभ्य सा प्रतीत होगा। अतः उनकी विनय एवं शिष्टता का ध्यान रखते हुए साधु को विवेक पूर्वक चलना चाहिए।

यदि कभी आचार्य, उपाध्याय या बड़े साधु छोटे साधु को प्रश्नों का उत्तर देने के लिए कहें तो वह उस व्यक्ति को उत्तर दे सकता है और इसी तरह यदि आचार्य आदि के शरीर में कोई वेदना हो गई हो या चलते समय उन्हें उसके हाथ के सहारे की आवश्यकता हो तो वह उस स्थिति में उनके हाथ आदि का स्पर्श भी कर सकता है। अस्तु, यहां जो निषेध किया गया है, वह बिना किसी कारण से एवं उनकी

आज्ञा के बिना उनके हाथ आदि का स्पर्श करने एवं उनके बीच में बोलने के लिए किया गया है।

प्रस्तुत सूत्र में आचार्य आदि के साथ विहार करने के प्रसंग में जो साधु-साध्वी का उल्लेख किया है, वह सूत्र शैली के अनुसार किया गया है। परन्तु, साधु-साध्वी एक साथ विहार नहीं करते हैं, अतः आचार्य आदि के साथ साधुओं का ही विहार होता है, साध्वियों का नहीं। उनका विहार आचार्या (प्रवर्तिनी) आदि के साथ होता है। साधु और साध्वी दोनों के नियमों में समानता होने के कारण दोनों का एक साथ उल्लेख कर दिया गया है। अतः जहां साधुओं का प्रसंग हो वहां आचार्य आदि का और जहां साध्वियों का प्रसंग हो वहां प्रवर्तिनी आदि का प्रसंग समझना चाहिए।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्—** से भिक्खू वा० दूइज्जमाणे अंतरा से पाडिवहिया उवागच्छिज्जा, ते णं पा० एवं वइज्जा-आउ० स० ! अविद्याइं इत्तो पडिवहे पासह, तं० मणुस्सं वा गोणं वा महिसं वा पसुं वा पक्खिं वा सिरीसिवं वा जलयरं वा से आइक्खह दंसेह, तं नो आइक्खिज्जा नो दंसिज्जा, नो तस्स तं परिन्नं परिजाणिज्जा, तुसिणीए उवेहिज्जा, जाणं वा नो जाणंति वइज्जा, तओ सं० गामा० दू० । से भिक्खू वा० गा० दू० अंतरा से पाडि० उवा०, तेणं पा० एवं वइज्जा-आउ० स० ! अविद्याइं इत्तो पडिवहे पासह, उदगपसूयाणि कंदाणि वा मूलाणि वा तथाणि वा पत्ताणि वा पुप्फाणि वा फलाणि वा बीयाणि वा हरियाणि वा उदगं वा संनिहियं अगणिं वा संनिखित्तं से आइक्खह जाव दूइज्जिज्जा ॥ से भिक्खू वा० गामा० दूइज्जमाणे अंतरा से पाडि० उवा०, ते णं पाडि० एवं आउ० स० अविद्याइं इत्तो पडिवहे पासह जवसाणि वा जाव सेणं वा विरूवरूवं संनिविट्ठं से आइक्खह, जाव दूइज्जिज्जा ॥ से भिक्खू वा० गामा० दूइज्जमाणे अंतरा पा० जाव आउ० स० केवइए इत्तो गामे वा जाव रायहाणी वा से आइक्खह जाव दूइज्जिज्जा ॥ से भिक्खू वा २ गामाणुगामं दूइज्जेज्जा, अंतरा से पाडिपहिया आउसंतो समणा ! केवइए इत्तो गामस्स नगरस्स वा जाव रायहाणीए वा मग्गे से आइक्खह, तहेव जाव दूइज्जिज्जा ॥१२९॥

**छाया—** स भिक्षुर्वा ग्रामानुग्रामं गच्छन् अन्तराले तस्य प्रातिपथिकाः उपागच्छेयुः, ते प्रातिपथिकाः एवं वदेयुः—आयुष्मन्तः श्रमणाः ! अपि चेतः प्रतिपथे पश्यथ, तद् यथा—मनुष्यं वा गोणं वा महिषं वा पशुं वा पक्षिणं वा सरीसृपं वा जलचरं वा तं आचक्षध्वम् दर्शयत तं न आचक्षीत, न दर्शयेत् न तस्य तां परिज्ञां परिजानीयात्, तूष्णीकः उपेक्षेत जानन् वा न जानन्ति— ( जानन्नपि जानामि इति ) नो वदेत् । ततः संयतमेव ग्रामानुग्रामं दूयेत । स



भिक्षुः भिक्षुकी वा ग्रामानुग्रामं दूयमानः-गच्छन् अन्तराले तस्य प्रातिपथिकाः उपागच्छेयुः, ते प्रातिपथिकाः एवं वदेयुः- आयुष्मन्तः श्रमणाः ! अपि च इतः प्रतिपथे पश्यथ? उदकप्रसूतानि कन्दानि वा मूलानि वा त्वचो वा पत्राणि पुष्पाणि फलानि बीजानि हरितानि उदकं वा सन्निहितं अग्निं वा संनिक्षिप्तं तं आचक्षध्वम् च यावत् दूयेत । स भिक्षुर्वा० ग्रामानुग्रामं गच्छन् अन्तराले तस्य प्रातिपथिकाः उपागच्छेयुः ते प्रातिपथिकाः एवं वदेयुः आयुष्मन्तः श्रमणा ! अपि च इतः प्रतिपथे पश्यथ यवसानि वा यावत् स वा विरूपरूपं संनिविष्टं तम् आचक्षध्वम् यावत् दूयेत-गच्छेत् । स भिक्षुर्वा० ग्रामानुग्रामं दूयमानः-गच्छन् अन्तराले प्रातिपथिकाः यावत् आयुष्मन्तः श्रमणाः ! कियत् इतः ग्रामो वा यावद् राजधानी वा तदाचक्षध्व यावत् दूयेत । स भिक्षुर्वा० भिक्षुकी वा ग्रामानुग्रामं गच्छेत् अन्तराले तस्य प्रातिपथिकाः० आयुष्मन्तः श्रमणाः ! कियान् इतः ग्रामस्य वा नगरस्य वा यावत् राजधान्या वा मार्गः तदाचक्षध्वम् तथैव यावत् , दूयेत ।

पदार्थ- से भिक्खू वा-वह साधु या साध्वी । दूइज्जमाणे-विहार करते हुए । अंतरा से-उसके मार्ग में । पाडिवहिया-पथिक लोग सामने से । उवागच्छिज्जा-आ जाएं । णं-और । ते-वे साधु को । एवं-इस प्रकार । वइज्जा-कहें कि । आउसंतो समणा !-आयुष्मन् श्रमण ! अवियाइं-क्या आपने । इत्तो पडिवहे-इस मार्ग में आते हुए किसी को । पासह-देखा है । तं-जैसे कि । मणुस्सं वा-मनुष्य को । गोणं वा-बैल को । महिसं वा-महिष को । पसुं वा-पशु को । पक्खिं वा-पक्षी को । सिरीसिवं वा- सर्प को अथवा । जलयरं वा-जलचर को । से-उसको । आइक्खह-कहो और । दंसेह-दिखलाओ, इस प्रकार के प्रश्न किए जाने पर साधु । तं-उसे । नो आइक्खिज्जा-न तो कुछ कहे और । नो दंसिज्जा-न दिखलावे । तस्स-उसके । तं परिन्निं-इस कथन को । नो परिजाणिज्जा-स्वीकार न करे किन्तु । तुसिणीए उवेहेज्जा-मौन वृत्ति में रहे अर्थात् चुप रहे । जाणं वा-अथवा जानता हुआ भी । जाणंति-मैं जानता हूँ इस प्रकार । नो वइज्जा-न कहे अर्थात् चुप रहे । तओ-तदनन्तर । सं-यतना पूर्वक । गामा०-ग्रामानुग्राम । दू०-विहार करे ।

से भिक्खू वा-वह साधु या साध्वी । गा०-एक ग्राम से दूसरे ग्राम को । दू०-गमन करता हुआ । अंतरा से-उसके मार्ग में यदि । पाडि०-पथिक लोग । उवा०-सामने आ जाएं । णं-और । ते-वे । पा०-पथिक लोग । एवं वइज्जा-इस प्रकार कहें । आउं सं०-आयुष्मन् श्रमण ! अवियाइं-अपिच-क्या आपने । इत्तो-इस । पडिवहे-मार्ग में इनको । पासह-देखा है ? जैसे कि । उदगपसूयाणि-उदकप्रसूत-जल से उत्पन्न हुए । कंदणि-कन्द । मूलाणि वा-अथवा मूल । तथाणि-त्वचा-वृक्ष की छाल । पत्ताणि-पत्र । पुष्पाणि-पुष्प-फूल । फलाणि-फल । बीयाणि-बीज । हरियाणि-हरित काय । उदगं-उदक-पानी । वा-अथवा । संनिहियं-संनिहित पानी के स्थान तड़ाग आदि । अगणिसंनिखित्तं-अप्रज्वलित हुई अग्नि । ते-उसको । आइक्खह-कहो । जाव-यावत् । दूइज्जिज्जा-विहार करे । से भिक्खू वा-वह साधु या साध्वी । गामा०-ग्रामानुग्राम । दूइज्जमाणे-विहार करता हुआ । से-उसके । अंतरा-मार्ग में यदि । पाडि०-पथिक लोग । उवा०-आ जाएं । णं-और । ते-वे । पाडि०-पथिक लोग । एवं-इस प्रकार कहें । आउं सं०-आयुष्मन् श्रमण । अवियाइं-क्या आपने । इत्तो पडिवहे-इस मार्ग में ।

पासह-देखा है जैसे कि। जवसाणि वा-यव, गोधूमादि धान्य को। जाव-यावत्। सेणं वा-राजा की सेना को। विरूवरूवं-नाना प्रकार के। संनिविट्ठं-उतरे हुए राजा के कटक-सेना को। से-उसे। आइक्खह-कहो-बताओ। जाव-यावत्। दूइज्जिजा-ग्रामानुग्राम विहार करे। से भिक्खू वा-वह साधु अथवा साध्वी। गामा० दूइज्जमाणे-एक ग्राम से दूसरे ग्राम को जाते हुए। अंतरा-मार्ग में। पा०-पथिक लोग। जाव-यावत् आ जाएं और साधु के प्रति कहें कि। आउ० स०-आयुष्मन् श्रमण। केवइए-कितनी दूर। इत्तो-यहां से। गामे वा-ग्राम है। जाव-यावत्। रायहाणी वा-राजधानी है। से-उसे। आइक्खह-कहो। जाव-यावत्। दू०-मौनवृत्ति से विहार करे। से भिक्खू वा-वह साधु अथवा साध्वी। गामाणुगामं-एक ग्राम से दूसरे ग्राम के प्रति। दूइज्जमाणे-विहार करते हुए। से-उसके। अंतरा-मार्ग में यदि। पाडिवहिया-पथिक आ जाएं और पूछें कि। आउसंतो समणा-आयुष्मन् श्रमण ! केवइए-कितनी दूर। इत्तो-यहां से। गामस्स वा-ग्राम का अथवा। नगरस्स वा-नगर का। जाव-यावत्। रायहाणीए वा-राजधानी का। मग्गे-मार्ग है। से-उसे। आइक्खह-कहो अर्थात् बताओ ? शेष। तहेव-उसी प्रकार। जाव-यावत्। दूइज्जिजा-मौन वृत्ति से विहार करे।

**मूलार्थ**—संयमशील साधु या साध्वी को विहार करते हुए यदि मार्ग के मध्य में सामने से कोई पथिक मिलें और वे साधु से कहें कि आयुष्मन् श्रमण ! क्या आपने मार्ग में मनुष्य को, मृग को, महिष को, पशु को, पक्षी को, सर्प को और जलचर को जाते हुए देखा है? यदि देखा हो तो बताओ वे किस ओर गए हैं ? साधु इन प्रश्नों का कोई उत्तर न दे और मौन भाव से रहे, तथा उसके उक्त वचन को स्वीकार न करे, तथा जानता हुआ भी यह न कहे कि मैं जानता हूँ। और ग्रामानुग्राम विचरते हुए साधु को मार्ग में वे पथिक यह पूछें कि आयुष्मन् श्रमण ! क्या आपने इस मार्ग में जल से उत्पन्न होने वाले कन्दमूल, त्वचा, पत्र, पुष्प, फल, बीज, हरित, एवं जल के स्थान और अप्रज्वलित हुई अग्नि को देखा है तो बताओ कहां देखा है ? इसके उत्तर में भी साधु कुछ न कहे अर्थात् चुप रहे। तथा ईर्यासमिति पूर्वक विहार चर्या में प्रवृत्त रहे और यदि यह पूछें कि इस मार्ग में धान्य और राजाओं की सेना कहां पर है ? तो इस प्रश्न के उत्तर में भी मौन रहे। यदि वे पूछें कि आयुष्मन् श्रमण ! यहां से ग्राम यावत् राजधानी कितनी दूर है ? तथा यहां से ग्राम नगर यावत् राजधानी का मार्ग कितना शेष रहा है ? इनका भी उत्तर न दे तथा जानता हुआ भी मैं जानता हूँ ऐसे न कहे, किन्तु मौन धारण करके ईर्यासमिति पूर्वक अपना रास्ता तय करे।

**हिन्दी विवेचन**—प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि यदि विहार करते समय कोई पथिक पूछे कि हे मुनि ! आपने इधर से किसी मृग, गाय आदि पशु-पक्षी या मनुष्य आदि को जाते हुए देखा है ? इसी तरह जलचर एवं वनस्पतिकाय या अग्नि आदि के सम्बन्ध में भी पूछे और कहे कि यदि आपने इन्हें देखा है तो बताइए वे कहां हैं या किस ओर गए हैं ? उसके ऐसा पूछने पर साधु को मौन रहना चाहिए। क्योंकि, यदि साधु उसे उनका सही पता बता देता है तो उसके द्वारा उन प्राणियों की हिंसा होना सम्भव है। अतः पूर्ण अहिंसक साधु को प्राणीमात्र के हित की भावना को ध्यान में रखते हुए उस समय मौन रहना चाहिए।

प्रस्तुत प्रसंग में प्रयुक्त 'जाणं वा नो जाणंति वइज्जा' के अर्थ में दो विचार-धाराएं हमारे

सामने हैं। परन्तु, इस बात में सभी विचारक एकमत हैं कि साधु को ऐसी भाषा का बिल्कुल प्रयोग नहीं करना चाहिए, जिससे अनेक प्राणियों की हिंसा होती हो। इस दया की भावना को ध्यान में रखते हुए वृत्तिकार उक्त पदों का यह अर्थ करते हैं— साधु जानते हुए भी यह कहे कि मैं नहीं जानता। स्व० आचार्य श्री जवाहर लाल जी महाराज ने भी सद्धर्म मण्डन में इसी अर्थ का समर्थन किया है। इसमें साधु की भावना असत्य बोलने की नहीं, प्रत्युत उसकी उपेक्षा करके जीवों की रक्षा करने की भावना है। परन्तु, फिर भी इस भाषा में कुछ असत्य का अंश रह ही जाता है, अतः यह विचारणीय है कि साधु ऐसी भाषा का प्रयोग कैसे कर सकता है।

यह भी तो स्पष्ट है कि प्रस्तुत प्रसंग में प्रयुक्त 'वा' शब्द अपि (भी) के अर्थ में व्यवहृत हुआ है और 'नो' शब्द 'वड्ज्जा' क्रिया से संबद्ध है। इस तरह इसका अर्थ हुआ कि साधु जानते हुए भी यह नहीं कहे कि मैं जानता हूँ। मोरबी से प्रकाशित आचारांग सूत्र के गुजराती अनुवाद में भी यही अर्थ किया गया है कि 'खरुं जाणता छतां जाणुं छुं एम न बोलबुं'। उपाध्याय पार्श्वचन्द्र ने भी आचारांग की बालावबोध टीका में उपरोक्त अर्थ को ही स्वीकार किया है।

आगम में प्रायः 'नो' शब्द का क्रिया के साथ ही सम्बन्ध माना गया है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है— 'न मिणेहिं कहिंचि कुव्वेज्जा' अर्थात् कहीं पर भी स्नेह न करे<sup>१</sup>। इस सूत्र में 'न' का क्रिया के साथ ही सम्बन्ध माना गया है। इसके अतिरिक्त आगम में ऐसे अनेक स्थल हैं, जिनमें 'नो' शब्द को क्रिया के साथ ही सम्बद्ध माना है<sup>२</sup>। इसलिए प्रस्तुत प्रसंग में 'नो' शब्द को 'वड्ज्जा' क्रिया से सम्बद्ध मानना ही युक्ति-युक्त प्रतीत होता है। यदि इस तरह से 'नो' शब्द को क्रिया के साथ जोड़कर अर्थ नहीं करेंगे तो फिर मौन रखने का कोई प्रयोजन नहीं रह जाएगा। फिर तो साधु सीधा ही यह कहकर आगे बढ़ जाएगा कि मैं नहीं जानता। परन्तु, आगम में जो मौन रखने को कहा गया है उससे यह स्पष्ट होता है कि साधु को जानते हुए भी यह नहीं कहना चाहिए कि मैं नहीं जानता। साधु को जीवों की हिंसा एवं असत्य भाषा दोनों से बचना चाहिए।

आगम में कहा गया है कि जिस भाषा के प्रयोग से जीवों की हिंसा होती हो वैसी सत्य भाषा

१ आचाराङ्ग सूत्र ( गुजराती अनुवाद ) पृष्ठ २७०।

२ उत्तराध्ययन सूत्र, ८, १८।

३ षोरइयाणं भंते ! जीवा किं चलियं कम्मं बन्धन्ति; अचलियं कम्मं बन्धन्ति ?

गोयमा ! णो चलियं कम्मं बन्धन्ति, अचलियं कम्मं बन्धन्ति।

यहां पर 'णो' शब्द का बन्धति क्रिया के साथ सम्बन्ध है।

षोरइयाणं भंते जीवा किं चलियं कम्मं उदीरन्ति, अचलियं कम्मं उदीरन्ति ?

गोयमा ! णो चलियं कम्मं उदीरन्ति, अचलियं कम्मं उदीरन्ति।

यहां पर "उदीरन्ति" क्रिया के साथ 'नो' पद का सम्बन्ध है।

सा भंते ! किं अत्तकडा कज्जइ, परकडा कज्जइ, तदुभय कडा कज्जइ ?

गोयमा ! अत्तकडा कज्जइ, णो परकडा कज्जइ, णो तदुभयकडा कज्जइ।

भी साधु को नहीं बोलनी चाहिए<sup>१</sup>। और यह भी बताया गया है कि साधु को सत्य एवं व्यवहार भाषा बोलनी चाहिए और मिश्र एवं असत्य भाषा का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए<sup>२</sup>। साधु दूसरे महाव्रत में असत्य भाषण का सर्वथा त्याग करता है<sup>३</sup> और आगम में उसे अणुमात्र (स्वल्प) झूठ बोलने का भी निषेध किया गया है<sup>४</sup>। इससे यह स्पष्ट होता है कि साधु को ऐसे प्रसंगों पर मौन रहना चाहिए। चाहे उस पर कितना भी कष्ट क्यों न आए, फिर भी जानते हुए भी उसे यह नहीं कहना चाहिए कि मैं जानता हूँ और झूठ भी नहीं बोलना चाहिए।

इसी विषय को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं-

मूलम्— से भिक्खू० गा० दू० अंतरा से गोणं वियालं पडिवहे पेहाए जाव चित्तचिल्लहं वियालं प० पेहाए नो तेसिं भीओ उम्मग्गेणं गच्छिज्जा नो मग्गाओ उम्मग्गं संकमिज्जा नो गहणं वा वणं वा दुग्गं वा अणुपविसिज्जा नो रुक्खंसि दुरूहिज्जा नो महइमहालयंसि उदयंसि कायं विउसिज्जा नो वाडं वा सरणं वा सेणं वा सत्थं वा कंखिज्जा अप्पुस्सुए जाव समाहीए तओ संजयामेव गामाणुगामं दूइज्जिज्जा ॥ से भिक्खू० गामाणुगामं दूइज्जमाणे अंतरा से विहं सिया, से जं पुण विहं जाणिज्जा, इमंसि खलु विहंसि बहवे आमोसगा उवगरणपडियाए संपिंडिया गच्छिज्जा, नो तेसिं भीओ उम्मग्गेण गच्छिज्जा जाव समाहीए तओ संजयामेव गामाणुगामं दूइज्जेज्जा ॥१३०॥

छाया— स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा ग्रामानुग्रामं दूयमानः अन्तराले तस्य गां व्यालं प्रतिपथे प्रेक्ष्य यावत् चित्रकं व्यालं प्रतिपथे प्रेक्ष्य न तेभ्यो भीतः उन्मार्गेण गच्छेत्, न मार्गतः उन्मार्गं संक्रामेत्, न गहनं वा वनं वा दुर्गं वा अनुप्रविशेत् न वृक्षं आरोहेत् न महति महालये उदके कायं व्युत्सृजेत्, न वाटं वा शरणं वा सेनां वा सार्थं वा कांक्षेत् अल्पोत्सुकः यावत् समाधिना, ततः संयतमेव ग्रामानुग्रामं दूयेत। स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा ग्रामानुग्रामं दूयमानः

- १ तहेषु फरुसा भासा, गुरुभूओवघाइणी ।  
सच्चा वि सा न वत्तव्वा, जओ पावस्स आगमो ॥ — दशवैकालिक सूत्र ७, ११
- २ घउण्हं खलु भासाणं परिसंखाय पन्नवं ।  
दुण्हं विणयं सिक्खे, दो न भासिज्ज सव्वसो ॥ — दशवैकालिक सूत्र ७, १
- ३ अहावरे दुच्चे भन्ते ! महव्वए मुसावायाओ वेरमणं ।  
सव्वं भन्ते ! मुसावायं पच्चक्खामि ॥ — दशवैकालिक सूत्र ४
- ४ एयं घ दोसं दददूणं, नायपुत्तेण भासियं ।  
अणुमायंपि मेहावी, मायामोसं विवज्जए । — दशवैकालिक सूत्र ५, ५१।

अन्तराले तस्य विहं स्यात् स यत् पुनः विहं जानीयात् अस्मिन् खलु विहे बहवः आमोषकाः उपकरणप्रतिज्ञया संपिण्डिताः आगच्छेयुः न तेभ्यो भीतः उन्मार्गेण गच्छेत्, यावत् समाधिना, ततः संयतमेव ग्रामानुग्रामं दूयेत गच्छेत्।

**पदार्थ-** से भिक्खू-वह साधु या साध्वी। गा० दू०-ग्रामानुग्राम विहार करते हुए। से-उसके। अन्तरा-मार्ग के मध्य में आए हुए। गोणं-वृषभ को। वियालं-सर्प को। पडिवहे-रास्ते में देखकर। जाव-यावत्। चित्तचिल्लडं-चीते को, चीते के बच्चे को। वियालं-कूर सांप को। प०-मार्ग में। पेहाए-देखकर। तेसिं-उनसे। भीओ-डरता हुआ। उम्मग्गेणं-उन्मार्ग से। नो गच्छिज्जा-गमन न करे और। मग्गाओ-मार्ग से। उम्मगं-उन्मार्ग को। नो संक्रमिज्जा-संक्रमण न करे। गहणं वा-गहन-वृक्ष समूह से युक्त स्थान। वणं वा-वन। दुग्गं वा-विषम स्थान इनमें। न पविसिज्जा-प्रवेश न करे और। रुक्खंसि-वृक्ष पर। नो दुरूहिज्जा-न चढ़े। महइमहालयंसि-अति विस्तृत गहरे जल में। कायं-शरीर को। नो विउसिज्जा-तिरोहित न करे। वाडं वा-बाड़ का। सरणं-शरण। सेणं वा-सेना का अथवा। सत्थं वा-किन्हीं अन्य साथियों का आश्रय। नो कंखिज्जा-न चाहे। अप्पुस्सुए-राग-द्वेष से रहित होकर। जाव-यावत्। समाहीए-समाधि युक्त होकर। तओ-तदनन्तर। संजयामेव-संयमशील साधु। गामाणुगामं-एक ग्राम से दूसरे ग्राम को। दूइज्जिज्जा-विहार करे। से भिक्खू-वह साधु अथवा साध्वी। गामाणुगामं-ग्रामानुग्राम। दूइज्जमाणे-विहार करता हुआ। अंतरा से-उसके मार्ग में। विहं सिया-अटवी हो तो। से-वह साधु। जं-जो। पुण-फिर। विहं-अटवी को। जाणिज्जा-जाने। खलु-निश्चयार्थक है। इमंसि-इस। विहंसि-अटवी में। बहवे-बहुत से। आमोसगा-चोर। उवगरणपडियाए-साधु के उपकरण को लेने के लिए। संपिण्डिया-एकत्र होकर यदि सामने। गच्छिज्जा-आ जाए तो। तेसिं-उनसे। भीओ-डर कर। उम्मग्गेणं-उन्मार्ग से। नो गच्छिज्जा-गमन न करे। जाव-यावत्। समाहीए-समाधियुक्त होकर। तओ-तदनन्तर। संजयामेव-यत्पूर्वक। गामाणुगामं-ग्रामानुग्राम। दूइज्जिज्जा-विहार करे।

**मूलार्थ-** संयमशील साधु अथवा साध्वी ग्रामानुग्राम विहार करते हुए मार्ग में यदि मदोन्मत्त वृषभ-बैल या विधैले सांप या चीते आदि हिंसक जीवों का साक्षात्कार ही तो उसे देखकर साधु को भयभीत नहीं होना चाहिए तथा उनसे डरकर उन्मार्ग में गमन नहीं करना चाहिए और मार्ग से उन्मार्ग का संक्रमण भी नहीं करना चाहिए। और गहन वन एवं विषम स्थान में भी साधु प्रवेश न करे, एवं न विस्तृत और गहरे जल में ही प्रवेश करे और न वृक्ष पर ही चढ़े। इसी प्रकार वह सेना और अन्य साथियों का आश्रय भी न ढूंढे, किन्तु राग-द्वेष से रहित होकर यावत् समाधि-पूर्वक ग्रामानुग्राम विहार करे।

यदि साधु या साध्वी को विहार करते हुए मार्ग में अटवी आ जाए तो साधु उसको जान ले, जैसे कि अटवी में चोर होते हैं और वे साधु के उपकरण लेने के लिए इकट्ठे होकर आते हैं, यदि अटवी में चोर एकत्रित हो कर आए तो साधु उनसे भयभीत न हो तथा उनसे डरकर उन्मार्ग की ओर न जाए किन्तु राग-द्वेष से रहित होकर यावत् समाधि-पूर्वक ग्रामानुग्राम विहार करने में प्रवृत्त रहे।

**हिन्दी विवेचन-** प्रस्तुत सूत्र में साधु की निर्भयता के सर्वोत्कृष्ट रूप का वर्णन किया गया

है। इसमें बताया गया है कि यदि साधु को रास्ते में उन्मत्त बैल, शेर आदि हिंसक जन्तु मिल जाएं या कभी मार्ग भूल जाने के कारण भयंकर अटवी में गए हुए साधु को चोर, डाकू आदि मिल जाएं तो मुनि को उनसे भयभीत होकर इधर-उधर उन्मार्ग पर नहीं जाना चाहिए, न वृक्ष पर चढ़ना चाहिए और न विस्तृत एवं गहरे पानी में प्रवेश करना चाहिए, परन्तु राग-द्वेष से रहित होकर अपने मार्ग पर चलते रहना चाहिए।

प्रस्तुत प्रसंग साधु की साधुता की उत्कृष्ट साधना का परिचायक है। वह अभय का देवता न किसी को भय देता है और न किसी से भयभीत होता है। क्योंकि, प्राणी जगत को अभयदान देने वाला साधक कभी भय ग्रस्त नहीं होता। भय उसी प्राणी के मन में पनपता है, जो दूसरों को भय देता है या जिसकी साधना में, अहिंसा में अभी पूर्णता नहीं आई है। क्योंकि भय एवं अहिंसा का परस्पर विरोध है। मानव जीवन में जितना-जितना अहिंसा का विकास होता है उतना ही भय का ह्रास होता है और जब जीवन में पूर्ण अहिंसा साकार रूप में प्रकट हो जाती है तो भय का भी पूर्णतः नाश हो जाता है। अस्तु अहिंसा निर्भयता की निशानी है।

यह वर्णन पूर्ण अहिंसक साधक को ध्यान में रखकर किया गया है। सामान्यतः सभी साधु हिंसा के त्यागी होते हैं, फिर भी सबकी साधना के स्तर में कुछ अन्तर रहता है। सब के जीवन का समान रूप से विकास नहीं होता। इसी अपेक्षा से वृत्तिकार ने प्रस्तुत सूत्र को जिनकल्पी मुनि की साधना के लिए बताया है। क्योंकि स्थविर कल्पी मुनि की यदि कभी समाधि भंग होती हो तो हिंसक जीवों से युक्त मार्ग का त्याग करके अन्य मार्ग से भी आ-जा सकता है। आगम में भी लिखा है कि यदि मार्ग में हिंसक जन्तु बैठे हों या घूम-फिर रहे हों तो मुनि को वह मार्ग छोड़ देना चाहिए<sup>१</sup>।

वृत्तिकार ने प्रस्तुत सूत्र जो जिनकल्पी मुनि से सम्बद्ध बताया है। हिंसक जन्तुओं से भयभीत न होने के प्रसंग में तो यह युक्ति संगत प्रतीत होता है। परन्तु, अटवी में चोरों द्वारा उपकरण छीनने के प्रसंग में जिनकल्पी की कल्पना कैसे घटित होगी? क्योंकि उनके पास वस्त्र एवं पात्र आदि तो होते ही नहीं, अतः उनके लूटने का प्रसंग ही उपस्थित नहीं होगा। इसका समाधान यह है कि आचाराङ्ग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध में वृत्तिकार ने एक, दो और तीन चादर रखने वाले जिनकल्पी मुनि का भी वर्णन किया है, उन्होंने कुछ जिनकल्पी मुनियों के उत्कृष्ट १२ उपकरण स्वीकार किए हैं। अतः इस दृष्टि से इस साधना को जिनकल्पी मुनि की साधना मानना युक्तिसंगत ही प्रतीत होता है।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं-

मूलम्— से भिक्खू वा० गा० दू० अन्तरा से आमोसगा-संपिंडिया गच्छिज्जा, ते णं आ० एवं वइज्जा आउ० स० ! आहर एयं वत्थं वा ४ देहि निक्खिवाहि, तं नो दिज्जा निक्खिवाज्जा, नो वंदिय २ जाइज्जा, नो अञ्जलिं कट्टु जाइज्जा, नो कलुणवडियाए जाइज्जा, धम्मियाए जायणाए जाइज्जा, तुसिणीयभावेण वा उवेहिज्जा ते णं आमोसगा सयं करणिज्जंति कट्टु

अक्कोसंति वा जाव उह्विंति वा वत्थं वा ४ अच्छिंदिज्ज वा जाव परिट्ठविज्ज वा, तं नो गामसंसारियं कुज्जा, नो रायसंसारियं कुज्जा, नो परं उवसंकमित्तु बूया- आउसंतो ! गाहावई ! एए खलु आमोसगा उवगरणवडियाए सयं करणिज्जंति कट्टु अक्कोसंति वा जाव परिट्ठवंति वा, एयप्पगारं मणं वा वायं वा नो पुरओ कट्टु विहरिज्जा, अप्पुस्सुए जाव समाहीए तओ संजयामेव गामा० दू० । एयं खलु० सया जइ० ॥१३१॥ त्तिवेमि ॥

छाया- स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा ग्रामानुग्रामं दूयमानः अन्तराले तस्य आमोषकाः संपिण्डिताः आगच्छेयुः ते आमोषकाः एवं वदेयुः- आयुष्मन् श्रमण ! आहर एतद् वस्त्रं वा ४ देहि निक्षिप ? तद् नो दद्यात् निक्षिपेत् न वन्दित्वा २ याचेत न अञ्जलिं कृत्वा याचेत, न करुणप्रतिज्ञया याचेत, धार्मिकया याचनया याचेत तूष्णीकभावेन वा उपेक्षेत ते आमोषकाः स्वयंकरणीयमिति कृत्वा, आक्रोशन्ति वा यावत् अपद्रावयन्ति वा, वस्त्रं वा अच्छिन्द्युः तद् यावत् परिष्ठापयेयुर्वा तद् न ग्रामसंसारणीयं कुर्यात्, न राजसंसारणीयं कुर्यात्, न परं उपसंक्रम्य ब्रूयात्- आयुष्मन् गृहपते ! एते खलु आमोषकाः उपकरणप्रतिज्ञया स्वयंकरणीयमिति-कृत्वा आक्रोशन्ति वा यावत् परिष्ठापयन्ति वा एतत् प्रकारं मानसं वा वाचं वा न पुरतः कृत्वा विहरेत् । अल्पोत्सुकः यावत् समाधिना ततः संयतमेव ग्रामानुग्रामं दूयेत । एतत् खलु भिक्षोः सामग्र्यं यत् सर्वार्थैः समितः सहितः सदा जयेत् । इति ब्रवीमि । समाप्तमीर्याख्त्रं तृतीयमध्ययनम् ।

पदार्थ- से भिक्षु वा-वह साधु या साध्वी । गा०-एक ग्राम से दूसरे ग्राम को विहार करता हुआ । अंतरा-मार्ग में । से-उसके सामने । आमोसगा-चोर । संपिंडिया-एकत्रित होकर । आगच्छिज्जा-आ जाएं । णं-पूर्ववत् । ते-वे । आमोसगा-चोर । एवं वइज्जा-इस प्रकार कहें । आउ० स०-आयुष्मन् श्रमण ! आहर-लाओ । एयं वत्थं वा० ४-यह वस्त्रादि । देहि-हमें दे दो, और । निक्खिवाहि-यहां पर रख दो, तब वह साधु । तं-उसे । नो दिज्जा-न देवे किन्तु उन्हें भूमि पर । निक्खिविज्जा-रख दे, परन्तु । वंदिय २-उन चोरों की स्तुति करके । नो जाइज्जा-उन वस्त्रादि की याचना न करे, तथा । अंजलिं कट्टु-हाथ जोड़ कर । नो जाइज्जा-याचना न करे तथा । कलुणवडियाए-दीन वचन बोलकर । नो जाइज्जा-याचना न करे किन्तु । धम्मियाए-धार्मिक । जायणाए-याचना से अर्थात् धर्म कथन पूर्वक । जाइज्जा-याचना करे अथवा । तुसिणीयभावेण वा-मौन भाव से अवस्थित रहे । णं-वाक्यालंकार में है । ते-वे । आमोसगा-चोर । सयंकरणिज्जंति कट्टु-चोर का कर्तव्य जानकर यदि इस प्रकार करें यथा । अक्कोसंति वा-साधु को आक्रोशते हैं । जाव-यावत् । उह्विंति-जीवन से रहित कर देते हैं । वा-अथवा । वत्थं वा-वस्त्रादि को । अच्छिंदिज्जा-छीन लेते हैं । वा-अथवा । जाव-यावत् छीने हुआओं को । परिट्ठविज्जा-वहां पर ही फेंक देते हैं, तो भी साधु । तं-इस बात को । गामसंसारियं-गांव में जाकर लोगों से । नो कुज्जा-न कहे और । नो रायसंसारियं कुज्जा-राजा आदि के पास जाकर भी न कहे तथा । नो परं उपसंक्रमित्तु बूया-न अन्य गृहस्थों के पास जाकर कहे कि । आउसंतो गाहावई-आयुष्मन् सद गृहस्थो ! एए खलु

आमोसगा-निश्चय ही इन चोरों ने। उवगरणवडियाए-मेरे उपकरण ले लिए। सयंकरणिज्जंति कट्टु-उन्होंने अपना कर्तव्य समझ कर मुझे। अक्कोसंति-कठोर वचन कहे। जाव-यावत्। परिट्ठवंति-मेरे उपकरण आदि फैंक दिए। एयप्यगारं-इस प्रकार का। मणं वा-मन। वायं वा-अथवा वचन को। पुरओ कट्टु-आगे करके। नो विहरिज्जा-न विचरे किन्तु। अप्पुस्सुए-राग-द्वेष से रहित। जाव-यावत्। समाहीए-समाधि युक्त होकर। तओ-तदनन्तर। संजयामेव-यत्नापूर्वक। गामा-ग्रामानुग्राम। दूइ-विहार करे। एयं खलु-निश्चय ही यह उस साधु और साध्वी का सम्पूर्ण आचार है। सया जइ- जो कि सर्व अर्थों से युक्त और समितियों से समित हो सदा यत्नशील रहे। त्तिबेमि-इस प्रकार मैं कहता हूँ।

**मूलार्थ**- संयमशील साधु अथवा साध्वी को ग्रामानुग्राम विहार करते हुए यदि मार्ग में बहुत से चोर मिलें और वे कहें कि-आयुष्मन् श्रमण! ये वस्त्र, पात्र और कंबल आदि हमको दे दो या यहां पर रख दो। तो साधु वे वस्त्र, पात्रादि उनको न देवे, किन्तु भूमि पर रख दे, परन्तु उन्हें वापिस प्राप्त करने के लिए मुनि उनकी स्तुति करके, हाथ जोड़ कर या दीन वचन कह कर उन वस्त्रादि की याचना न करे अर्थात् उन्हें वापिस देने को न कहे। तथा यदि मांगना हो तो उन्हें धर्म का मार्ग समझाकर मांगे अथवा मौन रहे। वे चोर अपने चोर के कर्तव्य को जानकर साधु को मारें-पीटें या उसका वध करने का प्रयत्न करें और उसके वस्त्रादि को छीन लें, फाड़ डालें या फैंक दें तो भी वह भिक्षु ग्राम में जाकर लोगों से न कहे और न राजा से कहे एवं किसी अन्य गृहस्थ के पास जाकर भी यह न कहे कि आयुष्मन् गृहस्थ ! इन चोरों ने मेरे उपकरणादि को छीनने के लिए मुझे मारा है और उपकरणादि को दूर फैंक दिया है। ऐसे विचारों को साधु मन में भी न लाए और न वचन से उन्हें अभिव्यक्त करे। किन्तु राग-द्वेष से रहित हो कर समभाव से समाधि में रहकर ग्रामानुग्राम विचरे। यही उसका यथार्थ साधुत्व-साधु भाव है। इस प्रकार मैं कहता हूँ।

**हिन्दी विवेचन**- प्रस्तुत सूत्र में भी पहले सूत्र की तरह साधु की निर्भयता एवं सहिष्णुता पर प्रकाश डाला गया है। इसमें बताया गया है कि विहार करते समय यदि रास्ते में कोई चोर मिल जाए और वह मुनि से कहे कि तू अपने उपकरण हमें दे दे या जमीन पर रख दे। तो मुनि शान्त भाव से अपने वस्त्र पात्र आदि जमीन पर रख दे। परन्तु, वह उन्हें वापिस प्राप्त करने के लिए उन चोरों की स्तुति न करे, न उनके सामने दीन वचन ही बोले। यदि बोलना उचित समझे तो उन्हें धर्म का मार्ग दिखाकर उन्हें पथ भ्रष्ट होने से बचाए, अन्यथा मौन रहे। इसके अतिरिक्त यदि कोई चोर साधु से वस्त्र आदि प्राप्त करने के लिए उसे मारे-पीटे या उसका वध करने का प्रयत्न भी करे और उसके सभी उपकरण भी छीन ले या उन्हें तोड़-फोड़ कर दूर फैंक दे, तब भी मुनि उस पर राग-द्वेष न करता हुआ समभाव से गांव में आ जाए। गांव में आकर भी वह यह बात किसी भी गृहस्थ, अधिकारी या राजा आदि से न कहे। और न इस सम्बन्ध में किसी तरह का मानसिक चिन्तन ही करे। वह मन, वचन और काया से उस से (चोर से) किसी भी तरह का प्रतिशोध लेने का प्रयत्न न करे।

इस सूत्र में साधुता के महान् उज्ज्वल रूप को चित्रित किया गया है। अपना अपकार करने वाले व्यक्ति का कभी बुरा नहीं चाहना एवं उसे कष्ट में डालने का प्रयत्न नहीं करना, यह आत्मा की महानता को प्रकट करता है। यह आत्मा के विकास की उत्कृष्ट श्रेणी है जहां पर पहुंच कर मानव अपने अधिक के



प्रति भी द्वेष भाव नहीं रखता। वह मारने एवं पूजा करने वाले दोनों पर समभाव रखता है, दोनों को मित्र समझता है और दोनों का हित चाहता है। यही श्रेणी आत्मा से परमात्मा पद को प्राप्त करने की या साधक से सिद्ध बनने की श्रेणी है।

‘त्तिबेमि’ की व्याख्या पूर्ववत् समझें।

॥ तृतीय उद्देशक समाप्त ॥

॥ तृतीय अध्ययन समाप्त ॥

# चतुर्थ अध्ययन-भाषषणा

## प्रथम उद्देशक

तृतीय अध्ययन में ईर्यासमिति का वर्णन किया गया है। अतः संयम पथ पर गतिशील मुनि को किस प्रकार की भाषा का प्रयोग करना चाहिए, यह प्रस्तुत अध्ययन में बताया गया है। यह अध्ययन दो उद्देशों में विभक्त है। पहले उद्देश में वचन, विभक्ति आदि का वर्णन किया गया है और दूसरे उद्देश में ऐसी भाषा का प्रयोग करने का निषेध किया गया है, जिससे अपने या दूसरे के मन में क्रोध आदि विकारों की उत्पत्ति होती हो। इस तरह साधु को कैसी भाषा बोलनी चाहिए इसका वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— से भिक्खू वा २ इमाइं वयायाराइं सुच्चा निसम्म इमाइं अणागाराइं अणारियपुच्चाइं जाणिज्जा जे कोहा वा वायं विउंजंति जे माणा वा० जे मायाए वा० जे लोभा वा वायं विउंजंति जाणओ वा फरुसं वयंति अजाणओ वा फ० सव्वं चेयं सावज्जं वज्जिज्जा विवेगमायाए, धुवं चेयं जाणिज्जा अधुवं चेयं जाणिज्जा असणं वा ४ लभिय नो लभिय भुंजिय नो भुंजिय अदुवा आगओ अदुवा नो आगओ अदुवा एइ अदुवा नो एइ अदुवा एहिइ अदुवा नो एहिइ, इत्थवि आगए इत्थवि नो आगए इत्थवि एति इत्थवि नो एति इत्थवि एहिति इत्थवि नो एहिति ॥ अणुवीइ निट्ठाभासी समियाए संजए भासं भासिज्जा, तंजहा-एगवयणं १ दुवयणं २ बहुव० ३ इत्थि० ४ पुरिस० ५ नपुंसगवयणं ६ अज्झत्थव० ७ उवणीयवयणं ८ अवणीयवयणं ९ उवणीयववणीयव० १० अवणीयववणीय व० ११ तीयव० १२ पडुप्पन्नव० १३ अणागयव० १४ पच्चक्खवयणं १५ परुक्खव० १६ से एगवयणं वइस्सामीति एगवयणं वइज्जा जाव परुक्खवयणं वइस्सामीति परुक्खवयणं वइज्जा, इत्थी वेस पुरिसो वेस, नपुंसगं वेस एयं वा चेयं अन्नं वा चेयं अणुवीइ निट्ठाभासी समियाए संजए भासं भासिज्जा, इच्चेयाइं आययणाइं उवातिकम्म ॥ अह भिक्खू जाणिज्जा चत्तारि भासज्जायाइं, तंजहा-सच्चमेगं पढमं भासज्जायं १ बीयं मोसं २ तइयं सच्चामोसं ३ जं नेव सच्चं नेव मोसं नेव सच्चामोसं असच्चामोसं नाम तं चउत्थं

भासज्जायं ४ ॥ से बेमि जे अईया जे य पडुप्पन्ना जे अणागया अरहंता भगवंतो सव्वे ते एयाणि चेव चत्तारि भासज्जायाइं भासिंसु वा भासंति वा भासिस्संति वा पन्नविंसु वा ३, सव्वाइं च णं एयाइं अचित्ताणि वण्णमंताणि गंधमंताणि, रसमंताणि फासमंताणि चओवचइयाइं, विप्परिणामधम्माइं भवंतीति अक्खा-याइं ॥१३२ ॥

छाया- स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा इमान् वागाचारान् श्रुत्वा निशम्य इमान् अनाचारान् अनाचीर्णं पूर्वान् जानीयात् ये क्रोधाद् वा वाचं विप्रयुञ्जन्ति, ये मानाद् वा वाचं विप्रयुञ्जन्ति, ये मायया वा वाचं विप्रयुञ्जन्ति, ये लोभाद् वा वाचं विप्रयुञ्जन्ति, जानाना वा परुषं वदन्ति, अजानाना वा परुषं वदन्ति, सर्वं चैतत् सावद्यं वर्जयेत् विवेकमादाय, ध्रुवं चैतत् जानीयात् अधुवं चैतत् जानीयात् ॥ अशनं वा ४ लब्ध्वा नो लब्ध्वा, भुंक्त्वा नो भुंक्त्वा अथवा आगतः अथवा नो आगतः, अथवा एति, अथवा नो एति अथवा एष्यति अथवा न एष्यति, अत्रापि आगतः अत्रापि नो आगतः, अत्रापि एति अत्रापि नो एति अत्रापि एष्यति अत्रापि नो एष्यति। अनुविचिन्त्य निष्ठाभाषी समित्या-(समतया वा) संयतः भाषां भाषेत। तद्यथा-एकवचनं (१) द्विवचनं (२) बहुवचनं (३) स्त्रीवचनम् (४) पुरुषवचनम् (५) नपुंसकवचनम् (६) अध्यात्मवचनम् (७) उपनीतवचनम् (८) अपनीतवचनम् (९) उपनीतापनीतवचनम् (१०) अपनीतोपनीतवचनम् (११) अतीतवचनम् (१२) प्रत्युत्पन्नवचनम् (१३) अनागतवचनम् (१४) प्रत्यक्षवचनम् (१५) परोक्षवचनम् (१६) स एकवचनं वदिष्यामीति एकवचनम् वदेत् यावत् परोक्षवचनं वदिष्यामीति परोक्षवचनं वदेत्, स्त्री वा एषा, पुरुषो वा एषः नपुंसकं वा एतत्, एतद् वा चैतद् अन्यद् वा चैतत्, अनुविचिन्त्य निष्ठाभाषी समित्या संयतः भाषां भाषेत, इत्येतानि आयतनानि उपातिक्रम्य। अथ भिक्षुः जानीयात् चत्वारि भाषाजातानि तद्यथा-सत्यमेकं प्रथमं भाषाजातम् (१) द्वितीया मृषा (२) तृतीया सत्यामृषा (३) या नैव सत्या नैव मृषा नैव सत्यामृषा असत्यामृषा नाम तत् चतुर्थं भाषाजातम् (४) अथ ब्रवीमि ये अतीता ते प्रत्युत्पन्ना ये अनागताः अर्हंतो भगवन्तः सर्वे ते एतानि चैव चत्वारि भाषाजातानि अभाषन्त वा भाषन्ते वा भाषिष्यन्ते वा व्यजिज्ञपन् वा ३ सर्वाणि च एतानि अचित्तानि, वर्णवन्ति, गन्धवन्ति, रसवन्ति, स्पर्शवन्ति चयोपचयिकानि विपरिणामधर्माणि भवन्तीति आख्यातानि।

पदार्थ-से-वह। भिक्खू वा २-साधु या साध्वी। इमाइं-इन कहे जाने वाले। वयायाराइं-बाणी के आचार को। सुच्चा-सुन कर। निसम्म-विचार कर। इमाइं-इन कहे जाने वाले। अणायाराइं-अनाचारों को। अणारियपुव्वाइं-पूर्व साधुओं ने जिनका आचरण नहीं किया उसके सम्बन्ध में। जाणिज्जा-जाने-जैसे कि-। जे-जो। कोहा वा-क्रोध से। वायं-वचन का। विउंजंति-प्रयोग करते हैं। जे माणा वा-जो मानपूर्वक वचन

बोलते हैं तथा। जे मायाए वा०-जो माया-छलपूर्वक बोलते हैं। जे लोभा वा-जो लोभ के वशीभूत होकर। वायं विउंजति-वचन का प्रयोग करते हैं। वा-अथवा। जाणओ वा फरुसं वयंति-जान कर कठोर वचन बोलते हैं, अर्थात् किसी के दोष को जानते हुए उसे उद्घाटन करने के लिए कठोर भाषा का प्रयोग करते हैं। वा-अथवा। अजाणओ-नहीं जानते हुए। फरुसंक०-कठोर वचन बोलते हैं। सव्वं चेरं-यह सब। सावज्जं-सावद्य-हिंसा-पाप युक्त वचन हैं अतः। विवेगमायाए-विवेक को ग्रहण करके अर्थात् विवेक युक्त होकर। वज्जिज्जा-साधु इन सावद्य वचनों को छोड़ दे अर्थात् सावद्य भाषा न बोले, तथा। धुवं चेरं जाणिज्जा-यह पदार्थ ध्रुव है-निश्चित है ऐसा जाने। च-और। अधुवं चेरं जाणिज्जा-यह पदार्थ अध्रुव अनिश्चित है ऐसा जाने। असणं वा ४-यह साधु अशनादि चतुर्विध आहार। लभिय-लेकर आया या। नो लभिय-लेकर नहीं आया। भुजिय-कोई साधु आहार के लिए गया हो और किसी कारणवश यदि उसे विलम्ब हो गया हो तो अन्य साधु यह न कहें कि वह रास्ते में ही आहार करके आया या। नो भुजिय-बिना आहार किए ही आया। अदुवा-अथवा। आगओ-राजा आदि पीछे आए थे। अदुवा-अथवा। नो आगओ-नहीं आए थे। अदुवा-अथवा। एइ-राजा आदि आता है। अदुवा-अथवा। नो एइ-नहीं आ रहा है। अदुवा-अथवा। एहिइ-आया। अदुवा-अथवा। नो एहिइ-नहीं आया इस प्रकार की निश्चित भाषा न बोले। अब क्षेत्र के विषय में कहते हैं-। इत्थवि-अमुक व्यक्ति यहां पर ही। आगए-आया था। इत्थवि-यहां पर। नो आगए-नहीं आया था। इत्थवि-यहां पर। एइ-आता है। इत्थवि-यहां पर। नो एति-नहीं आता है। इत्थवि-यहां पर ही। एहिति-आया। इत्थवि नो एहिति-यहां पर नहीं आया, इस प्रकार की निश्चय रूप भाषा न बोले किन्तु। अणुवीइ-विचार कर। निट्ठाभासी-निश्चय पूर्वक बोलने वाला अर्थात् निश्चय किए जाने पर बोलने वाला। समियाए-भाषा समिति से युक्त। संजए-साधु। भासं भासिज्जा-भाषा को बोले। तंजहा-जैसे कि। एगवयणं १-एक वचन। दुवयणं २-द्विवचन। बहुव० ३-बहुवचन। इत्थि ४-स्त्री वचन। पुरि०-५-पुरुष वचन। नपुंसगवयणं ६-नपुंसक वचन। अज्झत्थव० ७-अध्यात्म वचन। उवणीयवयणं ८-उपनीत-प्रशंसाकारी वचन। अवणीयवयणं ९-अपनीत-निन्दाकारी वचन। उवणीयवणीयव० १०-प्रशंसा और निन्दा युक्त वचन। अवणीयउवणीय व० ११-निन्दा और प्रशंसायुक्त वचन। तीयव० १२-अतीत काल का वचन। पडुप्पन्नव० १३-वर्तमान काल का वचन। अणागयव० १४-अनागत काल का वचन। पच्चक्खवयणं १५-प्रत्यक्ष वचन। परोक्खव०- १६-और परोक्ष वचन आदि को जान कर। से-वह-साधु। एगवयणं-एक वचन। वइस्सामीति-बोलूंगा। ऐसा विचार करके। एगवयणं-एक वचन। वइज्जा-बोले जाव-यावत्। परुक्खवयणं-परोक्ष वचन। वइस्सामीति-बोलूंगा ऐसा विचार करके। परुक्खवयणं-परोक्ष वचन। वइज्जा-बोले। इत्थि वेस-यह स्त्री है। पुरिसो वेस-यह पुरुष है। नपुंसगं वेस-यह नपुंसक है। एयं वा-यह स्त्री ही है अथवा। च-और। एयं-यह। अन्नं वा-और कोई है। च-पुनः। एयं-यह। अणुवीइ-विचार कर। निट्ठाभासी-निश्चित एकान्त भाषा बोलने वाला। संजए-साधु। समियाए-भाषा समिति युक्त। भासं-भाषा को। भासिज्जा-बोले। इच्चेयाइं-ये पूर्वोक्त तथा आगे कहे जाने वाले। आययणाइं-भाषा के दोष स्थानों को। उवातिकम्म-अति क्रम करके-उल्लंघन करके भाषण करे। अह भिक्खू-अथ भिक्षु। चत्तारि-चार प्रकार की। भासज्जायं-भाषाओं को। जाणिज्जा-जानने का यत्न करे। तंजहा-जैसे कि। सच्चमेगं पढमं भासज्जायं-पहली सत्य भाषा है। बीयं मोसं-दूसरी मृषा भाषा है। तइयं सच्चामोसं-तीसरी सत्य-मृषा अर्थात् मिश्र भाषा है। जं-जो भाषा। नेव-न। सच्चं-सत्य है। नेव मोसं-न मृषा है; तथा। नेव-न। सच्चामोसं-

सत्य और मृषा है। तं-उसका। चउत्थं नाम-चौथी। असच्छामोसं-असत्यामृषा अर्थात् व्यवहार। भासज्जायं-भाषा है। से बेमि-यह जो कुछ मैं कह रहा हूँ यह सब। जे-जो। अईया-अतीत काल में। जे य-और जो। पडुप्पन्ना-वर्तमान काल में तथा। जे-जो। अणागया-अनागत-भविष्यत् काल में। अरहंता भगवन्तो-अरिहन्त भगवान हो चुके हैं, हैं या होंगे। ते सव्वे-वे सब। एयाणि चेव चत्तारि भासज्जायाइं-यही चार प्रकार की भाषाएं। भासिंसु-बोलते थे। भासंति-बोलते हैं और। भासिस्संति वा-बोलेंगे, तथा इन्हीं भाषाओं की। पन्विंसु वा ३-उन्होंने प्ररूपणा की, प्ररूपणा करते हैं और करेंगे। सव्वाइं च णं एयाइं-ये सभी प्रकार की भाषाएं। अचित्ताइं-अचित्त हैं। वणमंताणि-वर्ण युक्त। गन्धमंताणि-गन्ध युक्त। रसमंताणि-रस युक्त और। फासमंताणि-स्पर्श युक्त हैं, अर्थात् सभी प्रकार के भाषा द्रव्य वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श युक्त हैं। चओवचयाइं-उपचय और अपचय वाले अर्थात् मिलने और बिछड़ने वाले हैं तथा ये। विप्परिणामधम्माइं-विविध प्रकार के परिणाम-धर्म वाले। भवंतीति-होते हैं ऐसा। अक्खायाइं-तीर्थकरों ने कहा है।

मूलार्थ-संयमशील साधु और साध्वी वचन के आचार को सुन कर और हृदय में धारण करके वचन अनाचार को ( जिनका पूर्व के मुनियों ने आचरण नहीं किया ) जानने का प्रयत्न करे। जो मुनि क्रोध, मान, माया और लोभ से वचन बोलते हैं अर्थात् इनके वशीभूत होकर भाषण करते हैं, तथा जो किसी के दोष को जानते हुए अथवा न जानते हुए भी उसके मर्म को उदघाटन करने के लिए कठोर वचन बोलते हैं ऐसी भाषा सावद्य है, अतः विवेकशील साधु इसे छोड़ दे। और वह निश्चयात्मक भाषा भी न बोले, जैसे कि-कल अवश्य ही वर्षा होगी, अथवा नहीं होगी। यदि कोई साधु आहार के लिए गया हो, तब अन्य साधु उसके लिए ऐसा न कहे कि वह साधु अज्ञानादि चतुर्विध आहार अवश्य लेकर आएगा, अथवा बिना लिए ही आएगा। और यदि किसी साधु को भिक्षार्थ गए हुए किसी कारण से कुछ विलम्ब हो गया हो, तो संयमशील साधु अन्य साधुओं के प्रति इस प्रकार भी न कहे कि वह साधु जो कि भिक्षा के लिए गया हुआ है, वहां पर भोजन करके आएगा अथवा आहार किए बिना ही आएगा। इस तरह भूतकाल की किसी बात का जब तक निश्चय न हो जाए तब तक निश्चयात्मक वचन न बोले। तथा-राजा अवश्य आया था, अथवा ( वर्तमानकाल में ) आता है अथवा [ भविष्यत् काल में ] अवश्य आएगा, अथवा तीनों काल में न आया था, न आता है और न आएगा, इस प्रकार के निश्चयात्मक वचन भी न बोले। जिस प्रकार काल के विषय में कहा गया है उसी प्रकार क्षेत्र के विषय में भी समझना चाहिए। यथा पीछे अमुक व्यक्ति अमुक नगरादि में आया था, अथवा नहीं आया था, इसी प्रकार अमुक व्यक्ति आता है या नहीं आता है, और अमुक व्यक्ति अमुक नगरादि में आएगा अथवा नहीं आएगा। तात्पर्य यह है कि जिस विषय में वस्तु तत्त्व का पूर्णतया निश्चय न हो उसके विषय में निश्चयात्मक वचन साधु को नहीं बोलना चाहिए। अतः विचार पूर्वक निश्चय करके भाषा समिति से समित हुआ साधु, भाषा का व्यवहार करे अर्थात् भाषा समिति का ध्यान रखता हुआ संयत भाषा में बोले। एक वचन, द्विवचन और बहुवचन, तथा स्त्रीलिंग वचन, पुरुष लिंग वचन और नपुंसक लिंग वचन, एवं अध्यात्म वचन, प्रशंसा युक्त वचन, निन्दायुक्त वचन, निन्दा और प्रशंसा युक्त वचन, भूतकाल सम्बन्धि वचन, वर्तमानकाल सम्बन्धि वचन और भविष्यतकाल सम्बन्धि वचन, तथा

प्रत्यक्ष और परोक्ष वचन आदि को भली-भांति जानकर बोले। यदि उसे एक वचन बोलना हो तो वह एक वचन बोले यावत् परोक्ष वचन पर्यन्त जिस वचन को बोलना हो उसी को बोले। तथा स्त्रीवेद, पुरुष वेद और नपुंसक वेद अथवा स्त्री-पुरुष और नपुंसक वेद या जब तक निश्चय न हो, तब तक निश्चयात्मक वचन न बोले, जैसे कि— यह स्त्री ही है इत्यादि। अतः विचार पूर्वक भाषा समिति से युक्त हुआ साधु भाषा के दोषों को त्याग कर संभाषण करे।

साधु को भाषा के चारों भेदों को भी जानना चाहिए, १ सत्य भाषा २ मृषा-असत्य भाषा, ३ मिश्र भाषा और ४ असत्यामृषा-जो न सत्य है, न असत्य और न सत्यासत्य किन्तु असत्यामृषा या व्यवहार भाषा के नाम से प्रसिद्ध है। जो कुछ मैं कहता हूँ-भूतकाल में जो अनन्त तीर्थकर हो चुके हैं और वर्तमान काल में जो तीर्थकर हैं, तथा भविष्यत् काल में जो तीर्थकर होंगे, उन सब ने इसी प्रकार से चार तरह की भाषा का वर्णन किया है, करते हैं और करेंगे। तथा ये सब भाषा के पुद्गल अक्षिप्त हैं, तथा वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श वाले हैं, तथा उपचय और अपचय अर्थात् मिलने और बिछुड़ने वाले एवं विविध प्रकार के परिणामों को धारण करने वाले होते हैं। ऐसा सर्वज्ञ और सर्वदर्शी तीर्थकर देवों ने प्रतिपादन किया है।

**हिन्दी विवेचन-** प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि साधु को भाषा शास्त्र का पूरा ज्ञान होना चाहिए। उसे व्याकरण का भली-भांति बोध होना चाहिए। जिससे वह बोलते समय विभक्ति, लिंग एवं वचन आदि की गलती न कर सके। इससे स्पष्ट होता है कि साधु के जीवन में आध्यात्मिक ज्ञान के साथ व्यवहारिक शिक्षा का भी महत्त्व है। साधक को जिस भाषा में अपने विचार अभिव्यक्त करने हैं, उसे उस भाषा का परिज्ञान होना जरूरी है। यदि उसे उस भाषा का ठीक तरह से बोध नहीं है तो वह बोलते समय अनेक गलतियाँ कर सकता है और कभी-कभी उसके द्वारा प्रयुक्त भाषा उसके अभिप्राय से विरुद्ध अर्थ को भी प्रकट कर सकती है। इसलिए साधक को भाषा का इतना ज्ञान अवश्य होना चाहिए जिससे वह अपने भावों को स्पष्ट एवं शुद्ध रूप से अभिव्यक्त कर सके।

भाषा के सम्बन्ध में दूसरी बात यह है कि साधु-साध्वी को निश्चयात्मक एवं संदिग्ध भाषा नहीं बोलनी चाहिए। इसका कारण यह है कि कभी परिस्थितिवश वह कार्य उसी रूप में नहीं हुआ तो साधु के दूसरे महाव्रत में दोष लगेगा। इसी तरह जिस बात के विषय में निश्चित ज्ञान नहीं है उसे प्रकट करने से भी दूसरे महाव्रत में दोष लगता है। अतः साधु को बोलते समय पूर्णतया विवेक एवं सावधानी रखनी चाहिए।

तीसरी बात यह है कि मनुष्य क्रोध, मान, माया और लोभ आदि विकारों के वश भी झूठ बोलता है। जिस समय मनुष्य के मन में क्रोध की आग धधकती है उस समय वह यह भूल जाता है कि मुझे क्या बोलना चाहिए और क्या नहीं बोलना चाहिए। इसी तरह जब मनुष्य के जीवन में अभिमान, माया एवं लोभ का अन्धड़ चलता है तो उस समय भी भाषा के दोष एवं गुणों का सही ज्ञान नहीं रख सकता और उन मनोविकारों के वश वह असत्य भाषा का भी प्रयोग कर देता है। इसलिए साधु को सदा इन कषायों से ऊपर उठकर बोलना चाहिए। यदि कभी इनका उदय हो रहा हो तो साधु को उस समय मौन

रहना चाहिए। उसे पहले उदयमान कथार्यों को उपशान्त करके फिर बोलना चाहिए।

भाषा के स्वरूप के सम्बन्ध में यहां कुछ बताना अनुचित एवं अप्रासंगिक नहीं होगा। साधारणतया मुंह द्वारा बोले जाने वाले शब्दों के समूह को भाषा कहते हैं। जैन आगमों में शब्द को पुद्गल माना गया है। कुछ भारतीय दर्शन शब्द को आकाश का गुण मानते हैं। परन्तु यह मान्यता उचित प्रतीत नहीं होती। क्योंकि आकाश अरूपी है, अतः उसका गुण भी अरूपी ही होगा। परन्तु, शब्द रूपी है, इस लिए वह अरूपी आकाश का गुण नहीं हो सकता। और आज वैज्ञानिक साधनों ने भी यह स्पष्ट कर दिया है कि शब्द आकाश का गुण नहीं, प्रत्युत स्वयं एक मूर्त पदार्थ है। वह पुद्गल के द्वारा रोका जाता है, ग्रहण किया जाता है और स्थानान्तर में भी भेजा जाता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि शब्द आकाश का गुण नहीं, प्रत्युत भाषा वर्गणा के पुद्गलों का समूह है। अतः भाषा वर्गणा के पुद्गल अचित्त एवं वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श से युक्त हैं तथा परिवर्तनशील हैं।

व्यक्ति द्वारा बोली जाने वाली भाषा चार प्रकार की मानी गई है— १ सत्य भाषा, २ असत्य भाषा, ३ मिश्र भाषा (जिसमें सत्य और असत्य की मिलावट हो) और ४ असत्यामृषा (जिस भाषा में न झूठ है और न सत्य है, जिसे व्यवहार भाषा कहते हैं)। इसमें साधु पहली और चौथी अर्थात् सत्य एवं व्यवहार भाषा का प्रयोग कर सकता है। परन्तु, उसे दूसरी और तीसरी अर्थात् असत्य एवं मिश्र भाषा का प्रयोग करना नहीं कल्पता।

इससे यह स्पष्ट हो गया कि साधु को भाषा के दोषों का परित्याग करके विवेक-पूर्वक बोलना चाहिए। भाषा के दोषों से बचने के लिए सूत्रकार ने १६ प्रकार के वचनों का उल्लेख किया है। इसमें प्रयुक्त द्विवचन संस्कृत व्याकरण के अनुसार रखा गया है। क्योंकि प्राकृत में एक वचन और बहुवचन ही होता है। द्विवचन का प्रयोग संस्कृत में होता है। अतः उक्त भाषा को ध्यान में रखकर ही सूत्रकार ने द्विवचन शब्द का उल्लेख किया हो ऐसा प्रतीत होता है। ये वचनों के १६ प्रकार इस तरह से हैं—

१ एकवचन—(संस्कृत भाषा में)— वृक्षः, घटः, पटः इत्यादि।

(प्राकृत भाषा में)— वच्छो-रुक्खो, घडो, पडो इत्यादि

२ द्विवचन—वृक्षौ, घटौ, पटौ इत्यादि, प्राकृत में द्विवचन होता ही नहीं।

३ बहुवचन—वृक्षाः, घटाः, पटाः, इत्यादि।

(प्राकृत में)—वच्छा, रुक्खा, घडा, पडा इत्यादि।

४ स्त्रीलिंग वचन—(सं०) कन्या, वीणा, राजधानी इत्यादि। (प्रा०) कन्ना, वीणा, रायहाणी इत्यादि।

५ पुरुषलिंग वचन—(सं०) घटः, पटः, कृष्णः, साधुः इत्यादि।

(प्राकृत०) घडो, पडो, कण्हो, साहू इत्यादि।

६ नपुंसकलिंग व०—पत्रम्, ज्ञानम्, चारित्रम्, दर्शनम् इत्यादि।

(प्राकृत में—) पत्तं, नाणं, चरित्तं, दंसणं इत्यादि।

७ अध्यात्म वचन- जिस वचन के बोलने का चित्त में निश्चय किया गया हो, फिर उसको छिपाने के लिए अन्य वचन के बोलने का विचार होने पर भी अकस्मात् वही वचन मुख से निकले उसे अध्यात्म वचन कहते हैं। जैसे कि- कोई वणिक् रूई के व्यापार के लिए किसी अन्य ग्राम या नगर में गया, उसने अपने मन में निश्चय किया कि मैं किसी अन्य व्यक्ति के पास रूई का नाम नहीं लूंगा। परन्तु जब वह तृषातुर होकर किसी कूप पर पानी पीने के लिए गया तब उसने वहां पानी भरने वालों से कहा कि मुझे शीघ्र ही रूई पिलाओ ! इसी का नाम अध्यात्म वचन है। वृत्तिकार भी यही लिखते हैं- “अध्यात्मं-हृदयगतं-तत्परिहारेणान्यद् भणिष्यतस्तदेव सहसा पतितम्।”

८ उपनीत वचन- प्रशंसा युक्त वचन को उपनीत वचन कहते हैं, यथा-यह स्त्री रूपवती है इत्यादि।

९ अपनीत व०-निन्दा युक्त वचन अपनीत वचन है, यथा-यह स्त्री कितनी कुरूपा-भदी है।

१० उपनीतापनीत व०- पहले प्रशंसा करना और बाद में निन्दा करना इसे उपनीतापनीत वचन कहते हैं, यथा- यह स्त्री सुरूपा-रूपवती तो है परन्तु व्यभिचारिणी है।

११ अपनीतोपनीत व०-पहले निन्दा और पीछे प्रशंसा युक्त वचन अपनीतोपनीत वचन है। यथा-यह स्त्री रूप हीन होने पर भी सदाचारिणी है।

१२ अतीत काल वचन-भूतकाल के बोधक वचन को अतीतकाल वचन कहते हैं। यथा-(घटं कृतवान् देवदत्तः) देवदत्त ने घड़े को बनाया था।

१३ वर्तमान काल वचन-वर्तमान काल का बोधक वचन, यथा-करोति, पठति-करता है, पढ़ता है इत्यादि।

१४ अनागत काल वचन-भविष्यत् काल का बोधक वचन, यथा-करिष्यति, पठिष्यति, गमिष्यति-करेगा, पढ़ेगा और जाएगा इत्यादि।

१५ प्रत्यक्ष वचन-प्रत्यक्ष के बोधक वचन को प्रत्यक्ष वचन कहते हैं, यथा-देवदत्तोऽयम्-यह देवदत्त है, इत्यादि।

१६ परोक्ष वचन-परोक्ष का बोधक वचन यथा-स देवदत्तः-वह देवदत्त।

अब सूत्रकार शब्द का कृतकत्व सिद्ध करते हुए कहते हैं-

मूलम्-से भिक्खू वा० से जं पुण जाणिज्जा पुव्विं भासा अभासा  
भासिज्जमाणी भासा भासा भासासमयवीड्वकंता च णं भासिया भासा अभासा।

से भिक्खू वा० से जं पुण जाणिज्जा जा य भासा सच्चा १ जा य भासा  
मोसा २ जा य भासा सच्चामोसा ३ जा य भासा असच्चाऽमोसा ४ तहप्यगारं



भासं सावज्जं सकिरियं कक्कसं कडुयं निट्ठुरं फरुसं अण्हयकरिं छेयणकरिं भेयणकरिं परियावणकरिं उद्दवणकरिं भूओवघाइयं अभिकंख नो भासिज्जा । से भिक्खू वा भिक्खुणी वा से जं पुण जाणिज्जा, जा य भासा सच्चा सुहुमा जा य भासा असच्चा मोसा तहप्पगारं भासं असावज्जं जाव अभूओवघाइयं अभिकंख भासं भासिज्जा ॥१३३॥

छाया- स भिक्षुर्वा० स यत् पुनः जानीयात् पूर्वं भाषा अभाषा भाष्यमाणा भाषा भाषा भाषासमयव्यतिक्रान्ता च भाषिता भाषा अभाषा ।

स भिक्षुर्वा० स यत् पुनः जानीयात् या च भाषा सत्या १ या च भाषा मृषा २ या च भाषा सत्यामृषा ३ या च भाषा असत्याऽमृषा ४ तथाप्रकारां भाषां सावद्यां सक्रियां कर्कशां कटुकां निष्ठुरां परुषां, आश्रवकरिं छेदनकरिं भेदनकरिं परितापनकरिं, अपद्रावणकरिं भूतोपघातिकां अभिकांक्ष्य नो भाषेत, स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा स यत् पुनः जानीयात् या च भाषा सत्या सूक्ष्मा या च भाषा असत्याऽमृषा तथाप्रकारां भाषां असावद्यां यावत् अभूतोपघातिकाम् अभिकांक्ष्य भाषां भाषेत ।

पदार्थ-से भिक्खू वा-वह साधु या साध्वी । से-वह । जं-जो । पुण-फिर । जाणिज्जा-जाने । पुक्विं भासा-भाषण करने से पूर्व जो भाषा द्रव्य वर्गणा के पुद्गल एकत्र हुए हैं वे भाषा के योग्य होने पर भी । अभासा-अभाषा-भाषा नहीं है किन्तु । भासिज्जमाणी भासा-भाषण करते हुए ही वह । भासा-भाषा होती है । च-फिर । णं-वाक्यालंकार में है । भासा समयवीडकंता-भाषा समय से व्यतिक्रान्त हुई । भासिया भासा-भाषण के पश्चात् वह भाषा । अभासा-अभाषा होती है । इसका तात्पर्य यह है कि भूत और भविष्यत् काल को छोड़कर केवल वर्तमान काल में बोली जाने वाली भाषावर्गणा के पुद्गलों को ही भाषा कह सकते हैं । अब भाषण करने के योग्य तथा अयोग्य भाषा के विषय में कहते हैं । से भिक्खू वा०-यह साधु या साध्वी । से जं पुण जाणिज्जा-फिर इस प्रकार जाने । जा य भासा-और जो भाषा । सच्चा-सत्य है । जा य भासा-तथा जो भाषा । मोसा-मृषा असत्य है । जा य भासा-और जो भाषा । सच्चा मोसा-सत्यासत्य अर्थात् मिश्र है । जा य भासा-एवं जो भाषा । असच्चाऽमोसा-असत्याऽमृषा अर्थात् व्यवहार भाषा है । तहप्पगारं-तथाप्रकार की । भासं-भाषा जो कि । सावज्जं-सावद्य-पाप जनक है तथा । कक्कसं-कर्कश-कठोर है । सकिरियं-क्रिया युक्त है । कडुयं-कटुक है-चित्त को उद्वेग करने वाली है । निट्ठुरं-निष्ठुर है । फरुसं-दूसरे के मर्म को प्रकाश करने वाली है तथा । अण्हयकरिं-कर्मों का आश्रवण करने वाली है । छेयणकरिं-जीवों का छेदन करने वाली है तथा । भेयणकरिं-भेदन करने वाली है । परियावणकरिं-परिताप देने वाली है एवं । उद्दवणकरिं-उपद्रव करने वाली है और । भूओवघाइयं-भूतोपघातिनी है-जीवों का विनाश करने वाली है । अभिकंख-मन में विचार कर इस प्रकार की सत्य भाषा भी । नो भासिज्जा-न बोले, अर्थात् जिस भाषा से पर प्राणी का अहित होता हो तथा उसे कष्ट पहुंचता हो तो ऐसी भाषा यदि सत्य भी हो तो भी साधु न बोले तथा । से भिक्खू वा-वह साधु या साध्वी । से-वह । जं-जो । पुण-फिर । जाणिज्जा-यह जाने कि । जा य भासा-जो भाषा । सच्चा-सत्य है-यथार्थ है । सुहुमा-सूक्ष्म विचार परिपूर्ण । जा

य-और जो भाषा। असच्चाप्रीसा-असत्याऽमृषा अर्थात् व्यवहार भाषा है। तहप्पगारं-तथा प्रकार की। असावजं-असावद्य-पापरहित। जाव-यावत्। अभूओवघाडयं-अभूतोपघातिनी-जीवों का विनाश करने वाली नहीं है। अभिकंख-विचार कर। भासं भासिज्जा-भाषा को बोले-संभाषण करे।

**मूलार्थ**-संयमशील साधु और साध्वी को भाषा के विषय में यह जानना चाहिए कि भाषावर्गणा के एकत्रित हुए पुद्गल बोलने से पहले अभाषा और भाषण करते समय भाषा कहलाते हैं, और भाषण करने के पश्चात् वह बोली हुई भाषा अभाषा हो जाती है। साधु या साध्वी को भाषा के इन भेदों को भी जानना चाहिए कि-जो सत्य भाषा, असत्य भाषा, मिश्र भाषा और व्यवहार भाषा है, उन में असत्य और मिश्र भाषा का व्यवहार साधु के लिए सर्वथा वर्जित है, केवल सत्य और व्यवहार भाषा ही उनके लिए आचरणीय है। उसमें भी यदि कभी सत्य भाषा भी सावद्य, सक्रिय, कर्कश, कटुक, निष्ठुर और कर्मों का आस्त्रवण करने वाली, तथा छेदन, भेदन, परिताप और उपद्रव करने वाली एवं जीवों का घात करने वाली हो तो विचारशील साधु ऐसी सत्य भाषा का भी प्रयोग न करे, किन्तु संयमशील साधु या साध्वी उसी सत्य और व्यवहार भाषा-जो कि पापरहित यावत् जीवोपघातक नहीं है-का ही विवेक पूर्वक व्यवहार करे। अर्थात् वह निर्दोष भाषा बोले।

**हिन्दी विवेचन**-प्रस्तुत सूत्र में भाषा के सम्बन्ध में दो बातें बताई गई हैं- १ भाषा की अनित्यता और २-कौन सी भाषा बोलने के योग्य या अयोग्य है। इसमें बताया गया है कि भाषा वर्गणा के पुद्गल जब तक वाणी द्वारा मुखरित नहीं होते, तब तक उन्हें भाषा नहीं कहा जाता। और बोले जाने के बाद भी उन पुद्गलों की भाषा संज्ञा नहीं रह जाती है। इससे स्पष्ट होता है कि जब तक उनका वाणी के द्वारा प्रयोग होता है तब तक भाषा वर्गणा के उन पुद्गलों को भाषा कहते हैं। अतः ताल्वादि व्यापार से वाणी के रूप में व्यवहृत होने से पहले और बाद में वे पुद्गल भाषा के नाम से जाने पहचाने नहीं जाते। जैसे चाक आदि के सहयोग से घड़े के आकार को प्राप्त करने के पहले तथा घड़े के टूट जाने के बाद वह मिट्टी घड़ा नहीं कहलाती है। उसी तरह भाषा वर्गणा के पुद्गल वाणी के रूप में मुखरित होने से पहले और बाद में भाषा नहीं कहलाते हैं। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि भाषा नित्य नहीं, अनित्य है। क्योंकि ताल्वादि के सहयोग से भाषा वर्गणा के पुद्गलों को भाषा के आकार में प्रस्फुटित किया जाता है। इस लिए वह कृतक है और जो पदार्थ कृतक होते हैं, वे अनित्य होते हैं, जैसे घट। इससे यह स्पष्ट हुआ कि भाषा भाषावर्गणा के पुद्गलों का समूह है, वर्ण, गन्ध, रस एवं स्पर्श युक्त है, कृतक है और इस कारण से अनित्य है।

प्रस्तुत सूत्र में दूसरी बात यह कही गई है कि साधु असत्य एवं मिश्र भाषा का बिल्कुल प्रयोग न करे। सत्य एवं व्यवहार भाषा में भी जो सावद्य हो, सक्रिय हो, कर्कश-कठोर हो, कड़वी हो, कर्म बन्ध कराने वाली हो, मर्म का उद्घाटन करने वाली हो तो साधु को ऐसी सत्य भाषा भी नहीं बोलनी चाहिए। इससे यह सिद्ध होता है कि साधु को सदा ऐसी सत्य एवं व्यवहार भाषा का प्रयोग करना चाहिए, जो निरवद्य हो, अनर्थकारी न हो। कठोर एवं कड़वी न हो, दूसरे के मर्म का भेदन करने वाली न हो। अतः साधु को सदा मधुर, निर्दोष एवं निष्पापकारी सत्य एवं व्यवहार भाषा का प्रयोग करना चाहिए।

इसके लिए सूत्रकार ने जो 'सुहुमा' शब्द का प्रयोग किया है, उसका यही अर्थ है कि मुनि को कुशाग्र एवं सूक्ष्म (गहरी) दृष्टि से विचार करके विवेक पूर्वक भाषा का प्रयोग करना चाहिए। परन्तु, वृत्तिकार ने इसका अर्थ यह किया है कि सूक्ष्म-कुशाग्र बुद्धि से सम्यक् पर्यालोचन करने पर कभी-कभी असत्य भाषा भी सत्य का स्थान ग्रहण कर लेती है। जैसे किसी शिकारी या हिंसक द्वारा मृग आदि के विषय में पूछने पर देखने पर भी सत्य को प्रकट नहीं किया जाता। यह ठीक है कि झूठ नहीं बोलना चाहिए, परन्तु साथ में यह भी तो है कि ऐसा सत्य भी नहीं बोलना चाहिए जो दूसरे प्राणी के लिए कष्टकर हो। इस तरह का सत्य भी झूठ हो जाता है। परन्तु, वृत्तिकार के ये विचार कहां तक आगम से मेल खाते हैं, विद्वानों के लिए विचारणीय हैं।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं-

मूलम्-से भिक्खू वा० पुमं आमंतेमाणे आमंति ए वा अप्पडिसुणेमाणे  
 नो एवं वइज्जा-होलित्ति वा गोलित्ति वा वसुलेत्ति वा कुपक्खेत्ति वा घडदासित्ति  
 वा साणेत्ति वा तेणित्ति वा चारिएत्ति वा माइत्ति वा मुसावाइत्ति वा, एयाइं तुमं  
 ते जणगा वा, एयप्पगारं भासं सावज्जं सकिरियं जाव भूओवघाइयं अभिकंख  
 नो भासिज्जा। से भिक्खू वा० पुमं आमंतेमाणे आमंति ए वा अप्पडिसुणेमाणे  
 एवं वइज्जा-अमुगे इ वा आउसोत्ति वा आउसंतारोत्ति वा सावगेत्ति वा उवासगेत्ति  
 वा धम्मिएत्ति वा धम्मपिएत्ति वा, एयप्पगारं भासं असावज्जं जाव अभिकंख  
 भासिज्जा। से भिक्खू वा २ इत्थिं आमंतेमाणे आमंति ए य अप्पडिसुणेमाणिं नो  
 एवं वइज्जा-होली इ वा गोलीत्ति वा इत्थीगमेणं नेयव्वं ॥ से भिक्खू वा २ इत्थिं  
 आमंतेमाणे आमंति ए य अप्पडिसुणेमाणिं एवं वइज्जा-आउसोत्ति वा भइणित्ति  
 वा भोईत्ति वा भगवईत्ति वा साविगेत्ति वा उवासिएत्ति वा धम्मिएत्ति वा,  
 धम्मपिएत्ति वा, एयप्पगारं भासं असावज्जं जाव अभिकंख भासिज्जा ॥१३४ ॥

छाया- स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा पुमांसम् आमन्त्रयन् आमन्त्रितं वा अशृण्वन्तं नैवं  
 वदेत्-होल इति वा गोल इति वा वृषल इति वा कुपक्ष इति वा घटदास इति वा श्वेति वा स्तेन  
 इति वा चारिक इति वा मायीति वा मृषावादीति वा एतानि त्वं तव जनकौ वा एतत्प्रकारां  
 भाषां सावद्यां सक्रियां यावद् भूतोपघातिकाम् अभिकांक्ष्य न भाषेत। स भिक्षुर्वा० पुमांसं  
 आमन्त्रयन् आमन्त्रितो वा अशृण्वन्तं एवं वदेत्-अमुक इति वा आयुष्मन् ! इति वा, आयुष्मन्त  
 इति वा, श्रावक इति वा, उपासक इति वा, धार्मिक इति वा, धर्मप्रिय इति वा, एतत्प्रकारां  
 भाषामसावद्यां यावत् अभिकांक्ष्य भाषेत। स भिक्षुर्वा २ स्त्रियं आमन्त्रयन् आमन्त्रितां वा  
 अशृण्वतीं नो एवं वदेत्-होलीति वा, गोलीति वा, स्त्रीगमेन नेतव्यम्। स भिक्षुर्वा २ स्त्रियं

आमन्त्रयन् आमंत्रितां वा अशृण्वतीम् एवं वदेत्-आयुष्मति इति वा, भगिनि ! इति वा, भवतीति वा, भगवतीति वा, श्रावके ! इति वा, उपासिके ! इति वा, धार्मिके ! इति वा, धर्मप्रिये ! इति वा, एतत्प्रकारां भाषामसावद्यां यावद् अभिकांक्ष्य भाषेत ।

**पदार्थ**-से-वह। भिक्खू वा २-साधु या साध्वी। पुमं-पुरुष को। आमंतेमाणे-आमन्त्रण करता हुआ। आमंति ए वा-अथवा आमन्त्रित किए जाने पर। अप्पडिसुणेमाणं-उसे सुनाई न दे तो उसे। एवं-इस प्रकार। नो वड्ज्जा-न कहे। होलिति वा-हे होल। गोलिति वा-हे गोल ! ये दोनों शब्द अवज्ञा के सूचक हैं, अथवा। वसुलेति वा-हे वृषल ! कुपक्खेति वा-हे कुपक्ष ! घट्टदासिति वा-हे घट्टदास ! इस प्रकार तथा। साणेत्ति वा-हे श्वान-कुत्ते ! तेणेत्ति वा-हे चोर ! चारिएत्ति वा-हे गुप्तचर ! माईत्ति वा-हे छलिए ! मुसावाइत्ति वा-हे मृषावादी-झूठ बोलने वाले ! इस प्रकार न कहे अथवा। एयाइं तुमं-तू ऐसा ही है या। ते जणगा वा-तेरे माता-पिता भी ऐसे ही हैं। एयप्पगारं-इस प्रकार की। भासं-भाषा जो कि। सावज्जं-पाप युक्त। सकिरियं-क्रिया युक्त। जाव-यावत्। भूओवघाइयं-प्राणियों की विनाशक है उसे। अभिकंख-विचार कर-मन में सोचकर। नो भासिज्जा-साधु ऐसी भाषा न बोले। से भिक्खू वा-वह साधु या साध्वी पुमं-पुरुष को। आमंतेमाणे-बुलाता हुआ। आमंति ए वा-बुलाए जाने पर। अप्पडिसुणेमाणे-उसके न सुनने पर। एवं वड्ज्जा-इस प्रकार कहे। अमुगेइ वा-हे अमुक ! अर्थात् उसका जो नाम हो उस नाम से। आउसोत्ति वा-अथवा हे आयुष्मन् ! इस प्रकार। आउसंतारोत्ति वा-अथवा हे आयुष्मानों ! सावगेत्ति वा-हे श्रावक ! उवासगेत्ति वा-हे उपासक ! अथवा। धम्मिएत्ति वा-हे धार्मिक ! अथवा। धम्मपिएत्ति वा-हे धर्म प्रिय ! एयप्पगारं-इस प्रकार की। असावज्जं-असावद्य-पाप रहित। जावं-यावत्। अभिकंख-विचार कर। भासं-भाषा को। भासिज्जा-बोले। से भिक्खू वा-वह साधु या साध्वी। इत्थिं-स्त्री को। आमंतेमाणे-आमन्त्रित करता हुआ-बुलाता हुआ। आमंति ए वा-अथवा आमन्त्रित किए जाने पर। अप्पडिसुणेमाणं-उसके न सुनने पर। एवं-इस प्रकार। नो वड्ज्जा-न कहे यथा। होलीइ वा-हे होली इस प्रकार तथा। गोलीति वा-हे गोली इस प्रकार। इत्थीगमेणं-पूर्वोक्त सम्पूर्ण आलापक स्त्री के सम्बन्ध में भी। नेयव्वं-जान लेने चाहिए। से भिक्खू वा-वह साधु या साध्वी। इत्थिं-स्त्री को। आमंतेमाणे-आमन्त्रित करता हुआ। आमंति ए वा-अथवा आमन्त्रित किए जाने पर। अप्पडिसुणेमाणं-उसके न सुनने पर। एवं वड्ज्जा-इस प्रकार कहे, जैसे कि। आउसोत्ति वा-हे आयुष्मति ! भइणिति वा-हे भगिनि ! भोईति वा-हे पूज्ये ! भगवईति वा-हे भगवती ! तथा। साविगेत्ति वा-हे श्राविके ! उवासिएत्ति वा-हे उपासिके ! धम्मिएत्ति वा-हे धार्मिके ! और। धम्मपिएत्ति वा-हे धर्म प्रिये ! एयप्पगारं-इस प्रकार की। भासं-भाषा को जो कि। असावज्जं-असावद्य है। जाव-यावत्। अभिकंख-विचार कर। भासिज्जा-बोले।

**मूलार्थ**-संयमशील साधु या साध्वी पुरुष को आमंत्रित करते हुए उसके न सुनने पर उसे हे होल ! हे गोल ! हे वृषल ! हे कुपक्ष ! हे घट्टदास ! हे श्वान ! हे चोर ! हे गुप्तचर ! हे कपटी ! हे मृषावादी ! तुम हो क्या और तुम्हारे माता-पिता भी इसी प्रकार के हैं। विवेक शील साधु इस तरह की सावद्य, सक्रिय यावत् जीवोपघातिनी भाषा को न बोले। किन्तु संयमशील साधु अथवा साध्वी कभी किसी व्यक्ति को आमंत्रित कर रहे हों और वह न सुने तो उसे इस प्रकार संबोधित करे-हे अमुक व्यक्ति ! हे आयुष्मन् ! हे आयुष्मानों ! हे श्रावक ! हे उपासक ! हे धार्मिक ! हे धर्म प्रिय !

आदि इस प्रकार की निरवद्य पाप रहित भाषा को बोले। इसी तरह संयमशील साधु या साध्वी स्त्री को बुलाते समय उसके न सुनने पर उसे हे होली ! हे गोली ! इत्यादि जितने सम्बोधन पुरुष के प्रति ऊपर दिए गए हैं, उन नीच संबोधनों से संबोधित न करे। किन्तु उसके न सुनने पर उसे हे आयुष्पति ! हे भगिनि ! हे बहिन ! हे पूज्य ! हे भगवति ! हे श्राविके ! हे उपासिके ! हे धार्मिके और हे धर्मप्रिये ! इत्यादि पाप रहित कोमल एवं मधुर शब्दों से संबोधित करे।

**हिन्दी विवेचन**— प्रस्तुत सूत्र में साधु को किसी भी गृहस्थ के प्रति हलके एवं अवज्ञापूर्ण शब्दों का प्रयोग करने का निषेध किया गया है। इसमें बताया गया है कि किसी पुरुष या स्त्री को पुकारने पर वह नहीं सुनता हो तो साधु उन्हें निम्न श्रेणी के सम्बोधनों से सम्बोधित न करे, उन्हें हे गोलक, मूर्ख आदि अलंकारों से विभूषित न करे। क्योंकि, इससे सुनने वाले के मन को आघात लगता है और साधु की असभ्यता एवं अशिष्टता प्रकट होती है। इसलिए साधु को ऐसी सदोष भाषा नहीं बोलनी चाहिए। यदि कभी कोई बुलाने पर नहीं सुन रहा हो तो उसे मधुर, कोमल एवं प्रियकारी सम्बोधनों से पुकारना चाहिए, उसे हे धर्मप्रिय, देवानुप्रिय, आर्य, श्रावक अथवा हे धर्मप्रिये, देवानुप्रिये, श्राविका आदि शब्दों से सम्बोधित करना चाहिए। इससे प्रत्येक प्राणी के मन में हर्ष एवं उल्लास पैदा होता है और साधु के प्रति भी उसकी श्रद्धा बढ़ती है। अतः साधु-साध्वी को सदा मधुर, निर्दोष एवं कोमल भाषा का ही प्रयोग करना चाहिए।

इसी विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्**—से भि० नो एवं वइज्जा-नभोदेवेत्ति वा गज्जदेवेत्ति वा विज्जुदेवेत्ति वा पवुट्ठदे० निवुट्ठदेवेत्ति वा पडउ वा वासं मा वा पडउ, निप्फज्जउ वा सस्सं मा वा नि० विभाउ वा रयणी मा वा विभाउ, उदेउ वा सूरिए मा वा उदेउ, सो वा राया जयउ वा मा जयउ, नो एयप्पगारं भासं भासिज्जा । पन्नवं से भिक्खू वा २ अंतलिक्खेत्ति वा गुज्झाणुचरिएत्ति वा संमुच्छिए वा निवइए वा पओए वइज्जा वुट्ठबलाहगेत्ति वा, एयं खलु तस्स भिक्खुस्स भिक्खुणीए वा सामग्गियं जं सव्वट्ठेहिं समिए सहिए सया जइज्जासि, तिबेमि ॥१३५ ॥

**छाया**— स भिक्षुः भिक्षुकी वा नैवं वदेत्-नभो देव इति वा, गर्जति देव इति वा विद्युद् देव इति वा प्रवृष्टो देव इति वा निवृष्टो देव इति वा, पततु वा वर्षा मा वा पततु, निष्पद्यतां वा सस्यं मा वा निष्पद्यताम्, विभातु वा रजनी मा वा विभातु, उदेतु वा सूर्यः मा वा उदेतु, स वा राजा जयतु वा मा जयतु, नो एतत्प्रकारं भाषां भाषेत् । प्रज्ञावान् स भिक्षुर्वा २ अन्तरिक्षमिति वा गुह्यानुचरितमिति वा संमूर्च्छितो वा निपतति वा पयोदः वदेत्-वृष्टो बलाहक इति वा । एतत् खलु तस्य भिक्षोः भिक्षुक्याः वा सामग्र्यं यत् सर्वार्थैः समितः सहितः सदा यतेत, इति ब्रवीमि ।

**पदार्थ**—से भिक्खू वा २-वह साधु अथवा साध्वी। एवं-इस प्रकार। नो वड्जा-न बोले, यथा-। नभोदेवेति वा-आकाश देव है। गज्जदेवेति वा-गज-बादलों की गर्जना देव है। विज्जुदेवेति वा-विद्युत देव है या। पवुट्ठवे-देव वर्षता है। निवुट्ठदेवेति वा-निरन्तर देव बरसता है। पडउ वा वासं-वर्षा बरसे। मा वा पडउ-या वर्षा न बरसे। निप्फज्जउ वा सस्सं-धान्य उत्पन्न हों। मा वा निप्फज्जउ सस्सं-धान्य उत्पन्न न हों। विभाउ वा रयणी-रात्रि व्यतिक्रान्त या शोभा युक्त हो। मा वा विभाउ-या शोभा युक्त न हो। उदेउ वा सूरिए-सूर्य उदय हो। मा वा उदेउ-या उदय न हो। सो वा-वह। राथा-राजा। जयउ-विजयी बने। वा-या। मा जयउ-विजयी न बने। एयप्पगारं-इस प्रकार की। भासं-भाषा को। नो भासिज्जा-न बोले। पन्नवं-प्रज्ञावान्-बुद्धिमान्। से भिक्खू वा-वह साधु या साध्वी यदि कारण हो तो। अंतलिक्खेति वा-आकाश को आकाश कहे, इस प्रकार यावन्मात्र आकाश के नाम हैं उन नामों से आकाश को पुकारे। गुज्झाणुचरिएति वा-या यह आकाश देवताओं के चलने का मार्ग है इस लिए इसको गुह्यानुचरित भी कहते हैं अथवा। संमुच्छिण-संमुच्छिम जल। निवड्इए-पड़ता है या। पयोए-यह मेघ जल बरसाता है, ऐसा। वड्जा-कहे या। वुट्ठवलाहगेति-ऐसा कहे कि बादल बरस रहा है। एयं खलु-निश्चय ही यह। तस्स-उस। भिक्खुस्स-भिक्षु। वा-और। भिक्खुणीए-साध्वी का। सामग्गियं-सम्पूर्ण आचार है। जं-जो। सव्वट्ठेहिं-ज्ञान दर्शन और चारित्र रूप अर्थों से युक्त और। समिए-पांच समितियों के। सहिए-सहित। सया-सदा। जइज्जासि-निरवद्य भाषा बोलने का यत्न करे। तिबेमि-इस प्रकार मैं कहता हूँ।

**मूलार्थ**—संयमशील साधु अथवा साध्वी इस प्रकार न कहे कि आकाश देव है, गर्ज ( बादल ) देव है, विद्युत देव है, देव बरस रहा है, या निरन्तर बरस रहा है, एवं वर्षा बरसे या न बरसे। धान्य उत्पन्न हों या न हों। रात्रि व्यतिक्रान्त हो या न हो। सूर्य उदय हो या न हो। और यह भी न कहे कि इस राजा की विजय हो या इसकी विजय न हो। आवश्यकता पड़ने पर प्रज्ञावान् साधु अथवा साध्वी इस प्रकार बोले कि यह आकाश है, देवताओं के गमनागमन करने से इसका नाम गुह्यानुचरित भी है। यह पयोधर जल देने वाला है। संमुच्छिम जल बरसाता है, या यह मेघ बरसता है, इत्यादि भाषा बोले। जो साधु या साध्वी साधना रूप पांच समिति तथा तीन गुप्ति से युक्त हैं उनका यह समग्र आचार है, अतः उसके परिपालन में वे सदा प्रयत्नशील रहते हैं, इस प्रकार मैं कहता हूँ।

**हिन्दी विवेचन**— प्रस्तुत सूत्र में यह स्पष्ट रूप से बताया गया है कि संयमनिष्ठ एवं विवेकशील साधु-साध्वी को अयथार्थ भाषा का भी प्रयोग नहीं करना चाहिए। जैसे-आकाश, बादल, बिजली, वर्षा आदि को देव कहकर नहीं पुकारना चाहिए। प्राकृतिक दृश्यों में दैवी शक्ति की कल्पना करके उन्हें देवत्व के सिंहासन पर बैठाना यथार्थता से बहुत दूर है। अतः इसमें असत्यता का अंश भी रहता है। इस कारण साधु को उन्हें देवत्व के सम्बोधन से न पुकार कर व्यवहार में प्रचलित आकाश, बादल, बिजली या विद्युत आदि शब्दों से ही उनका उच्चारण करना चाहिए।

इसी तरह साधु-साध्वी को यह भी नहीं कहना चाहिए कि वर्षा हो या न हो, धान्य एवं अन्न उत्पन्न हो या न हो, शीघ्रता से रात्रि व्यतीत होकर सूर्योदय हो या न हो, अमुक राजा विजयी हो या न हो।

क्योंकि इस तरह की भाषा बोलने से संयम में अनेक दोष लगते हैं, अतः साधु को ऐसी सदोष भाषा का प्रयोग भी नहीं करना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'संमुच्छिष्टे वा निवृत्ते' पाठ का अर्थ है— बादल सम्पूर्ण जल बरसाता है। अर्थात् सूर्य की किरणों के ताप से समुद्र, सरिता आदि में स्थित जल वाष्प रूप में ऊपर उठता है और ऊपर ठण्डी हवा आदि के निमित्त से फिर पानी के रूप को प्राप्त करके बादलों के रूप में आकाश में घूमता है और हवा, पहाड़ एवं बादलों की पारस्परिक टक्कर से बरसने लगता है<sup>१</sup>।

इससे यह स्पष्ट हो गया कि साधु को सदा मधुर, प्रिय, यथार्थ एवं निर्दोष भाषा का ही प्रयोग करना चाहिए।

'सिद्धेभि' की व्याख्या पूर्ववत् समझें।

॥ प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

१ इस विषय में विशेष जानकारी करने के जिज्ञासुओं को स्थानाङ्ग सूत्र के चतुर्थ स्थान का अवलोकन करना चाहिए।

## चतुर्थ अध्ययन-भाषैषणा

### द्वितीय उद्देशक

साधु को कैसी भाषा बोलनी चाहिए और किस तरह की भाषा नहीं बोलनी चाहिए इसका प्रथम उद्देशक में विचार किया गया है। अब प्रस्तुत उद्देशक में इसी विषय पर विस्तार से प्रकाश डालते हुए सूत्रकार कहते हैं-

मूलम्—से भिक्खू वा २ जहा वेगइयाइं रूवाइं पासिज्जा-तहावि ताइं नो एवं वइज्जा-गंडी गंडीति वा कुट्ठी कुट्ठीति वा जाव महुमेहुणीति वा हत्थच्छिन्नं वा हत्थच्छिन्नेत्ति वा एवं पायच्छिन्नेत्ति वा नक्कच्छिण्णेइ वा कण्णच्छिन्नेइ वा उट्ठच्छिन्नेत्ति वा, जेयावन्ने तहप्पगारा एयप्पगाराहिं भासाहिं बुइया २ कुप्पंति माणवा ते यावि तहप्पगाराहिं भासाहिं अभिकंख नो भासिज्जा । से भिक्खू वा० जहा वेगइयाइं रूवाइं पासिज्जा तहावि ताइं एवं वइज्जा, तंजहा-ओयंसी ओयंसिन्ति वा तेयंसी तेयंसीति वा जसंसी जसंसीइ वा वच्चंसी वच्चंसीइ वा अभिरूयंसी २ पडिरूवंसी २ पासाइयं २ दरिसणिज्जं दरिसणीयत्ति वा, जेयावन्ने तहप्पगारा तहप्पगाराहिं भासाहिं बुइया २ नो कुप्पंति माणवा ते यावि तहप्पगारा एयप्पगाराहिं भासाहिं अभिकंख भासिज्जा । से भिक्खू वा० जहा वेगइयाइं रूवाइं पासिज्जा, तंजहा वप्पाणि वा जाव गिहाणि वा, तहावि ताइं नो एवं वइज्जा, तंजहा-सुक्कडे इ वा सुट्ठुकडे इ वा साहुकडे इ वा कल्लाणे इ वा करणिज्जे इ वा, एयप्पगारं भासं सावज्जं जाव नो भासिज्जा । से भिक्खू वा० जहा वेगइयाइं रूवाइं पासिज्जा, तंजहा-वप्पाणि वा जाव गिहाणि वा, तहावि ताइं एवं वइज्जा, तंजहा-आरम्भकडे इ वा सावज्जकडे इ वा पयत्तकडे इ वा पासाइयं पासाइए वा दरिसणीयं दरिसणीयंति वा अभिरूवं अभिरूवंति वा पडिरूवं पडिरूवंति वा एयप्पगारं भासं असावज्जं जाव भासिज्जा ॥१३६॥

छाया- स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा यथा वैककानि रूपाणि कानिचिद् रूपाणि पश्येत्



तथापि तानि नो एवं वदेत् तद्यथा गंडी गंडी इति वा कुष्ठी कुष्ठीति वा यावत् मधुमेही मधुमेहीति वा हस्तछिन्नं हस्तछिन्नइति वा एवं पादच्छिन्नं पादच्छिन्न इति वा नासिकाछिन्न इति वा कर्णछिन्न इति वा ओष्ठछिन्न इति वा, ये यावन्तः तथाप्रकारा ( तान् ) एतत्प्रकाराभिः भाषाभिः उक्ताः २ कुप्यन्ति मानवाः तांश्चापि तथाप्रकाराभिः भाषाभिः अभिकांक्ष्य नो भाषेत ।

स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा यथा वैककानि रूपाणि पश्येत् तथापि तानि एवं वदेत्— तद्यथा-ओजस्विनं ओजस्वीति वा तेजस्विनं तेजस्वीति वा, यशस्विनं यशस्वीति वा वर्चस्विनं वर्चस्वीति वा अभिरूपवन्तं अभिरूपवानिति, प्रतिरूपिणं प्रतिरूपीति वा प्रासादनीयं प्रासादनीयमिति, दर्शनीयं दर्शनीयमिति वा, ये यावन्तः तथाप्रकाराः ( तान् ) तथाप्रकाराभिः भाषाभिः उक्ताः २ नो कुप्यन्ति मानवाः तांश्चापि तथाप्रकारान् एतत्प्रकाराभिः भाषाभिः अभिकांक्ष्य भाषेत ।

स भिक्षुर्वा यथा वैककानि रूपाणि पश्येत् तद्यथा-वप्राणि वा यावद् गृहाणि वा तथापि तानि नो एवं वदेत् तद्यथा-सुकृतमिति वा सुष्ठुकृतमिति वा साधुकृतमिति वा, कल्याणमिति वा करणीयमिति वा, एतत् प्रकारां भाषां सावद्यां यावत् नो भाषेत । स भिक्षुर्वा यथा वैककानि रूपाणि पश्येत् तद्यथा वप्राणि वा यावद् गृहाणि वा तथापि तानि एवं वदेत्, तद्यथा आरम्भकृतमिति वा सावद्यकृतमिति वा प्रयत्नकृतमिति वा प्रासादीयं प्रासादीयमिति वा दर्शनीयं दर्शनीयमिति वा अभिरूपं अभिरूपमिति वा प्रतिरूपं वा प्रतिरूपमिति वा एतत्प्रकारां भाषां असावद्यां यावद् भाषेत ।

पदार्थ—से भिक्खू वा-वह साधु या साध्वी । जहावि-यद्यपि । एगइयाइं-कई एक । रूवाइं-रूपों को । पासिज्जा-देखता है । तहावि-तथापि उन्हें देखकर । नो एवं वइज्जा-इस प्रकार न कहे । तंजहा-जैसे कि । गंडी-जिसको गण्ड रोग-कण्ठमाला या पादशून्य हो गया हो उसे गण्डी कहते हैं उसको । गंडीति-हे गण्डी ! ऐसे कहना तथा । कुट्ठी-कुष्ठी-कुष्ठ रोग वाले को । कुट्ठीति वा-हे कुष्ठी ! कहना । जाव-यावत् । मधुमेहणीति-मधुमेह के रोगी को मधुमेही कहकर पुकारना । वा-अथवा । हत्थछिन्नं-जिसका हाथ कट गया हो उसे । हत्थच्छिन्नेति वा-हाथ कटा कहना । एवं-इसी प्रकार । पायछिन्नेति वा-पैर कटे को पैर कटा कहना । नक्कछिन्नेइ वा-नाक कटे को नाक कटा या नकटा कहना और । कण्णछिन्नेइ वा-कान कटे को कान कटा तथा । उट्ठछिन्नेति वा-जिसके ओष्ठ का छेदन हो गया हो उसे ओष्ठ कटा कहना । जेयावन्ने-जो जितने भी । तहप्पगारा-तथा प्रकार के हैं उनको । एयप्पगाराहिं-इस प्रकार की । भासाहिं-भाषाओं से । बुइया-सम्बोधित करने पर । माणवा-वे पुरुष । कुप्पंति-क्रोधित हो जाते हैं अतः । ते यावि-उनको फिर । तहप्पगाराहिं-तथा प्रकार की । भासाहिं-भाषाओं से । अभिक्खं-विचार कर अर्थात् यह भाषा सदोष अथ च कष्ट प्रद है ऐसी पर्यालोचना करके । नो भासिज्जा-उन्हें ऐसी भाषा से सम्बोधित न करे ।

से भिक्खू वा-वह साधु या साध्वी । जहावि-यद्यपि । एगइयाइं रूवाइं-कई रूपों को । पासिज्जा-देखता है । तहावि-तथापि । ताइं-उनको देखकर । एवं वइज्जा-इस प्रकार कहे । तंजहा-जैसे कि । ओयंसी-

ओजस्वी को- यदि व्याधि युक्त व्यक्ति में कोई विशिष्ट गुण हो तो उसको सामने रखकर उसे आमन्त्रित करे और यदि वह ओजस्वी है तो उसको। ओयंसिति वा-ओजस्वी कह कर सम्बोधित करे, इसी प्रकार। तेयंसी-तेजस्वी को। तेयंसीति वा-तेजस्वी-तेज वाला कहे। जसंसी-यशस्वी-यश वाले को। जसंसी इ वा-यशस्वी कह कर पुकारें। वच्यंसी-वर्चस्वी जिसका वचन आदेश हो अथवा लब्धि युक्त हो तो उसे। वच्यंसी इ वा-वर्चस्वी कहे। अभिरूयंसी-रूप सम्पन्न को रूपवान कहे। पडिरूवंसी-प्रतिरूप को प्रतिरूप शब्द से बुलाए, इसी प्रकार। पासाइयं २-प्रसाद गुण युक्त को प्रासादीय और। दरिसणिज्जं-दर्शनीय को। दरिसणीयति वा-दर्शनीय कहकर सम्बोधित करे। जेयावन्ने-जो जितने भी। तहप्पगारा-तथा प्रकार के हैं उनको। तहप्पगाराहिं-तथा प्रकार की। भासाइं-भाषाओं से। बुइया २-सम्बोधित करने पर वे। माणवा-मनुष्य। नो कुप्पंति-क्रोधित नहीं होते हैं। अतः। ते यावि-वे भी। तहप्पगारा-जो कि उक्त प्रकार के हैं उनके प्रति। एयप्पगाराहिं-इस प्रकार की। भासाहिं-भाषाओं द्वारा। अभिकंख-सोच विचार कर। भासिज्जा-बोले।

से भिक्खू वा-वह साधु या साध्वी। जहावि-यद्यपि। एगइयाइं-कितने एक। रूवाइं-रूपों को। पासिज्जा-देखता है। तंजहा-जैसे कि-। वप्पाणि वा-खेतों की क्यारिणं। जाव-यावत्। गिहाणि वा-घर आदि। तहावि-तथापि। ताइं-उनको देखकर। एवं-इस प्रकार। नो वइज्जा-न कहे। तंजहा-जैसे कि-। सुक्कडेइ वा-अमुक वस्तु को देखकर यह अच्छी बनी है। सुट्टुकडेइ वा-यह बहुत सुन्दर बनी है। साहुकडेइ वा-साधु कृत है। कल्लाणे इ वा-यह कल्याणकारी है। करणिज्जे इ वा-यह करने योग्य है इत्यादि। एयप्पगारं-इस प्रकार की। भासं-भाषा जो कि। सावज्जं-सावद्य है। जाव-यावत्। नो भासिज्जा-न बोले। से भिक्खू वा-वह साधु या साध्वी। जहावि-यद्यपि। एगइयाइं-कितने एक। रूवाइं-रूपों को। पासिज्जा-देखता है। तंजहा-जैसे कि-। वप्पाणि वा-खेतों की क्यारिणं। जाव-यावत्। गिहाणि वा-घर आदि। तहावि-तथापि। ताइं-उनको देखकर। एवंवइज्जा-इस प्रकार कहे। तंजहा-जैसे कि-। आरम्भकडेइ वा-यह आरम्भ कृत है। सावज्जकडे इ वा-यह सावद्य कृत है, तथा। पयत्तकडे इ वा-यह कार्य प्रयत्नकृत-प्रयत्नसाध्य है, इसी प्रकार। पासाइयं-प्रासादीय को। पासाइए वा-प्रासादीय और। दरिसणिज्जं-दर्शनीय को। दरिसणीयति वा-दर्शनीय कहे तथा। अभिरूवं-अभिरूप-रूप सम्पन्न को। अभिरूवंति वा-अभिरूप और। पडिरूवं-प्रतिरूप को। पडिरूवंति वा-प्रतिरूप बतलावे। एयप्पगारं-इस प्रकार की। भासं-भाषा को। असावज्जं-असावद्य। जाव-यावत् निर्दोष है। भासिज्जा-बोले।

मूलार्थ-संयमशील साधु और साध्वी किसी रोगी आदि को देखकर ऐसा न कहे- हे गंडी! हे कुष्टी! हे मधुमेही! इत्यादि इसी प्रकार यावत् मात्र रोग हैं उनका नाम लेकर उस व्यक्ति को-जो कि उन रोगों से पीड़ित है:- आमन्त्रित न करे। इसी प्रकार जिसका हाथ, पैर, कान, नाक, ओष्ठ आदि कटे हुए हों, उसे कटे हाथ वाला, लंगड़ा, कटे कान वाला, नकटा या कटे हुए ओष्ठ वाला आदि शब्दों से संबोधित न करे। इस प्रकार की भाषा के बोलने से लोग कुपित हो सकते हैं, उनके मन को आघात लगता है, अतः भाषा समिति का विवेक रखने वाला साधु ऐसी भाषा का प्रयोग न करे। परन्तु, यदि किसी व्यक्ति में कोई गुण हो तो उसे उस गुण से सम्बोधित करके बुला सकता है। जैसे कि-हे ओजस्वी, हे तेजस्वी, हे यशस्वी, हे वर्चस्वी, हे अभिरूप, हे प्रतिरूप, हे प्रेक्षणीय और हे दर्शनीय इत्यादि। इस प्रकार की निरवद्य भाषा के प्रयोग से सुनने वाले मनुष्य

के मन में क्रोध नहीं, प्रत्युत हर्ष भाव पैदा होता है, अतः वह ऐसी मधुर एवं निर्दोष भाषा बोल सकता है। इसी प्रकार साधु अथवा साध्वी बावड़ी, कुंए, खेतों के क्यारे यावत् घरों को देखकर उनके सम्बन्ध में इस प्रकार न कहे कि यह अच्छा बना हुआ है, बहुत सन्दर बना हुआ है, इस पर अच्छा कार्य किया गया है, यह कल्याणकारी है और यह कार्य करने योग्य है। इस प्रकार की भाषा से सावद्य क्रिया का अनुमोदन होता है। अतः साधु इस प्रकार की सावद्य भाषा न बोले। किन्तु उन बावड़ी यावत् घरों को देखकर इस प्रकार कहे कि यह आरम्भ कृत है, सावद्य है और यह प्रयत्न साध्य है, तथा यह देखने योग्य है, रूपसम्पन्न है और प्रतिरूप है। इस प्रकार की निरवद्य भाषा का प्रयोग करे।

**हिन्दी विवेचन**— प्रस्तुत सूत्र में स्पष्ट रूप से बताया गया है कि यदि कोई व्यक्ति गण्डी, कुष्ट (कोढ़) और मधुमेह इत्यादि भयंकर रोगों से पीड़ित हो या उसका हाथ, पैर, नाक, कान ओष्ठ आदि कोई अंग कटा हुआ हो, तो साधु को उसे उस रोग एवं कटे हुए अंगों के नाम से सम्बोधित करके नहीं बुलाना चाहिए। जैसे कि—कोढ़ के रोगी को कोढ़ी, अन्धे को अन्धा या नाक कटे हुए व्यक्ति को नकटा कह कर पुकारना साधु को नहीं कल्पता। क्योंकि, पहले तो वह उक्त बीमारियों एवं अंगोपांगों की हीनता के कारण परेशान, दुःखी एवं चिन्तित है। फिर उसे उस रूप में सम्बोधित करने से उसके मन को अवश्य ही आघात पहुंचेगा और उसके मन में साधु के प्रति दुर्भावना जागृत होगी। वह यह भी सोच सकता है कि यह साधु कितना असभ्य एवं असंस्कृत है कि साधना के पथ पर गतिशील होने के पश्चात् भी इसकी दूसरे व्यक्ति को चिढ़ाने, परेशान करने एवं मजाक उड़ाने की दुष्ट मनोवृत्ति नहीं गई है। वस्तुतः वेश के साथ अभी इसके अन्तर जीवन का परिवर्तन नहीं हुआ है। इससे उसके मन में साधु से प्रतिशोध लेने की भावना भी जागृत हो सकती है। अस्तु साधु को किसी के मन को चुभने वाली भाषा भी नहीं बोलनी चाहिए। इससे दूसरे व्यक्ति की मानसिक हिंसा होती है, इसलिए साधु को प्रत्येक व्यक्ति को, चाहे वह रोगी हो, अपंग हो, अंगहीन हो सदा प्रिय एवं मधुर सम्बोधनों से सम्बोधित करना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र में गण्ड, कुष्ट और मधुमेह तीन रोगों का नाम निर्देश किया गया है और 'कुट्टीति वा जाव' पद में यावत् शब्द से उन रोगों की ओर भी इशारा कर दिया है जिसका उल्लेख आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के धृताध्ययन में किया गया है। ये तीनों असाध्य रोग माने गए हैं। गण्ड—यह वात प्रधान रोग होता है, इस रोग का आक्रमण होने पर मनुष्य के पैर एवं गिट्टे में सूजन आ जाता है और कोढ़ एवं मधुमेह का रोग तो असाध्य रोग के रूप में प्रसिद्ध ही है। अतः साधु को इन असाध्य रोगों से पीड़ित एवं अंगहीन व्यक्ति को पापकारी एवं मर्म भेदी शब्दों से सम्बोधित नहीं करना चाहिए।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्**—से भिक्खू वा २ असणं वा ४ उवक्खडियं तहाविहं नो एवं वइज्जा, तं०—सुकडेत्ति वा सुट्टुकडे इ वा साहुकडे इ वा कल्लाणे इ वा करणिज्जे इ वा, एयप्पगारं भासं सावज्जं जाव नो भासिज्जा। से भिक्खू वा २ असणं वा ४ उवक्खडियं पेहाय एवं वइज्जा—तं० आरंभकडेत्ति वा सावज्जकडेत्ति वा

पयत्तकडे इ वा भद्दयं भद्देति वा ऊसढं ऊसढे इ वा रसियं २ मणुन्नं २ एयप्पगारं  
भासं असावज्जं जाव भासिज्जा ॥१३७॥

छाया- स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा अशनं वा ४ उपस्कृतं तथाविधं नो एवं वदेत्,  
तद्यथा- सुकृतमिति वा सुष्ठुकृतमिति वा साधुकृतमिति वा कल्याणमिति वा करणीयमिति  
वा एतत्प्रकारां भाषां सावद्यां यावत् नो भाषेत ।

स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा अशनं वा ४ उपस्कृतं प्रेक्ष्य एवं वदेत्, तद्यथा आरम्भकृतमिति  
वा सावद्यकृतमिति वा प्रयत्नकृतमिति वा भद्रकं भद्रमिति वा उच्छ्रितं उच्छ्रितमिति वा रसितं  
२ मनोज्ञं २ एतत्प्रकारां भाषां असावद्यां यावत् भाषेत् ।

पदार्थ-से भिक्खू वा २-वह-संयमशील साधु या साध्वी । असणं वा ४-अशनादिक चतुर्विध  
आहार अर्थात् अशन पान खादिम और स्वादिम रूप । उवक्खडियं-उपस्कृत-तैयार किए हुए । तहाविहं-तथाविध  
आहार-पदार्थ को । एवं-इस प्रकार । नो वड्ज्जा-न कहे- । तं-जैसे कि- । सुकडेति वा-यह भोजन अच्छा  
बनाया हुआ है । सुदुत्तुकडे इ वा-यह भोजन बहुत अच्छा बनाया गया है । साहुकडे इ वा-यह भोजन श्रेष्ठ  
बनाया गया है । कल्लाणे इ वा-यह भोजन कल्याणकारी है तथा । करणिज्जे इ वा-यह कार्य अवश्य करने योग्य  
है । एयप्पगारं-साधु इस प्रकार की । सावज्जं-सावद्य । जाव-यावत्-प्राणियों का घात करने वाली । भासं-  
भाषा । नो भासिज्जा-न बोले । से भिक्खू वा २-वह साधु या साध्वी । उवक्खडियं-उपस्कृत-तैयार किए हुए ।  
असणं वा ४-अशन, पान, खादिम और स्वादिम रूप चतुर्विध आहार को । पेहाय-देखकर । एवं वड्ज्जा-इस  
प्रकार कहे । तंजहा-जैसे कि । आरम्भकडेति वा-यह आहार आरम्भ कृत अर्थात् आरम्भ से बनाया गया है ।  
सावज्ज कडे इ वा-यह सावद्य कार्य है । पयत्तकडे इ वा-यह आहार बड़े प्रयत्न से तैयार किया गया है, या ।  
भद्दयं-भद्र पदार्थ को । भद्देति वा-भद्र कहे । ऊसढं-वर्ण, गन्ध, रसादि से युक्त पदार्थ को । ऊसढे इ वा-वर्ण,  
गन्ध, रसादि युक्त कहे और । रसियं २-सरस को सरस तथा । मणुन्नं २-मनोज्ञ को मनोज्ञ कहे । एयप्पगारं-इस  
प्रकार की । असावज्जं-असावद्य-निष्पाप । जाव-यावत् प्राणियों का विनाश न करने वाली । भासं-भाषा को ।  
भासिज्जा-बोले ।

मूलार्थ-संयमशील साधु और साध्वी उपस्कृत-तैयार हुए-अशनादि चतुर्विध आहार को  
देखकर इस प्रकार न कहे कि यह आहारादि पदार्थ सुकृत है, सुष्ठुकृत है और साधु कृत है तथा  
कल्याणकारी और अवश्य करणीय है । साधु इस प्रकार की सावद्य यावत् जीवोपघातिनी भाषा न  
बोले ।

किन्तु संयमशील साधु या साध्वी उपस्कृत अशनादि चतुर्विध आहार को देखकर इस  
प्रकार कहे कि यह आहारादि पदार्थ बड़े आरम्भ से बनाया गया है । यह सावद्य पाप युक्त कार्य है  
यह अत्यन्त यत्न से बनाया हुआ है, यह भद्र अर्थात् वर्णगंध रसादि से युक्त है, सरस है और मनोज्ञ  
है, साधु ऐसी निरवद्य एवं निष्पाप भाषा का प्रयोग करे ।

हिन्दी विवेचन- प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि साधु-साध्वी को आहार आदि के  
सम्बन्ध में यह नहीं कहना चाहिए कि यह आहार अच्छा बना है, स्वादिष्ट बना है, बहुत अच्छे ढंग से

पकाया गया है। क्योंकि, आहार ६ काय के आरम्भ से बनता है, अतः उसकी प्रशंसा एवं सराहना करना ६ कायिक जीवों की हिंसा का अनुमोदन करना है और साधु हिंसा का पूर्णतया अर्थात् तीन करण और तीन योग से त्यागी होता है। अतः इस प्रकार की भाषा बोलने से उसके अहिंसा व्रत में दोष लगता है। इस कारण संयमनिष्ठ मुनि को ऐसी सावध भाषा का प्रयोग नहीं करना चाहिए। यदि कभी प्रसंगवश कहना ही हो तो वह ऐसा कह सकता है कि यह आरम्भीय (आरम्भ से बना हुआ) है, सरस, वर्ण, गन्ध, रस एवं स्पर्श वाला है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि साधु उसके यथार्थ रूप को प्रकट कर सकता है, परन्तु, सावध भाषा में आहार आदि की प्रशंसा एवं सराहना नहीं कर सकता।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से भिक्खू वा भिक्खुणी वा मणुस्सं वा गोणं वा महिसं वा मिगं वा पसुं वा पक्खिं वा सरीसिवं वा जलचरं वा सेत्तं परिवूढकायं पेहाए नो एवं वइज्जा-थूले इ वा पमेइले इ वा वट्टे इ वा वज्जे इ वा पाइमे इ वा, एयप्पगारं भासं सावज्जं नो भासिज्जा ॥

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा मणुस्सं वा जाव जलयरं वा सेत्तं परिवूढकायं पेहाए एवं वइज्जा-परिवूढकायेत्ति वा उवचियकाएत्ति वा थिरसंघयणेत्ति वा चियमंससोणिएत्ति वा बहुपडिपुनइंदिएत्ति वा एयप्पगारं भासं असावज्जं जाव भासिज्जा । से भिक्खू वा २ विरूवरूवाओ गाओ पेहाए नो एवं वइज्जा, तंजहा-गाओ दुज्जाओत्ति वा दम्पेत्ति वा, गोरहत्ति वा वाहिमत्ति वा रहजोग्गात्ति वा, एयप्पगारं भासं सावज्जं जाव नो भासिज्जा ।

से भि० विरूवरूवाओ गाओ पेहाए एवं वइज्जा, तंजहा-जुवंगवित्ति वा धेणुत्ति वा रसवइत्ति वा हस्से इ वा महल्ले इ वा महव्वए इ वा संवहणित्ति वा, एयप्पगारं भासं असावज्जं जाव अभिकंख भासिज्जा ।

से भिक्खू वा० तहेव गंतुमुज्जाणाइं पव्वयाइं वणाणि वा रुक्खा महल्ले पेहाए नो एवं वइज्जा, तं०-पासायजोग्गात्ति वा तोरणजोग्गाइ वा गिहजोग्गाइ वा फलिहजो० अग्गलजो० नावाजो० उदग० दोणजो० पीढचंगबेरनंगलकु-लियजंतलट्ठीनाभिगंडीआसणजो० सयणजाणउवस्सयजोग्गाइं वा, एय्पगारं नो भासिज्जा ॥

से भिक्खू वा० तहेव गंतु० एवं वइज्जा, तंजहा-जाइमंता इ वा दीहवट्टा इ

वा महालया इ वा पयायसाला इ वा विडिमसाला इ वा पासाइया इ वा जाव पडिरूवाति वा एयप्पगारं भासं असावज्जं जाव भासिज्जा ॥ से भिक्खू वा० बहुसंभूया वणफला ( अंबा ) पेहाए तहावि ते नो एवं वइज्जा, तंजहा-पक्काइ वा पायखज्जाइ वा वेलोइया इ वा टाला इ वा वेहिया इ वा, एयप्पगारं भासं सावज्जं जाव नो भासिज्जा ॥

से भिक्खू० बहुसंभूया वणफला अंबा पेहाए एवं वइज्जा, तं०-असंथडा इ वा बहुनिवट्टिमफला इ वा० बहुसंभूया इ वा भूयरूवत्ति वा, एयप्पगारं भा० असा० ॥ से० बहुसंभूया ओसही पेहाए तहावि ताओ न एवं वइज्जा, तंजहा-पक्का इ वा नीलिया इ वा छबीइया इ वा लाइमा इ वा भज्जिमा इ वा बहुखज्जा इ वा, एयप्पगा० नो भासिज्जा ॥

से० बहु० पेहाए तहावि एवं वइज्जा, तं०- रूढा इ वा बहुसंभूया इ वा थिरा इ वा ऊसढा इ वा गब्भिया इ वा पसूया इ वा, ससारा इ वा एयप्पगारं भासं असावज्जं जाव भासिज्जा ॥१३८ ॥

छाया- स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा मनुष्यं वा गोणं वा महिषं वा मृगं वा पशुं वा पक्षिणं वा सरीसृपं वा जलचरं वा स तं परिवृद्धकायं प्रेक्ष्य नैवं वदेत्- स्थूल इति वा प्रमेदुर इति वा वृत्त इति वा वध्य इति वा ( वाहन योग्य इति वा ) पाच्य इति वा, एतत्प्रकारां भाषां सावद्यां यावत् नो भाषेत ।

स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा मनुष्यं वा यावत् जलचरं वा स तं परिवृद्धकायं प्रेक्ष्य एवं वदेत्-परिवृद्धकायः इति वा, उपचितकाय इति वा स्थिरसंहनन इति वा, ि सशोणित इति वा बहुप्रतिपूर्णइन्द्रिय इति वा एतत्प्रकारां भाषां असावद्याम् यावद् भाषेत ।

स भिक्षुर्वा २ विरूपरूपाः गाः प्रेक्ष्य नो एवं वदेत् , तद्यथा-गावः दोह्या-दोहन योग्या इति वा दम्य इति वा गोरहक इति वा वाहनयोग्य इति वा रथयोग्य इति वा, एतत्प्रकारां भाषां सावद्यां यावत् नो भाषेत ।

स भिक्षुर्वा० विरूपरूपाः गाः प्रेक्ष्य एवं वदेत् , तद्यथा-युवा गौरिति वा धेनुरिति वा रसवतीति वा, ह्रस्व इति वा महान् इति वा महापया इति वा संवहन इति वा, एतत्प्रकारां भाषां असावद्यां यावत् अभिकांक्ष्य भाषेत ।

स भिक्षुर्वा० तथैव गत्वा उद्यानानि पर्वतान् वनानि वा वृक्षान् महतः प्रेक्ष्य नैवं वदेत्, तद्यथा-प्रासाद योग्य इति वा तोरणयोग्य इति वा गृहयोग्य इति वा फलकयोग्य इति वा अर्गलायोग्य इति वा, नौ योग्य इति वा उदक० द्रोणयोग्य इति वा पीठचंगबेरलांगलकुलि-

कयन्त्रयष्टिनाभिगंडीआसनयोग्य इति वा शयनयानोपाश्रययोग्य इति वा, एतत्प्रकारां भाषां नो भाषेत ।

स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा तथैव गत्वा एवं वदेत् तद्यथा-जातिमन्त इति वा दीर्घवृत्ता इति वा महालया इति वा, प्रयातशाखा इति वा विटपिशाखा इति वा, प्रासादीया इति वा यावत् प्रतिरूपा इति वा एतत्प्रकारां भाषां असावद्यां यावत् भाषेत ।

स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा बहुसम्भूतानि वनफलानि प्रेक्ष्य तथापि नैवं वदेत्, तद्यथा-पक्वानि इति वा, पाकखाद्यानीति वा वेलोचितानि वा टालानीति वा ( कोमलास्थीनीति वा ) द्वैधिकानीति वा, एतत्प्रकारां भाषां सावद्यां यावत् नो भाषेत ।

स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा बहुसम्भूतानि वनफलानि आप्राणि-( आप्रान् वा ) प्रेक्ष्य एवं वदेत् तद्यथा- असमर्था इति वा बहुनिर्वर्तितफला इति वा बहुसम्भूता इति वा भूतरूपा इति वा, एतत्प्रकारां भाषाम् असावद्यां यावद् भाषेत ।

स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा बहुसम्भूता औषधीः प्रेक्ष्य तथापि ताः नैवं, वदेत् तद्यथा पक्वा इति वा, नीला इति वा ( आर्द्रा इति वा ) छविमत्य इति वा, लाइमा इति वा ( लाजायोग्या रोपणयोग्या इति वा ) भंजिमा इति वा ( पचनयोग्या भंजनयोग्या इति वा ) बहुखाद्या इति वा, एतत्प्रकारां भाषां सावद्यां न भाषेत ।

स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा बहुसम्भूता औषधीः प्रेक्ष्य तथापि एवं वदेत्, तद्यथा-रूढा इति वा, बहुसंभूता इति वा स्थिरा इति वा उच्छ्रिता इति वा, गर्भिता इति वा, प्रसूता इति वा ससारा इति वा, एतत्प्रकारां भाषां असावद्यां यावद् भाषेत ।

पदार्थ- से-वह । भिक्खू वा भिक्खुणी वा-साधु या साध्वी । मणुस्सं वा-मनुष्य को । गोणं वा-गोण-वृषभ को । महिसं वा-महिष-भैंसे को । मिगं वा-मृग-हरिण को । पसुं वा-अन्य पशु को । पक्खिं वा-पक्षी को । सरीसिवं वा-सर्प को तथा । जलचरं वा-जलचर जीवों को । से-वह भिक्षु । तं-उनमें से किसी एक । परिवूढकायं-पुष्ट शरीर वाले को । पेहाए-देखकर । एवं-इस प्रकार । नो वइज्जा-न कहे । थूले इ वा-यह स्थूल है इस प्रकार । पमेइले इ वा-यह विशिष्ट मेद से युक्त है इस प्रकार । वट्टे इ वा-यह वृत्त अर्थात् गोलाकार है । वज्जेइ वा-यह वध्य-मारने योग्य है या बोझा ढोने योग्य है । पाइमे इ वा-पकाने योग्य है । एयप्पगारं-इस प्रकार की । भासं-भाषा जो कि । सावज्जं-सावद्य । जाव-यावत्-भूतोपघातिनी है । नो भासेज्जा-न बोले । से भिक्खू वा-भिक्खुणी वा-वह साधु या साध्वी । मणुस्सं वा-मनुष्य को । जाव-यावत् । जलचरं वा-जलचर जीवों को । से-वह । तं-उन जीवों में से । परिवूढकायं-परिपुष्ट शरीर वाले को । पेहाए-देखकर । एवं-इस प्रकार । वइज्जा-कहे- । परिवूढकाएत्ति-यह वृषभादि अमुक जीव परिपुष्ट शरीर वाला है अथवा यह । उवचियकाएत्ति वा-उपचित काय-शरीर वाला है । थिरसंघयणेत्ति वा-इसका संहनन बड़ा दृढ़ है अर्थात् इसका शरीर बड़ा संगठित है । चियमंससोणिएत्ति-इसके शरीर में मांस और रुधिर विशेष रूप से है तथा । बहुपडिपुनइंदिएत्ति वा-इसकी सभी इन्द्रिणं परिपूर्ण हैं । एयप्पगारं-इस प्रकार की । असावज्जं-असावद्य-पाप रहित । जाव-यावत् जीव विराधना शून्य । भासं-भाषा की । भासिज्जा-भाषण करे-बोले ।

**पदार्थ**—से भिक्खू वा भिक्खुणी वा—वह साधु अथवा साध्वी। विरूवरूवाओ—नाना प्रकार के। गाओ—गौ आदि पशुओं को। पेहाए—देखकर। एवं—इस प्रकार। नो वड़जा—न कहे। तंजहा—जैसे कि। गाओ दुज्जाओत्ति वा—ये गौएं दोहने के योग्य हैं अथवा इनके दोहने का समय हो रहा है। दम्मेति वा—या यह बैल दमन करने के योग्य है। गोरहत्ति वा—या यह तीन वर्ष का युवक बैल है। वाहिमत्ति वा—यह बैल हल वाहन करने योग्य है। रहजोगत्ति वा—यह बैल रथ में जोतने योग्य है। एयप्पगारं—इस प्रकार की। सावज्जं—सावद्य। जाव—यावत् भूतोपघातिनी। भासं—भाषा को। नो भासेज्जा—न बोले। से—वह। भिक्खू वा भिक्खुणी वा—साधु या साध्वी। विरूवरूवाओ—नाना प्रकार के। गाओ—गौ आदि पशुओं को। पेहाए—देखकर। एवं—वड़जा—इस प्रकार कहे। तंजहा—जैसे कि। जुवंगवित्ति वा—यह वृषभ बड़ा युवा है अथवा। धेणुत्ति वा—यह गाय जवान है या। रसवड़त्ति वा—बहुत दूध देने वाली है। हस्सेइ वा—या यह छोटा बैल है। महल्लेइ वा—यह बड़ा बैल है और। महव्वएइ वा—यह बैल बड़ी आयु का है। संवाहणित्ति वा—यह भार का उद्हन कर रहा है। एयप्पगारं—इस प्रकार की। असावज्जं—असावद्य-निष्पाप। भासं—भाषा को। जाव—यावत्। अभिकंख—मन में विचार कर। भासिज्जा—बोले।

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा—वह साधु या साध्वी। तहेव—उसी प्रकार। गंतुमुज्जाणाइं—उद्यानादि में जाकर तथा। पव्वयाइं—पर्वतों और। वणाणि—वनों में जाकर। महल्ले—अत्यन्त मोटे। रुक्खा—वृक्षों को। पेहाए—देखकर। एवं—इस प्रकार। नो वड़जा—नहीं बोले। तंजहा—जैसे कि—। पासायजोग्गाति वा—यह वृक्ष प्रासाद (मकान बनाने) के योग्य है। तोरणजोग्गाइ वा—अथवा यह तोरण बनाने के योग्य। गिहजोग्गाइ वा—अथवा यह घर के योग्य है। फलिहजो—अथवा यह फलक बनाने के योग्य है। अगलजो—यह अर्गला के योग्य है और। नावाजो—यह नाव के योग्य है और यह वृक्ष। उदगं दोणजो—उदक द्रोणी के योग्य है इसी प्रकार। पीढ—पीड़ के योग्य हैं। चंगखेर—काठ का बर्तन विशेष उसके योग्य है। नंगल—हल के योग्य है। कुलिय—कुलड़ी के योग्य। जंत—यन्त्र के योग्य है। लट्ठी—लाठी के योग्य है अथवा कोल्हू की लट्ठी के योग्य है। नाभि—चक्र की नाभि के योग्य है। गंडी—सुनार के किसी काष्ठोपकरण के योग्य है और। आसणजो—आसन के योग्य है तथा। सयण—शयन-शय्या पलंग। जाण—शकटादि के और। उवस्सयजोग्गाइं वा—उवाश्रय के योग्य है। एयप्पगारं—इस प्रकार की सावद्य भाषा यावत् भूतोपघातिनी भाषा को। नो भासिज्जा—नहीं बोले। से भिक्खू वा—वह साधु या साध्वी। तहेव—उसी प्रकार। गंतु—उद्यानादि में जाकर वहां पर स्थित महान् वृक्षों को देखकर। एवं वड़जा—इस प्रकार कहे। तंजहा—जैसे कि—। जाइमंताइ वा—ये वृक्ष बड़े उत्तम जाति के हैं, अर्थात् किसी अच्छी नसल के हैं। दीहवट्टाइ वा—अथवा ये वृक्ष दीर्घ और वृत्त अर्थात् गोलाकार हैं। महालयाइ वा—बड़े विस्तार वाले हैं। पयायसालाइ वा—इनकी विस्तृत अनेक शाखाएं हैं। विडिमसालाइ वा—इस वृक्ष की मध्य में चार शाखाएं हैं जिनमें एक कंची भी चली गई है अथवा ये वृक्ष। पासाइयाइ वा—प्रासादीय प्रसन्नता देने वाले हैं। जाव—यावत्। पडिरूवाति वा—प्रति रूप-सुन्दर हैं। एयप्पगारं—इस प्रकार की। असावज्जं—असावद्य-निष्पाप। जाव—यावत्। भासं—भाषा को। भासिज्जा—बोले।

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा—वह साधु अथवा साध्वी। बहुसंभूया—बहुत परिमाण में उत्पन्न हुए। वणफला—वन के फलों को—अर्थात् वन में होने वाले वृक्षों के फलों को। पेहाए—देखकर। तहावि—तथापि। ते—उनके सम्बन्ध में। एवं—इस प्रकार। नो वड़जा—न कहे—न बोले। तंजहा—जैसे कि—। पक्काइ वा—ये फल



परिपक्व हो गए अर्थात् पक गए हैं। पायखज्जाइ वा-ये फल घास आदि में पकाकर खाने योग्य हैं। वेलोइया इ वा-अब ये फल तोड़ लेने योग्य हैं। टाला इ वा-ये फल अभी कोमल हैं इनमें अभी तक अस्थि नहीं बन्धी, गिटेक नहीं पड़ी। बोहिया इ वा-अब ये फल खाने के लिए खण्ड-खण्ड करने योग्य हैं। एयप्पगारं-इस प्रकार की। सावज्जं-सावद्य। जाव-यावत् भूतोपघातिनी। भासं-भाषा को। नो भासिज्जा-भाषण न करे। से भिक्खू वा-वह साधु अथवा साध्वी। बहुसंभूया-बहु परिमाण में उत्पन्न हुए। वणफला-वन के फलों को। अंबा-आम आदि को। पेहाए-देखकर। एवं-इस प्रकार। वइज्जा-कहे-बोले। तंजहा-जैसे कि-। असंथडाइ वा-ये वृक्ष फलों के भार से नम्र हो रहे हैं, तथा। बहुनिवट्टिमफला इ वा-ये वृक्ष बहुत से फल दे रहे हैं। बहुसंभूया इ वा-बहुत परिपक्व फल हैं। भूयरूवत्ति वा-ये अबद्ध अस्थि वाले कोमल फल हैं। एयप्पगारं-इस प्रकार की। असावज्जं-असावद्य-पाप रहित। जाव-यावत् प्राणि विघात रहित। भासं-भाषा को। भासिज्जा-बोले।

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा-वह साधु या साध्वी। बहुसंभूया ओसही-बहु परिमाण में उत्पन्न होने वाली औषधियों ( धान्य विशेष )। पेहाए-देखकर। तहावि-तथापि। ताओ-उनके सम्बन्ध में। एवं-इस प्रकार। नो वइज्जा-न बोले। तंजहा-जैसे कि-। पक्काइ वा-यह धान्य परिपक्व हो गया है या यह औषधि पक गई है अथवा। नीलिया इ वा-यह अभी नीली अर्थात् कच्ची है। छवीइया इ वा-यह सुन्दर छवी-शोभा वाली है। लाइमा इ वा-यह काटने योग्य है। भज्जिमा इ वा-यह पकाने योग्य है या भुङ्गने योग्य है। बहुखज्जा इ वा-यह भली-भांति खाने योग्य है। एयप्पगारं-इस प्रकार की सावद्य भाषा को। नो भासिज्जा-नहीं बोले। से भिक्खू वा-वह साधु या साध्वी। बहु-बहुत परिमाण में उत्पन्न होने वाली औषधि-धान्य विशेष को। पेहाए-देखकर। तहावि-तथापि। एवं-इस प्रकार। वइज्जा-बोले-कहे। तंजहा-जैसे कि-। रूढा इ वा-इसमें अंकुर निकला है। बहुसंभूया इ वा-बहुत परिमाण में उत्पन्न हुई है। थिरा इ वा-यह औषधि स्थिर है। ऊसठा इ वा-यह रस से भरी हुई है। गम्भिया इ वा-यह अभी गर्भ में है। पसूया इ वा-यह प्रसूत-उत्पन्न हो गई है। ससारा इ वा-इसमें धान्य पड़ गया है। एयप्पगारं-इस प्रकार की। असावज्जं-असावद्य-निष्पाप। जाव-यावत् अहिंसक। भासं-भाषा को। भासि-बोले।

मूलार्थ-संयमशील साधु और साध्वी, मनुष्य, वृषभ ( बैल ), महिष ( भैंस ), मृग, पशु-पक्षी, सर्प और जलचर आदि जीवों में किसी भारी शरीर वाले जीव को देखकर इस प्रकार न कहे कि यह स्थूल है, यह मेदा युक्त है, वृत्ताकार है, वध या वहन करने योग्य और पकाने योग्य है। किन्तु, उन्हें देख कर ऐसी भाषा का प्रयोग करे कि यह पुष्ट शरीर वाला है, उपचित्त काय है, दृढ़ संहनन वाला है, इसके शरीर में रुधिर और मांस का उपचय हो रहा है और इसकी सभी इन्द्रिएं परिपूर्ण हैं।

संयमशील साधु और साध्वी गाय आदि पशुओं को देख कर इस प्रकार न कहे कि यह गाय दोहने योग्य है अथवा इसके दोहने का समय हो रहा है तथा यह बैल दमन करने योग्य है, यह वृषभ छोटा है, यह वहन के योग्य है और यह हल आदि चलाने के योग्य है, इस प्रकार की सावद्य यावत् जीवोपघातिनी भाषा का प्रयोग न करे। परन्तु आवश्यकता पड़ने पर उनके लिए इस प्रकार की भाषा का प्रयोग करे कि यह वृषभ जवान है, यह गाय प्रौढ़ है, दूध देने वाली है, यह बैल छोटा है, यह बड़ा है और यह शकट आदि को वहन करता है।

संयमशील साधु अथवा साध्वी किसी उद्यान ( बगीचे ) पर्वत या वन आदि में कुछ विशाल वृक्षों को देख कर उनके सम्बन्ध में भी इस प्रकार न कहे कि यह वृक्ष मकान आदि में लगाने योग्य है, यह तोरण के योग्य है, और यह गृह के योग्य है तथा इसका फलक बन सकता है, इसकी अर्गला बन सकती है और यह नौका के लिए भी अच्छा है। इसकी उदकद्रोणी ( जल भरने की टोकणी ) अच्छी बन सकती है और यह पीठ के योग्य है, इसकी चक्र नाभि अच्छी बनेगी, यह गंडी के लिए अच्छा है, इसका आसन अच्छा बन सकता है और यह पर्यक ( पलंग ) के योग्य है, इससे शकट आदि का निर्माण किया जा सकता है और यह उपाश्रय बनाने के लिए उपयुक्त है। साधु को इस प्रकार की सावद्य भाषा का व्यवहार नहीं करना चाहिए। किन्तु, उक्त स्थानों में अवस्थित विशाल वृक्षों को देख कर उनके सम्बन्ध में इस प्रकार की भाषा का प्रयोग करे कि ये वृक्ष अच्छी जाति के हैं, दीर्घ और वृत्त तथा बड़े विस्तार वाले हैं। इनकी शाखाएं चारों ओर फैली हुई हैं, ये वृक्ष मन को प्रसन्न करने वाले अभिरूप और नितान्त सुन्दर हैं। साधु इस प्रकार की असावद्य-निष्पाप भाषा का व्यवहार करे।

संयमशील साधु अथवा साध्वी वन में बहुत परिमाण में उत्पन्न हुए फलों को देख कर उनके संबन्ध में भी इस प्रकार न कहे कि ये फल पक गए हैं, अतः खाने योग्य हैं या ये फल पलाल आदि में रख कर पकाने के पश्चात् खाने योग्य हो सकते हैं। इनके तोड़ने का समय हो गया है। ये फल अभी बहुत कोमल हैं, क्योंकि इनमें अभी तक गुठली नहीं पड़ी है और ये फल खण्ड-खण्ड करके खाने योग्य हैं। विवेकशील साधु इस प्रकार की सावद्य भाषा न बोले। किन्तु, आवश्यकता पड़ने पर वह इस प्रकार कहे कि ये वृक्ष फलों के भार से नम्र हो रहे हैं। अर्थात् ये उनका भार सहन करने में असमर्थ प्रतीत हो रहे हैं। ये वृक्ष बहुत फल दे रहे हैं। ये फल बहुत कोमल हैं, क्योंकि अभी तक इनमें गुठली नहीं पड़ी है, इत्यादि। साधु इस प्रकार की पाप रहित संयत भाषा का व्यवहार करे।

संयमशील साधु अथवा साध्वी बहुत परिमाण में उत्पन्न हुई औषधियों को देख कर उनके सम्बन्ध में भी इस प्रकार न कहे कि यह औषधि ( धान्य विशेष ) पक गई है। यह अभी नीली अर्थात् कच्ची या हरी है। यह काटने योग्य या भूँजने या खाने योग्य है। साधु इस प्रकार की सावद्य यावत् जीवोपघातिनी भाषा को न बोले। किन्तु, अधिक परिमाण में उत्पन्न हुई औषधियों को देखकर यदि उनके संबन्ध में बोलने की आवश्यकता हो तो साधु इस प्रकार बोले कि यह अभी अंकुरित हुई है। यह औषधि अधिक उत्पन्न हुई है। यह स्थिर है और यह बीजों से भरी हुई है, यह सरस है। यह अभी गर्भ में ही है या उत्पन्न हो गई है। साधु इस प्रकार की असावद्य-निष्पाप भाषा का व्यवहार करे।

**हिन्दी विवेचन**— प्रस्तुत सूत्र में भाषा के प्रयोग में विशेष सावधानी रखने का आदेश दिया गया है। साधु चाहे सजीव पदार्थों के सम्बन्ध में कुछ कहे या निर्जीव पदार्थ के सम्बन्ध में कुछ बोले, परन्तु, उसे इस बात का सदा ख्याल रखना चाहिए कि उसके बोलने से किसी भी प्राणी को कष्ट न हो। असत्य एवं मिश्र भाषा की तरह दूसरे जीवों की हिंसा का कारण बनने वाली भाषा भी, भले ही वह सत्य भी क्यों

न हो साधु के बोलने योग्य नहीं है। अतः भाषा समिति में ऐसे शब्द बोलने का भी निषेध किया गया है जिससे प्रत्यक्ष या परोक्ष में किसी जीव की हिंसा की प्रेरणा मिलती हो या हिंसा का समर्थन होता हो।

साधु प्राणी मात्र का रक्षक है। अतः बोलते समय उसे प्रत्येक प्राणी के हित का ध्यान रखना चाहिए। प्रस्तुत सूत्र में इस बात का उल्लेख किया गया है कि साधु को किसी गाय-भैंस, मृग आदि पशु-पक्षी एवं जलचर तथा वनस्पति (पेड़-पौधों) आदि के सम्बन्ध में भी ऐसी भाषा का प्रयोग नहीं करना चाहिए, जिससे उन जीवों को किसी तरह का कष्ट पहुंचे। किसी भी पशु-पक्षी के मोटापन को देखकर साधु को यह नहीं कहना चाहिए कि इस स्थूल काय जानवर में पर्याप्त चर्बी है, इसका मांस स्वादिष्ट होता है, यह पका कर खाने योग्य है या यह गाय दोहन करने योग्य है, यह बैल गाड़ी में जोतने या हल चलाने योग्य है और इसी तरह ये पक्व फल खाने योग्य हैं या इन्हें घास में रखकर पकाने के पश्चात् खाना चाहिए, या यह धान या औषधि पक गई है, काटने योग्य है या इन वृक्षों की लकड़ी महलों में स्तम्भ लगाने, द्वार बनाने, अर्गला बनाने के लिए उपयुक्त है या तोरण बनाने या कुएं से पानी निकालने या पानी रखने का पात्र, तख्त, नौका आदि बनाने योग्य है, आदि सावद्य भाषा का कभी प्रयोग नहीं करना चाहिए। साधु को भाषा के प्रयोग में सदा विवेक रखना चाहिए और सत्यता के साथ जीवों की दया का भी ध्यान रखना चाहिए। उसे सदा निष्पापकारी सत्य भाषा का प्रयोग करना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'उदगदोण जोगाईया' एक पद है और इसका अर्थ है-कुएं आदि से पानी निकालने या पानी रखने का काष्ठ पात्र। दशवैकालिक सूत्र में भी इस का एक पद में ही प्रयोग किया है<sup>१</sup>। इसके अतिरिक्त प्रस्तुत सूत्र में 'रूढाइ वा, थिराइ वा गम्भिंयाइ वा' आदि पदों में जो बार-बार 'इ' का प्रयोग किया गया है, वह पाद पूर्ति के लिए ही किया गया है<sup>२</sup>।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं-

मूलम्—से भिक्खू वा० तहप्पगाराइं सद्दाइं सुणिज्जा तहावि एयाइं नो एवं वइज्जा तंजहा—सुसद्देत्ति वा दुसद्देत्ति वा एयप्पगारं भासं सावज्जं नो भासिज्जा ॥  
से भि० तहावि ताइं एवं वइज्जा, तंजहा—सुसद्दं—सुसद्दित्ति वा दुसद्दं दुसद्दित्ति वा एयप्पगारं असावज्जं जाव भासिज्जा, एवं रूवाइं किण्हेत्ति वा ५ गंधाइं सुरभिगंधित्ति वा २ रसाइं तित्ताणि वा ५ फासाइं कक्खडाणि वा ८ ॥१३९॥

छाया- स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा तथाप्रकारान् शब्दान्शृणुयात् तथापि एतान् नैवं वदेत्, तद्यथा—सुशब्दः इति वा दुःशब्दः इति वा एतत्प्रकारां भाषां सावद्यां नो भाषेत्। स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा तथापि तान् एवं वदेत् तद्यथा सुशब्दं सुशब्द इति वा दुशब्दं दुःशब्द इति

१ अलं पासायखंभाणं, तोरणाणि गिहाणि य।

फलिह अगल नावाणं, अलं उदगदोणिणं ॥ - दशवैकालिक सूत्र, ७, २७।

२ इ, जे, राः पादपूर्णे अर्थात् इकार, जेकार और रकार यह तीनों अव्यय पादपूर्ति के लिए हैं।

- प्राकृत व्याकरण, पा० २, सू० २१७।

वा, एतत् प्रकारां असावद्यां यावत् भाषेत, एवं रूपाणि कृष्ण इति वा ५ गन्धान् सुरभिगन्ध इति वा २ रसान् तिक्तइति वा ५ स्पर्शान्—कर्कश इति वा ८ ।

**पदार्थ—**से-वह। भिक्खू वा २-साधु या साध्वी। तहप्पगाराइं-तथा प्रकार के। सहाइं-शब्दों को। सुणिज्जा-सुने और सुनकर। तहावि-तथापि। एयाइं-इनके सम्बन्ध में। एवं-इस प्रकार। नो वइज्जा-न बोले। तंजहा-जैसे कि-। सुसहेति वा-सुन्दर शब्द सुनकर बोलने वाले के प्रति राग भाव लाकर यह कहना, आपने यह बहुत अच्छा कहा यह बड़ा मङ्गलकारी है तथा। दुसहेति वा-दुःशब्द-बुरे शब्द को सुन कर बोलने वाले के प्रति द्वेष भाव लाकर यह कहना-तुमने बहुत बुरा कहा, यह बड़ा ही अनिष्टकारी है। एयप्पगारं-इस प्रकार की। सावज्जं-सावद्य। भासं-भाषा को। नो भासिज्जा-न बोले। से भि-वह साधु या साध्वी शब्दों को सुनता हुआ। तहावि-तथापि। ताइं-उन शब्दों के सम्बन्ध में। एवं-इस प्रकार। वइज्जा-बोले। तंजहा-जैसे कि। सुसहं-सुशब्द-सुन्दर शब्द को। सुसदिदत्ति वा-यह सुन्दर शब्द है, इस प्रकार कहे तथा। दुसहं-दुष्ट शब्द को। दुसदिति वा-यह दुष्ट शब्द है इस प्रकार कहे। एयप्पगारं-इस प्रकार की। असावज्जं-असावद्य-निष्पाप। जावि-यावत् भाषा को। भासिज्जा-बोले। एवं-इसी प्रकार। रूवाइं-रूप के विषय में। किण्हेति वा ५-कृष्ण को कृष्ण यावत् श्वेत को श्वेत कहे। गंधाइं-गन्ध के विषय में। सुरभिगंधित्ति वा २-सुगन्ध को सुगन्ध और दुर्गन्ध को दुर्गन्ध कहे। रसाइं-रसादि के विषय में भी। तित्ताणि वा ५-तिक्त को तिक्त यावत् मधुर को मधुर कहे। फासाइं-स्पर्श के विषय में। कवखडाणि वा ८-कर्कश को कर्कश यावत् मृदु को मृदु कहे। तात्पर्य कि जो पदार्थ जिस तरह का हो उसको उसी प्रकार का बताए।

**मूलार्थ—**संयमशील साधु और साध्वी किसी भी शब्द को सुनकर वह किसी भी सुशब्द को दुःशब्द अर्थात् शोभनीय शब्द को अशोभनीय एवं मांगलिक को अमांगलिक न कहे। किन्तु सुशब्द अच्छे शब्द को सुन्दर और दुःशब्द को दुःशब्द और असुन्दर शब्द को असुन्दर ही कहे। इसी प्रकार रूपादि के संबन्ध में भी ऐसी ही भाषा का प्रयोग करना चाहिए। कुरूप को कुरूप और सुन्दर को सुन्दर तथा सुगन्धित एवं दुर्गन्धित पदार्थों को क्रमशः सुगंध एवं दुर्गन्ध युक्त तथा कटु को कटुक और कर्कश को कर्कश कहे।

**हिन्दी विवेचन—**प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि साधु को ५ वर्ण, २ गन्ध, ५ रस और ८ स्पर्श के सम्बन्ध में कैसी भाषा का प्रयोग करना चाहिए। इसमें स्पष्ट बताया गया है कि साधु को जैसे वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श का पदार्थ हो उससे विपरीत नहीं कहना चाहिए। राग-द्वेष के वश अच्छे पदार्थ को उससे विपरीत नहीं कहना चाहिए। राग-द्वेष के वश अच्छे पदार्थ को बुरा और बुरे पदार्थ को अच्छा नहीं बताना चाहिए। कुछ व्यक्ति अपने स्वार्थ को पूरा करने के लिए कुरूपवान व्यक्ति को सुन्दर एवं रूप सम्पन्न को कुरूप बताने का भी प्रयत्न करते हैं। परन्तु, राग-द्वेष एवं स्वार्थ से ऊपर उठे हुए साधु किसी भी पदार्थ का गलत रूप में वर्णन न करें। उसे सदा सावधानी पूर्वक यथार्थ एवं निर्दोष वचन का ही प्रयोग करना चाहिए। वर्ण की तरह गन्ध, रस एवं स्पर्श के सम्बन्ध में भी यथार्थ एवं निर्दोष भाषा का व्यवहार करना चाहिए<sup>१</sup>।

१ सभिक्षुयंघ्राप्येतान् शब्दान् शृणुयात् तथापि नैवं वदेत् तद्यथा शोभनः शब्दोऽशोभनो वा मांगलिको ऽमांगलिको वा, इत्ययं न व्याहर्तव्यः । विपरीतंत्वाह-यथावस्थितशब्दप्रज्ञापनाविषये एतद् वदेत्, तद्यथा- "सुसदिति" शोभनशब्दं शोभन-मेवब्रूयाद् अशोभनंत्वशोभनमिति ॥ एवंरूपादिसूत्रमपिनेयम् । ( वृत्तिकार )

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं -

मूलम्-से भिक्खु वा० वंता कोहं च माणं च मायं च लोभं च अणुवीड़ि  
निट्ठाभासी, निसम्मभासी, अतुरियभासी, विवेगभासी समियाए संजए भासं  
भासिज्जा । एवं खलु० तस्स भिक्खुस्स वा भिक्खुणीए वा सामग्गियं जं सव्वट्ठेहिं  
सहितेहिं सया जएज्जासि त्ति बेमि ॥१४० ॥

छाया- स भिक्षुः भिक्षुकी वा वान्त्वा क्रोधं च मानं च मायां च लोभं च अनुविचिन्त्य  
निष्ठाभाषी निशम्यभाषी अत्वरितभाषी विवेकभाषी समित्या संयतः भाषां भाषेत ५ । एवं  
खलु तस्य भिक्षोः २ सामग्र्यं यत् सर्वार्थैः समित्या सहितः सदा यतेत इति ब्रवीमि ।

पदार्थ-से भिक्खु वा-वह साधु या साध्वी । कोहं च-क्रोध को । माणं च मान को । मायं च-  
माया-कपट युक्त व्यवहार को । लोभं च-लोभ को । वंता-वमन- छोड़ करके और । अणुवीड़ि-विचार पूर्वक  
पर्यालोचन करके । निट्ठाभासी-एकान्त-सर्वथा असावद्य वचन बोलने वाला । निसम्मभासी-हृदय में अत्यन्त  
विचार कर भाषण करने वाला । अतुरियभासी-सम्भाल कर शनैः-शनै बोलने वाला और । विवेगभासी-विवेक  
पूर्वक बोलने वाला । संजए-साधु । समियाए-भाषासमिति युक्त । भासं-भाषा को । भासिज्जा-बोले । एवं  
खलु-इस प्रकार निश्चय ही । तस्स-उस । भिक्खुस्स २-साधु और साध्वी का यह । सामग्गियं-समग्र-सम्पूर्ण  
आचार है । जं सव्वट्ठेहिं-जो ज्ञानादि अर्थों से तथा । समिए-प्रांच समितियों से । सहिए-युक्त है अतः वह ।  
सया-सदा-सर्व काल में उक्त आचार का परिपालन करने का । जएज्जासि-यत्न करे । त्तिबेमि-इस प्रकार मैं  
कहता हूँ ।

मूलार्थ-क्रोध, मान, माया और लोभ का परित्याग करने वाला, एकान्त निरवद्य भाषा  
बोलने वाला, विचार पूर्वक बोलने वाला, शनैः-शनैः बोलने वाला और विवेक पूर्वक बोलने  
वाला संयत साधु या साध्वी भाषा समिति से युक्त भाषा का व्यवहार करे । यही साधु और साध्वी  
का समग्र आचार है । इस प्रकार मैं कहता हूँ ।

हिन्दी विवेचन- प्रस्तुत सूत्र में भाषा अध्ययन का उपसंहार करते हुए बताया गया है कि साधु  
को क्रोध, मान, माया और लोभ का परित्याग करके भाषा का प्रयोग करना चाहिए और उसे बहुत शीघ्रता  
से भी नहीं बोलना चाहिए । क्योंकि, वह क्रोधादि विकारों के वश झूठ भी बोल सकता है और अविवेक  
एवं शीघ्रता में भी असत्य भाषण का होना सम्भव है । अतः विवेकशील एवं संयम निष्ठ साधक को  
कषायों का त्याग करके, गम्भीरता-पूर्वक विचार करके धीरे-धीरे बोलना चाहिए । इस तरह साधु को  
सोच-विचार-पूर्वक निरवद्य, निष्पापकारी, मधुर, प्रिय एवं यथार्थ भाषा का प्रयोग करना चाहिए ।

'त्तिबेमि' की व्याख्या पूर्ववत् समझें ।

॥ द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

॥ चतुर्थ अध्ययन समाप्त ॥

## पंचम अध्ययन-वस्त्रैषणा

### प्रथम उद्देशक

चतुर्थ अध्ययन में भाषा समिति से सम्बद्ध विषय पर प्रकाश डाला गया है। प्रस्तुत अध्ययन में यह बताया गया है कि भाषा समिति में प्रवृत्तशील साधु-साध्वी को किस तरह से और कैसा वस्त्र ग्रहण करना चाहिए। इस अध्ययन के दो उद्देशक हैं, पहले उद्देशक में वस्त्र ग्रहण करने की विधि तथा द्वितीय उद्देशक में वस्त्र धारण करने का उल्लेख किया गया है। वस्त्र भी द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार का बताया गया है। द्रव्य वस्त्र तीन प्रकार का बताया गया है— १-एकेन्द्रिय जीवों के शरीर से निर्मित कपास (Cotton), सण ( Jute) आदि के वस्त्र, २-विकलेन्द्रिय जीवों के बनाए गए तारों से निष्पन्न रेशमी (Silk) वस्त्र और ३-पञ्चेन्द्रिय जीवों के बालों से बनाए गए ऊन (Woollen) के वस्त्र या कम्बल आदि। और ब्रह्मचर्य के अठारह सहस्र गुणों को धारण करना भाव वस्त्र कहलाता है। वस्त्र दूसरों के एवं अपने मन में विकृति पैदा करने वाले गुप्तांगों को आवृत्त करने तथा शीत-ताप से बचाने के लिए एक उपयोगी साधन है। इसी तरह मानव मन में उठने वाले विकारी भावों का क्षय या क्षयोपशम करने तथा साधक को विकारों के शीत-तापमय व अनुकूल-प्रतिकूल आघातों से बचाने के लिए १८ हजार शीलांग गुण सर्वश्रेष्ठ साधन हैं, आत्म-विकास में अत्यधिक सहयोगी हैं, इसी कारण इन्हें भाव वस्त्र कहा गया है। परन्तु, प्रस्तुत अध्ययन में द्रव्य वस्त्रों के सम्बन्ध में ही विचार किया गया है। क्योंकि, याचना द्रव्य वस्त्र की ही की जाती है, भाव वस्त्र की नहीं। आत्मा में स्थित अनन्त वीर्य ही भाव वस्त्र है और उसकी प्राप्ति मांग कर नहीं, प्रत्युत आत्म साधना से ही की जा सकती है। इस लिए सूत्रकार इस सम्बन्ध में यहां कुछ नहीं कह कर, यह बताते हैं कि साधक को कैसे वस्त्र की याचना करनी चाहिए। साधु के लिए कल्पनीय वस्त्रों का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— से भि० अभिकंखिज्जा वत्थं एसित्तए, से जं पुण वत्थं जाणिज्जा,  
तंजहा— जंगियं वा भंगियं वा साणियं वा पोत्तगं वा खोमियं वा तूलकडं वा,  
तहप्पगारं वत्थं वा जे निग्गंथे तरुणे जुगवं बलवं अप्पायंके थिरसंघयणे से एगं  
वत्थं धारिज्जा नो बीयं, जा निग्गंथी सा चत्तारि संघाडीओ धारिज्जा, एगं  
दुहत्थवित्थारं, दो तिहत्थवित्थाराओ, एगं चउहत्थवित्थारं, तहप्पगारेहिं वत्थेहिं  
असंधिज्जमाणेहिं, अहपच्छा एगमेगं संसिविज्जा ॥१४१ ॥

छाया— स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा अभिकांक्षेत् वस्त्रमेषितुं ( अन्वेष्टुम् ) स यत् पुनः

वस्त्रं जानीयात् तद्यथा-जांगमिकं वा भांगिकं वा साणिकं वा पोतकं वा क्षौमिकं वा तूलकृतं वा तथाप्रकारं वस्त्रं वा यो निर्ग्रन्थः तरुणः युगवान् बलवान् अल्पातकः स्थिरसंहननः स एक वस्त्रं धारयेत् नो द्वितीयं, या निर्ग्रन्थी सा चतस्रः संघाटिका धारयेत्, एकां द्विहस्तविस्तारां, द्वे त्रिहस्तविस्तारे, एकां चतुर्हस्तविस्तारां, तथाप्रकारैः वस्त्रैः असंधीयमानैः अथपश्चात् एकमेकेन संसीव्येत्।

**पदार्थ-** से-वह। भिक्खू वा-साधु अथवा साध्वी। वत्थं-वस्त्र की। एसित्तए-एषणा। अभिकंखिज्जा-या गवेषणा करनी चाहे तो। से-वह-साधु। जं-जो। पुण-फिर। वत्थं-वस्त्र के विषय में। जाणिज्जा-इस प्रकार जाने। तंजहा-जैसे कि। जांगियं वा-जंगम-जीवों से उत्पन्न हुआ- (ऊंट आदि की ऊन से बना हुआ) अथवा। भांगियं वा-विकलेन्द्रिय जीवों के तन्तुओं से बना हुआ रेशमी वस्त्र या। साणियं वा-सन (Jute) तथा वल्कल आदि से निष्पन्न वस्त्र। पोत्तगं वा-या ताड़ पत्र आदि से बना हुआ वस्त्र। खोमियं वा-कपास आदि से बनाया गया वस्त्र या। तूलकडं वा-आक आदि की तूली-रूई से बना हुआ वस्त्र। तहप्पगारं-तथा प्रकार के अन्य। वत्थं-वस्त्र को भी। धारिज्जा-धारण करे। जे निगंथे-जो निर्ग्रन्थ। तरुणे-तरुण-युवावस्था में है तथा। जुगवं-तीसरे या चौथे अंश का जन्मा हुआ है। बलवं-बलवान। अप्पायंके-रोग रहित और। धिरसंघयणे-दृढ़ संहनन वाला है। से-वह। एगं वत्थं-एक वस्त्र को। धारिज्जा-धारण करे। नो बीयं-दूसरा वस्त्र धारण न करे। जा निगंथी-और जो साध्वी है। सा-वह। चत्तारि संघाडीओ धारिज्जा-चार चादरें धारण करे। एगं-एक चादर। दुहत्थवित्थारं-दो हाथ प्रमाण चौड़ी हो। दो तिहत्थवित्थारओ-दो चादरें तीन हाथ प्रमाण चौड़ी हों और। एगं-एक। चउहत्थवित्थारं-चार हाथ प्रमाण चौड़ी हो। तहप्पगारेहिं-तथाप्रकार के। वत्थेहिं-वस्त्रों के। असंधिज्जाणेहिं-पृथक्-पृथक् न मिलने पर। अह-अथ। पच्छा-पश्चात्। एगमेगं-एक को एक के साथ। संसिविज्जा-सी ले।

**मूलार्थ-**संयमशील साधु या साध्वी यदि वस्त्र की गवेषणा करने की अभिलाषा रखते हों तो वे वस्त्र के सम्बन्ध में इस प्रकार जाने कि- ऊन का वस्त्र, विकलेन्द्रिय जीवों की लारों से बनाया गया रेशमी वस्त्र, सन तथा वल्कल का वस्त्र, ताड़ आदि के पत्तों से निष्पन्न वस्त्र और कपास एवं आक की तूली से बना हुआ सूती वस्त्र एवं इस तरह के अन्य वस्त्र को भी मुनि ग्रहण कर सकता है। जो साधु तरुण बलवान, रोग रहित और दृढ़ शरीर वाला है वह एक ही वस्त्र धारण करे, दूसरा न धारण करे। परन्तु साध्वी चार वस्त्र-चादरें धारण करे। उसमें एक-चादर दो हाथ प्रमाण चौड़ी, दो चादरें तीन हाथ प्रमाण और एक चार हाथ प्रमाण चौड़ी होनी चाहिए। इस प्रकार के वस्त्र न मिलने पर वह एक वस्त्र को दूसरे के साथ सी ले।

**हिन्दी विवेचन-**प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि साधु ६ तरह का वस्त्र ग्रहण कर सकता है- १-जांगिक-जंगम-चलने-फिरने वाले ऊंट, भेड़ आदि जानवरों के बालों से बनाए हुए ऊन के वस्त्र, २-भांगिय-विभिन्न विकलेन्द्रिय जीवों की लार से, निर्मित तन्तुओं से निर्मित रेशमी (Silk) वस्त्र<sup>१</sup>, ३-

१ एक तरह का वस्त्र, पाट का बना हुआ वस्त्र।

- प्राकृतशब्दमहार्णव, पृ० ७९२।

भांगिय (भांगिक-भंगायाइदम्) सन का वस्त्र, कीड़ों की लार के रस के द्वारा बना हुआ वस्त्र।

- अर्द्धमागधी कोष, भा० ४, पृ० २।

साणिय-सण (Jute) या वल्कल से बना हुआ वस्त्र, ४-पोत्तक-ताड़ पत्रों के रेशों से बनाया हुआ वस्त्र, ५-खोमिय-कपास से निष्पन्न वस्त्र और ६-तूलकड़े-आक के डोडों में से निकलने वाली रूई से बना हुआ वस्त्र। इन ६ तरह के वस्त्रों में सभी तरह के वस्त्रों का समावेश हो जाता है। अतः वह इनमें से किसी भी तरह का वस्त्र धारण कर सकता है।

प्रस्तुत सूत्र में साधु और साध्वी के लिए वस्त्रों का परिमाण भी निश्चित कर दिया गया है। यदि साधु युवक, निरोगी, शक्ति-सम्पन्न एवं हृष्ट-पुष्ट शरीर वाला हो तो वह एक ही वस्त्र ग्रहण कर सकता है, दूसरा नहीं। इससे यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि वृद्ध, कमजोर, रोगी एवं जर्जरित शरीर वाला साधु एक से अधिक वस्त्र भी रख सकता है।

साध्वी के लिए चार वस्त्रों (चादरों) का विधान किया गया है। उसमें एक चादर दो हाथ की हो, दो चादरें तीन-तीन हाथ की हों और एक चार हाथ की हो। साध्वी को उपाश्रय में रहते समय दो हाथ वाली चादर का उपयोग करना चाहिए, गोचरी एवं जंगल आदि जाते समय तीन-तीन हाथ वाली चादरों को क्रमशः काम में लेना चाहिए और अवशिष्ट चौथी (चार हाथ वाली) चादर को व्याख्यान के समय ओढ़ना चाहिए। इसका तात्पर्य इतना ही है कि आहार आदि के लिए स्थान से बाहर निकलते समय एवं व्याख्यान में परिषदा के सामने बैठते समय साध्वी अपने अधिकांश अङ्गोपाङ्गों को आवृत करके बैठे, जिससे उन्हें देखकर किसी के मन में विकार भाव जागृत न हो।

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि उस समय भारतीय शिल्पकला एवं वस्त्र उद्योग पर्याप्त उन्नति पर था। यन्त्रों के सहयोग के बिना ही विभिन्न तरह के सुन्दर, आकर्षक एवं मजबूत वस्त्र बनाए जाते थे। अंग्रेजों के भारत में आने के पूर्व ढाका में बनने वाली मलमल इतनी बारीक होती थी कि २० गज की मलमल का पूरा थान एक बांस की नली में समाविष्ट किया जा सकता था। आगम में भी ऐसे वस्त्राभूषणों का उल्लेख मिलता है, जो वज्रन में हलके और बहुमूल्य होते थे। इससे उस युग की शिल्प कला की उन्नति का स्पष्ट परिचय मिलता है।

इस (वस्त्र के) विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं-

**मूलम्— से भि० परं अद्धजोयणमेराए वत्थपडिया० नो अभिसंधारिज्जा गमणाए ॥१४२ ॥**

**छाया— स भिक्षुवा० भिक्षुकी वा परमर्द्धयोजनमर्यादायाः वस्त्रप्रतिज्ञया नो अभिसन्धारयेत् गमनाय ।**

भंगिय-अतसीमयं अर्थात् अलसी का बना हुआ वस्त्र। — स्थानाङ्ग सूत्र, वृत्ति ( आचार्य अभयदेव सूत्र )

भंगिय शब्द का रेशमी वस्त्र अर्थ भी होता है और आजकल एक ऐसा रेशमी वस्त्र भी मिलने लगा है, जिसके लिए कीड़ों को मारना नहीं पड़ता। इसे टसर का रेशम कहते हैं। यह रेशम भी कीड़ों से प्राप्त होता है। ये कीड़े इसका निर्माण करने के बाद स्वतः बाहर निकल जाते हैं। यह रूई की तरह होता है और उसी तरह कात कर इसका धागा बनाया जाता है। इसे भी भंगिय वस्त्र कह सकते हैं। परन्तु, साधु के लिए अलसी का बना हुआ वस्त्र यह अर्थ करना युक्ति संगत प्रतीत होता है।



**पदार्थ-** से भिक्खू वा-वह साधु अथवा साध्वी। वत्थपडिया-वस्त्र की याचना करने हेतु। अद्धजोयणमेराए-आधे योजन की मर्यादा से। परं-आगे। गमणाए-जाने का। नो अभिसंधारिजा-विचार न करे।

**मूलार्थ-**साधु या साध्वी को वस्त्र की याचना करने के लिए आधे योजन से आगे जाने का विचार नहीं करना चाहिए।

**हिन्दी विवेचन-** प्रस्तुत सूत्र में वस्त्र ग्रहण करने के लिए क्षेत्र मर्यादा का उल्लेख किया गया है। साधु या साध्वी को आधे योजन से आगे के क्षेत्र में जाकर वस्त्र लाने का संकल्प भी नहीं करना चाहिए। जैसे आगम में साधु-साध्वी को आधे योजन से आगे का लाया हुआ आहार-पानी करने का निषेध किया गया है<sup>१</sup>, उसी तरह प्रस्तुत सूत्र में क्षेत्र का अतिक्रान्त करके वस्त्र ग्रहण करने का भी निषेध किया गया है।

वृत्तिकार ने इस पर कोई विशेष प्रकाश नहीं डाला है, उन्होंने केवल शब्दों का अर्थ मात्र किया है। यह नहीं बताया कि यह आदेश सामान्य सूत्र से सम्बद्ध है या अभिग्रह विशेष से।

इस विषय पर और प्रकाश डालते हुए सूत्रकार कहते हैं-

**मूलम्-** से भि० से जं० अस्सिंपडियाए एगं साहम्मियं समुद्दिस्स पाणाइं जहा पिंडेसणाए भाणियव्वं। एवं बहवे साहम्मिया एगं साहम्मिणिं बहवे साहम्मिणीओ बहवे समणमाहण० तहेव पुरिसंतरकडा जहा पिंडेसणाए ॥१४३॥

**छाया-** स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा यत् स अस्वप्रतिज्ञया एकं साधर्मिकं समुद्दिश्य प्राणानि यथा पिंडैषणायां ( तथैव ) भणितव्यम्। एवं बहवः साधर्मिकाः एकां साधर्मिणीं वह्वयः साधर्मिण्यः बहवः श्रमणब्राह्मण० तथैव पुरुषान्तरकृताः यथा पिण्डैषणायाम्।

**पदार्थ-** से भिक्खू वा-वह साधु अथवा साध्वी। से जं०-वस्त्र के विषय में इस प्रकार जाने। अस्सिंपडियाए-जिसके पास धन नहीं है उसकी प्रतिज्ञा से। एगं-एक। साहम्मियं-साधर्मिक का। समुद्दिस्स-उद्देश्य रख कर। पाणाइं-प्राणियों की हिंसा करके। जहा-जैसे। पिंडेसणाए-पिंडैषणा अध्ययन में आहार विषयक वर्णन किया गया है, ठीक उसी प्रकार इस स्थान में वस्त्र विषयक। भाणियव्वं-वर्णन कहना चाहिए। एवं-इसी प्रकार। बहवे-साहम्मिया-बहुत से साधर्मी साधु। एगं साहम्मिणिं-एक साधर्मिणी साध्वी तथा। बहवे साहम्मिणीओ-बहुत सी साध्विएं और। बहवे समणमाहण०-बहुत से शाक्यादि श्रमण और ब्राह्मणादि। तहेव-उसी प्रकार। पुरिसंतरकडा-पुरुषान्तर कृत। जहा-जैसे कि-। पिंडेसणाए-पिंडैषणा अध्ययन में कहा गया है।

**मूलार्थ-**संयमशील साधु या साध्वी को वस्त्र के विषय में यह जानना चाहिए कि जिसके पास धन नहीं है उसकी प्रतिज्ञा से कोई व्यक्ति एक या अनेक साधु या साध्वियों के लिए प्राण भूत आदि की हिंसा करके वस्त्र तैयार करे तो साधु-साध्वी को वह वस्त्र नहीं लेना चाहिए।

यदि वह बहुत से शाक्य आदि श्रमण-ब्राह्मणों के लिए तैयार किया गया है और वह पुरुषान्तर हो गया तो साधु उसे ग्रहण कर सकता है। यह सारा प्रकरण पिण्डैषणा के प्रकरण की तरह समझना चाहिए।

**हिन्दी विवेचन**— प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि साधु-साध्वी को आधाकर्म आदि दोष युक्त वस्त्र ग्रहण नहीं करना चाहिए। यदि किसी व्यक्ति ने एक या अनेक साधुओं या एक और अनेक साध्वियों को उद्देश्य करके वस्त्र बनाया हो तो साधु-साध्वी को वह वस्त्र ग्रहण नहीं करना चाहिए। यदि वह वस्त्र किसी शाक्य आदि श्रमण या ब्राह्मणों के लिए बनाया गया हो, परन्तु पुरुषान्तर कृत नहीं हुआ हो तो वह वस्त्र भी स्वीकार न करे। यदि वह पुरुषान्तर कृत हो गया है तो साधु उसे ग्रहण कर सकता है। वस्त्र ग्रहण करने या न करने की सारी विधि आहार ग्रहण करने की विधि की तरह ही है। अतः सूत्रकार ने यह स्पष्ट कर दिया है कि इस प्रकरण को पिण्डैषणा के प्रकरण की तरह समझना चाहिए। अर्थात् साधु को सदा निर्दोष वस्त्र ही ग्रहण करना चाहिए।

अब उत्तर गुणों की शुद्धि को रखते हुए वस्त्र ग्रहण की मर्यादा का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्**— से भि० से जं० असंजए भिक्खुपडियाए कीयं वा धोयं वा रत्तं वा घट्ठं वा मट्ठं वा संपधूमियं वा तहप्पगारं वत्थं अपुरिसंतरकडं जाव नो० अह पु० पुरिसं० जाव पडिगाहिज्जा ॥१४४॥

**छाया**— स भिक्षुर्वा० स यत् असंयतः भिक्षुप्रतिज्ञया क्रीतं वा धौतं वा रक्तं वा घृष्टं वा मृष्टं वा सम्प्रधूपितं वा तथाप्रकारं वस्त्रं अपुरुषान्तरकृतं यावत् नो प्रतिगृहणीयात्। अथ पुनरेवं जानीयात् पुरुषान्तरकृतं यावत् प्रतिगृहणीयात्।

**पदार्थ**— से भि०—वह साधु अथवा साध्वी। से जं०—वस्त्र के विषय में फिर यह जाने कि। असंजए—असंयत-गृहस्थ ने। भिक्खुपडियाए—साधु के लिए यदि। कीयं वा—वस्त्र मोल लिया हो। धोयं वा—धोकर रखा हो। रत्तं वा—रंग कर रखा हो। घट्ठं वा—घिसा हो। मट्ठं वा—मसला हो और। संपधूमियं वा—धूप से सुवासित किया हो तो। तहप्पगारं—तथा प्रकार के। वत्थं—वस्त्र को। अपुरिसंतरकडं—जो कि पुरुषान्तर कृत नहीं है। जाव—यावत्। नो०—ग्रहण न करे। अह पुण—और यदि यह जाने कि—। पुरिसं०—पुरुषान्तरकृत है तो। जाव—यावत्। पडिगाहिज्जा—ग्रहण कर ले।

**मूलार्थ**—संयमशील साधु या साध्वी को वस्त्र के विषय में यह जानना चाहिए कि यदि किसी गृहस्थ ने साधु के लिए वस्त्र खरीदा हो, धोया हो, रंगा हो, घिस कर साफ किया हो, शृंगारित किया हो या धूप आदि से सुगन्धित किया हो और वह पुरुषान्तरकृत नहीं हुआ है तो साधु-साध्वी उसे ग्रहण न करे। यदि वह पुरुषान्तर कृत हो गया है तो साधु-साध्वी उसे ग्रहण कर सकते हैं।

**हिन्दी विवेचन**— प्रस्तुत सूत्र में उत्तर गुण में लगने वाले दोषों से बचने का आदेश दिया गया है। इस में बताया गया है कि जो वस्त्र साधु के लिए खरीदा गया हो<sup>१</sup>, धोया गया हो, रंगा गया हो<sup>२</sup>, अच्छी तरह से रगड़ कर साफ किया गया हो, शृंगारित किया गया हो या धूप<sup>३</sup> आदि से सुवासित बनाया गया हो तो साधु को वैसा वस्त्र ग्रहण नहीं करना चाहिए। यदि इस तरह का वस्त्र पुरुषान्तर कृत हो गया हो तो साधु उसे ग्रहण कर सकता है। इससे स्पष्ट होता है कि जो वस्त्र मूल से साधु के लिए ही तैयार किया गया हो उसे साधु किसी भी स्थिति-परिस्थिति में स्वीकार न करे-चाहे वह पुरुषान्तर कृत हो या न हो, हर हालत में वह अकल्पनीय है। परन्तु, जो वस्त्र मूल से साधु के लिए नहीं बनाया गया है, परन्तु उसके तैयार होने के बाद साधु के निमित्त उसमें कुछ विशेष क्रियाएं की गई हैं। ऐसी स्थिति में साधु उसे तब तक स्वीकृत नहीं कर सकता, जब तक कि वह पुरुषान्तरकृत नहीं हो गया है। यदि किसी व्यक्ति ने उसे अपने उपयोग में ले लिया है, तो फिर साधु उसे ले भी सकता है।

इस वस्त्र प्रकरण को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्**— से भिक्खू वा २ से जाइं पुण वत्थाइं जाणिज्जा, विरूवरूवाइं महद्धणमुल्लाइं, तंजहा-आईणगाणि वा सहिणाणि वा सहिणकल्लणाणि वा आयाणि वा कायाणि वा खोमियाणि वा दुगुल्लाणि वा पट्टाणि वा मलयाणि वा पन्नुणाणि वा अंसुयाणि वा चीणंसुयाणि वा देसरागाणि वा अमिलाणि वा गज्जफलाणि वा फालियाणि वा कोयवाणि वा कंबलगाणि वा पावराणि वा, अन्नयराणि वा तहं वत्थाइं महद्धणमुल्लाइं लाभे संते नो पडिगाहिज्जा ।

से भि० आइण्णपाउरणाणि वत्थाणि जाणिज्जा तं०-उहाणि वा पेसाणि वा पेसलाणि वा किण्हमिगाईणगाणि वा, नीलमिगाईणगाणि वा गोरमि० कणगाणि वा कणगकंताणि वा कणगपट्टाणि वा कणगखइयाणि वा कणगफुसियाणि वा वग्घाणि वा विवग्घाणि वा ( विगाणि वा ) आभरणाणि वा आभरणविचित्ताणि वा, अन्नयराणि तहं आइणपाउरणाणि वत्थाणि लाभे

१ साधु के लिए खरीदा गया वस्त्र साधु को लेना नहीं कल्पता। परन्तु, यदि उसका किसी व्यक्ति ने अपने लिए उपयोग कर लिया हो तो फिर वह वस्त्र साधु के लिए अकल्पनीय नहीं रहता है।

२ यह पाठ तीनों काल के साधुओं को दृष्टि में रख कर रखा गया है। क्योंकि भगवान अजितनाथ से लेकर पार्श्वनाथ तक के साधु-साध्वी पांचों रंग के वस्त्र ग्रहण कर सकते थे। या इसका उद्देश्य किसी ऐसे रङ्ग से है जो लगाने के बाद तुरन्त उड़ जाता हो। जैसे— आजकल कुछ सेप्ट एवं इतर रंगीन होते हैं और वस्त्र पर लगते समय उनका धुंधला सा रंग भी आता है परन्तु वह तुरन्त उड़ जाता है। उनका प्रयोग केवल सुगन्धि के लिए किया जाता है।

३ पहले से जल रहे धूप में उस वस्त्र को रख कर सुवासित किया गया हो ऐसा प्रतीत होता है।

संते नो० ॥१४५॥

छाया- स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा स यानि पुनः वस्त्राणि जानीयात् विरूपरूपाणि महाधनमूल्यानि, तद्यथा आजिनानि वा श्लक्ष्णानि वा श्लक्ष्णकल्याणानि वा आजकानि वा कायकानि वा क्षौमिकानि वा दूकूलानि वा पट्टानि वा मलयानि वा प्रनुन्नानि वा अंशुकानि वा चीनांशुकानि वा देशरागाणि वा अमिलानि वा गज्जफलानि वा फालिकानि वा कोयवानि वा कम्बलकानि वा प्रावराणि वा अन्यतराणि वा तथाप्रकाराणि वा वस्त्राणि वा महाधनमूल्यानि लाभे सति न प्रतिगृणहीयात् ॥

स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा आजिनप्रावरणीयानि वस्त्राणि जानीयात्, तद्यथा उद्राणि वा पैसानि वा पेशलानि वा कृष्णमृगाजिनानि वा नीलमृगाजिनानि वा, गौरमृगाजिनानि वा कनकानि वा कनककान्तीनि वा कनकपट्टानि वा कनकखचितानि वा कनकस्पृष्टानि वा व्याघ्राणि वा व्याघ्रचर्मविचित्रितानि वा आभरणानि वा आभरणविचित्राणि वा अन्यतराणि तथाप्रकाराणि आजिनप्रावरणानि वस्त्राणि लाभे सति नो प्रतिगृणहीयात् ।

पदार्थ- से भिक्खू वा-वह साधु अथवा साध्वी । से जाईं पुण वत्थाइं-जिन वस्त्रों के विषय में । जाणिजा-जाने । विरूवरूवाइं-नाना प्रकार के । महद्धणमुल्लाईं-बहुमूल्य वस्त्र । तं-जैसे कि- । आईणगाणि वा-मूषक आदि के चर्म से निष्पन्न । साहिण्णाणि वा-श्लक्ष्ण-अत्यन्त सूक्ष्म । सहिणकल्लाणाणि वा-सूक्ष्म और कल्याणकारी । आयाणि वा-भेड़ या भेड़ के सूक्ष्म रोमों से निर्मित वस्त्र । कायाणि वा-इन्द्र नील वर्ण की कपास से निष्पन्न । खोमियाणि वा-सामान्य कपास से बनाया गया वस्त्र । दुगुल्लाणि-गौड़ देश में उत्पन्न होने वाली विशिष्ट-प्रकार की कपास से निष्पन्न । पट्टाणि-पट्टसूत्र-रेशम से निष्पन्न । मलयाणि वा-मलयज सूत्र से बनाया गया वस्त्र । पनुन्नाणि वा-चल्कल के तंतुओं से निर्मित वस्त्र । अंसुयाणि वा-अंशुक देश-विदेश में उत्पन्न होने वाला महार्थ वस्त्र । चीणंसुयाणि वा-चीनांशुक-चीन देश का बना हुआ रेशमी वस्त्र । देसरागाणि वा-नाना प्रकार के देशों के बने हुए विशिष्ट वस्त्र या देश राग में निर्मित वस्त्र । अमिलाणि वा-आमिल नामक देश में उत्पन्न होने वाले वस्त्र । गज्जफलाणि वा-गजफल नामक देश के विशिष्ट वस्त्र । फालियाणि वा-फलिय देश में उत्पन्न होने वाले असाधारण वस्त्र । कोयवाणि वा-कोयव नाम के देश के बने हुए । कंबलगाणि वा-विशिष्ट प्रकार के कम्बल । प्रावराणि वा-प्रावरण-कम्बल विशेष तथा इसी प्रकार के । अन्नयराणि वा-कई एक अन्य वस्त्र विशेष । तहं-तथाप्रकार के वस्त्र । महद्धणमुल्लाईं-जो बहुमूल्य हैं ऐसे वस्त्रों के । लाभे संते-मिलने पर । नो पडिगाहिजा-साधु उन्हें ग्रहण न करे ।

से भिक्खू-वह साधु या साध्वी । अइण्णपाउरणाणि-चर्म निष्पन्न पहरने वाले । वत्थाणि वा-वस्त्रों को । जाणिजा-जाने । तंजहा-जैसे कि । उद्दाणि वा-सिंधु देश में होने वाले मत्स्य के सूक्ष्म चर्म से निष्पन्न वस्त्र । पैसाणि वा-सिंधु देश में होने वाले पशुओं के सूक्ष्म चर्म से बने हुए तथा । पैसलाणि वा-उस चर्म पर के सूक्ष्म रोमों से निष्पन्न हुए वस्त्र तथा । किण्हमिगाईणगाणि वा-कृष्णमृग के चर्म के बने हुए वस्त्र । नीलमिगाईणगाणि वा-नीलमृग के चर्म से निष्पन्न और । गोरमिं-गौर-श्वेत मृगचर्म से निष्पन्न वस्त्र । कणगाणि वा-कनक-सोने की झाल से बनाए गए तथा । कणगकंताणि वा-कनक के समान कान्ति वाले और । कणगपट्टाणि वा-सोने

के रस से बनाए गए एवं। कणगखड्याणि वा-सोने के तारों से निर्मित। कणगफुसियाणि वा-सोने के स्तबकों से युक्त वस्त्र। वग्घाणि वा-व्याघ्र चर्म निर्मित वस्त्र अथवा। विवग्घाणि वा-नाना प्रकार के व्याघ्र चर्म निष्पन्न वस्त्र अथवा। विगाणि वा-वृक चर्म से निष्पादित वस्त्र। आभरणाणि वा- प्रधान आभरणों से विभूषित वस्त्र अथवा। आभरणविचित्राणि वा-विचित्र प्रकार के आभरणों से विभूषित और। अन्नयराणि वा-अन्य कई एक। तहृष्यगाराणि-तथा प्रकार के। आईणपाउरणाणि-चर्म निष्पन्न पहरने योग्य। वत्थाणि-वस्त्र। लाभे संते-मिलने पर। नो पडिगाहिज्जा-साधु ग्रहण न करे।

**मूलार्थ**—संयमशील साधु अथवा साध्वी को महाधन से प्राप्त होने वाले नाना प्रकार के बहुमूल्य वस्त्रों के सम्बन्ध में जानना चाहिए और मूषकादि के चर्म से निष्पन्न, अत्यन्त सूक्ष्म, वर्ण और सौन्दर्य से सुशोभित वस्त्र तथा देशविशेषोत्पन्न बकरी या बकरे के रोमों से बनाए गए वस्त्र एवं देशविशेषोत्पन्न इन्द्रनील वर्ण कपास से निर्मित, समान कपास से बने हुए और गौड़ देश की विशिष्ट प्रकार की कपास से बने हुए वस्त्र, पट्ट सूत्र-रेशम से, मलय सूत्र से और वल्कल तन्तुओं से बनाए गए वस्त्र तथा अंशुक और चीनांशुक, देशराज नामक देश के, अमल देश के तथा गजफल देश के और फलक तथा कोयब देश के बने हुए प्रधान वस्त्र अथवा ऊर्ण कम्बल तथा अन्य बहुमूल्य वस्त्र-कम्बल विशेष और अन्य इसी प्रकार के अन्य भी बहुमूल्य वस्त्र, प्राप्त होने पर भी विचारशील साधु उन्हें ग्रहण न करे।

संयमशील साधु या साध्वी को चर्म एवं रोम से निष्पन्न वस्त्रों के सम्बन्ध में भी परिज्ञान करना चाहिए। जैसे- सिन्धुदेश के मत्स्य के चर्म और रोमों से बने हुए, सिन्धु देश के सूक्ष्मचर्म वाले पशुओं के चर्म एवं रोमों से बने हुए तथा उस चर्म पर स्थित सूक्ष्म रोमों से बने हुए एवं कृष्ण, नील और श्वेत मृग के चर्म और रोमों से बने हुए तथा स्वर्णजल से सुशोभित, स्वर्ण के समान कांति और स्वर्ण रस के स्तबकों से विभूषित, स्वर्ण तारों से खचित और स्वर्ण चन्द्रिकाओं से स्पर्शित बहुमूल्य वस्त्र अथवा व्याघ्र या वृक के चर्म से बने हुए, सामान्य और विशेष प्रकार के आभरणों से सुशोभित अन्य प्रकार के चर्म एवं रोमों से निष्पन्न वस्त्रों को मिलने पर भी संयमशील मुनि स्वीकार न करे।

**हिन्दी विवेचन**— प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि साधु को देश या विदेश में बने हुए विशिष्ट रेशम, सूत, चर्म एवं रोमों के बहुमूल्य वस्त्रों को ग्रहण नहीं करना चाहिए। ऐसे कीमती वस्त्रों को देखकर चोरों के मन में दुर्भाव पैदा हो सकता है और साधु के मन में भी ममत्व भाव जागृत हो सकता है। चर्म एवं मुलायम रोमों के वस्त्र के लिए पशुओं की हिंसा भी होती है। अतः पूर्ण अहिंसक साधु के लिए ऐसे कीमती एवं महारम्भ से बने वस्त्र ग्राह्य नहीं हो सकते। इसलिए भगवान ने साधु के लिए ऐसे वस्त्र ग्रहण करने का निषेध किया है।

प्रस्तुत सूत्र से यह स्पष्ट होता है कि भारतीय एवं भारतीय सीमा के निकट के देशों में वस्त्र उद्योग काफी उन्नति पर था और उस समय मशीनरी युग से भी अधिक सुन्दर और टिकाऊ वस्त्र बनता था। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि उस युग में भारत आज से अधिक खुशहाल था। उसका व्यापारिक व्यवसाय अधिक व्यापक था। चीन एवं उसके निकटवर्ती देशों से वस्त्र का आयात एवं निर्यात होता रहता

था। इससे यह स्पष्ट जानकारी मिलती है कि उस युग में शिल्पकला विकास की चरम सीमा पर पहुंच चुकी थी और जनता का जीवनस्तर काफी उन्नत था। भारत में गरीबी, भुखमरी एवं अभाव कम था और अन्य देशों के साथ भारत के व्यापारिक सम्बन्ध भी काफी अच्छे थे। उस युग के भारतीय औद्योगिक, व्यवसायिक एवं व्यापारिक इतिहास की शोध करने वाले इतिहास वेत्ताओं के लिए प्रस्तुत सूत्र बहुत ही महत्वपूर्ण है।

वस्त्र ग्रहण करते समय किए जाने वाले अभिग्रहों का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्—** इच्छेइयाइं आयतणाइं उवाइकम्म अह भिक्खू जाणिज्जा चउहिं पडिमाहिं वत्थं एसित्तए, तत्थ खलु इमा पढमापडिमा, से भि० २ उद्देसिय वत्थं जाइज्जा, तं०—जंगियं वा जाव तूलकडं वा, तह० वत्थं सयं वा णं जाइज्जा, परो० फासुयं पडि०, पढमा पडिमा ( १ ) अहावरा दुच्चा पडिमा से भि० पेहाए वत्थं जाइज्जा गाहावई वा० कम्मकरी वा, से पुव्वामेव आलोइज्जा—आउसोत्ति वा २ दाहिसि मे इत्तो अन्नयरं वत्थं ? तहप्प० वत्थं सयं वा० परो० फासुयं एस० लाभे० पडि० दुच्चा पडिमा, ( २ ) अहावरा तच्चा पडिमा— से भिक्खू वा० से जं पुण० तं अंतरिज्जं वा उत्तरिज्जं वा तहप्पगारं वत्थं सयं० पडि०, तच्चा पडिमा ( ३ ) अहावरा चउत्था पडिमा—से० उज्झियधम्मियं वत्थं जाइज्जा जं चउन्ने बहवे समण० वणीमगा नावकंखंति तहप्प० उज्झिय० वत्थं सयं० परो० फासुयं जाव प० चउत्थापडिमा ( ४ ) इच्छेयाणं चउण्हं पडिमाणं जहा पिंडेसणाए। सिया णं एताए एसणाए एसमाणं परो वइज्जा—आउसंतो समणा ! इज्जाहि तुमं मासेण वा दसराएण वा पंचराएण वा सुते सुततरे वा तो ते वयं अन्नयरं वत्थं दाहामो, एयप्पगारं निग्घोसं सुच्चा निसम्म से पुव्वामेव आलोइज्जा— आउसोत्ति वा ! २ नो खलु मे कप्पइ एयप्पगारं संगारं पडिसुणित्तए, अभिकंखसि मे दाउं इयाणिमेव दलयाहि, से णेवं वयंतं परो वइज्जा—आउ० स० ! अणुगच्छाहि तो ते वयं अन्नं० वत्थं दाहामो, से पुव्वामेव आलोइज्जा—आउसोत्ति ! वा २ नो खलु मे कप्पइ संगारवयणे पडिसुणित्तए० से सेवं वयंतं परो णेया वइज्जा—आउसोत्ति वा ! भइणित्ति वा ! आहरेयं वत्थं समणस्स वा दाहामो, अवियाइं वयं पच्छावि अप्पणो सयट्ठाए पाणाइं ४ समारंभ—समुद्दिस्स जाव चेइस्सामो, एयप्पगारं निग्घोसं सुच्चा निसम्म तहप्पगारं वत्थं अफासुयं जाव नो पडिगाहिज्जा। सिया णं परो नेता वइज्जा ! आउसोत्ति वा ! २ आहर एयं वत्थं सिणाणेण वा ४

आघंसित्ता वा प० समणस्स णं दाहामो, एयप्पगारं निग्घोसं सुच्चा नि० से पुव्वामेव आउ० भ० ! मा एयं तुमं वत्थं सिणाणेण वा जाव पघंसाहि वा, अभि० एमेव दलयाहि, से सेवं वयंतस्स परो सिणाणेण वा पघं सित्ता दलइज्जा, तहप्प० वत्थं अफा० नो० पडिगाहिज्जा ॥ से णं परो नेता वइज्जा - भ० ! आहर एयं वत्थं सीओदगवियडेण वा २ उच्छोलेत्ता वा पहोवेत्ता वा समणस्स णं दाहामो०, एय० निग्घोसं तहेव नवरं मा एयं तुमं वत्थं सीओदग० उसि० उच्छोलेहि वा, पधोवेहि वा, अभिकंखसि० सेसं तहेव जाव नो पडिगाहिज्जा ॥ से णं परो ने० आ० भ० ! आहरेयं वत्थं कंदाणि वा जाव हरियाणि वा विसोहित्ता समणस्स णं दाहामो, एय० निग्घोसं तहेव, नवरं मा एयाणि तुमं कंदाणि वा जाव विसोहेहि, नो खलु मे कप्पइ एयप्पगारे वत्थे पडिगाहित्ते, से सेवं वयंतस्स परो जाव विसोहित्ता दलइज्जा, तहप्प० वत्थं अफासुयं नो पडिगाहिज्जा ॥ सिया से परो नेता वत्थं निसिरिज्जा, से पुव्वा० आ० भ० ! तुमं चेव णं संतयं वत्थं अंतोअंतेणं पडिलेहिज्जिस्सामि, केवली बूया आ०, वत्थंतेण बद्धे सिया कुंडले वा गुणे वा हिरण्णे वा सुवण्णे वा मणी वा जाव रयणावली वा पाणे वा बीए वा हरिए वा अह भिक्खूणं पु० जं पुव्वामेव वत्थं अंतोअंतेणं पडिलेहिज्जा ॥१४६ ॥

छाया— इत्येतानि आयतनानि उपातिक्रम्य अथ भिक्षुः जानीयात् चतसृभिः प्रतिमाभिः वस्त्रमेषितुं ( अन्वेष्टुं ) तत्र खलु ( १ ) इयं प्रथमा प्रतिमा-स भि० उद्दिश्य वस्त्रं याचेत्, तद्यथा-स जांगमिकं वा यावत् तूलकृतं वा तथाप्रकारं वस्त्रं स्वयं वा याचेत् परो० प्रासुकं० प्रति० प्रथमा प्रतिमा ( २ ) अथापरा द्वितीया प्रतिमा-स भिक्षुर्वा० प्रेक्ष्य वस्त्रं याचेत् गृहपति वा० कर्मकरी वा स पूर्वमेव आलोचयेत्- आयुष्मन् इति वा दास्यसि मे इतः अन्यतरद् वस्त्रं ? तथाप्रकारं वस्त्रं स्वयं वा० परो० प्रासुकमेषणीयं लाभे० प्रति०, द्वितीया प्रतिमा ( ३ ) अथापरा तृतीया प्रतिमा- स भिक्षुर्वा० स यत् पुनः तमन्तरीयं वा उत्तरीयं वा तथाप्रकारं वस्त्रं स्वयं० प्रतिगृहणीयात्, तृतीया प्रतिमा । ( ४ ) अथापरा चतुर्थी प्रतिमा-स० उज्झितधर्मिकं वस्त्रं याचेत् यच्च अन्ये बहवः श्रमण० वनीपकाः नावकांक्षन्ति तथाप्रकारं उज्झित० वस्त्रं स्वयं परो० प्रासुकं यावत् प्रतिगृहणीयात्, चतुर्थी प्रतिमा । आसां चतसृणां प्रतिमानां यथा पिंडैषणायां ( अर्थात् शेषो विधिः पिंडैषणावन्नेयः ) । स्यात् ( कदाचित् ) एतया एषणया एषयन्तं परो वदेत्-आयुष्मन् श्रमण ! गच्छ त्वं मासेन वा दशरात्रेण वा पञ्चरात्रेण वा श्वः परश्वो वा ततः ते वयं अन्यतरद् वस्त्रं दास्यामः एतद्प्रकारं निर्घोषं श्रुत्वा निशम्य स पूर्वमेव आलोचयेत् आयुष्मन्!

इति वा २ न खलु मे कल्पते एतत्प्रकारं संकेतं प्रतिश्रोतुं, अभिकांक्षसि मे दातुमिदानीमेव ददस्व ? तमेवं वदन्तं परो वदेत्, आयुष्मन् श्रमण ! अनुगच्छ तावत् ते वयं अन्यतरद् वस्त्रं दास्यामः, स पूर्वमेव आलोचयेत् आयुष्मन् इति वा २ न खलु मे कल्पते संकेतवचनं प्रतिश्रोतुं तं तदेवं वदन्तं परो नेता वदेत्-आयुष्मन् इति वा भगिनि ! इति वा आहर एतद् वस्त्रं श्रमणाय दास्यामः अपि च वयं पश्चादपि आत्मनः-स्वार्थं-( आत्मार्थं ) प्राणानि ४ समारभ्य समुद्दिश्य यावत् चेतयिष्यामः-करिष्यामः, एतत्प्रकारं निर्घोषं श्रुत्वा निशम्य तथाप्रकारं वस्त्रमप्रासुकं यावत् न प्रतिगृहणीयात् । स्यात् परो नेता वदेत् आयुष्मन् इति वा आहर एतद् वस्त्रं स्नानेन वा ४ आघर्ष्य वा प्रघर्ष्य वा श्रमणाय दास्यामः, एतत् प्रकारं निर्घोषं श्रुत्वा निशम्य स पूर्वमेव आयुष्मन् ! इति वा भगिनि ! इति मा एतत् त्वं वस्त्रं स्नानेन वा यावत् प्रघर्षस्व ? अभिकांक्षसि मे दातुं एवमेव ददस्व ! स तस्यैवं वदतः परः स्नानेन वा प्रघर्ष्य दद्यात् तथाप्रकारं वस्त्रमप्रासुकं न प्रतिगृहणीयात् । स परो नेता वदेत् भगिनि ! आहर एतद् वस्त्रं शीतोदकविकटेन वा २ उत्क्षाल्य वा प्रक्षाल्य वा श्रमणाय दास्यामः० एतत्प्रकारं निर्घोषं तथैव नवरं मा एतत् त्वं वस्त्रं शीतोदक० उष्णोदक० उत्क्षाल्य वा प्रक्षाल्य वा, अभिकांक्षसि, शेषं तथैव यावत् न प्रतिगृहणीयात् । स परो नेता आ० भ० आहर एतद् वस्त्रं कन्दानि वा यावत् हरितानि वा विशोध्य श्रमणाय दास्यामः एतत्प्रकारं निर्घोषं, तथैव, नवरं मा एतानि त्वं कन्दानि वा यावद् विशोध्य । नो खलु मे कल्पते एतत्प्रकाराणि वस्त्राणि प्रतिग्रहीतुं, स तस्यैवं वदतः परो यावत् विशोध्य दद्यात्, तथाप्रकारं वस्त्रमप्रासुकं न प्रतिगृहणीयात् । स्यात् स परो नेता वस्त्रं निसृजेत् । स पूर्वमेव० आ० भ० ! त्वं चैव सान्तिकं वस्त्रं अन्तोपान्तेन प्रत्युपेक्षिष्ये, केवली ब्रूयात् आदानमेतत् वस्त्रान्तेन बद्धं स्यात्, कुण्डलं वा गुणं वा हिरण्यं वा, सुवर्णं वा मणिं वा यावत् रत्नावली वा, प्राणी वा बीजं वा हरितं वा, अथ भिक्षूणां पूर्वोपदिष्टमेतत् यत् पूर्वमेव वस्त्रं अन्तोपान्तेन प्रतिलेखयेत् ।

**पदार्थ-** इच्छेइयाइं-ये पूर्वोक्त तथा वक्ष्यमाण । आयतणाइं-वस्त्रेषणा के स्थान । उवाइकम्म-इनको अतिक्रम करके अर्थात् छोड़कर । अह-अथ । भिक्खू-भिक्षु-साधु । चउहिं पडिमाहिं-चार प्रतिमाओं-अभिग्रह विशेषों से । वत्थं-वस्त्र की । एसित्तए-गवेषणा करनी हो तो वह उन्हें । जाणिज्जा-जाने । तत्थ-उन चार प्रतिमाओं में से । इमा-यह । पढमा-पहली । पडिमा-प्रतिमा है । से भिक्खू वा २-वह साधु या साध्वी । उद्देसिय-मन में निश्चित किए हुए । वत्थं-वस्त्र की । जाइज्जा-याचना करे । तंजहा-जैसे कि । जंगियं वा-जंगम जीवों के रोमों से निष्पन्न होने वाले । जाव-यावत् । तूलकडं वा-अर्कतूल निर्मित वस्त्र । तहप्परारं-तथाप्रकार के । वत्थं-वस्त्र की । सयं वा पां-स्वयं । जाइज्जा-याचना करे या । परो-गृहस्थ देवे तो । फासुयं-प्रासुक और एषणीय जानकर । पडिं-उसे ग्रहण कर ले । पढमा पडिमा-यह पहली प्रतिमा है । अहावरा दोच्चा पडिमा-अब दूसरी प्रतिमा के विषय में कहते हैं । से भिं-वह साधु या साध्वी । पेहाए-देखकर । वत्थं-वस्त्र की । जाइज्जा-याचना करे । गाहावई वां-गृहपति यावत् । कम्मकरी वा-दास दासी आदि गृहस्थों से । से-वह साधु । पुव्वामेव-पहले ही । आलोएज्जा-वस्त्र को देखे, देखकर इस तरह कहे । आउसोत्ति वा २-आयुष्मन् गृहस्थ ! अथवा भगिनि !



बहिन! क्या तुम। मे-मुझे। इतो-इन वस्त्रों में से। अन्नयरं-किसी। वत्थं-वस्त्र को। दाहिसि-दोगे ? तहप्पं-  
 तथाप्रकार के। वत्थं-वस्त्र की। सयं वा-स्वयं याचना करे या। परो-यदि गृहस्थ बिना मांगे ही देवे तो।  
 फासुर्यं-प्रासुक तथा। एसं-एषणीय जानकर। लाभे-मिलने पर। पडिं-ग्रहण कर ले। दुच्चा पडिमा-यह  
 दूसरी प्रतिमा-अभिग्रह विशेष है। अहावरा तच्चा पडिमा-अब तीसरी प्रतिमा को कहते हैं। से भिक्खू वा-वह  
 साधु या साध्वी। से जं पुणं-फिर वस्त्र के सम्बन्ध में जाने। तं-जैसे कि। अंतरिज्जं वा-गृहस्थ का भीगा हुआ  
 अथवा। उत्तरिज्जं वा-गृहस्थ के पहनने का उत्तरासन। तहप्पगारं-तथाप्रकार के। वत्थं-वस्त्र की। सयं-स्वयं  
 याचना करे या गृहस्थ बिना मांगे ही स्वयं देवे तो प्रासुक और एषणीय जानकर मिलने पर। पडिं-ग्रहण कर ले।  
 तच्चा पडिमा-यह तीसरी प्रतिमा है। अहावरा चउत्था पडिमा-अब चौथी प्रतिमा को कहते हैं। से भिक्खू  
 वा-वह-संयमशील साधु या साध्वी। उज्झियधम्मियं-उत्सृष्ट धर्म वाला अर्थात् जो गृहस्थ ने भोग लिया है। और  
 जो फिर उसके काम में आने वाला नहीं इस प्रकार के। वत्थं-वस्त्र की। जाइजा-याचना करे। जं च-और  
 जिसको। अन्ने-अन्य। बहवे-बहुत से। समणं-शाक्यादि भिक्षु यावत्। वणीमगा-भिखारी लोग। नावकंखंति-  
 नहीं चाहते। तहप्पं-तथाप्रकार के। उज्झियं-उज्झित धर्म वाले। वत्थं-वस्त्र को। सयं-स्वयं मांगे। परो-  
 गृहस्थ दे तो। फासुर्यं-प्रासुक। जाव-यावत् एषणीय जानकर। पडिगां-ग्रहण कर ले। चउत्था पडिमा-यह  
 चौथी प्रतिमा कही है। इच्च्येयार्णं-इन। चउण्हं पडिमाणं-चार प्रतिमाओं के विषय में। जहा-जैसे। पिण्डेसणाए-  
 पिण्डेषणा अर्घ्ययन में वर्णन किया गया है उसी प्रकार यहां समझना चाहिए। णं-वाक्यालंकार में है। सिया-  
 कदाचित्। एताए-इन पूर्वोक्त। एसणाए-एषणा अर्थात् वस्त्रेषणा से। एसमाणं-वस्त्र की गवेषणा करने वाले  
 साधु के प्रति। परो-कोई अन्य गृहस्थ। वइजा-कहे कि। आउसंतो समणा-आयुष्मन् श्रमण। तुमं इजाहि-तुम  
 इस समय जाओ ! किन्तु। मासेण वा-एक भास के बाद अथवा। दसराएण वा-दस दिन के बाद अथवा।  
 पंचराएण वा-पांच दिन के बाद अथवा। सुते सुततरे वा-कल या कल के अन्तर से तुम आना। तो-तब। वयं-  
 हम। ते-तेरे को। वत्थं-वस्त्र। दाहामो-देवेंगे। एयप्पगारं-इस प्रकार के। निग्घोसं-शब्द को। सुच्चा-सुनकर।  
 निसम्म-हृदय में धारण कर। से-वह-साधु। पुव्वामेव-पहले ही। आलोइजा-देखे और देखकर इस प्रकार  
 कहे। आउसोत्ति वा-आयुष्मन् गृहस्थ ! अथवा भगिनि ! नो मे कप्पइ-मुझे नहीं कल्पता। एयप्पगारं-इस  
 प्रकार का। संगारं-प्रतिज्ञा वचन। पडिसुणित्तए-सुनना अर्थात् मैं आपके इस प्रतिज्ञा वचन को स्वीकार नहीं कर  
 सकता यदि तुम। मे-मुझे। दाउं-देना। अभिकंखसि-चाहते हो तो। इयाणीमेव-इसी समय। दलयाहि-दे दो।  
 से एवं वयंतं-उस साधु के इस प्रकार कहने पर भी यदि। परो-गृहस्थ। वइजा-कहे कि। आउं स-आयुष्मन्  
 श्रमण ! अणुगच्छहि-अब तो तुम जाओ, थोड़े समय के पश्चात् तुम लेने आ जाना। तो-उस समय पर। वयं-  
 हम। ते-तुझे। अन्नं-कोई। वत्थं-वस्त्र। दाहामो-दे देंगे। से पुव्वामेव आलोइजा-वह साधु पहले ही देखे  
 और देखकर गृहस्थ के प्रति कहे। आउसोत्ति वा २-आयुष्मन् गृहस्थ ! अथवा भगिनि। संगारवयणे-प्रतिज्ञा  
 युक्त वचन। पडिसुणित्तए-स्वीकार करना। नो खलु मे कप्पइ-मुझे नहीं कल्पता। यदि मुझे तुम देना चाहते हो  
 तो इसी समय दे दो। सेवं वयंतं-इस प्रकार बोलते हुए भिक्षु के प्रति। से परो पोया-वह नेता-गृहस्थ घर के किसी  
 व्यक्ति को यदि। वइजा-कहे कि। आउसोत्ति वा-हे आयुष्मन् ! अथवा। भइणित्ति वा-हे बहिन ! एयं वत्थं-  
 वह वस्त्र। आहर-लाओ। समणस्स-साधु को। दाहामो-देंगे। अविचाइं-बछापि। वयं-हम। पच्छावि-पीछे  
 भी। अप्पणो सयट्ठाए-अपने लिए। पाणाइं-प्राणियों का। समारम्भ-समारम्भ करके। समुद्दिस्स-उद्देश्य

करके। जाव-यावत्। चेइस्सामो-वस्त्र बना लेंगे। एयप्पगारं-इस प्रकार के। निग्घोसं-शब्द को। सुच्चा-सुनकर। निसम्म-विचार कर। तहप्पगारं-तथाप्रकार के। वत्थं-वस्त्र को। अफासुयं-अप्रासुक। जाव-यावत् अनेषणीय जानकर। नो पडिगाहिज्जा-ग्रहण न करे। णं-वाक्यालंकार में है। सिया-कदाचित्। परो नेता-अन्य गृहस्थ-गृहस्वामी यदि। वइज्जा-घर के किसी स्त्री या पुरुष को इस प्रकार आमन्त्रित करता हुआ कहे। आउसोत्ति वा २-आयुष्मन्! अथवा बहन! एयं वत्थं-वह वस्त्र। आहर-ला, इसको। सिणाणेण वा ४-स्नानादि सुगन्धित द्रव्यों से आघर्षण करके। पं-प्रघर्षण करके। समणस्स-श्रमण-साधु को। दाहामो-देंगे। णं-वाक्यालंकार में है। एयप्पगारं-इस प्रकार के निर्घोष शब्द को। सुच्चा-सुनकर। निसम्म-हृदय में विचार कर। से-वह साधु। पुव्वामेव-पहले ही देख कर कहे कि। आउं-हे आयुष्मन्! अथवा। भं-हे भगिनि! तुमं-तुम। एयं वत्थं-इस वस्त्र को। सिणाणेण वा-स्नानादि से। जाव-यावत्। मा पघंसाहि-मत प्रघर्षित करो? अभिं-यदि तुम देना चाहते हो तो। एमेव दलयाहि-इसी तरह दे दो? सेवं वयंतस्स-उसके इस प्रकार कहने पर। से परो-वह गृहस्थ यदि। सिणाणेण वा-स्नानादि से। पघंसित्ता-प्रघर्षित करके। दलइज्जा-देवे तो। तहप्पं-तथाप्रकार के। वत्थं-वस्त्र को। अफासुयं-अप्रासुक जानकर। नो पं-ग्रहण न करे। णं-वाक्यालंकार में है। से परो-वह गृहस्थ। नेता-गृह स्वामी यदि घर के किसी भी व्यक्ति को। वइज्जा-कहे। भं-हे भगिनि! आहर-ला। एयं वत्थं-वह वस्त्र उसको। सीओदगवियडेण वा-निर्मल शीतल या उष्ण जल से। उच्छोलेत्ता वा-उत्क्षालन करके। प्होवेत्ता वा-प्रक्षालन करके। समणस्स-श्रमण-साधु को। दाहामो-देंगे। णं-वाक्यालंकार में। एयं-इस प्रकार के। निग्घोसं-निर्घोष-शब्दों को सुनकर। तहेव-उसी प्रकार कहे जैसे कि पूर्व कह चुके हैं। नवरं-इतना विशेष है तब साधु उस गृहस्थ या स्त्री के प्रति सम्बोधन करता हुआ कहे। तुमं-तुम। एयं वत्थं-इस वस्त्र को। सीओदग्गं-शीतोदक से। उसिं-उष्णोदक से। मा-मत। उच्छोलेहि वा-उत्क्षालन करो तथा। प्होवेहि वा-प्रक्षालन मत करो। अभिकंखसि-यदि तुम चाहते हो मुझे देना तो इसी प्रकार दे दो। सेसं-शेष वर्णन। तहेव-उसी प्रकार है जैसे कि पूर्व लिखा जा चुका है। जाव-यावत् धोकर देवे तो। नो पडिगाहिज्जा-उसे अप्रासुक जानकर ग्रहण न करे। से-वह। परो-अन्य गृहस्थ। नें-घर का स्वामी कहे कि। आं भं-हे आयुष्मन्। अथवा हे भगिनि! आहर-लाओ। एयं वत्थं-यह वस्त्र, इसे। कंदाणि वा-कन्द। जाव-यावत्। हरियाणि वा-हरी से। विसोहित्तां-विशुद्ध करके। समणस्स-श्रमण-साधु को। दाहामो-देंगे। णं-वाक्यालंकार में। एयप्पगारं-इस प्रकार के। निग्घोसं-निर्घोष-शब्द को सुनकर। तहेव-उसी प्रकार-अर्थात् शेष वर्णन पूर्ववत् ही है। नवरं-इतना विशेष है कि तब साधु गृहस्थ के प्रति कहे कि। तुमं-तुम। एयाणि कंदाणि-इन कन्दादि से। जाव-यावत् हरियाली से वस्त्र को। मा विसोहेहि-विशुद्ध मत करो। खलु-निश्चयार्थ में है। मे-मुझे। नो कप्पइ-नहीं कल्पता। एयप्पगारं-इस प्रकार के। वत्थं-वस्त्रों का। पडिगाहित्तां-ग्रहण करना। सेवं वयंतस्स-इस प्रकार कहते हुए साधु के। से-वह। परो-गृहस्थ। जाव-यावत् कन्दादि से। विसोहित्तां-विशुद्ध कर। दलइज्जा-देवे तो। तहप्पं-तथा प्रकार के। वत्थं-वस्त्र को। अफासुयं-अप्रासुक और अनेषणीय जानकर। नो पडिगाहिज्जा-ग्रहण न करे। सिया-कदाचित्। से-वह। परो-अन्य। नेता-गृहस्वामी। वत्थं-वस्त्र को घर से लाकर। निसिरिज्जा-साधु को देवे तो। से-वह साधु। पुव्वां-पहले ही देखे और देखकर। आं भं-आयुष्मन् गृहस्थ! या हे भगिनि-बहन! तुमं चेव-तुम्हारा ही। संतियं वत्थं-यह वस्त्र है मैं इसकी। अंतोअंतेणं-अन्तप्रान्त अर्थात् चारों कोनों से। पडिलेहिज्जिस्सामि-प्रतिलेखना करूंगा अर्थात् इसे चारों ओर से अच्छी तरह से देखूंगा, क्योंकि। केवली

बूया-केवली भगवान् कहते हैं कि। आ०-बिना प्रतिलेखना किए वस्त्र का लेना कर्म बन्धन का कारण है। सिया-कदाचित्। वत्थंतेण-वस्त्र के अन्त में। बद्धे-कुछ बन्धा हुआ हो यथा। कुंडले वा-कुंडल। गुणे वा-धागा-डोरा। हिरण्णे-हिरण्य-चांदी आदि अथवा। सुवण्णे वा-सुवर्ण-सोना अथवा। मणी वा-मणिरत्न। जाव-यावत्। रयणावली वा-रत्नावली-रत्नों की माला आदि। पाणे वा-कोई प्राणी। बीए वा-बीज अथवा। हरिए वा-हरी आदि। अह-अथ। भिक्खूणां-भिक्षुओं के लिए। पु०-पहले ही तीर्थकरादि ने आदेश दे रक्खा है। जं-जो कि साधु। पुव्वामेव-पहले ही। वत्थं-वस्त्र को। अंतोअंतेणं-अन्तप्रान्त से-चारों ओर से। पडिलेहिजा-प्रतिलेखना करे, अर्थात् प्रतिलेखना करके ग्रहण करे।

**मूलार्थ**—वस्त्रैषणा के इन पूर्वोक्त तथा वक्ष्यमाण दोषों को छोड़कर संयमशील साधु अथवा साध्वी इन चार प्रतिमाओं-अभिग्रह विशेषों से वस्त्र की गवेषणा करे, यथा- ऊन आदि के वस्त्रों का संकल्प कर उद्देश्य रख कर स्वयं वस्त्र की याचना करे या गृहस्थ ही बिना मांगे वस्त्र देवे, यदि प्रासुक होगा तो लूंगा, यह प्रथम प्रतिमा है। दूसरी प्रतिमा- देख कर वस्त्र की याचना करूंगा। तीसरी प्रतिमा- गृहस्थ का पहना हुआ वस्त्र लूंगा। चौथी प्रतिमा-उद्भिन्न धर्म वाला वस्त्र लूंगा, जिसे अन्य शाक्यादि श्रमण न चाहते हों। इन प्रतिमाओं- अभिग्रहों को धारण करने वाला साधु अन्य साधुओं की निन्दा न करे तथा स्वयं अहंकार भी न करे, किन्तु जो जिनाज्ञा में चलने वाले हैं वे सब पूज्य हैं इस प्रकार की समाधि अर्थात् समभाव से विचरे। वस्त्र की गवेषणा करते हुए साधु को यदि कोई गृहस्थ कहे कि आयुष्मन् श्रमण ! अब तो तुम चले जाओ। किन्तु मासादि के अन्तर से अर्थात् एक मास या दस दिन अथवा पांच दिन आदि के अनन्तर तुम लेने यहां आना, तब साधु उस गृहस्थ के प्रति कहे कि आयुष्मन् गृहस्थ ! मुझे यह प्रतिज्ञापूर्वक वचन सुनना नहीं कल्पता। अतः यदि तुम देना चाहते हो तो अभी दे दो। इस पर यदि गृहस्थ कहे कि आयुष्मन् श्रमण ! अभी तुम जाओ, थोड़े समय के अनन्तर आकर वस्त्र ले जाना। तब भी मुनि यही कहे कि आयुष्मन् गृहस्थ ! मुझे यह संकेत पूर्वक वचन स्वीकार करना नहीं कल्पता, यदि तुम देना चाहते हो तो इसी समय दे दो। तब गृहस्थ ने किसी निजी पुरुष या बहिन आदि को बुलाकर कहा कि यह वस्त्र इस साधु को दे दो। हम पीछे अपने लिए प्राणियों का समारम्भ करके और बना लेंगे। गृहस्थ के इस प्रकार के शब्दों को सुनकर पश्चात्कर्म लगने से उस वस्त्र को अप्रासुक तथा अनेषणीय जान कर साधु ग्रहण न करे। और यदि घर का स्वामी अपने परिवार से कहे कि लाओ इस वस्त्र को जल से धोकर और सुगन्धित द्रव्यों से घर्षित करके इस साधु को देवें, तब साधु उसे ऐसा करने से मना करे। उसके मना करने-निषेध करने पर भी यदि गृहस्थ उक्त क्रिया करके वस्त्र देना चाहे तो साधु उस वस्त्र को कदापि ग्रहण न करे एवं यदि शीतल अथवा उष्ण जल से धोकर देना चाहे और रोकने पर भी न रुके तो साधु उस वस्त्र को भी स्वीकार न करे। इसी प्रकार यदि वस्त्र में कन्द-मूल आदि वनस्पति बान्धी हुई हो या रखी पड़ी हो उसको अलग कर के देना चाहे तो भी न ले। और यदि गृहस्थ साधु को वस्त्र दे ही दे तो साधु बिना प्रतिलेखना किए, बिना अच्छी तरह देखे-भाले उस वस्त्र को कदापि ग्रहण न करे, कारण कि केवली भगवान् कहते हैं कि बिना प्रतिलेखना के वस्त्र का ग्रहण कर्म बन्धन का हेतु होता है, सम्भव है वस्त्र के किसी किनारे में

कुण्डल, डोरा, चान्दी, सोना, मणि यावत् रत्नावली आदि बंधे हुए हों अथवा प्राणी बीज और हरी सब्जी आदि बंधी हुई हों। इसलिए तीर्थकरादि ने पहले ही मुनियों को आज्ञा प्रदान की है कि साधु बिना प्रतिलेखना किए इन वस्त्रों को ग्रहण न करे।

**हिन्दी विवेचन**— प्रस्तुत सूत्र में वस्त्र ग्रहण करने की चार प्रतिज्ञाओं का वर्णन किया गया है— १ उद्दिष्ट, २ प्रेक्षित, ३ परिभुक्त, ४ उत्सृष्ट धार्मिक। १—अपने मन में पहले संकल्पित वस्त्र की याचना करना उद्दिष्ट प्रतिज्ञा है। २—किसी गृहस्थ के यहां वस्त्र देखकर उस देखे हुए वस्त्र की ही याचना करना प्रेक्षित प्रतिज्ञा है। ३—गृहस्थ के अन्तर परिभोग या उत्तरीय परिभोग या उसके पहने हुए वस्त्र की याचना करना परिभुक्त प्रतिज्ञा है। ४—मैं वही वस्त्र ग्रहण करूंगा जो कि उत्सृष्ट धर्म वाला—फैंकने योग्य है। इस तरह के अभिग्रहों को धारण करके वस्त्र की याचना करने की विधि ठीक उसी तरह से बताई गई है, जैसे पिंडैषणा अध्ययन में आहार ग्रहण करने की विधि का उल्लेख किया गया है।

इसमें दूसरी बात यह बताई गई है कि यदि कोई गृहस्थ वस्त्र की याचना करते समय साधु से यह कहे कि आप मास या १०-१५ दिन के पश्चात् आकर वस्त्र ले जाना, तो साधु उसकी इस बात को स्वीकार न करे। वह स्पष्ट कहे कि यदि आपकी वस्त्र देने की इच्छा हो तो अभी दे दो, अन्यथा कुछ दिन के बाद नहीं आऊंगा। इस निषेध के पीछे दो कारण हैं— एक तो यह है कि यदि उस समय गृहस्थ के पास वस्त्र नहीं है तो वह साधु के लिए नया वस्त्र खरीद कर ला सकता है या उसके लिए और कोई सावध क्रिया कर सकता है। दूसरी बात यह है कि किसी कारणवश साधु निश्चित समय पर नहीं पहुंच सके तो उसे भाषा समिति में दोष लगेगा।

यदि किसी गृहस्थ की वस्त्र की दुकान हो और उसमें कुछ दिन में वस्त्र आने वाला हो तो साधु कुछ समय के बाद भी वहां जाकर वस्त्र ला सकता है। क्योंकि, उसमें उसके लिए कोई क्रिया नहीं की गई है। परन्तु, इस कार्य के लिए साधु को निश्चित समय के लिए बन्धना नहीं चाहिए। यदि उसे यह ज्ञात हो जाए कि कुछ समय बाद आने वाला वस्त्र निर्दोष है तो वह गृहस्थ से इतना ही कहे कि जैसा अवसर होगा देखा जाएगा। परन्तु, यह न कहे कि मैं अमुक समय पर आकर ले जाऊंगा। वह इतना कह सकता है कि यदि सम्भव हो सका तो मैं अमुक समय पर आने का प्रयत्न करूंगा।

इस तरह साधु को सभी दोषों से रहित निर्दोष वस्त्र को अच्छी तरह देखकर ग्रहण करना चाहिए। ऐसा न हो कि उसके किसी कोने में कोई सचित्त या अचित्त वस्तु बन्धी हो या उस पर कोई सचित्त वस्तु लगी हो। अतः वस्त्र ग्रहण करने से पूर्व साधु को इसका सम्यक्तया अवलोकन कर लेना चाहिए।

इस विषय पर और विस्तार से विचार करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्**— से भि० से जं० सअंडं० ससंताणं० तहप्पं० वत्थं० अफा० नो प० ॥ से भि० से जं० अप्पंडं० जाव अप्पसंताणं० अनलं० अथिरं० अधुवं० अधारणिज्जं० रोइज्जंतं० न रुच्चइ तह० अफा० नो प० ॥ से भि० से जं० अप्पंडं० जाव अप्पसंताणं० अलं० थिरं० धुवं० धारणिज्जं० रोइज्जंतं० रुच्चइ तह० वत्थं० फासु० पडि० ॥ से भि० नो नवए मे वत्थेत्ति कट्टु नो बहुदेसिएण सिणाणेण वा जाव पघंसिज्जा ॥ से भि० नो नवए

मे वत्थेति कट्टु नो बहुदे० सीओदगवियडेण वा २ जाव प्होइज्जा ॥ से भिक्खू  
वा २ दुब्धिगंधे मे वत्थेत्तिकट्टु नो बहु० सिणाणेण तहेव बहुसीओ० उस्सिं०  
आलावओ ॥१४७॥

छाया- स भिक्षुः० स यत् सांडं० ससन्तानकं तथाप्रकारं वस्त्रमप्रासुकं न प्रतिगृ-  
हणीयात् । स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा स यत् अल्पांडं यावत् अल्पसन्तानक-मनलमस्थिरमधुव-  
मधारणीयं रोच्यमानं न रोचते तथाप्रकारमप्रासुकं० न प्रतिगृहणीयात् । स भिक्षुः० स यत् अल्पांडं  
यावत् अल्पसन्तानकमलं स्थिरं ध्रुवं धारणीयं रोच्यमानं रोचते तथाप्रकारं वस्त्रं प्रासुकं  
प्रतिगृहणीयात् । स भिक्षुः० नो नवं मे वस्त्रमिति कृत्वा नो बहुदेश्येन स्नानेन वा यावत् प्रघर्षयेत्,  
स भिक्षुः० नो नवं मे वस्त्रमतिकृत्वा नो बहुदेश्येन० शीतोदकविकटेन वा यावत् प्रधावेत्  
( प्रक्षालयेत् ) । स भिक्षुर्वा २ दुर्भिगन्धं मे वस्त्रमिति कृत्वा नो बहुदेश्येन० स्नानेन तथैव  
बहुशीतोदकेन वा उष्णोदकविकटेन वा आलापकः ।

पदार्थ- से भि०-वह साधु अथवा साध्वी । से जं०-वस्त्र के सम्बन्ध में जाने, जैसे कि- । सअंडं-  
अंडों से युक्त । जाव-यावत् । ससंताणगं-मकड़ी के जाले आदि से युक्त । तहप्पं-तथा प्रकार के । वत्थं-वस्त्र  
को । अफां-अप्रासुक जानकर । नो पडिं-ग्रहण न करे । से भि०-वह साधु या साध्वी । से जं०-वस्त्र के सम्बन्ध  
में जाने, यथा । अप्पंडं-अंडों से रहित । जाव-यावत् । अप्पसंताणगं-मकड़ी के जालों से रहित । अनलं-अभीष्ट  
कार्य करने में असमर्थ । अथिरं-अस्थिर-जीर्ण । अधुवं-अधुव-जो कि थोड़े काल की आज्ञा होने से धुव नहीं हैं ।  
अधारणिज्जं-धारण करने के अयोग्य । रोइज्जंतं-अच्छा सुन्दर वस्त्र देते हुए भी । न रुच्चइ-दाता को नहीं रुचता  
अर्थात् दाता का मन प्रसन्न न हो अथवा यदि वह वस्त्र साधु को भी रुचता न हो-अनुकूल न हो तो । तहप्पं-उस  
वस्त्र को । अफां-अप्रासुक जानकर । नो पडिगाहिज्जा-ग्रहण न करे ।

से भि०-वह साधु अथवा साध्वी । से जं०-वस्त्र को जाने, यथा- । अप्पंडं-अंडों से रहित । जाव-  
यावत् । अप्पसंताणगं-मकड़ी आदि के जालों से रहित । अलं-अभीष्ट कार्य करने में समर्थ । थिरं-स्थिर और ।  
धुवं-धुव-जिसकी साधु को सदा के लिए आज्ञा दे दी गई हो । धारणिज्जं-धारण करने के योग्य तथा । रोइज्जंतं-  
गृहस्थ की देने की रुचि को देख कर यदि । रुच्चइ-साधु को रुचे तो । तहप्पं-तथाप्रकार के । वत्थं-वस्त्र को ।  
फासुं-प्रासुक जान कर मिलने पर । पडिं-साधु ग्रहण कर ले । से भि० २-वह साधु या साध्वी । तिकट्टु-ऐसा  
विचार कर कि । मे-मेरे पास । नवए-नवीन । वत्थं-वस्त्र । नो-नहीं है । बहुदेसिएण-थोड़े बहुत । सिणाणेण  
वा-स्नानादि सुगन्धित द्रव्य से । जाव-यावत् । नो पघंसिज्जा-प्रघर्षित न करे । से भि० २-वह साधु अथवा साध्वी ।  
मे-मेरे पास । नो-नहीं है । नवए-नवीन । वत्थं-वस्त्र । तिकट्टु-ऐसे विचार कर । बहुदेसिं-थोड़े बहुत ।  
सीओदगवियडेण वा-शीतोदक अर्थात् निर्मल शीतल जल से तथा उष्ण जल से । जाव-यावत् । नो प्होइज्जा-  
प्रक्षालन न करे अर्थात् विभूषा के लिए एक या एक से अधिक बार न धोए । से भिक्खू वा २-वह साधु या  
साध्वी । मे-मेरा । वत्थं-वस्त्र । दुब्धिगंधे-दुर्गन्ध युक्त है । तिकट्टु-ऐसा विचार कर । बहुदे०-थोड़े बहुत ।  
सिणाणेण-सुगन्धित द्रव्य से । तहेव-उसी प्रकार । बहुसीओ०-बहुत से शीतल जल से तथा । उसिणो-उष्ण जल  
से । नो-नहीं धोए । आलावओ-यह आलापक भी पूर्ववत् ही है ।

**मूलार्थ**—यदि कोई वस्त्र अण्डों एवं मकड़ी के जालों आदि से युक्त हो तो संयमनिष्ठ साधु-साध्वी को ऐसा अप्रासुक वस्त्र मिलने पर भी ग्रहण नहीं करना चाहिए। यदि कोई वस्त्र अण्डों और मकड़ी के जाले आदि से रहित है, परन्तु जीर्ण-शीर्ण होने के कारण अभीष्ट कार्य की सिद्धि में असमर्थ है, या गृहस्थ ने उस वस्त्र को थोड़े काल के लिए देना स्वीकार किया है, अतः ऐसा वस्त्र जो पहनने के अयोग्य है और दाता उसे देने की पूरी अभिलाषा भी नहीं रखता तथा साधु को भी उपयुक्त प्रतीत नहीं होता हो तो साधु को ऐसे वस्त्र को अप्रासुक एवं अनेषणीय जानकर छोड़ देना चाहिए। यदि वस्त्र अण्डादि से रहित, मजबूत और धारण करने योग्य है, दाता की देने की पूरी अभिलाषा है और साधु को भी अनुकूल प्रतीत होता है तो ऐसे वस्त्र को साधु प्रासुक जानकर ले सकता है। मेरे पास नवीन वस्त्र नहीं है, इस विचार से कोई साधु-साध्वी पुरातन वस्त्र को कुछ सुगन्धित द्रव्यों से आघर्षण-प्रघर्षण करके उसमें सुन्दरता लाने का प्रयत्न न करे। इस भावना को लेकर वे ठंडे ( धोवन ) या उष्ण पानी से विभूषा के लिए मलिन वस्त्र को धोने का प्रयत्न भी न करे। इसी प्रकार दुर्गन्धमय वस्त्र को भी सुगन्धयुक्त बनाने के लिए सुगन्धित द्रव्यों और जल आदि से धोने का प्रयत्न भी न करे।

**हिन्दी विवेचन**— प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि साधु को ऐसा वस्त्र स्वीकार करना चाहिए, जो अण्डे एवं मकड़ी के जालों या अन्य जीव-जन्तुओं से युक्त हो। इसके अतिरिक्त वह वस्त्र भी साधु के लिए अग्राह्य है, जो अण्डों आदि से युक्त तो नहीं है, परन्तु जीर्ण-शीर्ण होने के कारण पहनने के अयोग्य है और गृहस्थ भी उसे कुछ दिन के लिए ही देना चाहता है और साधु को भी वह पसन्द नहीं है। अतः जो वस्त्र अण्डों आदि से रहित हो, मजबूत हो, गृहस्थ की देने के लिए पूरी अभिलाषा हो और साधु के मन को भी पसन्द हो तो ऐसा वस्त्र साधु ले सकता है।

इसमें दूसरी बात यह बताई गई है कि यदि कोई वस्त्र मैला हो गया हो या दुर्गन्धमय हो तो साधु को विभूषा के लिए उसे पानी एवं सुगन्धित द्रव्यों से रगड़ कर सुन्दर एवं सुवासित बनाने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। वृत्तिकार ने इस पाठ को जिनकल्पी मुनि से सम्बद्ध माना है। उनका कहना है कि यदि जिनकल्पी मुनि के वस्त्र मैले होने के कारण दुर्गन्धमय हो गए हों तब भी उन्हें उस वस्त्र को पानी एवं सुगन्धित द्रव्यों से धोकर साफ एवं सुवासित नहीं करना चाहिए<sup>१</sup>।

'अधारणिजं' पद की व्याख्या करते हुए वृत्तिकार का कहना है कि लक्षण हीन उपधि को धारण करने से ज्ञान, दर्शन और चारित्र का उपघात होता है<sup>२</sup>। और 'अनलं अस्थिरं अध्रुवं और

१ अपि च-स भिक्षुर्वद्यपि मलोपचितत्वाद् दुर्गन्धि वस्त्रं स्यात्, तथापि तदपनयनार्थं सुगन्धिद्रव्योदकादिना नो धावनादि कुर्याद् गच्छनिर्गतः, तदन्तर्गतस्तु यतनया प्रासुकोदकादिना लोकोपघातसंसक्तिभयात् मलापनयनार्थं कुर्यादपीति।

- आचाराङ्ग वृत्ति।

२ चत्तारि देविया भागा, दोष भागा य माणुसा।  
आसुरा य दुषे भागा; मञ्जे वत्थस्स रक्खसे ॥१॥  
देविएसुत्तमो लाभो, माणुसेसु य मञ्जिमो।  
आसुरेसु अ गेलन्नं, मरणं जाण रक्खसे ॥२॥  
स्थापना चेयम्। किञ्च-

लकखणहीणो उवही उवहणइ नाणदंसणचरित्तं ॥ इत्यादि,

अधारणीयं' इन चारों पदों के १६ भंग बनते हैं, उनमें १५ भंग अशुद्ध माने गए हैं और अन्तिम भंग शुद्ध माना गया है<sup>१</sup>। कुछ प्रतियों में 'रोइज्जंतं' के स्थान पर 'देइज्जंतं' और कुछ प्रतियों में 'वइज्जंतं' पाठ भी उपलब्ध होता है।

वस्त्र प्रक्षालन करने के बाद उसे धूप में रखने के सम्बन्ध में उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

## १ स्थापनायंत्रम्

४	अलं	स्थिरं	ध्रुवं	धारणीयं
१	०	०	०	०
२	०	०	०	१
३	०	०	१	०
४	०	०	१	१
५	०	१	०	०
६	०	१	०	१
७	०	१	१	०
८	०	१	१	१
९	१	०	०	०
१०	१	०	०	१
११	१	०	१	०
१२	१	०	१	१
१३	१	१	०	०
१४	१	१	०	१
१५	१	१	१	०
१६	१	१	१	१

मूलम्— से भिक्खू वा० अभिकंखिज्ज वत्थं आयावित्तए वा प० तहप्पगारं वत्थं नो अणंतरहियाए जाव पुढवीए संताणए आयाविज्ज वा प० ॥ से भि० वत्थं आ० प० त० वत्थं थूणंसि वा गिहेलुगंसि वा उसुयालंसि वा कामजलंसि वा अन्नयरे तहप्पगारे अंतलिक्खजाए दुब्बद्धे दुन्निक्खित्ते अणिकंपे चलाचले नो आ० नो प० ॥ से भिक्खू वा० अभि० आयावित्तए वा तह० वत्थं कुडियंसि वा भित्तंसि वा सिलंसि वा लेलुंसि वा अन्नयरे वा तह० अंतलि० जाव नो आयाविज्ज वा प० ॥ से भि० वत्थं आया० प० तह० वत्थं खंधंसि वा मं० मा० पासा० ह० अन्नयरे वा तह० अंतलि० नो आयाविज्ज वा० प० । से० तमायाए एगंतमवक्कमिज्जा २ अहेज्झामथंडिल्लंसि वा जाव अन्नयरंसि वा तहप्पगारंसि थंडिल्लंसि पडिलेहिय २ पमज्जिय २ तओ सं० वत्थं आयाविज्ज वा पया०, एयं० खलु० सया जइज्जासि ॥१४८ ॥ त्तिवेमि ॥

छाया— स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा अभिकांक्षेत वस्त्रमातापयितुं वा परितापयितुं तथाप्रकारं वस्त्रं नो अनन्तरहितायां यावत् पृथिव्यां संतानायाम् आतापयेद् वा परितापयेत् । स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा अभिकांक्षेत वस्त्रमातापयितुं वा परितापयितुं वा तथाप्रकारं वस्त्रं स्थूणायां वा गिहेलुके वा उदूखले वा कामजले वा अन्यतरस्मिन् तथाप्रकारे अन्तरिक्षजाते दुर्बद्धे दुर्निक्षिप्ते अनिष्कंपे चलाचले नो आतापयेत् वा नो परितापयेद् वा । स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा० अभिकांक्षेत आतापयितुं वा परितापयितुं वा, तथाप्रकारं वस्त्रं कुड्ये वा भित्तौ वा शिलायां वा लेलौ वा अन्यतरस्मिन् वा तथाप्रकारे अन्तरिक्षजाते यावत् नो आतापयेत् वा प्रतापयेद् वा । स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा वस्त्रमातापयितुं वा प्रतापयितुं वा तथाप्रकारं वस्त्रं स्कन्धे वा मञ्चके वा माले वा प्रासादे वा हर्म्ये वा अन्यतरस्मिन् वा तथाप्रकारं अन्तरिक्षजाते नो आतापयेत् वा परितापयेद् वा । स तदादाय एकान्तमपक्रामेत, अपक्रम्य अधः दग्धस्थंडिले वा यावत् अन्यतरस्मिन् वा तथाप्रकारे स्थंडिले प्रतिलिख्य २ प्रमृज्य २ ततः संयतमेव वस्त्रमातापयेद् वा प्रतापयेद् वा एवं खलु तस्य भिक्षोः भिक्षुक्या वा सामग्र्यं यत् सर्वार्थैः समितः सहितः सदा यतेत इति ब्रवीमि । पञ्चमस्य प्रथमोद्देशकः समाप्तः ।

पदार्थ— से भिक्खू— वह साधु अथवा साध्वी । अभिकंखिज्जा—चाहे । वत्थं—वस्त्र को । आयावित्तए वा—आताप या । प०—परिताप देना तो । तहप्पगारं—तथाप्रकार के । वत्थं—वस्त्र को । अणंतरहियाए—सचित्त पृथ्वी तथा आर्द्र पृथ्वी । जाव—यावत् । पुढवीए—पृथ्वी पर । संताणए—जल आदि से युक्त पृथ्वी पर । नो आयाविज्ज वा० प०—आताप और परिताप न दे अर्थात् धूप में न सुखाए । से भि०—वह साधु या साध्वी । अभि०—चाहे । वत्थं—वस्त्र को । आ० प०—आताप और परिताप दे तो । त०—तथाप्रकार के । वत्थं—वस्त्र को । थूणंसि वा—स्थूणा—स्तंभ,



खूटी आदि पर। गिहेलुगंसि वा-गृह के द्वारों पर। उसुयालंसि वा-या ऊखल पर। कामजलंसि वा-स्नान के पीठ पर अर्थात् चौकी पर। अन्नयरे-अन्य। तहप्प-तथा प्रकार के। अंतलिक्खजाए-अन्तरिक्ष भूमि से ऊंचे स्थान पर जो। दुब्बद्धे-ऊपर भली-भांति से बान्धा हुआ नहीं है। दुन्निक्खत्ते-दुष्ट प्रकार से भूमि पर रोपण किया हुआ है और जो। अणिकंपे-निश्चल स्थान नहीं है। चलाचले-वायु के द्वारा इधर-उधर हो रहा है। नो आ-नो प-आताप या परिताप न दे। से भिक्खू वा-वह साधु या साध्वी। अभि-यदि चाहे वस्त्र को। आयावित्तए-आताप दे। तह-तथा प्रकार के। वत्थ-वस्त्र को। कुडियंसि वा-घर की दीवार पर। भित्तंसि वा-नदी के तट पर। सिलंसि वा-शिला पर। लेलुंसि वा-शिला खंड पर अर्थात् किसी पत्थर पर। अन्नयरे वा-अथवा अन्य। तहप्प-इसी प्रकार के। अंतलिक्ख-अन्तरिक्ष स्थान पर। जाव-यावत्। नो आयाविज्ज वा-प-आताप और परिताप न दे-सुखाए नहीं। से भि-वह साधु या साध्वी यदि चाहे। वत्थ-वस्त्र को। आया-प-आताप या परिताप देना तो। तह-तथाप्रकार के। वत्थ-वस्त्र को। खंधंसि वा-स्तम्भ पर। मं-मंजे पर। मा-माले पर। पासा-प्रासाद पर। ह-हर्म्य पर। अन्नयरे वा-अन्य। तहप्प-तथा प्रकार के। अंतलिक्ख-अन्तरिक्ष भूमि से ऊंचे स्थानों पर। नो आयाविज्ज वा-प-आताप और परिताप न दे। से-वह-भिक्षु। तमायाए-उस वस्त्र को लेकर। एगंतमवक्कमिज्जा-एकान्त में चला जाए वहां जाकर। अहे-अथ। ज्जामथंडिलंसि वा-जो भूमि अग्नि से दग्ध हो वहां या। अन्नयरंसि-अन्य। तहप्पगारंसि-उसी प्रकार की। थंडिलंसि वा-निर्दोष स्थंडिल भूमि का। पडिलेहिय २-प्रतिलेखन करके। पमज्जिय २-रजोहरणादि से प्रामार्जित करके। तओ-तत्पश्चात्। संजयामेव-यत्पूर्वक। वत्थ-वस्त्र को। आयाविज्ज वा पया-आताप और परिताप दे अर्थात् सुखाए। एयं खलु-निश्चय ही यह। तस्स भिक्खुस्स-उस साधु और साध्वी का। सामरिगयं-सम्पूर्ण आचार है। जं-जो। सव्वट्ठेहिं-ज्ञान दर्शन चारित्र रूप अर्थों से तथा। समिए-पांच समितियों से। सहिए-सहित है वह उसके पालन करने में। सया-सदा। जएज्जसि-यत्न करे। त्तिबेमि-इस प्रकार मैं कहता हूँ।

**मूलार्थ**—संयमशील साधु या साध्वी यदि वस्त्र को धूप में सुखाना चाहे तो वह गीली जमीन पर यावत् अण्डों और जालों से युक्त जमीन पर न सुखाए तथा न वस्त्र को स्तंभ पर, घर के दरवाजे पर, ऊखल और स्नान पीठ ( चौकी ) पर सुखाए एवं इसी प्रकार के अन्य, भूमि से ऊंचे स्थान पर-जो कि दुर्बद्ध, दुर्निक्षिप्त, कंपनशील तथा चलाचल हों उन पर और घर की दीवार पर, नदी के तट पर, शिला और शिलाखंड पर, स्तम्भ पर, मंच पर, माल पर, तथा प्रासाद और हर्म्य-प्रासाद विशेष पर वस्त्र को न सुखाए। यदि सुखाना हो तो एकान्त स्थान में जाकर वहां अग्निदग्ध स्थंडिल यावत् इसी प्रकार के अन्य निर्दोष स्थान का प्रतिलेखन और प्रामार्जना करके यत्न पूर्वक सुखाए। यही साधु का समग्र-सम्पूर्ण आचार है, इस प्रकार मैं कहता हूँ।

**हिन्दी विवेचन**— प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि जो स्थान गीला हो, बीज, हरियाली एवं अण्डों आदि से युक्त हो तो साधु ऐसे स्थान पर वस्त्र न सुखाए। और वह स्तम्भ पर घर के दरवाजे पर एवं ऐसे अन्य ऊंचे स्थानों पर भी वस्त्र न सुखाए। क्योंकि हवा के झोंकों से ऐसे स्थानों पर से वस्त्र के गिरने से या उसके हिलने से वायुकायिक एवं अन्य जीवों की विराधना होने की सम्भावना है। इसलिए साधु को ऐसे ऊंचे स्थानों पर वस्त्र नहीं सुखाना चाहिए। जो अच्छी तरह बन्धा हुआ नहीं है, भली-भांति आरोपित नहीं है, निश्चल नहीं है, चलायमान है। इससे यह स्पष्ट होता है कि जो अन्तरिक्ष का स्थान सम्यक्तया

बन्धा हुआ, आरोपित, स्थिर एवं अचलायमान हो तो अपवाद मार्ग में वहां पर साधु वस्त्र सुखा भी सकता है।

प्रस्तुत सूत्र में मचान आदि स्थानों पर भी वस्त्र सुखाने का निषेध किया गया है। इसका उद्देश्य आचाराङ्ग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के पहले अध्ययन के ७वें उद्देशक में आहार विधि के प्रकरण में दिया गया उद्देश्य ही है। यदि मञ्च एवं मकान आदि की छत पर जाने का मार्ग प्रशस्त है और वहां किसी भी जीव की विराधना होने की सम्भावना नहीं है तो साधु मञ्च एवं मकान आदि की छत पर भी वस्त्र सुखा सकता है। वस्तुतः सूत्रकार का उद्देश्य यह है कि साधु को प्रासुक एवं निर्दोष भूमि पर ही वस्त्र सुखाने चाहिए, जिससे किसी भी प्राणी की हिंसा न हो।

‘त्तिषेमि’ की व्याख्या पूर्ववत् समझें।

॥ प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

## पंचम अध्ययन-वस्त्रैषणा

### द्वितीय उद्देशक

प्रथम उद्देशक में वस्त्र ग्रहण करने की विधि का वर्णन किया गया था, अब प्रस्तुत उद्देशक में वस्त्र धारण करने की विधि का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं-

मूलम्- से भिक्खू वा० अहेसणिज्जाइं वत्थाइं जाइज्जा अहापरिग्गहियाइं वत्थाइं धारिज्जा नो धोइज्जा नो रएज्जा नो धोयरत्ताइं वत्थाइं धारिज्जा, अपलिउंचमाणो गामंतरेसु० ओमचेलिए, एयं खलु वत्थधारिस्स सामग्गियं ॥ से भिक्खू वा० गाहावइकुलं पविसिउकामे सव्वं चीवरमायाए गाहावइकुलं निक्खमिज्ज वा पविसिज्ज वा, एवं बहिया विहारभूमिं वा विचारभूमिं वा गामाणुगामं वा दूइज्जिज्जा, अह पु० तिव्वदेसियं वा वासं वासमाणं पेहाए जहा पिंडेसणाए नवरं सव्वं चीवरमायाए० ॥१४९॥

छाया- स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा यथैषणीयानि वस्त्राणि याचेत यथापरिगृहीतानि वस्त्राणि धारयेत् । नो धावेत् नो रंजयेत् नो धौतरक्तानि वस्त्राणि धारयेत् अपरिकुंचमानः ग्रामान्तरेषु अवमचेलकः एवं खलु वस्त्रधारिणः सामग्रयम् ॥ स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा गृहपतिकुलं प्रवेष्टुकामः सर्वं चीवरमादाय गृहपतिकुलं निष्कामेत् वा प्रविशेत् वा एवं बहिः विहारभूमिं वा विचारभूमिं वा ग्रामानुग्रामं वा दूयेत-गच्छेत् । अथ पुनः एवं जानीयात् । तीव्रदेशिकां वा वर्षा वर्षन्तं प्रेक्ष्य, यथा पिंडैषणायाम् । नवरं सर्वं चीवरमादाय ।

पदार्थ- से भिक्खू वा०-वह साधु अथवा साध्वी । अहेसणिज्जाइं-अथ एषणीय-अर्थात् भगवदाज्ञानुसार । वत्थाइं-जो वस्त्र हैं उनकी । जाइज्जा-याचना करे फिर । अहापरिग्गहियाइं-यथा परिगृहीत । वत्थाइं-वस्त्रों को । धारेज्जा-धारण करे तथा उन वस्त्रों को विभूषा के लिए । नो धोइज्जा-न तो धोए और । नो रएज्जा-न रंगे, इतना ही नहीं किन्तु । धोयरत्ताइं वत्थाइं-धोए और रंगे हुए वस्त्रों को । नो धारिज्जा-धारण भी न करे । गामंतरेसु०-ग्रामादि में । अपलिउंचमाणे-वस्त्रों को न गोपता हुआ विचरे तथा । ओमचेलिए-असार वस्त्र अथवा थोड़ा वस्त्र धारण कर सुखपूर्वक विचरे । एयं-यह । खलु-निश्चय ही । वत्थधारिस्स-वस्त्रधारी मुनि का । सामग्गियं-सम्पूर्ण आचार है ।

से भि०-वह साधु अथवा साध्वी । गाहावइकुलं-गृहपति कुल में आहारादि के लिए । पविसिउ-

कामे-प्रवेश करने की इच्छा वाला। सर्व्व-सर्व्व। चीवरमायाए-वस्त्र लेकर। गाहावडकुलं-गृहपति कुल में। निक्खमिज्ज वा पविसिज्ज वा-निष्क्रमण और प्रवेश करे अर्थात् उपाश्रय से निकले और गृहस्थ के घर में प्रवेश करे। एवं-इसी प्रकार। बहिया-बस्ती आदि से बाहर। विहारभूमिं वा-विहार-स्वाध्याय करने की भूमि में अथवा। विहारभूमिं वा-मत्त आदि का त्याग करने की भूमि में अथवा। ग्रामाणुग्रामं-ग्रामानुग्राम विहार करते समय वस्त्र लेकर ही। दूडुज्जिजा-प्रयाण करे। अह पुण-अथ इस प्रकार जाने। तिच्चदेसियं वा-थोड़ी या बहुत। वासं वासमाणं-वर्षा बरसती हुई को। पेहाए-देख कर। जहा-जैसे। पिंडेसणाए-पिण्डैषणा अध्ययन में आहार विषयक वर्णन किया है उसी प्रकार यहां पर भी जान लेना चाहिए किन्तु। नवरं-इतना विशेष है कि। सर्व्वं चीवरमायाए-सर्व्व वस्त्रों को ग्रहण करके जाए।

**मूलार्थ**—संयमशील साधु या साध्वी भगवान द्वारा दी गई आज्ञा के अनुरूप एषणीय और निर्दोष वस्त्र की याचना करे और मिलने पर उन्हें धारण करे। परन्तु, विभूषा के लिए वह उन्हें न धोए और न रंगे तथा धोए हुए और रंगे हुए वस्त्रों को पहने भी नहीं। किन्तु, अल्प और असार [ साधारण ] वस्त्रों को धारण करके ग्राम आदि में सुख पूर्वक विचरण करे। वस्त्रधारी मुनि का वस्त्र धारण करने सम्बन्धी यह सम्पूर्ण आचार है अर्थात् यही उसका भिक्षुभाव है।

आहारादि के लिए जाने वाले संयमनिष्ठ साधु-साध्वी गृहस्थ के घर में जाते समय अपने वस्त्र भी साथ में लेकर उपाश्रय से निकलें और गृहस्थ के घर में प्रवेश करें। इसी प्रकार वस्ती से बाहर, स्वाध्याय भूमि एवं जंगल आदि जाते समय तथा ग्रामानुग्राम विहार करते समय भी वे सभी वस्त्र लेकर विचरें। इसी प्रकार थोड़ी या अधिक वर्षा बरसती हुई को देखकर साधु वैसा ही आचरण करे जैसा पिण्डैषणा अध्ययन में वर्णन किया गया है। केवल इतनी ही विशेषता है कि वह अपने सभी वस्त्र साथ लेकर जाए।

**हिन्दी विवेचन**— प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि आगम में वर्जित विधि के अनुसार साधु को निर्दोष एवं एषणीय वस्त्र जिस रूप में प्राप्त हुआ हो वह उसे उसी रूप में धारण करे। विभूषा<sup>१</sup> की दृष्टि से साधु न तो उस वस्त्र को स्वयं धोए और न रंगे और यदि कोई गृहस्थ उसे धोकर या रंगकर दे तब भी वह उसे स्वीकार न करे। इससे यह स्पष्ट होता है कि साधु को विभूषा के लिए वस्त्र को धोना या रंगना नहीं चाहिए। क्योंकि, वह वस्त्र का उपयोग केवल लज्जा ढकने एवं शीतादि से बचने के लिए करता है, न कि शारीरिक विभूषा के लिए। परन्तु, यदि वस्त्र पर गन्दगी लगी है या उसे देखकर किसी के मन में घृणा उत्पन्न होती है तो ऐसी स्थिति में वह उसे विवेक पूर्वक साफ करता है तो उसके लिए शास्त्रकार का निषेध नहीं है। क्योंकि, अशुचियुक्त वस्त्र के कारण वह स्वाध्याय भी नहीं कर सकेगा। अतः उसका निवारण करना आवश्यक है। विभूषा के लिए वस्त्र धोने का निषेध करने के पीछे मुख्य उद्देश्य यह रहा है कि साधु स्वाध्याय एवं ध्यान के समय को केवल अपने शरीर की सजावट के लिए वस्त्र धोने में समाप्त न करे। क्योंकि, साधु की साधना शरीर एवं वस्त्रों को सुन्दर बनाने के लिए नहीं, प्रत्युत आत्मा को स्वच्छ एवं पूर्ण स्वतंत्र बनाने के लिए है। अतः उसे अपना पूरा समय आत्म साधना में ही लगाना चाहिए।

इस सूत्र में साधु को यह आदेश भी दिया गया है कि वह आहार के लिए गृहस्थ के घर में जाते

हुए या स्वाध्याय भूमि में तथा जंगल के लिए जाते समय अपने सभी वस्त्र साथ लेकर जाए। इससे यह स्पष्ट होता है कि साधु के पास आवश्यकता के अनुसार बहुत ही थोड़े वस्त्र होते थे। आगम में भी यह स्पष्ट कर दिया गया है कि साधु को स्वल्प एवं साधारण (असार) वस्त्र रखने चाहिए।

इस पाठ से यह भी ध्वनित होता है कि उस युग में शहर या गांव से बाहर एकान्त में स्वाध्याय करने की प्रणाली थी। क्योंकि एकान्त स्थान में ही चित्त की एकाग्रता बनी रहती है। यह भी बताया गया है कि साधु को शौच के लिए भी गांव या शहर से बाहर जाने का प्रयत्न करना चाहिए। बिना किसी विशेष कारण के उपाश्रय में शौच नहीं जाना चाहिए।

इस सम्बन्ध में कुछ और विशेष बातें बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— से एगइओ मुहुत्तगं २ पडिहारियं वत्थं जाइज्जा, जाव एगाहेण वा दु० ति० चउ० पंचाहेण वा विप्पवसिय २ उवागच्छिज्जा, नो तह वत्थं अप्पणो गिण्हिज्जा नो अन्नमन्नस्स दिज्जा, नो पामिच्चं कुज्जा नो वत्थेण वत्थपरिणामं करिज्जा, नो परं उवसंकमित्ता एवं वइज्जा-आउ० समणा ! अभिकंखसि वत्थं धारित्ताए वा परिहरित्ताए वा ? थिरं वा संतं नो पलिच्छिंदिय २ परट्ठविज्जा, तहप्पगारं वत्थं ससंधियं वत्थं तस्स चेव निसिरिज्जा नो णं साइज्जिज्जा। से एगइओ एयप्पगारं निग्घोसं सुच्चा नि० जे भयंतारो तहप्पगाराणि वत्थाणि ससंधियाणि मुहुत्तगं २ जाव एगाहेण वा० ५ विप्पवसिय २ उवागच्छंति, तह० वत्थाणि नो अप्पणा गिण्हंति नो अन्नमन्नस्स दलयंति तं चेव जाव नो साइज्जंति, बहुवयणेण भाणियव्वं, से हंता अहमवि मुहुत्तगं पाडिहारियं वत्थं जाइत्ता जाव एगाहेण वा ५ विप्पवसिय २ उवागच्छिस्सामि, अवियाइं एयं ममेव सिया, माइट्ठाणं संपासे नो एवं करिज्जा ॥१५०॥

छाया— स एककः मुहूर्तकं प्रातिहारिकं वस्त्रं याचेत याचित्वा यावत् एकाहेन वा द्व्यहेन वा त्र्यहेन वा चतुरहेन वा पंचाहेन वोषित्वा २ उपागच्छेत् नो तथा वस्त्रं आत्मना गृहणीयात् नो अन्यस्मै दद्यात् नो प्रामृज्यं कुर्यात् नो वस्त्रेण वस्त्रपरिणामं कुर्यात्, नो परमुपसंक्रम्य एवं वदेत्-आयुष्मन् ! श्रमण! अभिकांक्षसि वस्त्रं धारयितुं वा परिहर्तुं वा स्थिरं वा सत् परिच्छिन्द्य २ परिष्ठापयेत् तथाप्रकारं वस्त्रं ससन्धितं वस्त्रं तस्मै चैव निसृजेत् नो स्वादयेत्। स एककः एतत्प्रकारं निर्घोषं श्रुत्वा निशम्य ये वयत्रातारः तथाप्रकाराणि वस्त्राणि ससन्धितानि, मुहूर्तकं २ यावत् एकाहेन वा० ५ उषित्वा २ उपागच्छन्ति तथाप्रकाराणि वस्त्राणि नो आत्मना गृण्हन्ति, नो अन्योऽन्यस्मै ददति तच्चैव नो स्वादयन्ति बहुवचनेन भाणितव्यं। स हंत अहमपि मुहूर्तकं प्रातिहारिकं वस्त्रं याचित्वा यावत् एकाहेन वा० ५ उषित्वा २ उपागमिष्यामि।

अपि च एतत् ममैव स्यात्, मातृस्थानं संस्पृशेत् नो एवं कुर्यात्।

**पदार्थ-** एगड़ओ-कोई। से-भिक्षु। मुहुत्तगं २-मुहूर्त मात्र काल का उद्देश्य कर। पाडिहारियं-प्रातिहारक-जो लेकर फिर पीछे उसी को दिया जाए, उसे प्रातिहारक कहते हैं। वत्थं-वस्त्र की। जाइजा-याचना करे। जाव-यावत् वस्त्र की याचना करके वह अकेला ही ग्रामादि में चला जाए और वहां पर। एगाहेण वा-एक दिन। दु०-दो दिन। ति०-तीन दिन। चउ०-चार दिन अथवा। पंचाहेण वा-पांच दिन। विप्पवसिय २-ठहर कर फिर। उवागच्छिजा-वहां पर ही आ जाए। तहप्पगारं-तथा प्रकार का। वत्थं-वस्त्र, यदि पहनने से फट गया हो, उपहत हो गया हो तो। अप्पणो-उस वस्त्र का स्वामी-जिसने वस्त्र दिया था वह, उपहत हुआ जानकर स्वयं। नो गिण्हजा-ग्रहण न करे। नो अन्नमन्नस्स दिजा-न परस्पर में किसी को दे। नो पामिच्चं कुजा-न किसी को उधार तथा। वत्थेण-वस्त्र से। वत्थपरिणामं नो करिजा-वस्त्र का परिणमन अर्थात् अदला-बदला न करे तथा। नो परं उवसंकमित्ता-न किसी अन्य साधु के पास जाकर। एवं वइजा-इस प्रकार कहे-। आउ० समणा-हे आयुष्मन् श्रमण। अभिकंखसि-क्या तुम चाहते हो। वत्थं-वस्त्र को। धारित्तए वा-धारण करना अथवा। परिहरित्तए वा-पहनना, इस प्रकार कह कर अन्य साधु को भी वस्त्र नहीं दे। थिरं वा-अथवा स्थिर-दृढ़। संतं-वस्त्र के होने पर। पलिछिंदिय २-छेदन करके-टुकड़े करके। नो परिट्ठविजा-परठे नहीं अर्थात् फैंके नहीं। तहप्पगारं-तथा प्रकार के। वत्थं-वस्त्र को। ससंधियं-उपहत वस्त्र को। तस्स चैव-उसी को ही। निसिरिजा-दे देवे। पां-वाक्यालंकार में है। नो साइजा-स्वयं न भोगे अर्थात् जिससे वस्त्र लिया था यदि वह ग्रहण करना-लेना चाहे तो उसी को दे दे। से-वह। एगड़ओ-कोई एक साधु। एयप्पगारं-इस प्रकार के। निग्घोसं-निर्घोष-शब्द को। सुच्चा-सुत्कर। नि-हृदय में धारण करके। जे भयंतारो-जो पूज्य तथा भय से रक्षा करने वाले साधु। तहप्पगाराणि-तथा प्रकार के। वत्थाणि-वस्त्रों को। ससंधियाणि-जो उपहत हैं। मुहुत्तगं २-मुहूर्त-आदि काल का उद्देश्य कर। जाव-यावत्। एगाहेण वा० ५-एक दिन से लेकर पांच दिन तक। विप्पवसिय २-किसी ग्रामादि में ठहर कर। उवागच्छंति-आते हैं फिर उपहत हुआ वस्त्र। तह० वत्थाणि-तथा प्रकार के वस्त्रों को। नो अप्पणा गिण्हंति-स्वयं ग्रहण नहीं करते। नो अन्नमन्नस्स दलयंति-न परस्पर में देते हैं। तं चैव-शेष वर्णन पूर्ववत्। जाव-यावत्। नो साइजंति-न वे स्वयं भोगते हैं अर्थात् उसी को दे देते हैं। बहुवयणेण वा भाणियव्वं-इसी प्रकार बहुवचन के सम्बन्ध में जान लेना चाहिए। से हंता-वह भिक्षु हर्ष पूर्वक स्वीकार करते हुए कहता है कि। अहमवि-मैं भी। मुहुत्तगं-मुहूर्त आदि काल का उद्देश्य कर। पडिहारियं-प्रतिहारक। वत्थं-वस्त्र को। जाइत्ता-मांग कर। जाव-यावत्। एगाहेण वा० ५-एक दिन से लेकर पांच दिन पर्यन्त। विप्पवसिय २-ठहर कर के पीछे। उवागमिस्सामि-आऊंगा। अवियाइं-जिससे। एयं-यह वस्त्र। ममेव सिया-मेरा ही हो जाएगा यदि वह ऐसा सोचता है तो। माइट्ठाणं संफासे-उसे मातृस्थान-माया या छल का स्पर्श होता है। एवं-अतः इस प्रकार का। नो करेजा-विचार न करे।

**मूलार्थ-**कोई एक साधु मुहूर्त आदि काल का उद्देश्य रख कर किसी अन्य साधु से प्रातिहारिक वस्त्र की याचना करके एक दिन, दो दिन, तीन दिन, चार दिन और पांच दिन तक किसी ग्रामादि में निवास कर वापिस आ जाए, और वह वस्त्र उपहत हो गया हो तो वह साधु, जिसका वह वस्त्र था वह आप ग्रहण न करे, न परस्पर देवे, न उधार करे और न अदला-बदली करे तथा न अन्य किसी के पास जाकर यह कहे कि आयुष्मन् श्रमण ! तुम इस वस्त्र को ले लो,

एवं वस्त्र के दूढ़ होने पर उसे छिन्न-भिन्न करके परठे भी नहीं, किन्तु उपहृत वस्त्र उसी को दे दे।

कोई साधु इस प्रकार के समाचार को सुन कर— अर्थात् अमुक साधु अमुक साधु से कुछ समय के लिए वस्त्र मांग कर ले गया था और वह वस्त्र उपहृत हो जाने पर उसने नहीं लिया अपितु उसी को दे दिया ऐसा सुनकर वह यह विचार करे कि यदि मैं भी मुहूर्त आदि का उद्देश्य रख कर प्रातिहारिक वस्त्र की याचना कर यावत् पांच दिन पर्यन्त किसी अन्य ग्रामादि में निवास कर फिर वहां पर आ जाऊंगा तो वह वस्त्र उपहृत हो जाने से मेरा ही हो जाएगा, इस प्रकार के विचार के अनुसार यदि साधु प्रातिहारिक वस्त्र का ग्रहण करे तो उसे मातृस्थान का स्पर्श होता है अर्थात् माया के स्थान का दोष लगता है। इसलिए साधु ऐसा न करे बहुत से साधुओं के सम्बन्ध में भी इसी तरह समझना चाहिए।

**हिन्दी विवेचन**— प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि यदि साधु ने अपने अन्य किसी साधु से कुछ समय का निश्चय करके वस्त्र लिया हो और उतने समय तक वह ग्रामादि में विचरण करके वापिस लौट आया हो और उसका वह वस्त्र कहीं से फट गया हो या मैला हो गया हो, जिसके कारण वह स्वीकार न कर रहा हो तो उस मुनि को वह वस्त्र अपने पास रख लेना चाहिए। और जिस मुनि ने वस्त्र दिया था उसे चाहिए कि वह या तो उस उपहृत (फटे हुए या मैले हुए) वस्त्र को ग्रहण कर ले। यदि वह उसे नहीं लेना चाहे तो फिर वह उसे अपने दूसरे साधुओं में न बांटे और मजबूत वस्त्र को फाड़ कर परठे (फैंके) भी नहीं और उसके बदले में उससे वैसे ही नए वस्त्र को प्राप्त करने की अभिलाषा भी नहीं रखे। और उस लेने वाले मुनि को भी चाहिए कि यदि वह दाता मुनि उसे वापिस न ले तो वह किसी एकलविहारी मुनि को यदि उस वस्त्र की आवश्यकता हो तो उसे दे दे। अन्यथा स्वयं उसका उपभोग करे। यह नियम जैसे एक साधु के लिए है उसी तरह अनेक साधुओं के लिए भी यही विधि समझनी चाहिए।

किसी साधु से ऐसा जानकर कि प्रातिहारिक रूप लिया हुआ वस्त्र थोड़ा सा फट जाने पर देने वाला मुनि वापिस नहीं लेता है, इस तरह वह वस्त्र लेने वाले मुनि का ही हो जाता है। इस भावना को मन में रख कर कोई भी साधु प्रातिहारिक वस्त्र ग्रहण न करे। यदि कोई साधु इस भावना से वस्त्र ग्रहण करता है, तो उसे माया का दोष लगता है।

इसी विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्**— से भि० नो वण्णमंताइं वत्थाइं विवण्णाइं करिज्जा, विवण्णाइं न वण्णमंताइं करिज्जा, अन्नं वा वत्थं लभिस्सामित्तिकट्टु नो अन्नमन्नस्स दिज्जा, नो पामिच्चं कुज्जा, नो वत्थेण वत्थपरिणामं कुज्जा, नो परं उवसंकमित्तु एवं वदेज्जा-आउसो० ! समभिकंखसि मे वत्थं धारित्तए वा परिहरित्तए वा ! थिरं वा संतं नो पलिच्छिंदिय २ परिट्ठविज्जा, जहा मेयं वत्थं प्रावगं परो मन्नइ, परं च णं अदत्तहारी पडिपहे पेहाए तस्स वत्थस्स नियाणाय नो तेसिं भीओ उम्मग्गेणं गच्छिज्जा, जाव अप्पुस्सुए, तओ संजयामेव गामाणुगामं दूइज्जिज्जा ॥

से भिक्षु वा० गामाणुगामं दूइज्जमाणे अंतरा से विहं सिया, से जं पुण विहं जाणिज्जा, इमंसि खलु विहंसि बहवे आमोसगा वत्थपडियाए संपिंडिया गच्छेज्जा, णो तेसिं भीओ उम्मग्गेणं गच्छेज्जा जाव गामा० दूइज्जिज्जा । से भि० दूइज्जमाणे अंतरा से आमोसगा पडियागच्छेज्जा, ते णं आमोसगा एवं वदेज्जा- आउसं० ! आहरेयं वत्थं देहि णिक्खिवाहि जहा रियाए णाणत्तं वत्थपडियाए, एयं खलु० जइज्जासि, त्तिवेमि ॥१५१॥

छाया- स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा नो वर्णवन्ति वस्त्राणि विवर्णानि कुर्यात् विवर्णानि न वर्णवन्ति कुर्यात् अन्यद् वा वस्त्रं लप्स्ये इति कृत्वा नो अन्योन्यस्मै दद्यात्, नो प्रामित्यं कुर्यात् नो वस्त्रेण वस्त्रपरिणामं कुर्यात् नो परम् उपसंक्रम्य एवं वदेत्- आयुष्मन् श्रमण! समभिकांक्षसि मे वस्त्रं धारयितुं वा परिहर्तुं वा स्थिरं वा सत् नो परिच्छिन्द्य २ परिष्ठापयेत्, यथा ममेदं वस्त्रं पापकं परो मन्यते परं च अदत्ताहारि प्रतिपथे प्रेक्ष्य तस्य वस्त्रस्य निदानाय नो तेभ्यो भीतः उन्मार्गेण गच्छेत् यावत् अल्पोत्सुकः ततः संयतमेव ग्रामानुग्रामं दूयेत ।

स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा ग्रामानुग्रामं दूयमानः-गच्छन् अन्तरा-अन्तराले विहं - (अरण्यं) स्यात् स यत् पुनः विहं, जानीयात्, अस्मिन् खलु विहे बहवः आमोषकाः वस्त्रप्रतिज्ञया संपिंडिताः गच्छेयुः नो तेभ्यो भीतः उन्मार्गेण गच्छेत् यावत् ग्रामानुग्रामं दूयेत । स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा दूयमानः अन्तरा तस्य आमोषकाः प्रतिज्ञया आगच्छेयुः । ते आमोषकाः एवं वदेयुः-आयुष्मन् श्रमण ! आहर ? इदं वस्त्रं ? देहि ? निक्षिप ? यथा ईर्यायां नानात्वं वस्त्रप्रतिज्ञया, एवं खलु तस्य भिक्षोः २ सामग्र्यं यत् सर्वार्थैः समित्या सहितः सदा यतेत, इति ब्रवीमि ।

पदार्थ- से भि-वह साधु अथवा साध्वी । वणमंताइ-वर्ण वाले । वत्थाइ-वस्त्रों को । विवण्णाइ-विवर्ण । नो करिज्जा-न करे । विवण्णाइ-वर्ण रहित-सुन्दरता रहित वस्त्रों को । वणमंताइ-वर्ण युक्त । न करिज्जा-न करे । वा-या । अन्नं-अन्य । वत्थं-वस्त्र । लभिस्सामि-प्राप्त करूंगा । तिकट्टु-ऐसा विचार करके । अन्नमन्नस्स-परस्पर किसी एक साधु को वस्त्र । नो दिज्जा-न दे । पामिच्चं-वस्त्र को उधार न दे । वत्थेण-वस्त्र से । वत्थपरिणामं-वस्त्र की बदला-बदली । नो कुज्जा-न करे । परं उवसंकमित्तु-पर-अन्य साधु के पास जाकर । एवं-इस प्रकार । नो वदिज्जा-न कहे । आउसो-हे आयुष्मन् श्रमण ! क्या तू । मे-मेरा । वत्थं-वस्त्र । धारित्तए वा-धारण करना अथवा । परिहरित्तए वा-पहरना । समभिकंखसि-चाहता है । थिरं वा संतं-दृढ़ वस्त्र होने पर । पलिच्छिंदिय २-खण्ड-खण्ड करके । नो परिट्ठविज्जा-परठे नहीं । जहा-जैसे । मेयं-मेरे इस वस्त्र को यावत् । परो मन्नइ-अन्य व्यक्ति निकृष्ट मानता है ऐसा विचार करके न परठे । च-पुनः । णं-वाक्यालंकार में है । परं-अन्य गृहस्थ । अदत्तहारी-बिना दिए लेने वाला अर्थात् चोर । पडिपहे-मार्ग में सामने आते हुए को । पेहाए-देख कर । तस्स वत्थस्स-उस वस्त्र के । नियाणाय-रखने के लिए । तेसिं-उनसे । भीओ-डर कर ।



उम्मगोणं-उन्मार्ग से। नो गच्छिजा-गमन न करे। जाव-यावत्। अप्पुस्सुए-राग-द्वेष से रहित होकर। तओ-तदनन्तर। संजयामेव-यतनापूर्वक। गामाणुगामं-एक ग्राम से दूसरे ग्राम के प्रति। दूइज्जिजा-गमन करे-विहार करे।

से भिक्खू वा-वह साधु या साध्वी। गामाणुगामं-ग्रामानुग्राम। दूइज्जमाणे-गमन करते हुए। अंतरा-मार्ग के मध्य में। से-उसके। विहं सिया-यदि अटवी आ जाए तो। से जं पुण-वह फिर। विहं जाणिजा-अटवी को जाने। खलु-निश्चयार्थक है। इमंसि विहंसि-इस अटवी में। बहवे-बहुत से। आमोसगा-चोर। वत्थपडियाए-वस्त्र छीनने के लिए। संपिडिया-एकत्र होकर। आगच्छेजा-आए हैं तो। तेसिं भीओ-उनसे डर कर। उम्मगोणं-उन्मार्ग से। णो गच्छेजा-गमन न करे। जाव-यावत्। गामां-ग्रामानुग्राम। दूइजेजा-विहार करे।

से भिं-वह साधु या साध्वी ग्रामानुग्राम। दूइज्जमाणे-विहार करता हुआ। से-उसके। अंतरा-मार्ग में। आमोसगा-चोर एकत्र होकर। पडियागच्छेजा-वस्त्र छीनने के लिए आ जाएं। पां-वाक्यालंकार में है। ते-वे। आमोसगा-चोर। एवं-इस प्रकार। वदेजा-कहें। आउसो-आयुष्मन् श्रमण ! एयं वत्थं-यह वस्त्र। आहर-ला। देहि-हमारे हाथ में दे दे या। णिक्खिवाहि-हमारे आगे रख दे तब। जहा इरियाए-जैसे ईर्ष्याध्ययन में वर्णन किया है उसी प्रकार करे। णाणसं-उससे इतना विशेष है। वत्थपडियाए-वस्त्र के लिए अर्थात् यहां पर वस्त्र का अधिकार समझना। एयं खलु-निश्चय ही यह। तस्स-साधु और साध्वी का। सामगिचं-सम्पूर्ण आचार है। जं-जो। सव्वट्ठेहिं-सर्व अर्थों से तथा। समिए-पांचों समितियों से। सहिए-युक्त। सया-सदा संयम पालन का। जइज्जासि-यत्न करे। तिबेमि-इस प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—संयमशील साधु और साध्वी सुन्दर वर्ण वाले वस्त्रों को विवर्ण-विगत वर्ण न करे तथा विवर्ण को वर्ण युक्त न करे। तथा मुझे अन्य सुन्दर वस्त्र मिल जाएगा ऐसा विचार कर के अपना पुराना वस्त्र किसी और को न दे। और न किसी से उधारा वस्त्र लेवे एवं अपने वस्त्र की परस्पर अदला-बदली भी न करे। तथा अन्य श्रमण के पास आकर इस प्रकार भी न कहे कि आयुष्मन् ! श्रमण ! तुम मेरे वस्त्र को ले लो, मेरे इस वस्त्र को जनता अच्छा नहीं समझती है, इसके अतिरिक्त उस दृढ़ वस्त्र को फाड़ करके फेंके भी नहीं तथा मार्ग में आते हुए चोरों को देखकर उस वस्त्र की रक्षा के लिए चोरों से डरता हुआ उन्मार्ग से गमन न करे, किन्तु राग-द्वेष से रहित होकर साधु ग्रामानुग्राम विहार करे-विचरे। यदि कभी विहार करते हुए मार्ग में अटवी आ जाए तो उसको उल्लंघन करते समय यदि बहुत से चोर एकत्र होकर सामने आ जाएं तब भी उनसे डरता हुआ उन्मार्ग में न जाए। यदि वे चोर कहें कि आयुष्मन् श्रमण ! यह वस्त्र उतार कर हमें दे दो, यहां रख दो, तब साधु वस्त्र को भूमि पर रख दे, किन्तु उनके हाथ में न दे और उनसे करुणा पूर्वक उसकी याचना भी न करे। यदि याचना करनी हो तो धर्मपूर्वक करे। यदि वे वस्त्र न दें तो नगरादि में जाकर उनके संबन्ध में किसी से कुछ न कहे। यही वस्त्रैषणा विषयक साधु और साध्वी का सम्पूर्ण आचार है, अतः ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य तथा पांच समितियों से युक्त मुनि विवेकपूर्वक आत्म-साधना में संलग्न रहे। इस प्रकार मैं कहता हूँ।

हिन्दी विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि साधु उज्ज्वल या मैला जैसा भी वस्त्र मिला

है वह उसे उसी रूप-में धारण करे। किन्तु, वह न तो चोर आदि के भय से उज्ज्वल वस्त्र को मैला करे और न विभूषा के लिए मैले वस्त्र को साफ करे। और नए वस्त्र को प्राप्त करने की अभिलाषा से साधु अपने पहले के वस्त्र को किसी अन्य साधु को न दे और न किसी से अदला-बदली करे तथा उस चलते हुए वस्त्र को फाड़ कर भी न फेंके।

सूत्रकार ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि साधु को सदा निर्भय होकर विचरना चाहिए। यदि कभी अटवी पार करते समय चोर मिल जाएं तो उनसे अपने वस्त्र को बचाने की दृष्टि से साधु रास्ता छोड़ कर उन्मार्ग की ओर न जाए। यदि वे चोर साधु से वस्त्र मांगें तो साधु उस वस्त्र को जमीन पर रख दे, परन्तु उनके हाथ में न दे और उसे वापिस लेने के लिए उनके सामने गिड़गिड़ाहट भी न करे और न उनकी खुशामद ही करे। यदि अवसर देखे तो उन्हें धर्म का उपदेश देकर सन्मार्ग पर लाने का प्रयत्न करे। इससे यह स्पष्ट होता है कि वस्त्र केवल संयम साधना के लिए है, न कि ममत्व के रूप में है। अतः साधु को किसी भी स्थिति में उस पर ममत्वभाव नहीं रखना चाहिए। इससे साधु जीवन के निर्ममत्व एवं निर्भयत्व का स्पष्ट परिचय मिलता है।

‘त्तिबेमि’ की व्याख्या पूर्ववत् समझनी चाहिए।

॥ द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

॥ पञ्चम अध्ययन समाप्त ॥

## षष्ठ अध्ययन-पात्रैषणा

### प्रथम उद्देशक

यह हम देख चुके हैं कि पहले अध्ययन में आहार ग्रहण करने की विधि का, दूसरे अध्ययन में आहार करने एवं ठहरने के स्थान का, तीसरे अध्ययन में गमनागमन में विवेक रखने के लिए ईर्यासमिति का, चौथे में आहार आदि के लिए गमन करते एवं विहार करते समय भाषा में विवेक रखने के लिए भाषा समिति का और पांचवें अध्ययन में इस संयम साधना में प्रवर्तमान साधक को कैसा वस्त्र ग्रहण करना चाहिए इसका उल्लेख किया गया है। अब प्रस्तुत अध्ययन में आहार ग्रहण करने के लिए कैसा पात्र होना चाहिए इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं-

मूलम्- से भिक्खू वा अभिकंखिज्जा पायं एसित्तए, से जं पुण पायं जाणिज्जा, तंजहा-अलाउयपायं वा, दारुपायं वा, मट्टियापायं वा, तहप्पगारं पायं जे निग्गंथे तरुणे जाव थिरसंघयणे से एगं पायं धारिज्जा, नो बिइयं ॥ से भि० परं अद्धजोयणमेराए पायपडियाए नो अभिसंधारिज्जा गमणाए ॥ से भि० से जं ० अस्सिंपडियाए एगं साहम्मियं समुद्दिस्स पाणाइं ४ जहा पिंडेसणाए चत्तारि आलावगा, पंचमे बहवे समण० पगणिय २ तहेव ॥ से भिक्खू वा० अस्संजए भिक्खुपडियाए बहवे समणमाहणे० वत्थेसणाऽऽलावओ ॥ से भिक्खू वा० से जाइं पुण पायाइं जाणिज्जा विरूवरूवाइं महद्धणमुल्लाइं, तंजहा-अयपायाणि वा तउपाया० तंबपाया० सीसगपाया० हिरण्णपा० सुवण्णपा० रीरिअपाया० हारपुडपा० मणिकायकंसपाया० संखसिंगपा० दंतपा० चेलपा० सेलपा० चम्मपा० अन्नयराइं वा तह० विरूवरूवाइं महद्धणमुल्लाइं पायाइं अफासुयाइं नो पडिगाहिज्जा ॥ से भि० से जाइं पुण पाया० विरूव० महद्धणबंधणाइं तं० अयबंधणाणि वा जाव चम्मबंधणाणि वा, अन्नयराइं तहप्प० महद्धणबंधणाइं अफा० नो प० ॥ इच्चेयाइं आयतणाइं उवाइक्कम्म अह भिक्खू जाणिज्जा चउहिं पडिमाहिं पायं एसित्तए, तत्थ खलु इमा पढमा पडिमा- से भिक्खू उद्दिसिय२ पायं जाइज्जा, तंजहा-अलाउयपायं वा ३ तह० पायं सयं वा णं जाइज्जा जाव

पडि० पढमा पडिमा १ ॥ अहावरा० से० पेहाए पायं जाइज्जा, तं०-गाहावइं वा कम्मकरिं वा से पुव्वामेव आलोइज्जा, आउ० भ०! दाहिसि मे इत्तो अन्नयरं पायं तं०-अलाउयपायं वा ३ तह० पायं सयं वा जाव पडि०, दुच्चा पडिमा २ ॥ अहा० से भि० से जं पुण पायं जाणिज्जा संगइयं वा वेजइयंतियं वा तहप्प० पायं सयं वा जाव पडि० तच्चा पडिमा ३ ॥ अहावरा चउत्था पडिमा-से भि० उज्झियधम्मियं जाएज्जा जावऽन्ने बहवे समणा जाव नावकंखति तह० जाएज्जा जाव पडि०, चउत्था पडिमा ४ ॥ इच्चेइयाणं चउण्हं पडिमाणं अन्नयरं पडिमं जहा-पिंडेसणाए ॥ से णं एयाए एसणाए एसमाणं पासित्ता परो वइज्जा, आउ० स०! एज्जासि तुमं मासेण वा जहा वत्थेसणाए, से णं परो नेता व० - आ० भ०! आहरेयं पायं तिल्लेण वा घ० नव० वसाए व अब्भंगित्ता वा तहेव सिणाणादि तहेव सीओदगाइं कंदाइं तहेव ॥

से णं परो ने० - आउ० स० ! मुहुत्तगं २ जाव अच्छाहि ताव अम्हे असणं वा उवकरेसु वा उवक्खडेसु वा, तो ते वयं आउसो० ! सपाणं सभोयणं पडिग्गहं दाहामो, तुच्छए पडिग्गहे दिन्ने समणस्स नो सुट्ठु साहु भवइ, से पुव्वामेव आलोइज्जा-आउ० भइ० ! नो खलु मे कप्पइ आहाकम्मिए असणे वा ४ भुत्तए वा०, मा उवकरेहि मा उवक्खडेहि, अभिकंखसि मे दाउं एमेव दलयाहि, , से सेवं वयंतस्स परो असणं वा ४ उवकरित्ता उवक्खडित्ता सपाणं सभोयणं पडिग्गहगं दलइज्जा तह० पडिग्गहगं अफासुयं जाव नो पडिगाहिज्जा ॥ सिया से परो उवणित्ता पडिग्गहगं निसिरिज्जा, से पुव्वामेव आउ०! भ०! तुमं चेव णं संतियं पडिग्गहगं अंतोअंतेणं पडिलेहिस्सामि, केवली० आयाण० अंतो पडिग्गहगंसि पाणाणि वा बीया० हरि०, अह भिक्खूणं पु० जं पुव्वामेव पडिग्गहगं अंतोअंतेणं पडि० सअंडाइं सव्वे आलावगा भाणियव्वा जहा वत्थेसणाए, नाणत्तं तिल्लेण वा घएण० नव० वसाए वा सिणाणादि जाव अन्नयरंसि वा तहप्पगा० थंडिलंसि पडिलेहिय २ पम० २ तओ० संज० आमज्जिज्जा, एवं खलु० सया जएज्जासि त्तिबेमि ॥१५२ ॥

छाया- स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा अभिकांक्षेत पात्रमेषितुं ( अन्वेष्टुं ) तत् यत् पुनः पात्रं जानीयात्, तद्यथा-अलाबुपात्रं वा दारुपात्रं वा मृत्तिकापात्रं वा, तथाप्रकारं पात्रं या

निर्ग्रन्थः तरुणः यावत् स्थिरसंहननः स एकं पात्रं धारयेत् न द्वितीयम् । स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा परं अर्द्धयोजनमर्यादायाः पात्रप्रतिज्ञया नाभिसन्धारयेद् गमनाय । स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा, तत् यत् अस्वप्रतिज्ञया एकं साधर्मिकं समुद्दिश्य प्राणानि ४ यथा पिण्डैषणायां चत्वारः आलापकाः, पंचमे बहवः श्रमणं प्रगण्य २ तथैव । स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा असंयतः भिक्षुप्रतिज्ञया बहवः श्रमणं ब्राह्मणं वस्त्रैषणाऽऽलापकः । स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा तत् यानि पुनः पात्राणि जानीयात्, विरूपरूपाणि महद्बन्धनमूल्यानि, तद्यथा— अयःपात्राणि वा त्रपुःपात्राणि वा ताम्रपात्राणि वा सीसकपात्राणि वा हिरण्यपात्राणि वा सुवर्णपात्राणि वा रीतिपात्राणि वा हारपुटपात्राणि वा मणिकाचकंसपात्राणि वा शंखशृंगपात्राणि वा दन्तपात्राणि वा चेलपा० शिलापा० चर्मपात्राणि वा अन्यतराणि वा तथाप्रकाराणि विरूपरूपाणि महद्बन्धनमूल्यानि पात्राणि अप्रासुकानि न प्रतिगृहणीयात् । स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा तद् यानि पुनः पात्राणि विरूपरूपाणि महद्बन्धनबन्धनानि, तद्यथा— अयोबन्धनानि वा यावत् चर्मबन्धनानि वा अन्यतराणि तथाप्रकाराणि महद्बन्धनबन्धनानि अप्रासुकानि न प्रतिगृह्णीयात्, इत्येतानि आयतनानि उपातिक्रम्य, अथ भिक्षुः जानीयात्, चतसृभिः प्रतिमाभिः पात्रमेधितुं ( अन्वेष्टुं ) तत्र खलु इयं प्रथमा प्रतिमा १ । स भिक्षुः उद्दिश्य २ पात्रं याचेत्, तद्यथा— अलाबुकपात्रं वा ३ तथाप्रकारं पात्रं स्वयं वा याचेत्, यावत् प्रतिगृह्णीयात्, प्रथमा प्रतिमा ॥१॥

अथापरा० स० प्रेक्ष्य पात्रं याचेत् तद्यथा— गृहपतिं वा कर्मकरिं वा, स पूर्वमेव आलोचयेत्, आयुष्मन् ! भगिनि ! दास्यसि मे इतः अन्यतरत् पात्रं तद्यथा— अलाबुकपात्रं वा ३ तथाप्रकारं पात्रं स्वयं वा यावत् प्रतिगृह्णीयात्, द्वितीया प्रतिमा ॥२॥ अथापरा—स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा स यत् पुनः पात्रं जानीयात्, स्वांगिकं वा वैजयन्तिकं वा तथाप्रकारं पात्रं स्वयं वा यावत् प्रतिगृह्णीयात्, तृतीया प्रतिमा ॥३॥ अथापरा चतुर्थी प्रतिमा—स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा उज्झितधर्मिकं याचेत् यावत् अन्ये बहवः श्रमणाः यावत् नावकांक्षन्ति तथाप्रकारं याचेत् यावत् प्रतिगृह्णीयात्, चतुर्थी प्रतिमा ॥४॥ इत्येतासां चतसृणां प्रतिमानां अन्यतरां प्रतिमां यथा पिण्डैषणायाम् । स एतया एषणया एषमाणं दृष्ट्वा परो वदेत्— आयुष्मन् श्रमण ! एष्यसि त्वं मासेन वा यथा वस्त्रैषणायाम्, स परो नेता वदेत्— आयुष्मति, भगिनि ! आहर एतत् पात्रं तैलेन वा घृतेन वा नवनीतेन वा वसया वा अभ्यज्य, तथैव स्नानादि, तथैव शीतोदकानि कन्दानि तथैव । स परो नेता— ( एवं वदेत्— ) आयुष्मन् श्रमण ! मुहूर्तकं यावत् आस्व-तिष्ठ ? तावत् वयमशनं वा ४ उपकुर्मः उपस्कुरुमः । ततस्ते वयं आयुष्मन् श्रमण ! सपानं सभोजनं पतद्ग्रहं ( पात्रं ) दास्यामः । तुच्छके प्रतिग्रहे दत्ते श्रमणस्य नो सुष्ठु, साधु भवति । स पूर्वमेव आलोचयेत्, आयुष्मति ! भगिनि ! नो खलु मे कल्पते आधाकर्मिकं अशनं वा ४ भोक्तुं वा मा उपकुरु मा उपस्कुरु अधिकांक्षसि मे दातुं एवमेव ददस्व, तस्य एवं वदतः परः अशनं वा उपकृत्य उपस्कृत्य सपानं सभोजनं पतद्ग्रहं दद्यात् तथाप्रकारं पतद्ग्रहं—पात्रमप्रासुकं

यावत् न प्रतिगृहीयात्। स्यात् स परः उपनीय प्रतिग्रहकं निसृजेत्, स पूर्वमेव आलोचयेत् आयुष्मति! भगिनि ! त्वं चैव स्वांगिकं पतद्ग्रहकं अन्तोन्तेन प्रतिलेखिष्यामि। केवली ब्रूयात् आदानमेतत् अन्तः पतद्ग्रहके प्राणानि वा बीजानि वा हरितानि वा अथ भिक्षूणां पूर्वोपदिष्टं यत् पूर्वमेव पतद्ग्रहकं अन्तोन्तेन प्रति० साण्डानि, सर्वे आलापकाः भणितव्याः यथावस्त्रैषणायाम्, नानात्वं तैलेन वा घृतेन वा नवनीतेन वा वसया वा स्नानादि यावत् अन्यतरस्मिन् वा तथाप्रकारे स्थंडिले प्रतिलिख्य २, प्रमृज्य २ ततः संयतमेव, आमृज्यात्। एवं खलु तस्य भिक्षोः सामग्र्यं सदा यतेत। इति ब्रवीमि।

पदार्थ— से-यदि वह। भिक्खू वा-साधु अथवा साध्वी। पायं-पात्र की। एसित्तए-गवेषणा करनी। अभिकंखिज्जा-चाहता है तो। से-वह साधु। जं-जो। पुण-फिर। पायं-पात्र के सम्बन्ध में यह। जाणिज्जा-जाने। तंजहा-जैसे कि। अलाउयपायं वा-तूबे का पात्र है अथवा। दारुपायं-काष्ठ का पात्र है अथवा। मट्टिया पायं वा-मिट्टी का पात्र है और। तहप्पगारं पायं-तथाप्रकार के पात्र हैं। जे-जो। निगंथे-निर्ग्रन्थ। तरुणे-युवक है। जाव-यावत्। थिरसंघयणे-स्थिर संहनन वाला है अर्थात् जिसका शरीर दृढ़ है। से-वह साधु। एगं पायं-एक ही पात्र। धारिज्जा-धारण करे। नो बिइयं-दूसरा पात्र न रखे। से भिक्खू वा-वह साधु या साध्वी। अद्धजोयणमेराए-अर्द्ध योजन की मर्यादा से। परं-उपरान्त। पायपडियाए-पात्र ग्रहण की प्रतिज्ञा से। गमणाए-जाने के लिए। नो अभिसंधारिज्जा-मन में विचार न करे।

से भिक्खू वा-वह साधु या साध्वी। से-वह। जं-जो फिर। पायं-पात्र को। जाणिज्जा-जाने। अस्सिंपडियाए-साधु की प्रतिज्ञा से गृहस्थ ने। एगं साहम्मियं-एक साधर्मी साधु का। समुद्दिस्स-उद्देश्य रख कर अर्थात् साधु के निमित्त से। पाणाईं ४-प्राणी, भूत, जीव और सत्त्व का विनाश करके पात्र तैयार किया है, शेष वर्णन। जहा-जैसे। पिंडेसणाए-पिण्डैषणा अध्ययन में किया गया है उसी तरह। चत्तारि-चार। आलावगा-आलापक जानने चाहिए। पंचमे-पांचवें आलापक में। बहवे-बहुत से। समण-शाक्यादि श्रमण तथा ब्राह्मण आदि के लिए। पगणिय २-गिन-गिन कर अर्थात् उनका उद्देश्य रखकर पात्र बनाए। तहेव-शेष वर्णन जैसे पिण्डैषणा अध्ययन में आहार के विषय में किया गया है उसी प्रकार यहां पर अर्थात् पात्र के सम्बन्ध में भी जान लेना चाहिए।

से भिक्खू वा-वह साधु या साध्वी। अस्संजए-असंयत, गृहस्थ। भिक्खुपडियाए-साधु की प्रतिज्ञा से। बहवे-बहुत से। समणमाहणे-शाक्यादि श्रमण तथा ब्राह्मणादि के विषय में। वत्थेसणाऽऽलावओ-जैसे वस्त्रैषणा आलापक में कहा गया है उसी प्रकार पात्रैषणा आलापक भी जानना चाहिए। से भिक्खू वा-वह साधु या साध्वी। से-वह-साधु। जाइं-जो। पुण-फिर। विरुवरूवाइं-नाना प्रकार के। पायाइं-पात्रों के सम्बन्ध में। जाणिज्जा-जाने। महद्धणमुत्तइं-जो बहुमूल्य हैं, कीमती हैं। तंजहा-जैसे कि। अयपायाणि वा-लोहे के पात्र। तउपाया-कली के पात्र। तंबपाया-ताम्बे के पात्र। सीसगपा-सीसे के पात्र। हिरणपा-चान्दी के पात्र। सुवणपा-सुवर्ण-सोने के पात्र। रीरियापा-पीतल के पात्र। हारपुडपा-लोहविशेष के पात्र। मणिकायकंसपाया-मणि, कांच और कांसी के पात्र। संखसिंगपा-संख-शंख और शृंग के पात्र। दंतपा-दान्त के पात्र। चेलपा-वस्त्र के पात्र। सेलपा-पत्थर के पात्र तथा। चम्मपा-चर्म के पात्र और। अन्नयराइं-अन्य। तहप्प-इसी तरह के। विरुवरूवाइं-विविध। महद्धणमुत्तइं-मूल्य वाले। पायाइं-पात्रों को। अफासुयं-

अप्रासुक जानकर। जाव-यावत्। नो पडिं-ग्रहण न करे।

से भिक्खू वा-वह साधु अथवा साध्वी। से-वह। जाइं-जो। पुण-फिर। पायं-पात्र को। जाणिज्जा-जाने। विरूवं-नाना प्रकार के-विविध-भान्ति के। महद्धणबंधणाइं-जिनके मूल्यवान् बन्धन हैं। तं-जैसे कि। अयबंधणाणि वा-लोहे के बन्धन। जाव-यावत्। चम्पबंधणाणि वा-चर्म के बन्धन वाले, तथा। अन्नयराइं-अन्य भी। तहप्प-तथाप्रकार के। महद्धणबंधणाइं-कीमती बन्धनों को जानकर और उन बन्धनों के कारण इन पात्रों को। अफां-अप्रासुक मान कर। नो पडिं-ग्रहण न करे। इच्चेयाइं-ये सब पूर्वोक्त। आयतणाइं-पात्र सम्बन्धी दोषों के स्थान हैं। इनको। उवाइक्कम्म-अतिक्रम करके अर्थात् छोड़कर पात्र ग्रहण करना चाहिए।

अह-अथ। भिक्खू-साधु। जाणिज्जा-यह जाने कि। चउहिं पडिमाहिं-उसे चार प्रतिमाओं-अभिग्रह विशेषों से। पायं-पात्र की। एसित्ताए-गवेषणा करनी है। खलु-वाक्यालंकार में है। तत्थ-उन चारों प्रतिमाओं में से। इमा-यह। पढमा-पहली। पडिमा-प्रतिमा है। से-वह। भिक्खू-साधु या साध्वी। उहिसिय २-नाम लेकर। पायं-पात्र की। जाइज्जा-याचना करे। तंजहा-जैसे कि। अलाउयपायं वा ३-अलाबुक पात्र-तूम्बे का पात्र, काष्ठ का पात्र और मिट्टी का पात्र। तह-तथाप्रकार के। पायं-पात्र की। सयं वा-स्वयं अपने आप। जाइज्जा-याचना करे। जाव-यावत्। पडिं-ग्रहण करे। पढमा पडिमा-यह पहली प्रतिमा है। पां-वाक्यालंकार में है। अहावरा-अथ अपर दूसरी प्रतिमा कहते हैं। से-वह साधु या साध्वी। पेहाए-देखकर। पायं-पात्र की। जाइज्जा-याचना करे। तं-जैसे कि। गाहावइं वा-गृहपति यावत्। कम्मकरिं वा-काम करने वाले दास-दासी आदि। से-वह भिक्षु। पुव्वामेव-पहले ही गृहस्थ के घर में। आलोइज्जा-देखे और देख कर इस प्रकार कहे। आउ-आयुष्मन् गृहस्थ ! अथवा। भं-भगिनि ! बहिन। मे-मुझे। इत्तो-इन पात्रों में से। अन्नयरं-अन्यतर कोई एक। पायं-पात्र को। दाहिसि-दोगे या दोगी ? तंजहा-जैसे कि। अलाउपायं वा ३-तुम्बी का पात्र, लकड़ी और मिट्टी का पात्र। तह-तथाप्रकार के अन्य। पायं-पात्र की। सयं वा-स्वयमेव याचना करे अथवा बिना मांगे कोई देवे। जाव-यावत्। पडिं-ग्रहण करे। दुच्चा पडिमा-यह दूसरी प्रतिमा है। अहावरा-अथ अपर अर्थात् तीसरी प्रतिमा कहते हैं। से-वह। भिं-साधु अथवा साध्वी। से जं-वह जो। पुषा-फिर। पायं-पात्र को। जाणिज्जा-जाने। संगइयं वा-गृहस्थ का भोगा हुआ पात्र। वेजइयंतियं वा-गृहस्थ के भोगे हुए दो वा तीन पात्र जिनमें खाद्य पदार्थ पड़े हुए हों या पड़ चुके हों। तहप्पगारं-तथाप्रकार के। पायं-पात्र को। सयं वा-स्वयं याचना करे, अथवा गृहस्थ बिना मांगे देवे तो। जाव-यावत्। पडिं-ग्रहण करे। तच्चा पडिमा-यह तीसरी प्रतिमा है। अहावरा चउत्था पडिमा-अथ चौथी प्रतिमा कहते हैं। से भिं-वह साधु या साध्वी। उज्झियधम्मियं-उज्झितधर्म वाले पात्र की। जाएज्जा-याचना करे। जाव-यावत्। अन्ने-अन्य। बहवे-बहुत। समणा-शाक्यादि श्रमण। जाव-यावत्। नावकंखंति-नहीं चाहते। तह-तथाप्रकार के पात्र की। जाएज्जा-स्वयं याचना करे अथवा गृहस्थ ही बिना मांगे देवे तो। जाव-यावत् प्रासुक जानकर। पडिं-ग्रहण करे। चउत्था पडिमा-यह चौथी प्रतिमा-अभिग्रह विशेष है। इच्चेइयाणं-इन पूर्वोक्त। चउणहं पडिमाणं-चार प्रतिमाओं में से। अन्नयरं-किसी एक। पडिमं-प्रतिमा को, शेष वर्णन। जहा-जैसे। पिंडेसणाए-पिण्डैषणा अध्ययन में सात प्रतिमाओं के विषय में किया गया है उसी प्रकार जानना। पां-वाक्यालंकार में है। से-साधु को। एयाए एसणाए-इस एषणा-पात्रैषणा के द्वारा। एसमाणं-गवेषणा-पात्र को अन्वेषणा करते हुए को। पासित्ता-देखकर यदि। परो-कोई गृहस्थ। वइज्जा-इस प्रकार कहे। आउ स-आयुष्मन् श्रमण ! एज्जासि-अब तुम जाओ। तुमं-तुमने। मासेण वा-एक मास के बाद आना शेष

वर्णन। जहा-जैसे। वत्थेसणाए-वस्त्रैषणा का है उसी भांति जानना। णं-वाक्यालंकार में है। से-पात्र की गवेषणा करते हुए उस भिक्षु को देखकर। परो-अन्य गृहस्थ। नेता-गृहस्वामी अपने कौटुम्बिक जन को। वड्ज्जा-इस प्रकार कहे। आउ०-हे आयुष्मन् अथवा। भ०-हे भगिनि-बहिन ! आहरेयं पायं-ला यह पात्र, इसको। तिल्लेण वा-तैल से अथवा। घ०-घृत से अथवा। नव०-नवनीत मक्खन से अथवा। वसाए वा-वसा-औषधि के रस विशेष से। अब्भंगित्ता-चोपड़ कर। तहेव-इसी भांति। सिणाणादि-सुगन्धित द्रव्य से स्नानादि। तहेव-उसी प्रकार। सीओदगाइं-शीत व उष्ण जलादि के विषय में तथा। तहेव-उसी प्रकार। कंदाइं-कन्दादि के सम्बन्ध में जान लेना। णं-वाक्यालंकार में है। से-पात्र की गवेषणा करते हुए भिक्षु को देखकर। परो-गृहस्थ। नेता-गृहस्वामी साधु के प्रति यदि। वड्ज्जा-कहे। आ उ० स०-आयुष्मन्-श्रमण ! मुहुत्तगं २-मुहूर्त पर्यन्त तुम यहां पर। अच्छाहि-ठहरो। जाव-यावत्। ताव-तब तक। अम्हे-हम। असणं वा-अशनादिक चतुर्विध आहार को। उवकरेंसु वा-एकत्रित कर अथवा। उवक्खडेंसु वा-उपस्कृत करके अर्थात् अन्नादि को तैयार करके। आउसो०-आयुष्मन्-श्रमण ! तो-तदनन्तर। ते-तुमको। वयं-हम। सपाणं-पानी के साथ। सभोयणं-भोजन के साथ। पडिग्गहं-पात्र को। दाहामो-देंगे। कारण कि। तुच्छए-खाली। पडिग्गहे-पात्र में। दिन्ने-दिया हुआ। समणस्स-साधु को। सुदटु-अच्छा और। साहु-श्रेष्ठ। नो भवइ-नहीं होता है तब। से-वह साधु। पुव्वामेव-पहले ही। आलोइज्जा-देखे और देखकर इस प्रकार कहे। आउ०-आयुष्मन् गृहस्थ ! अथवा। भइ०-हे भगिनि-बहिन ! खलु-निश्चय ही। आहाकम्मिए-आधाकर्मिक अर्थात् आधाकर्मादि दोषों से युक्त। असणे वा ४-अशनादि चतुर्विध आहार को। भुत्तए वा-भोगना अर्थात् खाना-पीना। मे-मेरे को। नो कप्पइ-नहीं कल्पता अतः। मा उवकरेहि-मेरे निमित्त इसे एकत्र न करो यथा। मा उवक्खडेहि-मेरे लिए इसका संस्कार मत करो ? यदि। मे-मुझे। दाउं अभिकंखसि-देना चाहते हो तो। एमेव-इसी तरह। दलयाहि-दे दो ? से-वह। परो-गृहस्थ। सेयं वयंतस्स-साधु के इस प्रकार कहने पर भी यदि। असणं वा ४-अशनादि चतुर्विध आहार को। उवकरित्ता-एकत्र कर और। उवक्खडिता-संस्कार करके। सपाणं-पानी सहित। सभोयणं-भोजन सहित अर्थात् पानी और भोजन से। पडिग्गहगं-पात्र को भर कर। दलइज्जा-देवे तो। तह०-तथा प्रकार के। पडिग्गहगं-पात्र को। अफासुयं-अप्रासुक जानकर। जाव-यावत्। नो पडिगाहिज्जा-ग्रहण न करे। सिया-कदाचित्। से-उस भिक्षु को। परो-गृहस्थ। उवणित्ता-घर के भीतर से लाकर। पडिग्गहगं-पात्र को। निसिरिज्जा-दे देवे तो। से-वह भिक्षु। पुव्वामेव-पहले ही। आलोएज्जा-देखे और देख कर इस प्रकार कहे। आउ०-आयुष्मन् गृहस्थ ! अथवा। भ०-हे भगिनि-बहिन ! च-पुनरर्थक है। एव-अवधारण अर्थ में है। णं-वाक्यालंकार में है। संतियं-विद्यमान। तुमं-तुम्हारे। पडिग्गहगं-पात्र को। अंतोअंतेणं-सब प्रकार से अर्थात् भीतर और बाहर से। पडिलेहिस्सामि-प्रतिलेखन करूंगा अर्थात् देखूंगा ? क्योंकि। केवली बूया०-केवली भगवान कहते हैं कि। आयाण०-यह कर्म बन्धन का कारण है; अर्थात् बिना प्रतिलेखन किए पात्र लेना कर्म बन्धन का हेतु होता है कारण कि। अंतोपडिग्गहगंसि-पात्र के भीतर कदाचित्। पाणाणि वा-क्षुद्र जीव हों। बीया०-अथवा बीज हों या। हरि०-हरी हो। अह-इस लिए। भिक्खूणं-भिक्षुओं को। पु०-पूर्वोपदिष्ट अर्थात् तीर्थकरादि की आज्ञा है कि। जं-जो। पुव्वामेव-पहले ही। पडिग्गहगं-पात्र को। अन्तोअंतेणं-भीतर और बाहर से। पडि०-प्रतिलेखन करे-अच्छी तरह से देखे, यदि। सअंडाइं-वह अंडादि से युक्त हो तो उसे ग्रहण न करे। सव्वे आलावगा-यहां पर सभी आलापक। भाणियव्वा-कहने चाहिए। जहा-जैसे कि। वत्थेसणाए-वस्त्रैषणा के विषय में कथन किया गया है उसी प्रकार पात्रैषणा के सम्बन्ध में जानना।



नाणत्तं-इसमें इतना विशेष है यथा। तिल्लेण वा-तैल से या। घए०-घृत से अथवा। नक्-नवनीत से। वसाए वा-वसा-चर्बी अथवा औषधि विशेष से। सिणाणादि-या सुगन्धित स्नानादि से। जाव-यावत्। अन्नयरंसि वा-अन्य किसी पदार्थ से पात्र संस्पर्शित हुआ हो तो। तहप्पगा०-तथाप्रकार के। थंडिलंसि-स्थंडिल में जाकर। पडिलेहिय २-प्रतिलेखना कर अर्थात् भूमि को देख कर। पम० २-उसे प्रमार्जित कर। तओ०-तदनन्तर। संजयामेव-यत्नापूर्वक। आमजिज्जा-पात्र को मसले। एयं खलु-यह निश्चय ही। तंस्स भिक्खुस्स-उस भिक्षु का। सामग्गियं-सम्पूर्ण आचार है। जं-जो। सव्वट्ठेहिं-सर्व अर्थों से। समिएहिं-पांच समितियों से युक्त। सया-सदा। जएज्जासि-यत्न करे। तिबेमि-इस प्रकार मैं कहता हूँ।

**मूलार्थ**—संयमशील साधु या साध्वी जब कभी पात्र की गवेषणा करनी चाहें तो सब से पहले उन्हें यह जानना चाहिए कि तूबे का पात्र, काष्ठ का पात्र, और मिट्टी का पात्र साधु ग्रहण कर सकता है। और उक्त प्रकार के पात्र को ग्रहण करने वाला साधु यदि तरुण है, स्वस्थ है, स्थिर संहनन वाला है तो वह एक ही पात्र धारण करे, दूसरा नहीं और वह अर्द्धयोजन के उपरान्त पात्र लेने के लिए जाने का मन में संकल्प न करे।

यदि किसी गृहस्थ ने एक साधु के लिए प्राणियों की हिंसा करके पात्र बनाया हो तो साधु उसे ग्रहण न करे। इसी तरह अनेक साधु, एक साध्वी एवं अनेक साध्वियों के सम्बन्ध में उसी तरह जानना चाहिए जैसे कि पिण्डैषणा अध्ययन में वर्णन किया गया है। और शाक्यादि भिक्षुओं के लिए बनाए गए पात्र में भी पिण्डैषणा अध्ययन के वर्णन की तरह समझना चाहिए। शेष वर्णन वस्त्रैषणा के आलापकों के समान समझना चाहिए। अपितु जो पात्र नाना प्रकार के तथा बहुत मूल्य के हों-यथा लोहपात्र, त्रपुपात्र-कली का पात्र, ताम्रपात्र, सीसे, चान्दी और सोने का पात्र, पीतल का पात्र, लोह विशेष का पात्र, मणि, कांच और कांसे का पात्र एवं शंख और शृंग से बना हुआ पात्र, दांत का बना हुआ पात्र, पत्थर और चर्म का पात्र और इसी प्रकार के अधिक मूल्यवान् अन्य पात्र को भी अप्रासुक तथा अनैषणीय जानकर साधु ग्रहण न करे। और यदि लकड़ी आदि के कल्पनीय पात्र पर लोह, स्वर्ण आदि के बहुमूल्य बन्धन लगे हों तब भी साधु उस पात्र को ग्रहण न करे। अतः साधु उक्त दोषों से रहित निर्दोष पात्र ही ग्रहण करे।

इसके अतिरिक्त चार प्रतिज्ञाओं के अनुसार पात्र ग्रहण करना चाहिए। १-पात्र देख कर स्वयमेव याचना करूंगा। २-साधु पात्र को देख कर गृहस्थ से कहे-आयुष्मन् गृहस्थ ! क्या तुम इन पात्रों में से अमुक पात्र मुझे दोगे ! या वैसा पात्र बिना मांगे ही गृहस्थ दे दे तो मैं ग्रहण करूंगा। ३-जो पात्र गृहस्थ ने उपभोग में लिया हुआ है, वह ऐसे दो-तीन पात्र जिनमें गृहस्थ ने खाद्यादि पदार्थ रखे हों वह पात्र ग्रहण करूंगा। ४-जिस पात्र को कोई भी नहीं चाहता, ऐसे पात्र को ग्रहण करूंगा।

इन प्रतिज्ञाओं में से किसी एक का धारक मुनि किसी अन्य मुनि की निन्दा न करे। किन्तु यह विचार करता हुआ विचरे कि जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा का पालन करने वाले-सभी मुनि आराधक हैं।

पात्र की गवेषणा करते हुए साधु को देख कर यदि कोई गृहस्थ उसे कहे कि आयुष्मन्

श्रमण ! इस समय तो तुम जाओ। एक मास के बाद आकर पात्र ले जाना, इत्यादि। इस विषय में शेष वर्णन वस्त्रैषणा के समान जानना।

यदि कोई गृहस्थ साधु को देखकर अपने कौटुम्बिक जनों में से किसी पुरुष या स्त्री को बुलाकर यह कहे कि वह पात्र लाओ उस पर तेल, घृत, नवनीत या वसा आदि लगाकर साधु को देवें। शेष स्नानादि शीत उदक तथा कन्द-मूल विषयक वर्णन वस्त्रैषणा अध्ययन के समान जानना।

यदि कोई गृहस्थ साधु से इस प्रकार कहे कि आयुष्मन् श्रमण ! आप मुहुर्त पर्यन्त ठहरें। हम अभी अशनादि चतुर्विध आहार को उपस्कृत करके आपको जल और भोजन से पात्र भर कर देंगे। क्योंकि साधु को खाली पात्र देना अच्छा नहीं रहता। तब साधु उनसे इस प्रकार कहे कि आयुष्मन् गृहस्थ ! या भगिनि-बहिन ! मुझे आधाकर्मिक आहार-पानी ग्रहण करना नहीं कल्पता। अतः मेरे लिए आहारादि सामग्री को एकत्र और उपसंस्कृत मत करो। यदि तुम मुझे पात्र देने की अभिलाषा रखते हो तो उसे ऐसे ही दे दो। साधु के इस प्रकार कहने पर भी यदि गृहस्थ आहार आदि बना कर उससे पात्र को भर कर दे तो साधु उसे अप्रासुक जानकर स्वीकार न करे।

यदि कोई गृहस्थ उस पात्र पर नई क्रिया किए बिना ही लाकर दे तो साधु उसे कहे कि मैं तुम्हारे इस पात्र को चारों तरफ से भली-भांति प्रतिलेखना करके लूंगा। क्योंकि बिना प्रतिलेखना किए ही पात्र ग्रहण करने को केवली भगवान ने कर्मबन्ध का कारण बताया है। हो सकता है कि उस पात्र में प्राणी, बीज और हरी आदि हो, जिस से वह कर्मबन्ध का हेतु बन जाए। शेष वर्णन वस्त्रैषणा के समान जानना। केवल इतनी ही विशेषता है कि यदि वह पात्र तेल से, घृत से, नवनीत से और वसा या ऐसे ही किसी अन्य पदार्थ से स्निग्ध किया हुआ हो तो साधु स्थंडिल भूमि में जाकर वहां भूमि की प्रतिलेखना और प्रमार्जना करे। और तत्पश्चात् पात्र को धूली आदि से प्रमार्जित कर-मसल कर रूक्ष बना ले। यही साधु का समग्र आचार है। जो साधु ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य से युक्त समितियों से समित है वह इस आचार को पालन करने का प्रयत्न करे। इस प्रकार मैं कहता हूँ।

**हिन्दी विवेचन-** प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि साधु को तूम्बे, काष्ठ एवं मिट्टी का पात्र ही ग्रहण करना चाहिए। इसके अतिरिक्त साधु को लोहे, ताम्र, स्वर्ण-चान्दी आदि धातु के तथा कांच के पात्र स्वीकार नहीं करने चाहिए। और साधु को अधिक मूल्यवान पात्र एवं काष्ठ आदि के पात्र भी जो कि धातु से संवेष्टित हों तो उन्हें भी ग्रहण नहीं करना चाहिए। यदि काष्ठ आदि के पात्र पर कोई गृहस्थ तेल, घृत आदि स्निग्ध पदार्थ लगाकर दे या साधु के लिए आहार आदि तैयार करके उस आहार से पात्र भर कर देवे तब भी साधु को उस सदोष आहार आदि से युक्त पात्र को ग्रहण नहीं करना चाहिए। साधु को सब तरह से निर्दोष एवं एषणीय पात्र को चारों ओर से भली-भांति देख कर ही ग्रहण करना चाहिए। इस सम्बन्ध में शेष वर्णन पिंडैषणा प्रकरण की तरह समझना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र में यह भी स्पष्ट कर दिया है कि यदि साधु तरुण, नीरोग, दृढ़ संहनन वाला हो तो

उसे एक ही पात्र रखना चाहिए। वृत्तिकार ने प्रस्तुत पाठ को जिनकल्प से सम्बद्ध माना है<sup>१</sup>। क्योंकि, स्थविरकल्प साधु के लिए तीन पात्र रखने का विधान है। हां, अभिग्रहनिष्ठ साधु अपनी शक्ति के अनुरूप अभिग्रह धारण कर सकता है।

इसमें यह भी बताया गया है कि साधु पात्र ग्रहण करने के लिए आधे योजन से ऊपर न जाए। इसका तात्पर्य यह है कि साधु जिस स्थान में ठहरा हुआ हो उस समय वह पात्र लेने के लिए आधे योजन से ऊपर जाने का संकल्प न करे। परन्तु, विहार के समय के लिए यह प्रतिबन्ध नहीं है।

आहार, वस्त्र आदि की तरह साधु-साध्वी को वह पात्र भी ग्रहण नहीं करना चाहिए जो उनके लिए बनाया गया है। साधु को आधा-कर्म आदि दोषों से रहित पात्र को स्वीकार करना चाहिए।

‘त्तिबेमि’ की व्याख्या पूर्ववत् समझनी चाहिए।

॥ प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

१ तत्र च यः स्थिरसंहननाद्यपेतः स एकमेव पात्रं विभूयात् न च द्वितीयं, स च जिनकल्पिकादिः, इतरस्तुमात्रकसद्वितीयं पात्रं धारयेत्, तत्र संघाटके सत्येकस्मिन् भक्तं द्वितीये पात्रे पानकं मात्रकं त्वाचार्यादिप्रायोग्यकृतेऽशुद्धस्य वेत्ति। — श्री आचाराङ्ग वृत्ति।

## षष्ठ अध्ययन-पात्रैषणा

### द्वितीय उद्देशक

प्रथम उद्देशक में पात्र गवेषणा की विधि का उल्लेख किया गया है, अब प्रस्तुत उद्देशक में पात्र सम्बन्धी शेष विधि का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— से भिक्खू वा २ गाहावइकुलं पिंडं पविट्ठे समाणे पुव्वामेव पेहाए पडिग्गहं अवहट्टु पाणे पमज्जिय रयं तओ सं गाहावइं पिंडं निक्खं पं, केवलीं आउं ! अंतो पडिग्गहंसि पाणे वा बीए वा हरिं परियावज्जिजा, अह भिक्खूणं पुं जं पुव्वामेव पेहाए पडिग्गहं अवहट्टु पाणे पमज्जिय रयं तओ सं गाहावइं निक्खमिज्ज वां २ ॥१५४ ॥

छाया— स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा गृहपतिकुलं पिंडपातप्रतिज्ञया प्रविष्टः सन् पूर्वमेव प्रेक्ष्य पतद्ग्रहं अपहृत्य ( आहृत्य ) प्राणिनः प्रमृज्य रजः ततः संयतमेव गृहपतिकुलं पिंडपातप्रतिज्ञया निष्क्रामेद् वा प्रविशेद् वा केवली ब्रूयात् कर्मादानमेतत् । आयुष्मन् ! अन्तः पतद्ग्रहे प्राणिनो वा बीजानि वा हरितानि वा पर्यापद्येरन् । अथ भिक्षूणां पूर्वोपदिष्टं यत् पूर्वमेव प्रेक्ष्य पतद्ग्रहं अपहृत्य प्राणिनः प्रमृज्य रजः, ततः संयतमेव गृहपतिकुलं निष्क्रामेद् वा प्रविशेद् वा ।

पदार्थ— से भिक्खू—वह साधु या साध्वी । गाहावइकुलं—गृहस्थ के कुल में । पिंडवायपडियाए—आहार प्राप्ति के लिए । पविट्ठे समाणे—प्रवेश करता हुआ । पुव्वामेव—पहले ही । पेहाए—देखकर । पडिग्गहं—पात्र को अर्थात् यदि पात्र में । पाणे—प्राणि हों तो उनको । अवहट्टु—निकाल कर तथा । पमज्जिय रयं—रज को प्रमार्जित कर । तओ—तदनन्तर । सं—यतना पूर्वक । गाहावइं—गृहपति के कुल में । पिंडं पं—आहार प्राप्ति के लिए । निक्खमिज्ज वा पं—निकले या प्रवेश करे क्योंकि । केवलीं—केवली भगवान कहते हैं । आउं—आयुष्मन् शिष्य ! प्रतिलेखना और प्रमार्जना किए बिना पात्र का ले जाना कर्म बन्धन का कारण है, क्योंकि । अंतोपडिग्गहंसि—पात्र के बीच में । पाणे वा—प्राणी । बीए वा—अथवा बीज । हरिं—अथवा हरी तथा सचित्त रज यदि हो तो उनका । परियावज्जिजा—विनाश हो जाएगा । अह—इस लिए । भिक्खूणं—भिक्षुओं को । पुं—तीर्थकरादि ने पहले ही यह आज्ञा दी है । जं—जो कि । पुव्वामेव—पहले ही । पडिग्गहं—पात्र को । पेहाए—देखकर उसमें रहे हुए । पाणे—प्राणी

आदि को। अबहट्टु-निकाल कर तथा। रयं-रज आदि को। पमज्जिय-प्रमार्जित कर के। तओ-तदनन्तर। सं-साधु। गाहावड्-गृहस्थ के घर में भिक्षा के लिए। पविसेज्ज वा-प्रवेश करे। निक्खमिज्ज वा-निकले।

**मूलार्थ**—गृहस्थ के घर में आहार-पानी के लिए जाने से पहले संयमनिष्ठ साधु-साध्वी अपने पात्र का प्रतिलेखन करे। यदि उसमें प्राणी आदि हों तो उन्हें बाहर निकाल कर एकान्त में छोड़ दे और रज आदि को प्रमार्जित कर दे। उसके बाद साधु आहार आदि के लिए उपाश्रय से बाहर निकले और गृहस्थ के घर में प्रवेश करे। क्योंकि भगवान का कहना है कि बिना प्रतिलेखना किए हुए पात्र को लेकर जाने से उसमें रहे हुए क्षुद्र जीव-जन्तु एवं बीज आदि की विराधना हो सकती है। अतः साधु को आहार-पानी के लिए जाने से पूर्व पात्र का सम्यक्तया प्रतिलेखन करके आहार को जाना चाहिए, यही भगवान की आज्ञा है।

**हिन्दी विवेचन**—प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि साधु-साध्वी को आहार-पानी के लिए जाने से पहले अपने पात्र का सम्यक्तया प्रतिलेखन करना चाहिए। जब कि साधु सायंकाल में पात्र साफ करके बांधता है और प्रातः उनका प्रतिलेखन कर लेता है, फिर भी आहार-पानी को जाते समय पुनः प्रतिलेखन करना अत्यावश्यक है। क्योंकि कभी-कभी कोई क्षुद्र जन्तु या रज (धूल) आदि पात्र में प्रविष्ट हो जाती है। अतः जीवों की रक्षा के लिए उसका प्रतिलेखन एवं प्रमार्जन करना जरूरी है। यदि पात्र को न देखा जाए और वे क्षुद्र जन्तु उसमें रह जाएं तो उनकी विराधना हो सकती है। इस लिए बिना प्रमार्जन किए पात्र लेकर आहार को जाना कर्म बन्ध का कारण बताया गया है। अतः साधु को सदा विवेक पूर्वक पात्र का प्रतिलेखन करके ही गोचरी को जाना चाहिए।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्**— से भि० जाव समाणे सिया से परो आहट्टु अंतो पडिग्गहगंसि सीओदगं परिभाइत्ता नीहट्टु दलइज्जा, तहप्प० पडिग्गहगं परहत्थंसि वा परपायंसि वा अफासुयं जाव नो प०, से य आहच्च पडिग्गाहिए सिय खिप्पामेव उदगंसि साहरिज्जा, से पडिग्गहमायाए पाणं परिट्ठविज्जा, ससिणिद्धाए वा भूमीए नियमिज्जा। से० उदउल्लं वा ससिणिद्धं वा पडिग्गहं नो आमज्जिज्जा वा २ अह पु० विगओदए मे पडिग्गहए छिन्नसिणेहे तह० पडिग्गहं तओ० सं० आमज्जिज्ज वा जाव पयाविज्ज वा। से भि० गाहा० पविसिउकामे पडिग्गहमायाए गाहा० पिंड० पविसिज्ज वा नि०, एवं बहिया वियारभूमिं विहारभूमिं वा गामा० दूइज्जिज्जा, तिक्खदेसियाए जहा बिइयाए वत्थेसणाए नवरं इत्थ पडिग्गहे, एयं खलु तस्स० जं सव्वट्ठेहिं सहिए सया जएज्जासि, त्तिबेमि ॥१५४ ॥

**छाया**— स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा गृहपतिकुलं पिण्डपातप्रतिज्ञया प्रविष्टः सन् स्यात् स परः आहत्य अन्तः पतद्ग्रहे शीतोदकं परिभाज्य निःसार्य दद्यात्, तथाप्रकारं पतद्ग्रहं परहस्ते वा परपात्रे वा अप्रासुकं यावत् न प्रतिगृहीयात् स च आहत्य प्रतिगृहीतं स्यात् क्षिप्रमेव

उदके आहरेत् प्रक्षिपेत् । स पतद्ग्रहमादाय पानं परिष्ठापयेत्, सस्निग्धायां वा भूमौ नियमेत्-प्रक्षिपेत् ॥ स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा उदकार्द्रं वा सस्निग्धं वा पतद्ग्रहं नो आमृज्येत् २ अथ पुनः एवं जानीयात् विगतोदकं मे पतद्ग्रहं ( पात्रं ) छिन्नस्नेहं तथाप्रकारं पतद्ग्रहं ततः संयतमेव आमृज्येत वा यावत् परितापयेत् वा ॥ स भिक्षुर्वा गृहपतिकुलं प्रवेष्टुकामः पतद्ग्रहमादाय गृहपतिकुलं पिण्डपातप्रतिज्ञया प्रविशेद् वा निष्कामेद् वा, एवं बहिः विचारभूमिं वा विहारभूमिं वा ग्रामानुग्रामं दूयेत्-गच्छेत् । तीव्रदेशीया यथा द्वितीयायां वस्त्रैषणायां, नवरं अत्र पतद्ग्रहे, एवं खलु तस्य भिक्षोः २ सामग्र्यं यत् सर्वार्थैः समितैः सहितः सदा यतेत । इति ब्रवीमि ।

**पदार्थ-** से भि०-वह साधु अथवा साध्वी । जाव समाणे-गृहपति के घर में प्रवेश करते हुए । सिया-कदाचित् । से-उस साधु को । परो-गृहस्थ । आहट्टु-घर के भीतर से बाहर लाकर । अंतोपडिग्गहगंसि-गृहस्थ के अन्य किसी पात्र में । सीओदुगं-सचित्त पानी को । परिभाइत्ता-घट आदि के किसी अन्य बर्तन में डालकर । निहट्टु-फिर उसे लाकर । दलइज्जा-दे तो । तहप्पगारं-तथाप्रकार के । पडिग्गहगं-पात्र को-जो कि पानी से भरा हुआ है । परहत्थंसि वा-गृहस्थ के हाथ में है । परपायंसि वा-या अन्य पात्र में है तो । अफासुयं-उसे अप्रासुक । जाव-यावत् अनेषणीय जानकर । नो प०-साधु ग्रहण न करे । य-पुनः । से-वह-पात्र । आहच्च-कदाचित् । पडिग्गाहि ए सिया-ग्रहण कर लिया हो तो । से-वह साधु । खिप्पामेव-शीघ्र ही । उदगंसि-उस पानी को डालने योग्य भाजन में । साहरिज्जा-डाल दे । पडिग्गहमायाए-यदि गृहस्थ पानी वापिस लेना न चाहे तो पानी युक्त पात्र को लेकर किसी अन्य एकान्त स्थान में जाकर । पाणं-पानी को । परिट्ठविज्जा-परठ दे । वा-अथवा । ससिणिद्वाए भूमीए-स्निग्ध भूमि पर । नियमिज्जा-परठ दे । से भि०-वह साधु अथवा साध्वी पानी को परठने के बाद । उदउल्लं वा-जिससे पानी के बिन्दु टपक रहे हैं अथवा । ससिणिद्धं वा-जो पानी से गीला है । पडिग्गहं-उस पात्र को । नो आमज्जिज्जा-मार्जित न करे; मसले नहीं यावत् धूप में सुखाए नहीं । अह पुण एवं जाणिज्जा-और यदि इस प्रकार जाने । मे-मेरा । पडिग्गहए-पात्र । विगओदए-पानी से रहित हो गया है और । छिन्नसिणेहे-गीला भी नहीं है । तह०-तथाप्रकार के । पडिग्गहं-पात्र को । तओ-तत्पश्चात् । सं०-साधु । आमज्जिज्ज वा-प्रमार्जित करे । जाव-यावत् । पयाविज्ज वा-धूप में सुखाए ।

से भि०-वह साधु या साध्वी । गाहा०-गृहपति के घर में । पविसिउकामे-प्रवेश करने की इच्छा करता हुआ । पडिग्गहमायाए-पात्र को लेकर । गाहा०-गृहपति के घर में । पिंड०-आहार प्राप्ति के लिए । पविसिज्ज वा-प्रवेश करे अथवा । नि०-निकले । एवं बहिया-इसी प्रकार बाहर । वियारभूमिं वा-स्थंडिल में जाना हो तो पात्र लेकर जाए और । विहारभूमिं वा-स्वाध्याय भूमि में जाना हो तो पात्र लेकर जाए तथा । गामा० दूइज्जिज्जा-ग्रामानुग्राम विहार करना हो तब भी पात्र लेकर विहार करे । तिव्वदेसियाए-यदि थोड़ी-बहुत वर्षा बरस रही हो तो । जहा-जैसे । बिइयाए-द्वितीय । वत्थेसणाए-वस्त्रैषणा के विषय में वर्णन किया है, शेष वर्णन उसी तरह समझ लेना चाहिए । नवरं-इतना विशेष है । इत्थ-यहां पर । पडिग्गहे-पात्र का अधिकार जानना । खलु-निश्चय ही । एवं-इस प्रकार । तस्स भिक्खुस्स वा० २-उस साधु या साध्वी का । सामगियं-समग्र-सम्पूर्ण आचार है । जं सव्वट्ठेहिं-जो सर्व अर्थों से युक्त । समिएहिं-समितियों के । सहिए-सहित । सया-सदा । जएज्जासि-इसके पालन में यत्न करे । तिबेमि-इस प्रकार में कहता हूं ।

**मूलार्थ—**गृहस्थ के घर में गए हुए साधु या साध्वी ने जब पानी की याचना की और गृहस्थ घर के भीतर से सचित्त जल को किसी अन्य भाजन में डाल कर साधु को देने लगा हो तो इस प्रकार के जल को अप्रासुक जानकर साधु ग्रहण न करे। कदाचित्-असावधानी से वह जल ले लिया गया हो तो शीघ्र ही उस जल को वापिस कर दे। यदि गृहस्थ उसे वापिस न ले तो फिर वह उस जल युक्त पात्र को लेकर स्निग्ध भूमि में अथवा अन्य किसी योग्य स्थान में जल को परठ दे और पात्र को एकान्त स्थान में रख दे, किन्तु जब तक उस पात्र से जल के बिन्दु टपकते रहें या वह पात्र गीला रहे तब तक उसे न तो पोंछे और न धूप में सुखाए। जब यह जान ले कि मेरा यह पात्र अब विगत जल और स्नेह से रहित हो गया है तब उसे पोंछ सकता है और धूप में भी सुखा सकता है।

संयमशील साधु या साध्वी जब आहार लेने के लिए गृहस्थ के घर में जाए तो अपने पात्र साथ लेकर जाए। इसी तरह स्थंडिल भूमि और स्वाध्याय भूमि में जाते समय भी पात्र को साथ लेकर जाए और ग्रामानुग्राम विहार करते समय भी पात्र को साथ में ही रखे। और न्यूनाधिक वर्षा के समय की विधि का वर्णन वस्त्रैषणा अध्ययन के दूसरे उद्देशक के अनुसार समझना चाहिए। यही साधु या साध्वी का समग्र आचार है। प्रत्येक साधु-साध्वी को इसके परिपालन करने का सदा प्रयत्न करना चाहिए।

**हिन्दी विवेचन—**प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि गृहस्थ के घर में पानी के लिए गए हुए साधु-साध्वी को कोई गृहस्थ सचित्त पानी देने का प्रयत्न करे तो वह उसे स्वीकार न करे। और यदि कभी असावधानी से ग्रहण कर लिया हो तो उसे अपने उपयोग में न लाए। वह उसे उसी समय वापिस कर दे, यदि गृहस्थ वापिस लेना स्वीकार न करे तो एकान्त स्थान में स्निग्ध भूमि पर परठ दे और उस पात्र को तब तक न पोंछे एवं न धूप में सुखाए जब तक उसमें पानी की बून्दें टपकती हों या वह गीला हो।

सचित्त पानी देने के सम्बन्ध में वृत्तिकार ने चार कारण बताए हैं— १-गृहस्थ की अनभिज्ञता-वह यह न जानता हो कि साधु सचित्त पानी लेते हैं या नहीं, २-शत्रुता-साधु को बंदनाम करके उसे लोगों के सामने सदोष पानी ग्रहण करने वाला बताने की दृष्टि से, ३-अनुकम्पा-साधु को प्यास से व्याकुल देखकर अचित्त जल न होने के कारण दया भाव से और ४-बिमर्षता-किसी विचार के कारण उसे ऐसा करने को विवश होना पड़ा हो। यह स्पष्ट है कि गृहस्थ चाहे जिस परिस्थिति एवं भावनावश सचित्त जल दे, परन्तु साधु को किसी भी परिस्थिति में सचित्त जल का उपयोग नहीं करना चाहिए।

सचित्त जल को परठने के सम्बन्ध में वृत्तिकार का कहना है कि यदि गृहस्थ उस सचित्त जल को वापिस लेना स्वीकार न करे तो साधु को उसे कूप आदि में समान जातीय जल में परठ देना चाहिए। और उपाध्याय पार्श्व चन्द्र ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि यदि साधु के पास दूसरा पात्र हो तो उसे उस सचित्त जल युक्त पात्र को एकान्त में परठ(छोड़) देना चाहिए। परन्तु, ये दोनों कथन आगम सम्मत प्रतीत नहीं होते। क्योंकि, आगम में पानी को परठने के लिए स्पष्ट रूप से स्निग्ध भूमि का उल्लेख किया गया है। अतः उस जल को कुएं आदि में डालना उचित प्रतीत नहीं होता। क्योंकि इस क्रिया में अप्कायिक एवं अन्य जीवों की हिंसा होगी। और उस सचित्त जल के साथ पात्र को परठना भी उचित प्रतीत नहीं

होता, यदि वह मजबूत है। क्योंकि, चलते हुए मजबूत पात्र को परठना एवं परठने वाले का समर्थन करना दोष युक्त माना है और उसके लिए आगम में लघु चातुर्मासी प्रायश्चित्त बताया है<sup>१</sup>।

इससे स्पष्ट होता है कि साधु उस पानी को न तो कुएं आदि में फेंके, न पात्र सहित ही परठे, परन्तु एकान्त छाया युक्त स्निग्ध स्थान में विवेक पूर्वक परठे।

वस्त्र आदि की तरह पात्र के सम्बन्ध में भी यह बताया गया है कि साधु जब भी आहार-पानी के लिए गृहस्थ के घर में जाए या शौच के लिए बाहर जाए या स्वाध्याय भूमि में जाए तो अपने पात्र को साथ लेकर जाए। इससे स्पष्ट होता है कि साधु को बिना पात्र के कहीं नहीं जाना चाहिए। इसका कारण यह है कि पात्र किसी भी समय काम में आ सकता है। अतः उपाश्रय से बाहर जाते समय उसे साथ रखना उपयुक्त प्रतीत होता है।

॥ द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

॥ षष्ठ अध्ययन समाप्त ॥

१ जे भिक्खू पडिग्गहं अलं, धिरं, धुवं, धारणिजं णो धरइ धारंतं वा साइजइ।

— निशीथ सूत्र, उद्देशक १४।



## सप्तम अध्ययन-अवग्रह प्रतिमा

### प्रथम उद्देशक

छठे अध्ययन में पात्रैषणा का वर्णन किया गया था, परन्तु, साधु पात्र आदि सभी उपकरण किसी गृहस्थ की आज्ञा से ही ग्रहण करता है। क्योंकि उसने पूर्णतया चोरी का त्याग कर रखा है। अतः प्रस्तुत अध्ययन में अवग्रह का वर्णन किया गया है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से अवग्रह चार प्रकार का होता है और सामान्य रूप से पांच प्रकार का अवग्रह माना गया है— १ देवेन्द्र अवग्रह, २ राज अवग्रह, ३ गृहपति अवग्रह, ४ शय्यातर अवग्रह और ५ साधर्मिक अवग्रह। उक्त अवग्रहों का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्—** समणे भविस्सामि अणगारे अकिंचणे अपुत्ते अपसू परदत्तभोई पावं कम्मं नो करिस्सामित्ति समुट्ठाए सव्वं भंते० ! अदिन्नादाणं पच्चक्खामि, से अणुपविसित्ता गामं वा जाव रायहाणिं वा नेव सयं अदिन्नं गिण्हिज्जा नेवऽन्नेहिं अदिन्नं गिण्हविज्जा अदिन्नं गिण्हंतेवि अन्ने न समणुजाणिज्जा, जेहिवि सद्धिं संपव्वइए तेसिंपि जाइं छत्तगं वा जाव चम्मछेयणगं वा तेसिं पुव्वामेव उग्गहं अणणुन्नविय अपडिलेहिय २ अपमज्जिय २ नो उग्गिण्हिज्जा वा, परिगिण्हिज्जा वा, तेसिं पुव्वामेव उग्गहं जाइज्जा अणुन्नविय पडिलेहिय पमज्जिय तओ सं० उग्गिण्हिज्जा वा प० ॥१५५॥

**छाया—** श्रमणो भविष्यामि अनगारः अकिंचनः अपुत्रः अपशुः परदत्त- भोजी पापं कर्म न करिष्यामि, इति समुत्थाय सर्वं भदन्त! अदत्तादानं प्रत्याख्यामि, स अनुप्रविश्य ग्रामं वा यावद् राजधानीं वा नैव स्वयमदत्तं गृह्णीयात्, नैवान्यैः अदत्तं ग्राहयेत्, अदत्तं गृह्णतोऽप्यन्यान् न समनुजानीयात्, यैरपि ( साधुभिः ) साद्धं संप्रव्रजितः तेषामपि यानि छत्रकं वा यावत् चर्मच्छेदनकं वा तेषां पूर्वमेव अवग्रहमननुज्ञाप्याप्रतिलिख्य २ अप्रमृज्य २ नावगृह्णीयाद् वा प्रतिगृह्णीयाद् वा तेषां पूर्वमेव अवग्रहं याचेतानुज्ञाप्य प्रतिलिख्य प्रमृज्य ततः संयतमेवावगृह्णीयात् प्रतिगृह्णीयाद् वा ।

**पदार्थ—** समणे भविस्सामि-मैं श्रमण-तपस्वी साधु बनूंगा। किस प्रकार का? अणगारे-अनगार-

घर से रहित। अकिंचणो-अकिंचन-परिग्रह से रहित। अपुत्ते-पुत्र आदि से रहित। अपसू-और द्विपद चतुष्पदादि पशुओं से रहित एवं। परदत्तभोई-दूसरे का दिया हुआ भोजन करने वाला, मैं। पावं कम्मं-पाप कर्म को। नो करिस्सामि-नहीं करूंगा। त्ति-इस प्रकार की। समुट्ठाए-प्रतिज्ञा में उद्यत होकर मैं ऐसी प्रतिज्ञा करता हूँ। भंते-हे भगवन् ! मैं। सव्वं-सर्व प्रकार के। अदिन्नादाणं-अदत्तादान का। पच्चक्खामि-प्रत्याख्यान करता हूँ, इस प्रतिज्ञा से। से-वह-भिक्षु। गामं वा-ग्राम और नगर। जाव-यावत्। रायहाणिं वा-राजधानी में। अणुपविसित्ता-प्रवेश करके। नेघ संयं अदिन्नं गिण्हज्जा-बिना दिए अदत्त-पदार्थ को स्वयं ग्रहण न करे तथा। नेवन्नेहिं अदिन्नं गिण्हाविज्जा-बिना दिए पदार्थ को दूसरों से ग्रहण भी न कराए और। अदिन्नं गिण्हंतेवि-अदत्त को ग्रहण करने वाले। अन्ने-अन्य व्यक्तियों का। नो समणुजाणिज्जा-अनुमोदन भी न करे, इतना ही नहीं किन्तु। जेहिवि सद्धिं-जिनके साथ। संपव्वइए-प्रवर्जित हुआ या जिनके साथ रहता है। तेसिंपि-उनके भी। जाइं-जो। छत्तगं वा-छत्र। जाव-यावत्। चम्मछेयणगं वा-चर्म छेदक आदि उपकरण विशेष हैं। तेसिं-उनका। पुव्वां-पहले। उग्गहं-अवग्रह-आज्ञा विशेष। अणुणुन्नविय-लिए बिना। अपडिलेहिय-बिना प्रतिलेखन किए और। अपमज्जिय-बिना प्रमार्जन किए। नो उग्गिण्हज्जा वा-एक बार ग्रहण न करे तथा। परिगिण्हज्जा-बार २ ग्रहण न करे, किन्तु। पुव्वामेव-पहले ही। तेसिं-उनके पास। उग्गहं-अवग्रह की। जाइज्जा-याचना करे अर्थात् आज्ञा मांगे। अणुन्नविय-उनकी आज्ञा लेकर तथा। पडिलेहिय-प्रतिलेखना और। पमज्जिय-प्रमार्जना करके। तओ-तदनन्तर। सं-यतनापूर्वक। उग्गिण्हज्जा वा प-एक बार अथवा अधिक बार ग्रहण करे।

**मूलार्थ**—दीक्षित होते समय दीक्षार्थी विचार पूर्वक कहता है कि मैं श्रमण-तपस्वी-तप करने वाला बनूंगा, जो घर से, परिग्रह से, पुत्रादि सम्बन्धियों से और द्विपद-चतुष्पद आदि पशुओं से रहित होकर गोचरी ( भिक्षा ) लाकर संयम का पालन करने वाला साधक बनूंगा, परन्तु कभी भी पापकर्म का आचरण नहीं करूंगा। हे भदन्त ! इस प्रकार की प्रतिज्ञा में आरूढ़ होकर आज मैं सर्वप्रकार के अदत्तादान का प्रत्याख्यान करता हूँ।

ग्राम, नगर, यावत् राजधानी में प्रविष्ट संयमशील साधु स्वयं अदत्त- बिना दिए हुए पदार्थों को ग्रहण न करे, न दूसरों से ग्रहण कराए और जो अदत्त ग्रहण करता है उसकी अनुमोदना ( प्रशंसा ) भी न करे। एवं वह मुनि जिनके पास दीक्षित हुआ है, या जिनके पास रह रहा है उनके छत्र यावत् चर्म छेदक आदि उपकरण विशेष हैं, उनको बिना आज्ञा लिए तथा बिना प्रतिलेखना और प्रमार्जन किए ग्रहण न करे। किन्तु पहले उनसे आज्ञा लेकर और उसके बाद उनका प्रतिलेखन एवं प्रमार्जन करके उन पदार्थों को स्वीकार करे। अर्थात् बिना आज्ञा से वह कोई भी वस्तु ग्रहण न करे।

**हिन्दी विवेचन**— प्रस्तुत सूत्र में साधु के अस्तेय महाव्रत का वर्णन किया गया है। इसमें बताया गया है कि साधु किसी व्यक्ति की आज्ञा के बिना सामान्य एवं विशिष्ट कोई भी पदार्थ स्वीकार न करे। वह दीक्षित होते समय यह प्रतिज्ञा करता है कि मैं घर, परिवार, धन-धान्य आदि का त्याग करके तप-साधना के तेजस्वी पथ पर आगे बढ़ूंगा और साध्य-सिद्धि तक पहुंचने में सहायक होने वाले आवश्यक पदार्थों एवं उपकरणों को बिना आज्ञा के ग्रहण नहीं करूंगा। इस तरह साधक जीवन पर्यन्त के लिए चोरी का सर्वथा त्याग करके साधना पथ पर कदम रखता है। यहां तक कि वह अपने सांभोगिक साधुओं की किसी

भी वस्तु को उनकी आज्ञा के बिना ग्रहण नहीं करता। यदि किसी साधु के छत्र, चर्म छेदनी आदि पदार्थ पड़े हुए हैं और अन्य साधु को उनकी आवश्यकता है, तो वह उस साधु की आज्ञा के बिना उन्हें ग्रहण नहीं करेगा। प्रस्तुत प्रसंग में छत्र का अर्थ है— वर्षा के समय सिर पर लिया जाने वाला ऊन का कम्बल। और स्थविर कल्पी मुनि विशेष कारण उपस्थित होने पर छत्र भी रख सकते हैं। वृत्तिकार ने भी अपवाद मार्ग में छत्र-छाता रखने की बात कही है<sup>१</sup>। अतः छत्र शब्द से कम्बल और छत्र दोनों में से कोई भी पदार्थ हो सकता है। इसी तरह साधु किसी कार्य के लिए गृहस्थ के घर से चर्म छेदनी<sup>२</sup> या असि पत्र (चाकू) आदि लाया हो और दूसरे साधु को इन वस्तुओं की या उसके पास में स्थित वस्तुओं में से किसी अन्य वस्तु की आवश्यकता हो तो वह उक्त मुनि की आज्ञा लेकर उस वस्तु को ग्रहण कर सकता है। इस तरह साधु स्तेय कर्म से पूर्णतः निवृत्त होकर साधना पथ में गति-प्रगति करता हुआ अपने लक्ष्य पर पहुँचने का प्रयत्न करता है।

इस विषय को आगे बढ़ाते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्—** से भि० आगंतारेसु वा ४ अणुवीड उग्गहं जाइज्जा, जे तत्थ ईसरे जे तत्थ समहिट्ठए ते उग्गहं अणुन्विज्जा कामं खलु आउसो०! अहालंदं अहापरिन्नायं वसामो जाव आउसो ! जाव आउसंतस्स उग्गहे जाव साहम्मिया एइ ताव उग्गहं उग्गिण्हस्सामो, तेण परं विहरिस्सामो ॥ से किं पुण तत्थोग्गहंसि एवोग्गहयंसि जे तत्थ साहम्मिया संभोइया समणुन्ना उवागच्छिज्जा जे तेण सयमेसित्तए असणं वा ४ तेण ते साहम्मिया ३ उवनिमंतिज्जा, नो चैव णं परवडियाए ओगिज्झिय २ उवनि० ॥१५६ ॥

**छाया—** स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा आगन्तारेषु वा ४ अनुविचिन्त्य अवग्रहं याचेत्, यस्तत्र ईश्वरः यस्तत्र समधिष्ठाता तान् अवग्रहं अनुज्ञापयेत्, कामं खलु आयुष्मन् गृहपते ! यथालन्दं यथापरिज्ञातं वसामः यावद् आयुष्मन् ! यावत् आयुष्मतः अवग्रहे यावत् साधर्मिकाः एष्यन्ति [ समागमिष्यन्ति ] तावदवग्रहमवग्रहीष्यामः तेन परं विहरिष्यामः ॥ स किं पुनः तत्रावग्रहे एवावग्रहीते ये तत्र साधर्मिकाः साम्भोगिकाः समनोज्ञाः उपागच्छेयुः ये तेन स्वयं एषितुमशानं वा ४ तेन तान् साधर्मिकान् ३ उपनिमन्त्रयेत्, नो चैव पराप्रत्ययेन अवगृह्य २ उपनिमन्त्रयेत्।

**पदार्थ—** से भिक्खू—वह साधु अथवा साध्वी। आगंतारेसु वा—धर्मशाला आदि में जाकर। अणुवीड—

१ 'छत्रकमिति-छद अपवारणे' छादयतीति छत्रं-वर्षाकल्पादि यदि वा कारणिकः क्वचित् कुंकणदेशादावतिवृष्टि सम्भवात् छत्रकमपि गृह्णीयात्। — आचाराङ्ग वृत्ति।

२ नाखून काटने या अन्य कार्यों के लिए साधु चर्म छेदनी आदि शस्त्र गृहस्थ के यहां से लाते हैं, परन्तु सूर्यास्त पूर्व ही वापिस लौटा देते हैं। क्योंकि धातु के पदार्थ रात को साधु अपनी निश्राय में नहीं रखते। अतः दिन में जब तक ये पदार्थ जिस साधु के पास हों उसकी आज्ञा के बिना अन्य साधु नहीं ले सकता।

विचार कर। उगग्रह-अवग्रह की। जाइजा-याचना करे। तत्थ-उस धर्मशाला का। जे-जो। ईसरे-स्वामी है। तत्थ-उसका। जे-जो। समहिट्टए-अधिष्ठाता है। ते-उनकी। उगग्रह-आज्ञा। अणुन्नविजा-मांगे। खलु-वाक्यालंकार में है। आउसो-आयुष्मन् गृहस्थ ! कामं-यदि आपकी इच्छा हो। अहालंदं-जितने समय के लिए आप आज्ञा दें तथा। अहापरिन्नायं-जितने क्षेत्र की आज्ञा दें, उतने समय तक उतने ही क्षेत्र में। वसामो-हम निवास करेंगे। जाव-यावत्। आउसो-आयुष्मन् गृहस्थ ! जाव-यावन्मात्र काल प्रमाण। आउसंतस्स-आयुष्मन् का-आपका। उगग्रहे-अवग्रह होगा तथा। जाव-यावन्मात्र। साहम्मिया-साधर्मिक-साधु। एइ-आएंगे। ताव-तावन्मात्र काल तक। उगग्रह-अवग्रह को। उगिगण्हस्सामो-ग्रहण करके रहेंगे। तेण परं-उसके पश्चात्। विहरिस्सामो-विहार कर जायेंगे। से-वह-साधु। किं पुण-फिर क्या करे। तत्थ-वहां। उगग्रहंसि-अवग्रह में। एवोग्गहियंसि-प्रकर्ष पूर्वक आज्ञा दिए जाने पर। जे-जो। तत्थ-वहां। साहम्मिया-साधर्मिक-साधु। संभोइया-सांभोगिक-सम समाचारी के मानने बाले, तथा एक गुरु के शिष्य। समणुन्ना-उग्र विहार करने वाले अर्थात् क्रिया करने वाले। उवागच्छिजा-अतिथि रूप में आए। जे-जो। तेण-उस-परमार्थी साधु से। सयं-स्वयमेव। एसित्तए-गवेषणा करके। असणं वा ४-अशनादिक चतुर्विध आहार लाया गया है। तेण-उसे। ते-उन। साहम्मिए-साधर्मिक साधुओं को। उवनिमंतिजा-निमंत्रित करे। णं-वाक्यालंकार में है। एव-अवधारण अर्थ में है। च-परन्तु। परवडियाए-दूसरे के लिए हुए आहार की। ओगिण्डिय २-अपेक्षा से। नो उवनिमंतिज-निमंत्रित न करे।

**मूलार्थ**—संयमशील साधु या साध्वी धर्मशाला आदि में जाकर और विचार कर उस स्थान की आज्ञा मांगे। उस स्थान का जो स्वामी या अधिष्ठाता हो उससे आज्ञा मांगते हुए कहे-आयुष्मन् गृहस्थ ! जिस प्रकार तुम्हारी इच्छा हो अर्थात् जितने समय के लिए जितने क्षेत्र में निवास करने की तुम आज्ञा दोगे उतने काल तक उतने ही क्षेत्र में हम निवास करेंगे, अन्य जितने भी साधर्मिक साधु आएंगे वे भी उतने काल तक उतने क्षेत्र में ठहरेंगे। उक्तकाल के बाद वे विहार कर जाएंगे।

इस प्रकार गृहस्थ की आज्ञा के अनुसार वहां निवसित साधु के पास यदि अन्य साधु-जो कि साधर्मि हैं, समग्र समाचारी वाले हैं और उग्र विहार करने वाले हैं, अतिथि के रूप में आ जाएं तो वह साधु अपने द्वारा लाए हुए आहारादि का उन्हें आमंत्रित करे, परन्तु अन्य के लिए हुए आहारादि के लिए उन्हें निमंत्रित न करे।

**हिन्दी विवेचन**— प्रस्तुत सूत्र में मकान ग्रहण करने सम्बन्धी अवग्रह का उल्लेख किया गया है। इसमें बताया गया है कि साधु अपने ठहरने योग्य निर्दोष एवं प्रासुक स्थान को देखकर उसके स्वामी या अधिष्ठाता<sup>१</sup> से उस मकान में ठहरने की आज्ञा मांगे। आज्ञा मांगते समय साधु यह स्पष्ट कर दे कि आप जितने समय के लिए जितने क्षेत्र में ठहरने एवं उसका उपयोग करने की आज्ञा देंगे उतने समय तक हम उतने ही क्षेत्र में ठहरेंगे। और यदि हमारे अन्य सांभोगिक साधु आएंगे तो वे भी उस अवधि तक उतने ही क्षेत्र में ठहरेंगे जितने क्षेत्र को काम में लेने की आपने आज्ञा दी है। इससे स्पष्ट है कि कोई भी साधु बिना आज्ञा लिए किसी भी मकान में नहीं ठहरता है।

१ स्वामी का अर्थ मकान मालिक से है और अधिष्ठाता का अर्थ है— मकान की देख-रेख के लिए रखा हुआ व्यक्ति अर्थात् अपनी अनुपस्थिति में जिसे वह मकान देख-रेख रखने के लिए दे रखा है।

उक्त मकान में स्थित साधु के पास यदि कोई साधर्मिक, साम्भोगिक और समान समाचारी वाला अन्य साधु अतिथि रूप में आ जाए तो वह अपने लिए हुए आहार-पानी का आमन्त्रण करके उनकी सेवा करे, परन्तु अन्य द्वारा लिए हुए आहार-पानी का आमन्त्रण न करे। इससे दो बातें स्पष्ट होती हैं— एक तो यह है कि साधु को अपने अतिथि साधु की स्वयं सेवा करनी चाहिए। इससे पारस्परिक प्रेम-स्नेह में अभिवृद्धि होती है। दूसरी यह है कि साधु का एक माण्डले पर बैठकर आहार-पानी करने का सम्बन्ध उसी साधु के साथ होता है जो साधर्मिक, साम्भोगिक और समान आचार-विचार वाला है।

अब असम्भोगी साधु के साथ कैसा व्यवहार रखना चाहिए, इसका वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— से आगंतारेसु वा ४ जाव से किं पुण तत्थोग्गहंसि एवोग्गहियंसि जे तत्थ साहम्मिया अन्नसंभोइया समणुन्ना उवागच्छिज्जा जे तेण सयमेसित्तए पीढे वा फलए वा सिज्जा वा संथारए वा तेण ते साहम्मिए अन्नसंभोइए समणुन्ने उवनिमंतिज्जा नो चेव णं परवडियाए ओगिज्झिय २ उवनिमंतिज्जा ॥

से आगंतारेसु वा ४ जाव से किं पुण तत्थोग्गहंसि एवोग्गहियंसि जे तत्थ गाहावईण वा गाहा० पुत्ताण वा सूई वा पिप्पलए वा कण्णसोहणए वा नहच्छेयणए वा तं अप्पणो एगस्स अट्ठाए पाडिहारियं जाइत्ता नो अन्नमन्नस्स दिज्ज वा अणुपइज्ज वा, सयंकरणिज्जंति कट्टु, से तमायाए तत्थ गच्छिज्जा २ पुव्वामेव उत्ताणए हत्थे कट्टु भूमीए वा ठवित्ता इमं खलु २ त्ति आलोइज्जा, नो चेव णं सयं पाणिणा परपाणिंसि पच्चप्पिणिज्जा ॥१५७॥

छाया— स आगन्तारेषु वा ४ यावत् स किं पुनः तत्रावग्रहे एवावग्रहीते ये तत्र साधर्मिकाः अन्यसाम्भोगिकाः समनोज्ञा उपागच्छेयुः ये तेन स्वयमेषितव्याः पीठं वा फलकं वा शय्या वा संस्तारको वा तेन तान् साधर्मिकान् अन्यसाम्भोगिकान् समनोज्ञान् उपनिमन्त्रयेत् नो चैव परप्रत्ययेन अवगृह्णा २ उपनिमन्त्रयेत्। स आगन्तारेषु वा ४ यावत् स किं पुनः तत्रावग्रहे एवावग्रहीते ये तत्र गृहपतीनां वा गृहपतिपुत्राणां वा सूची वा पिप्पलकं वा कर्णशोधनको वा नखच्छेदनको वा ते आत्मनः एकस्यार्थाय प्रातिहारिकं याचित्वा नो अन्योन्यस्य दद्याद् वा अनुप्रदद्याद् वा स्वयं करणीयमितिकृत्वा स तदादाय तत्र गच्छेत्, पूर्वमेव उत्तानकं हस्तं कृत्वा भूमौ वा स्थापयित्वा इदं खलु २ इति आलोचयेत् नो चैव स्वयं पाणिना परपाणौ प्रत्यर्पयेत्।

पदार्थ— से-वह साधु। आगंतारेसु वा-धर्मशाला आदि में। जाव-यावत्। से-वह भिक्षु। तत्थोग्गहंसि-वहां अवग्रह लिए जाने पर। एवोग्गहियंसि-प्रकर्ष पूर्वक आज्ञा दिए जाने पर। पुण किं-पुनः वह वहां क्या करे? अब सूत्रकार इस सम्बन्ध में कहते हैं। जे-जो। तत्थ-वहां पर। साहम्मिया-अतिथि रूप में

साधर्मिक हैं। अन्नसंभोज्या-अन्य सांभोगिक हैं अर्थात् जिनसे एक मांडले पर बैठकर आहार करने का सम्भोग नहीं है किन्तु। समणुन्ना-वे उग्र विहारी हैं अर्थात् उत्तम आचार वाले हैं यदि वे। उवागच्छिज्जा-आ जाएं। जे-जो। तेण-पहले वहां ठहरे हुए साधु हैं उनको। सयमेसित्तए-स्वयं के गवेषणा किए हुए। पीढे वा-पीठ। फलए वा-फलक-पट्टा। सिज्जा वा-शय्या-वस्ती। संथारए वा-संस्तारक आदि। तेण-उस पीठ फलकादि से। ते-उन। साहम्मिए-साधर्मिक जो कि। अन्नसंभोजए-अन्य सांभोगिक तथा। समणुन्ने-उग्र विहारी-उत्तम आचार वाले हैं। उवनिमंतिज्जा-प्रेम पूर्वक निमन्त्रित करे। च-फिर। एव-अवधारणार्थक है। णं-वाक्यालंकार में है। परवडियाए-परन्तु दूसरे के लिए हुए पीठ-फलकादि। ओगिज्झिय-उनकी अपेक्षा से। नो उवनिमंतिज्जा-निमन्त्रित न करे।

से-वह भिक्षु। आगंतारेसु वा ४-धर्मशाला आदि के विषय में। जाव-यावत्। से-वह। तत्थुगहंसि-आज्ञा लेने पर। एवोगहियंसि-विशेषता से आज्ञा प्राप्त होने के पश्चात्। उस साधु को क्या करना चाहिए? इस सम्बन्ध में सूत्रकार कहते हैं कि। जे-जो। तत्थ-वहां पर। गाहावईण वा-गृहपतियों के उपकरण अथवा। गाहा<sup>०</sup> पुत्ताण वा-गृहपति के पुत्रों के उपकरण। सूई वा-वस्त्रादि के सीने वाली सूई अथवा। पिप्पलए वा-कैंची-कतरनी। कण्णसोहणए वा-कान के मल को निकालने वाली शलाका कर्णशोधक सलाई। नहच्छेयणए वा-नख छेदन करने वाला उपकरण आदि पड़े हों तो। तं-उसको। अप्पणो-अपने। एगस्स-एक के। अट्ठाए-लिए। पाडिहारियं-प्रातिहारक-वापिस दिए जाने वाला। जाइत्ता-मांग कर। अन्नमन्नस्स-परस्पर अन्य साधुओं को। नो दिज्ज वा-न दे। न अणुपइज्ज वा-बार-बार न दे किन्तु। सयं करणिज्जंति कटटु-अपना कार्य पूरा करके। से-वह साधु। तमाथाए-उस सूई आदि को लेकर। तत्थ-वहां गृहस्थ के पास। गच्छिज्जा २-जाए और वहां जाकर। पुव्वामेव-पहले ही। उत्ताणए हत्थे कटटु-सीधा हाथ पसार कर और सूई आदि को हाथ में रख कर। वा-अथवा। भूमीए-पृथ्वी पर। ठवित्ता-रख कर फिर गृहस्थ के प्रति कहे। इमं खलु २ त्ति-यह निश्चय ही तुम्हारी वस्तु है, ऐसा कह कर वह वस्तु उसको दिखाए परन्तु। सयं पाणिणा-अपने हाथ से। परपाणिंसि-गृहस्थ के हाथ में। नो पच्चप्पिणिज्जा-न दे।

मूलार्थ—आज्ञा प्राप्त कर धर्मशाला आदि में ठहरे हुए साधु के पास यदि उत्तम आचार वाले असंभोगी साधर्मि-साधु अतिथिरूप में आ जाएं तो वह स्थानीय साधु अपने गवेषणा किए हुए पीठ, फलक, शय्या-संस्तारक आदि के द्वारा अल्पसांभोगिक साधुओं को निमन्त्रित करे, परन्तु दूसरे द्वारा गवेधित पीठ, फलकादि द्वारा निमन्त्रित न करे।

यदि कोई साधु गृहस्थ के पास से सूई, कैंची, कर्णशोधनिका और नखछेदक आदि उपकरण अपने प्रयोजन के लिए मांग कर लाया हो तो वह उन उपकरणों को अन्य भिक्षुओं को न दे। किन्तु अपना कार्य करके गृहस्थ के पास जाए और लम्बा हाथ करके उन उपकरणों को भूमि पर रख कर गृहस्थ से कहे कि यह तुम्हारा पदार्थ है, इसे संभाल लो, देख लो परन्तु उन सूई आदि वस्तुओं को साधु अपने हाथ से गृहस्थ के हाथ पर न रखे।

हिन्दी विवेचन— प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि गत सूत्र में कथित विधि से आज्ञा लेकर ठहरे हुए साधु के पास कोई असंभोगिक एवं अपने समान समाचारी का पालन नहीं करने वाले साधु आ जाएं तो वह अपने लिए हुए शय्या-संथारे या पाट-तख्त आदि से उसका सत्कार-सम्मान करे अर्थात् उसे

उनका आमन्त्रण करे, परन्तु अन्य के लिए हुए पाट आदि का उसे निमन्त्रण न करे। इससे स्पष्ट होता है कि अपने यहां आए हुए साधर्मिक एवं चारित्रनिष्ठ साधक का-जिसके साथ आहार-पानी का संभोग नहीं है और जिसकी समाचारी भी अपने समान नहीं है, शय्या-संस्कारक आदि से सम्मान करना चाहिए। आगम में बताया गया है कि भगवान् पार्श्वनाथ एवं भगवान् महावीर के साधुओं की समाचारी भिन्न थी, उनका परस्पर साम्भोगिक सम्बन्ध भी नहीं था। फिर भी जब गौतम स्वामी केशी श्रमण के स्थान पर पहुंचे तो दीक्षा पर्याय में ज्येष्ठ होते हुए भी केशी श्रमण ने गौतम स्वामी का स्वागत किया और उन्हें निर्दोष एवं प्रासुक पलाल (घास) आदि का आसन लेने की प्रार्थना की<sup>१</sup>। इससे पारस्परिक धर्म स्नेह में अभिवृद्धि होती है और पारस्परिक मेल-मिलाप एवं विचारों के आदान-प्रदान से जीवन का भी विकास होता है। अतः चारित्र निष्ठ असम्भोगी साधु का शय्या आदि से सम्मान करना प्रत्येक साधु का कर्तव्य है।

प्रस्तुत सूत्र के उत्तरार्ध में बताया गया है कि यदि साधु अपने प्रयोजन (कार्य) के लिए किसी गृहस्थ से सूई, कैंची, कान साफ करने का शस्त्र आदि लाया हो तो वह उसे अपने काम में ले, किन्तु अन्य साधु को न दे। और अपना कार्य पूरा होने पर उन वस्तुओं को गृहस्थ के घर जाकर हाथ लम्बा करके भूमि पर रख दे और उसे कहे कि यह अपने पदार्थ सम्भाल लो। परन्तु, वह उन पदार्थों को उसके हाथ में न दे।

कोष में 'पिप्पलाए'<sup>२</sup> शब्द का अर्थ कांटे निकालने का चिपिया, उस्तरा और पिप्पल के पत्तों का बिछौना तथा कैंची किया है। और 'उत्ताणए हत्थे' का ऊंचा किया हुआ हाथ अर्थ किया है। इसके अतिरिक्त 'उत्ताणक' शब्द के-१. सीधा, २. गहरा न हो, ३. निष्पलक देखना ४. चित्त शयन करने का अभिग्रह करने वाला और ५. उथले पानी वाला समुद्र<sup>३</sup> आदि अर्थ किए हैं।

इस विषय का विशेष स्पष्टीकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं-

**मूलम्—** से भि० से जं० उग्गहं जाणिज्जा अणंतरहियाए पुढवीए जाव संताणए तह० उग्गहं नो गिण्हज्जा वा २ ॥ से भि० से जं० पुण उग्गहं थूणंसि वा ४ तह० अंतलिक्खजाए दुब्बद्धे जाव नो उगिण्हज्जा वा २ ॥

से भि० से जं० कुलियंसि वा ४ जाव नो उगिण्हज्ज वा २ ॥ से भि० खंधंसि वा ४ अन्नयरे वा तह० जाव नो उग्गहं उगिण्हज्ज वा २ ॥ से भि० से जं० पुण० ससागारियं सखुड्डपसुभत्तपाणं नो पन्नस्स निक्खमणपवेसे जाव

१ पलालं फासुर्यं तत्थ, पञ्चमं कुसतणाणि य।  
गोयमस्स निसेज्जाए, पिक्खं संपणाए ॥

- उत्तराध्ययन सूत्र, २३, १७।

२ पिप्पलअ-कांटा निकालने का चिपिया तथा उस्तरा ( २ ) पिप्पल-- पिप्पल के पत्तों का बिछौना तथा कतरनी कैंची। -- अर्द्धमागधी कोष भाग ३।

३ १-सीधा सच्चा, २-जो गहरा-ऊंडा न हो वह, ३-पलक मारे बिना आंख को खुली रखना, ४-चित्त सोने का अभिग्रह-प्रतिज्ञा वाला, उथले पानी वाला समुद्र इत्यादि अर्थ किए हैं।

- अर्द्धमागधी कोष भाग २ पृष्ठ २१४।

धम्माणुओगचिंताए, सेवं नच्चा तहं उवस्सए ससागारिणं नो उग्गहं उगिण्हिज्जा वा २ ॥ से भिं से जं गाहावइकुलस्स मज्झंमज्जेणं गंतुं पंथे पडिबद्धं वा नो पन्नस्स जाव सेवं नं ॥ से भिं से जं इह खलु गाहावई वा जाव कम्मकरीओ वा अन्नमन्नं अक्कोसंति वा तहेव तिह्ल्लदि सिणाणादि सीओदगवियडादि निगिणयाइ वा जहा सिज्जाए आलावगा, नवरं उग्गहवत्तव्वया ॥ से भिं से जं आइन्नसंलिक्खे नो पन्नस्सं उगिण्हिज्ज वा २, एयं खलुं ॥१५८ ॥

छाया— स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा स यत् अवग्रहं जानीयात् अनन्तरहितायां पृथिव्यां यावत् सन्तानकः तथाप्रकारं अवग्रहं न गृहीयात् वा २ । स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा स यत् पुनः अवग्रहं स्थूणायां वा ४ तथाप्रकारं अन्तरिक्षजातं दुर्बद्धं यावत् नो अवगृहीयात् वा २ ।

स भिक्षुर्वा स यत् कुल्यके यावत् नो अवगृहीयाद् वा २ ॥ स भिक्षुर्वा स्कन्धे वा ४ अन्यतरस्मिन् वा तथाप्रकारं यावत् नो अवग्रहं अवगृहीयाद् वा २ ॥ स भिक्षुर्वा स यत् पुनः ससागारिकं सक्षुद्रपशुभक्तपानं नो प्राज्ञस्य निष्क्रमणप्रवेशः यावत् धर्मानुयोगचिन्तायां तदेवं ज्ञात्वा तथाप्रकारमुपाश्रयं ससागारिकं नो अवग्रहं अवगृहीयाद् वा २ ॥ स भिक्षुर्वा स यत् गृहपतिकुलस्य मध्य-मध्येन गन्तुं पथि प्रतिबद्धं वा नो प्राज्ञस्य यावत् तदेवं ज्ञात्वा ॥ स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा स यत् इह खलु गृहपतिर्वा यावत् कर्मकर्यो वा अन्योन्यम् आक्रोशन्ति वा तथैव तैलादि, स्नानादि, शीतोदकविकटादि नग्नादि वा यथा शय्यायाम् आलापकाः नवरम् अवग्रहवक्तव्यता ॥ स भिक्षुर्वा स यत् आकीर्णसंलिख्ये नो प्राज्ञस्य अवगृहणीयाद् वा २ एतत् खलुं ।

पदार्थ— से भिं—वह साधु अथवा साध्वी । से—वह । जं—जो । पुणं—फिर अवग्रह को । जाणिज्जा—जाने । अणंतरहियाए—संचित्त । पुढवीए—पृथ्वी के विषय में । जाव—यावत् । संताणए—मकड़ी के जाले आदि से युक्त पृथ्वी में । तहं—तथाप्रकार के । उग्गहं—अवग्रह को । नो गिण्हिज्ज वा—ग्रहण न करे या गृहस्थ से आज्ञा न मांगे ।

से भिं—वह साधु अथवा साध्वी । से—वह । जं—जो । पुणं—फिर । उग्गहं—अवग्रह को । जाणिज्जा—जाने । थूणंसि वा ४—स्तूप आदि के विषय में । तहं—तथाप्रकार के । अंतलिक्खजाए—अन्तरिक्ष-भूमि से ऊंचे स्थानों को जो । दुब्बद्धे—अस्थिर हैं । जाव—यावत् ऐसे अवग्रह को । नो उगिण्हिज्ज वा २—ग्रहण न करे अथवा गृहस्थ से उसकी याचना न करे ।

से भिं—वह साधु अथवा साध्वी । से—वह । जं—जो फिर अवग्रह को जाने । कुलियंसि वा ४—भीत आदि के विषय में जो कि चलाचल स्वभाव वाले स्थान हैं । जाव—यावत् । नो उगिण्हिज्ज वा २—अवग्रह को ग्रहण न करे और गृहस्थ से याचना भी न करे ।

से भिं—वह साधु अथवा साध्वी फिर अवग्रह को जाने । खंधंसि वा—स्कन्ध आदि के विषय में ।



अन्नयरे वा-अन्य इसी प्रकार का ऊंचा अथवा विषम स्थान। तह०-तथाप्रकार के। जाव-यावत्। उगगहं-अवग्रह को। नो उगिगिहज्ज वा २-ग्रहण न करे अर्थात् इस प्रकार के अवग्रह की गृहस्थ से याचना न करे।

से भि०-वह साधु या साध्वी। से जं० पुण-वह जो फिर अवग्रह को जाने। ससागारियं-जो उपाश्रय गृहस्थों से युक्त, अग्नि और जल से युक्त तथा स्त्री-पुरुष और नपुंसक आदि से युक्त हो तथा। सखुड्डपसुभत्तपाणं-बालक-पशु और उनके खाने-पीने के योग्य अन्नपानादि से युक्त हो। पन्नस्स-प्रज्ञावान् साधु को। निक्खमणपवेसे-निकलना और प्रवेश करना। नो-नहीं कल्पता। जाव-यावत्। धम्माणुओगचिंताए-ऐसे स्थान में धर्मानुष्ठान एवं धर्मानुयोग चिन्ता आदि करनी नहीं कल्पती। सेवें-वह-भिक्षु इस प्रकार। नच्चा-जानकर। तह०-तथा प्रकार के। उवस्सए-उपाश्रय में। ससागारियं-जो कि गृहस्थ आदि से युक्त है। उवगगहं-अवग्रह को। नो उगिगिहज्ज वा २-ग्रहण न करे और न उसकी याचना करे।

से भि०-वह साधु अथवा साध्वी। से जं०-वह जो फिर अवग्रह को जाने। गाहावड्ढं-गृहपति कुल के। मज्झमज्झेणं-मध्य २ से। गंतुं-जाने का। पंथे-मार्ग हो। वा-अथवा। पडिबद्धं-मार्ग स्त्रियों से आकीर्ण हो या स्त्री वर्ग अपनी नाना प्रकार की शारीरिक चेष्टायें कर रहा हो तो। पन्नस्स-प्रज्ञावान् साधु को उन्हें उलंघ कर जाना। नो-नहीं कल्पता अतः। सेवें नच्चा-साधु इस प्रकार जानकर। तहप्पगारे०-तथाप्रकार के उपाश्रय के विषय में अवग्रह की याचना न करे।

से भि०-वह साधु अथवा साध्वी। से जं० पुण०-वह जो फिर अवग्रह को जाने। इह खलु-निश्चय ही यहां। गाहावड्ढं वा-गृहपति। जाव-यावत्। कम्मकरीओ वा-गृहपति की दासियों। अन्नमन्नं-परस्पर। अवकोसंति वा-आक्रोश करती हैं, आपस में लड़ती-झगड़ती हैं। तहेव-उसी प्रकार। तिल्लादि-तेल आदि चोपड़ सकती हैं तथा। सिणाणादि-स्नानादि करती हैं। सीओदगवियडादि-शीतल सचित्त जल से वा उष्ण जल से स्नान करती हैं। वा-अथवा। निगिणाड्ढं-मैथुन आदि क्रीड़ा के लिए नग्न होती हैं। वा-अथवा। जंहा-जैसे। सिज्जाए-शय्या अध्ययन के। आलावगा-आलापक -कथन किए गए हैं उसी प्रकार यहां भी जान लेना। नवरं-इतना विशेष है। उगगहवत्तव्वया-यहां पर अवग्रह की वक्तव्यता है, अर्थात् अवग्रह का विषय है।

से भि०-वह साधु अथवा साध्वी। से जं०-वह जो फिर अवग्रह को जाने। आइन्नसंलिकखे-जो उपाश्रय चित्रों से आकीर्ण है ऐसे उपाश्रय में ठहरने के लिए। पन्नस्स०-प्रज्ञावान् साधु को तथाप्रकार के उपाश्रय का। उगिगिहज्जा वा २-अवग्रह नहीं लेना चाहिए। एयं खलु०-निश्चय ही यह साधु और साध्वी का समग्र आचार है। त्तिबेमि-इस प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—संयम निष्ठ साधु-साध्वी को सचित्त पृथ्वी या जीव-जन्तु युक्त स्थान की आज्ञा नहीं लेनी चाहिए और जो उपाश्रय भूमि से ऊंचा, स्तम्भ आदि के ऊपर एवं विषम हो उसमें भी ठहरने की आज्ञा न लेनी चाहिए और जो उपाश्रय कच्ची भीत पर स्थित हो और अस्थिर हो उसकी भी साधु याचना न करे। जो उपाश्रय स्तम्भ आदि पर अवस्थित और इसी प्रकार के अन्य किसी विषम स्थान में हो तो उसकी आज्ञा भी नहीं लेनी चाहिए। जो उपाश्रय गृहस्थों से युक्त हो, अग्नि और जल से युक्त हो, एवं स्त्री, बालक और पशुओं से युक्त हो तथा उनके योग्य खान-पान की सामग्री से भरा हुआ हो तो बुद्धिमान साधु को ऐसे उपाश्रय में भी नहीं ठहरना चाहिए। जिस उपाश्रय में जाने के मार्ग में स्त्रियां बैठी रहती हों या वे नाना प्रकार की शारीरिक चेष्टायें करती हों,

ऐसे उपाश्रय में भी बुद्धिमान साधु ठहरने की आज्ञा न मांगे। जिस उपाश्रय में गृहपति यावत् उनकी दासियां परस्पर आक्रोश करती हों, या तेलादि की मालिश करती हों, स्नानादि करती और नग्न होकर बैठती हों इस प्रकार के उपाश्रय की भी साधु याचना न करे। और जो उपाश्रय चित्रों से आकीर्ण हो रहा हो उसकी भी आज्ञा नहीं लेनी चाहिए। यह साधु और साध्वी का समग्र आचार है। इस प्रकार मैं कहता हूँ।

**हिन्दी विवेचन**— प्रस्तुत सूत्र में साधु को कैसे मकान में ठहरना चाहिए इसका उल्लेख करते हुए शय्या अध्ययन में वर्णित बातों को दोहराया है। जैसे-जो उपाश्रय अस्थिर दीवार एवं स्तम्भ पर बना हुआ हो, विषम स्थान पर हो, स्त्रियों से आवृत्त हो, जिसके आने-जाने के मार्ग में स्त्रियां बैठी हों, परस्पर तेल की मालिश कर रही हों, या अस्त-व्यस्त ढंग से बैठी हों, तो ऐसे स्थान की साधु को याचना नहीं करनी चाहिए। इसका तात्पर्य यह है कि साधु को ऐसे स्थान में ठहरने का संकल्प नहीं करना चाहिए, जिस में जीवों की हिंसा एवं संयम की विराधना होती हो, मन में विकार उत्पन्न होता हो और स्वाध्याय एवं ध्यान में विघ्न पड़ता हो।

यह साधु का उत्सर्ग मार्ग है। परन्तु, यदि किसी गांव में संयम साधना के अनुकूल मकान नहीं मिल रहा है, तो साधु एक-दो रात के लिए परिवार वाले मकान आदि में भी ठहर सकता है। यह अपवाद मार्ग है। ऐसी स्थिति में साधु को एक-दो रात्रि से अधिक ऐसे मकान में ठहरना नहीं कल्पता है<sup>१</sup>।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'कुलियंसि एवं श्रूणंसि' का अर्थ कोष<sup>२</sup> में कुड्य दीवार एवं स्तम्भ किया है। और 'धम्माणुओगचिंताए' का अर्थ है-साधु को उसी स्थान की याचना करनी चाहिए जिसमें धर्मानुयोग भली-भांति साधा जा सके अर्थात् जहां संयम में बिल्कुल दोष न लगे ऐसे स्थान में ठहरना चाहिए।

॥ प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

१ बृहत्कल्प सूत्र।

२ अर्द्धमागधी कोष भा० २ पृ० ५०७, भा० १, पृ० १०१

## सप्तम अध्ययन-अवग्रह प्रतिमा

### द्वितीय उद्देशक

प्रस्तुत अध्ययन अवग्रह से सम्बद्ध है। प्रथम उद्देशक में अवग्रह के सम्बन्ध में कुछ विचार किया गया था। उसी विचार धारा को आगे बढ़ाते हुए सूत्रकार कहते हैं-

**मूलम्-** से आगंतारेसु वा ४ अणुवीड उग्गहं जाइज्जा, जे तत्थ ईसरे० ते उग्गहं अणुन्विज्जा कामं खलु आउसो ! अहालंदं अहापरिन्नायं वसामो जाव आउसो ! जाव आउसंतस्स उग्गहे जाव साहम्मिआए ताव उग्गहं उगिण्हस्सामो, तेण परं वि०, से किं पुण तत्थ उग्गहंसि एवोग्गहियंसि जे तत्थ समणाण वा माह० छत्ताए वा जाव चम्मछेदणए वा तं नो अन्तोहिंतो बाहिं नीणिज्जा बहियाओ वा नो अंतो पविसिज्जा सुत्तं वा नो पडिबोहिज्जा, नो, तेसिं किंचिवि अप्पत्तियं पडिणीयं करिज्जा ॥१५९॥

**छाया-** स आगन्तागारेषु वा ४ अनुविचिन्त्य अवग्रहं याचेत, यस्तत्र ईश्वरः० तान् अवग्रहमनुज्ञापयेत् कामं खलु आयुष्मन् ! यथालन्दं यथापरिज्ञातं वसामः यावत् आयुष्मन् ! यावत् आयुष्मतः अवग्रहः यावत् साधर्मिकाः तावत् अवग्रहमवग्रहीष्यामः तेन परं विहरिष्यामः, स किं पुनः तत्र अवग्रहे एवावग्रहीते ये तत्र श्रमणानां वा ब्राह्मणानां वां छत्रकं वा यावत् चर्मच्छेदनकः वा तद् नो अन्ततः बहिः निर्णयेत् बहिर्षतो वा नो अन्तः प्रवेशयेत्, सुप्तं वा नो प्रतिबोधयेत् नो तेषां किंचिदपि अप्रीतिकं प्रत्यनीकतां कुर्यात्।

**पदार्थ-** से-वह भिक्षु। आगंतारेसु वा ४-धर्मशाला आदि में। अणुवीड-विचार कर। उग्गहं-अवग्रह की। जाइज्जा-याचना करे। जे-जो। तत्थ-वहां पर। ईसरे०-घर का स्वामी तथा अधिष्ठाता हो। ते-उनको। उग्गहं-अवग्रह। अणुन्विज्जा-बताए जैसे कि। खलु-निश्चय ही। आउसो-हे आयुष्मन् गृहस्थ ! कामं-जितने समय तक आपकी इच्छा हो। अहालंदं-उतने समय तक। अहापरिन्नायं-तावत् प्रमाण क्षेत्र में। वसामो-हम निवास करेंगे। जाव-यावत् काल पर्यन्त तुम्हारी आज्ञा होगी। आउसो !-हे आयुष्मन् ! जाव-यावत् काल पर्यन्त। आउसंतस्स-आयुष्मन् का-आपका। उग्गहे-अवग्रह होगा उतने समय तक ही रहेंगे, तथा। जाव-जितने भी। साहम्मियाए-और साधर्मिक साधु आयेंगे वे भी। ताव-तावन्मात्र। उग्गहं-अवग्रह। उगिण्हस्सामो-ग्रहण करेंगे अर्थात् आपकी आज्ञानुसार रहेंगे। तेण परं-उसके बाद। विहरिस्सामो-विहार कर

जायेंगे। से-वह भिक्षु। तत्थ-वहां। उग्गहंसि-अवग्रह लेने पर तथा। एवोग्गहियंसि-अवग्रह के ग्रहण करने के पश्चात्। पुण किं-उसे फिर क्या करना चाहिए ? इस विषय में सूत्रकार कहते हैं। जे-जो। तत्थ-वहां पर। समणाण वा-शाक्यादि श्रमणों अथवा। माह-ब्राह्मणों के। छत्तए वा-छत्र। जाव-यावत्। चम्मछेदणाए वा-चर्म छेदनक पड़े हों तो। तं-उनको। अंतोहितो-भीतर से। बाहिं-बाहर। नो नीणिज्जा-न निकाले। वा-और। बहियाओ-बाहर से। अंतो-भीतर। नो पविसिज्जा-न रखे। वा-अथवा। सुत्तं-सोए हुए को। नो पडिबोहिज्जा-जागृत न करे। तेसिं-उनके। किंचिवि-किंचिन्मात्र भी। अप्पत्तियं-मन को पीड़ा तथा। पडिणीयं-प्रतिकूलता। नो करिज्जा-उत्पन्न न करे।

**मूलार्थ**—साधु धर्मशाला आदि स्थानों में जाकर और विचार कर अवग्रह की याचना करे। उक्त स्थानों के स्वामी, अधिष्ठाता से याचना करते हुए कहे कि हे आयुष्मन् गृहस्थ ! हम यहां पर ठहरने की आज्ञा चाहते हैं आप हमें जितने समय तक और जितने क्षेत्र में ठहरने की आज्ञा देंगे उतने समय और उतने ही क्षेत्र में ठहरेंगे। हमारे जितने भी साधु यहाँ आएंगे तो वे भी इसी नियम का अनुसरण करेंगे। तुम्हारे द्वारा नियत की गई अवधि के बाद विहार कर जाएंगे। उक्त स्थान में ठहरने के लिए गृहस्थ की आज्ञा प्राप्त हो जाने पर साधु उस स्थान में प्रवेश करते समय यह ध्यान रखे कि यदि उन स्थानों में शाक्यादि श्रमण तथा ब्राह्मणों के छत्र यावत् चर्म छेदक आदि उपकरण पड़े हों तो वह उनको भीतर से बाहर न निकाले और बाहर से भीतर न रखे तथा किसी सुषुप्त श्रमण आदि को जागृत न करे और उनके साथ किंचिन्मात्र भी अप्रीतिजनक कार्य न करे जिस से उनके मन को आघात पहुंचे।

**हिन्दी विवेचन**— प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि गृहस्थ की आज्ञा प्राप्त करके उसके मकान में ठहरते समय साधु को कोई ऐसा आचरण नहीं करना चाहिए जिससे उस गृहस्थ या उसके मकान में ठहरे हुए शाक्यादि अन्य मत के भिक्षुओं के मन को किसी तरह का आघात पहुंचे और उनके मन में साधु के प्रति दुर्भाव एवं अप्रीति पैदा हो। यदि उस मकान में पहले कोई श्रमण-ब्राह्मण ठहरे हुए हों और उनके छत्र, चामर आदि उपकरण पड़े हों तो साधु उन उपकरणों को बाहर से भीतर या भीतर से बाहर न रखे और यदि वे सुषुप्त हों तो साधु उन्हें जागृत न करे और उनके साथ किसी तरह का असभ्य एवं अशिष्ट व्यवहार भी न करे। क्योंकि साधु का जीवन स्व और पर के कल्याण के लिए है। वह अपने हित के साथ-साथ अन्य प्राणियों को भी सन्मार्ग दिखाकर उनकी आत्मा का हित करने का प्रयत्न करता है। अतः उसे प्रत्येक मानव के साथ बर्ताव करते समय अपनी साधुता को नहीं छोड़ना चाहिए। उसकी साधुता प्रत्येक मानव के साथ-चाहे वह किसी भी पन्थ, मत, देश, जाति एवं धर्म का क्यों न हो, मानवता का, शिष्टता का एवं मधुरता का व्यवहार करने में है। इस लिए साधु को प्रत्येक स्थान में ठहरते समय इस बात की ओर विशेष लक्ष्य रखना चाहिए कि उसके व्यवहार से मकान मालिक एवं उसमें स्थित या अन्य आने-जाने वाले व्यक्तियों के मन को किसी तरह का संक्लेश न पहुंचे।

यदि आम्र के बगीचे में ठहरे हुए साधु को आम्र आदि ग्रहण करना हो तो वह उन्हें कैसे ग्रहण करे, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— से भि० अभिकंखिज्जा अंबवणं उवागच्छित्तए जे तत्थ ईसरे २ ते उग्गहं अणुजाणाविज्जा-कामं खलु जाव विहरिस्सामो, से किं पुण० एवोग्गहियंसि अह भिक्खू इच्छिज्जा अंबं भुत्तए वा से जं पुण अंबं जाणिज्जा सअंडं ससंताणं तह० अंबं अफा० नो प० ॥ से भि० से जं० अप्पंडं अप्पसंताणगं अतिरिच्छच्छिन्नं अव्वोच्छिन्नं अफासुयं जाव नो पडिगाहिज्जा ॥ से भि० से जं० अप्पंडं वा जाव संताणगं तिरिच्छच्छिन्नं वुच्छिन्नं फा० पडि० ॥ से भि० अंबभित्तगं वा अंबपेसियं वा अंबचोयगं वा अंबसालगं वा अंबडालगं वा भुत्तए वा पायए वा, से जं० अंबभित्तगं वा ५ सअंडं अफा० नो पडि० ॥ से भिक्खू वा २ से जं० अंबं वा अंबभित्तगं वा अप्पंडं० अतिरिच्छच्छिन्नं २अफा० नो प० ॥ से जं० अंबडालगं वा अप्पंडं ५ तिरिच्छच्छिन्नं वुच्छिन्नं फासुयं पडि० ॥ से भि० अभिकंखिज्जा उच्छुवणं उवागच्छित्तए, जे तत्थ ईसरे जाव उग्गहंसि० ॥ अह भिक्खू इच्छिज्जा उच्छुं भुत्तए वा पा०, से जं० उच्छुं जाणिज्जा सअंडं जाव नो प० अतिरिच्छच्छिन्नं तहेव तिरिच्छच्छिन्नेवि तहेव ॥ से भि० अभिकंखि० अंतरुच्छुयं वा उच्छुगंडियं वा उच्छुचोयगं वा उच्छुसा० उच्छुडा० भुत्तए वा पाय० ॥ से जं० पु० अंतरुच्छुयं वा जाव डालगं वा सअंडं नो प० ॥ से भि० से जं० अंतरुच्छुयं वा० अप्पंडं वा० जाव पडि०, अतिरिच्छच्छिन्नं तहेव ॥ से भि० ल्हसुणवणं उवागच्छित्तए, तहेव तिन्निवि आलावगा, नवरं ल्हसुणं ॥ से भि० ल्हसुणं वा ल्हसुणकंदं वा ल्ह० चोयगं वा ल्हसुणनालगं वा भुत्तए वा २ से जं० लसुणं वा जाव लसुणबीयं वा सअंडं जाव नो पडि०, एवं अतिरिच्छच्छिन्नेवि तिरिच्छच्छिन्ने जाव प० ॥१६० ॥

छाया— स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा अभिकांक्षेत् आम्रवनमुपागतुं यस्तत्र ईश्वरः तमवग्रहमनुज्ञापयेत्-कामं खलु यावद् विहरिष्यामः स किं पुनः तत्र अवग्रहे एवावग्रहीते, अथ भिक्षुः इच्छेत् आम्रं भोक्तुं वा स यत् पुनः आम्रं जानीयात् साण्डं ससन्तानकं तथाप्रकारं आम्रमप्रासुकं नो प्रतिगृहणीयात् ॥ स भिक्षुर्वा० स यत् पुनः आम्रं जानीयात्-अल्पाण्ड-मल्पसन्तानकमतिरश्चीनच्छिन्नमव्यवच्छिन्नमप्रासुकं यावत् नो प्रतिगृहणीयात् ॥ स भिक्षुर्वा० स यत् पुनः आम्रं जानीयात् अल्पाण्डं वा यावद् सन्तानकं तिरश्चीनच्छिन्नं व्यवच्छिन्नं यावत् प्रासुकं प्रतिगृहणीयात् ॥ स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा स यत् पुनः आम्रं जानीयात् आम्रभित्तकं (आम्राद्धंम्) वा आम्रपेशिकां आम्रत्वचं वा आम्रशालकं वा आम्रडालकं वा भोक्तुं वा पातुं वा स यत् वा आम्रभित्तकं वा ५ साण्डमप्रासुकं नो प्रतिगृहणीयात् ॥ स भिक्षुर्वा स यत्

आम्रं वा आम्रभित्तकं वा अल्पांडं अतिरश्चीनच्छिन्नमव्यवच्छिन्नमप्रासुकं नो प्रतिगृणहीयात् ॥ स भिक्षुर्वा स यत् आम्रडालकं वा अल्पांडं ५ तिरश्चीनच्छिन्नं व्यवच्छिन्नं प्रतिप्रासुकं गृणहीयात् ॥ स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा अभिकांक्षेत् इक्षुवनं उपागन्तुं, यस्तत्र ईश्वरः यावत् अवग्रहीते ॥ अथ भिक्षुः इच्छेत् इक्षुं भोक्तुं वा पातुं वा स यत् इक्षुं जानीयात् साण्डं यावत् नो प्रतिगृणहीयात् अतिरश्चीनच्छिन्नं तथैव तिरश्चीनच्छिन्नमपि तथैव ॥ स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा अभिकांक्षेत् अन्तरिक्षुकं वा इक्षुगंडिकां वा इक्षुत्वचं वा इक्षुशालकं वा इक्षुडालकं वा भोक्तुं वा पातुं वा स यत् पुनः अंतरिक्षुकं वा यावत् डालकं वा साण्डं नो प्रतिगृणहीयात् ॥ स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा अभिकांक्षेत् लशुनवनमुपागन्तुं तथैव त्रयोऽपि आलापकाः नवरं लशुनम् ॥ स भिक्षुर्वा २ लशुनं वा लशुनकन्दं वा लशुनत्वचं वा लशुननालकं वा भोक्तुं वा पातुं वा २ स यत् लशुनं वा यावत् लशुनबीजं वा साण्डं वा यावत् नो प्रतिगृणहीयात् एवं अतिरश्चीनच्छिन्नमपि तिरश्चीनच्छिन्नं यावत् प्रतिगृणहीयात् ।

पदार्थ- से भि०-वह साधु अथवा साध्वी यदि। अभिकंखिज्जा-चाहे। अंबवणं-आम्र वन में। उवागच्छित्तए-आकर अवग्रह की याचना करे। जे-जो। तत्थ-वहां पर। ईसरे २-आम्रवन का स्वामी अथवा वन का अधिष्ठाता है। ते-उसको। उग्गहं-अवग्रह का। अणुजाणाविज्जा-अनुज्ञापन कराए अर्थात् उससे आज्ञा मांगे। कामं खलु-जैसे अपनी इच्छा हो वैसे ही। जाव-यावत्। विहरिस्सामो-हम विचरेंगे। से-वह भिक्षु। किं-फिर क्या करे? अब सूत्रकार इस विषय में कहते हैं। पुण०-फिर। तत्थ-वहां पर। एवोग्गहियंसि-आज्ञा मिल जाने पर। अह-अथ। भिक्खू-भिक्षु-साधु। अंबं भुत्तए वा-आम्र का आहार करना। इच्छिज्जा-चाहे तो। से-वह-भिक्षु। जं-जो। पुण-फिर। अंबं-आम्रफल के सम्बन्ध में यह। जाणिज्जा-जाने कि। सअंडं-जो आम्र अण्डों के सहित हैं। ससंताणगं-जालों से युक्त हैं तो। तह०-तथाप्रकार के। अंबं-आम्र को। अफा०-अप्रासुक जानकर। नो प०-ग्रहण न करे।

से भि०-वह साधु अथवा साध्वी। से जं-वह जो फिर। अंबं जाणिज्जा-आम्र फल को जाने। अप्पंडं-अण्डों से रहित। अप्पसंताणगं-जालों से रहित। अतिरिच्छिन्नं-जो तिरछा छेदन नहीं किया हुआ है तथा जो। अक्खोच्छिन्नं-अखंडित है उसको। अफासुयं-अप्रासुक। जाव-यावत् अनेवणीय जानकर। नो पडिगाहिज्जा-ग्रहण न करे।

से भि०-वह साधु या साध्वी। से जं०-वह फिर आम्र के फल को जाने जो। अप्पंडं-अण्डों से रहित। जाव-यावत्। संताणगं-जालों से रहित। तिरिच्छिन्नं-तिरछा छेदन किया हुआ। वुच्छिन्नं-खण्ड-खण्ड किया हुआ उसको। फा०-प्रासुक जान कर। पडि०-ग्रहण करे।

से भि०-वह साधु या साध्वी यदि आम्र फल को ग्रहण करना चाहे तो। अंबभित्तगं-आम्र का अर्द्ध भाग। वा-अथवा। अंबसालगं वा-आम्रफल का रस अथवा। अंबडालगं वा-आम्रफल के सूक्ष्म-सूक्ष्म खण्ड। भुत्तए वा पायए वा-खाना या पीना चाहे तो। से जं-वह भिक्षु जो। पुण-फिर जाने कि। अंबभित्तगं वा-यदि आधा आम्र फल। सअंडं-अण्डों से युक्त है तो। अफा०-उसको अप्रासुक जानकर। नो प०-ग्रहण न करे। से भि०-वह साधु या साध्वी। से जं०-वह साधु जो। अंबं-आम्रफल को। अंबभित्तगं वा-अथवा उसके अर्द्ध भाग-

खंड को, जो कि। अप्पंडं-अंडादि से रहित होने पर भी। अतिरिच्छछिन्नं २-तिरछा छेदन नहीं किया हुआ और न खण्ड-खण्ड किया गया है तो उसको भी अप्रासुक जानकर। नो प०-ग्रहण न करे।

से जि०-वह साधु या साध्वी फिर आम्र फल को जाने। अंबडालगं वा-यावत् आम्रफल के सूक्ष्म-सूक्ष्म खण्ड किए हुए हैं। अप्पंडं-अंडादि से रहित है और। तिरिच्छछिन्नं-तिरछा छेदन किया हुआ है। वुच्छिन्नं-खण्ड २ किया हुआ है तथा परिपक्व होने से अचित्त हो गया है उसको। फासुर्यं-प्रासुक जान कर। पडि०-ग्रहण करे।

से भि०-वह साधु या साध्वी यदि। अभिकंखिज्जा-चाहे। उच्छुवणं-इक्षु वन में। उवागच्छित्तए-जाना। जे-जो। तत्थ-वहां। ईसरे-इक्षु वन का स्वामी है। जाव-यावत्। उगहंसि०-उसकी आज्ञा में ठहरे। अह भिक्खू-अतः साधु। उच्छुं-इक्षु को। भुत्तए वा पा०-खाना या पीना। इच्छिज्जा-चाहे तो। से-वह भिक्षु। जं-जो। पुण-फिर। उच्छुं-इक्षु के सम्बन्ध में यह। जाणिज्जा-जाने कि। सअंडं-जो इक्षु अंडों से युक्त। जाव-यावत् जालों से युक्त है उसको। नो पडि०-ग्रहण न करे। अतिरिच्छछिन्नं-जो तिरछा छेदन नहीं किया हुआ। तहेव-उसी प्रकार अर्थात् आम्र फल के समान दूसरा आलापक जानना। तहेव-उसी प्रकार। तिरिच्छनेऽवि-तिरछा छेदा हुआ भी आलापक जानना यह आलापक अचित्त विषयक है और इससे पहला सचित विषय में है।

से भि०-वह साधु अथवा साध्वी। अभिकंखिज्जा-चाहे। अंतरुच्छुर्यं वा-इक्षु के पर्व भाग का मध्य अथवा। उच्छुगंडियं वा-इक्षु की गंडिका-कतली। उच्छुचोयगं वा-अथवा इक्षु की छाल। उच्छुसा०-इक्षु का रस। उच्छुडा०-इक्षु के सूक्ष्म खण्ड। भुत्तए वा-भोगने अथवा। पा०-पीने। से-वह भिक्षु। जं-जो। पुण-फिर। जाणिज्जा-जाने। अंतरुच्छुर्यं वा-इक्षु के पर्व का मध्य भाग। जाव-यावत्। डालगं वा-इक्षु के सूक्ष्म २ खण्ड। सअंडं-अंडादि से युक्त हों तो। नो पडि०-ग्रहण न करे। से भि०-वह साधु या साध्वी। से जि०-वह जाने। अंतरुच्छुर्यं वा-इक्षु के पर्व का मध्य भाग। जाव-यावत्। अप्पंडं वा-अंडादि से रहित हो तो। जाव-यावत्। पडि०-ग्रहण कर ले। अतिरिच्छछिन्नं-जो तिरछा छेदन नहीं किया हुआ अतः सचित होने से। तहेव-उसी प्रकार अग्राह्य है। से भि०-वह साधु या साध्वी। ल्हसुणवणं-यदि लशुन के वन में। उवागच्छित्तए-गमन करना। अभिकंखि०-चाहे तो यावत्। तिन्निवि-तीनों ही। आलावगा-आलापक। तहेव-उसी प्रकार पूर्व की भांति जानना। नवरं-केवल इतना विशेष है। ल्हसुणं-यहां पर लशुन का अधिकार समझना चाहिए। से भि०-वह साधु अथवा साध्वी। अभिकंखिज्जा-चाहे। ल्हसुणं वा-लशुन को। ल्हसुणकंदं वा-लशुन के कन्द को। ल्ह०-चोयगं वा-लशुन की त्वचा-छाल को अथवा। ल्हसुणनालगं वा-लशुन की नाल को। भुत्तए वा-भोगना तथा पीना। से जं पुण-वह जो फिर। ल्हसुणं वा-लशुन-लशुन कन्द। जाव-यावत्। ल्हसुणवीर्यं वा-लशुन के बीज को, जो। सअंडं-अंडादि से युक्त है। जाव-यावत्। नो पडि०-ग्रहण न करे। एवं-इसी प्रकार। अतिरिच्छछिन्नेऽवि-जो तिरछा छेदन नहीं किया हुआ, जो कि सचित है उसे ग्रहण न करे। तिरिच्छछिन्ने-तिरछा छेदन किया हुआ है जो कि अचित्त है। जाव-यावत्। पडि०-ग्रहण कर ले।

मूलार्थ—यदि कोई संयम निष्ठ साधु या साध्वी आम के वन में ठहरना चाहे तो वह उस बगीचे के स्वामी या अधिष्ठाता से उसके लिए याचना करते हुए कहे कि हे आयुष्मन् गृहस्थ! मैं यहां पर ठहरना चाहता हूँ। जितने समय के लिए आप आज्ञा देंगे उतने समय ठहर कर बाद में विहार कर दूंगा। इस तरह बागवान की आज्ञा प्राप्त होने पर वह वहां ठहरे। यदि वहां स्थित साधु को

आम्र फल खाने की इच्छा हो तो उसे कैसे आम्रफल को ग्रहण करना चाहिए, इसके सम्बन्ध में बताया गया है कि वह फल अंडादि से युक्त हो तो वह उसे ग्रहण न करे। अंडादि से रहित होने—परन्तु यदि उसका तिरछा छेदन न हुआ हो तथा उसके अनेक खण्ड भी न किए गए हों तो भी उसे साधु स्वीकार न करे। परन्तु यदि वह अंडादि से रहित हो, तिरछा छेदन किया हुआ हो और खंड २ किया हुआ हो तो अचित्त एवं प्रासुक होने पर साधु उसे ग्रहण कर सकता है। परन्तु आम्र का आधा भाग, उसकी फाड़ी, उसकी छाल और उसका रस एवं उसके किए गए सूक्ष्म खंड यदि अंडादि से युक्त हों या अंडादि से रहित होने पर भी तिरछे कटे हुए न हों और खंड २ न किए गए हों तो साधु उसे भी ग्रहण न करे। यदि उनका तिरछा छेदन किया गया है, और अनेक खंड किए गए हैं तब उसे अचित्त और प्रासुक जानकर साधु ग्रहण कर ले।

यदि कोई साधु या साध्वी इक्षु वन में ठहरना चाहे और वन पालक की आज्ञा लेकर वहां ठहरने पर यदि वह इक्षु ( गन्ना ) खाना चाहे तो पहले यह निश्चय करे कि जो इक्षु अंडादि से युक्त है और तिरछा कटा हुआ नहीं है तो वह उसे ग्रहण न करे। यदि अंडादि से रहित और तिरछा छेदन किया हुआ हो तो उसको अचित्त और प्रासुक जानकर ग्रहण कर ले। इसका शेष वर्णन आम्र के समान ही जानना चाहिए। यदि साधु इक्षु के पर्व का मध्य भाग, इक्षुगंडिका, इक्षुत्वचा-छाल, इक्षुरस और इक्षु के सूक्ष्म खंड आदि को खाना-पीना चाहे तो वह अंडादि से युक्त या अंडादि से रहित होने पर भी तिरछा कटा हुआ न हो तथा वह खंड-खंड भी न किया गया हो तो साधु उसे ग्रहण न करे। इसी प्रकार लशुन के सम्बन्ध में भी तीनों आलापक समझने चाहिए।

**हिन्दी विवेचन—** प्रस्तुत सूत्र में आम्र फल, इक्षु खण्ड आदि के ग्रहण एवं त्याग करने के सम्बन्ध में वर्णन किया गया है। आम्र आदि पदार्थ किस रूप में साधु के लिए ग्राह्य एवं अग्राह्य हैं, इसका नयसापेक्ष वर्णन किया गया है। और इसका सम्बन्ध केवल पक्व आम आदि से है, न कि अर्ध पक्व या अपक्व फलों से। पक्व आम्र आदि फल भी यदि अण्डों आदि से युक्त हों, तिरछे एवं खण्ड-खण्ड में कटे हुए न हों तो साधु उन्हें ग्रहण न करे और यदि वे अण्डे आदि से रहित हों, तिरछे एवं खण्ड-खण्ड में कटे हुए हों तो साधु उन्हें ग्रहण कर सकता है। उस पक्व फल के तिर्यक् एवं खण्ड-खण्ड में कटे होने का उल्लेख उसे अचित्त एवं प्रासुक सिद्धि करने के लिए है। निशीथ सूत्र में यह भी स्पष्ट किया गया है कि यदि साधु सचित्त आम्र एवं सचित्त इक्षु ग्रहण करता है तो उसे चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है<sup>१</sup>। इससे स्पष्ट होता है कि साधु अचित्त एवं प्रासुक आम्र आदि ग्रहण कर सकता है। यदि वह पक्व फल जीव-जन्तु से रहित हो और तिर्यक् कटा हुआ हो तो साधु के लिए अग्राह्य नहीं है और न वह सचित्त ही रह जाता है।

अब अवग्रह के अभिग्रह के सम्बन्ध में सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्—** से भि० आगंतारेसु वा ४ जावोग्गहियंसि जे तत्थ गाहावईण वा गाहा० पुत्ताण वा इच्चेयाइं आयतणाइं उवाइक्कम्म अह भिक्खू जाणिज्जा,



इमाहिं सत्तहिं पडिमाहिं उग्गहं उग्गिण्हत्तए, तत्थ खलु इमा पढमा पडिमा-से आगंतारेसु वा ४ अणुवीइ उग्गहं जाइज्जा जाव विहरिस्सामो पढमा पडिमा ॥१॥ अहावरा० जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ-अहं च खलु अन्नेसिं भिक्खूणं अट्ठाए उग्गहं उग्गिण्हस्सामि, अण्णेसिं भिक्खूणं उग्गहे उग्गहिए उवल्लिस्सामि, दुच्चा पडिमा ॥२॥ अहावरा० जस्स णं भि० अहं च० उग्गिण्हस्सामि अन्नेसिं च उग्गहे उग्गहिए नो उवल्लिस्सामि, तच्चा पडिमा ॥३॥ अहावरा० जस्स णं भि० अहं च० नो उग्गहं उग्गिण्हस्सामि, अन्नेसिं च उग्गहे उग्गहिए उवल्लिस्सामि, चउत्था पडिमा ॥४॥ अहावरा० जस्स णं अहं च खलु अप्पणो अट्ठाए उग्गहं च उ० नो दुण्हं नो तिण्हं नो चउण्हं नो पंचण्हं पंचमा पडिमा ॥५॥ अहावरा० से भि० जस्स एव उग्गहे उवल्लिइज्जा जे तत्थ अहासमन्नागए इक्कडे वा जाव पलाले तस्स लाभे संवसिज्जा, तस्स अलाभे उक्कुडुओ वा नेसज्जिओ वा विहरिज्जा, छट्ठा पडिमा ॥ ६ ॥ अहावरा स० जे भि० अहासंथडमेव उग्गहं जाइज्जा तंजहा पुढविसिलं वा कट्ठसिलं वा अहासंथडमेव तस्स लाभे संते० तस्स अलाभे उ० ने० विहरिज्जा, सत्तमा पडिमा ॥७॥ इच्चेयासिं सत्तण्हं पडिमाणं अन्नयरं जहा पिंडेसणाए ॥१६१॥

छाया- स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा आगन्तागारेषु वा ४ यावत् अवग्रहीते ये तत्र गृहपतीनां वा गृहपतिपुत्राणां वा इत्येतानि आयतनानि उपातिक्रम्य अथ भिक्षुः जानीयात्-आभिः सप्ताभिः प्रतिमाभिः अवग्रहमवग्रहीतुं । तत्र खलु इयं प्रथमा प्रतिमा-स आगन्तागारेषु वा ४ अनुविचिन्त्यावग्रहं याचेत यावत् विहरिष्यामः प्रथमा प्रतिमा ॥१॥ अथापरा० यस्य भिक्षोः एवं भवति-अहं च खलु अन्येषां भिक्षूणां अर्थायावग्रहमवग्रहीष्यामि अन्येषां भिक्षूणामवग्रहे अवग्रहीते उपालयिष्ये द्वितीया प्रतिमा ॥२॥ अथापरा० यस्य भिक्षोः एवं भवति अहं च० अवग्रहीष्यामि अन्येषां च अवग्रहे अवग्रहीते नो उपालयिष्ये तृतीया प्रतिमा ॥३॥ अथापरा० यस्य भि० अहं च० नो अवग्रहमवग्रहीष्यामि, अन्येषां च अवग्रहे अवग्रहीते उपालयिष्ये, चतुर्थी प्रतिमा ॥४॥ अथापरा० यस्य अहं च खलु आत्मनः अर्थाय अवग्रहं च अवग्रहीष्यामि नो द्वयोः नो त्रयाणां नो चतुर्णां नो पञ्चानां पंचमी प्रतिमा ॥५॥ अथापरा० स भि० यस्य एव अवग्रहे उपालयेत् ये तत्र यथा समन्वागते उत्कटः यावत् पलालः तस्य लाभे संवसेत्, तस्य अलाभे उत्कुटुको वा निषण्णो वा विहरेत्, षष्ठी प्रतिमा ॥६॥ अथापरा स० यो भिक्षुः यथासंस्तुतमेव अवग्रहं याचेत, तद्यथा पृथ्वीशिलां वा काष्ठशिलां वा यथासंस्तुतमेव

तस्य लाभे सति० तस्यालाभे सति० अवग्रहं० नि० विहरेत्, सप्तमी प्रतिमा ॥७॥ इत्येतासां सप्तानां प्रतिमानामन्यतरां यथा पिण्डैषणायाम् ।

पदार्थ— से भि०-वह साधु अथवा साध्वी । आगंतरेसु वा ४-धर्मशाला आदि में । जाव-यावत् । ओग्गहिर्यंसि-आज्ञा लेने पर । जे-जो । तत्थ-वहां पर । गाहावईण वा-गृहपतियों के । गाहा० पुत्ताण वा-अथवा गृहपति के पुत्रों तथा उनके सम्बन्धी जनों । इच्चेयाइं-ये जो पूर्वोक्त । आयतणाइं-कर्म बन्ध के स्थान हैं उन दोषों को । उवाइक्कम्म-अतिक्रम करके उक्त स्थानों में रहना चाहिए । अह-अथ । भिक्खू-भिक्षु । इमाहिं-ये जो आगे कहे जाते हैं । सत्तहिं-सात । पडिमाहिं-प्रतिमा-अभिग्रहविशेषों से । उग्गहं-अवग्रह को । उग्गिण्हत्तए-ग्रहण करना । एंमं जाणिज्जा-जानना चाहिए । खलु-निश्चयार्थक है । तत्थ-उन सात प्रतिमाओं में से । इमा-यह । पढमा-पहली । पडिमा-प्रतिमा है । से-वह भिक्षु । आगंतरेसु वा ४-धर्मशाला आदि में । अणुवीइ-विचार कर । उग्गहं-अवग्रह की । जाइज्जा-याचना करे । जाव-यावत् । विहरिस्सामो-विचरूंगा । पढमा पडिमा-यह पहली प्रतिमा है । अहावरा०-अथ अपर इससे अन्य । दुच्चा पडिमा-दूसरी प्रतिमा यह है । णं-वाक्यालंकार में है । जस्स-जिस । भिक्खुस्स-भिक्षु का । एवं भवइ-इस प्रकार का अभिग्रह होता है । च-पुनः । खलु-वाक्यालंकार में है । अहं-मैं । अन्नेसिं-अन्य । भिक्खूणं-भिक्षुओं के । अट्ठाए-अर्थ-प्रयोजन के लिए । उग्गहं-अवग्रह की । उग्गिण्हस्सामि-याचना करूंगा और । अण्णेसिं-अन्य । भिक्खूणं-भिक्षुओं का । उग्गहे-अवग्रह । उग्गिहिए-अवग्रह की आज्ञा ग्रहण किए जाने पर । उवल्लिस्सामि-उसमें बसूंगा-निवास करूंगा । दुच्चा पडिमा-यह दूसरी प्रतिमा है । अहावरा-अथ अपर इससे आगे । तच्चा पडिमा-तीसरी प्रतिमा कहते हैं । णं-वाक्यालंकार में । जस्स-जिस भिक्षु का । एवं भवइ-इस प्रकार का अभिग्रह होता है । च खलु-पूर्ववत् ही है । अहं-मैं अन्य भिक्षुओं के लिए अवग्रह की । उग्गिण्हस्सामि-याचना करूंगा । च-और । अन्नेसिं-अन्य भिक्षुओं का । उग्गहे-अवग्रह । उग्गिहिए-याचना किए हुए में । नो उवल्लिस्सामि-नहीं बसूंगा अर्थात् निवास नहीं करूंगा । तच्चा पडिमा-यह तीसरी प्रतिमा है । ३ । अहावरा०-अथ अपर चतुर्थी प्रतिमा यह है । जस्स-जिस । भि०-भिक्षु का । एवं भवइ-इस प्रकार का अभिग्रह होता है । च खलु-पूर्ववत् । अहं-मैं । अन्नेसिं-अन्य । भिक्खूणं-भिक्षुओं के । अट्ठाए-लिए । उग्गहं-अवग्रह की । नो उग्गिण्हस्सामि-याचना नहीं करूंगा । अन्नेसिं-अन्य भिक्षुओं के । उग्गहे-अवग्रह की । उग्गिहिए-आज्ञा लिए जाने पर । उवल्लिस्सामि-उसमें निवास करूंगा । चउत्था पडिमा-यह चौथी प्रतिमा है । ४ । अहावरा-अथ अपर-इससे अन्य । पंचमा पडिमा-पांचवीं प्रतिमा कहते हैं । णं-वाक्यालंकार में । जस्स-जिस । भिक्खुस्स-भिक्षु का । एवं भवइ-इस प्रकार का अभिग्रह होता है । च खलु-पूर्ववत् । अहं-मैं । अप्पणो अट्ठाए-अपने वास्ते । उग्गहं च-अवग्रह की । उग्गिण्हस्सामि-याचना करूंगा । नो दुण्हं-दो के लिए नहीं । नो तिण्हं-तीन के लिए नहीं । नो चउण्हं-चार के लिए नहीं । नो पंचण्हं-पांच के लिए नहीं । पंचमा पडिमा-यह पांचवीं प्रतिमा है । अहावरा०-इससे अन्य । छट्ठा पडिमा-छठी प्रतिमा कहते हैं । से भि०-वह साधु अथवा साध्वी । जस्स एव उग्गहे-जिस उपाश्रय की आज्ञा लेकर । उवल्लिइज्जा-रहूंगा । जे तत्थ-जो वहां पर । अहासमन्नागए-समीप में ही । इक्कडे वा-तृण विशेष । जाव-यावत् । पलाले-पलाल । तस्स लाभे-उसके मिलने पर । संघसिज्जा-वसे, अर्थात् संस्तारक आदि करे । तस्स अलाभे-उसके न मिलने पर । उक्कुडुओ वा-उत्कुटुक-आसन अथवा । नेसज्जिओ वा-निषद्या आसन पर । विहरिज्जा-विचरे । छट्ठा पडिमा-यह छठी प्रतिमा है । अहावरा-अथ अपर- इससे अन्य । सत्तमा पडिमा-सातवीं प्रतिमा कहते हैं । जे भिक्खू-जो साधु या

साध्वी। अहासंधडमेव—जो पहले ही संस्तुत हो रहा है अर्थात् बिछा हुआ है। उगगहं जाइज्जा—उस अवग्रह की याचना करूंगा। तं—जैसे कि। पुढविसिलं वा—पृथ्वी शिला। कडुसिलं वा—काष्ठशिला अथवा। अहासंधडमेव—उस उपाश्रय में पलाल आदि पहले ही बिछा हो। तस्स लाभे संते—उसके लाभ होने पर उस पर आसन करे। तस्स—उसके। अलाभे—न मिलने पर। उं—उत्कुटुक आसन से अथवा। निं—निषद्यादि आसन पर। विहरिज्जा—विचरे। सत्तमा पडिमा—यह सातवीं प्रतिमा है। इच्चेयासिं—इन पूर्वोक्त। सत्तण्हं—सात। पडिमाणं—प्रतिमाओं में से साधु ने यदि। अन्नयरं—कोई एक प्रतिमा ग्रहण की हुई है तब वह अन्य साधुओं की निन्दा न करे। शेष वर्णन। जहा—जैसे। पिंडेसणाए—पिण्डेषणा अध्ययन में सात पिण्डेषणा प्रतिमाओं का वर्णन किया है उसी प्रकार जान लेना चाहिए।

**मूलार्थ**—संयमशील साधु या साध्वी धर्मशाला आदि में गृहस्थ और गृहस्थों के पुत्र आदि सम्बन्धी स्थान के दोषों को छोड़कर इन वक्ष्यमाण सात प्रतिमाओं के द्वारा अवग्रह की याचना करके वहां पर ठहरे।

१-धर्मशाला आदि स्थानों की परिस्थिति को विचार कर यावन्मात्र काल के लिए वहां के स्वामी की आज्ञा हो तावन्मात्र काल वहां ठहरूंगा, यह पहली प्रतिमा है।

२-मैं अन्य भिक्षुओं के लिए उपाश्रय की आज्ञा माँगूंगा और उनके लिए याचना किए गए उपाश्रय में ठहरूंगा, यह दूसरी प्रतिमा है।

३-कोई साधु इस प्रकार से अभिग्रह करता है कि मैं अन्य भिक्षुओं के लिए तो अवग्रह की याचना करूंगा, परन्तु उनके याचना किए गए स्थानों में नहीं ठहरूंगा। यह तीसरी प्रतिमा का स्वरूप है।

४-कोई साधु इस प्रकार से अभिग्रह करता है— मैं अन्य भिक्षुओं के लिए अवग्रह की याचना नहीं करूंगा, परन्तु उनके याचना किए हुए स्थानों में ठहरूंगा। यह चौथी प्रतिमा है।

५-कोई साधु यह अभिग्रह धारण करता है कि मैं केवल अपने लिए ही अवग्रह की याचना करूंगा, किन्तु अन्य दो, तीन, चार और पांच साधुओं के लिए याचना नहीं करूंगा। यह पांचवीं प्रतिमा है।

६-कोई साधु यह प्रतिज्ञा करता है कि मैं जिस स्थान की याचना करूंगा उस स्थान पर यदि तृण विशेष— संस्तारक आदि मिल जाएंगे तो उन पर आसन करूंगा, अन्यथा उक्कुटुक आसन आदि के द्वारा रात्रि व्यतीत करूंगा, यह छठी प्रतिमा है।

७-जिस स्थान की आज्ञा ली हो यदि उसी स्थान पर पृथ्वी शिला, काष्ठ शिला तथा पलाल आदि बिछा हुआ हो तब वहां आसन करूंगा, अन्यथा उत्कुटुक आदि आसन द्वारा रात्रि व्यतीत करूंगा, यह सातवीं प्रतिमा है।

इन सात प्रतिमाओं में से यदि कोई भी प्रतिमा साधु स्वीकार करे परन्तु वह अन्य साधुओं की निन्दा न करे। अभिमान एवं गर्व को छोड़कर अन्य साधुओं को समभाव से देखे। शेष वर्णन पिंडेषणा अध्ययनवत् जानना चाहिए।

**हिन्दी विवेचन**— प्रस्तुत सूत्र में अवग्रह से सम्बद्ध सात प्रतिमाओं का वर्णन किया गया है।

पहली प्रतिमा में बताया गया है कि साधु सूत्र में वर्णित विधि के अनुसार मकान की याचना करे और वह गृहस्थ जितने काल तक जितने क्षेत्र में ठहरने की आज्ञा दे तब तक उतने ही क्षेत्र में ठहरे। दूसरी प्रतिमा यह है कि मैं अन्य साधुओं के लिए मकान याचना करूंगा तथा उनके द्वारा याचना किए गए मकान में ठहरूंगा। तीसरी प्रतिमा में वह यह प्रतिज्ञा करता है कि मैं अन्य साधु के लिए मकान की याचना करूंगा, परन्तु दूसरे द्वारा याचना किए गए मकान में नहीं ठहरूंगा। चौथी प्रतिमा में वह दूसरे द्वारा याचना किए गए मकान में ठहर तो जाता है, परन्तु, अन्य के लिए याचना नहीं करता है। पांचवीं प्रतिमा में वह केवल अपने लिए ही मकान की याचना करता है, अन्य के लिए नहीं। छठी प्रतिमा में वह यह प्रतिज्ञा करता है कि जिस मकान में ठहरूंगा उसमें घास आदि रखा होगा तो ग्रहण करूंगा, अन्यथा उकड़ू आदि आसन करके रात व्यतीत करूंगा और सातवीं प्रतिमा में वह उन्हीं तख्त, शिलापट एवं घास आदि को काम में लेता है, जो पहले से मकान में बिछे हुए हों।

इसमें प्रथम प्रतिमा सामान्य साधुओं के लिए है। दूसरी प्रतिमा का अधिकारी मुनि गच्छ में रहने वाले साम्भोगिक एवं उत्कट संयम निष्ठ असाम्भोगिक साधुओं के साथ प्रेम भाव रखने वाला होता है। तीसरी प्रतिमा उन साधुओं के लिए है जो आचार्य आदि के पास रहकर अध्ययन करना चाहते हैं। चौथी प्रतिमा उनके लिए है, जो गच्छ में रहते हुए जिनकल्पी बनने का अभ्यास कर रहे हैं। पांचवीं, छठी और सातवीं प्रतिमा केवल जिनकल्पी मुनि से सम्बद्ध है। ये भेद वृत्तिकार ने किए हैं<sup>१</sup>। मूलपाठ में किसी कल्प के मुनि का संकेत नहीं किया गया है। वहां तो इतना ही उल्लेख किया गया है कि मुनि इन सात प्रतिमाओं को ग्रहण करते हैं, चाहे वे जिन कल्प पर्याय में हों या स्थविर कल्प पर्याय में हों। सामान्य रूप से प्रत्येक साधु अपनी शक्ति के अनुसार अभिग्रह ग्रहण कर सकता है। इसी कारण सूत्रकार ने यह उल्लेख किया है कि स्थान सम्बन्धी समस्त दोषों का त्याग करके साधु को अवग्रह की याचना करनी चाहिए।

पिण्डैषणा आदि अध्ययनों की तरह इसमें भी यह स्पष्ट कर दिया गया है कि अभिग्रह ग्रहण करने वाले मुनि को अन्य साधुओं को घृणा एवं तिरस्कार की दृष्टि से नहीं देखना चाहिए। परन्तु सब का सामान्य रूप से आदर करते हुए यह कहना चाहिए कि भगवान की आज्ञा के अनुरूप आचरण करने वाले सभी साधु मोक्ष मार्ग के पथिक हैं।

१ यहाँ पाठकों के अवलोकनार्थ वृत्ति का वह समग्र पाठ दिया जाता है— अथ भिक्षुः सप्तभिः प्रतिमाभिरभिग्रहविशेषैरवग्रहं गृहीयात्, तत्रेयं प्रथमा प्रतिमा, तद्यथा—स भिक्षुरागन्तागारादौ पूर्वमेव विचिन्त्यैवंभूतः प्रतिश्रयो मया ग्राह्यो, नान्यथाभूत इति प्रथमा। तथान्यस्य च भिक्षोरेवंभूतोऽभिग्रहो भवति, तद्यथा— अहं न खल्वन्येषां साधूनां कृतोऽवग्रहं 'ग्रहीष्यामि' याचिष्ये, अन्येषां चावग्रहे गृहीते सति 'उपालयिष्ये' वत्स्यामीति द्वितीया। प्रथमा प्रतिमा सामान्येन, इयं तु गच्छान्तर्गतानां साधूनां साम्भोगिकानामसाम्भोगिकानां चोद्युक्तविहारिणां, यतस्तेऽन्योऽन्यार्थं याचन्त इति। तृतीया त्वियं-अन्यार्थमवग्रहं याचिष्ये, अन्यावगृहीते तु न स्थास्यामीति, एषा त्वाहालन्दिकानां, यतस्ते सूत्रार्थविशेषमाचार्यादभिकांक्षन्त आचार्यार्थं याचन्ते। चतुर्थी पुनरहमन्येषां कृतोऽवग्रहं न याचिष्ये अन्यावगृहीते च वत्स्यामीति, इयं तु गच्छे एवाभ्युद्यतविहारीणां जिनकल्पाद्यर्थं परिकर्मं कुर्वताम्। अथापरापञ्चमी-अहमात्मकृतोऽवग्रहमवग्रहीष्यामि न चापरेषां द्वित्रिचतुष्यपञ्चानामिति, इयं तु जिनकल्पिकस्य। अथापरा षष्ठी-यदीयमवग्रहं ग्रहीष्यामि, इतरथोत्कुटुको वा निषण्णः उपविष्टो वा रजनीं गमिष्यामीत्ये जिनकल्पिकादेरिति। अथापरा सप्तमी-एषैव पूर्वोक्ता, नवरं यथासंस्तृतमेव शिलादिकं ग्रहीष्यामि नेतरदिति शेषमात्मोत्कर्षवर्जनादि पिण्डैषणावन्नेयमिति ॥

— आचारांग वृत्ति।

अब अवग्रह के भेदों का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं-

**मूलम्-** सुयं मे आउसंतेणं भगवया एवमक्खायं-इह खलु थेरिहिं भगवंतेहिं पंचविहे उग्गहे पन्तते, तंजहा-देविंदउग्गहे १ रायउग्गहे २ गाहावइउग्गहे ३ सागारियउग्गहे ४ साहम्मियउग्गहे ५ एवं खलु तस्स भिक्खुस्स भिक्खुणीए वा सामग्गियं ॥१६२॥ उग्गहपडिमा सम्पत्ता ॥

**छाया-** श्रुतं मया आयुष्मन् ! तेन भगवता एवमाख्यातं इह खलु स्थविरैः भगवद्भिः पंचविधः अवग्रहः प्रज्ञप्तः तद्यथा-देवेन्द्रावग्रहः १ राजावग्रहः २ गृहपति-अवग्रहः ३ सागारिकावग्रहः ४ साधर्मिकावग्रहः ५ एवं खलु तस्य भिक्षोः भिक्षुक्याः वा सामग्र्यम् ॥ अवग्रहप्रतिमा समाप्ता ।

**पदार्थ-** आउसं-हे आयुष्मन्-प्रिय शिष्य! मे-मैंने। सुयं-सुना है। तेणं भगवया-उस भगवान ने। खलु-निश्चय ही। इह-इस जिन प्रवचन में। थेरिहिं भगवंतेहिं-स्थविर भगवन्तों अर्थात् पूज्य स्थविरों ने-गणधरों ने। पंचविहे-पांच प्रकार का। उग्गहे-अवग्रह। पन्तते-प्रतिपादन किया है। तंजहा-जैसे कि। देविंदउग्गहे<sup>१</sup>-देवेन्द्र का अवग्रह। १-रायउग्गहे २-राजा का अवग्रह २। गाहावइउग्गहे ३-गृहपति का अवग्रह। सागारियउग्गहे ४-सागारिक का अवग्रह ४। साहम्मियउग्गहे ५-साधर्मिक का अवग्रह ५। एवं खलु-इस प्रकार निश्चय ही। तस्स-उस। भिक्खुस्स-भिक्षु का साधु का। वा-अथवा। भिक्खुणीए-भिक्षुकी साध्वी का-आर्या का यह। सामग्गियं-समग्र आचार है। उग्गहपडिमा सम्पत्ता-यह अवग्रह प्रतिमा समाप्त हुई।

**मूलार्थ-** हे आयुष्मन्-शिष्य ! मैंने भगवान से इस प्रकार सुना है कि इस जिन प्रवचन में पूज्य स्थविरों ने पांच प्रकार का अवग्रह प्रतिपादन किया है १-देवेन्द्र अवग्रह, २-राज अवग्रह, ३-गृहपति अवग्रह, ४-सागारिक अवग्रह और ५-साधर्मिक अवग्रह<sup>१</sup>। इस प्रकार यह साधु और साध्वी का समग्र-संपूर्ण आचार वर्णन किया गया है।

**हिन्दी विवेचन-** प्रस्तुत सूत्र में पांच प्रकार के अवग्रह का वर्णन किया गया है- १-देवेन्द्र अवग्रह, २-राज अवग्रह, ३-गृहपति अवग्रह, ४-सागारिक अवग्रह और ५-साधर्मिक अवग्रह। दक्षिण भरत क्षेत्र में विचरने वाले मुनियों को प्रथम देवलोक के सुधर्मन्द्र की आज्ञा ग्रहण करना देवेन्द्र अवग्रह कहलाता है। इससे यह स्पष्ट कर दिया गया है कि तिर्यक् लोक पर भी देवों का आधिपत्य है। आगम में बताया गया है कि साधु जंगल में या अन्य स्थान में जहां कोई व्यक्ति न हो, देवेन्द्र की आज्ञा लेकर तृण,

१ उग्गहेत्ति-अवगृह्यते स्वामिना स्वीक्रियते यः सोऽवग्रहः। देविंदोग्गहेत्ति देवेन्द्रः-शक्र ईशानो वा तस्यावग्रहो-दक्षिणं लोकार्धमुत्तरंवेति देवेन्द्रावग्रहः। राओग्गहेत्ति-राजा-चक्रवर्ती तस्यावग्रहः षड्खण्डभरतादि क्षेत्रं राजावग्रहः। गाहावइउग्गहेत्ति-गृहपतिः-सागारियउग्गहेत्ति-सहागारेण गेहेन वर्तते इति सागारः स एव सागारिकस्तस्यावग्रहो गृहमेवेति सागारिका वग्रहः। साहम्मियउग्गहेत्ति समानेनधर्मेण चरन्तीति साधर्मिका साध्यपेक्षया साधव एव तेषामवग्रहः तदाभाष्यं पञ्चक्रोशपरिमाणं क्षेत्रमृतुब्द्धे मासमेकं वर्षासु चतुरो मासान् यावदिति साधर्मिकावग्रहः।

- भगवती सूत्र, श० १६, उ० २ वृत्ति (आचार्य अभयदेव सूरि।)

काष्ठ आदि ग्रहण कर सकता है<sup>२</sup>। आज भी साधु बाहर शौच के लिए बैठते समय या विहार के समय में रास्ते में किसी वृक्ष के नीचे विश्राम करना हो तो देवेन्द्र (शक्रेन्द्र) की आज्ञा लेकर बैठते हैं। इस तरह साधु कोई भी वस्तु बिना आज्ञा के ग्रहण नहीं करते।

भरत क्षेत्र के ६ खण्डों पर चक्रवर्ती का शासन होता है। अतः उसकी आज्ञा से उन देशों में विचरना यह राज अवग्रह कहलाता है और उस युग में देश अनेक भागों में विभक्त था, जैसे आज भारत कई प्रान्तों में बंटा हुआ है, परन्तु, इस समय सब प्रान्त केन्द्र से सम्बद्ध होने से वह अखण्ड कहलाता है। परन्तु, उस समय उन विभागों के स्वतन्त्र शासक थे, अतः उन विभिन्न देशों में विचरते समय उनकी आज्ञा लेना गृहपति अवग्रह कहलाता है।

जिस व्यक्ति के मकान में ठहरना हो उसकी आज्ञा ग्रहण करना सागारिक अवग्रह कहलाता है। आगार का अर्थ है-घर, अतः अपने घर या मकान पर आधिपत्य रखने वाले को सागारिय कहते हैं। और इसे शय्यातर अवग्रह भी कहते हैं। क्योंकि, साधु जिससे मकान की आज्ञा ग्रहण करता है, उसे आगमिक भाषा में शय्यातर कहते हैं।

जिस मकान में पहले से साधु ठहरे हों तो साधु उनकी आज्ञा से ठहर जाता है, यह साधर्मिक अवग्रह है। अपने साम्भौगिक साधुओं की किसी वस्तु को ग्रहण करना हो तो भी साधु को उनकी आज्ञा लेकर ही ग्रहण करना चाहिए। इस तरह साधु को बिना आज्ञा के सामान्य एवं विशेष कोई भी पदार्थ ग्रहण करना नहीं कल्पता है।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'थेरेहिं भंगवंतेहिं' पद में भगवान को ज्ञान स्वरूप मानकर उनके लिए स्थविर शब्द का प्रयोग किया गया है, जो सर्वथा उपयुक्त है। और 'सामगियं' शब्द से साधु के समग्र आचार की ओर निर्देश किया गया है।

'त्तिबेमि' की व्याख्या पूर्ववत् समझें।

॥ द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

॥ सप्तम अध्ययन समाप्त ॥ ( प्रथम चूला समाप्त )

॥ सप्तसप्तिकाख्या द्वितीय चूला- स्थान सप्तिका ॥

## अष्टम अध्ययन

### ( उपाश्रय में कायोत्सर्ग कैसे करना )

यह हम पहले देख चुके हैं कि आचाराङ्ग सूत्र का द्वितीय श्रुतस्कन्ध चार चूलाओं में विभक्त है। पहली चूला और दूसरी चूला सात-सात अध्ययनों में विभक्त है और तीसरी और चौथी चूला में एक-एक अध्ययन है। प्रथम चूला के सातों अध्ययन विभिन्न विषयों एवं उद्देश्यों में विभक्त थे। परन्तु, द्वितीय चूला के सातों अध्ययन उद्देश्यों में विभक्त नहीं हैं, सबका विषय एक ही प्रवाह में गतिमान है। प्रथम चूला के अन्तिम अध्ययन (७वें अध्ययन) में अभिव्यक्त अवग्रहों से याचना किए गए स्थान में साधु को किस तरह से कायोत्सर्ग आदि क्रियाएं करनी चाहिएं इसका वर्णन द्वितीय चूला में किया गया है। द्वितीय चूला के सातों अध्ययनों का सम्बन्ध अवग्रह के द्वारा ग्रहण किए गए स्थानों में साधना करने की विधि से है, इस लिए इसका नाम 'सप्तसप्तिकाख्या चूला' रखा गया है। इसके प्रथम अध्ययन में साधु को उपाश्रय में कायोत्सर्ग आदि किस प्रकार करना चाहिए, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं-

मूलम्- से भिक्खू वा० अभिकंखेज्जा ठाणं ठाइत्तए, से अणुपविसिज्जा गामं वा जाव रायहाणिं वा, से जं पुण ठाणं जाणिज्जा-सअंडं जाव मक्कडासंता-णयं तं तह० ठाणं अफासुयं अणेस० लाभे संते नो प०, एवं सिज्जागमेण नेयव्वं जाव उदयपसूयाइंति ॥ इच्चेयाइं आयतणाइं उवाइकम्म २ अह भिक्खू इच्छिज्जा चउहिं पडिमाहिं ठाणं ठाइत्तए, तत्थिमा पढमा पडिमा- अचित्तं खलु उवसज्जिज्जा अवलंबिज्जा काएण विप्परिकम्माइ नो सवियारं ठाणं ठाइस्सामि पढमा पडिमा ॥

अहावरा दुच्चा पडिमा-अचित्तं खलु उवसज्जिज्जा अवलंबिज्जा काएण विप्परिकम्माइ नो सवियारं ठाणं ठाइस्सामि दुच्चा पडिमा ॥

अहावरा तच्चा पडिमा- अचित्तं खलु उवसज्जेजा अवलंबिज्जा नो काएण विप्परिकम्माइ नो सवियारं ठाणं ठाइस्सामि तच्चा पडिमा ॥

अहावरा चउत्था पडिमा-अचित्तं खलु उवसज्जेज्जा नो अवलंबिज्जा काएण नो परकम्माइ नो सवियारं ठाणं ठाइस्सामि विसट्ठकाए विसट्ठकेस-मंसुलोमनहे संनिरुद्धं वा ठाणं ठाइस्सामि चउत्था पडिमा ॥ इच्चेयासिं चउण्हं

पडिमाणं जाव पंग्गहियतरायं विहरिजा, नो किंचिवि वइज्जा, एयं खलु तस्स जाव तस्स० जाव जइज्जासि त्तिबेमि ॥१६३॥

छाया— स भिक्षुर्वा० अभिकांक्षेत् स्थानं स्थातुं स अनुप्रविशेद् ग्रामं वा यावत् राजधानीं वा, स यत् पुनः स्थानं जानीयात्-साण्डं यावत् मर्कटासन्तानकं तत् तथाप्रकारं स्थानमप्रासुकमणेषणीयं लाभेसति नो प्रतिगृह्णीयात्। एवं शय्यागमेन नेतव्यम्, यावत् उदकप्रसृतानि, इति, इत्येतानि आयतनानि उपातिक्रम्य २ अथ भिक्षुः इच्छेत् चतसृभिः प्रतिमाभिः स्थानं स्थातुम्, तत्र, इयं प्रथमा प्रतिमा-अचित्तं खलु उपाश्रयिष्यामि अवलम्बयिष्ये कायेन विपरिक्रमिष्यामि सविचारं स्थानं स्थास्यामि प्रथमा प्रतिमा ॥१॥ अथापरा द्वितीया प्रतिमा-अचित्तं खलु उपाश्रयिष्यामि अवलम्बयिष्ये कायेन विपरिक्रमिष्यामि नो सविचारं स्थानं स्थास्यामि द्वितीया प्रतिमा ॥२॥ अथापरा तृतीया प्रतिमा-अचित्तं खलु उपाश्रयिष्यामि अवलम्बयिष्ये नो कायेन विपरिक्रमिष्यामि नो सविचारं स्थानं स्थास्यामीति तृतीया प्रतिमा ॥३॥ अथापरा चतुर्थी प्रतिमा-अचित्तं खलु उपाश्रयिष्यामि नो अवलम्बयिष्ये कायेन नो परिक्रमिष्यामि नो सविचारं स्थानं स्थास्यामीति व्युत्सृष्टकायः व्युत्सृष्टकेशश्मश्रुलोमनखः संनिरुद्धं वा स्थानं स्थास्यामीति चतुर्थी प्रतिमा ॥४॥ इत्येतासां चतसृणा प्रतिमानां यावत् प्रगृहीतान्यतरां विहरेत् नो किंचिदपि वदेत्। एतत् खलु तस्य यावद् तस्य० यावत् यतेत, इति ब्रवीमि। स्थानसप्तैककः समाप्तः।

पदार्थ— से भिक्खू वा-वह साधु अथवा साध्वी यदि। ठाणं-स्थान में। ठाइत्तए-स्थित होना। अभिकंखेज्जा-चाहे, तो। से-वह भिक्षु। गामं वा-ग्राम में, नगर में। जाव-यावत्। रायहाणिं वा-राजधानी में। अणुपविसिज्जा-प्रवेश करे और वहां प्रवेश करके। से जं पुण०-वह जो फिर। ठाणं-स्थान को। जाणिज्जा-जाने-अर्थात् स्थान का अन्वेषण करे। सअंडं-जो स्थान अण्डादि से। जाव-यावत्। मक्कडासन्ताणयं-मकड़ी आदि के जाले से युक्त हैं। तं-उस। तह०-तथाप्रकार के। ठाणं-स्थान को। अफासुयं-अप्रासुक तथा। अणेस०-अनेषणीय जानकर। लाभे संते-मिलने पर भी। नो प०-ग्रहण न करे अर्थात् ऐसे स्थान में न ठहरे। एवं-इसी प्रकार अन्य सूत्र भी। सिज्जागमेण-शय्या अध्ययन के समान जान लेना। जाव-यावत्। उदयपसूयाइंति-उदकप्रसृत कन्दादि, अर्थात् जिस स्थान में कन्दादि विद्यमान हों उसे भी ग्रहण न करे। इच्छेयाइं-ये पूर्वोक्त तथा वक्ष्यमाण जो। आयतणाइं-कर्मोपादान रूप दोष स्थान हैं इनको। उवाइक्कम्म-छोड़कर अर्थात् इनका उल्लंघन करके। अह-अथ तदनन्तर। भिक्खू-भिक्षु-साधु। चउहिं पडिमाहिं-वक्ष्यमाण-आगे कही जाने वाली चार प्रतिमाओं के अनुसार। ठाणं-स्थान में। ठाइत्तए-ठहरने की। इच्छिज्जा-इच्छा करे। तत्थ-उनमें से। इमा-यह। पढमा-पहली। पडिमा-प्रतिमा है; यथा। खलु-निश्चयार्थक है। अचित्तं-अचित्त स्थानक में। उवसज्जिज्जा-आश्रय लूंगा और। अवलंबिज्जा-अचित्त भीत आदि का सहारा लूंगा। काएण-काया से। विप्परिकम्माइ-हाथ-पैर आदि का संकोचन प्रसारण करूंगा तथा। सविचारं-थोड़ा सा पाद आदि का संप्रसारण-मर्यादित भूमि से बाहर पैरों को थोड़ा सा भी नहीं फैलाऊंगा इस प्रकार। ठाणं-खड़े होकर। ठाइस्सामि-ठहरूंगा-अर्थात् मर्यादित भूमि में ही हाथ



आदि का संचालन एवं बैठने, उठने तथा खड़े होने आदि की क्रियाएं करूंगा। पट्टमा पडिमा—यह पहली प्रतिमा का स्वरूप है। अहावरा—इसके अतिरिक्त अन्य। दुच्या पडिमा—दूसरी प्रतिमा के सम्बन्ध में कहते हैं। अचित्तं खलु—अचित्त स्थान में। उवसज्जेजा—आश्रय लूंगा और। अवलंबिज्जा—भीत आदि का अवलम्बन करूंगा तथा। काएण—काया से। विपरिकम्माइ—हाथ-पैर आदि का संकोचन प्रसारण करूंगा किन्तु। नो विचारं—पैरों से संक्रमणादि नहीं करूंगा अर्थात् भ्रमण नहीं करूंगा, इस प्रकार। ठाणं ठाइस्सामि—स्थान में ठहरूंगा या खड़ा रहूंगा। दुच्या पडिमा—यह दूसरी प्रतिमा का स्वरूप है। अहावरा—अब इससे भिन्न। तच्चा पडिमा—तीसरी प्रतिमा यह है। खलु—पूर्ववत्। अचित्तं—अचित्त स्थान का। उवसज्जेजा—आश्रय लूंगा और। अवलंबिज्जा—अचित्त भीत आदि का सहारा लूंगा किन्तु। काएण—काया से। नो विपरिकम्माइ—संकोचन प्रसारण आदि क्रियाएं नहीं करूंगा। नो सवियारं—न पैर आदि से भूमि का संक्रमण करूंगा, इस प्रकार। ठाणं ठाइस्सामि—स्थान में ठहरूंगा। इति—यह। तच्चा पडिमा—तीसरी प्रतिमा कही है। अहावरा चउत्थी पडिमा—अब चौथी प्रतिमा कहते हैं। अचित्तं खलु—अचित्त स्थान पर। उवसज्जेजा—खड़े होकर कायोत्सर्गादि करूंगा। नो अवलंबिज्जा—अचित्त भीत आदि का आश्रय नहीं लूंगा। नो काएण विपरिकम्माइ—काया से संकोचन प्रसारण नहीं करूंगा और। नो सिवियारं—न हाथ-पैर आदि को हिलाऊंगा। इति—इस प्रकार। ठाणं—स्थान पर। ठाइस्सामि—ठहरूंगा तथा। वोसट्ठकाये—कुछ काल के लिए काया के ममत्व भाव को त्याग कर और। वोसट्ठकेसमंसुलोमनहे—केश, दाढ़ी, मूँछ, रोम, नख के ममत्व भाव को छोड़ कर। वा—अथवा। संनिरुद्धं—सम्यक् प्रकार से काया का निरोध करके। इति—इस प्रकार। ठाणं ठाइस्सामि—स्थान में ठहरूंगा अर्थात् यदि कोई केशादि का भी उत्पाटन करे तो भी ध्यान से विचलित नहीं होऊंगा। चउत्था पडिमा—यह चौथी प्रतिमा का स्वरूप है। इच्च्वेयासिं—इन पूर्वोक्त। चउपहं पडिमाणं—चार प्रतिमाओं। जाव—यावत् में से। पग्गहियतरायं—किसी एक प्रतिमा को ग्रहण करके। विहरिज्जा—विचरे किन्तु। नो किंचिवि वइज्जा—अन्य किसी मुनि की—जिसने प्रतिमा ग्रहण नहीं की—न तो निन्दा करे और न उनके विषय में कुछ कहे। वह यह न सोचे कि मैंने उत्कृष्ट भाव से अमुक प्रतिमा ग्रहण की है अतः मैं उत्कृष्ट वृत्ति वाला हूँ और ये मुनि—जिन्होंने प्रतिमा धारण नहीं की शिथिलाचारी हैं इस प्रकार न कहे। एयं खलु—निश्चय ही यह। तस्स—उस भिक्षु का समग्राचार-सम्पूर्ण आचार है। जाव—यावत्। जइज्जासि—इस का पालन करने में यत्न करे। त्तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूँ। ठाणसत्तिक्कयं सम्मत्तं—पहला स्थान सप्तक समाप्त हुआ।

**मूलार्थ—**किसी गांव या शहर में ठहरने का इच्छुक साधु-साध्वी पहले ग्रामादि में जाकर उस स्थान को देखे, जो स्थान मकड़ी आदि के जालों से या अण्डे आदि से युक्त हो उसके मिलने पर भी उसे अप्रासुक और अनेषणीय जानकर ग्रहण न करे। शेष वर्णन शय्या अध्ययन के समान जानना चाहिए।

साधु को स्थान के दोषों को छोड़ कर स्थान की गवेषणा करनी चाहिए और उसे उक्त स्थान पर चार प्रतिमाओं के द्वारा बैठे-बैठे या खड़े होकर कायोत्सर्गादि क्रियाएं करनी चाहिए। १- मैं अपने कायोत्सर्ग के समय अचित्त स्थान में रहूंगा, और अचित्त भीत आदि का सहारा लूंगा, तथा हस्त पादादि का संकोचन प्रसारण भी करूंगा एवं स्तोक मात्र, पादादि से-मर्यादित भूमि में भ्रमण भी करूंगा।

२-मैं कायोत्सर्ग के समय अचित्त स्थान में ठहरूंगा, अचित्त भीत आदि का आश्रय भी लूंगा, तथा हस्त पाद आदि का संकोचन प्रसारण भी करूंगा, किन्तु पादों से भ्रमण नहीं करूंगा।

३-मैं कायोत्सर्ग के समय अचित्त स्थान में रहूंगा, अचित्त भीत आदि का सहारा भी लूंगा, परन्तु हस्तपादादि का संकोच प्रसारण एवं पादों से भ्रमण नहीं करूंगा।

४-मैं कायोत्सर्ग के समय अचित्त स्थान में ठहरूंगा, परन्तु भीत आदि का अवलम्बन नहीं लूंगा तथा हस्त-पाद आदि का संचालन और पादों से भ्रमण आदि कार्य भी नहीं करूंगा, परन्तु एक स्थान में स्थित होकर कायोत्सर्ग के द्वारा शरीर का सम्यक्तया निरोध करूंगा और परिमित काल के लिए शरीर के ममत्व का परित्याग कर चुका हूँ अतः उक्त समय में यदि कोई मेरे केश, श्मश्रू और नख आदि का उत्पाटन करेगा तब भी मैं अपने ध्यान को नहीं तोड़ूंगा।

इन पूर्वोक्त चार प्रतिमाओं में से किसी एक प्रतिमा का धारक साधु अन्य किसी भी साधु की-जो प्रतिमा का धारक नहीं-अहंकार में आकर अवहेलना न करे किन्तु सब में समान भाव रखता हुआ विद्ये। यही संयमशील साधु का समग्र आचार है, इस प्रकार मैं कहता हूँ।

**हिन्दी विवेचन-** प्रस्तुत सूत्र में कायोत्सर्ग की विधि का उल्लेख किया गया है स्थान के संबन्ध में पूर्व में बताई गई विधि को फिर से दोहराया गया है कि साधु को अण्डे एवं जालों आदि से रहित निर्दोष स्थान में ठहरना चाहिए और उसके साथ कायोत्सर्ग के चार अभिग्रहों का भी वर्णन किया गया है।

यह स्पष्ट है कि साधु की साधना मन, वचन और काया योग का सर्वथा निरोध करने के लिए है। परन्तु, यह कार्य इतना सुगम नहीं है कि साधु शीघ्रता से इसे साध सके। अतः उस स्थिति तक पहुंचने के लिए कायोत्सर्ग एक महत्वपूर्ण साधन है। इसके द्वारा साधक सीमित समय के लिए अपने योगों को रोकने का प्रयास करता है। इसमें भी सभी साधकों की शक्ति का ध्यान रखा गया है, जिससे प्रत्येक साधक सुगमता के साथ अपने लक्ष्य स्थान तक पहुंचने में सफल हो सके। इसके लिए कायोत्सर्ग करने वाले साधकों के लिए चार अभिग्रह बताए गए हैं।

पहले अभिग्रह में साधक अचित्त भूमि पर खड़ा होकर कायोत्सर्ग करता है, आवश्यकता पड़ने पर वह अचित्त दीवार का सहारा भी ले सकता है, हाथ-पैर आदि का संकुचन एवं प्रसारण भी कर सकता है और थोड़ी देर के लिए कुछ कदम चल भी सकता है।

दूसरे अभिग्रह में साधक कुछ आगे बढ़ता है। अचित्त भूमि पर खड़ा हुआ साधक आवश्यकता पड़ने पर अचित्त दीवार का सहारा ले लेता है, हाथ-पैर आदि का संकुचन-प्रसारण भी कर लेता है, परन्तु वह अपने स्थान से क्षण मात्र के लिए भी चलता नहीं है। वह अपनी शारीरिक गति को रोक लेता है।

तीसरे अभिग्रह में वह अपनी साधना में थोड़ा सा और विकास करता है। अब वह हाथ-पैर आदि के संकुचन-प्रसारण आदि को रोक कर स्थिर मन से खड़े रहने का प्रयत्न करता है और आवश्यकता पड़ने पर केवल अचित्त दीवार का सहारा लेता है।

चौथे अभिग्रह में साधक अपनी कायोत्सर्ग साधना की चरम-सीमा पर पहुंच जाता है। वह सीमित काल के लिए बिना किसी सहारे के एवं बिना हाथ-पैर आदि का संचालन किए अचित्त भूमि पर स्थिर मन से खड़ा रहता है। वह इस क्रिया के समय अपने शरीर से सर्वथा ममत्व हटा लेता है। यदि कोई डंस-मंस उसे काटता है या कोई अज्ञानी व्यक्ति उसके बाल, दाढ़ी, नख आदि उखाड़ता है या उसे किसी तरह का कष्ट देता है, तब भी वह अपने कायोत्सर्ग से, आत्म चिन्तन से विचलित नहीं होता है। उस समय उसके योग आत्म-चिन्तन में इतने संलग्न हो जाते हैं कि उसे अपने शरीर पर होने वाली क्रियाओं का पता भी नहीं चलता है। वह उस समय अपने ध्यान को, चिन्तन को, अध्यवसाय को बाहर से हटा कर आत्मा के अन्दर केन्द्रित कर लेता है। अतः उस समय उसकी समस्त साधना आत्म-हित के लिए होती है और निश्चय दृष्टि से उतने समय के लिए वह एक तरह से संसार से मुक्त होकर आत्म सुखों में रमण करने लगता है और अनन्त आत्म आनन्द का अनुभव करने लगता है।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'संनिरुद्ध' और 'वोसट्टुकाए' दो पद योग साधना के मूल हैं, जिनके आधार पर उत्तर काल में अनेक योग ग्रन्थों का निर्माण हुआ है।

'त्तिबेमि' की व्याख्या पूर्ववत् समझनी चाहिए।

॥ अष्टम अध्ययन समाप्त ॥

## नवम अध्ययन ( स्वाध्याय-भूमि )

अष्टम अध्ययन में कायोत्सर्ग का वर्णन किया गया, और प्रस्तुत अध्ययन में स्वाध्याय पर विचार अभिव्यक्त किए गए हैं। इसी कारण प्रस्तुत अध्ययन का निषीधिका नाम रखा गया है। मूल पाठ में 'निसीहियं' शब्द का प्रयोग किया गया है, संस्कृत में इसके "निषीधिका और निशीधिका" दोनों रूप बनते हैं। आचारांग वृत्ति के संपादक ने इस बात को नोट में स्पष्ट कर दिया है<sup>१</sup>। परन्तु, निषीधिका पद अधिक प्रसिद्ध होने के कारण यह अध्ययन 'निषीधिका' के नाम से ही प्रसिद्ध है। अतः इस अध्ययन में स्वाध्याय भूमि कैसी होनी चाहिए तथा साधक को किस तरह से स्वाध्याय में संलग्न रहना चाहिए, इसे स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं-

मूलम्- से भिक्खू वा० अभिकं० निसीहियं फासुयं गमणाए, से पुण निसीहियं जाणिज्जा-सअंडं तह० अफा० नो चेइस्सामि । से भिक्खू० अभिकंखेज्जा निसीहियं गमणाए, से पुण नि०अप्पपाणं अप्पबीयं जाव संताणयं तह० निसीहियं फासुयं चेइस्सामि, एवं सिज्जागमेणं नेयव्वं जाव उदयप्पसूयाइं । जे तत्थ दुवग्गा तिवग्गा चउवग्गा पंचवग्गा वा अभिसंधारिंति निसीहियं गमणाए ते नो अन्नमन्नस्स कायं आलिंगिज्ज वा विलिंगिज्ज वा चुंबिज्ज वा दंतेहिं वा नहेहिं वा अच्छिदिज्ज वा वुच्छिं०, एवं खलु० जं सव्वट्ठेहिं सहिए समिए सया जएज्जा, सेयमिणं मन्निज्जासि तिबेमि ॥१६४॥

छाया- स भिक्षुर्वा० अभिकां० निषीधिकां प्रासुकां गन्तुं [ गमनाय ] सः पुनः निषीधिकां जानीयात्-साण्डां तथा० अप्रा० नो चेतयिष्यामि स भि० अभिकां० निषीधिकां गन्तुं ( गमनाय ) स पुनः ) नि० अल्पप्राणां अल्पबीजां यावत् ससन्तानकां तथा० निषीधिकां प्रासुकां चेतयिष्यामि । एवं शय्यागमेन नेतव्यं यावत् उदकप्रसूतानि ॥ ये तत्र द्विवर्गाः त्रिवर्गाः चतुर्वर्गाः पञ्चवर्गाः वा अभिसन्धारयन्ति निषीधिकां गन्तुं ( गमनाय ) ते नो अन्योऽन्यस्य कायमालिंगेयुः वा लिंगेयुः वा चुम्बेयुः वा दन्तैर्वा नखैर्वा आच्छिन्देयुः वा व्युच्छिन्देयुः वा एवं तत् खलु तस्य भिक्षोः २ सामग्र्यं यत् सर्वार्थैः सहितः समितः सदा यतेत श्रेयं इदं मन्येत । इति ब्रवीमि ।

पदार्थ- से भिक्खू वा २-वह साधु अथवा साध्वी । निसीहियं-स्वाध्याय करने के लिए उपाश्रय

१ निशीधनिषीधयोः प्राकृते एकेन निशीहशब्देन वाच्यत्वात् एवं निक्षेपवर्णनं, तथा च निषीधिका निशीधिकेत्युभयमपि संप्रतमभिधानयोः ।  
- आचारांग वृत्ति ( टिप्पणी )

से अतिरिक्त। फासुर्यं-प्रासुक भूमि में। गमणाए-जाने की। अभकंखे-इच्छा रखता हो तो। से-वह-भिक्षु। पुण-फिर। निसीहियं-स्वाध्याय भूमि के सम्बन्ध में। जाणिज्जा-जाने। सअंडं-जो भूमि अण्डादि से युक्त है तो। तहं-तथाप्रकार की भूमि को। अफासुर्यं-अप्रासुक और अनेषणीय। लाभे संते-मिलने पर। नो चेइस्सामि-गृहस्थ से कहे कि मैं इस प्रकार की भूमि में नहीं ठहरूंगा।

से भिक्खू- वह साधु या साध्वी। निसीहियं-स्वाध्याय भूमि में। गमणाए-जाने की। अभिकंखेज्जा-इच्छा करे तो। से-वह। पुण-फिर। नि-स्वाध्याय भूमि के सम्बन्ध में यह जाने कि। अप्पपाणां-जहां पर द्वीन्द्रियादि प्राणी नहीं हैं। अप्पबीर्यं-जहां पर बीजादि नहीं हैं। जाव-यावत्। संताणयं-जाले आदि नहीं हैं। तहं-तथाप्रकार की। निसीहियं-स्वाध्याय भूमि। फासुर्यं-प्रासुक और एषणीय मिलने पर। चेइस्सामि-ठहरूंगा, इस प्रकार कहे अर्थात् वहां ठहर कर स्वाध्याय करे। एवं-इस प्रकार। सिज्जागमेणं-शय्या अध्ययन के अनुसार। नेयव्वं-जान लेना चाहिए। जाव-यावत्। उदयप्पसूयाइं-उदक प्रसृत कन्दादि जहां पर हों वहां न रहे।

अब सूत्रकार-जो साधु वहां पर स्वाध्याय करने के लिए गए हुए हैं उनके विषय में कहते हैं- जे-जो। तत्थ-वहां पर। दुवग्गा-दो साधु। तिवग्गा-तीन साधु। चउवग्गा-चार साधु। पंचवग्गा-अथवा पांच साधु। अभिसंधारिंति-सन्मुख हों। निसीहियं-स्वाध्याय भूमि में। गमणाए-जाने के लिए तैयार हों या वहां चले जाएं फिर। ते-वे साधु। अन्नमन्नस्स-परस्पर एक-दूसरे के। कायं-शरीर को। नो आलिंगिज्ज वा-आलिंगन न करें अथवा। विलिंगिज्ज वा-जिस से मोह का उदय होता हो इस प्रकार का आलिंगन न करें तथा। चुंबिज्ज वा-मुख चुम्बन न करे अथवा। दंतेहिं वा-दांतों से। नेहेहिं वा-नखों से। अच्छिदिज्ज वा-शरीर को परस्पर छेदन न करें। वुच्छिं-जिससे विशेष मोहानल प्रदीप्त हो इस प्रकार की पारस्परिक कुचेष्टा न करें। एवं खलु-इस प्रकार निश्चय ही। तस्स-उस। भिक्खुस्स-भिक्षु का समग्र आचार है। जाव-यावत्। जं-जो कि। संव्वट्ठेहिं-सर्व अर्थों से। सहिए-सहित है। समिए-पांच समितियों से युक्त है, इस में। सया-सदा संयम पालन करने में। जाएज्जा-यत्नशील हो तथा। सेयमिणं-इस आचार का पालन करना श्रेय है-कल्याण रूप है इस प्रकार। मन्निज्जासि-माने। तिबेमि-इस प्रकार मैं कहता हूं। निसीहिया सत्तिक्कयं-निषीधिका अध्ययन समाप्त हुआ।

मूलार्थ-जो साधु या साध्वी प्रासुक अर्थात् निर्दोष स्वाध्याय भूमि में जाना चाहे तब वह स्वाध्याय भूमि को देखे और स्वाध्याय भूमि अण्डे आदि से युक्त हो तो इस प्रकार की अप्रासुक, अनेषणीय स्वाध्याय भूमि को जान कर कहे कि मैं इसमें नहीं ठहरूंगा। यदि स्वाध्याय भूमि में प्राणी, बीज यावत् जाला आदि नहीं है तो उसे प्रासुक एवं एषणीय जान कर कहे कि मैं यहां पर ठहरूंगा। शेष वर्णन शय्या अध्ययन के अनुसार जानना चाहिए। जैसे जहां पर उदक से उत्पन्न हुए कन्दादिक हों वहां पर भी न ठहरे।

उस स्वाध्याय भूमि में गए हुए दो, तीन, चार, पांच साधु परस्पर शरीर का आलिंगन न करें, न विशेष रूप से शरीर का आलिंगन करें, न मुख चुम्बन करें, दान्तों से या नखों से शरीर का छेदन भी न करें, और जिस क्रिया या चेष्टा से मोह उत्पन्न होता हो इस तरह की क्रियाएं भी न करें। यही साधु और साध्वी का समग्र आचार है। जो साधु साधना के यथार्थ स्वरूप को जानता है, पांच समितियों से युक्त है और इस का पालन करने में सदा प्रयत्नशील है, वह यह माने कि इस आचार का पालन करना ही मेरे लिए कल्याण प्रद है। इस प्रकार मैं कहता हूं।

**हिन्दी विवेचन**—प्रस्तुत सूत्र में स्वाध्याय के स्थान एवं स्वाध्याय के समय चित्तवृत्ति को संयत रखने का वर्णन किया गया है। यह हम देख चुके हैं कि आत्मा को सर्व बन्धनों से मुक्त करने के लिए कायोत्सर्ग एक महान् साधन है। परन्तु, उस साधन को स्वीकार करने के लिए आत्मा एवं शरीर के स्वरूप तथा सम्बन्ध को जानना भी आवश्यक है और उसके लिए सर्वोत्तम साधन स्वाध्याय है। स्वाध्याय शब्द स्व+अध्याय के संयोग से बना है। स्व का अर्थ आत्मा और अध्याय का अर्थ है अध्ययन या बोध करना। अतः स्वाध्याय का अर्थ हुआ अपनी आत्मा का अध्ययन करना या आत्मा के स्वरूप को पहचानना। अस्तु, जो ज्ञान, जो चिन्तन-मनन आत्मा के स्वरूप को स्पष्ट करने में सहायक होता है, उसे स्वाध्याय कहते हैं।

यह स्पष्ट है कि चिन्तन के लिए एकान्त एवं निर्दोष स्थान चाहिए। क्योंकि यदि स्थान सदोष है, उसमें कई प्राणियों को पीड़ा पहुंचने की संभावना है तो चित्तवृत्ति शान्त नहीं रह सकती। जहां दूसरे प्राणियों को कष्ट होता हो त्रहं आत्मा पूर्ण शान्ति का अनुभव नहीं कर सकता है। इसलिए हिंसा को शान्ति के लिए बाधक माना गया है। और साधक को उससे सर्वथा बचकर रहने का आदेश दिया गया है। हिंसा की तरह बाह्य कोलाहल भी मन को एकाग्र नहीं रहने देता। इस लिए तत्त्ववेत्ताओं ने साधक को निर्दोष एवं शान्त एकान्त स्थान में स्वाध्याय करने का आदेश दिया है।

एकांतता जैसे योगों का निरोध करने के लिए सहायक है, वैसे भोगों की वृत्ति को उच्छृंखल बनाने में भी उसका सहयोग रहता है। योगी और भोगी, वैरागी और रागी दोनों को एकांत स्थान की आवश्यकता रहती है। एकांत स्थान में ही मन साधना की ओर भली-भांति प्रवृत्त हो सकता है और विषय विकारों की अभिलाषाओं को पूरा करने के लिए भी मनुष्य एकांत स्थान ढूंढता है। क्योंकि लोगों के सामने उसे अपनी वासना को तृप्त करने में लज्जा अनुभव होती है। इसी दृष्टि से प्रस्तुत सूत्र में साधक को यह शिक्षा दी गई है कि वह उस एकांत-शांत स्थान का उपयोग मोह कर्म को बढ़ाने में न करे। उसे अपने साथी साधकों के साथ पारस्परिक शारीरिक एवं मुख आदि का आलिंगन आदि कुचेष्टाएं नहीं करनी चाहिए। और न अपने नाखून एवं दान्तों से किसी के शरीर का स्पर्श करना चाहिए जिससे कि वासना की जागृति हो। साधु को उस एकांत स्थान में योगों की प्रवृत्ति को उच्छृंखल बनाने की चेष्टा न करते हुए योगों को अन्य समस्त प्रवृत्तियों से हटा कर आत्मा की ओर मोड़ने का प्रयत्न करना चाहिए। इस दृष्टि से प्रस्तुत अध्ययन विद्यार्थी मुनियों के लिए बहुत ही महत्वपूर्ण है।

इससे यह स्पष्ट होता है कि साधक को अपने योगों को अन्य प्रवृत्तियों से हटाकर आत्म साधना की ओर लगाना चाहिए, और इसके लिए उसे सर्वथा निर्दोष, प्रासुक एवं शान्त-एकांत स्थान में स्वाध्याय करना चाहिए।

'त्तिबेमि' का अर्थ पूर्ववत् समझें।

॥ नवम अध्ययन समाप्त ॥

॥ सप्तसप्तिकाख्याद्वितीया चूला- उच्चार प्रस्त्रवण ॥

## दशम अध्ययन

( उच्चार प्रस्त्रवण )

नवम अध्ययन में निषीधिका-स्वाध्याय का वर्णन किया गया है। प्रस्तुत अध्ययन में यह बताया गया है कि स्वाध्याय भूमि में ठहरे हुए साधक को उच्चार-प्रस्त्रवण की बाधा हो जाए तो उसे मल-मूत्र को कैसे स्थान पर परिष्ठापन करना (त्यागना) चाहिए। इसी कारण इसे उच्चार-प्रस्त्रवण अध्ययन भी कहते हैं। मल-मूत्र के त्याग की विधि का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं।

मूलम्— से भि० उच्चारपासवणकिरियाए उब्बाहिज्जमाणे सयस्स पायपुंछणस्स असईए तओ पच्छा साहम्मियं जाइज्जा । से भि० से जं पु० थंडिल्लं जाणिज्जा-सअंडं० तह० थंडिल्लंसि नो उच्चारपासवणं वोसिरिज्जा । से भि० जं पुण थं० अप्पाणं जाव संताणयं तह० थं० उच्चां वोसिरिज्जा । से भि० से जं० अस्सिंपडियाए एगं साहम्मियं समुद्दिस्स वा अस्सिं० बहवे साहम्मिया स० अस्सिं प० एगं साहम्मिणिं स० अस्सिंप० बहवे साहम्मिणीओ स० अस्सिं० बहवे समण० पगणिय २ समु० पाणाइं ४ जाव उद्देसियं चेएइ, तह० थंडिल्लं पुरिसंतरकडं जाव बहिया नीहडं वा अनी० अन्नयरंसि वा तहप्पगारंसि थं० उच्चारं नो वोसि० । से भि० से जं० बहवे समणमा० कि० ब० अतिहीसमुद्दिस्स पाणाइं भूयाइं जीवाइं सत्ताइं जाव उद्देसियं चेएइ, तह० थंडिलं पुरिसंतरगडं जाव बहिया अनीहडं अन्नयरंसि वा तह० थंडिल्लंसि नो उच्चारपासवणं, अह पुण एवं जाणिज्जा-अपुरिसंतरगडं जाव बहिया नीहडं अन्नयरंसि वा तहप्पगारं० थं० उच्चारं वोसि० । से० जं० अस्सिंपडियाए कयं वा कारियं वा पामिच्चियं वा छन्नं वा घट्ठं वा मट्ठं वा लित्तं वा संमट्ठं वा संपधूपियं वा अन्नयरंसि वा तह० थंडिं नो उ० । से भि० से जं पुण थं० जाणेज्जा, इह खलु गाहावई वा गाहा० पुत्ता वा कंदाणि वा जाव हरियाणि वा अंतराओ वा बाहिं नीहरंति बहियाओ वा अंतो साहरंति अन्नयरंसि वा तह० थं० नो उच्चा० । से भि० से जं पुण० जाणेज्जा-खंधंसि वा

पीढंसि वा मंचंसि वा मालंसि वा अट्टंसि वा पासायंसि वा अन्नयरंसि वा० थं०  
नो उ० । से भि० से जं पुण० अणंतरहियाए पुढवीए ससिणिद्धाए पु० ससरक्खाए  
पु० मट्टियाए मक्कडाए चित्तमंत्ताए सिलाए चित्तमंत्ताए लेलुयाए कोलावासंसि  
वा दारुयंसि वा जीवपइट्ठयंसि वा जाव मक्कडासंताणयंसि अन्न० तह० थं०  
नो उ० । १६५ ।

छाया— स भिक्षुर्वा० उच्चारप्रस्रवणक्रियया बाध्यमानः स्वकीयस्य पादपुञ्छनस्य  
अस्वकीयः ( अस्वकीयस्य ) ततः पश्चात् साधर्मिकं याचेत । स भिक्षुर्वा० स यत् पुनः स्थंडिलं  
जानीयात्— साण्डं० तथा० स्थंडिले नो उच्चारप्रस्रवणं व्युत्सृजेत् ॥ स भिक्षुर्वा० यत् पुनः स्थं०  
अल्पप्राणं यावत् ससन्तानकं तथा० स्थं० उच्चार० व्युत्सृजेत् ।

स भिक्षुर्वा० सं यत्० अस्वप्रतिज्ञया एकं साधर्मिकं समुद्दिश्य वा अस्व० बहून्  
साधर्मिकान् स० अस्वप्रतिज्ञया एकां साधर्मिणीं स० अस्वप्र० बह्वीः साधर्मिणीः स० अस्व०  
बहून् श्रमण० प्रगणय्य २ स० प्राणानि ४ यावत् औद्देशिकं चेतयति, तथा० स्थंडिलं पुरुषान्तरकृतं  
यावत् बहिः नीतं वा अनीतं वा अन्यतरस्मिन् वा तथाप्रकारे स्थं० उच्चार० नो व्युत्सृ० ॥ स  
भिक्षुर्वा० स यत् पुनः० बहून् श्रमण-ब्राह्मण-कृपण-वनीपकातिथीन् समुद्दिश्य प्राणानि भूतानि  
जीवान् सत्त्वानि यावत् औद्देशिकं चेतयति, तथा० स्थंडिलं पुरुषान्तरकृतं यावत् बहिः अनीतं  
अन्यतरस्मिन् वा तथाप्रकारे स्थंडिले नो उच्चारप्रस्रवणं ॥ अथ पुनरेवं जानीयात्—अपुरुषान्तरकृतं  
यावत् बहिः नीतं वा अन्यतरस्मिन् वा तथाप्रकारे स्थंडिले उच्चार० व्यु० ॥ स भिक्षुर्वा० यत्०  
अस्वप्रतिज्ञया कृतं वा कारितं वा प्रामित्यं वा छिन्नं वा घृष्टं वा मृष्टं वा लिप्तं वा संमृष्टं वा  
संप्रधूपितं वा अन्यतरस्मिन् वा तथाप्रकारे स्थं० नो उ० । स भिक्षुर्वा० स यत् पुनः स्थं० जानीयात्  
इह खलु गृहपतिर्वा गृहपतिपुत्रा वा कन्दानि वा यावत् हरितानि वा अभ्यन्तरतः वा बहिर्वा  
निष्काशयन्ति, बहितो वा अभ्यन्तरे समाहरन्ति अन्यतरस्मिन् वा तथा० स्थं० नो उच्चार० ॥ स  
भिक्षुर्वा० स यत् पुनः स्थं० जानीयात् स्कन्धे वा पीठे वा मंचे वा माले वा अट्टे वा प्रासादे वा  
अन्यतरस्मिन् वा तथा० स्थं० नो उच्चार० ॥ स भिक्षुर्वा० स यत् पुनः अनन्तरहितायां पृथिव्यां  
सस्त्रिधायां पृथिव्यां सरजस्कायां पृथिव्यां मृत्तिकायां मर्कटायां चित्तवत्यां शिलायां चित्तवति  
लेष्टौ घुणावासे वा दारुके वा जीवप्रतिष्ठे वा यावत् मर्कटासन्ताने अन्यतरस्मिन् तथाप्रकारे  
स्थंडिले नो उच्चारप्रस्रवणं व्युत्सृजेत् ।

पदार्थ— से भि-वह साधु अथवा साध्वी । उच्चारपासवणकिरियाए-मल-मूत्र की बाधा से ।  
उब्बाहिज्जमाणे-पीड़ित होता हुआ । सयस्स-स्वकीय-अपने । पायपुञ्छणस्स-मूत्र आदि परठने वाले पात्र के ।  
असईए-न होने पर । तओ पच्छा-तत्पश्चात् । साहम्मियं-साधर्मिक साधु से पात्र की । जाइज्जा-याचना करे,  
जिसके द्वारा मल मूत्र की बाधा को टाल सके । इससे यह सिद्ध होता है कि साधु मल-मूत्र के वेग को रोके नहीं । अब



सूत्रकार मलमूत्र के परिष्ठापन के विषय में कहते हैं। से भि०-वह साधु या साध्वी। से जं-वह जो। पुण-फिर। थंडिल्लं-स्थंडिल भूमि को। जाणिज्जा-जाने। सअंडं-अंडों से तथा द्वीन्द्रियादि प्राणियों से युक्त भूमि पर। जाव-यातत् मकड़ी आदि के जालों से युक्त भूमि पर। तह०-तथाप्रकार के। थंडिलंसि-स्थंडिल में। उच्चारपासवर्णं-मल-मूत्र का। नो वोसिरिजा-व्युत्सर्ग-त्याग न करे।

से भि०-वह साधु या साध्वी। से जं-वह जो। पुण-पुनः। थंडिल्लं-स्थंडिल के सम्बन्ध में। जाणिज्जा-जाने। अप्पपाणं-जो अण्डे एवं द्वीन्द्रियादि जीवों से रहित हो। जाव-यावत्। संताणयं-जालों से रहित हो। तह०-तथाप्रकार के। थं०-स्थंडिल में। उच्चा०-मलमूत्र का। वोसिरिजा-व्युत्सर्ग-त्याग करे।

से भि०-वह साधु या साध्वी। से जं पुण-वह जो फिर जाने। अस्सिंपडियाए साधु की प्रतिज्ञा से। एगं साहम्मियं-एक साधमी का। समुद्दिस्स-उद्देश रखकर। वा-अथवा। अस्सिंपडियाए-साधु की प्रतिज्ञा से। बहवे-बहुत से। साहम्मिया-साधमियों का। समु०-उद्देश रखकर तथा। अस्सिंपडि०-जिन्होंने धन का परित्याग किया हुआ है, उन साधुओं की प्रतिज्ञा से। एगं साहम्मिणिं-एक आर्या का। समु०-उद्देश रखकर। अस्सिंपडियाए०-आर्या की प्रतिज्ञा से। बहवे साहम्मिणीओ-बहुत सी साध्वियों का। समु०-उद्देश रखकर। अस्सिंपडि०-समान भिक्षुओं का उद्देश रखकर तथा। बहवे-बहुत से। समणमाहण०-श्रमण, ब्राह्मण, अतिथि, कृपण, भिखारी और गरीबों को। पगणिय २-गिन २ कर। समु०-तथा उनके उद्देश से। पाणाइं ४-प्राणि आदि जीवों का विनाश करके। जाव-यावत्। उद्देसियं-औद्देशिक स्थंडिल, साधु को। चेएइ-देता है तो। तह०-तथाप्रकार का। थंडिल्लं-स्थंडिल, जो कि। पुरिसंतरकडं-पुरुषान्तर कृत है तथा। अपुरिसंतरकडं-अपुरुषान्तर कृत। जाव-यावत्। बहिया नीहडं-बाहर निकाला हुआ है। वा-अथवा। अनी०-नहीं निकाला हुआ है अर्थात् भोगा हुआ है या भोगा हुआ नहीं है। अन्नयरंसि वा-अथवा अन्य कोई सदोष स्थंडिल हो। तहप्पगारंसि-तथाप्रकार के। थं०-स्थंडिल में। उच्चारं०-मल-मूत्र को। नो वोसि०-न परठे-त्यागे।

से भि०-वह साधु या साध्वी, से जं०-वह जो फिर स्थंडिल को जाने, यावत्। बहवे -बहुत से। समणमाहण०-शाक्यादि श्रमण ब्राह्मण। कि०-कृपण। व०-भिखारी एवं। अतिहि-अतिथियों का। समुद्दिस्स-उद्देश रख कर। पाणाइं-प्राणी। भूयाइं-भूत। जीवाइं-जीव। सत्ताइं-सत्त्वों का विनाश करके। जाव-यावत्। उद्देसियं-औद्देशिक स्थंडिल साधु को। चेएइ-देता है। तह०-तथाप्रकार का। थंडिल्लं-स्थंडिल। अपुरिसंतरकडं-अपुरुषान्तर कृत है। जाव-यावत्। बहिया अनीहडं-बाहर निकाला हुआ नहीं है अर्थात् भोगा हुआ नहीं है या। अन्नयरंसि वा-अन्य इसी प्रकार का सदोष स्थंडिल है तो। तह०-तथाप्रकार के। थंडिल्लंसि-स्थंडिल में। नो उच्चारपासवर्णं०-मल-मूत्र का त्याग न करे। अह-अथ। पुण-फिर। एवं-इस प्रकार। जाणिज्जा-जाने कि यदि वह। पुरिसंतरगडं-पुरुषान्तर कृत है। जाव-यावत्। बहिया नीहडं-किसी के द्वारा भोगा हुआ है। अन्नयरंसि वा-इसी प्रकार का अन्य कोई निर्दोष स्थंडिल है तो। तहप्पगारं-तथा प्रकार के। थं०-स्थंडिल में। उच्चारं०-मलमूत्र का वोसि०-त्याग करे।

से भि०-वह साधु अथवा साध्वी। से जं-वह जो फिर स्थंडिल को जाने। अस्सिंपडियाए-किसी गृहस्थ ने साधु के लिए। कयं वा-स्थंडिल किया अथवा। कारियं वा-कराया अथवा। पामिच्चियं वा-उधार लिया हो अथवा। छन्नं वा-उसके ऊपर छत डाली हो। घट्ठं वा-संवारा हो। मट्ठं वा-विशेष रूप से संवारा हो। लित्तं वा-लीपा-पोता हो या। संमट्ठं वा-समतल किया हो तथा। संपधूमियं वा-दूर्गन्ध दूर करने के लिए धूप

से सुवासित किया हो। अन्नयरंसि वा-इस तरह का अन्य कोई सदोष स्थंडिल हो तो। तह०-तथाप्रकार के। थं०-स्थंडिल में। नो उ०-मल-मूत्र को न परठे।

से भि०-वह साधु या साध्वी। से जं०-वह जो। पुण०-फिर। थं०-स्थंडिल को। जाणेज्जा-जाने, यथा। इह खलु-निश्चय ही इस संसार में। गाहावई-गृहपति। वा-अथवा। गाहा० पुत्ता-गृहपति के पुत्र साधु के वास्ते। कंदाणि वा-कन्द अथवा। जाव-यावत्। हरियाणि वा-हरी वनस्पति इन को। अंतराओ वा-अन्दर से। बाहिं-बाहर। नीहरंति-निकालते हैं अथवा। बहियाओ-बाहर से। अंतो-अंदर। साहरंति-रखते हैं अथवा। अन्नयरंसि-अन्य कोई इसी प्रकार का सदोष स्थंडिल है तो। तह० थं०-तथाप्रकार के स्थंडिल में। नो उच्चा०-मल-मूत्र का परित्याग न करे।

से भि०-वह साधु अथवा साध्वी। से जं०-वह जो। पुण०-फिर स्थंडिल को। जाणेज्जा-जाने। खंधंसि वा-एक स्तम्भ पर स्थंडिल भूमि हो, अथवा स्तम्भों पर हो। पीढंसि वा-पीठ पर हो अथवा। मंचंसि वा-मंच पर। मालंसि वा-माले पर। अट्टंसि वा-अटारी पर। पासायंसि वा-प्रासाद पर अथवा इसी प्रकार के। अन्नयरंसि वा-किसी अन्य स्थान पर हो तो। तह०-तथाप्रकार के स्थंडिल पर। नो उ०-उच्चार प्रस्त्रवण-मल मूत्र का परित्याग न करे।

से भि०-वह साधु या साध्वी। से जं०-वह जो। पुण०-फिर स्थंडिल को जाने। अणंतरहियाए पुढवीए-सचित्त पृथ्वी पर। ससिणिद्धाए पु०-स्निग्ध-गीली पृथ्वी पर। ससरक्खाए पु०-सचित्तरज युक्त पृथ्वी पर तथा। मट्टियाए-कच्ची मिट्टी से युक्त पृथ्वी पर या। मक्कडाए-जहां पर सचित्त मिट्टी का काम किया हुआ हो अर्थात् सचित्त मिट्टी मसली हुई हो या। चित्तमंताए-सचित्त। सिलाए-शिला पर। चित्तमंताए लेलुयाए-सचित्त शिला के टुकड़े पर। कोलावासंसि वा-जहां पर घुण आदि जीव हों अथवा। दारुयंसि-काठ पर अथवा। जीवपइट्टियंसि वा-जहां पर जीव रहते हैं। जाव-यावत्। मक्कडासंताणयंसि-मकड़ी के जालों से युक्त स्थान पर या। अन्न०-इस प्रकार अन्य कोई स्थान हो तो। तह०-तथाप्रकार के। थं०-स्थंडिल पर। नो उ०-मल मूत्रादि का परित्याग न करे।

**मूलार्थ**—साधु या साध्वी उच्चार प्रस्त्रवण मलमूत्र की बाधा हो तो स्वकीय पात्र में उससे निवृत्त होकर मूत्रादि को परठ दे। यदि स्वकीय पात्र न हो तो अन्य साधुओं से पात्र की याचना करके उसमें अपनी बाधा का निवारण करके परठ दे, किन्तु मल-मूत्र का कभी भी निरोध न करे। परन्तु अण्डादि जीवों से युक्त स्थान पर मल-मूत्रादि न परठे-त्यागे। जो भूमि द्वीन्द्रियादि जीवों से रहित है, उस भूमि पर मल-मूत्र का त्याग करे।

यदि किसी गृहस्थ ने एक साधु या बहुत साधुओं का उद्देश रखकर स्थण्डिल बनाया हो अथवा एक साध्वी या बहुत सी साध्वियों का उद्देश रखकर स्थण्डिल बनाया हो अथवा बहुत से श्रमण, ब्राह्मण, कृपण, भिखारी एवं गरीबों को गिन-गिन कर उनके लिए प्राणी, भूत, जीव और सत्त्वों की हिंसा करके स्थण्डिल भूमि को तैयार किया हो तो इस प्रकार का स्थण्डिल पुरुषान्तर कृत हो या अपुरुषान्तर कृत हो किसी अन्य के द्वारा भोगा गया हो या न भोगा गया हो, उसमें साधु-साध्वी मलमूत्र का परित्याग न करे।

यदि किसी गृहस्थ ने श्रमण, ब्राह्मण, कृपण, वनीपक-भिखारी, अतिथियों का निमित्त

रखकर प्राणी, भूत, जीव, सत्वों की हिंसा करके स्थण्डिल बनाया हो तो इस प्रकार का स्थण्डिल, जब तक वह अपुरुषान्तर कृत है अर्थात् किसी के भोगने में नहीं आया है तब तक इस प्रकार के स्थण्डिल में मल-मूत्र का परित्याग न करे। यदि इस प्रकार जान ले कि यह पुरुषान्तर कृत है या अन्य के द्वारा भोगा हुआ है तो इस प्रकार के स्थण्डिल में मल-मूत्र का त्याग कर सकता है।

यदि साधु या साध्वी इस प्रकार जान ले कि गृहस्थ ने साधु की प्रतिज्ञा से स्थण्डिल बनाया या बनवाया है, उधार लिया है, उस पर छत डाली है, उसे सम किया है और संवारा है तथा धूप से सुगंधित किया है तो इस प्रकार के स्थण्डिल में मल-मूत्र का त्याग न करे।

यदि साधु इस प्रकार जाने कि गृहपति या उसके पुत्र कन्द मूल और हरि आदि पदार्थों को भीतर से बाहर और बाहर से भीतर ले जाते या रखते हैं, तो इस प्रकार के स्थण्डिल में मल-मूत्रादि न परठे।

यदि साधु इस प्रकार जाने कि यह स्थण्डिल भूमि स्तम्भ पर है, पीठ पर है, मंच पर है, माले पर है तथा अटारी और प्रासाद पर है अथवा इसी प्रकार के किसी अन्य विषम स्थान पर है तो इस प्रकार की स्थण्डिल भूमि पर मल-मूत्र का परित्याग न करे। तथा सचित्त पृथ्वी पर, स्निग्ध-गीली पृथ्वी पर, सचित्त रज से युक्त पृथ्वी पर, जहां पर सचित्त मिट्टी मसली गई हो ऐसी पृथ्वी पर, सचित्त शिला पर, सचित्तशिला खंड पर, घुण युक्त काष्ठ पर, द्वीन्द्रियादि जीव युक्त काष्ठ पर, यावत् मकड़ी के जाला आदि से युक्त भूमि पर मल-मूत्रादि न परठे।

**हिन्दी विवेचन-** प्रस्तुत सूत्र में उच्चार-प्रस्रवण का त्याग करने की विधि बताई गई है। मल और मूत्र को क्रमशः उच्चार और प्रस्रवण कहते हैं। साधु को कभी भी इनका निरोध नहीं करना चाहिए। क्योंकि इनके निरोध से शरीर में अनेक व्याधियां एवं भयंकर रोग उत्पन्न हो सकते हैं, जिनके कारण आध्यात्मिक साधना में रुकावट पड़ सकती है। इसलिए साधु को यह आदेश दिया गया है कि वह अपने मल-मूत्र का त्याग करने के पात्र में उसकी बाधा को निवारण कर ले। यदि किसी समय उसके पास अपना पात्र नहीं है तो उसे चाहिए कि अपने साधर्मिक साधु से उसकी याचना कर ले। परन्तु, मल-मूत्र को रोक कर न रखे। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि साधु को मल-मूत्र का त्याग करने के लिए एक अलग पात्र रखना चाहिए, जिसे मात्रक या समाधि भी कहते हैं।

साधु को ऐसे स्थान पर मल-मूत्र का त्याग नहीं करना चाहिए, जो हरियाली से, बीजों से, निगोद काय से, क्षुद्र जीव-जन्तुओं से युक्त हो या सचित्त हो, गीला हो, सचित्त मिट्टी वाला हो तथा सचित्त शिला एवं शिला खण्ड पर हो। इसके अतिरिक्त साधु को यह भी ध्यान रखना चाहिए कि जो मल-मूत्र त्यागने का स्थान एक या अनेक साधु-साध्वियों को उद्देश्य में रखकर तथा श्रमण-ब्राह्मणों के साथ भी जैन श्रमणों को लक्ष्य में रखकर बनाया गया हो तो उस स्थान में भी मल-मूत्र का त्याग नहीं करना चाहिए, चाहे वह स्थान पुरुषान्तरकृत भी क्यों न हो। यदि वह स्थान केवल अन्य मत के श्रमण-ब्राह्मणों के लिए बनाया गया है तो पुरुषान्तरकृत होने पर साधु उस स्थान में मल-मूत्र का त्याग कर सकता है।

जो स्थान अन्तरिक्ष में हो अर्थात् मंच, स्तंभ आदि पर हो तो ऐसे स्थानों पर भी मल-मूत्र का

त्याग नहीं करना चाहिए। मार्ग की विषमता के कारण ही ऐसे स्थानों पर परठने का निषेध किया गया है, जैसे कि पूर्व के अध्ययनों में ऐसे स्थानों पर हाथ-पैर आदि धोने एवं वस्त्र आदि सुखाने का निषेध किया गया है। अतः यदि ऊपर के स्थानों पर जाने का मार्ग प्रशस्त हो, जीवों की विराधना न होती हो तो साधु उन स्थानों का उपभोग भी कर सकता है।

जिस स्थान से कन्द-मूल आदि भीतर से बाहर एवं बाहर से भीतर लाए जा रहे हों तो ऐसे स्थान पर भी साधु को मल-मूत्र का त्याग नहीं करना चाहिए। इसका कारण यह है कि संभवतः यह क्रिया स्थान को परठने योग्य बनाने के लिए की जा रही हो, अतः साधु को ऐसे स्थान का भी परठने के लिए उपयोग नहीं करना चाहिए।

जिस स्थान पर साधु के उद्देश्य से कोई विशेष क्रियाएं की गई हों, जैसे- स्थान को सम बनाया गया हो, छायादार बनाया गया हो, सुवासित बनाया गया हो, तो जब तक ये स्थान पुरुषान्तर कृत न हो जाएं तब तक साधु को उनका उपयोग नहीं करना चाहिए।

इससे यह स्पष्ट होता है कि साधु को सचित्त, जीव-जन्तु एवं हरियाली युक्त तथा सदोष भूमि पर मल-मूत्र का त्याग नहीं करना चाहिए। उसे सदा अचित्त जीव-जन्तु आदि से रहित, निर्दोष एवं प्रासुक भूमि पर ही मल-मूत्र का त्याग करना चाहिए।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं-

**मूलम्— से भि० से जं० जाणे०—** इह खलु गाहावई वा गाहावइपुत्ता वा कंदाणि वा जाव बीयाणि वा परिसाडिंसु वा परिसाडिंति वा परिसाडिस्संति वा, अन्न० तह० नो उ० ॥ से भि० से जं० इह खलु गाहावई वा गा० पुत्ता वा सालीणि वा वीहीणि वा मुग्गाणि वा मासाणि वा कुलत्थाणि वा जवाणि वा जवजवाणि वा पइरिंसु वा पइरिंति वा पइरिस्संति वा अन्नयरंसि वा तह० थंडि० नो उ० ॥ से भि० २ जं० आमोयाणि वा घासाणि वा भिलुयाणि वा विज्जलयाणि वा खाणुयाणि वा कडयाणि वा पगडाणि वा दरीणि वा पडुग्गाणि वा समाणि वा विसमाणि वा अन्नयरंसि तह० नो उ० ॥ से भिक्खू० से जं० पुण थंडिल्लं जाणिज्जा माणुसरंधणाणि वा महिसकरणाणि वा वसहक० अस्सक० कुक्कुडक० मक्कडक० हयक० लावयक० चट्टयक० तित्तिरक० कवोयक० कविंजलकरणाणि वा अन्नयरंसि वा तह० नो उ० ॥ से भि० से जं० जाणे० वेहाणसट्ठाणेसु वा गिद्धपट्ठठा० वा तरुपडणट्ठाणेसु वा मेरुपडणट्ठाणेसु वा विसभक्खणयठा० अगणिपडणट्ठा० अन्नयरंसि वा तह० नो उ० ॥ से भि० से जं० आरामाणि वा उज्जाणाणि वा वणाणि वा वणसंडाणि वा देवकुलाणि वा सभाणि वा पवाणि वा अन्न० तह० नो उ० ॥ से भि० से जं० पुण० जा० अट्टालयाणि वा चरियाणि वा

दाराणि वा गोपुराणि वा अन्नयरंसि वा तह० थं० नो उ० । से भि० से जं० जाणे० तिगाणि वा चउक्काणि वा चच्चराणि वा चउम्मुहाणि वा अन्नयरंसि वा तह० नो उ० ॥ से भि० से जं० जाणे० इंगालदाहेसु वा खारदाहेसु वा मडयदाहेसु वा मडयथूभियासु वा, मडयचेइएसु वा अन्नयरंसि वा तह० थं० नो उ० ॥ से जं० जाणे० नइयायतणेसु वा पंकाययणेसु वा ओघाययणेसु वा सेयणवहंसि वा अन्नयरंसि वा तह० थं० नो उ० । से भि० से जं० जाणे० नवियासु वा मट्टियखाणियासु वा नवियासु गोप्पहेलियासु वा गवाणीसु वा खाणीसु वा अन्नयरंसि वा तह० थं० नो उ० ॥ से जं० जा० डागवच्चंसि वा सागव० मूलग० हत्थंकरवच्चंसि वा अन्नयरंसि वा तह० नो उ० वो० ॥ से भि० से जं० असणवणंसि वा सणव० धायइव० केयइवणंसि वा अम्बव० असोगव० नागव० पुन्नागव० चुल्लागव० अन्नयरेसु तह० पत्तोवेएसु वा पुप्फोवेएसु वा फलोवेएसु वा बीओवेएसु वा हरिओवेएसु वा नो उ० वो० ॥१६६ ॥

छाया- स भिक्षुवां० स यत् पुनः जानीयात् इह खलु गृहपतिर्वा गृहपतिपुत्रा वा, कन्दानि वा यावत् बीजानि वा परिशाटितवन्तः परिशाटयन्ति, परिशाटयिष्यन्ति वा अन्यतरस्मिन् वा तथाप्रकारे स्थंडिले नो उच्चारप्रस्त्रवणं व्युत्सृजेत् ॥ स भि० वा स यत् पुनः जानीयात् इह खलु गृहपतिर्वा गृहपतिपुत्रा वा शालीन् वा व्रीहीन् वा मुद्गान् वा माषान् वा कुलस्थानि वा यवान् वा यवयवान् वा उपवन्तो वा वपन्ति वा वप्यन्ति वा अन्यतरस्मिन् वा तथाप्रकारे स्थंडिले नो उच्चारप्रस्त्रवणं व्युत्सृजेत् । स भि० स यत् पुनः एवं जानीयात् आमोकानि ( कचवरपुञ्जाः ) वा घासाः ( बृहत्यो भूमिराजयः ) वा भिलुकानि [ श्लक्ष्णभूमिराजयः ] वा विज्जलानि वा स्थाणवो वा कडवानि वा प्रगर्त्ता वा दरयो वा प्रदुर्गाणि वा समानि वा विषमाणि वा अन्यतरस्मिन् वा तथाप्रकारे स्थंडिले वा नो उच्चारप्रस्त्रवणं व्युत्सृजेत् ॥ स भि० स यत् पुनः स्थं० जानीयात् मानुषरन्धनानि वा महिषकरणानि वा वृषभक० अश्वक० कुक्कुटक० मर्कटक० हयक० लावकक० चटकक० तित्तरिक० कपोतक० कपिंजलक० अन्यतरस्मिन् वा तथा० स्थं० उ० प्रस्त्रवणं नो व्यु० ॥ स भि० स यत् पुनः जानीयात् वेहानसस्थानेषु वा गृध्रपृष्ठस्थानेषु वा तरुपतनस्थानेषु वा मेरुपतनस्थानेषु वा विषभक्षणस्थानेषु वा अग्निपतनस्थानेषु वा अन्यतरस्मिन् वा तथा० स्थं० नो उ० व्युत्सृजेत् । स भि० स यत् पुनः एवं जानीयात् आरामेषु वा उद्यानेषु वा वनेषु वा वनघंडेषु वा देवकुलेषु वा सभासु वा प्रपासु वा अन्यतरस्मिन् वा तथा० स्थं० नो उ० व्यु० ॥ स भि० स यत् पुनः एवं स्थं० जानीयात् अट्टालिकेषु वा चरिकेषु वा द्वारेषु वा गोपुरेषु वा अन्यतरस्मिन् वा तथा० स्थं० नो उ० व्यु० । स भि० स यत् पुनः एवं स्थं० जानीयात्

त्रिकेषु वा चतुष्केषु वा चत्वरेषु चतुर्मुखेषु वा अन्यतरस्मिन् वा तथा० स्थं० नो उ० व्यु० ॥ स भि० स यत् पुनः एवं स्थं० जानीयात् अंगारदाहेषु वा क्षारदाहेषु वा मृतकदाहेषु वा मृतकस्तूपिकासु वा मृतकचैत्येषु वा अन्यतरस्मिन् वा तथा० स्थं० नो उ० व्यु० ॥ स भि० स यत् पुनः एवं स्थं० जानीयात् नद्यायतनेषु वा पंकायतनेषु वा ओघायतनेषु वा सेचनपथे वा अन्यतरस्मिन् वा तथा० स्थं० नो उ० व्युत्सृजेत् । स भि० स यत् पुनः एवं स्थं० जानीयात् नवासु वा मृत्तखानिषु वा नवासु गोप्रहेल्यासु वा गवादनीषु वा खनीषु वा अन्यतरस्मिन् वा तथाप्रकारे स्थंडिले नो उच्चारप्रस्त्रवणं व्यु० । स भि० स यत् पुनः एवं स्थं० जानीयात् डालवर्चसि वा शाकवर्चसि वा मूलकवर्चसि वा हस्तंकरवर्चसि वा अन्यतरस्मिन् वा तथाप्रकारे स्थंडिले नो उच्चारप्रस्त्रवणं व्युत्सृजेत् ॥ स भि० स यत् पुनः स्थं० जानीयात् अशनवने वा शणवने वा धातकीवने वा केतकीवने वा आम्रवने अशोकवने वा नागवने वा पुन्नागवने वा चुल्लगवने वा अन्यतरेषु वा तथाप्रकारेषु स्थंडिलेषु वा पत्रोपेतेषु वा पुष्पोपेतेषु वा फलोपेतेषु वा बीजोपेतेषु वा हरितोपेतेषु वा नो उ० व्यु० ।

**पदार्थ-** से भि०-वह साधु अथवा साध्वी । से जं०-वह जो फिर । थंडिलं जाणोजा-स्थंडिल के सम्बन्ध में जाने । खलु-निश्चय । इह-इस संसार में । गाहावई वा-गृहपति । गाहावइपुत्ता वा-या गृहपति के पुत्र ने । कंदाणि वा-कंद मूल आदि । जाव-यावत् । बीयाणि वा-बीज आदि । परिसाडिसु वा-भूतकाल में रखे थे । परिसाडिति-वर्तमान काल में रखते हैं । परिसाडिस्संति वा-और आगामी काल में रखेंगे । अन्नयरंसि वा-अथवा अन्य कोई । तह०-तथाप्रकार के स्थंडिल में । नो उ०-उच्चार प्रस्त्रवण का परित्याग न करे-परठे नहीं ।

से भि०-वह साधु या साध्वी । से जं पुण थं० जाणे०-वह पुनः स्थंडिल के सम्बन्ध में जाने । इह खलु-निश्चय ही इस संसार में । गाहावई वा-गृहपति या । गा० पुत्ता वा-गृहपति के पुत्र ने । सालीणि-शाली-धान्य । वा-अथवा । वीहीणि वा-बीहि-धान्य विशेष । मुग्गाणि वा-मूंग । मासाणि वा-उड़द । कुलत्थाणि वा-कुलत्थ पहाड़ी प्रदेश में उत्पन्न होने वाले धान्य विशेष तथा । जवाणि वा-यव अथवा । जवजवाणि वा-मोटे यव या ज्वार आदि को । पडरिसु वा-भूतकाल में बपन किया है । पडरिति वा-अथवा वर्तमान काल में बो रहा है । पडरिस्संति वा-या भविष्यत् काल में बोएगा । अन्नयरंसि-अथवा अन्य कोई ऐसी क्रिया करता है । तह०-तथाप्रकार के । थंडि०-स्थंडिल में । नो उ०-उच्चार प्रस्त्रवण का व्युत्सर्ग न करे । से भि०-वह साधु या साध्वी । से जं०-वह पुनः स्थंडिल के सम्बन्ध में जाने कि । आमोयाणि वा-जहां पर कचरे का ढेर लगा हो । घासाणि वा-भूमि पर बड़ी-बड़ी दरारें पड़ी हुई हों । भिलुयाणि वा-भूमि पर सूक्ष्म रेखाएं पड़ी हुई हों । विज्जुलयाणि वा-या कीचड़ हो । खाणुयाणि वा-स्तम्भ और कीलकादि गाड़े हुए हों या । कडयाणि वा-इक्षु आदि के डंडे पड़े हों । पगडाणि वा-बड़े एवं गहरे खड्डे हों । दरीणि वा-अथवा गुफाएं हों । पडुग्गाणि वा-किले की दीवार हो । समाणि वा विसमाणि वा-पूर्वोक्त स्थान सम हों अथवा विषम हों या । अन्नयरंसि-ऐसा ही अन्य कोई स्थान हो तो । तह०-तथाप्रकार के स्थंडिल में । नो उ०-मल मूत्र आदि का त्याग न करे ।

से भि०-वह साधु या साध्वी । से जं पुण-वह पुनः । थंडिल्लं जाणिजा-स्थंडिल के सम्बन्ध में जाने कि । माणुसरंधणाणि वा-जहां भोजन तैयार करने के लिए चूल्हा या भट्ठी आदि हो या । महिसकरणाणि वा-जहां पर भैंस को रखने एवं बान्धने का स्थान हो इसी प्रकार । वसहक०-वृषभ आदि के लिए स्थान हो या ।

अस्सक०-खोड़ों को बांधने का स्थान हो या। कुक्कुडक०-मुर्गे कुक्कुड़ को रखने की जगह हो या। मक्कडक०-बन्दर को रखने का स्थान हो या। गयक०-हाथी को बांधने का स्थान हो या। लावयक०-लावक पक्षी को रखने का स्थान हो या। चट्टयक०-चटक-चिड़िया को रखने का स्थान हो या। तित्तिरक०-तित्तर को रखने का स्थान हो या। कवोयक०-कपोत-कबूतर को रखने का स्थान हो या। कविंजलकरणाणि वा-कपिंजल ( जीव विशेष ) को रखने का स्थान। अर्थात् इन पूर्वोक्त जीवों के रहने के जो स्थान हों तथा इन जीवों का उद्देश्य रखकर जहां पर इनके लिए उक्त क्रियाएं की जाती हों अथवा। अन्नयरंसि वा-अन्य इसी प्रकार के स्थान हों तो उन स्थानों में। नो उ०-मल मूत्रादि का त्याग न करे।

से भि०-वह साधु या साध्वी। से जं० जाणेज्जा-वह पुनः स्थंडिल के सम्बन्ध में जाने कि। बेहाणसट्ठाणेसु वा०-जहां पर मनुष्य फांसी लेते हों उन स्थानों में। गिद्धपट्ठठा० वा-जहां पर मरने की इच्छा से गृध्रादि पक्षियों के स्थान पर शरीर को रुधिर से संसृष्ट करके लेट जाते हों ऐसे स्थानों में। तरुपडणट्ठाणेसु वा०-जहां वृक्ष से गिर कर या। मेरुपडणठा०-पर्वत से गिर कर मरते हों ऐसे स्थानों में या। बिसभक्खणयठा०-जहां पर लोग विष भक्षण कर आत्म हत्या करते हों उन स्थानों में या। अगणिपडणट्ठा०-जहां पर लोग आग में कूद कर मरते हों उन स्थानों में या। अन्नयरंसि वा-ऐसा अन्य कोई स्थान हो तो। तह०-तथाप्रकार के स्थानों में। नो उ०-मल मूत्रादि का त्याग न करे।

से भि०-वह साधु या साध्वी। से जं०-वह पुनः स्थंडिल भूमि के सम्बन्ध में जाने कि। आरामाणि वा-आराम-बाग। उज्जाणाणि वा-उद्यान। वणाणि वा-वन। वणसंडाणि वा-वनबंध बृहद् वन अथवा। देवकुलाणि वा-देवकुल-यक्ष आदि के मन्दिर। सभाणि वा-या सभा का स्थान जहां पर लोग एकत्रित हो कर बैठते हों या। पवाणि वा-पानी पीने का स्थान जहां पर जनता को पानी पिलाया जाता है या। अन्नयरंसि वा-अन्य। तह०-इसी प्रकार के स्थानों में। नो उ०-मल मूत्रादि का त्याग न करे।

से भिक्खू०-वह साधु अथवा साध्वी। से जं०-वह। पुण-फिर। जा०-स्थंडिल भूमि के सम्बन्ध में जाने कि। अट्टालयाणि वा-प्राकार के ऊपर युद्ध करने का स्थान उसमें। चरियाणि वा-राजमार्ग में। दाराणि वा-नगर के द्वार पर। गोपुराणि वा-नगर को बड़े द्वार पर। अन्नयरंसि वा-ऐसा अन्य कोई स्थान हो तो। तह०-तथाप्रकार के स्थंडिल में। नो उ०-मल मूत्रादि का त्याग न करे।

से भि०-वह साधु या साध्वी। से जं० जाणेज्जा-वह पुनः स्थंडिल भूमि के सम्बन्ध में जाने कि। तिगाणि वा-जहां नगर में तीन मार्ग मिलते हों उस स्थान में या। चउक्काणि वा-चौराहे पर। ( चौरास्ते में ) तथा। चच्चराणि वा-जहां बहुत से मार्ग मिलते हों उस स्थान में। चउम्मुहाणि वा-चार मुख वाले स्थान में तथा। अन्नयरंसि वा-ऐसे ही अन्य किसी। तह०-तथाप्रकार के स्थान में। नो उ०-मल मूत्रादि का त्याग न करे।

से भि०-वह साधु या साध्वी। से जं० जाणेज्जा-वह पुनः स्थंडिल भूमि के सम्बन्ध में जाने कि। इंगालदाहेसु वा-जहां पर काष्ठ जला कर कोयले बनाए गए हों या। खारदाहेसु वा-जहां पर सब्जी आदि क्षार पदार्थ बनाए जाते हों या। मडयदाहेसु वा-श्मशान भूमि में जहां पर मृतक जलाए जाते हों। मडयथूभियासु वा-जहां मृतक-स्तूप हों या। मडयचेइयेसु वा-जहां मृतक चैत्य हों। अन्नयरंसि वा-अन्य कोई। तह०-इसी प्रकार का स्थान हो तो उसमें। नो उ०-मल मूत्रादि का त्याग न करे।

से भि०-वह साधु या साध्वी। से जं० पुण जाणेज्जा-वह फिर स्थंडिल भूमि के सम्बन्ध में जाने कि।

नइयायतणोसु वा-नदियों के स्थानों में अर्थात् जहां पर लोग एकत्रित होकर तट पर स्नानादि करते हैं और उन्हें तीर्थ भी कहते हैं उन स्थानों में तथा। पंकाययणोसु वा-नदी के पास कीचड़ का स्थान हो, जिसमें लोग तीर्थ का कीचड़ जानकर लोटते हैं और उस कीचड़ को शरीर पर लगाते हैं अथवा। ओघाययणोसु वा-पानी के प्रवाह के स्थानों में तथा तालाब में जल प्रवेश करने वाले मार्ग में। सेयणवहंसि वा-पानी के नाले पर जिससे खेतों को पानी दिया जाता हो या। अन्नयरंसि वा-अन्य कोई। तहं-इसी प्रकार का। थं-स्थान हो तो उसमें। नो उं-मल मूत्रादि का त्याग न करे।

से भिं-वह साधु या साध्वी। से जं० पुण० जाणो-वह जो फिर स्थंडिलादि भूमि को जाने। नवियासु वा-अथवा नई। मटिटयखणिआसु-मृत्तिका की खानों में। नवियासु वा-नूतन। गोप्पहेलियासु वा-गौओं के चरने के स्थानों में। गवाणीसु वा-सामान्य गौओं के चरने के स्थानों में। खाणीसु वा-खानों के स्थानों में तथा। अन्नयरंसि वा-अन्य किसी। तहं-ऐसे ही। थं-स्थंडिल में। नो उं-मल मूत्रादि का त्याग न करे।

से भिं-वह साधु या साध्वी। से जं०-वह जो। पुण०-फिर। जाणो-जाने। डागवच्चंसि वा-जिस सब्जी के पौधों में डालियें अधिक हों या। सागवच्चंसि वा-जिस में पत्ते अधिक हों ऐसे स्थान पर या। मूलगवच्चंसि वा-मूली आदि के खेतों में। हत्थंकरवच्चंसि वा-कपित्थ-वनस्पति विशेष के स्थानों में (कपित्थ-वनस्पति विशेष) तथा। अन्नयरंसि वा-अन्य। तहं-तथाप्रकार के स्थान हों तो उन में। नो उं-मल मूत्रादि का त्याग न करे।

से भिं-वह साधु या साध्वी। से जं० पुण जाणोज्जा-वह फिर स्थंडिल भूमि के सम्बन्ध में जाने। असणवणंसि वा-वीचक नामक वनस्पति के वनों में। सणव-सण (Jute) के वन में। धायइव-धातकी वृक्ष के वनों में। केयइवणंसि-केतकी वृक्षों के वनों में। अंबव-आप्रवृक्ष के वनों में। असोगव-अशोक वृक्ष के वनों में। नागव-नाग वृक्ष के वनों में। पुनागव-पुनाग वृक्ष के वनों में। चुल्लगव-चुल्लक वृक्ष के वनों में। अन्नयरेसु-तथा अन्य कोई। तहं-इसी प्रकार का स्थान उसमें अर्थात् स्थंडिल में जो। पत्तोवेएसु वा-पत्रों से युक्त हो। पुप्फोवेएसु वा-पुष्पों से युक्त हो। फलोवेएसु वा-फलों से युक्त। बीओवेएसु वा-बीजों से युक्त और। हरिओवेएसु वा-हरि वनस्पति से युक्त ऐसे स्थानों में। नो उं वां-मल मूत्रादि का परित्याग नहीं करे।

**मूलार्थ**—संयमशील साधु या साध्वी स्थण्डिल के सम्बन्ध में यह जाने कि जिस स्थान पर गृहस्थ और गृहस्थ के पुत्रों ने कन्दमूल यावत् बीज आदि रखे हुए हैं, या रख रहे हैं या रखेंगे, तो साधु इस प्रकार के स्थानों में मल-मूत्रादि का त्याग न करे। इसी प्रकार गृहस्थ लोगों ने जिस स्थान पर शाली, ब्रीही, मूंग, उड़द, कुलत्थ, यव और ज्वार आदि बीजे हुए हैं, बीज रहे हैं और बीजेंगे, ऐसे स्थानों पर भी साधु मल-मूत्रादि का त्याग न करे।

जिन स्थानों पर कचरे के ढेर हों, भूमि फटी हुई हो, भूमि पर रेखाएं पड़ी हुई हों, कीचड़ हो, इक्षु के दण्ड हों, खड्डे हों, गुफाएं हों, कोट की भित्ति आदि हो, सम-विषम स्थान हो तो ऐसे स्थानों पर भी साधु मलमूत्र का त्याग न करे।

इसी प्रकार जहां पर चूल्हे हों तथा भैंस, बैल, घोड़ा, कुक्कुड़, बन्दर, हाथी, लावक (पक्षी), चटक, तितर, कपोत और कपिंजल (पक्षी विशेष) आदि के रहने के स्थान हों या इनके लिए जहां पर कोई क्रियाएं या कुछ कार्य किए जाते हों ऐसे स्थानों पर भी मल-मूत्र का



त्याग न करे। फांसी देने के स्थान, गीध पक्षी के सामने पड़कर मरने के स्थान, वृक्ष पर से गिर कर मरने के स्थान, पर्वत पर चढ़कर वहां से गिर कर मरने के स्थान, विष भक्षण करने के स्थान, अग्नि में जल कर मरने के स्थान, इस प्रकार के स्थानों पर भी मल-मूत्र का त्याग न करे। और जहां पर बाग-उद्यान, वन, वनखंड, देवकुल, सभा और प्रपा-पानी पिलाने के स्थान आदि हों तो ऐसे स्थानों पर भी मल-मूत्रादि न परठे।

कोट की अटारी, राजमार्ग, द्वार, नगर का बड़ा द्वार इन स्थानों पर मल-मूत्रादि का विसर्जन न करे। नगर में जहां पर तीन मार्ग मिलते हों और बहुत से मार्ग मिलते हों, और जो स्थान चतुर्मुख हों ऐसे स्थानों पर भी मल-मूत्र का त्याग न करे।

इसी प्रकार जहां काष्ठ जलाकर कोयले बनाए जाते हों, क्षार बनाई जाती हो, मृतक जलाए जाते हों, एवं मृतक स्तूप और मृतक चैत्य-मृतक मन्दिर हों, ऐसे स्थानों पर भी मल-मूत्र को न परठे। नदी के तीर्थ स्थानों [ तट ] पर, नदी के तीर्थ रूप कर्दम स्थान पर और जल के प्रवाह रूप पूज्य स्थानों में तथा खेत और उद्यान को जल देने वाली नालियों में मल-मूत्र का परित्याग न करे।

मिट्टी की नई खानों में, नई गोचर भूमि में, सामान्य गौओं के चरने के स्थानों और खानों में, मल-मूत्रादि का परित्याग न करे। डाल प्रधान शाक के खेतों में, पत्र प्रधान शाक के खेतों में, और मूली-गाजर आदि के खेतों में तथा हस्तंकर नामक वनस्पति के क्षेत्र में, इस प्रकार के स्थानों में भी मल-मूत्र को न त्यागे। बीयक के वन में, शणी के वन में, धातकी ( वृक्ष विशेष ) के वन में, केतकी के वन में, आम्र वृक्ष के वन में, अशोक वृक्ष के वन में, नाग और पुन्नाग वृक्ष के वन में, चूलक वृक्ष के वन में और इसी प्रकार के अन्य पत्र, पुष्प, फलों, पत्ते तथा बीज और हरी वनस्पति से युक्त वन में मल-मूत्र को न त्यागे।

**हिन्दी विवेचन-** प्रस्तुत सूत्र में सार्वजनिक उपयोगी एवं धर्म स्थानों पर मल-मूत्र के त्याग करने का निषेध किया गया है। साधु को शाली ( चावल ), गेहूं, आदि के खेत में, पशुशाला में, भोजनालय में, आम्र आदि के बगीचों में, प्याऊ में, देव स्थानों पर, नदी पर, कुएं आदि स्थानों पर मल-मूत्र का त्याग नहीं करना चाहिए। व्यवहारिक दृष्टि से भी यह कार्य अच्छा नहीं लगता है और उनके रक्षक के मन में क्रोध आ जाने के कारण अनिष्ट होने की ही संभावना रहती है। देवालय, नदी, सरोवर आदि स्थानों को कुछ लोग पूज्य मानते हैं, केवल नदी के पानी को ही नहीं, कुछ लोग उसके कीचड़ को भी पवित्र मानते हैं। इसलिए ऐसे स्थानों पर साधु को मल-मूत्र का त्याग नहीं करना चाहिए।

कूड़े-कर्कट के ढेर, खड्डे एवं फटी हुई जमीन पर भी न परठे। क्योंकि, वहां परठने से अनेक जीवों की हिंसा होने की सम्भावना है। इसके अतिरिक्त साधु को ऐसे स्थानों पर भी मल-मूत्र का त्याग नहीं करना चाहिए, जहां लोगों को फांसी दी जाती हो या अन्य तरह से वध किया जाता हो। क्योंकि, उनके मन में घृणा पैदा होने से संघर्ष हो सकता है।

इस सूत्र से यह स्पष्ट होता है कि साधु सभ्यता एवं स्वच्छता का मूरा ख्याल रखते थे। गांव एवं शहर की स्वच्छता नष्ट न हो तथा उनके प्रति किसी के मन में घृणा की भावना पैदा न हो इसका भी परठते

समय ध्यान रखा जाता था। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि साधु अपनी साधना के लिए किसी भी प्राणी का अहित नहीं करता। वह प्रत्येक प्राणी की रक्षा करने का प्रयत्न करता है।

मल-मूत्र के त्याग के सम्बन्ध में कुछ और आवश्यक बातें बताते हुए सूत्रकार कहते हैं-

**मूलम्-** से भि० सयपाययं वा परपाययं वा गहाय से तमायाए एगंतमवक्कमे अणावायंसि असंलोयंसि अप्पाणंसि जाव मक्कडासंताणयंसि, अहारामंसि वा उवस्सयंसि तओ संजयामेव उच्चारपासवणं वोसिरिज्जा, से तमायाए एगंतमवक्कमे अणाबाहंसि जाव संताणयंसि अहारामंसि वा ज्जामथंडिल्लंसि वा अन्नयरंसि वा तह० थंडिल्लंसि अचित्तंसि तओ संजयामेव उच्चारपासवणं वोसिरिज्जा, एयं खलु तस्स० सया जइज्जासि, त्तिबेमि ॥१६७॥

छाया- स भि० स्वकीयं पात्रकं वा परपात्रकं वा गृहीत्वा स तमादाय एकान्तमपक्रामेत् अनापाते असंलोके अल्पप्राणे यावत् मर्कटासन्ताने यथारामे वा उपाश्रये ततः संयतमेव उच्चारप्रस्रवणं व्युत्सृजेत्, स तमादाय एकान्तमपक्रामेत् अनाबाधे यावत् सन्तानके यथारामे वा दग्धस्थंडिले वा अन्यतरस्मिन् वा तथाप्रकारे स्थंडिले अचित्ते ततः संयतमेव उच्चारप्रस्रवणं व्युत्सृजेत्, एतत् खलु तस्य भिक्षोः ३ सामग्र्यं यत् सर्वार्थैः समितः सहितः सदा यतेत इति ब्रवीमि।

**पदार्थ-** से भि०-वह साधु अथवा साध्वी। सयपाययं-स्वकीय पात्र अथवा। परपाययं वा-परकीय पात्र को। गहाय-ग्रहण करके। से-वह भिक्षु। तमायाए-उस पात्र को लेकर। एगंतमवक्कमे-एकांत स्थान में जाए और वहां जाकर। अणावायंसि-जहां पर कोई आता-जाता न हो तथा। असंलोयंसि-जहां पर कोई देखता न हो उस स्थान पर। अप्पाणंसि-जहां पर द्वीन्द्रियादि जीवों का अभाव हो। जाव-यावत्। मक्कडासंताणयंसि-मकड़ी आदि के जाले न हों उस स्थान पर अथवा। अहारामंसि वा-आराम बगीचे आदि की निचली भूमि में तथा। उवस्सयंसि-उपाश्रय में। तओ-तत्पश्चात् साधु। संजयामेव-यतना पूर्वक। उच्चारपासवणं-मल मूत्र का। वोसिरिज्जा-व्युत्सर्ग-त्याग करे फिर। से-वह भिक्षु। तमायाए-उस पात्र को लेकर। एगंतमवक्कमे-एकांत स्थान में चला जाए और वहां जाकर। अणाबाहंसि-जहां किसी भी जीव की हिंसा न हो उस स्थान पर। जाव-यावत्। संताणयंसि-मकड़ी आदि का जाला न हो उस स्थान पर। अहारामंसि वा-उद्यान की अचित्त भूमि पर या। ज्जामथंडिल्लंसि वा-दग्ध भूमि पर या। अन्नयरंसि वा-अन्य कोई। तह०-इसी प्रकार का। थंडिल्लंसि-स्थंडिल हो तो। अचित्तंसि-जो कि अचित्त है तो उसमें। तओ-तत्पश्चात्। संजयामेव-साधु यतना पूर्वक। उच्चारपासवणं-उच्चार प्रस्रवण-मल मूत्रादि को। वोसिरिज्जा-त्याग। खलु-निश्चयार्थक है। एवं-इस प्रकार। तस्स-उस साधु अथवा साध्वी का समग्र आचार है। जं-जो। सव्वट्ठेहिं-ज्ञानदर्शन और चारित्र रूप अर्थों से तथा। समिए-समितियों से। सहिए-सहित होकर इसकी। सया-सदा। जइज्जासि-पालन करने में यत्नशील हो। त्तिबेमि-इस प्रकार में कहता हूँ।

**मूलार्थ-**संयमशील साधु या साध्वी स्वपात्र अथवा परपात्र को लेकर बगीचे या

उपाश्रय के एकान्त स्थान में जाए और जहां पर न कोई देखता हो और न कोई आता-जाता हो तथा जहां पर द्वीन्द्रियादि जीव-जन्तु एवं मकड़ी आदि के जाले भी न हों, ऐसी अचित्त भूमि पर बैठकर साधु उच्चार प्रस्त्रवण का परिष्ठापन करे, उसके पश्चात् वह उस पात्र को लेकर एकान्त स्थान में जाए जहां पर न कोई आता-जाता हो और न कोई देखता हो, जहां पर किसी जीव की हिंसा न होती हो यावत् जल आदि न हो, उद्यान-बाग की अचित्त भूमि में अथवा अग्नि से दग्ध हुए स्थंडिल में, इसी प्रकार के अन्य अचित्त स्थंडिल में -जहां पर किसी भी जीव की विराधना न होती हो, साधु मल-मूत्र का परित्याग करे। इस प्रकार साधु और साध्वी का समग्र आचार वर्णित हुआ है जो कि ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य रूप अर्थों में और पांचों समितियों से युक्त है और साधु इन के पालन में सदैव प्रयत्नशील रहता है। इस प्रकार मैं कहता हूं।

**हिन्दी विवेचन-** प्रस्तुत सूत्र में बताया है कि साधु को एकान्त एवं निर्दोष और निर्वद्य भूमि पर मल-मूत्र का त्याग करना चाहिए। जिस स्थान पर कोई व्यक्ति आता-जाता हो या देखता हो तो ऐसे स्थान पर मल-मूत्र नहीं करना चाहिए। क्योंकि, इससे साधु निस्संकोच भाव से मल-मूत्र का त्याग नहीं कर सकेगा, उसकी इस क्रिया में कुछ रुकावट पड़ेगी, जिससे कई तरह के रोग उत्पन्न हो सकते हैं। और देखने वाले व्यक्ति के मन में भी यह भाव उत्पन्न हो सकता है कि यह साधु कितना असभ्य है कि लोगों के आवागमन के मार्ग में ही मल-मूत्र का त्याग करने बैठ गया है। अतः साधु को सब तरह की परिस्थितियों को ध्यान में रखकर एकान्त स्थान में ही मल-मूत्र का त्याग करना चाहिए।

प्रस्तुत अध्ययन में मल-मूत्र का त्याग करने के बाद उस स्थान की सफाई का उल्लेख नहीं किया गया। इससे कुछ व्यक्ति यह शंका कर सकते हैं कि जैनधर्म में सफाई को स्थान नहीं दिया गया। परन्तु, वस्तुतः ऐसी बात नहीं है। यहां सफाई का उल्लेख नहीं करने का कारण यह है कि प्रस्तुत प्रसंग मल-मूत्र का त्याग करने से संबद्ध होने से इसमें सफाई का उल्लेख नहीं आया। परन्तु इसका यह अर्थ लगाना गलत होगा कि जैन साधु मल-मूत्र का त्याग करने के बाद सफाई नहीं करते। निशीथ सूत्र में बताया गया है कि जो साधु या साध्वी शौच जाने के बाद उस स्थान (गुदा) को वस्त्र से साफ करके पानी से साफ नहीं करते या काष्ठ आदि से साफ करते हैं बहुत दूर जाकर साफ करते हैं उन्हें लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है<sup>१</sup>। इससे स्पष्ट है कि साधु जिस स्थान पर शौच गया हो उसे उसी स्थान पर जल आदि से साफ कर लेना चाहिए। वह उस स्थान को साफ किए बिना आगे नहीं बढ़ सकता है।

‘त्तिबेमि’ की व्याख्या पूर्ववत् समझें।

॥ दशम अध्ययन समाप्त ॥

१ जे भिक्खू उच्चारपासवणं परिठवेत्ता षं पुच्छइ, ण पुच्छंतं वा साइज्जइ। जे भिक्खू उच्चारपासवणं परिठवेत्ता कट्ठेण वा कविलेण वा अंगुलियाए वा सिलागाए वा पुच्छइपुच्छंतं वा साइज्जइ। जे भिक्खू उच्चारपासवणं परिठवेत्ता णायमइ णायमंतं वा साइज्जइ। जे भिक्खू उच्चारपासवणं परिठवेत्ता तत्थेव आयमति आयमंतं वा साइज्जइ। जे भिक्खू उच्चारपासवणं परिठवेत्ता अइदूरे आयमइ, अइदूरे आयमंतं वा साइज्जइ।

॥ सप्तसप्तिकाख्या द्वितीया चूला— शब्दसप्तकका ॥

## एकादश अध्ययन ( समभाव साधना )

प्रस्तुत अध्ययन में यह अभिव्यक्त किया गया है कि निर्दोष स्वाध्याय भूमि में स्वाध्याय करते हुए या निर्दोष स्थान पर मल-मूत्र का त्याग करते समय कोई साधु मधुर या मनोज्ञ शब्दों को सुनने का प्रयत्न न करे। वह सदा समभाव पूर्वक अपनी साधना में संलग्न रहे, इसका वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— से भि० मुदंगसद्दाणि वा नदीस० झल्लरीस० अन्नयराणि वा तह० विरूवरूवाइं सद्दाइं वितताइं कन्नसोयणपडियाए नो अभिसंधारिजा गमणाए ॥ से भि० अहावेगइयाइं सद्दाइं सुणेइ, तं०—वीणासद्दाणि वा विपंचीस० पिप्पी ( बद्धी ) सगस० तूणयसद्दा० पणयस० तुंबवीणियसद्दाणि वा ढंकुणसद्दाइं अन्नयराइं तह० विरूवरूवाइं० सद्दाइं० वितताइं कण्णसोयणपडियाए नो अभिसंधारिजा गमणाए ॥ से भि० अहावेगइयाइं सद्दाइं सुणेइ, तं०—तालसद्दाणि वा कंसतालसद्दाणि वा लत्तियसद्दा० गोधियस० किरिकिरियास० अन्नयरा० तह० विरूव० सद्दाणि कण्ण० गमणाए ॥ से भि० अहावेग० तं०—संखसद्दाणि वा वेणु० बंसस०—खरमुहिस० पिरिपिरियास० अन्नय० तह० विरूव० सद्दाइं झुसिराइं कन्न० ॥१६८ ॥

छाया— स भि० मृदंगशब्दान् वा नदीश० झल्लरीश० वा अन्यतरान् वा तथा० विरूपरूपान् शब्दान् विततान् कर्णश्रवणप्रतिज्ञया न अभिसन्धारयेद् गमनाय ॥ से भि० यथा वा एककान् शब्दान् शृणोति तद्यथा वीणाशब्दान् वा विपंचीश० वा पिप्पीसकश० वा ( बद्धीसक शब्दान् वा ) तूणकश० वा पणकश० वा तुम्बवीणाश० वा ढंकुणश० वा अन्यतरान् वा तथा० विरूपरूपान् शब्दान् विततान् कर्णश्रवणप्रतिज्ञया नाभिसन्धारयेद् गमनाय । स भि० यथावैककान् श० शृणोति तद्यथा—तालश० वा कंसतालश० वा लत्तिका ( कंशिका ) श० वा गोहिकश० वा किरिकिरियाश० अन्यतरान् वा तथा० विरूपरूपान् विततान् कर्णश्रवणप्रतिज्ञया नाभिसन्धारयेद् गमनाय । स भि० यथा वैककान् शब्दान् शृणोति तद्यथा—संखश० वेणुश० वा वंशश० वा खरमुखी श० वा पिरिपिरिया श० वा अन्यतरान् वा तथा० विरूपरूपान् श०

शुषिरान् कर्णश्रवणप्रतिज्ञया नाभिसन्धारयेद् गमनाय ।

**पदार्थ-** से भि०-वह साधु अथवा साध्वी । मुडंगसद्दाणि वा-मृदंग के शब्द । नदीसद्दाणि वा-नदी नाम के वाद्यन्तर के शब्द । झल्लरीसद्दाणि वा-झल्लरी या छण्डे के शब्द तथा । अन्नयराणि वा-अन्य किसी वाद्ययन्त्र के । तहप्पगाराणि-तथाप्रकार के शब्द । विरूवरूवाइं-नानाप्रकार के । वितताइं-शब्दों को । कण्णसोयणपडियाए-सुनने के लिए । गमणाए-जाने का । नो अभिसंधारिज्जा-मन में संकल्प न करे ।

से भि०-वह साधु या साध्वी । अहावेगइयाइं-जैसे कई एक । सद्दाइं-शब्दों को । सुणेइ-सुनता है । तंजहा-जैसे कि । वीणासद्दाणि वा-वीणा के शब्द । विपंचीसद्दाणि वा-विपंची-वीणा विशेष के शब्द । पिप्पीसगसद्दाणि वा-बद्धीसक नाम वाले वाद्य के शब्द । तूणयसद्दाणि वा-तूण नाम के वाद्यविशेष के शब्द । पणयसद्दाणि वा-पणक-ढोलक के शब्द । तुंबवीणियसद्दाणि वा-तुम्ब वीणा के शब्द । ढंकुणसद्दाणि वा-ढंकुण नाम के वाद्य के शब्द तथा । अन्नयराइं-अन्य कोई । तह०-तथाप्रकार के वाद्ययंत्र के । विरूवरूवाइं-नानाविध । सद्दाइं-शब्दों को । वितताइं-जो कि वितत हैं । कण्णसोयणपडियाए-सुनने की प्रतिज्ञा से । गमणाए-जाने का । नो अभिसंधारिज्जा-मन में संकल्प न करे ।

से भि०-वह साधु या साध्वी । अहावेगइयाइं-कई एक । सद्दाइं-शब्दों को । सुणेइ-सुनता है । तंजहा-जैसे कि । तालसद्दाणि वा-ताल के शब्द । कंसतालसद्दाणि-कंस ताल-वाद्य विशेष के शब्द । लत्तियसद्दाणि वा-कंशिका नाम के वाद्य विशेष के शब्द । गोधियस०-कांख एवं हाथ में रखकर बजाए जाने वाले वाद्ययंत्र के शब्द । किरिकिरिया स०-दंशमयी कदम्बिका वाद्य विशेष के शब्द तथा । अन्नयरा०-अन्य कोई । तह०-इसी प्रकार के । विरूव०-विविध भांति के । सद्दाइं-शब्दों को । कण्ण०-श्रवण करने के लिए गमणाए-जाने का । नो अभिसंधारिज्जा-मन में संकल्प न करे ।

से भि०-वह साधु या साध्वी । अहावेग०-कई एक शब्दों को सुनता है । तंजहा-जैसे कि । संखसद्दाणि वा-शंख के शब्द । वेणु०-वेणु के शब्द । वंसस०-वंश-बांस के शब्द । खरमुहीस०-खरमुखी नामक वाद्य के शब्द । पिरिपिरियास०-बांस की नली के शब्द तथा । अन्न०-अन्य कोई । तह०-तथाप्रकार के । झुमिराइं-शुशिर । सद्दाइं-शब्दों को । कन्नसो०-सुनने के लिए । गमणाए-जाने का । नो अभिसंधारिज्जा-मन में संकल्प न करे । अर्थात् सुनने के लिए न जाए ।

**मूलार्थ-**संयमशील साधु या साध्वी मृदंग के शब्द, नदी के शब्द और झल्लरी के शब्द, तथा इसी प्रकार के अन्य वितत शब्दों को सुनने के लिए किसी भी स्थान पर जाने का मन में संकल्प न करे ।

इसी प्रकार वीणा के शब्द, विपञ्ची के शब्द, बद्धीसक के शब्द तूनक और ढोल के शब्द, तुम्ब वीणा के शब्द, ढुंकुण के शब्द इत्यादि शब्दों को एवं ताल शब्द, कंशताल शब्द, कांसी का शब्द, गोधी का शब्द, किरिकरी का शब्द तथा शंख शब्द, वेणु शब्द, खरमुखी शब्द और परिपिरिका के शब्द इत्यादि नाना प्रकार के शब्दों को सुनने के लिए भी साधु न जाए । तात्पर्य है कि इन उपरोक्त शब्दों को सुनने की भावना से साधु कभी भी एक स्थान से दूसरे स्थान को न जाए ।

**हिन्दी विवेचन**—प्रस्तुत सूत्र में वाद्ययंत्रों से निकलने वाले मनोज्ञ एवं मधुर शब्दों को श्रवण करने का निषेध किया गया है। इसमें चार प्रकार के वाद्ययंत्रों का उल्लेख किया गया है— १ वितत, २ तत, ३ घन और ४ सुषिर। मृदंग, नन्दी झालर आदि के शब्द 'वितत' कहलाते हैं, वीणा, विपंची आदि वाद्य यंत्रों के शब्दों को 'तत' संज्ञा दी गई है, हस्तताल, कंस ताल आदि शब्दों को 'घन' कहा जाता है और शंख, वेणु आदि के शब्द 'सुषिर' कहलाते हैं। इस प्रकार सभी तरह के वाद्ययंत्रों से प्रस्फुटित शब्दों को सुनने के लिए साधु प्रयत्न न करे। सूत्रकार ने यहां तक निषेध किया है कि साधु को इन शब्दों को सुनने के लिए मन में संकल्प भी नहीं करना चाहिए। क्योंकि ये शब्द मोह एवं विकार भाव को जागृत करने वाले हैं। अतः साधु को इन से सदा बचकर रहना चाहिए।

शब्द के विषय में कुछ और बातों का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्**— से भि० अहावेग० तं० वप्पाणि वा फलिहाणि वा जाव सराणि वा सागराणि वा सस्सरपंतियाणि वा अन्न० तह० विरूव० सद्दाइं कण्ण० ॥ से भि० अहावे० तं० कच्छाणि वा णूमाणि वा गहणाणि वा वणाणि वा वणदुग्गाणि वा पव्वयाणि वा पव्वयदुग्गाणि वा अन्न० ॥ अहा० तं० गामाणि वा नगराणि वा निगमाणि वा रायहाणीणि वा आसमपट्टण-संनिवेशाणि वा अन्न० तह० नो अभि० ॥ से भि० अहावे० आरामाणि वा उज्जाणाणि वा वणाणि वा वणसंडाणि वा देवकुलाणि वा सभाणि वा पवाणि वा अन्नय० तहा० सद्दाइं नो अभि० ॥ से भि० अहावे० अट्टाणि वा अट्टालयाणि वा चरियाणि वा दाराणि वा गोपुराणि वा अन्न० तह० सद्दाइं नो अभि० ॥ से भि० अहावे० तंजहा-तियाणि वा चउक्काणि वा चच्चराणि वा चउम्मुहाणि वा अन्न० तह० सद्दाइं नो अभि० ॥ से भि० अहावे० तंजहा-महिसकरणट्ठाणाणि वा वसभक० अस्सक० हत्थिक० जाव कविंजल-करणट्ठा० अन्न० तह० नो अभि० ॥ से भि० अहावे० तंज० महिसजुद्धाणि वा जाव कविंजलजु० अन्न तह० नो अभि० ॥ से भि० अहावे० तं० जूहियठाणाणि वा हयजू० गयजू० अन्न० तह० नो अभि० ॥१६९॥

**छाया**— स भि० यथावैककः तद्यथा वप्रान् वा परिखा वा यावत् सरांसि सागरान् वा सरः सरः पंत्ती वा अन्य० तथा० विरू० श० कर्ण० ॥ स भि० यथा वैककः तं० कच्छानि वा नूमानि वा गहनानि वा वनानि वा वनदुर्गाणि वा पर्वतान् वा पर्वतदुर्गाणि वा अन्य० ॥ यथा वा एककः तं० ग्रामान् वा नगराणि वा निगमान् वा राजधानीः वा आश्रमपट्टनसंनिवेशान् वा अन्यतरान् वा अन्य० तथा० शब्दान् कर्ण० अभि० ॥ स भि० यथा वैककः आरामान् वा उद्यानानि वा वनानि वा वनघंडानि वा देवकुलानि वा सभा वा प्रपा वा अन्य० तथा० शब्दान् नाभि० ॥ स

भि० यथा वैककः त० अट्टानि वा अट्टालकानि वा चरिकानि वा द्वाराणि वा गोपुराणि वा अन्य० तथा० शब्दान् नाभि० ॥ स भि० यथा वा एककः त० त्रिकानि वा चतुष्कानि वा चच्चराणि वा चतुर्मुखानि वा अन्य० तथा० शब्दान् नाभि० ॥ स भि० यथा वैककः त० महिषकरणस्थानानि वा वृषभक० अश्व क० हस्ति क० यावत् कपिंजलकरणस्थानानि वा अन्य० तथा० शब्दान् कर्ण० नाभि० गमनाय ॥ स भि० यथा वैककः त० महिषयुद्धानि वा यावत् कपिंजलयुद्धानि वा अन्य० तथा० नाभि० । स भि० यथा वैककः तद्यथा यूथस्थानानि वा हययू० गजयू० अन्य० तथा० नाभि० ।

**पदार्थ-** से भि०-वह साधु अथवा साध्वी । अहावे०-यथा कई एक । सद्दाइं-शब्दों को । सुणेइ-सुनता है । तंजहा-जैसे कि । वप्पाणि वा-खेत के क्यारों के विषय में कोई गाता हो अथवा वहां कोई वाद्य बजाता हो । फलिहाणि वा-खाई में होने वाले शब्द । जाव-यावत् । सराणि वा-सरोवर के शब्द । सागराणि वा-समुद्र के शब्द । सरसरपंतियाणि वा-सरोवर की पंक्तियों के शब्द । अन्न०-अन्य कोई । तह०-इसी प्रकार के । विरूव०-नानाविध । सद्दाइं-शब्दों को । कण्ण०-श्रवण करने के लिए । नो अभिसंधारिज्ज गमणाए-जाने का मन में संकल्प न करे ।

से भि०-वह साधु या साध्वी । अहावे०-कई तरह के । सद्दाणि-शब्दों को । सुणेइ-सुनता है । तं०-जैसे कि । कच्छाणि वा-नदी के पानी से आवृत्त वन के । णूमाणि वा-वृक्षों के या । गहणाणि वा-वनस्पति के समूह । वणाणि वा-वन के या । वणदुग्गाणि वा-विषम वन के शब्दों को । पव्वयाणि वा-या पर्वत एवं । पव्वयदुग्गाणि वा-विषम पर्वत पर होने वाले शब्दों या । अन्न०-अन्य । तह०-इसी तरह के । विरूव०-नाना प्रकार के । सद्दाइं-शब्दों को । कण्ण०-कान से सुनने की प्रतिज्ञा से । नो अभिसंधारिज्ज-गमणाए-उस ओर जाने का मन में विचार न करे ।

से भि०-वह साधु या साध्वी । अहावे०-कभी कई प्रकार के । सद्दाणि-शब्दों को सुणेइ-सुनता है । तं०-जैसे कि । गामाणि वा-ग्राम के शब्द अथवा । नगराणि वा-नगर के शब्द । निग्माणि वा-निगम ( जहां पर बहुत वणिक निवास करते हों ) के शब्द । रायहाणीणि वा-राजधानी के शब्द । आसमपट्टणसंनिवेशाणि वा-आश्रम-तापस आदि के स्थान के शब्द, पत्तन के शब्द, सन्निवेश-सराय आदि के शब्द अर्थात् इन स्थानों में कोई गीत गाता हो या कोई वाद्यंतर बजाता हो या । अन्न०-अन्य कोई । तह०-इसी प्रकार के । विरूव०-नाना विध । सद्दाइं-शब्दों को । कण्ण०-सुनने के लिए । नो अभिसंधारिज्ज गमणाए-जाने का मन में विचार न करे ।

से भि०-वह साधु या साध्वी । अहावे०-कभी कई तरह के शब्दों को सुनता है, जैसे कि । आरामाणि वा-आराम में होने वाले शब्द तथा । उज्जाणाणि वा-उद्यान में होने वाले शब्द और । वणाणि वा-वन में होने वाले शब्द । वणसंडाणि वा-वनबंध में होने वाले शब्द । देवकुलाणि वा-देव कुल में होने वाले शब्द । सभाणि वा-सभा में होने वाले शब्द । पवाणि वा-प्रपा-जलदान के स्थान में होने वाले शब्द । अन्नय० तह०-अन्य इसी तरह के । विरूव०-नाना प्रकार के शब्दों को सुनने के लिए । नो अभिसंधा०-जाने का विचार न करे ।

से भि०-वह साधु या साध्वी । अहावे०-कभी कई । सद्दाणि-शब्दों को । सुणेइ-सुनता है । तंजहा-

जैसे कि। अट्टाणि वा-अटारी पर होने वाले शब्द। अट्टालयाणि वा-अटारी की फिरनी में होने वाले शब्द। चरियाणि वा-प्राकार और नगर के मध्य में होने वाले आठ हाथ प्रमाण राजमार्ग के शब्द। दाराणि वा-द्वार में होने वाले शब्द। गोपुराणि वा-नगर के बड़े द्वार पर होने वाले शब्द अथवा। अन्न-अन्य। तह-इसी प्रकार के। सदाई-शब्दों को कान से सुनने की प्रतिज्ञा से। नो अभि-जाने का मन में संकल्प न करे।

से भि-वह साधु या साध्वी। अहावे-कभी कई। सदाणि-शब्दों को। सुणेइ-सुनता है। तं-जैसे कि। तियाणि वा-जहां पर नगर में तीन मार्ग मिलते हों वहां पर होने वाले शब्द। चउक्काणि वा-चौराहे पर होने वाले शब्द। चच्चराणि वा-जहां पर बहुत से मार्ग संमिलित होते हों वहां पर होने वाले शब्द तथा। चउम्मुहाणि वा-चतुर्मुख मार्ग में होने वाले शब्द। अन्न-तथा अन्य। तह-इसी प्रकार के। सदाई-शब्दों को कान से सुनने के लिए। नो अभि-जाने का मन में विचार न करे।

से भि-वह साधु या साध्वी। अहावे-कभी कई तरह के। सदाणि-शब्दों को। सुणेइ-सुनता है। तंजहा-जैसे कि। महिसकरणट्टाणाणि वा-भैंस शाला में होने वाले शब्द। वसभकरणट्टाणाणि वा-वृषभ शाला में होने वाले शब्द। अस्सक-घुड़शाला में होने वाले शब्द। हत्थिक-हस्तीशाला में होने वाले शब्द। जाव-यावत्। कविंजलकरणट्टा-जहां पर कपिंजल पक्षी के ठहरने का स्थान है वहां पर होने वाले शब्द तथा। अन्न-अन्य। तह-तथाप्रकार के। सदाई-शब्दों को कान से सुनने की प्रतिज्ञा से। नो अभि-जाने का मन में विचार न करे।

से भि-वह साधु या साध्वी। अहावे-कई तरह के। सदाणि-शब्दों को। सुणेइ-सुनता है। तंजहा-जैसे कि। महिसजुद्धाणि वा-भैंसों के युद्ध क्षेत्र में होने वाले शब्द। जाव-यावत्। कविंजलजु-कपिंजल पक्षियों के युद्ध क्षेत्र में होने वाले शब्द। अन्न-तथा अन्य। तह-तथाप्रकार के। सदाई-शब्दों को सुनने की प्रतिज्ञा से। नो अभि-सन्मुख होकर जाने के लिए मन में विचार न करे।

से भि-वह साधु या साध्वी। अहावे-कई तरह के। सदाणि-शब्दों को। सुणेइ-सुनता है। तं-जैसे कि। जूहियठाणाणि वा-वर वधु के मिलन स्थल पर होने वाले शब्द अर्थात् विवाह वेदी के समय पर होने वाले शब्द। हयजू-घोड़ों के यूथ जहां पर रहते हों उन स्थानों में होने वाले शब्द। गयजू-हाथी के यूथ के स्थान में होने वाले शब्द तथा। अन्न-अन्य। तह-इसी प्रकार के। सदाई-शब्दों को सुनने की प्रतिज्ञा से। नो अभि-जाने का मन में विचार न करे।

मूलार्थ—संयमशील साधु या साध्वी कभी कई तरह के शब्दों को सुनते हैं। परन्तु उन्हें खेत के क्यारों में एवं खाई यावत् सरोवर, समुद्र और सरोवर की पंक्तियां इत्यादि स्थानों में होने वाले शब्दों को सुनने के लिए जाने का मन में संकल्प नहीं करना चाहिए। और साधु जल-बहुल प्रदेश, वनस्पति समूह, वृक्षों के सघन प्रदेश, वन, पर्वत, और विषम पर्वत इत्यादि स्थानों में होने वाले शब्दों को सुनने के लिए जाने का भी संकल्प न करे।

इसी भांति ग्राम, नगर, निगम, राजधानी, आश्रम, पत्तन और सन्निवेश आदि स्थानों में होने वाले शब्दों को सुनने के लिए जाने का भी मन में संकल्प न करे। तथा आराम, उद्यान, वन, वन-खण्ड, देवकुल, सभा और प्रपा ( जल पिलाने का स्थान ) आदि स्थानों में होने वाले शब्दों



को सुनने की प्रतिज्ञा से वहां जाने के लिए मन में विचार न करे। एवं अट्टारी, प्राकार, प्राकार के ऊपर की फिरनी और नगर के मध्य का आठ हाथ प्रमाण राजमार्ग, द्वार तथा नगर में प्रवेश करने का बड़ा द्वार इत्यादि स्थानों में होने वाले शब्दों को सुनने के लिए भी जाने का मन में भाव न लाए।

इसी तरह नगर के त्रिपथ, चतुष्पथ, बहुपथ और चतुर्मुख मार्ग, इत्यादि स्थानों में होने वाले शब्दों को सुनने के लिए जाने का भी मन में विचार न करे। इसी भांति भैंसशाला, वृषभशाला, घुड़शाला, हस्तीशाला और कपिंजल पक्षी के ठहरने के स्थान आदि पर होने वाले शब्दों को सुनने के लिए भी जाने का विचार न करे। तथा वर-वधू के मिलने का स्थान ( विवाह-वेदिका ) घोड़ों के यूथ का स्थान, हाथी-यूथ का स्थान यावत् कपिंजल पक्षी का स्थान इत्यादि स्थानों के शब्दों को सुनने के लिए भी जाने का विचार न करे।

**हिन्दी विवेचन-** प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि साधु को खेतों में, जंगल में, घरों में या विवाह आदि उत्सव के समय होने वाले गीतों को या पशुशालाओं एवं अन्य प्रसंगों पर होने वाले मधुर एवं मनोज्ञ गीतों को सुनने के लिए उन स्थानों पर जाने का संकल्प नहीं करना चाहिए। ये सब तरह के सांसारिक गीत मोह पैदा करने वाले हैं, इनके सुनने से मन में विकार भाव जागृत हो सकता है। अतः संयमनिष्ठ साधु-साध्वी को इनका श्रवण करने के लिए किसी भी स्थान पर जाने का संकल्प नहीं करना चाहिए।

इस सूत्र से यह स्पष्ट होता है कि उस युग में विवाहोत्सव मनाने की परम्परा थी और वर-वधू के मिलन के समय राग-रंग को बढ़ाने वाले गीत भी गाए जाते थे।

प्रस्तुत सूत्र से उस युग की सभ्यता का स्पष्ट परिज्ञान होता है और विभिन्न उत्सवों एवं उन पर गीत आदि गाने की परम्परा का भी परिचय मिलता है। उस युग में भी जनता अपने मनोविनोद के लिए विशिष्ट अवसरों पर गीत आदि गाकर अपना मनोविनोद करती थी। अतः साधु को इन गीतों को सुनने के लिए जाना तो दूर रहा, परन्तु उनके सुनने की अभिलाषा भी नहीं करनी चाहिए।

इस सम्बन्ध में कुछ और बातें बताते हुए सूत्रकार कहते हैं-

**मूलम्-** से भि० जाव सुणेइ, तंजहा-अक्खाइयठाणाणि वा माणुम्मा-णियट्ठाणाणि वा महताऽऽहयनट्टगीयवाइयतंतीतलतालतुडियपडुप्पवाइयट्ठाणाणि वा अन्न० तह० सद्दाइं नो अभिसं० ॥ से भि० जाव सुणेइ, तं कलहाणि वा डिंबाणि वा डमराणि वा दोरजाणि वा वेर० विरुद्धर० अन्न० तह० सद्दाइं नो० ॥ से भि० जाव सुणेइ, खुड्डियं दारियं परिवुत्तमंडियं अलंक्रियं निवुज्जमाणिं पेहाए एगं वा पुरिसं वहाए नीणिज्जमाणं पेहाए अन्नयराणि वा तह० नो अभि० ॥ से० भि० अन्नयराइं विरुव० महासवाइं एवं जाणेज्जा तंजहा-बहुसगडाणि वा बहुरहाणि वा बहुमिलक्खूणि वा बहुपच्चंताणि वा अन्न० तह० विरुव० महासवाइं

कन्नसोयपडियाए नो अभिसंधारिज्जा गमणाए ॥ से भि० अन्नयराइं विरूव० महुस्सवाइं एवं जाणिज्जा, तंजहा-इत्थीणि वा पुरिसाणि वा थेराणि वा डहराणि वा मज्झिमाणि वा आभरणविभूसियाणि वा गायंताणि वा वायंताणि वा नच्चंताणि वा हसंताणि रमंताणि वा मोहंताणि वा विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं परिभुंजंताणि वा परिभायंताणि वा विच्छड्ढियमाणाणि वा विगोवयमाणाणि अन्नय० तह० विरूव० महु० कन्नसोय० ॥ से भि० नो इहलोइएहिं सदेहिं नो परलोइएहिं स० नो सुएहिं स० नो असुएहिं स० नो दिट्ठेहिं स० नो अदिट्ठेहिं स० नो कंतेहिं स० सज्जिज्जा नो गिज्झिज्जा नो मुज्झिज्जा नो अज्झोववं-ज्जिज्जा, एवं खलु जाव जएज्जासि त्तिबेमि ॥ सहसत्तिक्कओ सम्मत्तो ॥१७० ॥

छाया- स भि० यावत् शृणोति, तद्यथा आख्यायिकास्थानानि वा मानोन्मानस्थानानि वा महान्ति आहतनाद्यगीतवादित्रतंत्रीतलतालत्रुटित-प्रत्युत्पन्नास्थानानि वा अन्य० तथा० शब्दान् नो अभिसं० ॥ स भि० यावत् शृणोति तद्यथा कलहानि वा डिम्बानि वा डमराणि वा द्विराज्यानि वा वैर० विरुद्धराज्यानि वा अन्य० तथा० शब्दान् नो० ॥ स भि० यावत् शृणोति तं क्षुल्लिकां वा दरिकां वा परिभुक्तमंडितां, अलंकृतां ( अश्वादिना ) नीयमानां प्रेक्ष्य, एकं वा पुरुषं वधाय नीयमानं प्रेक्ष्य, अन्य० तथा० शब्दान् नो० अभि० ॥ स भि० अन्य० विरूपरूपान् वा महाश्रवान् एवं जानीयात् तद्यथा- बहुशकटानि वा बहुरथानि वा बहुम्लेच्छानि वा बहुप्रात्यन्तिकानि वा अन्य० तं विरूपं महाश्रवान् वा कर्णश्रवणप्रतिज्ञया नो अभिसन्धारयेद् गमनाय ॥ स भि० अन्य० विरूपं वा महोत्सवान् एवं जानीयात् तद्यथा-स्त्रीः वा पुरुषान् वा स्थविरान् वा बालान् वा मध्यमान् वा आभरणविभूषितान् वा गायतो वा वादयतो वा नृत्यतो वा हसतो वा रममाणान् वा मोहयतो वा विपुलम् अशनं पानं खादिमं स्वादिमं परिभुंजमाणान् वा परिभाजयतो वा विच्छर्पितनान् वा विगोपयतो वा अन्य० तथा० विरूव० मधु० कर्ण० सं० ॥ स भि० नो इहलौकिकैः शब्दैः नो पारलौकिकैः श० नो श्रुतैः श० नो अश्रुतैः श० नो दृष्टैः श० नो अदृष्टैः श० नो कान्तैः श० सज्जेत् नो गृध्येत् नो मुह्येत् नो अध्युपपद्येत् एवं खलु तस्य भिक्षोः यावत् यतेत् । इतिब्रवीमि । शब्द सप्तैककः समाप्तः ॥

पदार्थ- से भि०-वह साधु अथवा साध्वी । जाव-यावत् । सुणेइ-शब्दों को सुनता है । तंजहा-जैसे कि । अक्खाइयटाणाणि वा-कथा करने के स्थान पर । माणुम्माणियट्ठाणाणि वा-तोल-माप करने के स्थान पर या घुड़ दौड़ आदि के स्थान पर । महताऽऽ-महान् । आहय-आहत । नट्ट-नृत्य । गीय-गीत । वाइय-वादित्र । तंती-तंत्री । तल-कांसी का वाद्य । ताल-वाद्यविशेष । तुडिय-त्रुटित-ढोल आदि के । पडुप्पवाइयट्ठाणाणि वा-उत्पन्न होते शब्दों को । अन्न-तथा अन्य । तह-तथाप्रकार के । सदाइ-शब्दों को

सुनने के लिए। नो अभिसं०-जाने का मन में विचार न करे।

से भि०-साधु या साध्वी। जाव-यावत्। सुणोइ-शब्दों को सुनता है। तं०-जैसे कि। कलहाणि वा-कलह के शब्द। डिंबाणि वा-स्वचक्र-राजा के स्वदेश में परस्पर होने वाले विरोध के शब्द। डमराणि वा-पर राज्य के विरोधी शब्द। दोरजाणि-दो राजाओं के परस्पर विरोधी शब्द। वेर०-परस्पर वैर विरोध के शब्द तथा। अन्न०-अन्य। तह०-तथाप्रकार के। सहाइं-शब्दों को सुनने के लिए। नो अभिसं०-जाने का मन में विचार न करे।

से भि०-वह साधु या साध्वी। जाव सुणोइ-यावत् विभिन्न प्रकार के शब्दों को सुनता है। तं०-जैसे कि। परिवुत्तमंडियं-परिवार से घिरी हुई, आभूषणों से मंडित और। अलंकियं-अलंकृत हुई। निबुद्धमाणि-घोड़े आदि पर बैठाकर ले जाती हुई को। खुडिडयं वा-छोटी। दारियं-बालिका। पेहाए-देखकर। वा-अथवा। एगं पुरिसं-किसी एक अपराधी पुरुष को। वहाए-वध के लिए। नीणिज्जमाणि-वध्य भूमि में ले जाते हुए को। पेहाए-देखकर। वा-अथवा। अन्नयराणि-अन्य। तह०-तथाप्रकार के शब्दों को सुनने के लिए। नो अभिसं०-जाने का मन में विचार न करे। से भि०-वह साधु अथवा साध्वी अन्न०-अन्य कोई। विरुव०-नाना प्रकार के। महासवाईं-महान आश्रव के स्थानों को। एवं-इस प्रकार। जाणिज्जा-जाने। तं०-जैसे कि। बहुसगाडाणि वा-बहुत से शकटों के स्थान। बहुरहाणि वा-बहुत से रथों के स्थान अर्थात् जहां पर शकट और रथ दोनों बहुत संख्या में रहते हैं वह स्थान। वा०-या। बहुमिलक्खूणि-बहुत से म्लेछों के स्थान या। बहुपच्चंताणि वा-बहुत से प्रान्त निवासियों के स्थान तथा। अन्न०-अन्य कोई। तह०-तथाप्रकार के। विरुवरुवाईं-नाना विध। महासवाईं-महान आश्रवों के स्थान, उनमें जो शब्द होते हैं उनको। कन्नसोयपडियाए-कानों से सुनने की प्रतिज्ञा से। नो अभिसंधारिज्जा गमणाए-सम्मुख होकर जाने का मन में विचार न करे।

से भि०-वह साधु या साध्वी। अन्न० विरुवरुवाईं-अन्य कई नाना प्रकार के। महुस्सवाईं-महोत्सवों के स्थानों को। एवं जाणिज्जा-इस प्रकार जाने। तं०-जैसे कि। इत्थीणि वा-स्त्रियां या। पुरिसाणि वा-पुरुष या। थेराणि वा-वृद्ध या। डहराणि वा-बालक या। मण्डिमाणि वा-मध्यम वय वाले-युवक, जो कि। आभरणविभूसियाणि वा-आभूषणों से शरीर को विभूषित करके। गायंताणि वा-गाते। वायंताणि वा-बजाते हुए। वा-या। नचंताणि-नाचते हुए। हसंताणि-हंसते हुए। रमंताणि वा-क्रीड़ा करते हुए या। मोहंताणि वा-रतिक्रीड़ा करते हुए या इसी प्रकार। विपुलं-अत्यन्त। असणं-अन्न। पाणं-पानी। खाइमं-खादिम-खाद्य पदार्थ। साइमं-स्वाद्य पदार्थ। परिभुजंताणि वा-भोगते हुए तथा। परिभायंताणि वा-आहार-पानी का विभाग या वितर्ण करते हुए या। विछडिडयमाणाणि वा-उसे फैकते हुए या। विगोवयमाणाणि वा-प्रसिद्ध करते हुए जा रहे हों उस समय के शब्दों तथा। अन्नय०-अन्य। तह०-इसी तरह के। विरुव०-विविध। महु०-महोत्सवों में होने वाले शब्दों को। कन्नसोय०-कानों से सुनने की प्रतिज्ञा से। नो अभिसं०-जाने का मन में संकल्प न करे।

से भि०-वह साधु या साध्वी। नो इहलोइएहिंस०-न तो इस लोक के शब्दों को अर्थात् मनुष्यादि के शब्दों में। नो परलोइएहिंस०-न परलोक के शब्दों में अर्थात् मनुष्य भिन्न देव और कोकिला आदि तिर्यचों के शब्दों में। नो सुएहिं स०-न सुने हुए शब्दों में। नो असुएहिं स०-न अश्रुत नहीं सुने हुए शब्दों में। नो दिट्ठेहिं सदेहिं-न देखे हुए शब्दों में और। नो अदिट्ठेहिं स०-न अदृष्ट शब्दों में तथा। नो कंतेहिं सदेहिं-न कमनीय शब्दों में। सज्जिजा-आसक्त हो। नो गिण्डिजा-न उनके सुनने की आकांक्षा करे। नो मुण्डिजा-न उनमें

मूर्च्छित हो और। नो अञ्जोववज्जिजा-न उनमें रागद्वेष करे। एवं खलु-इस प्रकार निश्चय ही यह भिक्षु का सम्पूर्ण आचार है। जाव-यावत् उसमें। जएजासि-यत्नशील रहे। त्तिबेमि-इस प्रकार में कहता हूँ। सदसत्तिक्कओसमत्तो-यह शब्द सप्तैकका अध्ययन समाप्त हुआ।

**मूलार्थ**—संयमशील साधु या साध्वी कथा करने के स्थानों, महोत्सव के स्थानों जहां पर बहुत परिमाण में नृत्य, गीत, वादित्र, तंत्री, वीणा, तल-ताल, त्रुटित, ढोल इत्यादि वाद्यन्तर बजते हों तो उन स्थानों में होने वाले शब्दों को सुनने के लिए जाने का मन में विचार नहीं करना चाहिए।

इसी प्रकार कलह के स्थान, अपने राज्य के विरोधी स्थान, पर राज्य के विरोधी स्थान, दो राज्यों के परस्पर विरोध के स्थान, वैर के स्थान और जहां पर राजा के विरुद्ध वार्तालाप होता हो इत्यादि स्थानों में होने वाले शब्दों को सुनने के लिए भी जाने का मन में संकल्प न करे।

यदि किसी वस्त्राभूषणों से शृंगारित और परिवार से घिरी हुई छोटी बालिका को अश्वदि पर बिठा कर ले जाया जा रहा हो तो उसे देखकर तथा किसी एक अपराधी पुरुष को वध के लिए वध्यभूमि में ले जाते हुए देखकर साधु उन स्थानों में होने वाले शब्दों को सुनने की भावना से उन स्थानों पर जाने का मन में विचार न करे।

जो महा आश्रव के स्थान हैं— जहां पर बहुत से शकट, बहुत से रथ, बहुत से म्लेच्छ, बहुत से प्रान्तीय लोग एकत्रित हुए हों तो साधु-साध्वी वहां पर उनके शब्दों को सुनने की प्रतिज्ञा से जाने का मन में संकल्प भी न करे।

जिन स्थानों में महोत्सव हो रहे हों, स्त्री, पुरुष, बालक, वृद्ध और युवा आभरणों से विभूषित होकर गीत गाते हों, वाद्यन्तर बजाते हों, नाचते और हंसते हों, एवं आपस में खेलते और रतिक्रीड़ा करते हों, तथा विपुल अशन, पान, खादिम और स्वादिम पदार्थों को खाते हों, परस्पर बांटते हों, गिराते हों, तथा अपनी प्रसिद्धि करते हों तो ऐसे महोत्सवों के स्थानों पर होने वाले शब्दों को सुनने के लिए साधु वहां पर जाने का कभी भी संकल्प न करे।

वह साधु या साध्वी स्वजाति के शब्दों और परजाति के शब्दों में आसक्त न बने, एवं श्रुत या अश्रुत तथा दृष्ट या अदृष्ट शब्दों और प्रिय शब्दों में आसक्त न बने। उनकी आकांक्षा न करे और उनमें मूर्च्छित भी न होवे। यही साधु और साध्वी का सम्पूर्ण आचार है और इसी के पालन में उसे सदा संलग्न रहना चाहिए।

**हिन्दी विवेचन**— प्रस्तुत सूत्र में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि साधु को जहां बहुत से लोग एकत्रित होकर गाते-बजाते हों, नृत्य करते हों, रतिक्रीड़ा करते हों, हंसी-मजाक करते हों, रथ एवं घोड़ों की दौड़ कराते हों, बालिका को शृङ्गारित करके अश्व पर उसकी सवारी निकालते हों, किसी अपराधी को फांसी देते समय गधे पर बिठाकर उसकी सवारी निकाल रहे हों और इन अवसरों पर वे जो शब्द कर रहे हों उन्हें सुनने के लिए साधु को उक्त स्थानों पर जाने का संकल्प नहीं करना चाहिए। और जहां पर अपने देश के राजा के विरोध में, या अन्य देश के राजा के विरोध में या दो देशों के राजाओं के पारस्परिक संघर्ष के सम्बन्ध में बातें होती हों, तो साधु को ऐसे स्थानों में जाकर उनके शब्द सुनने का संकल्प नहीं

करना चाहिए। क्योंकि इन सब कार्यों से मन में राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है, चित्त अशांत रहता है और स्वाध्याय एवं ध्यान में विघ्न पड़ता है। अतः संयमनिष्ठ साधक को श्रोत्र इन्द्रिय को अपने वश में रखने का प्रयत्न करना चाहिए। उसे इन सब असंयम के परिपोषक शब्दों को सुनने का त्याग करके अपनी साधना में संलग्न रहना चाहिए।

इस अध्ययन में यह पूर्णतया स्पष्ट कर दिया गया है कि साधु को राग-द्वेष बढ़ाने वाले किसी भी शब्द को सुनने की अभिलाषा नहीं रखनी चाहिए। साधु का जीवन अपनी साधना को मूर्त रूप देना है, साध्य को सिद्ध करना है। अतः उसे अपने लक्ष्य के सिवाय अन्य विषयों पर ध्यान नहीं देना चाहिए। राग-द्वेष पैदा करने वाले प्रेम-स्नेह एवं विग्रह, कलह आदि के शब्दों की ओर उसे अपने मन को बिल्कुल नहीं लगाना चाहिए। यही उसकी साधुता है और यही उसका श्रेष्ठ आचार है।

॥ एकादश अध्ययन समाप्त ॥

॥ सप्तसप्तिकाख्या द्वितीय चूला- रूपसप्तैकका ॥

## द्वादश अध्ययन

( चक्षु-इन्द्रिय )

एकादश अध्ययन में श्रुतेन्द्रिय के विषय का वर्णन किया गया है। प्रस्तुत अध्ययन में चक्षु इन्द्रिय से संबद्ध विषय का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं-

मूलम्- से भि० अहावेगइयाइं रूवाइं पासइ, तं-गंथिमाणि वा वेढिमाणि वा पूरिमाणि वा संघाइमाणि वा कट्ठकम्माणि वा पोत्थकम्माणि वा चित्तक० मणिकम्माणि वा दंतक० पत्तच्छिज्जकम्माणि वा विविहाणि वा वेढिमाइं अन्नयराइं विरू० चक्खुदंसणपडियाए, नो अभिसंधारिज्ज गमणाए, एवं नायव्वं जहा सहपडिमा सव्वा वाइत्तवज्जा रूवपडिमावि त्तिबेमि पंचमं सत्तिक्कयं ॥१७१ ॥

छाया- स भि० अथाप्येककानि रूपाणि पश्यति, तं ग्रथितानि वा वेष्टिमानि वा पूरिमाणि वा संघातिमानि वा काष्ठकर्माणि वा पुस्तककर्माणि वा चित्रकर्माणि वा मणिकर्माणि वा दन्तकर्माणि वा पत्रछेद्यकर्माणि वा विविधानि वा वेष्टिमानि अन्य० विरूप० चक्षुर्दर्शनप्रतिज्ञया नाभिसन्धारयेद् गमनाय ॥ एवं ज्ञातव्यं यथा शब्दप्रतिमा सर्वा वादित्रवर्ज्या रूपप्रतिमा अपि । पंचमं सप्तैककमध्ययनम् समाप्तम् ।

पदार्थ- से भि०-वह साधु अथवा साध्वी । अहावेगइयाइं-कभी कई तरह के । रूवाइं-रूपों को । पासइ-देखता है । तं-जैसे कि । गंथिमाणि वा-गूँथे हुए पुष्पों से निष्पन्न स्वस्तिकादि का । वेढिमाणि वा-वस्त्र से वेष्टित अथवा निष्पन्न पुत्तलिकादि का । पूरिमाणि वा-अनेक पदार्थों से निर्मित पुरुषाकृति । संघाइमाणि वा-नानाप्रकार के वर्णों को एकत्रित करके उससे निर्मित चोलकादि या । कट्ठकम्माणि वा-काष्ठ के द्वारा निर्मित कई पदार्थ । पोत्थकम्माणि वा-पुस्तक कर्म ताड़पत्रादि से निष्पन्न पुस्तकादि वस्तु । चित्तक०-चित्रकर्म भीत आदि पर चित्रित चित्र आदि । मणिकम्माणि वा-नाना प्रकार की मणियों द्वारा निर्मित स्वस्तिकादि पदार्थ । दंतक०-दान्तों से निष्पन्न चूड़ियां आदि पदार्थ । पत्तच्छिज्जकम्माणि वा-पत्र छेदन क्रिया से उत्पन्न रूपादि तथा अन्य । विविहाणि-विविध प्रकार के । वेढिमाइं-वेष्टनों से निष्पन्न हुए । तह०-इसी तरह के । अन्नयराइं-कई एक । विरू०-विविध रूपों वाले पदार्थों के रूपों को । चक्खुदंसणपडियाए-चक्षु से देखने की प्रतिज्ञा से । नो अभिसंधारिज्ज गमणाए-साधु उस ओर जाने का मन में विचार न करे । एवं-इस प्रकार । नायव्वं-जानना चाहिए । जहा-जैसे कि । सहपडियाए-शब्द सम्बन्धि प्रतिज्ञा का वर्णन किया गया है वह । सव्वा-सब ।

वाइत्तवज्जा-वादित्रों को छोड़ कर। रूपपडिमावि-रूपप्रतिज्ञा के विषय में समझें। पंचमं सत्तिवकयं-पांचवीं सप्तैकका समाप्त। तिबेमि-ऐसा मैं कहता हूँ।

**मूलार्थ**—साधु या साध्वी फूलों से निष्यन्न स्वस्तिकादि, वस्त्रों से निष्यन्न पुत्तलिकादि, पुरिम निष्यन्न पुरुषाकृति और संघात निष्यन्न चोलकादि, इसी प्रकार काष्ठ से निर्मित पदार्थ, पुस्तकें, चित्र, मणियों से, हाथी दांत से, पत्रों से तथा बहुत से पदार्थों से निर्मित सुन्दर एवं सुरूप पदार्थों के विविध रूपों को देखने के लिए जाने का मन से संकल्प भी न करे। शेष वर्णन शब्द अध्ययन की तरह जानना चाहिए। केवल वाद्ययन्त्र को छोड़कर अन्य वर्णन रूप प्रतिज्ञा के समान ही जानना चाहिए। ऐसा मैं कहता हूँ। पंचम सप्तैकका समाप्त।

**हिन्दी विवेचन**—प्रस्तुत सूत्र में रूप-सौन्दर्य को देखने का निषेध किया गया है। इसमें बताया गया है कि चार कारणों से वस्तु या मनुष्य के सौन्दर्य में अभिवृद्धि होती है— १-फूलों को गूंधकर उनसे माला, गुलदस्ता आदि बनाने से पुष्पों का सौन्दर्य एवं उन्हें धारण करने वाले व्यक्ति की सुन्दरता भी बढ़ जाती है। २ वस्त्र आदि से आवृत्त व्यक्ति भी सुन्दर प्रतीत होता है। विविध प्रकार की पोशाक भी सौन्दर्य को बढ़ाने का एक साधन है। ३ विविध सांचों में ढालने से आभूषणों का सौन्दर्य चमक उठता है और उन्हें पहन कर स्त्री-पुरुष भी विशेष सुन्दर प्रतीत होने लगते हैं। ४ वस्त्रों की सिलाई करने से उनकी सुन्दरता बढ़ जाती है और विविध फैशनों से सिलाई किए हुए वस्त्र मनुष्य की सुन्दरता को और अधिक चमका देते हैं। इससे यह स्पष्ट हो गया है कि विविध संस्कारों से पदार्थों के सौन्दर्य में अभिवृद्धि हो जाती है। साधारण सी लकड़ी एवं पत्थर पर चित्रकारी करने से वह असाधारण प्रतीत होने लगती है। उसे देखकर मनुष्य का मन मोहित हो उठता है। इसी तरह हाथी दांत, कागज, मणि आदि पर किया गया विविध कार्य एवं चित्रकला आदि के द्वारा अनेक वस्तुओं को देखने योग्य बना दिया जाता है और कला कृतियां उस समय के लिए नहीं, बल्कि जब तक वे रहती हैं मनुष्य के मन को आकर्षित किए बिना नहीं रहती हैं। इससे उस युग की शिल्प की एक झांकी मिलती है, जो उस समय विकास के शिखर पर पहुंच चुकी थी। उस समय मशीनों के अभाव में भी मानव वास्तु-कला एवं शिल्पकला में आज से अधिक उन्नति कर चुका था।

इन सब कलाओं एवं सुन्दर आकृतियों तथा दर्शनीय स्थानों को देखने के लिए जाने का निषेध करने का तात्पर्य यह है कि साधु का जीवन साधना के लिए है, आत्मा को कर्म बन्धनों से मुक्त करने के लिए है। अतः यदि वह इन सुन्दर पदार्थों के देखने के लिए इधर-उधर जाएगा या दृष्टि दौड़ाएगा तो उससे चक्षु इन्द्रिय का पोषण होगा, मन में राग-द्वेष या मोह की उत्पत्ति होगी और स्वाध्याय एवं ध्यान की साधना में विघ्न पड़ेगा। अतः संयम निष्ठ साधु को सदा अध्यात्म चिन्तन में संलग्न रहना चाहिए। उसे अपने मन एवं दृष्टि को इधर-उधर नहीं दौड़ाना चाहिए। चक्षु इन्द्रिय पर विजय प्राप्त करना साधना का मूल उद्देश्य है। अतः साधु को विविध वस्तुओं एवं स्थानों के रूप सौन्दर्य को देखने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए।

॥ द्वादश अध्ययन समाप्त ॥

॥ सप्तसप्तिकाख्या द्वितीय चूला— परक्रिया ॥

## त्रयोदश अध्ययन ( परक्रिया )

प्रस्तुत अध्ययन में साधु के लिए दूसरे व्यक्ति द्वारा की जाने वाली क्रियाओं के सम्बन्ध में उल्लेख किया गया है। अतः इस अध्ययन का नाम 'परक्रिया' रखा गया है। 'पर' शब्द का ६ प्रकार से कथन किया गया है— १ तत्पर, २ अन्यतर पर, ३ आदेश पर। ४ क्रम पर, ५ बहु पर और ६ प्रधान पर।

१ तत्पर— एक परमाणु दूसरे परमाणु से भिन्न होने के कारण उसे तत्पर कहते हैं अर्थात् वह परमाणु तत्— उस परमाणु से पर—भिन्न है।

२ अन्यतर पर — एक द्रव्य दो परमाणु से युक्त, दूसरा तीन परमाणु से युक्त है और इसी तरह अन्य द्रव्य अन्य अनेक परिमाण वाले परमाणुओं से युक्त हैं, इस तरह वे परस्पर एक—दूसरे से अन्यतर हैं, यही अन्यतर पर कहलाता है।

३ आदेश पर— किसी व्यक्ति के आदेश पर कार्य करना आदेश पर कहलाता है। क्योंकि आदेश का परिपालक आदेश देने वाले से भिन्न है। जैसे— नौकर अपने स्वामी या अधिकारी के आदेश पर कार्य करते हैं।

४ क्रम पर— जैसे एक प्रदेशी द्रव्य से, द्वि प्रदेशी द्रव्य क्रम पर है। इसी प्रकार इस से आगे की संख्या की भी कल्पना की जा सकती है। संख्या के क्रम से जो पर हों उन्हें क्रम पर कहते हैं।

५ बहु पर— एक परमाणु से तीन या चार परमाणु वाले द्रव्य बहु पर हैं, क्योंकि उनकी भिन्नता एक से अधिक परमाणुओं में हैं।

६ प्रधान पर— पद की प्रधानता के कारण जो अपने सजातीय पदार्थों से भिन्न है, उसे प्रधान पर कहते हैं। जैसे— मनुष्यों में तीर्थंकर भगवान प्रधान हैं, पशुओं में सिंह और वृक्षों में अर्जुन, सुवर्ण और अशोक वृक्ष प्रधान माना गया है।

इससे यह स्पष्ट हो गया कि जो व्यक्ति अपने से भिन्न है, उसे पर कहते हैं। अतः साधु भिन्न गृहस्थ के द्वारा साधु के लिए की जाने वाली क्रिया को पर क्रिया कहते हैं। उक्त परक्रियाओं का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— परकिरियं अञ्जत्थियं संसेसियं नो तं सायए नो तं नियमे,  
सिया से परो पाए आमज्जिज्ज वा पमज्जिज्ज वा नो तं सायए नो तं नियमे। से  
सिया परो पायाइं संवाहिज्ज वा पलिमद्दिज्ज वा नो तं सायए नो तं नियमे। से



सिया परो पायाइं फुसिज्ज वा रइज्ज वा नो तं सायए नो तं नियमे । से सिया परो पायाइं तिल्लेण वा घ० वसाए वा मक्खिज्ज वा अब्भंगिज्ज वा नो तं २ । से सिया परो पायाइं लुद्धेण वा कक्केण वा चुन्नेण वा वण्णेण वा उल्लोढिज्ज वा उव्वलिज्ज वा नो तं २ । से सिया परो पायाइं सीओदगवियडेण वा २ उच्छोलिज्ज वा पहोलिज्ज वा नो तं २ । से सिया परो पायाइं अन्नयरेण विलेवणजायेण आलिंपिज्ज वा विलिंपिज्ज वा नो तं २ । से सिया परो पायाइं अन्नयरेण धूवणजाएण धूविज्ज वा पधू० नो तं २ । से सिया परो पायाओ खाणुयं वा कंटयं वा नीहरिज्ज वा विसोहिज्ज वा नो तं २ । से सिया परो पायाओ पूयं वा सोणियं वा नीहरिज्ज वा विसो० नो तं २ । से सिया परो कायं आमज्जेज्ज वा पमज्जिज्ज वा नो तं सायए नो तं नियमे । से सिया परो कायं संवाहिज्ज वा पलिमहिज्ज वा नो तं २ । से सिया परो कायं तिल्लेण वा घ० वसा० मक्खिज्ज वा अब्भंगिज्ज वा नो तं २ । से सिया परो कायं लुद्धेण वा ४ उल्लोढिज्ज वा उव्वलिज्ज वा नो तं २ । से सिया परो कायं सीओ० उसिणो० उच्छोलिज्ज वा प० नो तं २ । से सिया परो कायं अन्नयरेण विलेवणजाएण आलिंपिज्ज वा २ नो तं २ । से० कायं अन्नयरेण धूवणजाएण धूविज्ज वा प० नो तं २ । से० कायंसि वणं आमज्जिज्ज वा २ नो तं २ । से० वणं संवाहिज्ज वा पलि० नो तं २ । से० वणं तिल्लेण वा घ० २ मक्खिज्ज वा अब्भ० नो तं २ । से० वणं लुद्धेण वा ४ उल्लेढिज्ज वा उव्वलेज्ज वा नो तं २ । से सिया परो कायंसि वणं सीओ० उ० उच्छोलिज्ज वा प० नो तं २ । से सिया परो वणं वा गंडं वा अरइं वा पुलइयं वा भगंदलं वा अन्नयरेणं सत्थजाएणं अच्छिंदिज्ज वा विच्छिंदिज्ज वा नो तं २ । से सिया परो अन्न० जाएण अच्छिंदित्ता वा विच्छिंदित्ता वा पूयं वा सोणियं वा नीहरिज्ज वा वि० नो तं २ । से० कायंसि गंडं वा अरइं वा पुलइयं वा भगंदलं वा आमज्जिज्ज वा २ नो तं २ । से० गंडं वा ४ संवाहिज्ज वा पलि० नो तं २ । से० कायं० गंडं वा ४ तिल्लेण वा ३ मक्खिज्ज वा २ नो तं २ । से० गंडं वा ४ लुद्धेण वा ४ उल्लोढिज्ज वा उ० नो तं २ । से० गंडं वा ४ सीओदगं २ उच्छोलिज्ज वा प० नो तं २ । से० गंडं वा ४ अन्नयरेणं सत्थजाएणं अच्छिंदिज्ज वा वि० अन्न० सत्थ० अच्छिंदित्ता वा २ पूयं वा २ सोणियं वा नीह० विसो०

नो तं सायए २ । से सिया परो कायंसि सेयं वा जल्लं वा नीहरिज्ज वा वि० नो तं २ । से सिया परो अच्छिमलं वा कण्णमलं वा दंतमलं वा नहम० नीहरिज्ज वा २ नो तं २ । से सिया परो दीहाइं बालाइं दीहाइं वा रोमाइं दीहाइं भमुहाइं दीहाइं कक्खरोमाइं दीहाइं बत्थिरोमाइं कप्पिज्ज वा संठविज्ज वा नो तं २ । से सिया परो सीसाओ लिक्खं वा जूयं वा नीहरिज्ज वा वि० नो तं २ । से सिया परो अंकंसि वा पलियंकंसि वा तुयट्ठावित्ता पायाइं आमज्जिज्ज वा पम० एवं हिट्ठिमो गमो पायाइं भाणियव्वो । से सिया परो अंकंसि वा २ तुयट्ठावित्ता हारं वा अब्द्धहारं वा उरत्थं वा गेवेयं वा मउडं वा पालंबं वा सुवन्नसुत्तं वा आविहिज्ज वा पिणहिज्ज वा नो तं २ । से० परो आरामंसि वा उज्जाणंसि वा नीहरित्ता वा पविसित्ता वा पायाइ आमज्जिज्ज वा प० नो तं सायए० ॥ एवं नेयव्वा अन्नमन्न रियावि ॥१७२ ।

छाया- परक्रियां आध्यात्मिकीं सांश्लेषिकीं नो ताम् अस्वादयेत् नो तां नियमयेत् । स्यात् तस्य परः पादौ आमृज्यात् वा प्रमृज्यात् वा नो ताम् अस्वादयेत् नो तां नियमयेत् । तस्य स्यात् परः पादौ संवाहयेत् वा परिमर्दयेत् वा नो तां अस्वादयेत् नो तां नियमयेत् । स्यात् तस्य परः पादौ स्पर्शयेत् वा रञ्जयेत् वा नो तां नियमयेत् । स्यात् तस्य परः पादौ तैलेन वा घृतेन वा वसया वा प्रक्षयेत् वा अभ्यञ्जयेत् वा नो तां २ । तस्य स्यात् परः पादौ लोध्रेण वा करकेन वा चूर्णेन वा वर्णेन उल्लोलयेत् वा उद्वर्तयेत् वा नो तां २ । तस्य स्यात् परः पादौ शीतोदकविकटेन वा उष्णोदकविकटेन वा उच्छोलयेत् वा प्रधावयेत् वा नो तां २ । तस्य स्यात् परः पादौ अन्यतरेण विलेपनजातेन आलिम्पेद् वा विलिम्पेद् वा नो तां २ । तस्य स्यात् परः पादौ अन्यतरेण धूपनजातेन धूपयेत् वा प्रधूपयेत् वा नो तां २ । तस्य स्यात् परः पादौ खाणुकं वा कंटकं वा निहरेत् वा विशोधयेत् वा नो तां २ । तस्य स्यात् परः पादौ पूयं वा शोणितं वा निहरेत् वा विशोधयेत् वा नो तां २ । तस्य स्यात् परः कायं आमृज्यात् वा प्रमृज्यात् वा नो तां २ । तस्य स्यात् परः कायं संवाहयेत् वा परिमर्दयेत् वा नो तां २ । तस्य स्यात् परः कायं तैलेन वा घृतेन वा वसया वा प्रक्षयेत् वा अभ्यञ्जयेत् वा नो तां २ । तस्य स्यात् परः कायं लोध्रेण वा ४ उल्लोलयेत् वा उद्वर्तयेत् वा नो तां २ । तस्य स्यात् परः कायं शीतोदकविकटेन वा उष्णोदकविकटेन वा उच्छोलयेत् वा प्रधावयेत् वा नो तां २ । तस्य स्यात् परः कायं अन्यतरेण विलेपनजातेन आलिम्पेत् वा विलिम्पेत् वा नो तां २ । तस्य स्यात् परः कायं अन्यतरेण धूपनजातेन धूपयेत् वा प्रधूपयेत् वा नो तां २ । तस्य स्यात् परः काये व्रणमामृज्यात् वा

प्रमृज्यात् वा नो तां २ । तस्य स्यात् परः काये व्रणं संवाहयेत् वा परिमर्दयेत् वा नो तां २ । तस्य स्यात् परः काये व्रणं तैलेन वा घृतेन वा वसया वा ग्रक्षयेत् वा अभ्यंजयेत् वा नो तां २ । तस्य स्यात् परः काये व्रणं लोध्रेण वा ४ उल्लोलयेद् वा उद्वर्तयेद् वा नो तां २ । तस्य स्यात् परः काये व्रणं शीतोदकविकटेन वा उष्णोदकविकटेन वा उच्छोलयेत् वा प्रधावयेत् नो तां २ । तस्य स्यात् परः काये व्रणं गंडं वा अरतिं वा पुलकितं वा भगन्दरं वा अन्यतरेण शस्त्रजातेन आच्छिन्द्यात् वा विच्छिन्द्यात् वा नो तां २ । तस्य स्यात् परः अन्यतरेण शस्त्रजातेन आच्छिन्द्यात् वा विच्छिन्द्यात् वा पूयं वा शोणितं वा निहरेत् वा विशोधयेत् वा नो तां २ । तस्य स्यात् परः काये गंडं वा अरतिं वा पुलकितं वा भगन्दरं वा आमृज्यात् वा प्रमृज्यात् वा नो तां २ । तस्य स्यात् परः काये गंडं वा ४ संवाहयेत् वा परिमर्दयेत् वा नो तां २ ॥ तस्य स्यात् परः काये गंडं वा ४ तैलेन वा ३ ग्रक्षयेत् वा अभ्यंजयेत् वा नो तां २ । तस्य स्यात् परः काये गंडं वा ४ लोध्रेण वा ४ उल्लोलयेत् वा उद्वर्तयेत् वा नो तां २ । तस्य स्यात् परः काये गंडं वा ४ शीतोदकविकटेन वा उष्णोदकविकटेन वा उच्छोलयेत् वा प्रधावयेत् वा नो तां २ । तस्य स्यात् परः काये गंडं वा ४ अन्यतरेण वा शस्त्रजातेन आच्छिन्द्यात् वा विच्छिन्द्यात् वा अन्यतरेण शस्त्रजातेन आच्छिन्द्यात् वा विच्छिन्द्यात् वा पूयं वा शोणितं वा निहरेत् वा विशोधयेत् वा नो तां २ । तस्य स्यात् परः काये स्वेदं वा जलं वा निहरेत् वा विशोधयेत् वा नो तां २ । तस्य स्यात् परः अक्षिमलं वा कर्णमलं वा दन्तमलं वा नखमलं वा निहरेत् वा विशोधयेत् वा नो तां २ । तस्य स्यात् परः दीर्घाणि बालानि दीर्घाणि वा रोमाणि दीर्घे भ्रुवौ दीर्घाणि कक्षरोमाणि दीर्घाणि वस्तिरोमाणि कृन्तेत् वा संस्थापयेत् वा नो तां २ । तस्य स्यात् परः शीर्षतः लिक्षां वा यूकां वा निहरेत् वा विशोधयेत् वा नो तां २ । तस्य स्यात् परः अंके वा पर्यंके वा स्वपायित्वा आमृज्यात् वा प्रमृज्यात् वा, एवं अधोगमः पादादौ भणितव्यः । तस्य स्यात् परः अंके वा पर्यंके वा स्वपायित्वा हारं वा अर्द्धहारं वा उरस्थं वा ग्रैवेयकं मुकटं वा प्रालम्बं वा सुवर्णसूत्रं वा आबध्नीयात् वा पिधापयेत् वा नो तां २ । तस्य स्यात् परः आरामे वा उद्याने वा निहत्य वा प्रविश्य वा पादौ आमृज्यात् वा प्रमृज्यात् वा नो तामास्वादयेत् नो तां नियमयेत् । एवं नेतव्या अन्योन्यक्रियापि ।

**पदार्थ-** परकिरियं-अपने से भिन्न अन्य व्यक्ति की चेष्टा को परक्रिया कहते हैं, वह परक्रिया । अञ्जित्थियं-अपनी आत्मा में क्रिया करता हुआ, अर्थात् कोई व्यक्ति साधु के अंगोपांग विषयक काय व्यापार रूप चेष्टा, यथा । संसेसियं-सांश्लेषिकी क्रिया अर्थात् पापकर्म की जनक । तं-उस क्रिया को । नो सायए-मन से भी न चाहे । तं-उस क्रिया को । नो नियमे-वाणी और काया से न कराए । सिया-कदाचित् । परो-अन्य गृहस्थ । से-उस साधु के । पाए-पैरों को । आमजिज्ज वा-वस्त्र से थोड़ा सा झाड़े । पमजिज्ज वा-वस्त्रादि से अच्छी तरह प्रमार्जन करे अर्थात् पूँछ कर साफ करे तो । तं-उस क्रिया को । नो सायए-साधु मन से भी न चाहे । तं नो नियमे-और वचन एवं शरीर से उस क्रिया को न कराए । से सिया परो-कदाचित् गृहस्थ उस साधु के । पायाइं-चरणों

को। संवाहिज्ज वा-संमर्दन करे अथवा। पलिमदिज्ज वा-सर्व प्रकार से मर्दन करे तो। तं-साधु उस क्रिया को। नो सायए-मन से भी न चाहे और। तं-उसको। नो नियमे-वचन और काया से न कराए। सिया-कदाचित्। परो-गृहस्थ। से-उस साधु के। पायाइं-चरणों को। फुसिज्ज वा-स्पर्शित करे। रइज्ज वा-अथवा रंगे तो। तं-उस क्रिया को। नो सायए-मन से न चाहे। तं-उसको। नो नियमे-वचन और काया से न कराए। सिया-कदाचित्। परो-गृहस्थ। से-साधु के। पायाइं-चरणों को। तिल्लेण वा-तैल से। घ०-घृत से। वसाए वा-अथवा वसा-औषधि विशेष से या सुगन्धित द्रव्य से। मक्खिज्ज वा-मसले। अब्भिंंगिज्ज वा-विशेष रूप से मर्दन करे तो। तं-साधु उस क्रिया को। नो सायए-मन से न चाहे और। तं-उस क्रिया को। नो-नियमे-वाणी और शरीर से न कराए। सिया-कदाचित्। परो-गृहस्थ। से-उसके-साधु के। पायाइं-चरणों को। लुद्धेण वा-लोध से। कक्केण वा-कर्क नामक द्रव्य विशेष से। चुन्नेण वा-चूर्ण से-गोधूमदि के चूर्ण से। वण्णेण वा-अबीर आदि वर्ण से। उल्लोद्धिज्ज वा-उद्वर्तन करे अथवा। उव्वस्सिज्ज वा-शरीर को संसृष्ट करे तो। तं-उस क्रिया को। नो सायए-मन से न चाहे तथा। तं-उसको। नो नियमे-वाणी और शरीर से न कराए। सिया-कदाचित्। परो-गृहस्थ। से-उसके-साधु के। पायाइं-पैरों को। सीओदगवियडेण वा-शीतल स्वच्छ एवं निर्मल जल से या। उसिणोदगवि०-उष्ण जल से। अच्छोलिज्ज वा-छाँटे दे या। प्होविज्ज वा-धोए तो। तं-उस क्रिया को। नो सायए-मन से न चाहे और। तं-उसको। नो नियमे-वचन और काया से न कराए। सिया-कदाचित्। परो-गृहस्थ। से-उस साधु के। पायाइं-पैरों को। अन्नयरेण-अन्य किसी। विलेवणजाएण-विलेपन से। आलिंपिज्ज वा-आलेपित करे। विलिंपिज्ज वा-विलेपित करे तो। तं-उस क्रिया को। नो सायए-मन से न चाहे। तं नो नियमे-उस क्रिया को वचन और काया से न करावे। सिया-कदाचित्। परो-गृहस्थ। से-उस साधु के। पायाइं-पैरों को। अन्नयरेण-अन्य किसी। धूवणजाएण-धूप से। धूविज्ज वा-धूपित करे। विधूविज्ज वा-विधूपित करे तो। तं नो सायए-उस क्रिया को मन से न चाहे। तं नो नियमे-उसको वाणी और शरीर से न कराए। सिया-कदाचित्। परो-गृहस्थ। से-उस साधु के। पायाओ-पैरों से। खाणुयं वा-खानु या। कंटयं-कंटक-कांटे को। निहरिज्ज वा-निकाले या। विसोहिज्ज वा-चरण को कंटक के शल्य से विशुद्ध करे तो। तं नो सायए-उसको मन से न चाहे। तं नो नियमे-उसको वचन और काया से न कराए। सिया-कदाचित्। परो-गृहस्थ। से-उसके-साधु के। पायाओ-चरणों से। पूयं वा-पीप-राध को। सोणियं वा-या शोणित-खून को। नीहरिज्ज-निकाल कर। विसोहिज्ज वा-चरणों को शुद्ध करे तो। तं नो सायए-उस क्रिया को मन से न चाहे। तं नो नियमे-उसको वचन और शरीर से न कराए।

सिया-कदाचित्। परो-गृहस्थ। से-उसके-साधु के। कायं-शरीर को। आमज्जेज्ज वा-वस्त्रादि से पोछे। पमज्जिज्ज वा-बार-बार पोछे तो। तं नो सायए-उस क्रिया को मन से न चाहे। तं नो नियमे-उसे वचन और काया से न कराए। सिया-कदाचित्। परो-गृहस्थ। से-उसके। कायं-शरीर को। संवाहिज्ज वा-संवाहन-संमर्दन करे। पलिमदिज्ज वा-या पूरी तरह से मालिश करे तो। तं नो सायए-उस क्रिया को साधु मन से न चाहे तथा। तं नो नियमे-वाणी और शरीर से न कराए। सिया-कदाचित्। परो-गृहस्थ। से-उस साधु के। कायं-शरीर को। तिल्लेण वा-तैल से। घ० वा-या घृत से। वसा०-या वसा-औषधि विशेष से या सुगन्धित द्रव्य से।

मक्खिज्ज वा-मसले या। अब्भंगिज्ज वा-चोपड़े। तं नो सायए-उस क्रिया को मन से न चाहे। तं नो नियमे-वाणी और शरीर से न कराए। सिया-कदाचित्। परो-गृहस्थ। से-उस के-साधु के। कार्य-शरीर को। लुद्धेण वा ४- लोधादि से। उल्लोढिज्ज वा-उद्वर्तन करे या। उव्वल्लिज्ज वा-संसृष्ट करे तो। तं नो सायए- उस क्रिया को साधु न तो मन से चाहे। तं नो नियमे-और न वचन तथा शरीर से कराए ॥ सिया-कदाचित्। परो-गृहस्थ। से-उस साधु की। कार्य-काया-शरीर को। सीओ-शीतल निर्मल जल से या। उसिणो-उष्ण जल से। उच्छोलिज्ज वा-उत्क्षालन करे-छीटें दे। प-अथवा धोए तो। तं नो सायए-उस क्रिया को साधु न तो मन से चाहे। तं नो नियमे-और न वाणी और शरीर से कराए। सिया-कदाचित्। परो-गृहस्थ। से-उस साधु की। कार्य-काया को। अन्नयरेण-अन्य किसी। विलेवणजाएण-विलेपन से। आलिंपिज्ज वा-आलेपन करे। विलिंपिज्ज वा-या विलेपित करे तो। तं नो सायए नो नियमे-उसको साधु न तो मन से चाहे और न वचन तथा काया से कराए ॥ सिया-कदाचित्। परो-गृहस्थ। से-उस साधु के। कार्य-शरीर को। अन्नयरेण-अन्य किसी। धूवणजाएण-धूप से। धूविज्ज वा-धूपित करे। पधूविज्ज वा-या प्रधूपित करे तो। तं नो सायए-उस क्रिया को मन से न चाहे तथा। तं नो नियमे-उस क्रिया को शरीर और वाणी से न कराए ॥

सिया-कदाचित्। परो-गृहस्थ। से-उस साधु के। कार्यसि-शरीर पर हुए। वणं-व्रण-फोड़े को देखकर। आमजिज्ज वा २ -वस्त्र से थोड़ा सा पोंछे या बार-बार पोंछे तो साधु। तं नो सायए-उस क्रिया को मन से न चाहे। तं नो नियमे-तथा वाणी और शरीर से उक्त क्रिया को न कराए। सिया-कदाचित्। से-उस साधु के। कार्यसि-शरीर गत। वणं-व्रण को देखकर। परो-अन्य गृहस्थ। संवाहिज्ज वा-उसका संवाहन करे या। पलि-सर्व प्रकार से मर्दन करे तो साधु गृहस्थ की। तं-उस क्रिया को। नो सायए-मन से न तो चाहे तथा। नो तं नियमे-न उसको वचन और काया से कराए ॥ सिया-कदाचित्। से-उस साधु के। कार्यसि-शरीर में होने वाले। वणं-व्रण को देख कर। परो-गृहस्थ उसे। तिल्लेण वा-तैल से। घ-अथवा घृत से या। वसाए-सुगन्धित द्रव्य से। मक्खिज्ज वा-मसले। अब्भं-अथवा चोपड़े तो। तं-उस क्रिया को साधु मन से। नो सायए-न चाहे। तं नो नियमे-तथा वचन और काया से न कराए। सिया-कदाचित्। से-उस साधु के। कार्यसि-काया में होने वाले। वणं-व्रण को देख कर। परो-गृहस्थ। लुद्धेण वा ४- लोधादि से। उल्लोढिज्ज वा-उद्वर्तन करे। उव्वल्लेज्ज वा-अथवा संसृष्ट करे तो साधु गृहस्थ की। तं-इस क्रिया को। नो सायए-न तो मन से चाहे और। तं नो नियमे-न उसको वचन तथा काया से कराए। सिया-कदाचित्। से-उस साधु के। कार्यसि-शरीर में हुए। वणं-व्रण को देखकर। परो-गृहस्थ। सीओ उ-शीतल निर्मल जल से या उष्ण जल से। उच्छोलिज्ज वा-उत्क्षालन करे या धोए तो। तं-उस क्रिया को। नो सायए २- न तो मन से चाहे, न वचन से कहे और न काया से कराए। सिया-कदाचित्। से-उस साधु के। कार्यसि-शरीर में हुए। वणं-व्रण को देख कर। गंडं वा-अथवा विशेष जाति के व्रण को देखकर। परो-गृहस्थ तथा। अरइं वा-अरति-व्रण विशेष। पुलइंथं वा-पुलक व्रण विशेष अथवा। भगंदलं वा-भगन्दर नाम के व्रण विशेष को देख कर उसे। अच्चिंदिज्ज वा-थोड़ा सा छेदन करे। विच्चिंदिज्ज वा-विशेष रूप से छेदन करे तो। तं-गृहस्थ की इस क्रिया को साधु। नो सायए-न तो मन से चाहे। तं नो नियमे-न वाणी से कहे और न काया से कराए। सिया-कदाचित्। से-साधु के। कार्यसि-शरीर गत। वणं-व्रण आदि

को देखकर। परो-गृहस्थ उसे। अन्न-अन्य किसी। सत्थजाएण-शस्त्र विशेष से। अच्छिंदित्ता वा-थोड़ा सा छेदन करके। विच्छिंदित्ता वा-विशेष रूप में छेदन करके उस में से। पूयं वा-पीप को। सोणियं वा-या शोणित खून को। नीहरिज्ज वा-निकाले। वि-या विशुद्ध करे तो। तं-गृहस्थ की उक्त क्रिया को साधु। नो सायए-मन से न चाहे। तं नो नियमे-उक्त क्रिया को वचन तथा काया से न कराए।

सिया-कदाचित्। से-उस साधु के। कायंसि-शरीर में होने वाले। गंडं वा-गंड-व्रण विशेष को। अरइं वा-अरति-अर्श विशेष को। पुलइयं वा-पुलक-व्रण विशेष को। भगंदलं वा-अथवा भगन्दर नाम के व्रण विशेष को देखकर। परो-गृहस्थ यदि उसे। आमज्जिज्ज वा-वस्त्रादि से थोड़ा सा साफ करे। पमज्जिज्ज वा-अथवा विशेष रूप से प्रमाजित करे तो साधु। तं नो सायए नो नियमे-उसको मन से न चाहे, वाणी से न कहे और शरीर से न कराए। सिया-कदाचित्। से-साधु के। कायंसि-शरीर में उत्पन्न हुए। गंडं वा ४-फोड़े आदि को देखकर। परो-गृहस्थ उसे। संवाहिज्ज वा-संवाहन करे-थोड़ा सा मसले। पलि-सर्व प्रकार से संमर्दन करे-मसले तो साधु। तं नो सायए तं नो नियमे-गृहस्थ की इस क्रिया को न मन से चाहे, न वचन और काया से कराए। सिया-कदाचित्। से-साधु के। कायंसि-शरीर में उत्पन्न हुए। गंडं वा ४-गंडादि व्रण को देखकर। परो-गृहस्थ उसे। तिल्लेण वा-तैल से। घ-घृत से। वसा-किसी सुगन्धित द्रव्य से। मक्खिज्ज वा २-मसले तो। तं-उस क्रिया को। नो सायए-मन से न चाहे। तं नो नियमे-उसको वाणी और शरीर से न कराए। सिया-कदाचित्। से-साधु के। कायंसि-शरीर में उत्पन्न हुए। गंडं वा ४-गंडादि व्रण को देखकर। परो-गृहस्थ उसे। लुद्धेण वा ४-लोधादि से। उल्लेढिज्ज वा-उद्धर्तन करे। उ-अथवा संसृष्ट करे। तं नो सायए-उस क्रिया को मन से न चाहे। तं नो नियमे-उस क्रिया को वचन और काया से न कराए। सिया-कदाचित्। से-उसके-साधु के। कायंसि शरीर में से उत्पन्न हुए। गंडं वा-फोड़े आदि को देख कर। परो-गृहस्थ उसे। सीओदग-शीतोदक से। उ-अथवा उष्णोदक से। उच्छोलिज्ज वा-उत्क्षालन करे-छींटे देवे। प-अथवा प्रक्षालन करे-धोवे। तं-उस क्रिया को साधु। नो सायए-मन से न चाहे। तं-उस क्रिया को साधु। नो नियमे-वाणी से न कहे तथा शरीर से न कराए। सिया-कदाचित्। से-उसके-साधु के। कायंसि-शरीर में उत्पन्न हुए। गंडं वा ४-गंडादि व्रणों को देख कर। परो-गृहस्थ उन्हें। अन्नयरेण-किसी। सत्थजाएण-शस्त्र विशेष से। अच्छिंदित्ता वा-थोड़ा सा छेदन करे। वि-विशेष छेदन करे, तथा। अन्न-सत्थ-अन्य किसी शस्त्र विशेष से उस व्रण को। अच्छिंदित्ता वा २-थोड़ा या अधिक छेदन करके उसमें से। पूयं वा-पीप को। सोणियं वा-या शोणित को। नीहरि-निकाल कर। विसोहि-उसे विशुद्ध करे तो। तं-उस क्रिया को। नो सायए-साधु मन से न चाहे। तं-उस क्रिया को साधु। नो नियमे-वाणी से न कहे और शरीर से न कराए।

सिया-कदाचित्। से-उसके-साधु के। कायंसि-शरीर में उत्पन्न हुए। सेयं वा-स्वेद को देखकर। परो-गृहस्थ अथवा शरीर में उत्पन्न हुए। जल्लं वा-मलयुक्त जल को देखकर उसे। नीहरिज्ज वा-निकाले। वि-विशुद्ध करे तो। तं-उस क्रिया को। नो सायए-साधु मन से न चाहे। तं नो नियमे-उस क्रिया को वाणी और शरीर से न कराए। सिया-कदाचित्। परो-गृहस्थ। से-उसके-साधु के। अच्छिमलं वा-आंख के मैल को। कणमलं वा-कान के मैल को। नहमलं वा-नखों के मैल को। नीहरिज्ज वा-दूर करे। वि-अथवा विशुद्ध

करे तो। तं-उस क्रिया को। नो सायए-मन से न चाहे तथा। तं नो नियमे-उस क्रिया को वचन और काया से न कराए। सिया-कदाचित्। परो-गृहस्थ। से-उसके-साधु के। दीहाइं-दीर्घ। वालाइं-बालों को। दीहाइं-दीर्घ। रोमाइं-रोमों को। दीहाइं भमुहाइं-दीर्घ भुवों को तथा। दीहाइं कक्खरोमाइं-दीर्घ कक्षा के रोमों को। दीहाइं-दीर्घ। वत्थिरोमाइं-वस्ति के रोमों को-गुह्य प्रदेश के रोमों को। कप्पिज्ज वा-काटे। संठविज्ज वा-अथवा संवारे अर्थात् केंची उस्तरे आदि से काट कर संवारे, सुशोभित करे तो। तं-उस क्रिया को। नो सायए-साधु मन से न चाहे। तं-उसको। नो नियमे-वाणी और शरीर से न करावे ॥ सिया-कदाचित्। परो-गृहस्थ। से-उसके-साधु के। सीसाओ-सिर में से। लिक्खं-लीखें। वा-अथवा। जूयं वा-जूओं को। नीहरिज्ज वा-निकाले। विं-अथवा विशुद्ध करे तो। तं-उस को साधु। नो सायए-मन से न चाहे। तं नो नियमे-तथा उस क्रिया को वचन से और शरीर से न कराए।

सिया-कदाचित्। परो-गृहस्थ। से-उस को-साधु को। अंकंसि वा-अपनी गोद में। पलियंकंसि वा-अथवा पर्यक पर। तुयट्टावित्ता-सुलाकर अर्थात् गोद आदि में लिटा कर उसके। पायाइं-चरणों को। आमज्जिज्ज वा-थोड़ा सा वस्त्रादि से झाड़े अथवा। पमं-अच्छी तरह से प्रमार्जित करे तो। एवं-इस प्रकार। हिट्ठिमो-पूर्वोक्त। गमो-पाठ जो कि। पायाइं-पैरों के विषय में कहा है वह सब यहां पर भी। भाणियव्वो-कहना चाहिए। सिया-कदाचित्। परो-गृहस्थ। से-उस साधु को। अंकंसि वा-अपनी गोद में। पलियंकंसि वा-पर्यक में। तुयट्टावित्ता-लिटा कर। हारं वा-१८ लड़ी के हार को। अब्द्धहां-नौ लड़ी के हार को। उरत्थं वा-छाती पर लटका कर। गेवेयं वा-या गले में डाल कर। मउडं वा-मुकुट तथा। पालंबं वा-झुमके आदि से युक्त करके या। सुवण्णसुत्तं वा-सुवर्ण के सूत्र को। आविहिज्ज वा-बान्धे। पिणहिज्ज वा-या पहनावे तो। तं-उस क्रिया को साधु। नो सायए-मन से न चाहे। तं-तथा उसको। नो नियमे-वचन और काया से न कराए।

सिया-कदाचित्। परो-गृहस्थ। से-उसको-साधु को। आरामंसि वा-आराधन में। उज्जाणंसि वा-अथवा उद्यान में। नीहरित्ता वा-ले जाकर। पविसित्ता वा-अथवा प्रवेश कराकर उसके। पायाइं-चरणों को। आमज्जिज्ज वा-थोड़ा सा झाड़े। पमज्जिज्ज वा-अथवा विशेष रूप से प्रमार्जित करे तो। तं-उस क्रिया को साधु। नो सायए-न तो मन से चाहे तथा। नो तं-नाहीं उसको। नियमे-वाणी और शरीर द्वारा करावे। एवं-इसी प्रकार। अन्नमन्नकिरियावि-परस्पर साधुओं की क्रिया के विषय में भी। नेयव्वा-जान लेना चाहिए अर्थात् जिस प्रकार पर-गृहस्थ सम्बन्धि क्रिया के विषय में कथन किया है, उसी प्रकार साधुओं की परस्पर क्रिया के सम्बन्ध में जान लेना चाहिए।

मूलार्थ—यदि कोई गृहस्थ मुनि के शरीर पर कर्मबन्धन रूप क्रिया करे तो मुनि उसको मन से न चाहे और न वचन से तथा काया से उसे कराए। जैसे- कोई गृहस्थ मुनि के चरणों को साफ करे, प्रमार्जित करे, आमर्दन या संमर्दन करे - तेल से, घृत से या वसा (औषधिविशेष) से मालिश करे। एवं लोध से, कर्क से, चूर्ण से या वर्ण से उद्धर्तन करे या निर्मल शीतल जल से, उष्ण जल से प्रक्षालन करे या इसी प्रकार विविध प्रकार के विलेपनों से आलेपन और विलेपन करे। धूप

विशेषसे धूपित और प्रधूपित करे, मुनि के पैर में लगे हुए कंटक आदि को निकाले और शल्य को शुद्ध करे तथा पैरों से पीप और रुधिर को निकाल कर शुद्ध करे तो मुनि गृहस्थ से उक्त क्रियाएं कदापि न कराए।

इसी तरह यदि कोई गृहस्थ साधु के शरीर में उत्पन्न हुए व्रण-सामान्य फोडा, गंड, अर्श, पुलक और भगंदर आदि व्रणों को शस्त्रादि के द्वारा छेदन करके पूय और रुधिर को निकाले तथा उसको साफ करे एवं जितनी भी क्रियाएं चरणों के सम्बन्ध में कही गई हैं वे सब क्रियाएं करे, तथा साधु के शरीर पर से स्वेद और मल युक्त प्रस्वेद को दूर करे, एवं आंख, कान, दांत और नखों के मल को दूर करे तथा शिर के लम्बे केशों, और शरीर पर के दीर्घ रोमों को अथच बस्ति ( गुदा आदि गुह्य प्रदेश ) गत दीर्घ रोमों को कतरे अथवा संवारे, तथा सिर में पड़ी हुई लीखों और जुओं को निकाले। इसी प्रकार साधु को गोद में या पलंग पर बिठा कर या लिटाकर उसके चरणों को प्रमार्जन आदि करे, तथा गोद में या पलंग पर बिठा कर हार ( १८ लड़ी का ) अर्द्धहार ( ९ लड़ी का ) छाती पर पहनाने वाले आभूषणों ( गहने ) गले में डालने के आभूषणों एवं मुकुट, माला और सुवर्ण के सूत्र आदि को पहनाए, तथा आराम और उद्यान में ले जाकर चरण प्रमार्जनादि पूर्वोक्त सभी क्रियाएं करे, तो मुनि उन सब क्रियाओं को न तो मन से चाहे और न वाणी अथच शरीर द्वारा उन्हें करवाने का प्रयत्न करे। तथा इसी प्रकार साधु भी परस्पर में पूर्वोक्त क्रियाओं का आचरण न करें।

**हिन्दी विवेचन**— प्रस्तुत सूत्र में परक्रिया के सम्बन्ध में विस्तार से वर्णन किया गया है। इस में बताया गया है कि यदि कोई गृहस्थ साधु के पैर आदि का प्रमार्जन करके उसे गर्म या ठण्डे पानी से धोए और उस पर तेल, घृत आदि स्निग्ध पदार्थों की मालिश करे या उसके घाव आदि को साफ करे या बवासीर आदि की विशेष रूप से शल्य चिकित्सा आदि करे, या कोई गृहस्थ साधु को अपनी गोद में या पलंग पर बैठा मालिश कर उसे आभूषणों से सुसज्जित करे, या उसके सिर के बाल, रोम, नख एवं गुत्तांगों पर बड़े हुए बालों को देखकर उन्हें साफ करे, तो साधु उक्त क्रियाओं को न मन से चाहे और न वाणी एवं काया से उनके करने की प्रेरणा दे। वह उक्त क्रियाओं के लिए स्पष्ट इन्कार कर दे।

यह सूत्र विशेष रूप से जिन कल्पी मुनि से संबद्ध है, जो रोग आदि के उत्पन्न होने पर भी औषध का सेवन नहीं करते। स्थविर कल्पी मुनि निरवद्य एवं निर्दोष औषध ले सकते हैं। ज्ञातासूत्र में शैलक राजऋषि के चिकित्सा करवाने का उल्लेख है। परन्तु साधु को बिना किसी विशिष्ट कारण के गृहस्थ से तेल आदि का मर्दन नहीं करवाना चाहिए। और इसी दृष्टि से सूत्रकार ने गृहस्थ के द्वारा चरण स्पर्श आदि का निषेध किया है। यह निषेध भक्ति की दृष्टि से नहीं, बल्कि तेल आदि की मालिश करने की अपेक्षा से किया गया है। यदि कोई गृहस्थ श्रद्धा एवं भक्तिवश साधु का चरण स्पर्श करे तो इसके लिए भगवान ने निषेध नहीं किया है। उपासकदशांग सूत्र में बताया गया है कि जब गौतम आनन्द श्रावक को दर्शन देने गए तो आनन्द ने उनके चरणों का स्पर्श किया था। इससे स्पष्ट होता है कि यदि कोई गृहस्थ वैयावृत्य करने या पैर आदि प्रक्षालन करने के लिए पैरों का स्पर्श करे तो साधु उसके लिए इन्कार कर दे। यह वैयावृत्य करवाने का प्रकरण जिनकल्पी एवं स्थविर कल्पी सभी मुनियों से सम्बन्धित है अर्थात्



किसी भी मुनि को गृहस्थ से पैर आदि की मालिश नहीं करवानी चाहिए और गृहस्थ से उनका प्रक्षालन भी नहीं करवाना चाहिए।

इसी तरह यदि कोई गृहस्थ साधु को अपनी गोद में या पलंग पर बैठाकर उसे आभूषण आदि से सजाए या उसके सिर के बाल, रोम, नख आदि को साफ करे तो साधु ऐसी क्रियाएं न करवाए। इस पाठ से यह स्पष्ट होता है कि यह जिनकल्पी मुनि के प्रकरण का है, और वह केवल मुखवस्त्रिका और रजोहरण लिए हुए है। क्योंकि इस पाठ में बताया गया है कि कोई गृहस्थ मुनि के सिर के, कुक्षि के तथा गुप्तांगों के बड़े हुए बाल देखकर उन्हें साफ करना चाहे तो साधु-ऐसा न करने दे। यहां पर मूँछ एवं दाढ़ी के बालों का उल्लेख नहीं किया गया है। इससे स्पष्ट होता है कि मुखवस्त्रिका के कारण उसके दाढ़ी एवं मूँछों के बाल दिखाई नहीं देते हैं और चादर एवं चोलपट्टक नहीं होने के कारण कुक्षि एवं गुप्तांगों के बाल परिलक्षित हो रहे हैं। इससे यह भी सिद्ध होता है कि सर्वथा नग्न रहने वाले जिनकल्पी मुनि भी मुखवस्त्रिका और रजोहरण रखते थे अतः यदि कोई गृहस्थ कुक्षि आदि के बाल साफ करे तो साधु उससे साफ न कराए।

इससे यह स्पष्ट होता है कि साधु को गृहस्थ से पैर दबाने आदि की क्रियाएं नहीं करवानी चाहिए। क्योंकि यह कर्म बन्ध का कारण है, इसलिए साधु मन, वचन और शरीर से इनका आसेवन न करे। और बिना किसी विशेष कारण के परस्पर में भी उक्त क्रियाएं न करे। क्योंकि दूसरे साधु के शरीर आदि का स्पर्श करने से मन में विकार भाव जागृत हो सकता है और स्वाध्याय का महत्त्वपूर्ण समय यों ही नष्ट हो जाता है। अतः साधु को परस्पर में मालिश आदि करने में समय नहीं लगाना चाहिए। परन्तु विशेष परिस्थिति में साधु अपने साधर्मिक साधु की मालिश आदि कर सकता है, उसके घावों को भी साफ कर सकता है। अस्तु, यह पाठ उत्सर्ग मार्ग से संबद्ध है और उत्सर्ग-मार्ग में साधु को परस्पर में ये क्रियाएं नहीं करनी चाहिए।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार फरमाते हैं—

मूलम्— से सिया परो सुद्धेणं असुद्धेणं वा वड्बलेण वा तेइच्छं आउट्टे से० असुद्धेणं वड्बलेणं तेइच्छं आउट्टे० । से सिया परो गिलाणस्स सच्चित्ताणि वा कंदाणि वा मूलाणि वा तथाणि वा हरियाणि वा खणित्तु वा कड्डित्तु वा कड्ढावित्तु वा तेइच्छं आउट्टाविज्ज नो तं सा० २ कड्ढवेयणा पाणभूयजीवसत्ता वेयणं वेइंति, एयं खलु० समिण्ण सया जए सेयमिणं मन्निज्जासि । त्तिबेमि ॥१७३ ॥

छाया— तस्य स्यात् परः शुद्धेन अशुद्धेन वा वाग्बलेन चिकित्साम् आवर्तेत (व्याध्युपशमं कर्तुमभिलषेत्) तस्य स्यात् परः अशुद्धेन वाग्बलेन चिकित्सामावर्तेत ॥ तस्य स्यात् परः ग्लानस्य सच्चित्तानि वा कन्दानि वा मूलानि वा त्वचो वा हरितानि वा खनित्वा कर्षित्वा वा कर्षयित्वा वा चिकित्सामावर्तेत (कर्तुमभिलषेत्) नो तामस्वादयेत् नो तां नियमयेत् । कटुकवेदनां प्राणिभूतजीवसत्त्वा वेदनां वेदयन्ति । एतत् खलु० समितः सदा यतेत

श्रेय इदं मन्येत। इति ब्रवीमि।

**पदार्थ**—से-उस साधु की। सिया-कदाचित्। परो-गृहस्थ। सुद्धेणं-शुद्ध। असुद्धेणं-या अशुद्ध। वइबलेणं-मंत्रादि के बल से। तेइच्छं-चिकित्सा। आउट्टे- करनी चाहे। से-उस साधु की। सिया-कदाचित्। परो-गृहस्थ। असुद्धेणं-अशुद्ध। वइबलेणं-मंत्रादि के बल से। तेइच्छं-चिकित्सा। आउट्टे-करनी चाहे। से-उस साधु को। सिया-कदाचित्। परो-गृहस्थ। गिलाणस्स-रोगी जान कर। सचित्ताणि वा-सचित्त। कंदाणि वा-कन्द या। मूलाणि वा-मूल। तथाणि वा-त्वचा-वृक्ष की छाल या। हरियाणि वा-हरि-वनस्पति काय को। खनित्तु-खोद करके। कड्ढत्तु-निकाल कर या। कड्ढावित्तु-निकलवा कर। तेइच्छं-चिकित्सा। आउट्टाविज्ज वा-करनी चाहे तो साधु। तं-उस क्रिया को। नो सायए-मन से न चाहे तथा। तं-उसको। नो नियमे-वाणी से और शरीर से न कराए किन्तु मुनि यह भावना भावे कि। कडुवेयणा-यह जीव अशुभ कर्म का उपार्जन करके उसके फल स्वरूप कटुक वेदना का अनुभव करता है और सभी। पाणभूयजीवसत्ता-प्राणी, भूत, जीव और सत्त्व अपने किए हुए अशुभ कर्म के अनुसार। वेयणं-वेदना का। वेइंति-अनुभव करते हैं। इस प्रकार की विचारणा से उत्पन्न हुए रोगपरीषह की वेदना को समभाव से सहन करे। एयं-इस प्रकार। खलु-निश्चय ही। तस्स-उस। भिक्खुस्स २-साधु और साध्वी का यह। सामग्गियं-सम्पूर्ण आचार है। जाव-यावत्। समिए-पांच समितियों से युक्त साधु। सया-सदा इसके पालन करने में। जएज्जासि-यत्न करे और। सेयमिणं-यह अनुप्रेक्षा मेरे लिए कल्याण प्रद है। मनिज्जासि-ऐसा माने। तिबेमि-इस प्रकार मैं कहता हूँ।

**मूलार्थ**—यदि कोई सदगृहस्थ शुद्ध अथवा अशुद्ध मंत्रबल से साधु की चिकित्सा करनी चाहे, इसी प्रकार किसी रोगी साधु को कन्द-मूल आदि सचित्त वृक्ष, छाल और हरी वनस्पति का अवहनन करके चिकित्सा करनी चाहे तो साधु उसकी इस क्रिया को न तो मन से चाहे और न वाणी तथा शरीर से ऐसी सावद्य चिकित्सा कराए। किन्तु उस समय इस अनुप्रेक्षा से आत्मा को सान्त्वना देने का यत्न करे कि प्रत्येक प्राणी अपने पूर्व जन्म के किए हुए अशुभ कर्मों के फलस्वरूप कटुक वेदना का उपभोग करते हैं। अतः मुझे भी स्वकृत अशुभकर्म के फलस्वरूप इस रोग जन्म वेदना को शान्ति पूर्वक सहन करना चाहिए। मेरे लिए यही कल्याणकारी है और इस प्रकार का चिन्तन करते हुए समभाव से वेदना को सहन करने में ही मुनि भाव का संरक्षण है। इस प्रकार मैं कहता हूँ।

**हिन्दी विवेचन**—प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि यदि कोई गृहस्थ शुद्ध या अशुद्ध मंत्र से या सचित्त वस्तुओं से चिकित्सा करे तो साधु उसकी अभिलाषा न रखे और न उसके लिए वाणी एवं शरीर से आज्ञा दे। जिस मंत्र आदि की साधना या प्रयोग के लिए पशु-पक्षी की हिंसा आदि। सावद्य क्रिया करनी पड़े उसे अशुद्ध मंत्र कहते हैं। और जिसकी साधना एवं प्रयोग के लिए सावद्य अनुष्ठान न करना पड़े उसे शुद्ध मंत्र कहते हैं, परन्तु साधु उभय प्रकार की मंत्र चिकित्सा न करे और न अपने स्वास्थ्य लाभ के लिए सचित्त औषधियों का ही उपयोग करे। वह प्रत्येक स्थिति में अपनी आत्मशक्ति को बढ़ाने का प्रयत्न करे। वेदनीय कर्म के उदय से उदित हुए रोगों को समभाव पूर्वक सहन करे। वह यह सोचे कि पूर्व में बन्धे हुए अशुभ कर्म के उदय से रोग ने मुझे आकर घेर लिया है। इस वेदना का कर्ता मैं ही हूँ। जैसे मैंने

हंसते हुए इन कर्मों का बंध किया है उसी तरह हंसते हुए इनका वेदन करूंगा। परन्तु इनकी उपशान्ति के लिए किसी भी प्राणी को कष्ट नहीं दूंगा और न तंत्र-मंत्र का सहारा ही लूंगा।

वृत्तिकार ने यही कहा है कि हे साधक, तुझे यह दुख समभाव पूर्वक सहन करना चाहिए। क्योंकि बन्धे हुए कर्म समय पर अपना फल दिए बिना नष्ट नहीं होते हैं। और इन सब कर्मों का कर्ता भी तू ही है। अतः उसके फलस्वरूप प्राप्त होने वाले सुख-दुख को समभाव पूर्वक सहन करना चाहिए। क्योंकि सदसद् का ऐसा विवेक तुझे अन्यत्र कहीं प्राप्त नहीं होता है। इसलिए विवेक पूर्वक तुम्हें वेदना को समभाव से सहन करना चाहिए<sup>१</sup>।

‘त्तिबेमि’ की व्याख्या पूर्ववत् समझें।

॥ त्रयोदश अध्ययन समाप्त ॥

१ पुनरपि सहनीयो दुःखपाकस्तवायं ।  
न खलु भवति नाशः कर्मणां संचितानाम् ।  
इति सहगणयित्वा यद्यदायाति सम्यक् ।  
सदसदिति विवेकोऽन्यत्र भूयः कुतस्ते । १ ।

॥ सप्तसप्तिकाख्या द्वितीय चूला- अन्योन्यक्रिया ॥

## चतुर्दश अध्ययन ( पारस्परिक क्रिया )

त्रयोदशवें अध्ययन में पर क्रिया का निषेध किया गया है और प्रस्तुत अध्ययन में स्थविर कल्पी साधुओं को पारस्परिक क्रिया करने का निषेध किया गया है। जिनकल्पी एवं प्रतिमा संपन्न मुनि एकाकी विचरते हैं, इसलिए यह अध्ययन उनसे संबद्ध नहीं है। क्योंकि उन्हें औषध आदि की आवश्यकता ही नहीं होती है। इसलिए इसका संबंध स्थविर कल्पी मुनियों से है और उन्हें परस्पर औषध आदि क्रियाओं के प्रयोग करने का निषेध किया गया है। परन्तु किसी की सेवा शुश्रूषा एवं वैयावृत्य के लिए की जाने वाली क्रिया के लिए निषेध नहीं किया है। सामान्यतः सूत्रकार का उद्देश्य साधु को स्वावलम्बी बनाने का है। उसके जीवन में आलस्य एवं प्रमाद न आए और वह आराम तलब होकर दूसरों पर आधारित न रहे, इस दृष्टि से ही पारस्परिक क्रिया करने का निषेध किया है। इस विषय को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं-

मूलम्- से-भिव्खू वा २ अन्नमन्नकिरियं अञ्जत्थियं संसेइयं नो तं सायए० २। से अन्नमन्नं पाए आमज्जिज्ज वा नो तं, सेसं तं चेव एयं खलु० जइज्जासि, त्तिबेमि ॥१७४॥

छाया- स भिक्षुर्वा २ अन्योन्यक्रियां आध्यात्मिकीं सांश्लेषिकीं नो तामास्वादयेत् नो तां नियमयेत्। सः अन्योऽन्यः पादौ आमृज्यात् वा प्रमृज्यात् वा नो तामास्वादयेत् नो तां नियमयेत्। शेषं तच्चैव, एतत् खलु तस्य भिक्षोः सामग्र्यं यत् सर्वार्थैः यावत् सदा यतेत इति ब्रवीमि ॥

पदार्थ- से-वह। भिव्खू वा २-साधु अथवा साध्वी। अन्नमन्नकिरियं-परस्पर सम्बन्धि क्रिया जो कि। अञ्जत्थियं-आध्यात्मिकी-अपने आत्मा के विषय में की हुई। संसेसियं-सांश्लेषिकी-पाप कर्म को उत्पन्न करने वाली है। तं-उस क्रिया को। नो सायए-मन से न चाहे। तं-उस क्रिया को। नो नियमे-वचन से न कहे, और काया से न कराए जैसे कि। से-वह साधु। अन्नमन्नं-परस्पर। पाए-चरणों को। आमज्जिज्ज वा-थोड़ा सा मसले। पमज्जिज्ज वा-अथवा विशेष रूप से मसले तो। तं-उस क्रिया को। नो सायए-मन से न चाहे। तं नो नियमे-तथा उस क्रिया को वचन और काया से न कराए। सेसं-शेष वर्णन। तं चेव-पूर्ववत् ही जानना चाहिए। खलु-निश्चय में है। एवं-यह। तस्स भिव्खुस्स २-उस साधु और साध्वी का। सामगियं-सम्पूर्ण आचार है। जं-जो कि। सव्वट्ठेहिं-ज्ञानदर्शन और चारित्र रूप अर्थों से युक्त है। जाव-यावत्। सया-वह सदा इस का पालन करने का। जइज्जासि-यत्न करे। त्तिबेमि-इस प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—वह साधु या साध्वी परस्पर अपनी आत्मा के विषय में की हुई क्रिया—जो कि कर्म बन्धन का कारण है, को न मन से चाहे, न वचन से कहे, और न काया से कराए। जैसे कि परस्पर चरणों का प्रमार्जन आदि करना। शेष वर्णन त्रयोदशवें अध्ययन के समान जानना चाहिए। यह साधु का संपूर्ण आचार है, उसे सदा सर्वदा संयम को परिपालन करने में प्रयत्नशील रहना चाहिए। इस प्रकार मैं कहता हूँ।

**हिन्दी विवेचन**—प्रस्तुत सूत्र में पारस्परिक क्रिया का निषेध किया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि साधु एक-दूसरे साधु को यह न कहे कि तू मेरे पैर आदि की मालिश कर और मैं तेरे पैर की मालिश करूँ। परन्तु, इसका यह अर्थ नहीं है कि साधु किसी साधु की बीमारी आदि की अवस्था में गुरु आदि की आज्ञा से उसकी सेवा भी नहीं करे। यह निषेध केवल बिना कारण ऐसी क्रियाएं करने के लिए किया गया है। जिससे जीवन में आरामतलबी एवं प्रमाद न बढ़े और स्वाध्याय का समय केवल शरीर को सजाने एवं संवारने में ही पूरा न हो जाए। इससे स्पष्ट होता है कि विशेष कारण उपस्थित होने पर की जाने वाली सेवा-शुश्रूषा का निषेध नहीं किया गया है। क्योंकि आगम में वैयावृत्य करने से मिलने वाले फल का निर्देश करते हुए बताया है कि यदि वैयावृत्य करते हुए उत्कृष्ट भावना आ जाए तो आत्मा तीर्थंकर गोत्र कर्म का बन्ध करता है<sup>१</sup>। इस प्रकार वैयावृत्य से महानिर्जरा का होना भी बताया गया है<sup>२</sup>। इससे स्पष्ट होता है कि राग-द्वेष से ऊपर उठकर बिना स्वार्थ से की जाने वाली सेवा-शुश्रूषा का सूत्रकार ने निषेध नहीं किया है।

‘त्तिबेमि’ का अर्थ पूर्ववत् समझें।

॥ चतुर्दश अध्ययन ( द्वितीया चूला ) समाप्त ॥

१ वेयावच्छेपं भंते जीवे किं जणचइ ? वेयावच्छेपं तित्थयर नामगोत्तं कम्मं निबंध्यइ।

— उत्तराध्ययन सूत्र २९, ४३।

२ व्ययहार सूत्र, उद्देशक १०।

॥ तृतीय चूला- भावना अध्ययन ॥

## पञ्चदश अध्ययन ( भगवान महावीर की साधना )

आचारांग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कंध के नवम अध्ययन में भगवान महावीर की साधना का महत्त्वपूर्ण वर्णन मिलता है। उसमें भगवान महावीर की उत्कट साधना का सजीव रूप देखने को मिलता है। उसमें साधना के वर्णन के साथ भगवान के जीवन का परिचय नहीं दिया है। अतः उसकी पूर्ति प्रस्तुत अध्ययन में की गई है। इस में भगवान महावीर के जन्म एवं जीवन-चर्या का उल्लेख करके उनके द्वारा स्वीकृत ५ महाव्रतों की २५ भावनाओं का वर्णन किया गया है। इसमें भगवान को कुमार ग्राम से लेकर जूँभिका तक, क्या २ कष्ट आए इसका वर्णन नहीं किया गया है। क्योंकि यह विवरण उपधान अध्ययन में किया जा चुका है, अतः उसे यहाँ फिर से नहीं दोहराया गया। इससे स्पष्ट होता है कि प्रस्तुत अध्ययन तीसरी चूला के रूप में सन्निहित होने के कारण उपधान अध्ययन की संपूर्ति रूप कहा जा सकता है। प्रस्तुत अध्ययन का महत्त्व भगवान के दिव्य, भव्य एवं कल्याणकारी जीवन की अलौकिकता को दिखाने में है, और उस आदर्श जीवन की साधना से प्रेरणा लेकर साधक के जीवन में साधना का उज्वल प्रकाश फैलाने में है। अतः भगवान महावीर के जीवन का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं-

मूलम्- तेषां कालेणं तेषां समएणं समणे भगवं महावीरे पंचहत्थुत्तरे यावि होत्था, तंजहा-हत्थुत्तराहिं चुए, चइत्ता गब्भं वक्कंते, हत्थुत्तराहिं गब्भाओ गब्भं साहरिए, हत्थुत्तराहिं जाए, हत्थुत्तराहिं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए, हत्थुत्तराहिं कसिणे पडिपुण्णे अच्चाघाए निरावरणे अणंते अणुत्तरे केवलवरणाणदंसणे समुप्पन्ने, साइणा भगवं परिनिव्वुए ॥१७५ ॥

छाया- तस्मिन् काले तस्मिन् समये श्रमणो भगवान् महावीरः पंचहस्तोत्तरश्चापि अभूत् । तद्यथा हस्तोत्तरासु च्युतः च्युत्वा गर्भं व्युत्क्रान्तः । १ । हस्तोत्तरासु गर्भाद् गर्भं संहतः । २ । हस्तोत्तरासु जातः । ३ । हस्तोत्तरासु मुण्डो भूत्वा अगारादनगारतां प्रव्रजितः । ४ । हस्तोत्तरासु, कृत्स्नं प्रतिपूर्णं अच्चाघातं निरावरणमनन्तमनुत्तरं केवलवरज्ञानदर्शनं समुत्पन्नम् । ५ । स्वातौ भगवान् परिनिवृतः ।

पदार्थ- तेषां कालेणं-उस काल और । तेषां समएणं-उस समय । समणे-श्रमण । भगवं-भगवान् । महावीरे-महावीर स्वामी के । पंचहत्थुत्तरा होत्था-पांच कल्याणक उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में हुए । तंजहा-जैसे । हत्थुत्तराहिं चुए-उत्तराफाल्गुनी में देवलोक से च्युत हुए । चइत्ता-च्युत होकर । गब्भं वक्कंते-गर्भ में उत्पन्न हुए । हत्थुत्तराहिं-उत्तरा फाल्गुनी में । गब्भाओ-गर्भ से । गब्भं-गर्भ में अर्थात् एक गर्भ से दूसरे गर्भ में । साहरिए-संहरण किए गए । हत्थुत्तराहिं-उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में । जाए-उत्पन्न हुए । हत्थुत्तराहिं-उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र में ।

अण्ते-अनन्त। अणुत्तरे-प्रधान। अब्वाघाए-निर्व्याघात-व्याघात रहित। निरावरणो-निरावरण-आवरण रहित। कसिणो-सम्पूर्ण। पडिपुण्णो-प्रतिपूर्ण। वर-प्रधान। केवलवरनाण-केवल ज्ञान। दंसणो-केवल दर्शन से। समुप्पणो-समुत्पन्न हुए और। साइणा-स्वाति नक्षत्र में। भगवं-भगवान। परिनिब्बुए-मोक्ष को प्राप्त हुए।

**मूलार्थ**—उस काल और उस समय में श्रमण भगवान् महावीर के पांच कल्याणक उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में हुए। जैसे कि-भगवान उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में देवलोक से च्यव कर गर्भ में उत्पन्न हुए, उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में ही गर्भ से गर्भान्तर में संहरण किए गए। उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में ही भगवान ने जन्म लिया। उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में ही भगवान मुंडित हो कर सागार से अनगार-साधु बने और उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र में ही भगवान ने अनन्त, प्रधान, निर्व्याघात, निरावरण, कृत्स्न, प्रतिपूर्ण केवल ज्ञान और केवल दर्शन को प्राप्त किया और स्वाति नक्षत्र में भगवान मोक्ष पधारे।

**हिन्दी विवेचन**—प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि भगवान महावीर के पांच कल्याणक उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में हुए और एक स्वाति नक्षत्र में हुआ। भगवान का गर्भ में आना, गर्भ का गर्भान्तर में संहरण, जन्म, दीक्षा एवं केवल ज्ञान की प्राप्ति ये पांचों कार्य उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में हुए और स्वाति नक्षत्र में निर्वाण पद प्राप्त किया। इससे ६ कल्याणक सिद्ध होते हैं, परन्तु वस्तुतः देखा जाए तो कल्याणक ५ ही हुए हैं। गर्भ संहरण को नक्षत्र साम्य की दृष्टि से साथ में गिन लिया गया है। परन्तु, इसे कल्याणक नहीं कह सकते। यह तो एक आश्चर्य जनक घटना है। यदि इसके उल्लेख मात्र से इसे कल्याणक माना जाए तो फिर भगवान ऋषभ देव के भी ६ कल्याणक मानने पड़ेंगे। क्योंकि आगम में लिखा है कि भगवान के पांच कार्य उत्तराषाढा नक्षत्र में और एक अभिजित् नक्षत्र में हुआ है<sup>१</sup>। परन्तु इतना उल्लेख मिलने पर भी उनके ५ कल्याणक माने जाते हैं। क्योंकि विशिष्ट बात को कल्याणक नहीं माना जाता है। केवल नक्षत्र की समानता के कारण उसका साथ में उल्लेख कर दिया जाता है।

प्रस्तुत सूत्र में 'उस काल और उस समय में' इन दो शब्दों का प्रयोग किया गया है। इसमें 'काल' चौथे आरे का बोधक है और 'समय' जिस समय भगवान गर्भ आदि में आए उस समय का संसूचक है। काल से पूरे युग का और समय से वर्तमान काल का परिज्ञान होता है।

भग-संपन्न व्यक्ति को भगवान कहा गया है। भग शब्द के १४ अर्थ होते हैं— १ अर्क, २ ज्ञान, ३ महात्मा, ४ यश, ५ वैराग्य, ६ मुक्ति, ७ रूप, ८ वीर्य (शक्ति), ९ प्रयत्न, १० इच्छा, ११ श्री, १२ धर्म, १३ ऐश्वर्य और १४ योनि। इनमें प्रथम और अन्तिम। (अर्क और योनि) दो अर्थों को छोड़कर शेष सभी अर्थ भगवान में संघटित होते हैं।

'हत्थुत्तरे' शब्द का अर्थ है जिस नक्षत्र के आगे हस्त नक्षत्र है उसे 'हत्थुत्तरे' नक्षत्र कहते हैं। गणना करने से उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र ही आता है।

इस विषय को विस्तार से स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— समणे भगवं महावीर इमाए ओसपिणीए सुसमसुसमाए समाए वीड्कंताए, सुसमाए समाए वीड्कंताए, सुसमदुस्समाए समाए वीड्कंताए, दुसमसुसमाए समाए बहुविड्कंताए पन्नहत्तरीए वासेहि मासेहि य अद्धनवमेहि सेसेहिं जे से गिम्हाणं चउत्थे मासे अट्ठमे पक्खे आसाढसुद्धे तस्स णं आसाढ-सुद्धस्स छट्ठीपक्खेणं हत्थुत्तराहिं नक्खत्तेणं जोगमुवागएणं महाविजय-सिद्धत्थपुप्फुत्तरवरपुंडरीयदिसासोवत्थियवद्धमाणाओ, महाविमाणाओ वीसं सागरोवमाइं आउयं पालइत्ता आउक्खएणं ठिड्क्खएणं भवक्खएणं चुए चइत्ता इह खलु जंबुद्वीवे दीवे भारहे वासे दाहिणइड्भरहे दाहिणमाहणकुंडपुरसंनिवेशंमि उसभदत्तस्स माहणस्स कोडालसगोत्तस्स देवाणंदाए माहणीए जालंधरस्सगुत्ताए सीहुब्भवभूएणं अप्पाणेणं कुच्छंसि गब्भं वक्कंते ।

छाया— श्रमणो भगवान् महावीरः अस्यां अवसर्पिण्यां सुषमसुषमायां समायां व्यतिक्रान्तायां, सुषमायां समायां व्यतिक्रान्तायां, सुषमदुषमायां समायां व्यतिक्रान्तायां, दुषमसुषमायां समायां बहुव्यतिक्रान्तायां पंचसप्तति वर्षेषु मासेषु च अद्धनवमेषु शेषेषु योऽसौ ग्रीष्मस्य चतुर्थो मासः अष्टमः पक्षः आषाढशुद्धः ( आषाढ शुक्लः ) तस्य आषाढशुद्धस्य षष्ठीपक्षेण हस्तोत्तराभिः नक्षत्रेण योगमुपागते महाविजयसिद्धार्थपुष्पोत्तरवरपुण्डरीकदिक-स्वस्तिक वर्द्धमानात् महाविमानात् विंशतिसागरोपमानि आयुष्कं पालयित्वा आयुःक्षयेण स्थितिक्षयेण भवक्षयेण च्युतः च्युत्वा इह खलु जम्बूद्वीपे द्वीपे भारते वर्षे दक्षिणाद्धर्भरते दक्षिणब्राह्मणकुण्डपुरसंनिवेशे ऋषभदत्तस्य ब्राह्मणस्य कुडालगोत्रस्य देवानन्दाया ब्राह्मण्याः जालन्धरगोत्रायाः सिंहोद्भवभूतेन आत्मना कुक्षौ गर्भे व्युत्क्रान्तः ।

पदार्थ— समणे—श्रमण । भगवं—भगवान् । महावीरं—महावीर । इमाए—इस । ओसपिणीए—अवसर्पिणी काल के । सुसमसुसमाए—सुषम-सुषम नाम वाले चार कोटा-कोटी सागर प्रमाण वाले । समाए—प्रथम आरे के । वीड्कंताए—व्यतीत हो जाने पर, तथा । सुसमाए समाए वीड्कंताए—सुषमा नाम वाले तीन कोटा-कोटी सागर प्रमाण वाले दूसरे आरे के बीत जाने पर । सुसमदुस्समाए समाए वीड्कंताए—सुषम-दुषम नाम वाले दो कोटा-कोटी सागर प्रमाण वाले तीसरे आरे के बीत जाने पर तथा । दुसमसुसमाए समाए बहुवीड्कंताए—दुषम-सुषम नाम वाले चतुर्थ आरे के बहुत बीत जाने पर, अर्थात् चतुर्थ आरक बयालीस हजार वर्ष कम एक कोटा कोटी सागरोपम प्रमाण का होता है, उसके केवल । पन्नहत्तरीए वासेहिं—७५ वर्ष । य-और । अद्धनवमेहिं मासेहिं—साढ़े आठ मास । सेसेहिं—शेष रहने पर । जे-जो । से-यह । गिम्हाणं—ग्रीष्म ऋतु का । चउत्थे मासे—चौथा मास । अट्ठमे पक्खे—आठवां पक्ष । आसाढसुद्धे—आषाढ शुक्ल । णं—वाक्यालंकार में है । तस्स—उस ।



आसाढसुद्धस्स-आषाढ शुक्ल पक्ष की। छट्ठीपक्खेणं-छठी रात्रि में। हत्थुतराहिं नक्खत्तेपां-उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र के साथ। जोगमुवागएणं-चन्द्रमा का योग आ जाने पर अर्थात् उत्तरा फाल्गुनी में चन्द्रमा के आ जाने पर। महाविजयसिद्धत्थपुप्फुत्तरवरपुण्डरीयदिसासोवत्थियवद्धमाणाओ-महाविजय सिद्धार्थ, पुष्पोत्तर प्रधान, पुंडरीक-कमलवत् श्वेत, दिक्, स्वस्तिक, वर्द्धमान नाम वाले। महाविमाणाओ-महा विमान से। वीससागरोवमाई-बीस सागरोपम की। आउयं-आयु को। पालइत्ता-पूर्ण कर के। आउक्खएणं-देवायु को क्षय करके। ठिइक्खएणं-वैक्रिय शरीर की स्थिति का क्षय करके। भवक्खएणं- और देवगति नाम कर्म का क्षय करके अर्थात् देव भव को समाप्त करके। चुए-वहां से च्यवे। चइत्ता-च्यवकर। खलु-निश्चयार्थक है। इह-इस। जंबुद्वीवेदीवे-जम्बूद्वीप नाम के द्वीप में। भारहे वासे-भारत वर्ष के भरत क्षेत्र के। दाहिणइढ्भरहे-दक्षिणाद्धं भरत खण्ड में। दाहिणमाहणकुंडपुरसनिवेशंमि-दक्षिण दिशा में ब्राह्मण कुंडपुर सनिवेश में। कोडालगोत्तस्स-कोडाल गोत्री। उसभदत्तस्स-ऋषभ दत्त। माहणस्स-ब्राह्मण की। जालंधरस्सगुत्ताए-जालन्धर गोत्रवली। देवानन्दाए-देवानन्दा। माहणीए-ब्राह्मणी की। कुच्छिसि-कुक्षी में। सीहुब्भवभूएणं-सिंह की तरह अर्थात् गुफा में प्रवेश करते हुए सिंह की भांति। अप्पाणेणं-अपनी आत्मा से। गम्भं वक्कंते-गर्भपने उत्पन्न हुए अर्थात् गर्भ में आए।

**मूलार्थ**—श्रमण भगवान् महावीर इस अवसर्पिणी काल के सुषम-सुषम नामक आरक, सुषम आरक, सुषम-दुषम आरक के व्यतीत होने पर और दुषम-सुषम आरक के बहु व्यतिक्रान्त होने पर, केवल ७५ वर्ष, साढ़े आठ मास शेष रहने पर ग्रीष्म ऋतु के चौथे मास, आठवें पक्ष आसाढ शुक्ला षष्ठी की रात्री को उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र के साथ चन्द्रमा का योग होने पर, महाविजय सिद्धार्थ, पुष्पोत्तर वर पुण्डरीक, दिक्स्वस्तिक, वर्द्धमान नाम के महाविमान से बीस सागरोपम की आयु को पूरी करके देवायु, देवस्थिति और देव भव का क्षय करके, इस जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र के दक्षिणाद्धं भारत के दक्षिण ब्राह्मण कुंड पुर सनिवेश में कुडाल गोत्रीय ऋषभदत्त ब्राह्मण की जालन्धरगोत्रीय देवानन्दा नाम की ब्राह्मणी की कुक्षि में सिंह की तरह गर्भ में उत्पन्न हुए।

**हिन्दी विवेचन**— इस सूत्र में बताया गया है कि भगवान महावीर अवसर्पिणी काल के चतुर्थ आरक के ७५ वर्ष साढ़े आठ महीने शेष रहने पर ऋषभदत्त ब्राह्मण की पत्नी देवानन्दा की कुक्षि में आए। यहां काल चक्र के सम्बन्ध में कुछ उल्लेख किया गया है। यह हम देखते हैं कि काल (समय) सदा अपनी गति से चलता है। और समय के साथ इस क्षेत्र में (भरत क्षेत्र में) परिस्थितियों एवं प्रकृति में भी कुछ परिवर्तन आता है। कभी प्रकृति में विकास होता है, तो कभी ह्रास होता है। जिस काल में प्रकृति उत्थान से ह्रास की ओर गतिशील होती है उस काल को अवसर्पिणी काल कहते हैं और जिसमें प्रकृति ह्रास से उन्नति की ओर बढ़ती है उसे उत्सर्पिणी काल कहते हैं। प्रत्येक काल चक्र ६ आरक में विभक्त है और १० कोटा-कोटी (१० करोड़ × १० करोड़) सागरोपम का होता है। इस तरह पूरा काल चक्र २० कोटा-कोटी सागरोपम का होता है। भगवान महावीर अवसर्पिणी काल चक्र के चौथे आरे के-जो ४२ हजार वर्ष कम एक कोटा-कोटी सागर का है, ७५ वर्ष ८ ॥ महीने शेष रहने पर प्राण नामक १० वें स्वर्ग

से जिसे-महाविजय, सिद्धार्थ वर पुण्डरीक, दिक्स्वास्तिक और वर्द्धमान भी कहते हैं, अपने आयुष्य को पूरा करके भारतवर्ष के दक्षिण ब्राह्मण कुण्डपुर में ऋषभदत्त ब्राह्मण की पत्नी देवानन्दा की कुक्षि में उत्पन्न हुए।

कुछ हस्तलिखित प्रतियों में 'सीहम्भवभूएणं' के स्थान में 'सीहइव भूतेणं' उपलब्ध होता है और यह पाठ असंदिग्ध प्रतीत होता है।

इसी विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं-

**मूलम्— समणे भगवं महावीरे तिन्नाणोवगए यावि हुत्था, चइस्सामित्ति जाणइ, चुएमित्ति जाणइ, चयमाणे न जाणइ, सुहुमेणं से काले पन्नत्ते।**

**छाया— श्रमणो भगवान् महावीरः त्रिज्ञानोपगतश्चापि अभवत् च्योष्ये इति जानाति, च्युतोस्मीति जानाति, च्यवमानो न जानाति सूक्ष्मः स कालः प्रज्ञप्तः।**

**पदार्थ—**समणे-श्रमण। भगवं-भगवान्। महावीरि-महावीर स्वामी। तिन्नाणोवगए यावि होत्था-तीन ज्ञानों से युक्त थे अतः। चइस्सामित्ति जाणइ-वे ऐसा जानते थे कि मैं यहां से च्यव कर मनुष्य लोक में जाऊंगा तथा। चुएमित्ति जाणइ-वे यह भी जानते थे कि मैं स्वर्ग से च्यव कर गर्भ में आया हूं परन्तु। चयमाणे न जाणइ-वे यह नहीं जानते थे कि मैं च्यव रहा हूं क्योंकि। सुहुमेणं से काले पन्नत्ते-यह काल अर्थात् च्यवन काल अत्यन्त सूक्ष्म कहा गया है।

**मूलार्थ—**श्रमण भगवान् महावीर तीन ज्ञान ( मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधि ज्ञान ) से युक्त थे, वे यह जानते थे कि मैं स्वर्ग से च्यवकर मनुष्य लोक में जाऊंगा, मैं वहां से च्यव कर अब गर्भ में आ गया हूं। परन्तु वे च्यवन समय को नहीं जानते थे। क्योंकि वह समय अत्यन्त सूक्ष्म होता है।

**हिन्दी विवेचन—**प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि भगवान् महावीर गर्भ में आए उस समय तीन ज्ञान से युक्त थे- १ मतिज्ञान, २ श्रुतज्ञान और ३ अवधि ज्ञान। मति और श्रुत ज्ञान मन और इन्द्रियों की सहायता से पदार्थों का ज्ञान कराता है। परन्तु, अवधि ज्ञान में मन और इन्द्रियों के बिना सहयोग के ही आत्मा मर्यादित क्षेत्र में स्थित रूपी पदार्थों को जान और देख सकता है। भगवान् महावीर को भी स्वर्ग में एवं जिस समय गर्भ में आए तब से लेकर गृहस्थ अवस्था में रहे तब तक तीन ज्ञान थे। वे स्वर्ग के आयुष्य को पूरा करके मनुष्य लोक में आने के समय को जानते थे और गर्भ में आने के बाद भी वे इस बात को जानते थे कि मैं स्वर्ग से यहां आ गया हूं। परन्तु जिस समय वे स्वर्ग से च्युत हो रहे थे उस समय को नहीं जान रहे थे। क्योंकि यह काल बहुत ही सूक्ष्म होता है, ऋजु गति में एक समय लगता है और वक्रगति में आत्मा जघन्य दो और उत्कृष्ट ४ समय में अपने स्थान पर पहुँच जाता है। और इतने सूक्ष्म समय में छद्मस्थ के ज्ञान का उपयोग नहीं लगता। अतः च्यवन के समय वे अपने ज्ञान का उपयोग नहीं लगा सकते थे। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भगवान् गर्भ काल में तीन ज्ञान से युक्त थे।

इस विषय में कुछ और बातें बताते हुए सूत्रकार कहते हैं-

**मूलम्-** तओ णं समणे भगवं महावीरे हियाणुकंपएणं देवेणं जीयमेयं तिकट्टु जे से वासाणं तच्चे मासे पंचमे पक्खे आसोयबहुले तस्स णं आसोयबहुलस्स तेरसीपक्खेणं हत्थुत्तराहिं नक्खत्तेणं जोगमुवागएणं बासीहिं राइंदिएहिं विइक्कंतेहिं तेसीइमस्स राइंदियस्स परियाए वट्टमाणे दाहिणमाहणकुंडपुरसन्निवेशाओ उत्तरखत्तियकुंडपुरसंनिवेशंसि नायाणं खत्तियाणं सिद्धत्थस्स खत्तियस्स कासवगुत्तस्स तिसलाए खत्तियाणीए वासिट्ठसगुत्ताए असुभाणं पुगलाणं अवहारं करित्ता सुभाणं पुगलाणं पक्खेवं करित्ता कुच्छंसि गब्भं साहरइ जे विय से तिसलाए खत्तियाणीए कुच्छंसि गब्भे तंपि य दाहिणमाहणकुंडपुरसंनिवेशंसि उसं को० देवा० जालन्धरायणगुत्ताए कुच्छंसि गब्भं साहरइ ।

**छाया-** ततः श्रमणो भगवान् महावीरः हितानुकम्पकेन देवेन जीतमेतत् इति कृत्वा यः सः वर्षाणां तृतीयः मासः पंचमः पक्षः आश्विनकृष्णः तस्य आश्विनकृष्णस्य त्रयोदशी-पक्षेण उत्तराफाल्गुनीनक्षत्रेण योगमुपागतेन द्व्यशीतौ रात्रिन्दिवे व्यतिक्रान्ते त्र्यशीतितमस्य रात्रिन्दिवस्य पर्याये वर्तमाने दक्षिणब्राह्मणकुण्डपुरसंनिवेशात् उत्तरक्षत्रियकुण्डपुरसंनिवेशे ज्ञातानां क्षत्रियाणां सिद्धार्थस्य क्षत्रियस्य काश्यपगोत्रस्य त्रिशलायाः क्षत्रियाण्याः वासिष्ठगोत्रायाः अशुभानां पुद्गलानां अपहारं कृत्वा शुभानां पुद्गलानां प्रक्षेपं कृत्वा कुक्षौ गर्भं समाहरति ( मुञ्चति ) । योऽपि च तस्याः त्रिशलायाः क्षत्रियाण्याः कुक्षौ गर्भः तमपि च दक्षिण-ब्राह्मणकुण्डपुरसंनिवेशे ऋषभदत्तस्य कोडालगोत्रस्य देवानंदाया ब्राह्मण्याः जालन्धरायणगोत्रायाः कुक्षौ गर्भं समाहरति ( मुञ्चति ) ।

**पदार्थ-** णं-वाक्यालंकार में है। तओ-तत् पश्चात्। समणे-श्रमण। भगवं-भगवान्। महावीरे-महावीर स्वामी के। हियाणुकंपएणं देवेणं-हित और अनुकम्पा करने वाले देव ने। जीयमेयंति कट्टु-यह हमारा जीत आचार है इस प्रकार कहकर तथा इस प्रकार कर के। जे से-जो यह। वासाणं-वर्षा काल का। तच्चे मासे-तीसरा मास। पंचमे पक्खे-पांचवां पक्ष। आसोयबहुले-आश्विन मास का कृष्ण पक्ष। णं-वाक्यालंकार में है। तस्स-उस। आसोयबहुलस्स-आश्विन कृष्ण पक्ष के। तेरसीपक्खेणं-त्रयोदशी के दिन। हत्थुत्तराहिं नक्खत्तेणं-उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र के साथ। जोगमुवागएणं-चन्द्रयोग के होने पर। बासीहिं-८२। राइंदिएहिं-अहोरात्र-रातदिन के। विइक्कंतेहिं-व्यतीत होने पर। तेसीइमस्स-८३ वें। राइंदियस्स-दिन के। परियाए-पर्याय के। वट्टमाणे-बरतने पर अर्थात् ८३ वें दिन की रात्रि में। दाहिणमाहणकुण्डपुरसंनिवेशाओ-दक्षिण ब्राह्मण कुण्ड पुर संनिवेश से। उत्तरखत्तियकुण्डपुरसंनिवेशंसि-उत्तर क्षत्रिय कुंड पुर संनिवेश में। खत्तियाणं-क्षत्रियों में प्रसिद्ध। नायाणं-ज्ञात वंशीय। कासवगुत्तस्स-काश्यप गोत्र वाले। सिद्धत्थस्स-सिद्धार्थ।

खत्तियस्स-क्षत्रिय की भार्या। वासिष्ठगुप्ताए-वासिष्ठ गोत्र वाली। तिसलाए खत्तियाणीए-त्रिशला क्षत्रियाणी के। असुभाणं पुग्गलाणं-अशुभ पुद्गलों को। अवहारं करित्ता-दूर करके। सुभाणं पुग्गलाणं-शुभ पुद्गलों का। पक्खेवं करित्ता-प्रक्षेपण करके उसकी। कुच्छिसि-कुक्षी गर्भाशय में। गब्भं साहारइ-उस गर्भ को छोड़ता-प्रतिष्ठित करता है। य-और। जे वि-जो फिर। से-उस। तिसलाए-त्रिशला। खत्तियाणीए-क्षत्रियाणी की। कुच्छिसि-कुक्षि में। गब्भे-गर्भ था। य-और। तंपि-फिर उसको। दाहिणमाहणकुण्डपुरसंनिवेशंसि-दक्षिण ब्राह्मण कुण्ड पुर संनिवेश में ले जाकर। कोडालगोत्तस्स-कोडाल गोत्रीय। उस्सभदत्तस्स-ऋषभ दत्त। माहणस्स-ब्राह्मण की भार्या। जालंधरायणगुप्ताए-जालन्धर गोत्र वाली। देवानन्दामाहणीए-देवानन्दा ब्राह्मणी की। कुच्छिसि-कुक्षि में। गब्भं साहारइ-उस गर्भ को छोड़ता-प्रतिष्ठित करता है।

**मूलार्थ**—देवानन्दा ब्राह्मणी के गर्भ में आने के बाद श्रमण भगवान महावीर के हित और अनुकंपा करने वाले देव ने, यह जीत आचार है, ऐसा कहकर वर्षाकाल के तीसरे मास, पांचवें पक्ष अर्थात्— आश्विन कृष्णा त्रयोदशी के दिन उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र के साथ चन्द्रमा का योग होने पर ८२ रात्रिदिन के व्यतीत होने और ८३ वें दिन की रात को दक्षिण ब्राह्मण कुण्डपुर संनिवेश से, उत्तर क्षत्रिय कुण्डपुर संनिवेश में ज्ञातवंशीय क्षत्रियों में प्रसिद्ध काश्यपगोत्री सिद्धार्थ राजा की वासिष्ठ गोत्र वाली पत्नी त्रिशला महाराणी के अशुभपुद्गलों को दूर करके उनके स्थान में शुभ पुद्गलों का प्रक्षेपण करके उसकी कुक्षि में गर्भ को रखा, और जो त्रिशला क्षत्रियाणी की कुक्षि में गर्भ था उसको दक्षिण ब्राह्मण कुण्डपुर संनिवेश में जाकर कोडालगोत्रीय ऋषभ दत्त ब्राह्मण की जालन्धर गोत्र वाली देवानन्दा ब्राह्मणी की कुक्षी में स्थापित किया।

**हिन्दी विवेचन**— प्रस्तुत सूत्र में भगवान महावीर के गर्भ को स्थानान्तर में रखने का वर्णन किया गया है। ८२ दिन तक भगवान महावीर देवानन्दा के गर्भ में रहे थे। उसके बाद ब्राह्मण कुल को तीर्थकरों के जन्म योग्य न जानकर इन्द्र की आज्ञा से भगवान महावीर के एक हितचिन्तक देव ने उन्हें देवानन्दा के गर्भ से निकाल कर त्रिशला के गर्भ में रख दिया।

यह घटना आश्चर्यजनक अवश्य है, परन्तु असम्भव नहीं है। आज भी हम देखते हैं कि वैज्ञानिक आप्रेशन के द्वारा गर्भ का परिवर्तन करते हैं और इस क्रिया में गर्भ का नाश नहीं होता है। एक गर्भ स्थान से स्थानान्तरित किए जाने पर भी उसका विकास रुकता नहीं है। और भगवान महावीर के गर्भ का परिवर्तन करने का वर्णन आगमों में अनेक जगह मिलता है<sup>१</sup>। भगवती सूत्र में देवानन्दा ब्राह्मणी के सम्बन्ध में गौतम के द्वारा पूछे गए प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि यह मेरी माता है<sup>२</sup>। इसके अतिरिक्त कल्प सूत्र में गर्भ संहारण के संबन्ध में विस्तार से वर्णन किया गया है। और कल्प सूत्र में वर्णित वीर वाचना (महावीर के चरित्र) का आधार आचारांग का प्रस्तुत अध्ययन ही है। कल्प सूत्र के कई पाठ आचाराङ्ग के पाठ से अक्षरशः मिलते हैं। और विषय का साम्य तो प्रायः सर्वत्र मिलता ही है। इस से ऐसा प्रतीत होता है कि आचारांग के प्रस्तुत अध्ययन का कल्प सूत्र में कुछ विस्तार से वर्णन किया

१ स्थानांग सूत्र, स्थान ५: उ० १, स्था० १०, समवायांग सूत्र, ८२-८३, दशाश्रुतस्कंध सूत्र, दशा ८।

२ तएणं सा देवानन्दा माहणी आगयपणहया पप्फुयलोयणा संवरिय वलिय वाहा, कंचुय—

गया है। और समवायांग सूत्र में उत्तम पुरुषों का वर्णन प्रारम्भ करते हुए कल्प सूत्र का उल्लेख किया गया है, इससे कल्प सूत्र की रचना का आधार आगम ही प्रतीत होते हैं<sup>१</sup>। इस तरह हम कह सकते हैं कि आगमों में अनेक स्थलों पर गर्भ संहरण का उल्लेख प्राप्त होने के कारण इस घटना को घटित होने में सन्देह को अवकाश नहीं रह जाता।

अब सूत्रकार आगे कहते हैं—

**मूलम्—** समणो भगवं महावीरे तिन्नाणोवगए यावि होत्था साहरिज्जिस्सामित्ति जाणइ, साहरिज्जमाणे वि जाणइ, साहरिएमित्ति जाणइ समणाउसो।

छाया— श्रमणो भगवान् महावीरः त्रिज्ञानोपगतश्चापि अभवत्, समाहरिष्ये इति जानाति, समाह्वियमाणोऽपि जानाति, समाहृतोऽस्मीति जानाति श्रमणायुष्मन्।

**पदार्थ—** समणाउसो !-आयुष्मन् श्रमण ! समणो-श्रमण। भगवं-भगवान्। महावीरे-महावीर। तिन्नाणोवगए यावि होत्था-तीन-मति श्रुत और अवधि ज्ञानों से युक्त थे। साहरिज्जिस्सामित्ति जाणइ-मैं इस स्थान से अन्य स्थान में संहत किया जाऊंगा यह जानते थे। साहरिज्जमाणे वि जाणइ-वर्तमान में संहत किए जाने को भी जानते हैं तथा। संहरिएमित्ति जाणइ-मैं संहत हो चुका हूँ, एक स्थान से दूसरे स्थान में स्थापित किया जा चुका हूँ। अर्थात् देवानन्दा ब्राह्मणी की कुक्षी से त्रिशला क्षत्रियाणी की कुक्षी में प्रतिष्ठित किया जा चुका हूँ यह भी जानते थे।

**मूलार्थ—**हे आयुष्मन् श्रमणो ! श्रमण भगवान् महावीर स्वामी गर्भावास में तीन ज्ञान, मति श्रुत अवधि-से युक्त थे। मैं इस स्थान से संहरण किया जाऊंगा, तथा मेरा संहरण हो रहा है और मैं संहत किया जा चुका हूँ। यह सब जानते थे।

**हिन्दी विवेचन—** प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि भगवान् महावीर गर्भावास में मति-श्रुत और अवधि इन तीन ज्ञानों से युक्त थे। वे अपने अवधिज्ञान से यह जानते थे कि मेरे गर्भ का संहरण किया जाएगा और जिस समय देव उनके गर्भ का संहरण कर रहा था उस समय भी वे जानते थे कि मुझे स्थानान्तरित किया जा रहा है और त्रिशला की कुक्षि में रखने के बाद भी वे जानते थे कि मुझे देवानन्दा की कुक्षि से यहां लाया गया है। इस तरह वे अपने गर्भ संहरण के सम्बन्ध में हुई समस्त क्रियाओं को जानते

परिकिरवन्तिया धाराहतकलंबपुष्पगंधिव समुस्ससियरोमकूवा, समणं भगवं महावीरं अणिमिसाए दिट्ठीए देहमाणी २ चिट्ठइ ॥१२॥ भंते ! ति भगवं गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदइ,णमंसइ वंदित्ता णमंसित्ता एवं वयासी, किं णं भंते! एसा देवाणंदा माहणी आगयपण्हया तंवेव जाव रोमकूवा; देवाणुप्पिए अणिमिसाए दिट्ठीए देहमाणी २ चिट्ठइ ? ॥१३॥ गोयमादि समणे भगवं महावीरे भगवं गोयमं एवं वयासी, एवं खलु गोयमा ! देवाणंदा माहणी मम अम्मगा, अहं णं देवाणंदाए माहणीए अत्तए, तएणं सा देवाणंदा माहणी पुब्बपुत्तसिणेहाणुरागेण आगयपण्हया जाव समुस्ससियरोमकूवा ममं अणिमिसाए दिट्ठीए देहमाणी २ चिट्ठइ।

— भगवती सूत्र, श० ९, उ० ३३, सूत्र १४१।

१ तेषां कालेणं तेषां समएणं कप्पस्स समोसरणं णे यव्वं जाव गणाहरा, सावच्चा निरवच्चा वोच्छिण्णा।

— समवायांग सूत्र।

थे।

आगमोदय समिति द्वारा प्रकाशित आचारांग सूत्र में एवं कल्प सूत्र में "साहरिज्जमाणे जाणइ" के स्थान पर 'साहरिज्जमाणे नो जाणइ' पाठ छपा है। परन्तु प्राचीन हस्त लिखित एवं अन्य मुद्रित प्रतियों में 'साहरिज्जमाणे जाणइ' पाठ उपलब्ध होता है। आगमोदय समिति से प्रकाशित आचारांग का पाठ कल्पसूत्र एवं उसकी सुबोधिका व्याख्या के आधार पर रखा गया है। परन्तु यह पाठ उचित प्रतीत नहीं होता है। क्योंकि स्वर्ग से गर्भ में आते समय का काल बहुत सूक्ष्म होने के कारण वे उसे नहीं जानते हैं। परन्तु गर्भ संहरण काल इतना सूक्ष्म नहीं होता है। देव द्वारा की जाने वाली संहरण की क्रिया में अन्तर-मुहूर्त्त का समय लग जाता है। अतः इस काल में होने वाली क्रिया को वे जान सकते हैं। और कल्प सूत्र की 'सुबोधिका टीका' के लेखक उपाध्याय श्री विनय विजय जी उस पर चर्चा करते हुए प्राचीन प्रतियों के पाठ का ही समर्थन करते हैं<sup>१</sup>। इससे यह स्पष्ट होता है कि "साहरिज्जमाणे जाणइ" पाठ ही प्रामाणिक है।

इस प्रसंग पर यह प्रश्न हो सकता है कि गर्भ का संहरण करते समय गर्भ को कोई कष्ट तो नहीं होता ? आगम में इसका स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि इस क्रिया से गर्भ को कोई कष्ट नहीं हुआ<sup>२</sup>। यह क्रिया देव द्वारा निष्पन्न हुई थी, इसलिए गर्भस्थ जीव को बिल्कुल त्रास नहीं पहुंचा। उसे सुख पूर्वक एक गर्भ से दूसरे गर्भ में स्थानान्तरित कर दिया गया।

भगवान के जन्म के विषय का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं-

**मूलम्—** तेणं कालेणं तेणं समएणं तिसलाए खत्तियाणीए अहऽन्या कयाई नवणहं मासाणं बहुपडिपुण्णाणं अब्द्धट्ठमाण राइंदियाणं वीइक्कंताणं जे से गिम्हाणं पढमे मासे दुच्चे पक्खे चित्तसुद्धे तस्स णं चित्तसुद्धस्स तेरसीपक्खेणं हत्थुं जोगं समणं भगवं महावीरं आरोग्गा आरोगं पसूया।

**छाया—** तस्मिन् काले तस्मिन् समये त्रिशलायाः क्षत्रियाण्याः अथ अन्यदा कदाचित् नवसु मासेषु बहुप्रतिपूर्णेषु अर्धाष्टमरात्रिन्दिवे व्यतिक्रान्ते योऽसौ ग्रीष्माणां प्रथमो मासः द्वितीयः पक्षः चैत्रशुक्लः तस्य चैत्रशुक्लस्य त्रयोदशी पक्षः ( दिवसः ) उत्तराफाल्गुनीनक्षत्रेण समं योगमुपागते चन्द्रमसि आरोग्या आरोग्यं प्रसूता।

१ ननु संहियमाणो न जानातीति कथं युक्तं ? संहरणस्य असंख्यसामयिकत्वात्, भगवतश्च संहरण कर्तुं देवापेक्षया विशिष्टज्ञानवत्त्वात् ? उच्यते, इदं वाक्यं संहरणस्य कौशलज्ञापकम्, तथा तेन संहरणं कृतं भगवतः यथा भगवता ज्ञातमपि अज्ञातमिवाभूत् पीडाऽभावात्, यथा कश्चिद् वदति त्वया मम पादात्तथा कंटक उद्भूतः यथा मया ज्ञात एव नेति, सौख्यतिशये च सत्येवं विधो व्यपदेशः सिद्धान्तेऽपि दृश्यते, तथा हि— ' तर्हि देवा वंत्सीआ, वरतरुणीगीयवाइपरवेणं । निच्चं सुहिअपमुइआ, गयंपि कालं न जाणति ।

— कल्पसूत्र, सुबोधिका व्याख्या।

२ पभूणं भंते ! हरिणेगमेसी सक्कदूए इत्थीगब्भं नहसिरंसि वा रोमकूवंसि वा साहरित्तए वा नीहरित्तए वा ? हंता पभू, नो चेव णं तस्स गब्भस्स आबाहं वा विबाहं वा उप्पाएज्जा, छविच्छेयं पुण करिज्जा।

— श्री भगवती सूत्र, शं ५, सूत्र १८६।

**पदार्थ-** तेषां कालेणं-उस काल में। तेषां समएणं-उस समय में। तिसलाए खत्तियाणीए-त्रिशला क्षत्रियाणी ने। अह-अथ। अन्नया कयाई-अन्य किसी समय। नवण्हं मासाणं-नव मास। बहुपडिपुण्णाणं-परिपूर्ण होने पर। अद्धट्ठमाणाराइंदियाणं साढे सात अहोरात्र अधिक। विड्ढकंताणं-व्यतीत होने पर। जे-जो। से-वह। गिम्हाणं-ग्रीष्म ऋतु के। पढमे मासे-प्रथम मास। दुच्चे पक्खे-दूसरे पक्ष। चित्तसुद्धे-चैत्र शुक्ल पक्ष में। णं-वाक्यालंकार में है। तस्स-उस। चित्तसुद्धस्स-चैत्र शुक्ल की। तेरसीपक्खेणं-त्रयोदशी तिथि के दिन। हत्थुं-उत्तरा फाल्गुनी। णक्खत्तेणं-नक्षत्र के साथ। जोगमुवागएणं-चन्द्रमा का योग आ जाने पर। समणं-श्रमण। भगवं-भगवान। महावीरं-महावीर को। आरोग्गा आरोग्गं पसूया-रोग रहित अर्थात् सुख-पूर्वक माता ने प्रसव किया अर्थात् भगवान को सुख पूर्वक जन्म दिया।

**मूलार्थ-**उस काल और उस समय में त्रिशला क्षत्राणी ने अन्य किसी समय नव मास साढे सात अहोरात्र के व्यतीत होने पर ग्रीष्म ऋतु के प्रथम मास के द्वितीय पक्ष में अर्थात् चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र के साथ चन्द्रमा का योग होने पर श्रमण भगवान महावीर को सुखपूर्वक जन्म दिया।

**हिन्दी विवेचन-** प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि ग्रीष्म ऋतु के प्रथम मास और द्वितीय पक्ष अर्थात् चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में त्रिशला महाराणी ने बिना किसी प्रकार की पीड़ा के, सुखपूर्वक बाधा-पीड़ा से रहित पुत्र को जन्म दिया। भगवान के जन्म के समय माता एवं पुत्र को कोई कष्ट नहीं हुआ। दोनों स्वस्थ, नीरोग एवं प्रसन्न थे।

भगवान के जन्म से देव-देवियों के मन में होने वाले हर्ष का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं-

**मूलम्-** जण्णं राइं तिसला ख० समणं० महावीरं अरोया अरोयं पसूया तण्णं राइं भवणवड्ढवाणमंतरजोइसियविमाणवासिदेवेहिं देवीहि य ओवयंतेहिं उप्पयंतेहि य एगे महं दिव्वे देवुज्जोए देवसन्निवाए देवकहकहए उप्पिंजलभूए यावि होत्था।

**छाया-** यस्यां रात्रौ त्रिशला क्षत्रियाणी श्रमणं भगवन्तं महावीरं अरोग्या अरोग्यं प्रसूता (सुषुवे) तस्यां रात्रौ भवनपतिवाणव्यन्तरज्योतिषिकविमानवासिदेवैः देवीभिश्च अवपतद्भिः उत्पतद्भिश्च एको महान् दिव्यः देवोद्योतः देवसन्निपातः देवकहकहकः उत्पिंजलभूतश्चापि अभवत्।

**पदार्थ-** जण्णं राइं-जिस रात्रि में। तिसला खत्तियाणी-त्रिशला क्षत्रियाणी ने। समणं-श्रमण। भगवं-भगवान। महावीरं-महावीर को। अरोया अरोयं-सुखपूर्वक। पसूया-जन्म दिया। तण्णं राइं-उस रात्रि में। भवणवड्ढवाणमंतरजोइसियविमाणवासिदेवेहिं-भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक देवों तथा। देवीहि य-देवियों के। ओवयंतेहिं-स्वर्ग से भूमि पर आने। य-और। उप्पयंतेहिं-मेरु पर्वत पर जाने से भूमि पर।

एगे-एक। महं-महान। दिव्ये-प्रधान। देवुजोए-देव विमानों का उद्योत प्रकाश हुआ और। देवसन्निवाए-देवों के एकत्र होने से। देवकहक्कहए-देवों द्वारा अवर्णनीय कोलाहल करने से। उप्पिंजलभूए यावि होत्था-वह रात्रि देवों के अट्टहास एवं उद्योत से युक्त हो गई।

**मूलार्थ**—जिस रात्रि में रोग रहित त्रिशला क्षत्रियाणी ने रोग रहित श्रमण भगवान महावीर को जन्म दिया उस रात्रि में भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक देवों और देवियों के स्वर्ग से आने और मेरूपर्वत पर जाने से एक महान तथा प्रधान देवोद्योत और देव सन्निपात के कारण महान कोलाहल और मध्य एवं उर्ध्व लोक में उद्योत हो रहा था।

**हिन्दी विवेचन**—प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि भगवान के जन्म से भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक चारों जाति के देवों के मन में हर्ष एवं उल्लास छा गया और वे प्रसन्नता पूर्वक भगवान का जन्मोत्सव मनाने को आने लगे। उन देव-देवियों के रत्न-जटित विमानों की ज्योति एवं मधुर ध्वनि से वह रात्रि ज्योतिर्मय हो गई और चारों ओर मधुर ध्वनि सुनाई देने लगी।

देवों ने वहां आकर क्या किया इसका वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्**— जण्णं रयणिं तिसला ख० समणं० पसूया तण्णं रयणिं बहवे देवा य देवीओ य एगं महं अमयवासं च १ गंधवासं च २ चुन्नवासं च ३ पुप्फवा० ४ हिरन्वासं च ५ रयणवासं च ६ वासिंसु।

**छाया**— यस्यां रजन्यां त्रिशला क्षत्रियाणी श्रमणं भगवन्तं महावीरं प्रसूता ( प्रसूतवती ) तस्यां रजन्यां बहवो देवाश्च देव्यश्च एकं महद् अमृतवर्षं च, गन्धवर्षं च, चूर्णवर्षं च, पुष्पवर्षं च, हिरण्या वर्षं च, रत्नवर्षं च अवर्षयन्।

**पदार्थ**— जण्णं रयणिं—जिस रात्रि में। तिसला ख०—त्रिशला क्षत्रियाणी ने। समणं भगवं महावीरं—श्रमण भगवान महावीर को। पसूया—जन्म दिया। तण्णं रयणिं—उसी रात्रि में। बहवे-बहुत से। देवा-देव। य-और। देवीओ-देवियों ने। एगं महं-एक बड़ी भारी। अमयवासं च-अमृत वृष्टि की और। गंधवासं च-सुगन्धित द्रव्यों की। चुन्नवासं च-सुगन्धि मय चूर्ण की। पुप्फवासं च-पुष्पों की। हिरन्वासं च-तथा हिरण्य सोने-चांदी की और। रयणवासं च-रत्नों की। वासिंसु-वर्षा बरसाई।

**मूलार्थ**—जिस रात्रि में त्रिशला क्षत्रियाणी ने श्रमण भगवान महावीर को जन्म दिया, उसी रात्रि में बहुत से देव और देवियों ने अमृत, सुगन्धित पदार्थ, चूर्ण, पुष्प, चान्दी, स्वर्ण और रत्नों की बहुत भारी वर्षा की।

**हिन्दी विवेचन**—प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि भगवान महावीर के जन्म पर हर्षविभोर होकर देवों ने अमृत, सुवासित पदार्थ, पुष्प, चांदी, स्वर्ण एवं रत्नों आदि की वर्षा की। उन्होंने उस क्षेत्र को सुवासित एवं रत्नमय बना दिया। महान् आत्माओं के प्रबल पुण्य से यह सब संभव हो सकता है।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—



**मूलम्—** जपणं रयणिं तिसला ख० समणं० पसूया तपणं रयणिं भवणवइवाणमंतरजोइसियविमाणवासिणो देवा य देवीओ य समणस्स भगवओ महावीरस्स सूइकम्माइं तित्थयराभिसेयं च करिसु।

**छाया—** यस्यां रजन्यां त्रिशला क्षत्रियाणी श्रमणं भगवन्तं महावीरं प्रसूता ( प्रसूतवती ) तस्यां रजन्यां भवनपतिवाणव्यन्तर-ज्योतिषिकविमानवासिनो देवाश्च देव्यश्च श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य शुचिकर्माणि तीर्थकराभिषेकं च अकार्षुः।

**पदार्थ—** जपणं रयणिं—जिस रात्रि में। तिसला ख०—त्रिशला क्षत्रियाणी ने। समणं भगवं महावीरं—श्रमण भगवान महावीर को। पसूया—जन्म दिया। तपणं रयणिं—उस रात्रि में। भवणवइवाणमंतर-जोइसियविमाणवासिणो—भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिषी और विमान वासी। देवा य-देव और। देवीओ य-देवियों ने। समणस्स भगवओ महावीरस्स—श्रमण भगवान महावीर का। सूइकम्माइं—शुचिकर्म। च-और। तित्थयराभिसेयं—तीर्थकराभिषेक। करिसु—किया।

**मूलार्थ—**जिस रात में त्रिशला क्षत्रियाणी ने श्रमण भगवान महावीर को जन्म दिया, उसी रात्रि में भवन पति, वाणव्यन्तर ज्योतिषी और वैमानिक देव और देवियों ने श्रमण भगवान महावीर का शुचि कर्म और तीर्थकराभिषेक किया।

**हिन्दी विवेचन—** प्रस्तुत सूत्र में भगवान के जन्मोत्सव का उल्लेख किया गया है। भगवान का जन्म होने पर ५६ दिशा कुमारियों ने भगवान का शुचि कर्म किया और ६४ इन्द्रों ने भगवान को मेरु पर्वत के पण्डक वन में ले जाकर उनका जन्म अभिषेक किया। इसका विस्तृत वर्णन जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में किया गया है<sup>१</sup> और उसी के आधार पर कल्पसूत्र में भी उल्लेख किया गया है। प्रस्तुत सूत्र में तो केवल प्रासंगिक संकेत रूप से उल्लेख किया गया है।

कुछ प्रतियों में "सूइकम्माइं" के स्थान पर "कोतुगभूतिकम्माइं" पाठ उपलब्ध होता है। जिसका अर्थ है— देव-देवियों ने विभिन्न मांगलिक कार्य किए।

भगवान के नाम संस्कार के सम्बन्ध में उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्—** जओ णं पभिइ भगवं महावीरे तिसलाए ख० कुच्छिसि गब्भं

१ खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! चुल्लहिमवंताओ वासहरपव्वयाओ गोसीसचंदण कट्ठाइं साहरह, तएणं ते अभिओगा देवा आहिरुयग मण्डवत्थव्वाहिं चउहिं दिसाकुमारी महत्तरिआहिं० एवं वुत्ता समाणा हट्ठतुट्ठा ! जाव विणएणं वयणं पडिच्छंति २ ता खिप्पामेव चुल्ल हिमवंताओ वासहरपव्वयाओ सरसाइं गोसीस चन्दण कट्ठाइं साहरन्ति, तएणं ताओ मण्डिमरुअगवत्थव्वाओ चतारि दिसाकुमारीमहत्तरिआओ सरगं करंति २ ता अरणिं घडंति २ अरणिं घडित्ता सरएणं अरणिं मंहिंति २ ता अरिगं पाडंति २ ता अरिगं संधुक्खंति २ ता गोसीस चंदण कट्ठे पक्खिवंति २ ता अरिगं उज्जालंति २ ता समिहाकट्ठाइं पक्खिवंति २ ता अरिगहोमं करंति २ ता भूतिकम्मं करंति २ ता-रक्खापोट्टलियं बंधन्ति बन्धेत्ता पाणा मणिरयणभत्ति चित्ते दुविहे पाहाणवट्टगोलाए गहाय भगवओ तित्थयरस्स कण्णमूलंमि टिट्ठिआवेंति भवउ भयवं पव्वपाउए २।

— जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति सूत्र।

आगए-तओ णं पभिइ तं कुलं विपुलेणं हिरण्णेणं सुवण्णेणं धणेणं धन्नेणं माणिक्केणं मुत्तिएणं संखसिलप्पवालेणं अईव २ परिवड्ढइ, तओ णं समणस्स भगवओ महावीरस्स अम्मापियरो एयमट्ठं जाणित्ता निव्वत्तदसाहंसि वुक्कंतंसि सुइभूयंसि विपुलं असणपाणखाइमसाइमं उवक्खडाविंति २ त्ता मित्तनाइसयण-संबंधिवग्गं उवनिमंतंति मित्तं उवनिमंतित्ता बहवे समणमाहणक्किवण-वणीमगाहिं भिच्छुंडगपंडरगाईण विच्छड्डंति विग्गोविंति विस्साणिंति दायारेसु दाणं पज्जभाइंति विच्छड्डित्ता विग्गो विस्साणित्ता दायां पज्जभाइत्ता मित्तनाइं भुंजाविंति मित्तं भुंजावित्ता मित्तं वग्गेण इममेयारूवं नामधिज्जं कारविंति-जओ णं पभिइ इमे कुमारे तिं खं कुच्छंसि गब्भे आहूए तओ णं पभिइ इमं कुलं विपुलेणं हिरण्णेणं संखसिलप्पवालेणं अतीव २ परिवड्ढइ, ता होउ णं कुमारे वद्धमाणे ।

छाया- यतः प्रभृति भगवान् महावीरः त्रिशलायाः क्षत्रियाण्याः कुक्षौ गर्भमागतः ततः प्रभृति तत् कुलं विपुलेन हिरण्येन सुवर्णेन धनेन, धान्येन माणिक्येन मौक्तिकेन शंखशिलाप्रवालेन अतीव २ परिवर्द्धते, ततः श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य अम्बापितरौ एतमर्थं ज्ञात्वा निवर्तितदशाहे व्युत्क्रान्ते शुचीभूते विपुलाशनपानखादिमस्वादिम मुपस्कारयन्ति उपस्कार्य मित्रज्ञातिस्वजनसम्बन्धिवर्गमुपनिमंत्रयन्ति मित्रज्ञातिस्वजनसम्बन्धिवर्गमुपनिमंत्र्य बहून् श्रमणब्राह्मणकृपणवनीपकान् भिक्षोडुगपंडरगादीन् विच्छर्दयन्ति विगोपयन्ति विश्राणयन्ति, दातृषु दानं परिभाजयन्ति, विच्छर्द्य विगोप्य विश्राण्य दातृषु परिभाज्य मित्रज्ञातिस्वजनसम्बन्धिवर्गं परिभोजयन्ति मित्रज्ञातिस्वजनसम्बन्धिवर्गं भोजयित्वा मित्रज्ञातिस्वजनसम्बन्धिवर्गेण, इदमेतद्रूपं नामधेयं कारयन्ति, यतः प्रभृति अयं कुमारः त्रिशलायाः क्षत्रियाण्याः कुक्षौ गर्भे आहूतः ततः प्रभृति इदं कुलं विपुलेन हिरण्येन सुवर्णेन धनेन धान्येन माणिक्येन मौक्तिकेन शंखशिलाप्रवालेन अतीव २ परिवर्द्धते तावत् भवतु कुमारः वर्द्धमानः ।

पदार्थ- णं-वाक्यालंकार में है। जओ पभिइ-जब से। समणे-श्रमण। भगवं-भगवान। महावीर-महावीर। तिसलाए-त्रिशला। खत्तियाणीए-क्षत्रियाणी की। कुच्छंसि-कुक्षि में। गब्भं-गर्भ रूप में। आगए-आए हैं। णं-वाक्यालंकार में है। तओ पभिइ-उसी दिन से लेकर। तं कुलं-वह ज्ञातवंशीय कुल। विपुलेणं-विशेष रूप से। हिरण्णेणं-हिरण्य-चान्दी से। सुवण्णेणं-सुवर्ण से। धणेणं-धन से रूप्यकादि से। धन्नेणं-शालि आदि धान्य से। माणिक्केणं-माणिक से। मोत्तिएणं-मोतियों से। संखसिलप्पवालेणं-शंख शिला और प्रवाल से। अईव २-बहुत-बहुत। परिवड्ढइ-समृद्ध हो रहा है। णं-वाक्यालंकार में है। तओ-तदनन्तर। समणस्स भगवओ महावीरस्स-श्रमण भगवान महावीर के। अम्मापियरो-माता-पिता ने। एयमट्ठं जाणित्ता-

इस परमार्थ को जानकर। निव्वत्तदसाहंसि-दस दिनों के निर्वर्तित होने तथा। वुक्कंतंसि-च्युत्कान्त हो जाने एवं। सूड्भूर्यंसि-शुद्ध होने पर। विपुलं-बहुत। असणपाणखाडमसाडमं-अशन, पान, खादिम और स्वादिम पदार्थ। उवक्खडाविंति २ ता-तैयार करवा कर। मित्त-मित्र। नाड-ज्ञाति। सयण-स्वजन। संबंधिवगगं-सम्बन्धि वर्ग को। उवनिमंतंति-निमंत्रित करते हैं। उवनिमंतित्ता-और उन्हें निमंत्रण करके फिर। बहवे-बहुत से। समणमाहणकिवणवणीमगाहिं-शाक्यादि श्रमण, ब्राह्मण, कृपण, भिखारी तथा। भिच्छुंडुंगपंडरगाईण-भस्म आदि को शरीर में लगाकर भिक्षा मांगने वाले अन्य भिक्षुगणों को। विच्छड्डंति-भोजन कराते हैं। विगोविंति-विगोपन करते हैं। विस्साणिंति-विशेष रूप से आस्वादन करते हैं। दायारेसु दाणं पज्जभाइंति-याचक जनों में बांटते हैं और सब को भोजन कराते हैं फिर। विच्छड्डित्ता-शाक्यादि को देकर। विगो-विगोपन कर। विसाणित्ता-आस्वादन कर। दायारं पज्जभाइत्ता-याचक जनों में बांट करके। मित्तेनाडु-मित्र ज्ञाति जनों को। भुंजाविंति भोजन कराया। मित्तं भुंजावित्ता-मित्रादि को भोजन करवा कर फिर। वग्गेणं-वर्ग आदि के सम्मुख। इमेयारूवं-इस प्रकार। नामधिज्जं-नाम करण। कारविंति-करते हैं। जओ णं पभिइ-जिस दिन से लेकर। इमे कुमारे-यह कुमार। तिं ख-त्रिशला क्षत्रियाणी की। कुच्छिसि-कुक्षि में। गब्भे-गर्भपने। आहूए-आया है। तओ णं-तब से। पभिइ-लेकर। इमं कुलं-हमारा यह कुल। विपुलेणं-विपुल विस्तीर्ण रूप से। हिरन्नेणं-हिरण्य-चांदी। सुवण्णेणं-सुवर्ण। धणेणं-धन। धन्नेणं-धान्यादि से तथा। माणिक्केणं-माणिक्य से। मुत्तएणं-मोतियों से और। संखसिलप्पवालेणं-शंख शिला तथा प्रवाल-मूंगा आदि से। अतीव २-अत्यन्त। परिवड्डइ-वृद्धि को प्राप्त हुआ है। णं-वाक्यालंकार में है। ता-अंतः। कुमारे वद्धमाणे-इस कुमार का नाम वर्द्धमान हो अर्थात् मैं इस कुमार का वर्द्धमान नाम रखता हूं।

**मूलार्थ**—जिस रात को श्रमण भगवान महावीर त्रिशला क्षत्रियाणी की कुक्षि में आए उसी समय से उस ज्ञातवंशीय क्षत्रिय कुल में हिरण्य-चांदी, स्वर्ण, धन, धान्य, माणिक, मोती, शंखशिला और प्रवालादि की अभिवृद्धि होने लगी। श्रमण भगवान महावीर के जन्म के ग्यारहवें दिन शुद्ध हो जाने पर उनके माता-पिता ने विपुल अशन, पान, खादिम और स्वादिम पदार्थ बनवाए और अपने मित्र, ज्ञाति, स्वजन और सम्बन्धि वर्ग को निमंत्रित किया और बहुत से शाक्यादि श्रमण, ब्राह्मण, कृपण, वनीपक तथा अन्य तापसादि भिक्षुओं को भोजनादि, पदार्थ दिए। अपने मित्र, ज्ञाति, स्वजन और सम्बन्धि वर्ग को प्रेमपूर्वक भोजन कराया। भोजन आदि कार्यों से निवृत्त होने के पश्चात् उनके सामने कुमार के नामकरण का प्रस्ताव रखते हुए सिद्धार्थ ने बताया कि यह बालक जिस दिन से त्रिशला देवी की कुक्षि में गर्भ रूप से आया है तब से हमारे कुल में हिरण्य, सुवर्ण, धन, धान्य, माणिक, मोती, शंख, शिला और प्रवालादि पदार्थों की अत्यधिक वृद्धि हो रही है। अतः इस कुमार का गुण सम्पन्न 'वर्द्धमान' नाम रखते हैं।

**हिन्दी विवेचन**—प्रस्तुत सूत्र में भगवान महावीर के नामकरण का उल्लेख किया गया है। भगवान के जन्म के दस दिन के पश्चात् शुद्धि कर्म किया गया और अपने स्नेही-स्वजनों को बुला कर उन्हें भोजन कराया और अनेक श्रमण-ब्राह्मणों एवं भिक्षुओं को भी यथेष्ट भोजन दिया गया। उसके बाद सिद्धार्थ राजा ने सबको यह बताया कि इस बालक के गर्भ में आते ही हमारे कुल में धन-धान्य आदि की

वृद्धि होती रही है। अतः इसका नाम 'वर्द्धमान' रखते हैं

प्रस्तुत सूत्र में केवल गुण संपन्न नाम देने का उल्लेख किया गया है। परन्तु नाम करण की परम्परा का अनुयोगद्वारा सूत्र में विस्तार से विवेचन किया गया है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि नाम संस्कार की परम्परा बहुत प्राचीन काल से चली आ रही है।

भगवान महावीर के माता-पिता भगवान पार्व नाथ के श्रावक थे। फिर भी उन्होंने अन्य मत के श्रमण भिक्षुओं आदि को बुलाकर दान दिया। इससे स्पष्ट होता है कि आगम में श्रावक के लिए अनुकम्पा दान आदि का निषेध नहीं किया गया है। गृहस्थ का द्वार बिना किसी भेद भाव के सब के लिए खुला रहता है। वह प्रत्येक प्राणी के प्रति दया एवं स्नेह भाव रखता है।

इसी विषय को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं-

**मूलम्-** तओ णं समणे भगवं महावीरे पंचधाइपरिवुडे तं १ खीरधाईए, २ मज्जणधाईए, ३ मंडणधाईए, ४ खेलावणधाईए, ५ अंकधाईए, अंकाओ अंकं साहरिज्जमाणे रम्मे मणिकुट्टिमतले गिरिकंदरसमल्लीणेविव चंपयपायवे अहाणुपुव्वीए संवड्डइ, तओ णं समणे भगवं विन्नायपरिणय-( मित्ते ) विणियत्तबालभावे अप्पुस्सुयाइं उरालाइं माणुस्सगाइं पंचलक्खणाइं कामभोगाइं सहफरिसरसरूवगन्धाइं परियारेमाणे एवं च णं विहरइ ॥१७६ ॥

**छाया-** ततः श्रमणो भगवान् महावीरः पंचधात्रीपरिवृत्तः तद्यथा १ क्षीरधात्र्या, २ मज्जनधात्र्या, ४ मंडनधात्र्या, ४ क्रीडनधात्र्या, ५ अंकधात्र्या, अंकाद् अंकं समाह्वियमाणः रम्ये मणिकुट्टिमतले गिरिकन्दरसंलीन इव चम्पकपादपः यथानुपूर्व्या संवर्धते। ततः श्रमणो भगवान् महावीरः विज्ञातपरिणतः विनिवृत्तबालभावः अल्पौत्सुक्यान् उदारान् मानुष्यकान् पञ्चलक्षणान् कामभोगान् शब्दस्पर्शसरूपगंधान् परिचरन् एवं च विहरति।

**पदार्थ-** णं-वाक्यालंकार में है। तओ-तदनन्तर। समणे-श्रमण। भगवं-भगवान। महावीरे-महावीर। पंचधाइपरिवुडे-पांच धाय माताओं से परिवृत्त हुए। तंजहा-जैसे कि। खीरधाईए-दूध पिलाने वाली धाय माता से। मज्जणधाईए-स्नान कराने वाली माता से। मंडणधाईए-वस्त्र और अलंकार पहनाने वाली माता से। खेलावणधाईए-क्रीड़ा कराने वाली माता से और। अंकधाईए-गोद में खेलाने वाली माता से, इस प्रकार। अंकाओ अंकं साहरिज्जमाणे-एक गोद से दूसरी गोद में संहत होते हुए। रम्मे-रमणीय। मणिकुट्टिमतले-मणिजटित आंगन में इस तरह वृद्धि को प्राप्त कर रहे हैं। गिरिकंदर- समल्लीणेविव-जैसे पर्वत की गुफा में उत्पन्न हुआ। चंपयपायवे-चम्पक नाम का प्रधान वृक्ष विघ्न बाधाओं से रहित हो कर वृद्धि को प्राप्त होता है उसी प्रकार श्रमण भगवान महावीर भी। अहाणुपुव्वीए-यथानुक्रम। संवड्डइ-निर्विघ्नतया वृद्धि को प्राप्त हो रहे हैं। णं-वाक्यालंकार में है। तओ-तदनन्तर। समणे भगवं महावीरे-श्रमण भगवान महावीर। विन्नायपरिणय-स्वयमेव विज्ञान को प्राप्त हुए। विणियत्तबालभावे-बाल भाव को त्याग कर जीवन में पदार्पण करते हुए।

अण्पुस्सुयाइं-उत्सुकता से रहित अर्थात् उदासीनता से। उरालाइं-प्रधान। माणुस्सगाइं-मनुष्य सम्बन्धि। पंचलक्खणाइं-पांच प्रकार के। सहफरिसरसरूवगंधाइं-शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गन्ध से युक्त। कामभोगाइं-काम भोगों का। परिचारेमाणे-उपभोग करते हुए। एवं-इस प्रकार से। विहरइ-विहरण करते हैं। च-समुच्चय अर्थ में है। णं-वाक्यालंकार में है।

**मूलार्थ**—जन्म के बाद भगवान महावीर का पांच धाय माताओं के द्वारा लालन-पालन होने लगा। दूध पिलाने वाली धाय माता, स्नान कराने वाली धाय माता, वस्त्रालंकार पहनाने वाली धाय माता, क्रीड़ा कराने वाली और गोद में खिलाने वाली धाय माता, इन ५ धाय माताओं की गोद में तथा मणिमंडित रमणीय आंगन प्रदेश में खेलने लगे और पर्वत गुफा में स्थित चम्पक बेल की भान्ति विघ्न बाधाओं से रहित होकर यथाक्रम बढ़ने लगे। उसके पश्चात् ज्ञान-विज्ञान संपन्न भगवान महावीर बाल भाव को त्याग कर युवावस्था में प्रविष्ट हुए और मनुष्य सम्बन्धि उदार शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गन्धादि से युक्त पांच प्रकार के काम भोगों का उदासीन भाव से उपभोग करते हुए विचरने लगे।

**हिन्दी विवेचन**—प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि भगवान सुख पूर्वक बढ़ने लगे। उनके लालन-पालन के लिए ५ धाय माताएं रखी हुई थीं। दूध पिलाने वाली, स्नान कराने वाली, वस्त्रालंकार पहनाने वाली, क्रीड़ा कराने वाली और गोद में खिलाने वाली, इन विभिन्न धाय माताओं की गोद में आमोद-प्रमोद से खेलते हुए भगवान ने बाल भाव का त्याग कर यौवन वय में कदम रखा। यौवन का नशा बड़ा विचित्र होता है। परन्तु, भगवान ज्ञान-विज्ञान से सम्पन्न थे। अतः प्राप्त भोगों में भी वे आसक्त नहीं हुए। वे शब्द, रस, स्पर्श आदि भोगों का उदासीन भाव से उपभोग करते थे। इस कारण वे संकल्पित कर्मों का बन्धन नहीं करते थे। क्योंकि भोगों के साथ जितनी अधिक आसक्ति होती है, कर्म बन्धन भी उतना ही प्रगाढ़ होता है। भगवान उदासीन भाव से रहते थे, अतः उन का कर्म बन्धन भी शिथिल ही होता था।

अब भगवान के गुण निष्पन्न नाम एवं उनके परिवार का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्**— समणे भगवं महावीरे कासवगुत्ते, तस्स णं इमे तिन्नि नामधिज्जा एवमाहिज्जंति, तंजहा-अम्मापिउसंतिए वद्धमाणे ( १ ) सहसंमुइए समणे ( २ ) भीमं भयभेरवं उरालं अचेलयं परीसहंसहइत्तिकट्टु देवेहिं से नामं कयं समणे भगवं महावीरे ( ३ ) समणस्स णं भगवओ महावीरस्स पिया कासवगुत्तेणं, तस्स णं तिन्नि नामं तं सिद्धत्थे इ वा, सिज्जंसे इ वा, जसंसे इ वा। समणस्स णं भगवओ महावीरस्स अम्मा वासिट्ठस्सगुत्ता तीसे णं तिन्नि नां तं-तिसला इ वा, विदेहेदिन्ना इ वा, पियकारिणी इ वा। समणस्स णं भं पित्तिअए सुपासे कासवगुत्तेणं। समणं जिट्ठे भाया नंदिवद्धणे कासवगुत्तेणं, समणस्स णं जेट्ठा भइणी सुदंसणा कासवगुत्तेणं, समणस्स णं भगं भज्जा जसोया

कोडिनागुत्तेणं, समणस्स णं धूया कासवगोत्तेणं, तीसे णं दो नामधिज्जा एवमा० — अणुज्जा इ वा, पियदंसणा इ वा, समणस्स णं भ० नत्तुई कोसियागुत्तेणं, तीसे णं दो नाम० तं० सेसवई इ वा, जसवई इ वा ॥१७७ ॥

छाया— श्रमणो भगवान् महावीरः काश्यपगोत्रः तस्य इमानि त्रीणि नामधेयानि एवमाख्यायन्ते, तद्यथा अम्बापितृसत्कं वर्द्धमानः, सहसंमुदितः श्रमणः। भीमं भयभैरवं उदारमचलं परीषहसह इतिकृत्वा देवैः तस्यनाम कृतं श्रमणो भगवान् महावीरः। श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य पिता काश्यपगोत्रः तस्य त्रीणि नामधेयानि एवमाख्यायन्ते तद्यथा— सिद्धार्थ इति वा श्रेयांस इति वा यशस्वी इति वा। श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य अम्बा, वासिष्ठ गोत्रा तस्याः त्रीणि नामधेयानि एवमाख्यायन्ते, त्रिशला इति वा, विदेहदत्ता इति वा, प्रियकारिणी इति वा। श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य पितृव्यः, सुपाश्वः काश्यपगोत्रः, श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य ज्येष्ठो भ्राता नन्दिवर्द्धनः काश्यपगोत्रः, श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य ज्येष्ठा भगिनी सुदर्शना काश्यपगोत्रा। श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य भार्या यशोदा कौडिन्यगोत्रा। श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य दुहिता काश्यपगोत्रा, तस्याः द्वे नामधेये, एवमाख्यायन्ते, तद्यथा अनोज्जा इति वा प्रियदर्शना इति वा। श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य दौहित्री काश्यपगोत्रा तस्याः द्वे नामधेये एवमाख्यायन्ते तद्यथा-शेषवती इति वा यशस्वती इति वा।

पदार्थ— समणो भगवं महावीरं-श्रमण भगवान् महावीर। कासवगुत्ते-काश्यप गोत्री। णं-वाक्यालंकार में है। तस्स-उसके। इमे-ये। तिन्नि-तीन। नामधिज्जा-नाम। एवमाहिज्जंति-इस प्रकार कहे जाते हैं। तंजहा-जैसे कि। अम्मापितुसंति-माता-पिता की ओर से दिया गया। वर्द्धमाणो-वर्द्धमान नाम था। सहसंमुदुए समणो-स्वाभाविक गुण से उत्पन्न हुआ श्रमण अर्थात् सम भाव धारण करने से तथा अत्यन्त घोर तप करने से श्रमण कहलाए एवं। भीमं-रौद्र। भयभैरवं-अत्यन्त भय के उत्पन्न करने वाला। उरालं-प्रधान। अचेलर्यं-अचल। परीसहंसहतिकट्टु-परीषहों के सहन करने से। देवेहिं-देवों ने। से-उनका-वर्द्धमान का। समणो भगवं महावीरं-श्रमण भगवान् महावीर ऐसा। नामकर्यं-नाम रखा। समणस्स भगवओ महावीरस्स-श्रमण भगवान् महावीर के। पिया-पिता। कासवगुत्तेणं-काश्यप गोत्रीय थे। तस्स णं-उसके। तिन्नि-तीन। नाम०-नाम कहे गए हैं। तं०-जैसे कि। सिद्धत्थे इ वा-सिद्धार्थ यह। सिज्जंसे इ वा-श्रेयांस यह। जससे इ वा-और यशस्वी यह तीन नाम थे। समणस्स भगवओ महावीरस्स-श्रमण भगवान् महावीर की। अम्मा-माता। वासिट्ठस्सगुत्ता-वासिष्ठ गोत्र वाली। तीसे णं-उसके। तिन्नि नाम०-तीन नाम कहे गए हैं। तं०-जैसे कि। तिसला इ वा-त्रिशला इति। विदेहदिन्ना इ वा-विदेह दत्ता और। पियकारिणी इ वा-प्रियकारिणी इति। समणस्स भगवओ महावीरस्स-श्रमण भगवान् महावीर के। पित्तिए-पितृव्य-पिता के भाई। कासवगुत्तेणं-काश्यप गोत्री का। सुपासे-सुपाश्व नाम था। समणस्स भगवओ महावीरस्स-श्रमण भगवान् महावीर के।

जिदृठे भाया-ज्येष्ठ भ्राता। कासवगुत्तेणं-काश्यप गोत्री का। नन्दीवर्द्धने-नन्दीवर्द्धन नाम था। समणस्स भगवओ महावीरस्स-श्रमण भगवान की। जेट्ठा भइणी-ज्येष्ठ बहन। कासवगुत्तेणं-काश्यप गोत्रीया का। सुदंसणा-सुदर्शना नाम था। समणस्स भगवओ महावीरस्स-श्रमण भगवान महावीर की। भज्जा-भार्या। कोडिन्नागुत्तेणं-कौडिन्य गोत्रीया का। जसोया-यशोदा नाम था। समणस्स भगवओ महावीरस्स-श्रमण भगवान महावीर की। धूया-पुत्री। कासवगुत्तेणं-काश्यप गोत्रीय थी। तीसे णं-उसके। दो नामधिज्जा-दो नाम। एवमाहिज्जंति-इस प्रकार कहे जाते हैं। अणुज्जा इ वा-अनोज्जा इति। पियदंसणा इ वा-प्रियदर्शना इति अर्थात् अनोज्जा और प्रियदर्शना ये दो नाम थे। समणस्स भगवओ महावीरस्स-श्रमण भगवान् महावीर की। नत्तुई-दौहित्री। कोसियागुत्तेणं-कौशिक गोत्र वाली थी। तीसेणं-उसके। दो नामधिज्जा एवमा-दो नाम इस प्रकार कहे गए हैं। तं-जैसे कि। सेसवई इ वा-शेषवती इति और। जसवई इ वा-यशवती इति।

**मूलार्थ**—काश्यपगोत्रीय श्रमण भगवान् महावीर के इस प्रकार से तीन नाम कहे गए हैं—माता-पिता का दिया हुआ वर्द्धमान, स्वाभाविक समभाव होने से श्रमण और अत्यन्त भयोत्पादक परीषहों के समय अचल रहने एवं उन्हें समभाव पूर्वक सहन करने से देवों के द्वारा प्रणिष्ठित महावीर। श्रमण भगवान् महावीर के काश्यपगोत्रीय पिता के सिद्धार्थ, श्रेयांस और यशस्वी ये तीन नाम थे। श्रमण भगवान् महावीर की वासिष्ठ गोत्र वाली माता के त्रिशला, विदेह-दत्ता और प्रियकारिणी ये तीन नाम थे। श्रमण भगवान् महावीर के पितृव्य-पिता के भाई का नाम सुपाश्व था, श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के काश्यपगोत्री ज्येष्ठ भ्राता का नाम नन्दीवर्द्धन था। भगवान् की ज्येष्ठ भगिनी का नाम सुदर्शना था। भगवान् की भार्या-जो कि कौडिन्य गोत्र वाली थी-का नाम यशोदा था। भगवान् की पुत्री के अनोज्जा और प्रियदर्शना ये दो नाम कहे जाते हैं तथा श्रमण भगवान् महावीर के दौहित्री जिसका-कौशिक गोत्र था-के शेषवती और यशवती ये दो नाम थे।

**हिन्दी विवेचन**—प्रस्तुत सूत्र में भगवान् के नाम एवं परिवार का परिचय दिया गया है। भगवान् के वर्द्धमान, श्रमण और महावीर इन तीन नामों का उल्लेख किया गया है। वर्द्धमान नाम माता-पिता द्वारा दिया गया था। और दीक्षा ग्रहण करने के बाद भगवान् की समभाव पूर्वक तपश्चर्या करने की प्रवृत्ति थी, उससे उन्हें श्रमण कहा गया और देवों द्वारा दिए गए घोर परीषहों में भी वे आत्म चिन्तन से विचलित नहीं हुए तथा उन्हें समभाव पूर्वक सहते रहे, इससे उन्हें महावीर कहा गया। आगमों में एवं जन साधारण में उनका यही नाम अधिक प्रचलित रहा है। और आज भी वे महावीर के नाम से संसार में विख्यात हैं।

भगवान् महावीर के पिता के तीन नाम थे— सिद्धार्थ, श्रेयांस और यशस्वी। उनकी माता के त्रिशला, विदेहदत्ता और प्रियकारिणी ये तीन नाम थे। उनके पिता के भाई का नाम सुपाश्व था और उनके बड़े भाई का नाम नन्दीवर्द्धन था। उनके सुदर्शना नाम की एक ज्येष्ठ बहन थी। उनकी पत्नी का नाम यशोदा है। उनकी पुत्री के अनोज्जा और प्रियदर्शना ये दो नाम थे, जिसका विवाह जमाली के साथ किया गया था। उनके एक दौहित्री भी थी, जिसके शेषवती और यशवती ये दो नाम थे। इस तरह से भगवान् महावीर का विशाल परिवार था।

अब उनके माता-पिता के सम्बन्ध में कुछ बातों का उल्लेख करते हुए सूत्रकार लिखते हैं-

**मूलम्-** समणस्स णं ३ अम्मापियरो पासावच्चिज्जा समणोवासगा यावि हुत्था, ते णं बहूइं वासाइं समणोवासगपरियागं पालइत्ता छण्हं जीविकायाणं सारक्खणनिमित्तं आलोइत्ता निंदित्ता गरिहित्ता पडिक्कमित्ता अहारिहं उत्तरगुणपायच्छित्ताइं पडिवज्जित्ता कुससंथारगं दुरुहित्ता भत्तं पच्चक्खायंति २ अपच्छिमाए मारणंतियाए संलेहणाए ज्झूसियसरीरा कालमासे कालंकिच्चा तं सरीरं विप्पजहित्ता अच्चुए कप्पे देवत्ताए उववन्ना, तओ णं आउक्खएणं भव० ठि० चुए चइत्ता महाविदेहे वासे चरमेणं उस्सासेणं सिञ्झिस्संति बुञ्झिस्संति मुच्चिस्संति परिनिव्वाइस्संति सव्वदुक्खाणमंतं करिस्संति ॥१७८ ॥

**छाया-** श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य अम्बापितरौ पाश्र्वापत्ये श्रमणोपासकौ चापि अभूताम् । तौ बहूनि वर्षाणि श्रमणोपासकपर्यायं पालयित्वा षण्णां जीविकायानां संरक्षणनिमित्तम् आलोच्य निन्दित्वा गहित्वा प्रतिक्रम्य यथार्हं उत्तरगुणप्रायश्चित्तानि प्रतिपद्य कुशसंस्तारकं दुरुह्य भक्तं प्रत्याख्यातः २ अपश्चिमया मारणान्तिकया संलेखनया ज्झोषितशरीरौ कालमासे कालं कृत्वा तच्छरीरं विप्रजह्य अच्युते कल्पे देवतया उपपन्नौ, ततः आयुः क्षयेण भवक्षयेण स्थितिक्षयेण, च्युतौ त्यक्त्वा महाविदेहवर्षे चरमेण उच्छ्वासेन सेत्स्यतः भोत्स्यतः मोक्ष्यतः परिनिर्वास्यतः सर्वदुखानामन्तं करिष्यतः ।

**पदार्थ-** समणस्स भगवओ महावीरस्स-श्रमण भगवान महावीर के । अम्मापियरो-माता-पिता । पासावच्चिज्जा-भगवान पाश्र्वनाथ के साधुओं के । समणोवासगा यावि हुत्था-श्रमणोपासक थे । च-पुनरर्थक है । अवि-समुच्चयार्थक है । णं-वाक्यालंकार में है । ते-वे दोनों । बहूइं-बहुत । वासाइं-वर्षों की । समणोवासग-परियागं-श्रमणोपासक की पर्याय को-श्रावक धर्म को । पालइत्ता-पालकर । छण्हं जीविकायाणं-छः प्रकार की जीविकाय-समूह की । सारक्खणनिमित्तं-रक्षा के निमित्त । आलोइत्ता-आलोचना कर के । निंदित्ता-आत्मा की साक्षी से निन्दा करके । गरिहित्ता-गुरु आदि को साक्षी से गर्हणा कर के । पडिक्कमित्ता-पाप कर्म से प्रतिक्रमण करके । अहारिहं-यथा योग्य । उत्तरगुणपायच्छित्ताइं-उत्तरगुण सम्बन्धि प्रायश्चित्त को । पडिवज्जित्ता-ग्रहण करके । कुससंथारगं-कुशा के संस्तारक पर । दुरुहित्ता-बैठकर । भत्तं पच्चक्खायंति-भक्त प्रत्याख्यान स्वीकार करते हैं । भक्त प्रत्याख्यान के पश्चात् । अपच्छिमाए-अन्तिम । मारणंतियाए-मारणान्तिक । संलेहणाए-शरीर की संलेखना से । ज्झूसियसरीरा-शरीर को सुखा कर । कालमासे-काल के समय । कालं किच्चा-काल करके । तं सरीरं-उस शरीर को । विप्पजहित्ता-त्याग कर । अच्चुए कप्पे-अच्युत नामा बारहवें देवलोक में । देवत्ताए-देवपने । उववन्ना-उत्पन्न हुए । णं-वाक्यालंकार में है । तओ-तदनन्तर । आउक्खएणं-देवलोक की आयु का क्षय करके । भव०-देव भव का क्षय करके । ठि०-देव स्थिति का क्षय करके । चुया-वहां से च्यवे और ।



चइत्ता-च्यव कर-च्युत होकर। महाविदेहे वासे-महाविदेह क्षेत्र में। चरमेणं-अन्तिम। उस्सासेणं-श्वसोच्छ्वास से। सिञ्झिस्संति-सिद्ध होंगे। बुञ्झिस्संति-बुद्ध होंगे। मुच्चिस्संति-कर्मों से मुक्त होंगे। परिनिव्वाइस्संति-निर्वाण को प्राप्त होंगे। सव्वदुक्खाणमंतं करिस्संति-सर्व प्रकार के दुखों का अन्त करेंगे।

**मूलार्थ—**श्रमण भगवान महावीर स्वामी के माता-पिता भगवान पार्श्वनाथ के साधुओं के श्रमणोपासक-श्रावक थे। उन्होंने बहुत वर्षों तक श्रावक धर्म का पालन करके छः जीविकाय की रक्षा के निमित्त आलोचना करके, आत्म-निन्दा और आत्मगर्हा करके पापों से प्रतिक्रमण कर के पीछे हटकर के, मूल और उत्तर गुणों की शुद्धि के लिए प्रायश्चित्त ग्रहण करके, कुशा के आसन पर बैठकर, भक्त प्रत्याख्यान नामक अनशन को स्वीकार किया। और अन्तिम मारणान्तिक शारीरिक संलेखना द्वारा शरीर को सुखाकर अपनी आयु पूरी करके उस औदारिक शरीर को छोड़ कर अच्युत नामक १२ वें देवलोक में देवपने उत्पन्न हुए। तदनन्तर वहां से देव सम्बन्धि आयु, भव और स्थिति का क्षय करके वहां से च्यवकर महाविदेह क्षेत्र में चरम श्वसोच्छ्वास द्वारा सिद्ध-बुद्ध मुक्त एवं परिनिवृत होंगे और सर्वप्रकार के दुःखों का अन्त करेंगे।

**हिन्दी विवेचन—**प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि भगवान महावीर के माता-पिता जैन श्रावक थे, वे भगवान पार्श्वनाथ की परम्परा के उपासक थे। इससे स्पष्ट होता है कि भगवान महावीर के पूर्व भी जैन धर्म का अस्तित्व था। अतः भगवान महावीर उसके संस्थापक नहीं, प्रत्युत जैन धर्म के प्रचारक थे, अनादि काल से प्रवहमान धार्मिक प्रवाह को प्रगति देने वाले थे। उनका कुल जैनधर्म से संस्कारित था। अतः भगवान के माता-पिता के लिए 'पार्श्वपत्य' शब्द का प्रयोग किया गया है। 'अपत्य' शब्द शिष्य एवं सन्तान दोनों के लिए प्रयुक्त होता रहा है।

महाराज सिद्धार्थ एवं महाराणी त्रिशला श्रावक-धर्म की आराधना करते हुए अन्तिम समय में विधि पूर्वक आलोचना एवं अनशन ग्रहण करके १२ वें स्वर्ग में गए और वहां से महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर मोक्ष जाएंगे। इससे स्पष्ट है कि साधु एवं श्रावक दोनों मोक्ष के पथिक हैं। चतुर्थ गुणस्थान का स्पर्श करने के बाद यह निश्चित हो जाता है कि वह आत्मा अवश्य ही मोक्ष को प्राप्त करेगा। यह ठीक है कि सम्यक्त्व एवं श्रावकत्व की साधना से ऊपर उठकर ही आत्मा निर्वाण पद को पा सकती है। श्रावक की साधना में मुक्ति प्राप्त नहीं होती। क्योंकि, उक्त साधना में आत्मा पंचम गुणस्थान से आगे नहीं बढ़ती और समस्त कर्म बन्धनों एवं कर्म-जन्य साधनों से सर्वथा मुक्त होने के लिए १४वें गुणस्थान को स्पर्श करना आवश्यक है। और उस स्थान तक साधुत्व की साधना करके ही पहुंचा जा सकता है। अतः भगवान के माता-पिता यहां के आयुष्य को पूरा करके १२ वें स्वर्ग में गए, वहां से महाविदेह क्षेत्र में मनुष्य भव करके दीक्षा ग्रहण करेंगे और श्रमणत्व की साधना करके समस्त कर्म बन्धनों को तोड़ कर सिद्ध-बुद्ध एवं मुक्त-बनेंगे।

कल्पसूत्र की सुबोधिका वृत्ति में लिखा है कि आवश्यक निर्युक्ति में बताया है कि भगवान के

माता-पिता चौथे स्वर्ग में गए और आचारांग में १२ वां स्वर्ग बताया गया है<sup>१</sup>। यदि नियुक्तिकार ने चौथे स्वर्ग का उल्लेख चतुर्थ जाति के (वैमानिक) देवों के रूप में किया है, तब तो आचारांग से विपरीत नहीं कहा जा सकता। क्योंकि १२ वां स्वर्ग वैमानिक देवों में ही समाविष्ट हो जाता है और यदि उनका अभिप्राय चौथे देवलोक से ही है तो वह मान्य नहीं हो सकता। क्योंकि आगम में स्पष्ट रूप से १२ वें स्वर्ग का उल्लेख किया गया है। अतः आगम का कथन ही प्रामाणिक माना जा सकता है।

अब भगवान के दीक्षा महोत्सव का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं-

**मूलम्-** तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भ० नाए नायपुत्ते नायकुल-  
निव्वत्ते विदेहे विदेहदिन्ने विदेहजच्चे विदेहसूमाले तीसं वासाइं विदेहंसित्ति  
कट्टु अगारमज्जे वसित्ता अम्मापिऊहिं कालगएहिं देवलोगमणुपत्तेहिं,  
समत्तपइन्ने चिच्चा हिरण्णं चिच्चा सुवन्नं चिच्चा बलं चिच्चा वाहणं चिच्चा  
धणकणगरयणसंतसारसावइज्जं विच्छडिडत्ता विगोवित्ता विस्साणित्ता  
दायारेसु दाणं दाइत्ता परिभाइत्ता संवच्छरं दलइत्ता जे से हेमताणं पढमे मासे  
पढमे पक्खे मग्गसिरबहुले तस्स णं मग्गसिरबहुलस्स दसमीपक्खेणं, हत्थुत्तरा०  
जोग० अभिनिक्खमणाभिप्पाए यावि होत्था।

**छाया-** तस्मिन् काले तस्मिन् समये श्रमणो भगवान् महावीरः ज्ञातः ज्ञातपुत्रः  
ज्ञातकुलनिर्वृत्तः विदेहः विदेहदत्तः विदेहार्चः विदेहसुकुमालः त्रिंशद् वर्षाणि विदेहे इति  
कृत्वा अगारमध्ये उषित्वा अम्बापित्रौः कालगतयोः देवलोकमनुप्राप्तयोः समाप्तप्रतिज्ञः त्यक्त्वा  
हिरण्यं त्यक्त्वा सुवर्णं, त्यक्त्वा बलं, त्यक्त्वा वाहनं, त्यक्त्वा धनकनकरत्नसत्सारस्वापतेयं  
विच्छर्त्तं विगोप्य विश्राण्य दातृषु दानं दत्त्वा परिभाज्य सप्तवत्सरं दत्त्वा यः सः हेमन्तानां  
प्रथमो मासः प्रथमः पक्षः मार्गशीर्षबहुलः तस्य मार्गशीर्षबहुलस्य दशमीपक्षेण हस्तोत्तरानक्षत्रेण  
योगमुपागतेन अभिनिष्क्रमणाभिप्रायश्चापि अभवत्।

**पदार्थ-** तेणं कालेणं तेणं समएणं-उस काल और उस समय में। समणे भगवं महावीरे-  
श्रमण भगवान महावीर। नाए-ज्ञात-प्रसिद्ध। नायपुत्ते-ज्ञात पुत्र। नायकुलनिव्वत्ते-ज्ञात कुल में चन्द्रमा के  
समान आल्हाद उत्पन्न करने वाले। विदेहे-वन्न नाराच-संहनन तथा समचतुरस्र संस्थान के अति सुन्दर होने से  
विदेह-अर्थात् विशिष्ट देह-शरीर वाले। विदेहदिन्ने-त्रिशला देवी के पुत्र होने से विदेह दिन अर्थात् भगवान को  
विदेह दिन या विदेह दत्त कहते हैं। विदेहजच्चे-विदेहार्च-अर्थात् त्रिशला माता के शरीर से उत्पन्न होने या  
कामदेव पर विजय प्राप्त करने से भगवान को विदेहार्च कहा गया है। विदेहसूमाले-विदेहसुकुमाल अर्थात् गृहस्थावास

१ अष्टाविंशति वर्षातिक्रमे भगवतो मातापितरौ आवश्यकताभिप्रायेण तूर्ध्वं स्वर्ग आचारांगाभिप्रायेण तु अनशनेन  
अच्युतं गतौ।  
- कल्पसूत्र सुबोधिका वृत्ति।

में अतिसुकुमार होने से विदेह सुकुमाल भी कहते हैं ऐसे भगवान् । तीसं वासाइं-तीस वर्ष पर्यन्त । विदेहंसित्तिकट्टु-घर में इस प्रकार से किया । अगारमण्ड्ये-घर के मध्य में । वसित्ता-निवास कर के । अम्मापिऊहिं-माता-पिता के । कालगएहिं-स्वर्गवास होने और । देवलोगमणुपत्तेहिं-देवलोक को प्राप्त करने से । समत्तपइन्ने-भगवान् की प्रतिज्ञा समाप्त हो गई । भगवान् ने गर्भ में यह प्रतिज्ञा की थी कि माता-पिता के रहते हुए दीक्षा ग्रहण नहीं करूंगा । अतः अब इस प्रतिज्ञा के समाप्त होने पर । चिच्चाहिरण्णं-भगवान् हिरण्य को छोड़ कर । चिच्चा सुवण्णं-सुवर्ण को छोड़ कर । चिच्चा बलं-बल सेना को छोड़ कर । चिच्चा वाहणं-वाहन को छोड़ कर अर्थात् पालकी आदि की सवारी का त्याग कर के तथा । धणकणगरयणसंतसारसावइज्जं-धन, कनक, रत्न आदि सार भूत लक्ष्मी को । विच्छडिडत्ता-छोड़ कर । विग्गोवित्ता-धन को प्रकट कर तथा । विसाणित्ता-दान देकर । दायारेसु दाणं दाइत्ता-याचकों को देकर । परिभाइत्ता-ज्ञाति जनों में बांट कर और । संवच्छरं दलइत्ता-साम्बत्सरिक दान देकर । जे-जो । से-वह । हेमंताणं-हेमन्त ऋतु का । पढमे मासे-प्रथम मास । पढमे पक्खे-प्रथम पक्ष । मग्गसिरबहुले-मार्ग शीर्ष कृष्ण पक्ष । तस्स णं-उस । मग्गसिरबहुलस्स-मार्गशीर्ष कृष्ण पक्ष की । दसमीपक्खेणं-दशमी के दिन । हत्थुत्तरां-उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र के साथ । जोगं-चन्द्रमा का योग आने पर । अभिनिक्खमणभिप्पाए यावि होत्था-भगवान् के मन में दीक्षा लेने का संकल्प उत्पन्न हुआ ।

**मूलार्थ**—उस काल और उस समय में श्रमण भगवान् महावीर प्रसिद्ध ज्ञात पुत्र, ज्ञात कुल में चन्द्रमा के समान, वज्रऋषभ नाराच संहनन के धारक, त्रिशला देवी के पुत्र, त्रिशला माता के अंगजात, घर में सुकुमाल अवस्था में रहने वाले तीस वर्ष तक घर में निवास करके माता-पिता के देव लोक हो जाने पर अपनी ली हुई प्रतिज्ञा के पूर्ण हो जाने से हिरण्य, स्वर्ण-बल और वाहन, धन-धान्य, रत्न आदि प्राप्त वैभव को त्यागकर, याचकों को यथेष्ट दान देकर तथा अपने सम्बन्धियों में यथायोग्य विभाग करके एक वर्ष पर्यन्त दान देकर हेमन्त ऋतु के प्रथम मास, प्रथम पक्ष अर्थात् मार्गशीर्ष कृष्ण दशमी के दिन उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र के साथ चन्द्रमा का योग होने पर भगवान् ने दीक्षा ग्रहण करने का अभिप्राय प्रकट किया ।

**हिन्दी विवेचन**— प्रस्तुत सूत्र में भगवान् के दीक्षा संबंधी संकल्प का वर्णन किया गया है । इसमें बताया गया है कि भगवान् के माता-पिता का स्वर्गवास हो जाने पर भगवान् ने सम्पूर्ण वैभव का त्याग करके दीक्षित होने का विचार प्रकट किया । जिस समय भगवान् गर्भ में आए थे, उस समय उन्होंने यह सोचकर अपने शरीर को स्थिर कर लिया कि मेरे हलन-चलन करने से माता को कष्ट न हो । परन्तु इस क्रिया का माता के मन पर विपरीत प्रभाव पड़ा । गर्भ का हलन-चलन बन्द हो जाने से उसे यह सन्देह होने लगा कि कहीं मेरा गर्भ नष्ट तो नहीं हो गया है । और परिणाम स्वरूप माता का दुःख और बढ़ गया और उसे दुःखित देखकर सारा परिवार शोक में डूब गया । अपनी अवधि ज्ञान से माता की इस दुःखित अवस्था को देखकर भगवान् ने हलन-चलन शुरु कर दिया और साथ में यह प्रतिज्ञा भी ले ली कि जब तक माता-पिता जीवित रहेंगे, तब तक मैं दीक्षा नहीं लूंगा । वे अपने लिए अपनी माता को जरा भी कष्ट देना नहीं चाहते थे । अब माता-पिता के स्वर्गवास होने पर उनकी प्रतिज्ञा पूरी हो गई, अतः वे अपने

साधना पथ पर गतिशील होने के लिए तैयार हो गए।

कुछ प्रतियों में 'नाय कुल निव्वत्ते' के स्थान पर 'नायकुलचन्दे' पाठ भी उपलब्ध होता है। और प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'विदेहदिने' आदि पदों पर वृत्तिकार ने यह अर्थ किया है कि वज्र ऋषभ नाराच संहनन और समचौरस संस्थान से जिसका देह शोभायमान है उसे विदेह कहते हैं। और भगवान की माता का नाम विदेहदत्ता था, अतः इस दृष्टि से भगवान को विदेह दिन भी कहते हैं<sup>१</sup>। 'विच्छिडता'- आदि पदों का कल्प सूत्र की वृत्ति में विस्तार से वर्णन किया गया है<sup>२</sup>।

अब भगवान द्वारा दिए गए सांवत्सरिक दान का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं-

मूलम्— संवच्छरेण होहिइ अभिनिक्खमणं तु जिणवरिंदस्स ।  
तो अत्थसंपयाणं, पवत्तई पुव्वसूराओ ।१ ।  
एगा हिरण्णकोडी, अट्ठेव अणूणगा सयसहस्सा ।  
सूरोदयमाईयं दिज्जइ जा पायरासुत्ति ।२ ।  
तिन्नेव य कोडिसया अट्ठासीइं च हुंति कोडीओ ।  
असिइं च सयसहस्सा, एयं संवच्छरे दिन्नं ।३ ।  
वेसमणकुंडधारी, देवा लोगंतिया महिड्डीया ।  
बोहिति य तित्थयरं पन्नरससुं कम्मभूमीसु ।४ ।  
बंभंमि य कप्पंमी बोद्धव्वा कणहराइणो मज्झे ।  
लोगंतिया विमाणा, अट्ठसु वत्था असंखिज्जा ।५ ।  
एए देवनिक्काया भगवं बोहिति जिणवरं वीरं ।  
सव्वजगज्जीवहियं अरिहं ! तित्थं पवत्तेहि ।६ ।

छाया— सम्वत्सरेण भविष्यति अभिनिष्क्रमणं तु जिनवरेन्द्रस्य ।

ततः अर्थसम्पदा प्रवर्तते पूर्वं सूर्यात् ।१ ।

एका हिरण्यकोटिः अष्टैव अन्यूनकाः शतसहस्राः ।

सूर्योदयादादौ दीयते या प्रातराश इति ।२ ।

१ विदेहे वज्रऋषभनाराचसंहननसमचतुरस्रसंस्थानमनोहरत्वात् विशिष्टो देहो यस्य स विदेहः विदेहदिने-विदेहदिना त्रिशला तस्या अपत्यं वैदेहदिनः । विदेहजच्चे विदेहा त्रिशला तस्यां जाता अर्चा-शरीरं यस्य सः । —आचारांग वृत्तिः ।

२ विच्छिडता-विच्छर्द्द-विशेषेण त्यक्त्वा, पुनः किं कृत्वा ? विगोवइत्ता-विगोव्य तदेव गुप्तं सद्धानातिशयात् प्रकटीकृत्येति भावः, अथवा विगोव्य-कुत्सनीयमेतदस्थिरत्वादित्युक्त्वा, पुनः किं कृत्वा ? दाणं दायारेहिं परिभाइत्ता-दीयते इति दानं तत् दायाय-दानार्थं आच्छति आगच्छन्तीति दायारा-याचकास्तेभ्यः परिभाण्य विभागैर्दत्त्वा, यद्वा परिभाण्य-आलोच्य, इदं अमुकस्य देयं, इदं अमुकस्यैवं विचार्यैत्यर्थः पुनः किं कृत्वा ? दाणं दाइयाणं परिभाइत्ता-दानं धनं दायिका-गोत्रिकास्तेभ्यः परिभाण्य-विभागशो दत्त्वा इत्यर्थः ।

— कल्पसूत्र, सुबोधिका वृत्तिः ।

त्रीण्येव च कोटि शतानि, अष्टाशीतिश्च भवन्ति कोटयः ।  
 अशीतिश्च शत सहस्राणि एतत् सम्बत्सरे दत्तम् ।३ ।  
 वैश्रमणकुण्डलधरा देवाः, लोकान्तिका महर्धिकाः ।  
 बोधयन्ति च तीर्थकरं, पंचदशसु कर्मभूमिषु ।४ ।  
 ब्राह्मो च कल्पे बोधव्याः कृष्णाराजेः मध्ये ।  
 लोकान्तिका विमानाः अष्टसु विस्ताराः असंखेयाः ।५ ।  
 एते देवनिकायाः भगवन्तं बोधयन्ति जिनवरं वीरम् ।  
 सर्वजगज्जीवहितं, अर्हन् ! तीर्थं प्रवर्तय ।६ ।

**पदार्थ-** अभिनिवृत्तमणं तु-दीक्षा लेने का समय । जिणवरिं दस्स-जिनेन्द्र देव का । संवच्छरेण होहिइ-आज से एक वर्ष पश्चात् होगा । तो-तत्पश्चात् । अत्थसंपयाणं-अर्थ संपदा-धन सम्पत्ति का दान । पुव्वसूराओ पवत्तइ-जब पूर्व दिशा में सूर्य का उदय होता है तब से आरम्भ होता है ।

**मूलार्थ-** श्री भगवान दीक्षा लेने से एक वर्ष पहले साम्बत्सरिक दान-वर्षी दान देना आरम्भ कर देते हैं, और वे प्रतिदिन सूर्योदय से लेकर एक पहर दिन चढ़ने तक दान देते हैं ।

**पदार्थ-** एगा हिरण्णकोडी-एक करोड़ मुद्रा और । अणूपाया-सम्पूर्ण । अट्ठेव-आठ ही । सयसहस्सा-लाख अधिक मुद्रा का दान । सूरोदयमाईयं-सूर्योदय से लेकर । जा-जो । पायरासुत्ति-एक प्रहर पर्यन्त । दिज्जइ-दिया जाता है ।

**मूलार्थ-** एक करोड़ आठ लाख मुद्रा का दान सूर्योदय से लेकर एक प्रहर पर्यन्त दिया जाता है ।

**पदार्थ-** तिन्नेव-तीन । य-पुनः । कोडिसया-सौ करोड़ । च-और । अट्ठासीइं हुंति कोडीओ-अठासी ८८ करोड़ होते हैं । च-पुनः-फिर । असिइं सयससहस्सा-अस्सी ८० लाख एवं । संवच्छरे दिनं-भगवान ने एक वर्ष में इतनी स्वर्ण मुद्रा दान में दी ।

**मूलार्थ-** भगवान ने एक वर्ष में ३८८ करोड़ ७० लाख मुद्रा का दान दिया ।

**पदार्थ-** वेसमणकुण्डधारी देवा-कुण्डल धारण करने वाले वैश्रमण देव और । महिइद्धिया-महा ऋद्धि वाले । लोगंतिया-लौकान्तिक देव । पन्नरस्सु कम्मभूमिसु-१५ कर्म भूमि में होने वाले । तित्थयरं-तीर्थकर भगवान को । य-पुनः । बोहिंति-प्रतिबोधित करते हैं ।

**मूलार्थ-** कुण्डल के धारक वैश्रमण देव और महाऋद्धि वाले लौकान्तिक देव १५ कर्म-भूमि में होने वाले तीर्थकर भगवान को प्रतिबोधित करते हैं ।

**पदार्थ-** य-पुनः । बंधंमि कप्पंमी-ब्रह्म कल्प में । कणहराइणो मज्झे-कृष्णाराजि के मध्य में । अट्ठसु-आठ प्रकार के । असंखिज्जा-असंख्यात । वत्था-विस्तार वाले । लोगंतिया विमाणा-लौकान्तिक देवों के विमानों को । बोधव्वा-जानना चाहिए ।

**मूलार्थ-** ब्रह्मकल्प में कृष्णाराजि के मध्य में आठ प्रकार के लौकान्तिक विमान

असंख्यात विस्तार वाले जानने चाहिए।

**पदार्थ**—एए देवनिकाया—यह सब देवों का समूह। भगवं—भगवान। जिणवरं—जिनवर। वीरं—वीर को। बोहिंति—बोध देते हैं। अरिहं—हे अर्हन् ! सव्वजगजीवहियं—सर्व जगत के जीवों को हितकारी। तित्थं—तीर्थ की। पवत्तेहि—प्रवृत्ति करो ? अर्थात् संसारवर्ति समस्त जीवों के हित के लिए धर्म रूप तीर्थ की स्थापना करो।

**मूलार्थ**—यह सब देवों का समूह जिनेश्वर भगवान महावीर को बोध देने के लिए सविनय निवेदन करते हैं कि हे अर्हन् देव ! आप जगत् वासी जीवों के हितकारी तीर्थ-धर्म रूप तीर्थ की स्थापना करो।

**हिन्दी विवेचन**—पहली तीन गाथाओं में यह बताया गया है कि भगवान एक वर्ष तक प्रतिदिन सूर्योदय से लेकर एक प्रहर तक एक करोड़, आठ लाख स्वर्ण मुद्रा का दान करते हैं। उन्होंने एक वर्ष में ३८८ करोड़ ८० लाख स्वर्ण मुद्रा का दान दिया था।

इससे यह स्पष्ट होता है कि केवल साधु को दिया जाने वाला आहार-पानी वस्त्र-पात्र आदि का दान ही महत्वपूर्ण नहीं, बल्कि अनुकम्पा दान भी अपना महत्व रखता है। यदि दीन दुःखी एवं अपाहिज को दान देना, पाप का एवं संसार बढ़ाने का कार्य होता, तो संसार का त्याग करने वाले तीर्थकर ऐसा क्यों करते। भगवान द्वारा दिया गया दान इस बात को स्पष्ट करता है कि अनुकम्पा दान भी पुण्य बन्ध एवं आत्म-विकास का साधन है। इससे आत्मा की दया एवं अहिंसक भावना का विकास होता है और इस वृत्ति का विकास आत्मा के लिए अहितकर नहीं हो सकता। आगमों में भी अनेक स्थलों पर अनुकम्पा दान का उल्लेख मिलता है। तुंगिया नगरी के श्रावकों की धर्म भावना एवं उदारता का उल्लेख करते हुए उनके लिए 'अभंगद्वारे' का विशेषण दिया गया है। अर्थात् उनके घर के दरवाजे अतिथियों के लिए सदा खुले रहते थे। इससे स्पष्ट होता है कि वे बिना किसी सांप्रदायिक एवं जातीय भेद भाव के अपने द्वार पर आने वाले प्रत्येक याचक को यथाशक्ति दान देते थे। अतः तीर्थकरों के द्वारा दिए जाने वाले दान को केवल प्रशंसा प्राप्त करने के लिए दिया जाने वाला दान कहना उचित प्रतीत नहीं होता। क्योंकि, महापुरुष कभी भी प्रशंसा के भूखे नहीं होते। वे जो कुछ भी करते हैं, दया एवं त्याग भाव से प्रेरित होकर ही करते हैं। अतः भगवान के दान से उनकी उदारता, जगत्त्वत्सलता एवं अनुकम्पा दान के महत्व का उज्वल आदर्श हमारे सामने उपस्थित होता है, जो प्रत्येक धर्म-निष्ठ सद्गृहस्थ के लिए अनुकरणीय है।

चौथी गाथा में दो बातों का उल्लेख किया गया है— १. भगवान एक वर्ष में जितना दान करते हैं, उस धन की व्यवस्था वैश्रमण देव करते हैं। उनके आदेश से उनकी आज्ञा में रहने वाले लोकपाल देव उनके कोष को भर देते हैं। यह परंपरा अनादि काल से चली आ रही है। प्रत्येक तीर्थकर के लिए ऐसा किया जाता है। २. प्रत्येक तीर्थकर भगवान के हृदय में जब दीक्षा लेने की भावना पैदा होती है, तब लौकान्तिक देव अपनी परंपरा के अनुसार आकर उन्हें धर्म तीर्थ की स्थापना करने के लिए प्रार्थना करते हैं।

कुछ प्रतियों में 'वेसमणकुण्डधारी' के स्थान पर 'वेसमणकुण्डलधरा' पाठ भी उपलब्ध होता है।

पांचवीं गाथा में लौकान्तिक देवों के निवास स्थान का उल्लेख किया गया है। अरुणोदधि समुद्र से उठकर तमस्काय ब्रह्म (५ वें) देवलोक तक गई है और उस में नव तरह की कृष्ण राजिं हैं वे ही नव लौकान्तिक देवों के विमान माने गए हैं। उन्हीं विमानों में लौकान्तिक देवों की उत्पत्ति होती है। ब्रह्म देवलोक के समीप होने से उन्हें लौकान्तिक कहते हैं। कुछ आचार्यों का अभिमत है कि लोक-संसार का अन्त करने वाले अर्थात् एक भव करके मोक्ष जाने वाले होने के कारण इन्हें लौकान्तिक कहते हैं<sup>१</sup>। ये नव प्रकार के होते हैं- १ सारश्वत, २ आदित्य, ३ वन्हय, ४ वरुण, ५ गर्दतोय, ६ त्रुटित, ७ अब्याबाध, ८ आग्नेय और ९ अरिष्ट।

छठी गाथा में यह बताया गया है कि लौकान्तिक देव अपने आवश्यक आचार का पालन करने के लिए तीर्थकर भगवान को तीर्थ की स्थापना करने की प्रार्थना करते हैं। यह तो स्पष्ट है कि गृहस्थ अवस्था में भी भगवान तीन ज्ञान से युक्त होते हैं और अपने दीक्षा काल को भली-भांति जानते हैं। अतः उन्हें सावधान करने की आवश्यकता ही नहीं है। फिर भी जो लौकान्तिक देव उन्हें प्रार्थना करते हैं, वह केवल अपनी परम्परा का पालन करने के लिए ही ऐसा करते हैं।

साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका चारों को तीर्थ कहा गया है और इस चतुर्विध संघ रूप तीर्थ की स्थापना करने के कारण ही भगवान को तीर्थकर कहते हैं<sup>२</sup>।

इसके आगे का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं।

**मूलम्—** तओ षं समणस्स भ० म० अभिनिक्खमणाभिप्पायं जाणित्ता भवणवइवा० जो० विमाणवासिणो देवा य देवीओ य सएहिं २ रूवेहिं सएहिं २ नेवत्थेहिं सए० २ चिंधेहिं सव्विड्डीए सव्वजुईए सव्वबलसमुदएणं सयाइं २ जाणविमाणाइं दुरूहंति सया० दुरूहित्ता अहाबायराइं पुग्गलाइं परिसाडंति २ अहासुहुमाइं पुग्गलाइं परियाइंति २ उड्ढं उप्पयंति उड्ढं उप्पइत्ता ताए उक्किट्ठाए सिग्घाए चवलाए तुरियाए दिव्वाए देवगईए अहे षं ओवयमाणा २ तिरिएणं असंखिज्जाइं दीवसमुद्दाइं वीइक्कममाणा २ जेणेव जंबुद्दीवे दीवे तेणेव उवागच्छंति २ जेणेव उत्तरखत्तियकुंडपुरसंनिवेसे तेणेव उवागच्छंति, उत्तरखत्तियकुंडपुर-संनिवेसस्स उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए तेणेव इत्ति वेगेण ओवइया।

१ लोकान्ते- संसारान्ते भवाः लोकान्तिकाः एकावतारत्वात्।

- कल्पसूत्र, सुबोधिका वृत्ति ( उपा० विनय विजय जी )

२ तित्थं भंते ! तित्थे तित्थंकरे तित्थे ? गोयमा ! अरहा ताव नियमा तित्थंगरेति । तित्थे पुण चउत्तण्णाइण्णे समणसंघे, तंजहा-समणा, समणीओ, सावगा, सावियाओ। - भगवती सूत्र २०, ८।

छाया— ततः श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य अभिनिष्क्रमणाभिप्रायं ज्ञात्वा भवनपतिवाणव्यन्तरज्योतिषिविमानवासिनो देवाश्च देव्यश्च स्वकैः २ रूपैः स्वकैः २ नेपथ्यैः स्वकैः २ चिन्हैः सर्वद्ध्या सर्वद्युत्या सर्वबलसमुदायेन स्वकानि २ यानविमानानि आरोहन्ति स्वकानि यानविमानानि आरुह्य यथाबादरान् (असारान्) पुद्गलान् परिशातयन्ति परिशात्य यथासूक्ष्मान् पुद्गलान् पर्याददते पर्यादाय ऊर्ध्वम् उत्पतन्ति ऊर्ध्वम् उत्पत्य तथा उत्कृष्टया शीघ्रया चपलया त्वरितया दिव्यया देवगत्या अधः अवपतन्तः तिर्यग् असंखेयान् द्वीपसमुद्रान् व्यतिक्रमन्तः २ यत्रैव जम्बूद्वीपो द्वीपः तत्रैवोपागच्छन्ति, उपागत्य यत्रैव उत्तरक्षत्रिय-कुण्डपुरसन्निवेशः तत्रैव उपागच्छन्ति उत्तरक्षत्रियकुण्डपुरसन्निवेशस्य उत्तरपौरस्त्वो दिग्भागः तत्रैव झटिति वेगेन अवपतिताः ।

पदार्थ— णं-वाक्यालंकारार्थक है। तओ-तत् पश्चात्। समणस्स-श्रमण। भगवओ-भगवान। महावीरस्स-महावीर के। अभिनिष्क्रमणाभिप्रायं-दीक्षा लेने के अभिप्राय को। जाणित्ता-जानकर। भवणवड्-भवनपति। वाण-वाणव्यन्तर। जो-ज्योतिषी। विमाणवासिणो-वैमानिक। देवा-देव। य-और। देवीओ-देवियां। सएहिं २-अपने २। रूवेहिं-रूपों से। सएहिं २-अपने २। नेवत्थेहिं-वेशों से। सए २ चिंधेहिं-अपने २ चिन्हों से युक्त होकर तथा। सव्विड्ढीए-सर्व ऋद्धि से। सव्वजुईए-सर्व ज्योति से। सव्वबलसमुदएणं-सर्व बल समुदाय से। सयाइं २ जाणविमाणाइं-अपने २ विमानों पर। दुरूहंति-चढ़ते हैं। सयाण-अपने २ विमानों पर। दुरूहित्ता-चढ़कर। अहाबायराइं-यथा बादर अर्थात् स्थूल-निस्सार। पुग्गलाइं-पुद्गलों को। परिसाडंति-गिरा कर। अहासुहुमाइं-सूक्ष्म। पुग्गलाइं-पुद्गलों को। परियाइंति २-ग्रहण करते हैं और उन्हें ग्रहण करके। उड्ढं-ऊपर ऊंचे। उप्पयंति-उत्पतन करते हैं। उड्ढं उप्पइत्ता-ऊंचे उत्पतन कर के। ताए-उस। उक्कट्ठाए-उत्कृष्ट। सिग्घाए-शीघ्र। चवलाए-चपल। तुरियाए-त्वरित। दिव्वाए-दिव्य। देवगईए-देव गति से। अहेणं-नीचे की ओर। ओवयमाणा २-उतरते हुए। तिरिएणं-तिर्यक् लोक में स्थित। असंखिजाइं-असंख्यात। दीवसमुहाइं-द्वीप समुद्रों को। वीइक्कममाणा-व्यतिक्रम करते हुए-उल्लंघते हुए। जेणेव-जहां पर। जंबुद्वीवे दीवे-जम्बू द्वीप नामा द्वीप है। तेणेव-वहां पर। उवागच्छंति-आते हैं, आकर। जेणेव-जहां पर। उत्तरखत्तियकुण्डपुरसंनिवेशे-उत्तर क्षत्रिय कुंडपुर सन्निवेश है। तेणेव-वहां। उवागच्छंति-आते हैं फिर। उत्तरखत्तियकुण्डपुरसंनिवेशस्स-उत्तर क्षत्रिय कुंडपुर सन्निवेश के। उत्तरपुरत्थिमे दिसीभाए-उत्तर पूर्व दिशा के मध्य भाग अर्थात् ईशान कोण में जो स्थान है। तेणेव-वहां पर। अतिवेगेण-बड़े तीव्र वेग से। ओवइया-उतरते हैं।

मूलार्थ—तदनन्तर श्रमण भगवान महावीर स्वामी के दीक्षा लेने के अभिप्राय को जानकर भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक देव और देवियां अपने-अपने रूप, वेष और चिन्हों से युक्त होकर तथा अपनी २ सर्व प्रकार की ऋद्धि, द्युति और बल समुदाय से युक्त होकर अपने २ विमानों पर चढ़ते हैं और उनमें चढ़कर बादर पुद्गलों को छोड़कर सूक्ष्म पुद्गलों को ग्रहण करके ऊंचे होकर उत्कृष्ट, शीघ्र, चपल, त्वरित और दिव्य प्रधान देवगति से नीचे उतरते



हुए तिर्यक् लोक में स्थित असंख्यात द्वीप समुद्रों को उल्लंघन करते हुए जहां पर जम्बूद्वीप नामक द्वीप है वहां पर आते हैं। जम्बूद्वीप में भी उत्तर क्षत्रिय कुण्डपुर सन्निवेश में आकर उसके ईशान कोण में जो स्थान है वहां पर बड़ी शीघ्रता से उतरते हैं।

**हिन्दी विवेचन**— प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि भगवान के दीक्षामहोत्सव में सम्मिलित होने के लिए चारों जाति के देव क्षत्रिय कुंड ग्राम में एकत्रित होते हैं। यह स्पष्ट है कि देव अपने मूल रूप में मृत्युलोक में नहीं आते। वे उत्तर वैक्रिय करके मनुष्यलोक में आते हैं और उत्तर वैक्रिय में वे १६ प्रकार के विशिष्ट रत्नों के सूक्ष्म पुद्गलों को ग्रहण करते हैं<sup>१</sup>।

इस विषय को आगे बढ़ाते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्**— तओ णं सक्के देविंदे देवराया सणियं २ जाणविमाणं पट्ठवेति सणियं २ जाण विमाणं पट्ठवेत्ता सणियं २ जाणविमाणाओ पच्चोरुहति सणियं २ एगंतमवक्कमइ एगंतमवक्कमित्ता महया वेउव्विएणं समुग्घाएणं समोहणइ २ एगं महं नाणामणिकणगरयणभत्तिचित्तं सुभं चारुकंतरूवं, देवच्छंदयं विउव्वइ, तस्स णं देवच्छंदयस्स बहुमज्झदेसभाए एगं महं सपायपीढं नाणामणिकणगरयणभत्तिचित्तं सुभं चारुकंतरूवं सीहासणं विउव्वइ २, ता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ २ ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ २ ता समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ २ ता समणं भगवं महावीरं गहाय जेणेव देवच्छंदए तेणेव उवागच्छइ सणियं २ पुरत्थाभिमुहं सीहासणे निसीयावेइ सणियं २ निसीयावित्ता सयपागसहस्सपागेहिं तिल्लेहिं अब्भंगेइ गंधकासाइएहिं- उल्लोलेइ २ सुद्धोदएण मज्जावेइ २ जस्स णं मुल्लं सयसहस्सेणं तिपडोलत्तित्तिएणं साहिएणं सीतेण गोसीसरत्तचंदणेणं अणुलिंपइ २ ईसिं निस्सासवायवोज्झं वरनयरपट्टणुगगयं कुसलनरपसंसियं अस्सलालापेलवं छेयारियकणगरखइयंतकम्मं हंसलक्खणं पट्टजुयलं नियंसावेइ २ हारं अब्द्धहारं उरत्थं नेवत्थं एगावलिं पालंबसुत्तं पट्टमउडरयणमालाओ आविंधावेइ आविंधावित्ता गंथिमवेढिमपूरिमसंघाइमेणं मल्लेणं कप्परुक्खमिव समलंकरेइ २ ता दुच्चंपि महया वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणइ २ एगं महं चंदप्पहं सिवियं सहस्सवाहणियं विउव्वति, तंजहा-ईहा-

१ इस प्रकरण को समझने के लिए जिज्ञासु राजप्रश्नीय सूत्र का अवलोकन करें।

मिगं-उसभ-तुरग-नर-मकर-विहग-वानरकुंजर-रुरु-सरभ-चमर-सहूलसीह-  
वणलय-भक्तिचित्तलय-विज्जाहर-मिहुणजुयलजंतजोगजुत्तं अच्चीसहस्समा-  
लिणीयं सुनिरूवियं मिसिमिसिंतरूवगसहस्सकलियं ईसिं भिसमाणां  
भिभिभिसमाणां चक्खुल्लोयणलेसं मुत्ताहलमुत्ताजालंतरोवियं तवणीयप-  
वरलंबूसगपलंबंतमुत्तदामं हारद्धहारभूसणसमोणयं अहियपिच्छणिज्जं  
पउमलयभक्तिचित्तं असोगवणभक्तिचित्तं कुंदलयभक्तिचित्तं नाणालयभक्ति-  
विरइयं सुभं चारुकंतरूवं नाणामणिपंचवन्नघंटापडायपडिमंडियग्गसिहरं  
पासाईयं दरिसणिज्जं सुरूवं ।

छाया- ततः शक्रः देवेन्द्रः देवराजः शनैः २ यानविमानं प्रस्थापयति शनैः २ यान-  
विमानं प्रस्थाप्य शनैः २ यानविमानतः प्रत्यवतरति २, शनैः २ एकांतमपक्रामति एकान्तमपक्रम्य  
महता वैक्रियेण समुद्घातेन समवहन्यते २ एकं महत् नानामणिकनकरत्नभक्तिचित्रं शुभं  
चारुकान्तरूपं, देवच्छंदकं विकुरुते तस्य देवच्छन्दकस्य बहुमध्यदेशभाग एकं महत् सपादपीठं  
नानामणिकनकरत्नभक्तिचित्रं शुभं चारुकान्तरूपं सिंहासनं विकुरुते विकृत्य यत्रैव श्रमणो  
भगवान् महावीरः तत्रैवोपागच्छति उपागत्य श्रमणं भगवन्तं महावीरं त्रिकृत्वः आदक्षिणं  
प्रदक्षिणं करोति कृत्वा श्रमणं भगवन्तं महावीरं वन्दते नमस्यति वन्दित्वा नमस्यित्वा श्रमणं  
भगवन्तं महावीरं गृहीत्वा यत्रैव देवच्छन्दकस्तत्रैवोपागच्छति शनैः २ पौरस्त्याभिमुखं सिंहासने  
निषीदयति शनैः २ निषाद्य शतपाकसहस्रपाकैः तैलैः अभ्यंगयति गन्धकाषायिकैः उल्लोलयति  
उल्लोल्य शुद्धोदकेन मज्जयति मज्जयित्वा यस्य मूल्यं शतसहस्रेण त्रिपटोलतिक्ताकेन साधिकेन  
शीतेन गोशीर्ष रक्तचन्दनेन अनुलिम्पति अनुलिम्प्य ईषत् निश्श्वासवातवाह्यं वरनगरपट्टनोद्गतं  
कुशलनरप्रशंसितं अश्वलालापेलवं ( श्वेतं ) छेकाचार्यकनक-खचितान्तकर्म हंसलक्षणं  
पट्टयुगलं परिधापयति, परिधाप्य हारमद्धहारमुरस्थं नेपथ्यम् एकावलिं प्रालम्बसूत्रं  
पट्टमुकुटरत्नमाला आबन्धापयति आबन्धाप्य ग्रन्थिमवेष्टिमपूरिमसंघातेन माल्येन कल्पवृक्षमिव  
समलंकरोति समलंकृत्य, द्वितीयमपि महता वैक्रियसमुद्घातेन समवहन्यते समवहत्य एकां  
महतीं चन्द्रप्रभां शिविकां सहस्रवाहनीयां विकुरुते । तद्यथा--ईहा-मृग-वृषभ-तुरग-नर-  
मकर-विहग-वानर-कुंजर-रुरु-शरभ-चमर-शार्दूलसिंहवनलताभक्तिचित्रलता-  
विद्याधरमिथुन-युगलयंत्रयोगयुक्तां, अर्चिसहस्रमालनीयां सुनिरूपितां मिसीमिसन्तरूपक-  
सहस्रकलितां ईषद्-भिसमानां भिभिसमानां चक्षुर्लोचनलोकनीयां मुक्ताफलमुक्ता-  
जालान्तरोपितां तपनीयप्रवरलम्बूसकप्रलम्बमानमुक्तादामां हारद्धहारभूषणसमन्वितां  
अधिकप्रेक्षणीयां पद्मलताभक्तिचित्राम् अशोकवनभक्तिचित्रां, कुंदलताभक्तिचित्रां

नानालताभक्तिचित्रां विरचितां शुभां चारुकान्तरूपां, नानामणियञ्चवर्णघंटापताका-  
प्रतिमंडिताग्रशिखरां प्रासादीयां दर्शनीयां सुरुपाम् ।

**पदार्थ-** णं-वाक्यालंकार में है। तओ-तदनन्तर। सक्के-शक्र। देविंदे-देवेन्द्र। देवराया-देवराज। सणियं २-शनैः-शनैः-धीरे-धीरे। जाणविमाणं-विमान। पट्ठवेत्ति-स्थापित करता है फिर। सणियं २-धीरे-धीरे। जाणविमाणं-विमान को। पट्ठवेत्ता-चार अंगुल प्रमाण भूमि से ऊंचा स्थापित करके फिर। सणियं २-शनैः २। जाणविमाणओ-विमान से। पच्चोरुहति-नीचे उतरता है और वहां उतर कर। सणियं २-शनैः २। एगंतमवक्कमइ-एकान्त में अपक्रमण करता है। एगंतमवक्कमित्ता-एकान्त में अपक्रमण करके। महया-महान्। वेउव्विएणं-वैक्रिय। समुग्घाएणं-समुद्घात को। समोहणइ-फोड़ता है अर्थात् वैक्रिय समुद्घात करता है और वैक्रिय समुद्घात करके। एगं-एक। महं-महान-बड़ा। नानामणिकणगरयणभत्तिचिंतं-नाना प्रकार के मणि, कनक, रत्नादि से चित्रित दीवार वाले। सुभं-शुभ। चारु-मनोहर। कंतस्सुवं-कान्त रूप वाले। देवच्छंदयं-देवच्छन्दक को। विउव्वइ-बनाता है। तस्स णं-उस। देवच्छंदयस्स-देवच्छंदक के-चींतरे के। बहुमज्झदेसभाए-मध्य देश भाग में अर्थात् मध्य में। एगं महं-एक बड़ा भारी। सपायपीठं-पाद पीठ से युक्त। नानामणिकणगरयणभत्तिचिंतं-नाना विध मणि, स्वर्ण, रत्नादि से चित्रित भित्ति वाले। सुभं-शुभ। चारुकंतरूवं-मनोहर कान्त स्वरूप। सिंहासणं विउव्वइ-सिंहासन को बनाता है उसे बनाकर। जेणेव-जहां पर। समणे भगवं महावीरं-श्रमण भगवान महावीर हैं। तेणेव-वहां पर। उवागच्छइ-आता है और वहां आकर। समणं भगवं महावीरं-श्रमण भगवान महावीर को। तिक्खुत्तो-तीन बार। आयाहिणं-आदक्षिणा। पयाहिणं-प्रदक्षिणा। करेइ-करता है और प्रदक्षिणा करके। समणं भगवं महावीरं-श्रमण भगवान महावीर को। वंदइ-वन्दना करता है। णमंसइ-नमस्कार करता है फिर वन्दना नमस्कार करके। समणं भगवं महावीरं-श्रमण भगवान महावीर को। गहाय-लेकर। जेणेव-जहां पर। देवच्छंदए-देवच्छंदक है। तेणेव-वहां पर। उवागच्छइ-आता है और वहां आकर। सणियं २-शनैः २। पुरत्थाभिमुहं-पूर्वाभिमुख-पूर्व दिशा को मुख करवा कर भगवान को। सीहासणे-सिंहासन पर। निसीयावेइ-बैठाता है फिर। सणियं-सणियं-शनैः २। निसीयावित्ता-उन्हें वहां बैठा कर। सयपागसहस्सपागेहिं-शत और सहस्र औषधियों के योग से बने हुए शतपाक, सहस्रपाक नाम से प्रसिद्ध। तिल्लेहिं-तैलों की। अब्भंगेइ-मालिश करता है और मालिश करके। गंधकासाइएहिं-सुगन्धि युक्त द्रव्यों से। उल्लोलेइ-उद्धर्तन करता है और उद्धर्तन करने के पश्चात्। सुद्धोदएणं-शुद्ध-निर्मल जल से। मज्जावेइ २-स्नान कराता है उन्हें स्नान कराकर फिर सुगन्धि युक्त वस्त्र से शरीर को पोंछता है और शरीर पोंछ कर। जस्स मुल्लं-जिसका मूल्य। णं-वाक्यालंकार में है। सयसहस्सेणं साहिएणं-एक लाख सुवर्ण मुद्रा से भी अधिक है। तिपडोलत्तििएणं-इस प्रकार बहुमूल्य रूप। सीतेणं-अत्यन्त शीतल। गोसीसरत्तचंदणेणं-गोशीर्ष रक्त चन्दन से। अणुलिंपइ-लेपन करता है गोशीर्ष चन्दन का लेपन करके। ईसिं-थोड़ा। निस्सासवायवोज्झं-नाक की हवा से उड़ने वाले। वरनयरपट्टणुग्गयं-विशिष्ट शहर में निर्मित एवं। कुसलनरपसंसियं-कुशल पुरुषों द्वारा प्रशंसित। अस्सलालापेलवं-अश्व की लाला के समान श्वेत और मनोहर। छेयारियकणगखइयंतकम्मं-विद्वान शिल्पाचार्य द्वारा जिस वस्त्र के किनारे सुवर्ण की तारों से खचित हैं। हंसलक्खणं-हंस के समान श्वेत वर्ण

वाला ऐसा। पट्टजुयलं-वस्त्र युगल को। नियंसावेड़-पहनाता है उसे पहना कर। हारं अद्दहारं-हार-अठारह लड़ी का, अद्दहार-नीं लड़ी का। उरत्थं-वक्षस्थल में। नेवत्थं-सुन्दर वेष। एगावलिं-एकावली हार। पालंबसुत्तं-प्रासम्बसूत्र अर्थात् लटके हुए झुमके। पट्टमउडरथणमालाओ-कटि सूत्र, मुकुट, रत्न मालाएं आदि। आविंधावेड़-पहनाता है। आविंधाविंत्ता-उन्हें पहना कर फिर। गंधिमवेढिमपूरिमसंघाडमेणं-ग्रन्थित, वेष्टित, पूरिम और संघातिम इन चार प्रकार के पुष्पों की। मल्लेणं-मालाओं से विभूषित। कप्परुक्खमिव-कल्पवृक्ष की भांति। अलंकरेड २ ता-भगवान को अलंकृत करता है उन्हें अलंकृत करने के अनन्तर। दुच्च्यंपि-द्वितीय बार। महया-बहुत विस्तृत। वेउव्विय समुग्घाएणं-वैक्रिय समुद्घात। समोहणइ-करता है वह वैक्रिय समुद्घात करके। एगं महं-एक बड़ी। चंदप्पहं-चन्द्रप्रभा नाम की। सिवियं-शिविका। सहस्सवाहणियं-सहस्र वाहनिका अर्थात् हजार पुरुषों द्वारा उठाई जाने वाली पालकी को। विउव्वति-वैक्रिय समुद्घात से बनाता है जो कि विविध भांति के चित्रों से चित्रित की गई है। तं-जैसे कि। ईहा-बृक विशेष। मिग-हिरण। उसभ-वृषभ-बैल। तुरग-अश्व-घोड़ा। नर-मनुष्य। मगर-मगर मच्छ। विहग-पक्षी। वानर-बन्दर। कुंजर-हाथी। रुरु-मृग विशेष। सरभ-शरभ-अष्टापद जीव विशेष और। चमर-चमरी गाय। सहूल-शार्दूल। सीह-सिंह-शेर। वणलय-वनलता। भत्तिचित्तलयं-भक्ति चित्र लता-नाना प्रकार की वन लताओं से चित्रित, अर्थात् इन चित्रों से वह शिविका चित्रित हो रही है, इसी प्रकार। विज्जाहर-विद्याधर तथा। मिहुणजुयल-मिथुन युगल अर्थात् स्त्री-पुरुष का जोड़ा। जंत-यंत्र विशेष का चित्र। जोगजुत्तं-योगयुक्त अर्थात् युगलों से युक्त। अच्छीसहस्समालिणीयं-सहस्र सूर्य की किरणों से युक्त। सुनिरुवियं-भली प्रकार से निरूपण किया है। मिसिमिसिंतरुवगसहस्सकलियं-प्रदीप्त सहस्ररूपों से युक्त जो। ईसिं-शोड़ा। भिसमाणं-देदीप्यमान। भिब्भिसमाणं-और अत्यन्त देदीप्यमान। चक्खुल्लोयणलेसं-चक्षुओं द्वारा जिसका तेज देखा नहीं जा सकता इस प्रकार की वह शिविका तथा। मुत्ताहलमुत्ताजालंतरोवियं-मुक्ताफल-मोती और मुक्ताजाल-मोतियों के जालों से युक्त तथा। तवणीयपवरलंबूसपलंबंतमुत्तदामं-सुवर्णमय पाखंड युक्त चारों ओर लटकती हुई मोतियों की माला जिसमें दीख रहो है और। हारद्दहारभूसणसमोणयं-हार, अद्दहार आदि भूषणों से विभूषित। अहियपिच्छणिज्जं-अधिक प्रेक्षणीय उसमें देखने योग्य। पउमलयभत्तिचित्तं-पद्मलता की भांति चित्रित। असोगवणभत्तिचित्तं-अशोक वन की भांति चित्रित। कुंदलयभत्तिचित्तं-कुंदलता की भांति चित्रित। नाणालयभत्तिचित्तं-नाना प्रकार की पुष्पलताओं की भांति चित्रित। विरइयं-विरचित। सुभं-शुभ। चारुकंतरुवं-मनोहर कान्त रूप, तथा। नाणामणिपंचवन्नघंटापडायपडिमडियग्गसिहरं-नाना प्रकार की पांच वर्ण वाली मणियों, घण्टा तथा पताकाओं से जिसका शिखर भाग मंडित हो रहा है, अर्थात् पांच वर्ण की मणियों, घण्टियों और ध्वजा तथा पताकाओं से जिसका शिखर भाग सुशोभित हो रहा है इस प्रकार की। पासाइयं-प्रासादीय। दरिसणिज्जं-दर्शनीय सुरूवं-वह शिविका सुन्दर एवं सुरूप वाली है।

**मूलार्थ—**तत् पश्चात् शक्र देवों का इन्द्र देवराज शनैः २ अपने विमान को स्थापित करता है, फिर शनैः २ विमान से नीचे उतरता है और एकान्त में जाकर वैक्रिय समुद्घात करता है। उससे नाना प्रकार की मणियों तथा कनक, रत्नादि से जटित एक बहुत बड़े कान्त मनोहर रूप

वाले देवछन्दक का निर्माण करता है। उस देवछन्दक के मध्य भाग में नाना विध मणि, कनक, रत्नादि से खचित, शुभ, चारु और कान्तरूप एक विस्तृत पादपीठ युक्त सिंहासन का निर्माण किया। उसके पश्चात् जहां पर श्रमण भगवान महावीर थे वहां वह आया और आकर भगवान को वन्दन-नमस्कार किया और श्रमण भगवान महावीर को लेकर देवछन्दक के पास आया और धीरे-धीरे भगवान को उस देवछन्दक में स्थित सिंहासन पर बैठाया और उनका मुख पूर्व दिशा की ओर रखा। शतपाक और सहस्र पाक तेलों से उनके शरीर की मालिश की और सुगन्धित द्रव्य से शरीर को उद्धर्तन करके शुद्ध निर्मल जल से भगवान को स्नान कराया, उसके बाद एक लाख की कीमत वाले विशिष्ट गोशीर्ष चन्दनादि का उनके शरीर पर अनुलेपन किया, उसके बाद भगवान को नासिका की वायु से हिलने वाले, तथा विशिष्ट नगरों में निर्मित, प्रतिष्ठित व्यक्तियों द्वारा प्रशंसित और कुशल कारीगरों के द्वारा स्वर्णतार से विभूषित, हंस के समान श्वेत, वस्त्र युगल को पहनाया। फिर हार, अर्द्धहार पहनाए तथा एकावली हार, लटकती हुई मालाएं, कटि सूत्र, मुकुट और रत्नों की मालाएं पहनाईं। तदनन्तर ग्रन्थिम, वेष्टिम, पुरिम और संघातिम इन चार प्रकार की पुष्प मालाओं से कल्पवृक्ष की भान्ति भगवान को अलंकृत किया।

इस प्रकार अलंकृत करने के पश्चात् इन्द्र ने पुनः वैक्रियसमुद्घात किया और उससे चन्द्रप्रभा नाम की एक विराट् सहस्र वाहिनी शिविका (पालकी) का निर्माण किया। वह शिविका ईहामृग, वृषभ, अश्व, मगरमच्छ, पक्षी, बन्दर, हाथी, रुरु, शरभ, चमरी, शार्दूल और सिंह आदि जीवों तथा वनलताओं एवं अनेक विद्याधरों के युगल, यंत्र योग आदि से चित्रित थी। सूर्य ज्योति के समान तेज वाली, तथा रमणीय जगमगाती हुई, हजारों चित्रों से युक्त और देदीप्यमान होने के कारण मनुष्य उसकी ओर देख नहीं सकता था, वह स्वर्णमय शिविका मोतियों के हारों से सुशोभित थी। उस पर मोतियों की सुंदर मालाएं झूल रही थीं तथा पद्मलता, अशोकलता, कुन्दलता एवं नाना प्रकार की अन्य वन लताओं से चित्रित थी। पांच प्रकार के वर्णों वाली मणियों, घंटियों और ध्वजा पताकाओं से उसका शिखर भाग सुशोभित हो रहा था। इस प्रकार वह शिविका दर्शनीय और परम सुन्दर थी।

**हिन्दी विवेचन-** प्रस्तुत सूत्र में भगवान की दीक्षा के पूर्व शक्रेन्द्र द्वारा की गई प्रवृत्ति का दिग्दर्शन कराया गया है। शक्रेन्द्र ने उत्तर वैक्रिय करके एक देवछन्दक बनाया और उस पर सिंहासन बनाकर भगवान को बैठाया और शतपाक एवं सहस्रपाक (सौ या हजार विशिष्ट औषधियों एवं जड़ी-बूटियों से बनाया गया) तेल से भगवान के शरीर की मालिश की, सुगन्धित द्रव्यों से उबटन किया और उसके बाद स्वच्छ, निर्मल एवं सुवासित जल से भगवान को स्नान कराया। उसके पश्चात् भगवान को बहुमूल्य एवं श्रेष्ठ श्वेत वस्त्र युगल पहनाया<sup>१</sup>। और विविध आभूषणों से विभूषित करके हजार व्यक्तियों द्वारा उठाई जाने वाली शक्रेन्द्र द्वारा बनाई गई विशाल शिविका (पालकी) पर भगवान को बैठाया। उस

१ इससे ऐसा प्रतीत होता है कि उस युग में पुरुष सिलाई किया हुआ वस्त्र कम पहनते थे। उपासकदशांग में श्रावकों की वस्त्र मर्यादा में रखे गए वस्त्रों में क्षोम युगल वस्त्र का उल्लेख मिलता है एक वस्त्र पहनने के लिए और दूसरा ज़ादर के रूप में ओढ़ने के लिए। अन्य मत के ग्रंथों में कृष्ण के लिए पीताम्बर का उल्लेख मिलता है। यह सूत्र उस युग की वस्त्र परम्परा पर प्रकाश डालता है।

तरह शक्रेन्द्र ने अपनी भक्ति एवं श्रद्धा को अभिव्यक्त किया। इससे यह स्पष्ट होता है कि महान पुरुषों की सेवा के लिए मनुष्य तो क्या देव भी सदा उपस्थित रहते हैं।

कुछ प्रतियों में 'मज्जावेइ' के पश्चात् 'गन्धकासाएहिं गायाइं लूहेइ लूहिता' पाठ भी उपलब्ध होता है और यह शुद्ध एवं प्रामाणिक प्रतीत होता है। इसी तरह 'मुल्लं सयसहस्सेणं तियडोल-  
तित्तिणं' के स्थान पर 'पलसयसहस्सेणं तिपलो लाभितणं' पाठ भी उपलब्ध होता है।

इस विषय में कुछ और बातों का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्—** सीया उवणीया जिणवरस्स, जरमरणविष्यमुक्कस्स ।

ओसत्तमल्लदामा , जलथलयदिव्वकुसुमेहिं ॥ १ ॥

सिवियाइ मज्झयारे, दिव्वं वररयणरूवचिंचइयं ।

सीहासणं महरिहं, सपायपीढं जिणवरस्स ॥ २ ॥

आलइयमालमउडो , भासुरबुंदी वराभरणधारी ।

खोमियवत्थनियत्थो, जस्स य मुल्लं सयसहस्सं ॥ ३ ॥

छट्ठेण उ भत्तेणं, अज्झवसाणेण सुंदरेण जिणो ।

लेसाहिं.विसुज्झंतो, आरुहइ उत्तमं सीयं ॥ ४ ॥

सीहासणे निविट्ठो, सक्कीसाणा य दोहि पासेहिं ।

वीयंति चामराहिं, मणिरयणविचित्तदंडाहिं ॥ ५ ॥

पुव्विं उक्खित्ता माणुसेहिं, साहट्टु रोमकूवेहिं ।

पच्छा वहंति देवा, सुरअसुरगरुलनागिंदा ॥ ६ ॥

पुरओ सुरा वहंति असुरा पुण दाहिणंमि पासंमि ।

अवरे वहंति गरुला नागा पुण उत्तरे पासे ॥ ७ ॥

वणसंडं व कुसुमियं पउमसरो वा जहा सरयकाले ।

सोहइ कुसुमभरेणं, इय गगणयलं सुरगणेहिं ॥ ८ ॥

सिद्धत्थवणं व जहा कणयारवणं व चंपयवणं वा ।

सोहइ कुसुमभरेणं इय गगणयलं सुरगणेहिं ॥ ९ ॥

वरपडहभेरिज्जल्लरिसंखसयसहस्सिएहिं तूरेहिं ।

गगणयले धरणियले तूरनिनाओ परमरम्मो ॥ १० ॥

ततविततं घणज्झुसिरं आउज्जं चउव्विहं बहुविहीयं ।

वाइंति तत्थ देवा, बहूहिं आनट्टगसएहिं ॥ ११ ॥

छाया— शिविका उपनीता, जिनवरस्य जरामरणविप्रमुक्तस्य ।  
 अवसक्तमाल्यदामा, जलस्थलजदिव्यकुसुमैः ॥ १ ॥  
 शिविकायां मध्यभागे, दिव्यं वररत्नरूपप्रतिबिम्बितं ।  
 सिंहासनं महाहं, सपादपीठं जिनवरस्य ॥ २ ॥  
 अलंकृतमालामुकुटः, भासुरशरीरो वराभरणधारी ।  
 परिहितक्षौमिकवस्त्रः, यस्य च मूल्यं शतसहस्रम् ॥ ३ ॥  
 षष्ठेन तु भक्तेन, अध्यवसानेन सुन्दरेण जिनः ।  
 लेश्याभिः विशुद्धान्तः, आरोहति उत्तमां शिविकां ॥ ४ ॥  
 सिंहासने निविष्टः शक्रेशानौ च द्वाभ्यां पार्श्वाम्याम् ।  
 वीजयतः चामरैः मणिरत्नविचित्रदण्डैः ॥ ५ ॥  
 पूर्वम् उत्क्षिप्त्वा मानुषैः संहृष्टरोमकूपैः ।  
 पश्चाद् वहन्ति देवाः, सुरासुरगरुडनागेन्द्राः ॥ ६ ॥  
 पुरतः सुरा वहन्ति असुराः पुनः दक्षिणे पार्श्वे ।  
 अपरे वहन्ति गरुडाः नागाः पुनरुत्तरे पार्श्वे ॥ ७ ॥  
 वनषण्डमिव कुसुमितं, पद्मसर इव यथा शरत्काले ।  
 शोभते कुसुमभरेण, इति गगनतलं सुरगणैः ॥ ८ ॥  
 सिद्धार्थवनमिव यथा, कर्णिकारवनमिव चम्पकवनमिव ।  
 शोभते कुसुमभरेण, इति गगनतलं सुरगणैः ॥ ९ ॥  
 वरपटहभेरिङ्गल्लरीशंखशतसहस्रैः तूर्यैः ।  
 गगनतले धरणीतले, तूर्यं निनादः परमरम्यः ॥ १० ॥  
 ततविततं घनञ्जुषिरम्, आतोद्यं चतुर्विधं बहुविधं वा ।  
 वादयन्ते तत्र देवाः, बहुभिः आनर्तक शतैः ॥ ११ ॥

पदार्थ— जिणवरस्स—जिनेश्वर की। जरामरणविप्रमुक्तस्स—जरा और मृत्यु से विमुक्ति के लिए।  
 सीया-शिविका। उवणीया-लाई गई। जलस्थलयदिव्यकुसुमेहिं-उसमें जल और स्थल में उत्पन्न होने वाले  
 दिव्य पुष्पों के समान वैक्रियलब्धि से उत्पन्न किए गए पुष्पों से। ओसत्तमल्लदामा-गूंथी हुई मालायें बांधी गई।  
 कहने का तात्पर्य यह है कि वैक्रियलब्धि जन्म पुष्पों की मालाओं से वह शिविका अलंकृत हो रही है।

सिवियाङ्ग-शिविका के। मञ्जुवारे-मध्य भाग में। जिणवरस्स-जिनेश्वर का। दिव्यं-दिव्य तथा।  
 वररयणरूपवचिचडयं-श्रेष्ठ रत्नों से प्रतिबिम्बित तथा। महरिहं-बहुमूल्यवान। सपायपीठं-पाद पीठिका सहित।  
 सीहासणं-सिंहासन है। अर्थात् शिविका के मध्य भाग में भगवान के लिए एक दिव्य सिंहासन का निर्माण किया  
 गया।

आलङ्कृतमालमउडो-मालाओं तथा मुकुट से अलंकृत होने से। भासुरबुंदी-जिनका शरीर देदीप्यमान

हो रहा है। वराभरणधारी-उन्होंने श्रेष्ठ आभूषणों को धारण कर रखा है। खोमियवत्थनियत्थो-जो क्षीमिक-कपास से उत्पन्न हुए वस्त्र को पहने हुए हैं य-और। जस्स-जिसका। मुल्लं-पूल्य। सयसहस्सं-एक लाख है।

छट्ठेणं भत्तेणं-षष्ठ भक्त के साथ तथा। सुंदरेण-सुन्दर। अञ्जवसाणेण-अध्यवसाय और। लेसाहिं-लेश्याओं से युक्त। विसुञ्जंतो-विशुद्ध ऐसे। जिणो-जिनेन्द्र भगवान। उत्तमं सीयं-उत्तम शिविका में। आरुहइ-बैठते हैं-शिविका गत सिंहासन पर बैठते हैं।

सीहासणे निविट्ठो-जब भगवान शिविका में रक्खे हुए सिंहासन पर विराजमान हो गए तब। य-पुनः। सक्कीसाणा-शक्नेन्द्र और ईशानेन्द्र। दोहिं पासेहिं-दोनों और। चामराहिं-चामरों को। वीर्यंति-बुलाते हैं। मणिरयणविच्चित्तदंडाहिं-चामरों के दण्ड मणिरत्नादि से चित्रित हैं।

साहट्टुरोमकूवेहिं-जिनके रोम कूप हर्ष वश विकसित हो रहे हैं ऐसे। माणुसेहिं-मनुष्यों ने। पुक्विं-प्रथम। उक्खित्ता-उस शिविका को उठाया और। पच्छा-पीछे। देवा-देव। सुर-वैमानिक देव। असुर-असुर कुमार देव। गरुल-गरुड़ कुमार देव। नागिंदा-नाग कुमारों के इन्द्र। वहंति-उठाते हैं।

चारों दिशाओं से जिस प्रकार देवों ने शिविका को उठाया है उसका वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं-पुराओ-पूर्व दिशा में। सुरा-वैमानिक देव। वहंति-उठाते हैं। पुण-फिर। असुरा दाहिणंमि पासंमि-दक्षिण दिशा की ओर से असुर कुमार देव उठाते हैं। अवरं-पश्चिम दिशा में। गरुला-सुवर्ण कुमार देव। वहंति-वहन करते हैं। पुण-फिर। नागा उत्तरे पासे-उत्तर दिशा की ओर नाग कुमार देव वहन करते हैं।

व-जैसे। कुसुमियं-विकसित हुआ। वणसंडं-वनबंध शोभता है। वा-या। जहा-जैसे। सरयकाले-शरत् काल में। कुसुमभरेणं-विकसित पुष्प समूह से युक्त। पउमसरो-पद्म सरोवर। सोहइ-सुशोभित होता है। इय-इसी प्रकार। सुरगणेहिं-देवों के समूह से। गगणयलं-आकाश मंडल सुशोभित हो रहा है।

व-अथवा। कुसुमभरेणं-पुष्पों के समूह से। सिद्धत्थवणं-सरसों का वन। जहा-जैसे। कणियारवणं-कचनार अथवा कनेर का वन। वा-अथवा। चंपयवणं-चम्पक वन। सोहइ-सुशोभित होता है। इय-इसी प्रकार। गगणवलं-आकाश मंडल। सुरगणेहिं-देवों के समूह से शोभा पा रहा है।

वरपडह-प्रधान पटह। भेरी-भेरी। ज्जल्लरी-झांज एक प्रकार का वाद्यन्तर। संख-शंख। सयसहस्सेहिं-लाखों। तूरेहिं-वाद्यों-वाजन्तरों से। गगणयले-आकाश मंडल तथा। धरणियले-अवनी तल। तूरनिनाओ-वाद्यंत्रों के शब्दों से। परमरम्मो-परमरमणीक हो रहा है।

तत्थ-वहां पर। ततविततं-तत-वीणा आदि, वितत-मृदंगादि वाद्य। घण-ताल आदि। ज्जुसिरं-वंश और शंखादि। आउज्जं-वाद्यन्तर। चउक्विहं-चार प्रकार के अथवा। बहुविहीयं-बहुत प्रकार के वाद्यन्तर को। देवा-देव। वार्यंति-बजाते हैं और। बहुहिं-वे विविध प्रकार के। आनट्टगसएहिं-नाटक करने वालों के साथ हैं।

मूलार्थ—जरा मरण से विप्रमुक्त जिनवर के लिए शिविका लाई गई, जो कि जल और स्थल पर पैदा होने वाले श्रेष्ठ फूलों और वैक्रिय लब्धि से निर्मित पुष्प मालाओं से अलंकृत थी। उस शिविका के मध्य में प्रधान रत्नों से अलंकृत यथा योग्य पाद पीठिकादि से युक्त,



जिनेन्द्र देव के लिए सिंहासन का निर्माण किया गया था।

जिनेन्द्र भगवान महावीर एक लाख रूपए की कीमत वाले क्षौम युगल ( कार्पास ) के वस्त्र को धारण किए हुए थे और आभूषणों, मालाओं तथा मुकुट से अलंकृत थे।

उस समय प्रशस्त अध्यवसाय एवं लेश्याओं से युक्त भगवान षष्ठ भक्त बेले की तपश्चर्या ग्रहण करके उस शिविका-पालकी में बैठे।

जब श्रमण भगवान महावीर शिविका पर आरूढ़ हुए तो शक्रेन्द्र और ईशानेन्द्र शिविका के दोनों तरफ खड़े होकर मणियों से जटित डंडे वाली चामरों को भगवान के ऊपर झूलाने लगे।

सब से पहले मनुष्यों ने हर्ष एवं उल्लास के साथ भगवान की शिविका उठाई। उसके पश्चात् देव, सुर, असुर, गरुड़ और नागेन्द्र आदि देवों ने उसे उठाया।

शिविका को पूर्व दिशा से सुर-वैमानिक देव उठाते हैं, दक्षिण से असुर कुमार, पश्चिम से गरुड़ कुमार और उत्तर दिशा से नाग कुमार उठाते हैं।

उस समय देवों के आगमन से आकाश मंडल वैसा ही सुशोभित हो रहा था जैसे खिले हुए पुष्पों से युक्त उद्यान या शरद् ऋतु में कमलों से भरा हुआ पद्म सरोवर शोभित होता है।

जिस प्रकार से सरसों, कचनार तथा चम्पक वन फूलों से सुहावना प्रतीत होता है, उसी तरह उस समय आकाश मंडल देवों से सुशोभित हो रहा था।

उस समय पटह, भेरी, झांझ, शंख आदि श्रेष्ठ वादित्रों से गुंजायमान आकाश एवं भूभाग बड़ा ही मनोहर एवं रमणीय प्रतीत हो रहा था।

उस समय देव तत, वितत, घन और झुषिर इत्यादि अनेक तरह के बाजे बजा रहे थे तथा विभिन्न प्रकार के नृत्य कर रहे थे एवं नाटक दिखा रहे थे।

**हिन्दी विवेचन-** प्रस्तुत गाथाओं में यह अभिव्यक्त किया गया है कि भगवान देव निर्मित सहस्र वाहिका शिविका में बैठे और देवों एवं मनुष्यों ने उस शिविका को उठाया। शक्रेन्द्र और ईशानेन्द्र उस शिविका के दोनों ओर खड़े थे और भगवान के ऊपर रत्न एवं मणियों से विभूषित डंडों से युक्त चमर झुला रहे थे। उस समय देव एवं मनुष्य सभी के चेहरों पर उल्लास एवं हर्ष परिलक्षित हो रहा था और आज सब अपने आपको धन्य मान रहे थे।

जिस समय भगवान शिविका में बैठकर जा रहे थे, उस समय, देव, असुर, किन्नर, गन्धर्व आदि बड़े हर्ष के साथ बाजे बजा रहे थे और विभिन्न प्रकार के नृत्य कर रहे थे। सारा वातावरण हर्ष एवं उल्लास से भरा हुआ था।

इतने हर्ष एवं आनन्द के वातावरण में भी भगवान प्रशस्त अध्यवसायों के साथ शान्त बैठे हुए थे। उस समय भगवान ने षष्ठ भक्त-बेले का तप स्वीकार कर रखा था।

अब भगवान की दीक्षा से संबंधित विषय का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं-

**मूलम्-** तेणं कालेणं तेणं समएणं जे से हेमंताणं पढमे मासे पढमे पक्खे मग्गसिरबहुले तस्स णं मग्गसिरबहुलस्स दसमीपक्खेणं सुव्वएणं दिवसेणं

विजएणं मुहुत्तेणं हत्थुत्तरानक्खत्तेणं जोगोवगएणं पाईणगामिणीए छायाए  
 बिइयाए पोरिसीए छट्ठेणं भत्तेणं अपाणएणं एगसाडगमायाए चंदप्पभाए  
 सिवियाए सहस्सवाहिणियाए सदेव मणुयासुराए परिसाए समणिज्जमाणे  
 उत्तरखत्तियकुंडपुरसंनिवेशस्स मज्झमज्जेणं निर्गच्छइ २ जेणेव नायसंडे उज्जाणे  
 तेणेव उवागच्छइ २ ता ईसिं रयणिप्पमाणं अच्छोप्पेणं भूमिभाएणं सणियं २  
 चंदप्पभं सिवियं सहस्सवाहिणिं ठवेइ २ ता सणियं २ चंदप्पभाओ सीयाओ  
 सहस्सवाहिणीओ पच्चोयरइ २ ता सणियं २ पुरत्थाभिमुहे सीहासणे निसीयइ  
 आभरणालंकारं ओमुअइ, तओ णं वेसमणे देवे जन्नुव्वायपडिओ भगवओ  
 महावीरस्स हंसलक्खणेणं पडेणं आभरणालंकारं पडिच्छइ, तओ णं समणे  
 भगवं महावीरे दाहिणेणं दाहिणं वामेणं वामं पंचमुट्ठियं लोयं करेइ, तओ णं  
 सक्के देविंदे देवराया समणस्स भगवओ महावीरस्स जन्नुवायपडियाए वइरामएणं  
 थालेणं केसाइं पडिच्छइ २ अणुजाणेसि भंतेत्ति कट्टु खीरोयसागरं साहरइ,  
 तओ णं समणे जाब लोयं करित्ता सिद्धाणं नमुक्कारं करेइ २ सव्वं मे अकरणिज्जं  
 पावकम्मंति कट्टु सामाइयं चरित्तं पडिवज्जइ २ देवपरिसं च मणुयपरिसं च,  
 आलिक्खचित्तभूयमिव ठवेइ ।

छाया- तस्मिन् काले तस्मिन् समये यः स हेमन्तस्य प्रथमो मासः प्रथमः पक्षः  
 मार्गशीर्षबहुलः तस्य मार्गशीर्षबहुलस्य दशमीपक्षे सुव्रते दिवसे विजयमुहूर्ते हस्तोत्तरानक्षत्रेण  
 योगोपगते प्राचीनगामिन्यां छायायां द्वितीयायां पौरुष्यां षष्ठे न भक्तेन अपानकेन  
 एकशाटकमादाय चन्द्रप्रभायां शिविकायां सहस्रवाहिन्यां सदेवमनुजासुरया परिषदा  
 समन्वीयमानः उत्तरक्षत्रियकुण्डपुरसन्निवेशस्य मध्यमध्येन निर्गच्छति, निर्गत्य च यत्रैव  
 ज्ञातखण्डमुद्यानं तत्रैव उपागच्छति उपागत्य ईषत् रत्निप्रमाणम् अस्पर्शेन भूमिभागेन शनैः २  
 चन्द्रप्रभां शिविकां सहस्रवाहिनीं स्थापयति स्थापयित्वा शनैः २ चन्द्रप्रभातः शिविकातः  
 सहस्रवाहिनिकातः प्रत्यवतरति प्रत्यवतीर्य शनैः २ पूर्वाभिमुखः सिंहासने निषीदति,  
 आभरणालंकारमवमुञ्चति, ततो वैश्रमणो देवः जानुपादपतितः भगवतो महावीरस्य हंसलक्षण  
 पटेन आभरणालंकारान् प्रतीच्छति, ततः श्रमणो भगवान् महावीरः दक्षिणेन दक्षिणं वामेन  
 वामं पञ्चमुष्टिकं लोचं करोति ततः शक्रो देवेन्द्रो देवराजः श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य  
 जानुपादपतितः वज्रमयेन स्थालेन केशान् प्रतीच्छति प्रतीच्छ्य अनुजानीहि भदन्त इति कृत्वा  
 क्षीरोदकसागरे संहरते, ततः श्रमणो यावत् लोचं कृत्वा सिद्धेभ्यः नमस्कारं करोति, कृत्वा

सर्वं मे अकरणीयं पाप कर्म, इति कृत्वा सामाधिकं चारित्रं प्रतिपद्यते, प्रतिपद्य देवपरिषदं च मनुजपरिषदं च आलेख्य चित्रभूतमिवस्थापयति ।

पदार्थ—तेषां कालेषां तेषां समेषां—उस काल और उस समय में। जे से—जो वह। हेमंताणं—हेमन्तऋतु का—शीतकाल का। पढमे मासे—प्रथम मास। पढमे पक्खे—पहला पक्ष। मग्गसिरबहुले—मार्गशीर्ष का पहला पक्ष अर्थात् कृष्ण पक्ष का। णं—वाक्यालंकारार्थक है। तस्स—उस। मग्गसिरबहुलस्स—मार्गशीर्ष कृष्ण पक्ष के। दसमी पक्खेणं—दशमी के दिन। सुव्वएणं—सुव्रत नाम वाले। दिवसेणं—दिन में। विजएणं मुहुत्तेणं—विजय मुहूर्त में तथा। हत्थुत्तरानक्खत्तेणं—उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र के साथ। जोगोवगएणं—चन्द्रमा का योग आने पर। पाईणगामिणीए छायाए—पूर्व दिशा गामी छाया के होने पर। बिइयाए पोरिसीए—द्वितीय प्रहर के बीत जाने पर। अपाणएणं—निर्जल—बिना पानी के। छट्ठेणं भत्तेणं—षष्ठ भक्त दो उपवास से युक्त। एगसाडगमायाए—केवल एक देवदूष्य वस्त्र को लेकर। चंदप्पभायाए—चन्द्रप्रभा नामक। सिवियाए—शिविका जो कि। सहस्सवाहिणीयाए—सहस्र पुरुषों से उठाई जा सकती है, उस में बैठकर। सदेवमणुयासुराए—देव, मनुष्य और असुर कुमारों की। परिसाए—परिषद् के साथ। समणिज्जमाणे—निकलते हुए। उत्तर—खत्तियकुंडपुरसंनिवेशस्स—उत्तर क्षत्रिय कुण्डपुर सन्निवेश के। मज्झंमज्झेणं—मध्य २ में से होकर। निग्गच्छइ २—निकलते हैं और वहां से निकल कर। जेणेव—जहां पर। नायसंडे उज्जाणे—ज्ञात खण्ड नामक उद्यान था। तेणेव—वहां पर। उवागच्छइ २ त्ता—आते हैं और वहां आकर। ईसिं—थोड़ी सी। रयणिप्पमाणं—हाथ प्रमाण। अच्छेप्पेणं—ऊंची। भूमिभाएणं—भूमि भाग से। सणियं २—शनैः २। चंदप्पभं—चन्द्रप्रभा नाम की। सिवियं—शिविका। सहस्सवाहिणिं—सहस्र वाहिनी को। ठवेइ २—स्थापन करते हैं उसे स्थापन करने के बाद फिर। सणियं २—शनैः २। चंदप्पभाओ—भगवान उस चन्द्रप्रभा। सीयाओ—शिविका। सहस्सवाहिणीओ—सहस्र वाहिनी से। पच्चोहइ २—नीचे उतरते हैं और उस से उतर कर फिर। सणियं २—शनैः २। पुरत्थाभिमुहे—पूर्वाभिमुख होकर। सीहासणे—सिंहासन पर। निसीयइ २ त्ता—बैठते हैं उस पर बैठने के अनन्तर। आभरणालंकारं—भगवान आभरण और अलंकारों को। ओमुअइ—उतारते हैं। णं—वाक्यालंकारार्थक है। तओ—तत्पश्चात्। वेसमणे देवे—वैश्रमण देव। जन्नुवाय—पडिओ—भक्ति पूर्वक जानु को नीचे कर विनय पूर्वक। भगवओ महावीरस्स—भगवान महावीर के। आभरणालंकारं—आभरण और अलंकारों को। हंसलक्खणेणं—हंसलक्षण—हंस के समान श्वेत उज्ज्वल हंस चिह्न युक्त। पडेणं—पट के द्वारा। पडिच्छइ—ग्रहण करता है। तओ णं—तदनन्तर। समणे—श्रमण। भगवं—भगवान। महावीरे—महावीर। दाहिणेणं—दक्षिण हाथ से। दाहिणं—दक्षिण दिशा के। वामेणं—और वाम हाथ से। वामं—वाम दिशा के केशों का। पंचमुट्ठियं—पांच मौष्टिक। लोयं करेइ—लोच करते हैं। तओ—तदनन्तर। सक्के—शक्र। देविंदे—देवेन्द्र। देवराया—देवराज। समणस्स—श्रमण। भगवओ—भगवान। महावीरस्स—महावीर के। जन्नुवायपडियाए—जानु नीचे करके चरण कमलों में पड़कर अर्थात् विनय पूर्वक। वइरामएणं—वज्रमय। थालेणं—थाल में। केसाइं—भगवान के केशों को। पडिच्छइ २ त्ता—ग्रहण करता है, वह उन्हें ग्रहण करके कहता है। भंते—हे भगवन्! अणुजाणेसि—आपकी आज्ञा हो तो मैं इन्हें ग्रहण करूँ। त्तिकट्टु—ऐसा कहकर उन केशों को। खीरोयसागरं—क्षीरोदधि समुद्र में ले जाकर। साहरइ—प्रवाहित कर देता है। तओ णं—तदनन्तर। समणे—

श्रमणं। जाव-यावत्। लोच्यं करित्ता-लोचकर अर्थात् केशों का लुंचन करके फिर। सिद्धाणं-सिद्धों को। नमुक्कारं-नमस्कार। करेइ २ ता-करते हैं उन्हें नमस्कार करके फिर। मे-मुझे। सव्वं-सर्व प्रकार से। पावकम्मं-पाप कर्म। अकरणिज्जं-अकरणीय है। तिकट्टु-ऐसा कहकर भगवान। सामाइयं चरित्तं-सामायिक चारित्र को। पडिवज्जइ-ग्रहण करते हैं और सामायिक चारित्र को ग्रहण करके फिर उस समय भगवान ने। देवपरिसं च-देव परिषद् और। मणुयपरिसं च-मनुज परिषद् को। आलिक्खचित्तभूयमिव-भीत पर लिखे हुए चित्र की भांति। ठवेइ-बना दिया अर्थात् भगवान को दीक्षित होते देख कर देवों की और मनुष्यों की परिषदा भित्ति-चित्र की तरह चेष्टा रहित स्तब्ध सी हो गई।

**मूलार्थ**—उस काल और उस समय में जब हेमन्त ऋतु का प्रथम मास प्रथमपक्ष अर्थात् मार्गशीर्ष मास का कृष्ण पक्ष था, उसकी दशमी तिथि के सुव्रत दिवस विजय मुहूर्त में उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र के साथ चन्द्रमा का योग आने पर पूर्वगामिनी छाया और द्वितीय प्रहर के बीतने पर निर्जल-बिना पानी के दो उपवासों के साथ एक मात्र देवदूष्य वस्त्र को लेकर चन्द्रप्रभा नाम की सहस्र वाहिनी शिविका में बैठे। उसमें बैठकर वे देव मनुष्य तथा असुर कुमारों की परिषद् के साथ उत्तर क्षत्रिय कुण्डपुर सन्निवेश के मध्य २ में से होते हुए जहां ज्ञात खण्ड नामक उद्यान था वहां पर आते हैं। वहां आकर देव थोड़ी सी-हाथ प्रमाण ऊंची भूमि पर भगवान की शिविका को ठहरा देते हैं। तब भगवान उसमें से शनैः २ नीचे उतरते हैं और पूर्वाभिमुख होकर सिंहासन पर बैठ जाते हैं। उसके पश्चात् भगवान् अपने आभरणालंकारों को उतारते हैं तब वैश्रमण देव भक्ति पूर्वक भगवान के चरणों में बैठकर उनके आभरण और अलंकारों को हंस के समान श्वेत वस्त्र में ग्रहण करता है। तत् पश्चात् भगवान ने दाहिने हाथ से दक्षिण की ओर के केशों का और वाम कर से बाईं ओर के केशों का पांच मुष्टिक लोच किया, तब देवराज शक्रेन्द्र श्रमण भगवान महावीर के चरणों में पड़ कर घुटनों को नीचे टेक कर वज्रमय थाल में उन केशों को ग्रहण करता है और हे भगवन् ! आपकी आज्ञा हो, ऐसा कहकर उन केशों को क्षीरोदधि-क्षीर समुद्र में प्रवाहित कर देता है। इसके पश्चात् भगवान सिद्धों को नमस्कार करके सर्वप्रकार के सावद्यकर्म का परित्याग करते हुए सामायिक चारित्र ग्रहण करते हैं। उस समय देव और मनुष्य दोनों भीत पर लिखे हुए चित्र की भांति अवस्थित हो गए, अर्थात् चित्रवत् निश्चेष्ट हो गए।

**हिन्दी विवेचन**— प्रस्तुत सूत्र में भगवान की दीक्षा के सम्बन्ध में वर्णन किया गया है। जब भगवान की शिविका ज्ञात खण्ड बगीचे में पहुंची तो भगवान उससे नीचे उतर गए और एक वृक्ष के नीचे पूर्व दिशा की ओर मुंह करके बैठ गए और क्रमशः अपने सभी वस्त्राभूषणों को उतार कर वैश्रमण देव को देने लगे। सभी आभूषणों को उतारने के पश्चात् मार्गशीर्ष कृष्ण दशमी को तृतीय प्रहर के समय विजय मुहूर्त में उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र का चन्द्रमा के साथ योग होने पर भगवान ने स्वयं पञ्च मुष्टि लुंचन करके सिद्ध भगवान को नमस्कार करते हुए सामायिक चारित्र ग्रहण किया। समस्त सावद्य योगों का त्याग करके भगवान ने साधना के पथ पर कदम रखा। उस समय भगवान ने केवल देवदूष्य वस्त्र स्वीकार किया। भगवान के केशों को शक्रेन्द्र ने ग्रहण किया और उन्हें क्षीरोदधि समुद्र में विसर्जित कर दिया।

इस पाठ से यह स्पष्ट होता है कि उस युग में भी दिवस, मुहूर्त एवं नक्षत्र आदि देखने की परम्परा थी। और पंच मुष्टि लोच एवं अलंकारों आदि के उतारने का उल्लेख करके भगवान की सहिष्णुता, त्याग एवं तप भावना को दिखाया है।

कुछ प्रतियों में 'जनुवायपडियाए' के स्थान पर 'भत्तुव्वायपडियाए' पाठ उपलब्ध होता है।

भगवान की दीक्षा के समय वातावरण को शान्त बनाए रखने के लिए इन्द्र के द्वारा सभी वादित्रों को बन्द करने का आदेश देने का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्—दिव्यो मणुस्सघोसो, तुरियनिनाओ य सक्कवयणेणं ।**

**खिप्पामेव निलुक्को, जाहे पडिवज्जइ चरित्तं ॥ १ ॥**

**पडिवज्जित्तु चरित्तं अहोनिंसं सव्वपाणभूयहियं ।**

**साहट्टु लोमपुलया सव्वे देवा निसामिंति ॥ २ ॥**

**छाया— दिव्यो मनुष्यघोषः, तूर्यनिनादश्च शक्रवचनेन ।**

**क्षिप्रमेव निर्लुप्तः, यदा प्रतिपद्यते चरित्रम् ॥ १ ॥**

**प्रतिपद्य चरित्रं अहर्निशं सर्वप्राणिभूतहितम् ।**

**संहृत्य रोमपुलकाः सर्वे देवा निशामयन्ति ॥ २ ॥**

**पदार्थ—** जाहे—जब भगवान् चरित्तं—चारित्र को। पडिवज्जइ—ग्रहण करने लगे तो। दिव्यो—देवों के श्रेष्ठ शब्द तथा। मणुस्सघोसो—मनुष्यों के शब्द। य—और। तुरियनिनाओ—वाजन्तरों के शब्द। सक्कवयणेणं—शक्रेन्द्र के वचन से। खिप्पामेव—शीघ्र ही। निलुक्को—बन्द कर दिए गए।

चरित्तं—चारित्र को। पडिवज्जित्तु—ग्रहण करके। अहोनिंसं—रात-दिन। सव्वपाणभूयहियं—भगवान् ने सर्व प्राण, भूत, जीवों के हित के लिए चारित्र ग्रहण किया। साहट्टुलोमपुलया—जिनकी रोमराजी पुलकित हो रही है ऐसे। सव्वे देवा—सभी देव। निसामिंति—इसे सुनते हैं अर्थात् सहर्ष श्रवण करते हैं

**मूलार्थ—**जिस समय भगवान् सामायिक चारित्र ग्रहण करने लगे, उस समय शक्रेन्द्र की आज्ञा से सभी वादित्रों आदि से होने वाले शब्द बन्द कर दिए गए।

सामायिक चारित्र ग्रहण करके भगवान् रात-दिन सब प्राणियों के हित में संलग्न हुए, अर्थात् वे सभी प्राणियों की रक्षा करने लगे। सभी देवों ने हर्षित भाव से यह सुना कि भगवान् ने संयम स्वीकार कर लिया है।

**हिन्दी विवेचन—**प्रस्तुत उभय गाथाओं में यह अभिव्यक्त किया गया है कि जिस समय भगवान् सामायिक चारित्र ग्रहण करने लगे उस समय शक्रेन्द्र ने सभी प्रकार के वादित्रों को बन्द करने का आदेश दिया और उसके आदेश से सभी देव एवं मानव शान्त चित्त से भगवान् के चारित्र ग्रहण करने के उद्देश्य को सुनने लगे। इस में यह स्पष्ट बताया गया है कि चारित्र सर्व प्राणियों का हितकारक है, प्राणिमात्र के प्रति मैत्रीभाव को अभिव्यक्त करने तथा प्राणिमात्र की रक्षा करने के उद्देश्य से ही साधक साधना के या साधुत्व के पथ पर कदम रखता है।

समस्त सावद्य योगों का त्याग करके संयम स्वीकार करते ही भगवान को चतुर्थ मनः पर्यवज्ञान हो गया, इस का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं-

**मूलम्—** तओ णं समणस्स भगवओ महावीरस्स सामाइयं खओवसमियं चरित्तं पडिवन्नस्स मणपज्जवणाणे नामं नाणे समुप्पन्ने अड्ढाइज्जेहिं दीवेहिं दोहि य समुद्देहिं सन्नीणं पंचिंदियाणं पज्जत्ताणं वियत्तमणसाणं मणोगयाइं भावाइं जाणेइ ।

**छाया—** ततः श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य सामायिकं क्षायोपशमिकं चरित्रं प्रतिपन्नस्य मनःपर्यवज्ञानं नाम ज्ञानं समुत्पन्नं, अर्द्धतृतीये द्वीपे द्वयोः च समुद्रयोः संज्ञानां पञ्चेन्द्रियाणां पर्याप्तानां व्यक्तमनसां मनोगतान् भावान् जानाति ।

**पदार्थ—** णं-प्राग्वत् । तओ-तत् पश्चात् । समणस्स-श्रमण । भगवओ-भगवान् । महावीरस्स-महावीर को । सामाइयं-सामायिक । खओवसमियं-क्षायोपशमिक । चरित्तं-चारित्र । पडिवन्नस्स-ग्रहण करते ही । मणपज्जवणाणे-मनः पर्याय ज्ञान । नामं-नाम का । नाणे-ज्ञान । समुप्पन्ने-उत्पन्न हुआ, उस ज्ञान से भगवान् । अड्ढाइज्जेहिं-अढ़ाई । दीवेहिं-द्वीपों में । य-और । दोहि समुद्देहिं-दो समुद्रों में । सन्नीणं-मनयुक्त । पज्जत्ताणं-पर्याप्त । पंचिंदियाणं-पञ्चेन्द्रिय । वियत्तमणसाणं-व्यक्त मन वालों के । मणोगयाइं-मनोगत । भावाइं-भावों को । जाणेइ-जानते हैं ।

**मूलार्थ—**क्षायोपशमिक सामायिक चारित्र ग्रहण करते ही श्रमण भगवान् महावीर को मनः पर्याय ज्ञान उत्पन्न हुआ । जिसके द्वारा वे अढ़ाई द्वीप, दो समुद्रों में स्थित संज्ञीपर्याप्त पञ्चेन्द्रिय जीवों के मनोगत भावों को स्पष्ट जानने लगे ।

**हिन्दी विवेचन—** प्रस्तुत सूत्र में मनः पर्याय ज्ञान का वर्णन किया गया है । इस ज्ञान से व्यक्ति अढ़ाई द्वीप और दो समुद्रों में स्थित पर्याप्त सन्नी पञ्चेन्द्रिय जीवों के मनोगत भावों को जान सकता है जिस समय भगवान् ने सामायिक चारित्र स्वीकार किया उसी समय उन्हें यह ज्ञान प्राप्त हो गया और वे मन वाले प्राणियों के मानसिक भावों को देखने जानने लगे ।

इस से यह स्पष्ट हो गया कि मनः पर्याय ज्ञान क्षेत्र एवं विषय की दृष्टि से ससीम है और इससे उन्हीं प्राणियों के मानसिक भावों को जाना जा सकता है, जिन के मन है । क्योंकि मन वाले प्राणी ही स्पष्ट रूप से मानसिक चिन्तन कर सकते हैं । अतः उनके चिन्तन से मनोवर्गणा के पुद्गलों के बनते हुए आकारों के द्वारा उनके चिन्तन का, उनके मानसिक विचारों का स्पष्ट परिचय मिल जाता है ।

इस में दूसरी बात यह बताई गई है कि सामायिक चारित्र की प्राप्ति क्षायोपशम भाव में हुई है । इससे स्पष्ट होता है कि आध्यात्मिक साधना का ग्रहण क्षायोपशमिक भाव में ही किया जा सकता है, औदयिक भाव में नहीं । क्योंकि सम्यग्ज्ञान पूर्वक की गई आध्यात्मिक क्रियाएं ही सम्यग् होती हैं और सम्यग् ज्ञान क्षायोपशम भाव में ही प्राप्त होता है । अतः सामायिक चारित्र को क्षायोपशमिक भाव में माना

गया है।

भगवान् ने दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् जो अभिग्रह ग्रहण किया, उसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं-

**मूलम्-** तओ णं समणे भगवं महावीरे पव्वइए समाणे मित्तनाइ-सयणसंबंधिवग्गं पडिविसज्जेइ, २ ता इमं एयारूवं अभिग्गहं अभिगिण्हइ-बारस वासाइं वोसट्ठकाए चियत्तदेहे जे केइ उवसग्गा समुप्पज्जंति तंजहा-दिव्वा वा माणुस्सा वा तेरिच्छिया वा, ते सव्वे उवसग्गे समुप्पन्ने समाणे सम्मं सहिस्सामि खमिस्सामि अहियासइस्सामि।

छाया- ततः श्रमणो भगवान् महावीरः प्रव्रजितः सन् मित्रज्ञातिस्वजनसम्बन्धिवर्गं प्रतिविसर्जयति प्रतिविसर्च्य इमं एतद्रूपं अभिग्रहं अभिगृह्णाति, द्वादश वर्षाणि व्युत्सृष्टकायः त्यक्तदेहः ये केचिद् उपसर्गाः समुत्पद्यन्ते, तद्यथा-दिव्याः वा मानुष्या वा तैरिश्चिका वा तान् सर्वान् उपसर्गान् समुत्पन्नान् सतः सम्यक् सहिष्ये क्षमिष्ये अधिसहिष्ये।

**पदार्थ-** णं-वाक्यालंकार में है। तओ-तदनन्तर। समणे-श्रमण। भगवं-भगवान्। महावीरे-महावीर। पव्वइए समाणे-प्रव्रजित-दीक्षित होने पर। मित्तनाइ-मित्र ज्ञाति और। सयणसंबंधिवग्गं-स्वजन सम्बन्धि वर्ग को। पडिविसज्जेइ-विसर्जित करके। इमं-यह। एयारूवं-एतादृश इस प्रकार के। अभिग्गहं-अभिग्रह-प्रतिज्ञा विशेष को। अभिगिण्हइ-ग्रहण करते हैं। बारस वासाइं-बारह वर्ष पर्यन्त। वोसट्ठकाए-काया शरीर का व्युत्सर्ग तथा। चियत्तदेहे-शरीर गत ममत्व को छोड़ते हुए। जे केइ-जो कोई भी। उवसग्गा-उपसर्ग। समुप्पज्जंति-उत्पन्न होगा। तंजहा-जैसे कि। दिव्वा वा-देवसम्बन्धि। माणुस्सा वा-अथवा मनुष्य सम्बन्धि। तेरिच्छिया वा-अथवा तिर्यच सम्बन्धि। ते सव्वे-उन सभी। उवसग्गे-उपसर्गों के। समुप्पन्ने समाणे-उत्पन्न होने पर उन सब को। सम्मं-सम्यक् प्रकार से। सहिस्सामि-सहन करूंगा। खमिस्सामि-क्षमा करूंगा। अहियासइस्सामि-खेद रहित हो कर सहन करूंगा।

**मूलार्थ-**श्रमण भगवान् महावीर ने प्रव्रजित होने के पश्चात् अपने मित्र ज्ञाति और स्वजन सम्बन्धि वर्ग को विसर्जित किया और उन सब के चले जाने के बाद भगवान् ने इस प्रकार का अभिग्रह धारण किया कि मैं आज से लेकर बारह वर्ष तक अपने शरीर पर ममत्व नहीं रखूंगा और देव, मनुष्य और तिर्यच सम्बन्धि जो भी उपसर्ग उत्पन्न होंगे, उन सभी उपसर्गों को समभाव पूर्वक सहन करूंगा, सदा क्षमा भाव रखूंगा, और स्थिरता पूर्वक उन कष्टों पर विजय प्राप्त करूंगा अर्थात् उनके सहन करने में किसी प्रकार से खिन्न एवं अप्रसन्न नहीं होऊंगा।

**हिन्दी विवेचन-** प्रस्तुत सूत्र में भगवान् महावीर की महान् साधना एवं सहिष्णुता का उल्लेख किया गया है। भगवान् ने दीक्षा ग्रहण करते ही अपने शरीर पर से सर्वथा आसक्ति हटा दी। उन्होंने यह प्रतिज्ञा ग्रहण की कि मैं १२ वर्ष तक अर्थात् सर्वज्ञता प्राप्त नहीं होने तक देव-दानव, मानव और तिर्यज्व-

पशु, पक्षी एवं क्षुद्र जन्तुओं द्वारा होने वाले किसी भी परीषह का, उपसर्ग का प्रतिकार नहीं करूंगा, आने वाले समस्त कष्टों को समभाव पूर्वक सहन करूंगा, सब प्राणियों के प्रति क्षमा एवं मैत्री भाव रखूंगा। अपने को कष्ट देने वाले किसी भी प्राणी के अहित का संकल्प नहीं करूंगा। वस्तुतः यह भावना उनकी उत्कट साधना एवं महान् शक्ति की परिचायक है। इसी विशिष्ट शक्ति के कारण आप वर्द्धमान एवं श्रमणत्व से आगे बढ़कर महावीर बने। भगवान् की महावीरता प्राणियों को दण्ड से दबाने में नहीं, प्रत्युत महान् कष्टों को समभाव पूर्वक सहने, दुखों की संतप्त दोपहरी में भी शान्त एवं अटल भाव से आत्म चिन्तन में संलग्न रहने, आततायियों को भी मित्र समझ कर उन्हें क्षमा करने तथा राग-द्वेष एवं कषाय रूप आध्यात्मिक शत्रुओं का नाश करने में थी।

इस प्रकार अनेक उपसर्गों को समभाव पूर्वक सहन करते हुए भगवान् विहार करते हैं, उनकी विहार चर्या का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं-

**मूलम्— तओ णं स० भ० महावीरे इमं एयारूवं अभिग्गहं अभिगिण्हिता वोसट्ठचत्तदेहे दिवसे मुहुत्तसेसे कुम्मारगामं समणुपत्ते ।**

**छाया— ततः श्रमणो भगवान् महावीरः, इमम् एतद्रूपम् अभिग्रहम् अभिगृह्य व्युत्सृष्ट्यक्तदेहः दिवसे मुहूर्तशेषे कुमारग्रामं समनुप्राप्तः ।**

**पदार्थ—** णं-वाक्यालंकारार्थक है। तओ-तत् पश्चात्। समणे-श्रमण। भगवं-भगवान्। महावीरे-महावीर। इमं-यह। एयारूवं-एतादृगरूप। अभिग्गहं-अभिग्रह-प्रतिज्ञा विशेष को। अभिगिण्हिता-ग्रहण करके। वोसट्ठचत्तदेहे-जिसने शरीर के ममत्व और देह का संस्कार करने का भी त्याग कर दिया है। मुहुत्तसेसे दिवसे-एक मुहूर्त दिन के रहने पर। कुम्मारगामं-कुमार नामक ग्राम को। समणुपत्ते-प्राप्त हुए-पहुंचे।

**मूलार्थ—**शरीर पर से ममत्व त्याग के अभिग्रह से युक्त श्रमण भगवान् महावीर ने जिस दिन दीक्षा ग्रहण की, उसी दिन वे शाम को एक मुहूर्त ( ४८ मिनट ) दिन रहते कुमार ग्राम पहुंचे।

**हिन्दी विवेचन—** इसमें यह बताया गया है कि भगवान् ने जिस दिन दीक्षा ग्रहण की उसी दिन पहला विहार कुमार ग्राम की ओर किया और सूर्यास्त से एक मुहूर्त ( ४८ मिनट ) पहले कुमार ग्राम पहुंच गए।

विहार के समय भगवान् की क्या वृत्ति थी, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं-

**मूलम्— तओ णं स० भ० म० वोसट्ठचत्तदेहे अणुत्तरेणं आलएणं अणुत्तरेणं विहारेणं एवं संजमेणं पग्गहेणं संवरेणं तवेणं बंभचेरवासेणं खंतीए मुत्तीए समिईए गुत्तीए तुट्ठीए ठाणेणं कमेणं सुचरियफलनिव्वाणमुत्तिमग्गेणं अप्पाणं भावेमाणे विहरइ ।**

**छाया— ततः श्रमणो भगवान् महावीरः व्युत्सृष्ट्यक्तदेहः अनुत्तरेण आलयेन अनुत्तरेण विहारेण एवं संजमेण प्रग्रहेण संवरेण तपसा ब्रह्मचर्यवासेन क्षान्त्या मुक्त्या समित्या गुप्तया**



तुष्ट्या स्थानेन क्रमेण सुचरितफलनिर्वाणमुक्तिमार्गेण आत्मानं भावयन् विहरति ।

**पदार्थ-** णं-वाक्यालंकारार्थक में है । तओ-तदनन्तर । स० भ० म०-श्रमण भगवान महावीर । वोसट्ठचत्तदेहे-जिस ने देह के ममत्व और शरीर के संस्कार का परित्याग किया हुआ है । अणुत्तरेणं-प्रधान अथवा अनुपम । आलएणं-स्त्री, पशु, पंडक ( नपुंसक ) आदि से रहित वसती के सेवन से । अणुत्तरेणं-प्रधान-अनुपम । विहारेणं-विहार से । एवं-इसी प्रकार । संजमेणं-अनुपम संयम से । पग्गहेणं-अनुपम प्रयत्न से । संवरेणं-अनुपम संवर से । तवेणं-अनुपम तप से । बंधचेरवासेणं-अनुपम ब्रह्मचर्य वास । खंतीए-अनुपम क्षमा से । मुत्तीए-अनुपम निर्लोभता से । समिईए-अनुपम समिति से । गुत्तीए-अनुपम गुप्ति से । तुट्ठीए-अनुपम तृष्टि से । ठाणेणं-एक स्थान में कायोत्सर्गादि करके ध्यान करने से । क्रमेणं-अनुपम क्रियानुष्ठान करने से । सुचरियफलनिव्वाण-मुक्तिमार्गेणं-सदाचरण से-जिसका फल निर्वाण है, और मुक्ति जिसका लक्षण है-तथा ज्ञान दर्शन और चारित्र रूप मुक्ति मार्ग के सेवन से युक्त होकर । अप्पाणं-आत्मा को । भावेमाणे-भावित करते हुए । विहरइ-विचरते हैं ।

**मूलार्थ-**—तदनन्तर शरीर के ममत्व और संस्कार का परित्याग करने वाले श्रमण भगवान महावीर अनुपम वसती के सेवन से, अनुपम विहार से, एवं अनुपम संयम, संवर, तप, ब्रह्मचर्य, क्षमा, निर्लोभता, समिति, गुप्ति, सन्तोष, कायोत्सर्गादि स्थान और अनुपम क्रियानुष्ठान से तथा सच्चरित के फल रूप निर्वाण और मुक्ति मार्ग-ज्ञान दर्शन चारित्र के सेवन से युक्त होकर आत्मा को भावित करते हुए विचरते हैं ।

**हिन्दी विवेचन-** प्रस्तुत सूत्र में भगवान महावीर की महान् एवं विशुद्ध साधना का उल्लेख किया गया है । वे सदा निर्दोष, प्रासुक एवं एषणीय स्थानों में ठहरते थे और वे ईश्वर के सभी दोषों से निवृत्त होकर सदा अप्रमत्त भाव से विहार करते थे और उत्कृष्ट तप, संयम, समिति-गुप्ति, क्षमा, स्वाध्याय-कायोत्सर्ग आदि से आत्मा को शुद्ध बनाते हुए विचार रहे थे । कहने का तात्पर्य यह है कि भगवान महावीर स्वामी का प्रत्येक क्षण आत्मा को राग-द्वेष एवं कर्म बन्धनों से सर्वथा मुक्त-उन्मुक्त बनाने में लगता था ।

भगवान की सहिष्णुता का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं-

**मूलम्-** एवं वा विहरमाणस्स जे केइ उवसग्गा समुप्पज्जंति दिव्वा वा माणुस्सा वा तिरिच्छिया वा, ते सव्वे उवसग्गे समुप्पन्ने समाणे अणाउले अव्वहिए अहीणमाणसे तिविहमणवयणकायगुत्ते सम्मं सहइ, खमइ तितिक्खइ अहियासेइ ॥

**छाया-** एवं वा विहरमाणस्य ये केचित् उपसर्गाः समुत्पद्यन्ते दिव्या वा मानुष्या वा तैरिश्चिका वा तान् सर्वान् उपसर्गान् समुत्पन्नान् सतः अनाकुलः अव्यथितः अदीनमानसः त्रिविधमनोवचनकायगुप्तः सम्यक् सहते क्षमते तितिक्षते अध्यास्ते ।

**पदार्थ-** एवं-इस प्रकार का । वा-समुच्चय अर्थ में आया है । विहरमाणस्स-विचरते हुए भगवान्

को। जे केइ-जो कोई। उवसग्गा-उपसर्ग। समुप्पज्जंति-उत्पन्न होते हैं। दिव्वा वा-देव सम्बन्धि। माणुस्सा वा-अथवा मनुष्य सम्बन्धि। तिरिच्छिया वा-तिर्यक् सम्बन्धि। ते-उन। सव्वे-सब। उवसग्गे-उपसर्गों को। समुप्पन्ने समाणे-प्राप्त होने पर उन्हें। अणाउले-अनाकुलता से-शान्त चित्त से। अब्बहिए-स्थिरता पूर्वक। अहीणमाणसे-अदीन चित्त होकर तथा। तिविहमणवयकायगुत्ते-मन वचन और काया से गुप्त होकर। सम्मं-सम्यक् प्रकार से। सहइ-उन उपसर्गों को सहन करते हैं। खमइ-उपसर्ग प्रदाताओं को क्षमा करते हैं। तितिवखइ-अदीन मन से सहन करते हैं। अहियासेइ-निश्चल भावों से सहन करते हैं।

**मूलार्थ**—इस प्रकार विचरते हुए श्रमण भगवान् महावीर को देव, मनुष्य और तिर्यक् सम्बन्धि जो कोई भी उपसर्ग प्राप्त हुए वे उन सब उपसर्गों को खेद रहित बिना दीनता के समभाव पूर्वक सहन करते रहे। और वे मन-वचन तथा काया से गुप्त होकर उन उपसर्गों को भली-भान्ति सहन करते और उपसर्ग दाताओं को क्षमा करते तथा सहिष्णुता और स्थिर भावों से उन पर विजय प्राप्त करते थे।

**हिन्दी विवेचन**—प्रस्तुत सूत्र में भगवान् की सहिष्णुता, क्षमा एवं आध्यात्मिक साधना के विकास का वर्णन किया गया है। वे सदा समभाव पूर्वक विचरते थे। कभी भी कष्टों से विचलित नहीं हुए और न भयंकर वेदना देने वाले व्यक्ति के प्रति उन्होंने द्वेष भाव रखा। वे क्षमा के अवतार प्रत्येक प्राणी को तन, मन और वचन से क्षमा ही करते रहे। वह अभय का देवता सब प्राणियों को अभय दान देता रहा। यही भगवान् महावीर की साधना थी कि दुःख देने वाले के प्रति द्वेष मत रखो, सब के प्रति मैत्री भाव रखो, सब को क्षमा दो और आने वाले दुःख-सुख को समभाव पूर्वक सहन करो।

इस महान् साधना एवं घोर तपश्चर्या के द्वारा राग-द्वेष एवं चार घातिक कर्मों का क्षय करके भगवान् ने केवल ज्ञान, केवल दर्शन को प्राप्त किया। इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्**— तओ णं समणस्स भगवओ महावीरस्स एएणं विहारेणं विहरमाणस्स बारस वासा वीइक्कंता, तेरसमस्स य वासस्स परियाए वट्टमाणस्स जे से गिम्हाणं दुच्चे मासे चउत्थे पक्खे वइसाहसुद्धे तस्स णं वेसाहसुद्धस्स दसमीपक्खेणं सुव्वएणं दिवसेणं विजएणं मुहुत्तेणं हत्थुत्तराहिं नक्खत्तेणं जोगोवगएणं पाईणगामिणीए छायाए वियत्ताए पोरिसीए जंभियगामस्स नगरस्स बहिया नईए उज्जुवालियाए उत्तरकूले सामागस्स गाहावइस्स कट्ठकरणंसि उड्ढंजाणू अहोसिरस्स झाणकोट्ठोवगयस्स वेयावत्तस्स चेइयस्स उत्तरपुरच्छिमे दिसीभागे सालरुक्खस्स अदूरसामंते उक्कुडुयस्स गोदोहियाए आयावणाए आयावेमाणस्स छट्ठेणं भत्तेणं अपाणएणं सुक्कज्जाणंतारियाए वट्टमाणस्स निव्वाणे कसिणे पडिपुन्ने अब्वाहए निरावरणे अणंते अणुत्तरे

## केवलवरणाणदंसणे समुप्यन्ने ।

छाया— ततः श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य एतेन विहारेण विहरमाणस्य द्वादश वर्षा व्यतिक्रान्ताः त्रयोदशस्य च वर्षस्य पर्याये वर्तमानस्य योऽसौ ग्रीष्मस्य द्वितीयो मासः चतुर्थः पक्षः वैशाखशुक्लः तस्य वैशाखशुक्लस्य दशमीपक्षे सुव्रते दिवसे विजये मुहूर्ते हस्तोत्तरेण नक्षत्रेण योगोपगते प्राचीनगामिन्यां छायायां व्यक्तायां पौरुष्याम् ( पाश्चात्यपौरुष्यां ) जृम्भिकग्रामस्य नगरस्य बहिस्तात् नद्याः ऋजुवालुकायाः उत्तरकूले श्यामाकस्य गृहपतेः ऊर्ध्वजानुअधःशिरसः ध्यानकोष्ठोपगतम्य व्यावृत्तस्य चैत्यस्य उत्तरपौरस्त्ये दिग्भागे शालवृक्षस्य अदूरसामन्ते उत्कुटुकस्य गोदोहिकया आतापनया आतापयतः षष्ठेन भक्तेन अपानकेन शुक्लध्यानान्तरे वर्तमानस्य निर्वाणे कृत्स्ने प्रतिपूर्णे अव्याहते निरावरणे अनन्ते अनुत्तरे केवलवरज्ञानदर्शने समुप्यन्ने ।

पदार्थ— णं—वाक्यालंकारार्थक है । तओ—तदनन्तर । समणस्स—श्रमण । भगवओ—भगवान् । महावीरस्स—महावीर को । एएणं—इस प्रकार के । विहारेणं—विहार से । विहरमाणस्स—विचरते हुआ को । बारस वासा—द्वादश वर्ष । वीड्कंता—व्यतीत हो गए । य-पुनः । तेरसमस्स—तेरहवें । वासस्स—वर्ष के । परियाए—मध्य में । वट्टमाणस्स—वर्तते हुए । जे-जो । से-यह । गिम्हाणं—ग्रीष्म ऋतु के । दुच्चे मासे—दूसरे मास में । चउत्थे पक्खे—चतुर्थ पक्ष में । वड्साहसुद्धे—वैशाख शुक्ल पक्ष में । णं—प्राग्वत् । तस्स—उस । वेसाहसुद्धस्स ( पक्खस्स )—वैशाख शुक्ल पक्ष को । दसमी पक्खेणं—दशमी के दिन । सुव्वएणं दिवसेणं—सुवत नामक दिवस में । विजएणं मुहुत्तेणं—विजय मुहूर्त्त में । हत्थुत्तराहिं नक्खत्तेणं—उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र के साथ । जोगोवगएणं—चन्द्रमा का योग आने पर । पाईणगामिणीए छायाए—दिन के पिछले प्रहर में । वियत्ताए पोरिसीए—वियत नाम वाली पौरुषी के आने पर अर्थात् पाश्चात्य पौरुषी में । जंभियगामस्स—जृम्भिकग्राम नाम के । नगरस्स—नगर के । बहिया—बाहर । उज्जुवालियाए—ऋजू वालुका नामक । नईए—नदी के । उत्तरकूले—उत्तर तट पर । सामागस्स—श्यामाक नाम के । गाहावड्स्स—गृहपति के । कट्ठकरणंसि—क्षेत्र में । उड्डंजाणुअहोसिरस्स—ऊपर को जानु और नीचे को सिर इस प्रकार । झाणकोट्ठोवगयस्स—ध्यान रूपी कोष्ठ में प्रविष्ट हुए भगवान को । वेयावत्तस्स—वैयावृत्य नामक । चेड्थस्स—चैत्य-पक्ष मंदिर के । उत्तरपुरच्छिमे दिसीभागे—उत्तर पूर्व दिग् भाग अर्थात् ईशान कोण में । सालरुक्खस्स—शाल वृक्ष के । अदूरसामंते—न अति दूर न अति समीप । उक्कुडुयस्स—उत्कुटुक और । गोदोहियाए—गोदोहिक आसन से । आतावणाए—आतापना । आयावेमाणस्स—लेते हुए । अपाणाएणं—निर्जल-पानी रहित । छट्ठेणं भत्तेणं—षष्ठभक्त-दो उपवास पूर्वक । सुक्कज्जाणं तरियाए—शुक्ल ध्यान में । वट्टमाणस्स—आरुढ़ हुए भगवान को । निव्वाणे—निर्दोष । कसिणे—संपूर्ण अर्थ का ग्राहक । पडिपुन्ने—प्रतिपूर्ण । अव्वाहए—व्याघात रहित । निरावरणे—आवरण रहित । अणंते—अनन्त । अणुत्तरे—सब से प्रधान । केवलवरणाणदंसणे—सर्व श्रेष्ठ केवल ज्ञान और केवल दर्शन । समुप्यन्ने—उत्पन्न हुए ।

मूलार्थ—श्रमण भगवान् महावीर को इस प्रकार के विहार से विचरते हुए ब्रारह वर्ष व्यतीत हो गए । तेरहवें वर्ष के मध्य में ग्रीष्म ऋतु के दूसरे मास और चौथे पक्ष में अर्थात् वैशाख

शुक्ला दशमी के दिन सुव्रत नामक दिवस में विजय मुहूर्त में, उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र के साथ चन्द्रमा का योग आने पर दिन के पिछले प्रहर, जृम्भक ग्राम नगर के बाहर ऋजु बालिका नदी के उत्तर तट पर, श्यामाक गृहपति के क्षेत्र में वैयावृत्य नामक यक्ष मन्दिर के ईशान कोण में शाल वृक्ष के कुछ दूरी पर ऊंचे गोडे और नीचा शिर कर के ध्यान रूप कोष्ट में प्रविष्ट हुए तथा उत्कुटुक और गोदोहिक आसन से सूर्य की आतापना लेते हुए, निर्जल छट्ठ भक्त तप युक्त शुक्ल ध्यान ध्याते हुए भगवान को निर्दोष, सम्पूर्ण, प्रतिपूर्ण, निर्व्याघात, निरावरण, अनंत, अनुत्तर, सर्वप्रधान केवल ज्ञान और केवल दर्शन उत्पन्न हुआ।

**हिन्दी विवेचन**— प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि साधना के बारह वर्ष कुछ महीने बीतने पर वैशाख शुक्ला १० को जृम्भक ग्राम के बाहर, ऋजु बालिका नदी के तट पर, श्यामाक गृहपति के क्षेत्र (खेत) में, जहां जीर्ण व्यन्तरायतन था, दिन के चतुर्थ प्रहर में, सुव्रत नामक दिन, विजय मुहूर्त एवं उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र का चन्द्र के साथ योग होने पर षक्कडु और गोदुह आसन से शुक्ल ध्यान<sup>१</sup> में संलग्न भगवान ने राग-द्वेष एवं ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन चार घातिक कर्मों का सर्वथा क्षय करके केवल ज्ञान, केवल दर्शन को प्राप्त किया।

प्रस्तुत प्रसंग में मुहूर्त आदि के वर्णन से यह स्पष्ट होता है कि उस समय लौकिक पंचांग की ज्योतिष गणना को स्वीकार किया जाता था। ग्राम, नदी आदि के नाम के साथ देश (प्रान्त) के नाम का उल्लेख कर दिया जाता तो वर्तमान में उस स्थान का पता लगाने में कठिनाई नहीं होती और इससे लोगों में स्थान सम्बन्धी भ्रान्तियां नहीं फैलतीं और ऐतिहासिकों में विभिन्न मतभेद पैदा नहीं होता। परन्तु इसमें देश का नामोल्लेख नहीं होने से यह पाठ विद्वानों के लिए चिन्तनीय एवं विचारणीय है।

केवल ज्ञान के सामर्थ्य का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्**— से भगवं अरहं जिणे केवली सव्वन्नु सव्वभावदरिसी सदेवमणुयासुरस्स लोगस्स पज्जाए जाणइं, तं०-आगइं गइं ठिइं चवणं उववायं भुत्तं पीयं कडं पडिसेवियं आविकम्मं रहोकम्मं लवियं कहियं मणोमाणसियं सव्वलोए सव्वजीवाणं सव्वभावाइं जाणमाणे पासमाणे एवं च णं विहरइ ॥

**छाया**— स भगवान् अर्हन् जिनः केवली सर्वज्ञः सर्वभावदर्शी सदेवमनुजासुरस्य लोकस्य पर्यायान् जानाति, तद्यथा-आगतिं गतिं स्थितिं च्यवनं उपपातं भुक्तं पीतं कृतं प्रतिसेवित आविःकर्म रहःकर्म लपितं कथितं मनोमानसिकं सर्वलोके सर्वजीवानां सर्वभावान् जानन् पश्यन् एवं च विहरति-विचरति।

**पदार्थ**— से-वह। भगवं-भगवान। अरहं-अर्हन्-पूज्य। जिणे-जिन-राग-द्वेष को जीतने वाले। केवली-सम्पूर्ण ज्ञान वाले। सव्वन्नु-सर्वज्ञ-सब कुछ जानने वाले। सव्वभावदरिसी-सर्व भावों-पदार्थों को

१ शुक्ल ध्यान के चार भेद हैं—पृथकत्ववितर्क सविचार, २ एकत्ववितर्कअविचार, ३ सूक्ष्म क्रियाप्रतिपत्ति और, ४ उच्छिन्नक्रियाप्रतिपत्ति। इसमें से भगवान पहले दो भेदों के चिन्तन में, ध्यान में संलग्न थे। — आचारांग वृत्ति

देखने वाले। सदेवमणुयासुरस्स-देव, मनुष्य और असुर कुमार देवों के। लोगस्स-तथा सर्व लोक के। पजाए-पर्यायों को। जाणइ-जानते हैं। तंजहा-जैसा कि। आगइ-जीवों की आगति को। गइ-गति को। ठिइ-स्थिति को। चवणं-च्यवन अर्थात् देवलोक से देवों के च्यवन को। उववायं-उपपात अर्थात् नारकी और देव के जन्म स्थान को। भुत्तं-खाद्य। पीयं-पेय पदार्थों को। कइ-किए हुए कार्य को अर्थात् चौयादि कर्म को। पडिसेवियं-मैथुनादि सेवन को। आविकम्मं-प्रकट कार्य को। रहोकम्मं-गुप्त कार्य को। लवियं-प्रलाप करते हुए को। कहियं-गुप्त वार्ता को। मणोमाणसियं-जीवों के चित्त और मन के भावों को। सव्वलोए-सर्व लोक के विषय को। सव्वजीवाणं-सर्व जीवों के। सव्वभावाइं-सर्व भावों को। जाणमाणे-जानते हुए। पासमाणे-देखते हुए। एवं-इस प्रकार। विहरइ-विचरते हैं। च णं-प्राग्वत्।

**मूलार्थ—**वे भगवान अर्हत्, जिन, केवली, सर्वज्ञ, सर्वभावदर्शी, देव, मनुष्य और असुरकुमार तथा लोक के सभी पर्यायों को जानते हैं, जैसे कि— जीवों की आगति, गति, स्थिति, च्यवन, उत्पाद तथा उनके द्वारा खाए पीए-गए पदार्थों एवं उनके द्वारा सेवित प्रकट एवं गुप्त सभी क्रियाओं को तथा अन्तर रहस्यों को एवं मानसिक चिन्तन को प्रत्यक्ष रूप से जानते-देखते हैं। वे सम्पूर्ण लोक में स्थित सर्व जीवों के सर्व भावों को तथा समस्त पुद्गलों-परमाणुओं को जानते देखते हुए विचरते हैं।

**हिन्दी विवेचन—** इसमें बताया गया है कि भगवान समस्त लोकालोक को तथा लोक में स्थित समस्त जीवों को, उनकी पर्यायों को, संसारी जीवों के प्रत्येक प्रकट एवं गुप्त कार्यों तथा विचारों को तथा अनन्त-अनन्त परमाणुओं एवं उन से निर्मित पुद्गलों एवं उनकी पर्यायों को जानते-देखते हैं। उनके ज्ञान में दुनिया का कोई भी पदार्थ छिपा हुआ नहीं है। लोक के साथ-साथ अलोक में स्थित अनन्त आकाश प्रदेशों को भी वे जानते देखते हैं।

केवल ज्ञान एवं केवल दर्शन संपन्न आत्मा को अर्हन्त, जिन, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी आदि कहते हैं। केवल ज्ञान का अर्थ है— वह ज्ञान जो पदार्थों की जानकारी के लिए पूर्ववर्ती मति, श्रुत, अवधि एवं मनः पर्याय चारों ज्ञानों में से किसी की अपेक्षा नहीं रखता है। वह केवल अर्थात् अकेला ही रहता है, और किसी अन्य ज्ञान की सहायता के बिना ही समस्त पदार्थों के समस्त भावों को जानता-देखता है।

प्रस्तुत सूत्र में सर्वज्ञ और सर्वदर्शी शब्द का प्रयोग किया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि सर्वज्ञ को पहले समय में ज्ञान होता है और दूसरे समय दर्शन होता है। जब कि छद्मस्थ को प्रथम समय में दर्शन और द्वितीय समय ज्ञान होता है। इस पर जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में विस्तार से विचार किया गया है और वृत्तिकार ने उस पर विशेष रूप से प्रकाश डाला<sup>१</sup> है।

१ अतएव सर्वज्ञो-विशेषांश पुरस्कारेण सर्वज्ञाता, सर्वदर्शी-सामान्यांशपुरस्कारेण सर्वज्ञाता, नन्वर्हतां केवलज्ञानकेवलदर्शनावरणयोः क्षीणामोहान्त्यसमय एव क्षीणत्वेन युगयदुत्पत्तिकत्वेनोपयोगस्वभावात् क्रमप्रवृत्तौ च सिद्धायं 'सव्वन् सव्वदरिसी' इति सूत्रं यथा ज्ञानप्राथम्यसूचकमुपन्यस्तं तथा 'सव्वदरिसी सव्वन्' इत्येवं दर्शनप्राथम्यसूचकं किं न ? नूत्यन्यायत्वात्, नैवं, 'सव्वाओ लद्धीओ सागारोवउत्तस्स उव्वज्जंति, णो अणगारोवउत्तस्स'-(सर्वा लब्धयः साकारोपयुक्तस्योत्पद्यन्ते नानाकारोपयुक्तस्य) इत्यागमादुत्पत्तिक्रमेण सर्वदा जिनानां प्रथमे समये ज्ञानं ततो द्वितीये दर्शनं भवतीति ज्ञापनार्थत्वादित्थमुपन्यासस्येति, छद्मस्थानां प्रथमे समये दर्शनं द्वितीये ज्ञानमिति प्रसंगाद् बोध्यम्।

— जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, वृत्ति, द्वितीय वक्षस्कार।

भगवान् को केवल ज्ञान होने के बाद देवों ने उसका महोत्सव मनाया, उसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं-

**मूलम्—** जण्णं दिवसं समणस्स भगवओ महावीरस्स निव्वाणे कसिणे जाव समुप्पन्ने तण्णं दिवसं भवणवइवाणमंतरजोइसियविमाणवासिदेवेहिं य देवीहि य उवयंतेहिं जाव उप्पिंजलगभूए यावि होत्था ।

**छाया—** यद् दिवसं श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य निर्वाणः कृत्स्नः यावत् समुत्पन्नः तद् दिवसं भवनपतिवाणव्यन्तरज्योतिषिकविमानवासिदेवैश्च देवीभिश्च उत्पत्तद्भिः यावद् उत्पिंजलकभूतश्चापि अभवत् ।

**पदार्थ—** जण्णं दिवसं—जिस दिन । समणस्स—श्रमण । भगवओ—भगवान् । महावीरस्स—महावीर स्वामी को । निव्वाणे—निर्वाण—निर्मल । कसिणे—सम्पूर्ण । जाव—यावत् केवल ज्ञान—केवल दर्शन । समुप्पन्ने—उत्पन्न हुआ । तण्णं दिवसं—उसी दिन । भवणवइवाणमंतरजोइसियविमाणवासिदेवेहिं—भवनपति, वानव्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक देवों । य—और । देवीहि—देवियों से । य—पुनः । उवयंतेहिं—आकाश से देवों और देवियों के आने-जाने से । जाव—यावत् । उप्पिंजलगभूए यावि होत्था—आकाश में उद्योत और देवों से आकाश आकीर्ण हो गया था ।

**मूलार्थ—**जिस दिन श्रमण भगवान् महावीर स्वामी को केवल ज्ञान और केवल दर्शन उत्पन्न हुआ उसी दिन भवनपति, वाण व्यन्तर-ज्योतिषी और वैमानिक देवों के आने से आकाश आकीर्ण हो रहा था और वहाँ का सारा आकाश प्रदेश जगमगा रहा था ।

**हिन्दी विवेचन—**प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि जब भगवान् को केवल ज्ञान, केवल दर्शन हुआ तो उनके द्वारा होने वाले अनन्त उपकार का स्मरण करके तथा उस पूर्ण आत्मा के चरणों में अपनी श्रद्धा अर्पण करने के लिए भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक देव वहाँ आए और उन्होंने कैवल्य महोत्सव मनाया ।

अब भगवान् द्वारा दी गई धर्मदेशना (उपदेश) का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं-

**मूलम्—** तओ णं समणे भगवं महावीरे उप्पन्नवरणाणदंसणधरे अप्पाणं च लोगं च अभिसमिक्ख पुव्वं देवाणं धम्ममाइक्खइ, तओ पच्छा मणुस्साणं ।

**छाया—** ततः श्रमणो भगवान् महावीरः उत्पन्नवरज्ञानदर्शनधरः आत्मानं च लोकं च अभिसमीक्ष्य पूर्वं देवानां धर्ममाख्याति ततः पश्चात् मनुष्याणाम् ।

**पदार्थ—** णं—वाक्यालंकार में है । तओ—तदनन्तर । उप्पन्नवरणाणदंसणधरे—उत्पन्न प्रधान ज्ञान दर्शन के धारक । समणे—श्रमण । भगवं—भगवान् । महावीरे—महावीर ने । अप्पाणं च—अपनी आत्मा को और । लोगं च—लोक को । अभिसमिक्ख—केवल ज्ञान द्वारा जान कर । पुव्वं देवाणं—पहले देवों को । तओ पच्छा—तदनन्तर । मणुस्साणं—मनुष्यों को । धम्ममाइक्खइ—धर्म का उपदेश दिया ।

**मूलार्थ**—तदनन्तर उत्पन्न प्रधान ज्ञान और दर्शन के धारक श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने केवल ज्ञान द्वारा अपनी आत्मा तथा लोक को भली-भांति देखकर पहले देवों को और पश्चात् मनुष्यों को धर्म का उपदेश दिया।

**हिन्दी विवेचन**— प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि भगवान् ने अपनी सेवा में उपस्थित चारों जाति के देवों को धर्मोपदेश दिया। उसके बाद उन्होंने जनता (मनुष्यों) को धर्मोपदेश दिया। इससे दो बातें स्पष्ट होती हैं, एक तो यह कि महापुरुष अपने पास आने वाले देव, मानव आदि प्रत्येक व्यक्ति को धर्मोपदेश देकर सन्मार्ग बताते हैं, उन्हें समस्त बन्धनों से मुक्त होने की राह बताते हैं। दूसरी बात यह है कि तीर्थंकर पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के बाद ही उपदेश देते हैं। वे जब संपूर्ण पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को जानने-देखने लगते हैं, तभी वे प्रवचन करते हैं। जिससे उनके प्रवचन में विरोध एवं विपरीतता को अवकाश नहीं रहता और उसमें यथार्थता होने के कारण जनता के हृदय पर भी उसका असर होता है।

स्थानांग सूत्र में बताया गया है कि भगवान् के प्रथम प्रवचन में केवल देव ही उपस्थित थे, उस समय कोई मानव वहां उपस्थित नहीं था। और देव त्याग, व्रत, नियम आदि को स्वीकार नहीं कर सकते। इस कारण भगवान् का प्रथम प्रवचन व्रत स्वीकार करने की (आचार की) अपेक्षा से असफल रहा था। इसलिए इस घटना को आगम में अन्य आश्चर्यकारी घटनाओं के साथ आश्चर्य जनक माना गया है<sup>१</sup>।

अब मानव को दिए गए धर्मोपदेश के सम्बन्ध में सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्**— तओ णं समणे भगवं महावीरे उप्पन्ननाणदंसणधरे गोयमाईणं समणाणं पंच महव्वयाइं सभावणाइं छज्जीवनिकाया आतिक्खति भासइं परूवेइ, तं०-पुढविकाए जाव तसकाए।

**छाया**— ततः श्रमणो भगवान् महावीरः उत्पन्नज्ञानदर्शनधरः गौतमादीनां श्रमणानां पंचमहाव्रतानि सभावनानि षड्जीवनिकायान् आख्याति भाषते प्ररूपयति तद्यथा पृथिवीकायः यावत् त्रसकायः।

**पदार्थ**— णं—वाक्यालंकारार्थक है। तओ—तदनन्तर। उप्पन्ननाणदंसणधरे—उत्पन्न हुए प्रधान ज्ञान और दर्शन को धरने वाले। समणे—श्रमण। भगवं—भगवान्। महावीरे—महावीर ने। गोयमाईणं—गौतमादि। समणाणं—श्रमणों को। सभावणाइं—भावनाओं से युक्त। पंचमहव्वयाइं—पांच महाव्रत और। छज्जीवनिकाया—षट् जीव निकाय का। आतिक्खति—सामान्य रूप से उपदेश दिया। भासइं—भगवान् ने अर्द्धमागधी भाषा में भाषण किया। परूवेइं—विस्तार से तत्वों का प्रतिपादन किया। तंजहा—जैसे कि। पुढवीकाए—पृथिवीकाय। जाव—यावत्। तसकाए—त्रसकाय।

**मूलार्थ**—तत् पश्चात् केवल ज्ञान और दर्शन के धारक श्रमण भगवान महावीर ने गौतमादि श्रमणों को भावना सहित पांच महाव्रतों और पृथ्वी आदि षट् जीव निकाय स्वरूप का सामान्य प्रकार से तथा विशेष प्रकार से अर्द्धमागधी भाषा में प्रतिपादन किया।

**हिन्दी विवेचन**— प्रस्तुत सूत्र में भगवान द्वारा दिए गए उपदेश का वर्णन किया गया है। इसमें बताया गया है कि देवों को उपदेश देने के बाद भगवान ने गौतम आदि गणधरों, साधु-साध्वियों एवं श्रावक-श्राविकाओं के सामने ५ महाव्रत एवं उसकी २५ भावनाओं तथा षट्जीवनिकाय आदि का उपदेश दिया। इससे यह स्पष्ट होता है कि भगवान को सर्वज्ञता प्राप्त होने के बाद इन्द्रभूति गौतम आदि विद्वान उनके पास आए और विचार-चर्चा करने के बाद भगवान के शिष्य बन गए। अतः उन्हें एवं अन्य जिज्ञासु मनुष्यों को मोक्ष का यथार्थ मार्ग बताने के लिए संयम साधना के स्वरूप को बताना आवश्यक था। जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में भगवान ऋषभदेव के सम्बन्ध में कहा गया है कि भगवान ऋषभदेव कहते हैं कि जैसे यह संयम साधना या मोक्ष मार्ग मेरे लिए हितप्रद, सुखप्रद, एवं सर्व दुखों का नाशक है, उसी तरह जगत के समस्त प्राणियों के लिए भी अनन्त सुख-शान्ति का द्वार खोलने वाला है<sup>१</sup>। अतः सभी तीर्थंकर जगत के सभी प्राणियों की रक्षा रूप दया के लिए उपदेश देते हैं<sup>२</sup>। उनका यही उद्देश्य रहता है सभी प्राणी साधना के यथार्थ स्वरूप को समझकर उस पर चलने का प्रयत्न करें।

इसी दृष्टि से भगवान महावीर गौतम आदि सभी साधु-साध्वियों एवं अन्य मनुष्यों के सामने उपदेश देते हैं और साधना के प्रशस्त पथ का-जिस पर चलकर आत्मा अनन्त शान्ति को पा सके, प्रसार एवं प्रचार करने के लिए चार तीर्थ-साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका की स्थापना करते हैं। प्रत्येक तीर्थंकर सर्वज्ञ बनने के बाद तीर्थ की स्थापना करते हैं, इसे संघ भी कहते हैं। जिसके द्वारा विश्व में धर्म का, अहिंस का और शान्ति का प्रचार किया जा सके।

इस तरह साधना के मार्ग का यथार्थ रूप बताते हुए भगवान महावीर प्रथम महाव्रत के सम्बन्ध में कहते हैं—

१ तस्स णं भगवंतस्स एतेणं विहारेणं विहारमाणस्स एगे वाससहस्से बीड्ढकंते समणे पुरिमतालस्स नगरस्स बहिया सगडमुहंसि उजाणंसि णिगोहवरपायवस्स अहे ज्झाणंतरियाए बट्टमाणस्स फग्गुणबहुलस्स इक्कारसीए पुव्वण्हकालसमयंसि अट्ठमेणं भत्तेणं अपाणएणं उत्तरासाढानक्खत्तेणं जोगमुवागएणं अणुत्तरेणं नाणेणं जाव चरित्तेणं अणुत्तरेणं तवेणं बलेणं वीरिएणं आलएणं विहारेणं भावणाए खंतीए मुत्तीए गुत्तीए तुट्ठीए अज्जवेणं महवेणं लाघवेणं सुचरिअसेवचिअफलनिव्वाणमगेणं अप्पाणं भावेमाणस्स अणंते अणुत्तरे णिव्वाधाए णिरावरणे कसिणे पडिपुण्णे केवलवरनाणदंसणे समुपपन्ने, जिणे जाए केवली सख्खन्नु सख्खदरिसी सणेरइअतिरिअनरामरस्स लोगस्स पज्जवे जाणइ पासइ तंजहा-आगइं गइं ठिइं उववायं भूतं कडं पडिसेवियं आवीकम्मं रहोकम्मं तं तं कालं मणवयकाये जोगे एवमादी जीवाणवि सख्खभावे अजीवाणवि सख्खभावे मोक्खमग्गस्स विसुद्धतराए भावे जाणमाणे पासमाणे एस खलु मोक्खमगे मम अण्णेसिं च जीवाणं हियसुहणिस्सेसकरे सख्खदुक्खविमोक्खणे परमसुहसमाणे भविस्सइ। तते णं से भगवं समणाण निगंक्षाण य णिगंशीण य पंच महव्वयाइं सभाबणाइं छज्जीवनिकाए धम्मं देसमाणो विहरति, तंजहा पुढविकाइए भावणागमेणं पंच महव्वयाइं सभावणागाइं भाणिअव्वाइंति।

— जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति सूत्र

२ सख्खजगजीवरक्खणदयट्टयाए भगवया पावयणं सुकहियं।

— प्रश्नव्याकरण सूत्र, संवरद्वार।



मूलम्— पढमं भन्ते ! महव्वयं पच्चक्खामि सव्वं पाणाइवायं से सुहुमं वा बायरं वा तसं वा थावरं वा नेव सयं पाणाइवायं करिज्जा ३ जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणसा वयसा कायसा तस्स भन्ते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि ।

छाया— प्रथमं भदन्त ! महाव्रतं प्रत्याख्यामि सर्वं प्राणातिपातं तत् सूक्ष्मं वा बादरं वा त्रसं वा स्थावरं वा नैव स्वयं प्राणातिपातं कुर्यात्-करोमि ३ यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन मनसा वचसा कायेन तस्य भदन्त ! प्रतिक्रमामि निन्दामि गर्हे आत्मानं व्युत्सृजामि ।

पदार्थ— भन्ते-हे भगवन् । पढमं-मैं प्रथम । महव्वयं-महाव्रत को । पच्चक्खामि-ज्ञ प्रज्ञा से प्राणातिपात को अनिष्ट जानकर प्रत्याख्यान प्रज्ञा से उस का प्रत्याख्यान करता हूँ । सव्वं-सर्व प्रकार के । पाणाइवायं-प्राणातिपात का त्याग करता हूँ । से-वह । सुहुमं वा-सूक्ष्म जीव अथवा । बायरं वा-बादर-स्थूल जीव । तसं वा-त्रस या । थावरं वा-स्थावर जीव । वा-समुच्चयार्थ में है । एवं-निश्चय ही । सयं-स्वयं-अपने आप । पाणाइवायं-प्राणातिपात-प्राणियों का वध । न करिज्जा ३-नहीं करूंगा, न अन्य से वध कराऊंगा । वध करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करूंगा । जावज्जीवाए-जीवन पर्यन्त । तिविहं-तीन करण । तिविहेणं-तीन योग जैसे कि । मणसा-मन से । वयसा-वचन से । कायसा-काया से । भन्ते-हे भगवन् ! तस्स-उस पाप से । पडिक्कमामि-निवृत्ति करता हूँ । पीछे हटता हूँ । निंदामि-आत्मा की साक्षी से उसकी निन्दा करता हूँ । गरिहामि-गुरु की साक्षी से गर्हणा करता हूँ । अप्पाणं-अपनी आत्मा को पाप से । वोसिरामि-पृथक् करता हूँ ।

मूलार्थ—हे भगवन् मैं प्रथम महाव्रत में प्राणातिपात से सर्वथा निवृत्त होता हूँ, मैं सूक्ष्म, बादर, त्रस-स्थावर समस्त जीवों का न तो स्वयं प्राणातिपात-हनन-करूंगा, न दूसरों से कराऊंगा और न उनका हनन करने वालों की अनुमोदना करूंगा । हे भगवन् ! मैं यावज्जीव अर्थात् जीवन पर्यन्त के लिए तीन करण और तीन योग से-मन से, वचन से और काया से इस पाप से प्रतिक्रमण करता हूँ, पीछे हटता हूँ, आत्म साक्षी से इस पाप की निन्दा करता हूँ और गुरु साक्षी से गर्हणा करता हूँ । तथा अपनी आत्मा को हिंसा के पाप से पृथक् करता हूँ ।

हिन्दी विवेचन— प्रस्तुत सूत्र में प्रथम महाव्रत का वर्णन किया गया है । इस महाव्रत को स्वीकार करते समय साधक गुरु के सामने हिंसा से सर्वथा निवृत्त होने की प्रतिज्ञा करता है । वह जीवन पर्यन्त के लिए सूक्ष्म या बादर (स्थूल), त्रस या स्थावर किसी भी प्राणी की मन, वचन और काया से किसी भी तरह की हिंसा नहीं करता, न अन्य प्राणी से हिंसा करवाता है और न हिंसा करने वाले प्राणी का अनुमोदन-समर्थन ही करता है ।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'प्राणातिपात' का अर्थ है, प्राणों का नाश करना । क्योंकि, प्रत्येक प्राणी में स्थित आत्मा का अस्तित्व सदा काल बना रहता है । अतः प्राणी की हिंसा का अर्थ है, उसके प्राणों का नाश कर देना । और प्राणों की अपेक्षा से ही संसारी जीव को प्राणी कहा जाता है । क्योंकि, वह प्राणों को

धारण किए हुए है।

महाव्रतों का निर्दोष परिपालन करने के लिए उनकी भावनाओं का आचरण करना आवश्यक है। इसलिए प्रथम महाव्रत की भावनाओं का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्—** तस्मिमाओ पंच भावणाओ भवन्ति, तत्स्थिमा पढमा भावणा इरियासमि ए से निग्गंथे नो अणइरियासमि एत्ति, केवली बूया० अणइरियासमि ए से निग्गंथे पाणाइं भूयाइं जीवाइं सत्ताइं अभिहणिज्ज वा वत्तिज्ज वा परियाविज्ज वा लेसिज्ज वा उह्विज्ज वा, इरियासमि ए से निग्गंथे नो अणइरियासमि इत्ति पढमा भावणा ॥१॥

**छाया—** तस्य इमाः पञ्च भावना भवन्ति, तत्र इयं प्रथमा भावना-ईर्यासमितः स निर्ग्रन्थः नो अनीर्यासमितः इति केवली बूयात् आदानमेतत् अनीर्यासमितः सः निर्ग्रन्थः प्राणिनः भूतानि, जीवान् सत्त्वानि अभिहन्याद् वा वर्तयेद् वा परितापयेत् वा श्लेषयेत् वा अपद्रापयेद् वा, ईर्यासमितः सः निर्ग्रन्थः नो अनीर्यासमितः इति प्रथमा भावना।

**पदार्थ—** तस्स-उस प्रथम महाव्रत की। इमा-ये-आगे कही जाने वाली। पंच-पांच। भावणाओ-भावनाएं। भवन्ति-होती हैं। तत्स्थिमा-उन पांचों में से यह-जो कि आगे। कही जाती हैं। पढमा-प्रथम। भावणा-भावना है। इरियासमि ए-ईर्यासमिति से युक्त। से-वह। निग्गंथे-निर्ग्रन्थ। नो अणइरियासमि एत्ति-ईर्यासमिति से रहित साधु नहीं कहा जाता, इस प्रकार से। केवली बूया०-केवली भगवान कहते हैं और यह कर्म आने का कारण है क्योंकि। अणइरियासमि ए-ईर्यासमिति से रहित। से निग्गंथे-वह निर्ग्रन्थ-साधु। पाणाइं-प्राणियों को। भूयाइं-भूतों को। जीवाइं-जीवों को। सत्ताइं-सत्त्वों को। अभिहणिज्ज वा-अभिहनन करता है। वत्तिज्ज वा-एकत्रित करता है तथा। परियाविज्ज वा-परितापना देता है। लेसिज्ज वा-भूमि से संश्लिष्ट करता है। उह्विज्ज वा-जीवन से रहित करता है, अतः वह निर्ग्रन्थ नहीं, परन्तु। इरियासमि ए-ईर्यासमिति से युक्त साधु। से निग्गंथे-वह निर्ग्रन्थ होता है अर्थात् वह किसी जीव की हिंसा नहीं करता है। नो अणइरियासमि इत्ति-वह ईर्यासमिति से रहित नहीं होता है इस प्रकार। पढमा भावणा-यह प्रथम भावना है।

**मूलार्थ—**प्रथम महाव्रत की ५ भावनाएं होती हैं। उनमें से पहली भावना यह है— निर्ग्रन्थ ईर्यासमिति से युक्त होता है, न कि उससे रहित। भगवान कहते हैं कि ईर्यासमिति का अभाव कर्म आने का द्वार है। क्योंकि इससे रहित निर्ग्रन्थ प्राणी, भूत, जीव और सत्व की हिंसा करता है उन्हें एक स्थान से स्थानान्तर में रखता है, परिताप देता है, भूमि से संश्लिष्ट करता है और जीवन से रहित करता है। इसलिए निर्ग्रन्थ को ईर्यासमिति युक्त होकर संयम का आराधन करना चाहिए, यह प्रथम भावना है।

**हिन्दी विवेचन—** प्रस्तुत सूत्र में पहले महाव्रत की प्रथम भावना का उल्लेख किया गया है। भावना साधु की साधना को शुद्ध रखने के लिए होती है। प्रथम महाव्रत की प्रथम भावना ईर्यासमिति से

संबद्ध है। इस में बताया गया है कि साधु को विवेक एवं यतना पूर्वक चलना चाहिए। यदि वह विवेक पूर्वक ईर्या समिति का पालन करते हुए चलता है, तो पाप कर्म का बन्ध नहीं करता है<sup>१</sup>। और इसके अभाव में यदि अविवेक से गति करता है तो पाप कर्म का बन्ध करता है। अतः साधक को ईर्यासमिति के परिपालन में सदा सावधान रहना चाहिए। इससे वह प्रथम महाव्रत का सम्यक्तया परिपालन कर सकता है। ईर्या समिति गति से संबद्ध है<sup>२</sup>। अतः चलने-फिरने में विवेक एवं यत्ना रखना साधु के लिए आवश्यक है।

अब सूत्रकार द्वितीय भावना के सम्बन्ध में कहते हैं-

**मूलम्— अहावरा दुच्या भावणा—मणं परियाणइ से निगंथे, जे य मणे पावए सावज्जे सकिरिए अण्हयकरे छेयकरे भेयकरे अहिगरणिए पाउसिए पारियाविए पाणाइवाइए भूओवघाइए, तहप्पगारं मणं नो पधारिज्जा गमणाए, मणं परियाणइ से निगंथे, जे य मणे अपावएत्ति दुच्या भावणा ॥२॥**

छाया— अथापरा द्वितीया भावना मनः परिजानाति सः निर्ग्रन्थः यच्च मनः पापकं सावद्यं सक्रियं आश्रवकरं छेदकरं भेदकरं आधिकरणिकं प्राद्वेषिकं पारितापिकं प्राणातिपातकं भूतोपघातिकं तथाप्रकारं मनः नो प्रधारयेत् गमनाय मनः परिजानाति सः निर्ग्रन्थः यच्च मनः अपापकम् इति द्वितीया भावना।

**पदार्थ—**अहावरा-अब इससे भिन्न। दुच्या भावणा-दूसरी भावना को कहते हैं। मणं परियाणइ-जो पाप मयी विचारणा से मन को हटाए। से निगंथे-वह निर्ग्रन्थ है। य-पुनः। जे-जो। मणे-मन। पावए-पापयुक्त। सावज्जे-सावद्य-पापरूप। सकिरिए-क्रियायुक्त। अण्हयकरे-आश्रव के करने वाला। छेयकरे-प्राणियों के छेदन करने वाला। भेयकरे-भेदन करने वाला। अहिगरणिए-कलह करने वाला। पाउसिए-द्वेष करने वाला। परियाविए-परिताप का देने वाला। पाणाइवाइए-प्राणातिपात के करने वाला। भूओवघाइए-भूतों का उपघात करने वाला है तो साधु। तहप्पगारं-तथाप्रकार के। मणं-मन को। नो पधारिज्जा-धारण न करे। मणं परिजाणइ-जो मन को हिंसा से हटाता है। य-पुनः। जे-जिसका। मणे-मन। अपावएत्ति-पाप से रहित है। से निगंथे-वह निर्ग्रन्थ है। दुच्या भावणा-यह दूसरी भावना है।

**मूलार्थ—**अब दूसरी भावना को कहते हैं-जो मन को पापों से हटाता है वह निर्ग्रन्थ है। साधु ऐसे मन (विचारों) को धारण न करे, पापकारी, सावद्यकारी, क्रिया युक्त, आश्रव करने वाला, छेदन तथा भेदन करने वाला, कलहकारी, द्वेषकारी, परितापकारी, प्राणों का अतिपात

१ जयं चरे जयं चिद्धे, जयमासे जयं सए। जयं भुञ्जन्तो भासन्तो पावकम्मं न बंधइ ॥

— दशवैकालिक सूत्र, ४, ८।

२ ईरणां-गमनं ईर्यां तस्यां समितो-दत्तावधानः पुरतो-  
युगमात्रभूभागन्यस्तदृष्टिगामीत्यर्थः ॥

— आचारांग वृत्ति।

करने-वाला और जीवों का उपघातक है। जो अपने मन को पाप से हटाता है वह निर्ग्रन्थ है, यह दूसरी भावना है।

**हिन्दी विवेचन**— प्रस्तुत सूत्र में मन शुद्धि का वर्णन किया गया है। पहले महाव्रत को निर्दोष एवं शुद्ध बनाए रखने के लिए मन को शुद्ध रखना आवश्यक है। मन के बुरे संकल्प-विकल्पों से हिंसा को प्रोत्साहन मिलता है और उसके कारण साधु की प्रवृत्ति में अनेक दोष उत्पन्न होते हैं। क्योंकि कर्म बन्ध का मुख्य आधार मन (परिणाम) है, क्रिया से कर्म वर्गणा के पुद्गल आते हैं, परन्तु उनका बन्ध परिणामों की शुद्धता एवं अशुद्धता या तीव्रता एवं मन्दता पर आधारित है<sup>१</sup>। अन्य दार्शनिकों एवं विचारकों ने भी मन को बन्धन एवं मुक्ति का कारण माना है<sup>२</sup>। बुरे मन से आत्मा पाप कर्मों का संग्रह करके संसार में परिभ्रमण करता है और शुभ संकल्प एवं मानसिक चिन्तन मनन से अशुभ कर्म बन्धनों को तोड़ कर आत्मा मुक्ति की ओर बढ़ता है। अस्तु, साधक को सदा मानसिक संकल्प एवं चिन्तन को शुद्ध बनाए रखना चाहिए। क्योंकि, वाचिक एवं कायिक प्रवृत्ति को विशुद्ध बनाए रखने के लिए मन के चिन्तन को विशेष शुद्ध बनाए रखना आवश्यक है। मानसिक चिन्तन जितना अधिक शुद्ध होगा, प्रवृत्ति उतनी ही अधिक निर्दोष होगी।

अतः मानसिक चिन्तन की शुद्धता के बाद वचन शुद्धि का उल्लेख करते हुए सूत्रकार तीसरी भावना के सम्बन्ध में कहते हैं—

**मूलम्— अहावरा तच्चा भावणा-वइं परिजाणइ से निग्गंथे जा य वई पाविया सावजा सकिरिया जाव भूओवघाइया तहप्पगारं वइं नो उच्चारिजा, जे वइं परिजाणइ से निग्गंथे, जा य वई अपावियति तच्चा भावणा ॥३ ॥**

**छाया**— अथापरा तृतीया भावना वाचं परिजानाति सः निर्ग्रन्थः या च वाक् पापिका सावद्या सक्रिया यावत् भूतोपघातिका तथाप्रकारां वाचं नो उच्चारयेत् यो वाचं परिजानाति स निर्ग्रन्थः या च वाक् अपापिकेति तृतीया भावना।

**पदार्थ**— अहावरा-अब दूसरी के बाद। तच्चा-तीसरी। भावणा-भावना को कहते हैं। वइं परिजाणइ-पापमय वचन को जो छोड़ता है। से निग्गंथे-वह निर्ग्रन्थ है। जा य-और जो। वई-वाणी। पाविया-पाप युक्त है। सावजा-सावद्य है। सकिरिया-क्रिया युक्त। जाव-यावत्। भूओवघाइया-भूतों-जीवों का उपघात करने वाली है। तहप्पगारं-तथाप्रकार की। वइं-वाणी-वचन का। नो उच्चारिजा-उच्चारण न करे। जे-जो। वइं परिजाणइ-सदोष वाणी वचन को 'ज्ञ' प्रज्ञा से जान कर और 'प्रत्याख्यान' प्रज्ञा से त्याग करता है। से निग्गंथे-वह निर्ग्रन्थ है। जाव-यावत्। वई-साधु की वाणी। अपावियति-पाप से रहित हो इस प्रकार यह। तच्चा भावणा-तीसरी भावना है।

१ परिणामे बन्धो।

२ मन एव कारणं बन्ध-भोक्षयोः।

**मूलार्थ**—अब तीसरी भावना का स्वरूप कहते हैं—जो साधक सदोष वाणी-वचन को छोड़ता है, वह निर्ग्रन्थ है। जो वचन पापमय, सावद्य और सक्रिय यावत् भूतों-जीवों का उपघातक, विनाशक हो, साधु उस वचन का उच्चारण न करे। जो वाणी के दोषों को जानकर उन्हें छोड़ता है और पाप रहित निर्दोष वचन का उच्चारण करता है उसे निर्ग्रन्थ कहते हैं। यह तीसरी भावना है।

**हिन्दी विवेचन**—प्रस्तुत सूत्र में वाणी की निर्दोषता का वर्णन किया गया है। इसमें स्पष्ट कर दिया गया है कि सावद्य, सदोष एवं पापकारी भाषा का प्रयोग करने वाला व्यक्ति निर्ग्रन्थ नहीं हो सकता। क्योंकि सदोष एवं पापयुक्त भाषा से जीव हिंसा को प्रोत्साहन मिलता है। अतः साधु को अपने वचन का प्रयोग करते समय भाषा की निर्दोषता पर पूरा ध्यान रखना चाहिए। उसे कर्कश, कठोर, व्यक्ति-व्यक्ति में छेद-भेद एवं फूट डालने वाले, हास्यकारी, निश्चयकारी, अन्य प्राणियों के मन में कष्ट, वेदना एवं पीड़ा देने वाली, सावद्य एवं पापमय भाषा का कभी प्रयोग नहीं करना चाहिए। प्रथम महाव्रत की शुद्धि के लिए भाषा की शुद्धता एवं निर्दोषता का परिपालन करना आवश्यक है।

अब चौथी भावना का विश्लेषण करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्**— अहावरा चउत्था भावणा-आयाणभंडमत्तनिक्खेवणासमिए से निग्गंथे, नो आणायाणभंडमत्तनिक्खेवणासमिए, केवली बूया-आयाणभंडमत्तनिक्खेवणाअसमिए से निग्गंथे, पाणाइं भूयाइं जीवाइं सत्ताइं अभिहणिज्ज वा जाव उद्दविज्ज वा, तम्हा आयाणभंडमत्तनिक्खेवणासमिए से निग्गंथे नो आयाणभंडमत्तनिक्खेवणाअसमिएत्ति चउत्था भावणा ।४।

**छाया**— अथापरा चतुर्थी भावना-आदानभाण्डमात्रनिक्षेपणासमितः स निर्ग्रन्थः नो अनादानभांडमात्रनिक्षेपणाऽसमितः केवली बूयात् आदानमेतत् आदानभांडमात्र-निक्षेपणाअसमितः स निर्ग्रन्थः प्राणिनः भूतानि, जीवान् सत्त्वानि अभिहन्याद् वा यावत् अपद्रापयेद् वा तस्मात् आदानभांडमात्रनिक्षेपणासमितः स निर्ग्रन्थः नो आदानभाण्डमात्र-निक्षेपणाअसमितः इति चतुर्थी भावना ।

**पदार्थ**— अहावरा-तीसरी भावना से आगे अब चउत्था भावणा-चौथी भावना को कहते हैं यथा। आयाणभंडमत्तनिक्खेवणा समिए-भण्डोपकरण समिति से युक्त है अर्थात् यतना पूर्वक वस्त्र-पात्रादि उपकरणों को ग्रहण करता है तथा यतना पूर्वक उन्हें उठाता एवं रखता है। से निग्गंथे-वह निर्ग्रन्थ है। नो आणायाणभंडमत्तनिक्खेवणाअसमिए-साधु आदान भाण्डमात्र निक्षेपण असमिति वाला न हो क्योंकि। केवली-केवली भगवान। बूया-कहते हैं कि यह कर्म बन्धन का कारण है अतः जो साधु। आयाणभंडमत्तनिक्खेवणाअसमिए-भाण्डोपकरण लेता हुआ और रखता हुआ समिति से रहित होता है। से निग्गंथे-वह साधु। पाणाइं-प्राणी। भूयाइं-भूत। जीवाइं-जीव और। सत्ताइं-सत्त्वों को। अभिहणिज्ज वा-अभिहनन करता है। जाव-यावत्। उद्दविज्ज वा-प्राणों से पृथक करता है। तम्हा-इस लिए।

आयाणभंडमत्तनिकखेवणासमिए-जो आदान भाण्डमात्र निक्षेपणा समिति से युक्त है। से निगंग्थे-वह निर्ग्रन्थ साधु है। नो आयाणभंडमत्तनिकखेवणाअसमिएत्ति-अतः साधु आदान भाण्ड मात्र निक्षेपणा असमिति से युक्त न हो अर्थात् समिति से युक्त हो यह। चउत्थी भावणा-चौथी भावना कही गई है।

**मूलार्थ**—अब चतुर्थ भावना को कहते हैं-जो आदान भाण्डमात्र निक्षेपणा समिति से युक्त होता है वह निर्ग्रन्थ है। अतः साधु आदान भाण्डमात्र निक्षेपणा समिति से रहित न हो, क्योंकि केवली भगवान कहते हैं कि जो इससे रहित होता है, वह निर्ग्रन्थ प्राणी, भूत, जीव, और सत्वों का हिंसक होता है यावत् उनको प्राणों से रहित करने वाला होता है। अतः जो साधु इस समिति से युक्त है वह निर्ग्रन्थ है। यह चौथी भावना है।

**हिन्दी विवेचन**—प्रस्तुत सूत्र में शारीरिक क्रिया की शुद्धि का उल्लेख किया गया है। साधु को मन, वचन की शुद्धि के साथ शारीरिक प्रवृत्ति को भी सदा शुद्ध रखना चाहिए। उसे अपनी साधना में आवश्यक भंडोपकरण आदि ग्रहण करना पड़े या कहीं रखने एवं उठाने की आवश्यकता पड़े तो उसे यह कार्य विवेक एवं यतना पूर्वक करना चाहिए। अयतना से कार्य करने वाला साधु प्रथम महाव्रत को शुद्ध नहीं रख सकता और वह पाप कर्म का बन्ध करता है। क्योंकि अविवेक से जीवों की हिंसा का होना संभव है और जीव हिंसा पाप बन्धन का कारण है तथा इससे प्रथम महाव्रत का भी खंडन होता है। अतः साधु को प्रत्येक उपकरण विवेक से उठाना एवं रखना चाहिए।

अब पांचवी भावना का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं-

**मूलम्**—अहावरा पंचमा भावणा—आलोइयपाणभोयणभोई से निगंग्थे नो अणालोइयपाणभोयणभोई, केवली बूया०-अणालोइयपाणभोयणभोई से निगंग्थे पाणाणि वा ४ अभिहणिज्ज वा जाव उद्दविज्ज वा, तम्हा आलोइयपाणभोयणभोई से निगंग्थे, नो अणालोइयपाणभोयणभोईति पंचमा भावणा ॥५ ॥

**छाया**—अथापरा पंचमी भावना आलोकितपानभोजनभोजी सः निर्ग्रन्थः नो अनालोकितपानभोजनभोजी, केवली बूयात् आदानमेतत् अनालोकितपानभोजनभोजी स निर्ग्रन्थः प्राणिनः वा ४ अभिहन्याद् वा यावत् अपद्रापयेद् वा तस्मात् आलोकितपानभोजनभोजी सः निर्ग्रन्थः नो अनालोकितपानभोजनभोजी इति पंचमी भावना।

**पदार्थ**—अहावरा पंचमा भावणा-अब पांचवी भावना को कहते हैं। आलोइयपाणभोयणभोई-जो विवेक पूर्वक देखकर आहार-पानी करता है। से निगंग्थे-वह निर्ग्रन्थ है। नो अणालोइयपाणभोयणभोई-और बिना देखे आहार-पानी करने वाला निर्ग्रन्थ नहीं है क्योंकि। केवली बूया०-केवली भगवान कहते हैं कि यह कर्म बन्ध का हेतु है। अणालोइयपाणभोयणभोई-जो बिना देखे आहार-पानी करता है। से-वह। निगंग्थे-निर्ग्रन्थ। पाणाणि वा ४-प्राणि, भूत, जीव और सत्वों का। अभिहणिज्ज वा-अभिहनन करने। जाव-यावत्।

उद्द्विज्ज वा-प्राणों से रहित करने वाला होता है। तम्हा-इसलिए। आलोड्यपाणभोयणभोई-जो देखकर आहार-पानी करता है। से-वह। निग्गंथे-निर्ग्रन्थ है। नो अणालोड्यपाणभोयणभोईति-न कि बिना देखे आहार, पानी करने वाला, इस प्रकार। पंचमा भावणा-यह पांचवीं भावना है।

**मूलार्थ**—अब चौथी के बाद पांचवीं भावना को कहते हैं—जो विवेक पूर्वक देख कर आहार-पानी करता है वह निर्ग्रन्थ है और जो बिना देखे आहार-पानी करता है, वह निर्ग्रन्थ प्राणी आदि जीवों की हिंसा करता है, उन्हें प्राणों से पृथक् करता है। इसलिए देखकर आहार-पानी करने वाला ही निर्ग्रन्थ होता है। यह पांचवीं भावना है।

**हिन्दी विवेचन**—प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि साधु को बिना देखे खाने-पीने के पदार्थों का उपयोग नहीं करना चाहिए। आहार को जाने के पूर्व मुनि को अपने पात्र भी भली-भांति देख लेने चाहिए और उसके बाद प्रत्येक खाद्य एवं पेय पदार्थ सम्यक्तया देख कर ही ग्रहण करना चाहिए और उन्हें देख कर ही खाना-पीना चाहिए। बिना देखे पदार्थ लेने एवं खाने से जीवों की हिंसा होने एवं रोग आदि उत्पन्न होने की संभावना है। अतः साधु को इस में पूरा विवेक रखना चाहिए। ये पांचों भावनाएं प्रथम महाव्रत को शुद्ध एवं निर्दोष रखने के लिए आवश्यक हैं। इनके सम्यक् आराधन से साधक अपनी साधना में तेजस्विता ला सकता है।

प्रथम महाव्रत का उपसंहार करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्— एतावता महव्वए सम्मं काएण फासिए पालिए तीरिए किट्टिए अवट्टिए आणाए आराहिए यावि भवइ, पढमे भंते ! महव्वए पाणाइवायाओ वेरमणं ॥**

**छाया—** एतावता महाव्रतं सम्यक् कायेन स्पर्शितं पालितं तीर्णं कीर्तितम् अवस्थितं आज्ञया आराधितं चापि भवति, प्रथमे भदन्त ! महाव्रते प्राणातिपाताद् विरमणम् ।

**पदार्थ**—एतावता-इस प्रकार। महव्वए-प्रथम महाव्रत को। सम्मं-सम्यक्तया। कायेण-काया से। फासिए-स्पर्शित किया। पालिए-पालन किया। तीरिए-पार पहुंचाया। किट्टिए-कीर्तन किया। अवट्टिए-अवस्थित रखा जाता है और। आणाए-उसका आज्ञा पूर्वक। आराहिए-आराधन किया। यावि भवइ-जाता है। च, पुनः और अपि-समुच्चय अर्थ में जानना। भंते-हे भगवन्। पढमे महव्वए-मैं प्रथम महाव्रत में। पाणाइवायाओ-प्राणातिपात से। वेरमणं-निवृत्त होता हूं अर्थात् प्रथम महाव्रत प्राणातिपात विरमण रूप है।

**मूलार्थ**—साधक द्वारा स्वीकृत प्राणातिपात ( हिंसा ) के त्याग रूप प्रथम महाव्रत को इस प्रकार काया से स्पर्शित करके उसका पालन किया जाता है, उसे तीर पर पहुंचाया जाता है, उसका कीर्तन किया जाता है, उसे अवस्थित रखा जाता है और उसका आज्ञा के अनुरूप आराधन किया जाता है। इस प्रकार प्रथम महाव्रत में साधु प्राणातिपात से निवृत्त होता है।

**हिन्दी विवेचन**—प्रस्तुत सूत्र में यह अभिव्यक्त किया गया है कि प्रत्येक साधना को महत्त्व उसका परिपालन करने में है। प्रथम महाव्रत का सम्यक्तया आचरण करने से ही आत्मा का विकास हो

सकता है। जब तक वह जीवन में साकार रूप ग्रहण नहीं करता तब तक साधक की साधना में तेजस्विता नहीं आ सकती। इसलिए साधक को चाहिए कि वह आगम में दिए गए आदेश के अनुसार प्रथम महाव्रत को आचरण में उतारकर जीवन पर्यन्त उसका परिपालन करे, उसका सम्यक्तया आराधन करे।

अब द्वितीय महाव्रत का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्— अहावरं दुच्चं महव्वयं पच्चक्खामि, सव्वं मुसावायं वइदोसं, से कोहा वा लोहा वा भया वा हासा वा नेव सयं मुसं भासिज्जा, नेवन्नेणं मुसं भासाविज्जा, अन्नंपि मुसं भासंतं न समणुजाणिज्जा तिविहं तिविहेणं मणसा वयसा कायसा, तस्स भंते ! पडिक्कमामि जाव वोसिरामि ॥**

छाया— अथापरं द्वितीयं महाव्रतं प्रत्याख्यामि सर्वं मृषावादं वाग्दोषं सः क्रोधाद् वा लोभाद् वा भयाद् वा हासाद् वा नैव स्वयं मृषा भाषेत, नैवान्येन मृषां भाषयेत्, अन्यमपि मृषां भाषमाणं न समनुजानीयात् त्रिविधं त्रिविधेन मनसा वचसा कायेन तस्य भदन्त! प्रतिक्रमामि यावत् व्युत्सृजामि।

पदार्थ— अहावरं—अब अन्य। दुच्चं—दूसरे। महव्वयं—महाव्रत को कहते हैं। सव्वं मुसावायं—सर्व प्रकार के मृषावाद। वइदोसं—वाणी-वचन के दोषों का। पच्चक्खामि—प्रत्याख्यान करता हूँ अर्थात् ज प्रज्ञा से उन्हें जानकर प्रत्याख्यान प्रज्ञा से उनका प्रत्याख्यान करता हूँ—त्याग करता हूँ। से—वह साधु। कोहा वा—क्रोध से। लोहा वा—लोभ से। भया वा—भय से। हासा वा—हास्य से। एव—निश्चयार्थक है। सयं—स्वयं अपने आप। मुसं—मृषा-झूठ। न भासिज्जा—न बोले। अन्नेणं—दूसरों से। मुसं—मृषा-झूठ। न भासाविज्जा—न बुलावे तथा। मुसं—मृषा। भासंतं—भाषण करते हुए। अन्नंपि—अन्य व्यक्ति का। न समणुजाणिज्जा—अनुमोदन भी न करे। तिविहं—तीन करण और। तिविहेणं—तीन योग से। मणसा—मन से। वयसा—वचन से। कायसा—काया से। भंते—हे भगवन् मैं। तस्स—उस मृषा वाद रूपी पाप से। पडिक्कमामि—पीछे हटता हूँ। जाव—यावत् आत्म साक्षी से उसकी निन्दा और गुरुसाक्षी से गर्हणा करता हुआ। वोसिरामि—मृषावाद से अपने आत्मा को पृथक् करता हूँ।

मूलार्थ—इस द्वितीय महाव्रत में साधक यह प्रतिज्ञा करता है कि भगवन् ! मैं आज से मृषावाद और सद्दोष वचन का सर्वथा परित्याग करता हूँ। अतः साधु क्रोध से, लोभ से, भय से, और हास्य से न स्वयं झूठ बोलता है न अन्य व्यक्ति को असत्य बोलने की प्रेरणा देता है और न मृषा भाषण करने वालों का अनुमोदन करता है। इस तरह साधक तीन करण एवं तीन योग से मृषावाद का त्याग करके यह प्रतिज्ञा करता है कि हे भगवन् ! मैं मृषावाद से पीछे हटता हूँ, आत्म साक्षी से उसकी निन्दा करता हूँ और गुरु साक्षी से उसकी गर्हणा करता हूँ और अपनी आत्मा को मृषावाद से सर्वथा पृथक् करता हूँ।

हिन्दी विवेचन— प्रस्तुत सूत्र में दूसरे महाव्रत का वर्णन किया गया है। असत्य आत्मा के लिए पतन का कारण है। उससे आत्मा में अनेक दोष आते हैं और पाप कर्म का बन्ध होता है। इसलिए साधक



उसका सर्वथा त्याग करता है और उसके साथ उसके कारणों का भी त्याग करता है। इसमें बताया गया है कि व्यक्ति क्रोध, मान, माया और लोभ के वश होकर झूठ बोलता है। अतः साधक को इन कषायों का त्याग कर देना चाहिए। और यदि कर्मोदय से कभी कषाय का उदय हो रहा हो तो मौन ग्रहण करके पहले कषाय को उपशान्त करना चाहिए, उसके बाद भाषा का प्रयोग करना चाहिए।

इससे स्पष्ट होता है कि जो साधक असत्य भाषा का सर्वथा त्याग नहीं करता, वह निर्ग्रन्थ नहीं कहला सकता। वस्तुतः असत्य से पूर्णतः निवृत्त साधक ही निर्ग्रन्थ कहला सकता है।

उक्त महाव्रत की भावनाओं का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— तस्मिमाओ पंच भावणाओ भवंति । तत्स्थिमा पढमा भावणा-  
अणुवीडभासी से निगंथे, नो अणणुवीडभासी, केवली बूया०—अणणुवीडभासी  
से निगंथे समावडज्जा मोसं वयणाए, अणुवीडभासी से निगंथे नो  
अणणुवीडभासित्ति पढमा भावणा ॥१॥

अहावरा दुच्चा भावणा—कोहं परियाणइ से निगंथे, न य कोहणे  
सिया, केवली बूया—कोहपत्ते कोहत्तं समावडज्जा मोसं वयणाए, कोहं परियाणइ  
से निगंथे, न य कोहणे सियत्ति दुच्चा भावणा ॥२॥

अहावरा तच्चा भावणा—लोभं परियाणइ से निगंथे, नो अ लोभणाए  
सिया, केवली बूया०—लोभपत्ते लोभी समावडज्जा मोसं वयणाए, लोभं परियाणइ  
से निगंथे, नो य लोभणाए सियत्ति तच्चा भावणा ॥३॥

अहावरा चउत्था भावणा—भयं परिजाणइ से निगंथे, नो भयभीरुए  
सिया, केवली बूया०—भयपत्ते भीरू समावडज्जा मोसं वयणाए, भयं परिजाणइ  
से निगंथे, नो भयभीरुए सिया, चउत्था भावणा ॥४॥

अहावरा पंचमा भावणा—हासं परियाणइ से निगंथे, नो य हासणाए  
सिया, केव० हासपत्ते हासी समावडज्जा मोसं वयणाए, हासं परिजाणइ से  
निगंथे, नो हासणाए सियत्ति पंचमी भावणा ॥५॥

छाया— तस्येमाः पंच भावना भवन्ति—

तत्र इयं प्रथमा भावना—अनुविचिंत्यभाषी स निर्ग्रन्थः नो अननुविचिंत्य भाषी,  
केवली बूयात् आदानमेतत् अननुविचिंत्यभाषी स निर्ग्रन्थः समापद्येत मृषावचनं,  
अनुविचिंत्यभाषी स निर्ग्रन्थः नो अननुविचिंत्यभाषीति प्रथमा भावना।

अथापरा द्वितीया भावना—क्रोधं परिजानाति स निर्ग्रन्थः, न च क्रोधनः स्यात् ,

केवली ब्रूयात् आदानमेतत् , क्रोधप्राप्तः क्रोधत्वं समावदेत् मृषावचनं , क्रोधं परिजानाति स निर्ग्रन्थः , न च क्रोधनः स्यात् इति द्वितीया भावना ।

अथापरा तृतीया भावना-लोभं परिजानाति स निर्ग्रन्थः , न च लोभनः स्यात् , केवली ब्रूयात् आदानमेतत् , लोभप्राप्तः लोभी समावदेत् मृषावचनं , लोभं परिजानाति स निर्ग्रन्थः , न च लोभनः स्यात् इति तृतीया भावना ।

अथापरा चतुर्थी भावना-भयं परिजानाति सः निर्ग्रन्थः , नो भयभीरुकः स्यात् , केवली ब्रूयात् आदानमेतत् , भयप्राप्तः भीरुः समावदेत् मृषावचनम् , भयं परिजानाति सः निर्ग्रन्थः , नो भयभीरुकः स्यात् चतुर्थी भावना ।

अथापरा पंचमी भावना-हासं परिजानाति स निर्ग्रन्थः , न च हसनकः स्यात् , केवली ब्रूयात् आदानमेतत् , हासं प्राप्तः हासी समावदेत् मृषावचनं , हासं परिजानाति स निर्ग्रन्थः , नो हसनकः स्यादिति पंचमी भावना ।

पदार्थ- तस्स-उस द्वितीय महाव्रत को । इमा-ये आगे कही जाने वाली । पंच भावणाओ-पांच भावनाएं । भवन्ति-होती हैं । तत्थिमा-उन पांच भावनाओं में से यह । पढमा भावणा-पहली भावना है । अणुवीइभासी-जो विचार कर भाषण करता है । से निगंथे-वह निर्ग्रन्थ है । नो अणुणुवीइभासी-जो बिना विचारे भाषण करता है । केवली ब्रूया-केवली भगवान कहते हैं कि यह कर्म बन्धन का हेतु है । अणुणुवीइभासी-बिना विचार किए बोलने वाला । से-वह । निगंथे-निर्ग्रन्थ-साधु । मोसं-मृषावाद । वयणाए-वचन को । समावइज्ज-प्राप्त होता है , अतः । अणुवीइभासी-जो विचार पूर्वक बोलता है । से निगंथे-वह निर्ग्रन्थ है । नो अणुणुवीइभासिन्ति-न कि जो बिना विचारे बोलता है । पढमा भावणा-यह प्रथम भावना है ।

अहावरा-अब अन्य । दुच्या भावणा-दूसरी भावना को कहते हैं । कोहं-क्रोध को । परियाणइ-ज्ञ प्रज्ञा से-इस के कटु परिणाम को जान कर प्रत्याख्यान प्रज्ञा से उसका जो त्याग करता है । से निगंथे-वह निर्ग्रन्थ है । नो कोहणे सिया-साधु क्रोधी-क्रोधशील न हो । केवली ब्रूया-केवली भगवान कहते हैं यह कर्म बन्ध का कारण है । कोहपत्ते-क्रोध को प्राप्त हुआ । कोहत्तं-साधु क्रोध भाव को प्राप्त कर । मोसं वयणाए-मृषा वचन । समावइज्जा-बोलता है अतः साधु क्रोध न करे । कोहं परियाणइ-जो क्रोध के कटुफल को जान कर उसे छोड़ता है । से निगंथे-वह निर्ग्रन्थ है । य-पुनः । न कोहणे सियत्ति-साधु क्रोधी-क्रोध करने वाला न हो । दुच्या भावणा-यह दूसरी भावना है ।

अहावरा तच्चा भावणा-अब तीसरी भावना को कहते हैं । लोभं परियाणइ-जो लोभ के कटुफल को जानकर लोभ का परित्याग करता है । से निगंथे-वह निर्ग्रन्थ है । य-और । नो लोभणए सिया-साधु लोभ शील न होवे । केवली ब्रूया-केवली भगवान कहते हैं । लोभपत्ते-लोभ को प्राप्त हुआ । लोभी-लोभी-लोभ करने वाला । मोसं वयणाए समावइज्जा-मृषा वचन बोलता है अतः । लोभं परियाणइ-जो साधु लोभ के कटुफल को जान कर लोभ का परित्याग करता है । से निगंथे-वह निर्ग्रन्थ । नो य लोभणए सियत्ति-साधु लोभ शील-लोभी न हो इस प्रकार यह । तच्चा भावणा-तीसरी भावना है ।

अहावरा चउत्था भावणा-अब चतुर्थ भावना को कहते हैं। भयं परिजाणइ-भय को जानकर उसका परित्याग करता है। से निगंथे-वह निर्ग्रन्थ है। नो भवभीरुए सिया-साधु भय से भीरु न बने। केवली बूया-केवली भगवान कहते हैं। भयपत्ते-भय को प्राप्त हुआ। भीरू-डरने वाला साधु। मोसं वयणाए-मृषा वचन। समावइज्जा-बोल देता है अतः। भयं परियाणइ-जो भय का परित्याग करता है। से निगंथे-वह निर्ग्रन्थ है इसलिए। नो भयभीरुए सिया-भय से भीरु न हो। त्ति-इस प्रकार। चउत्था भावणा-यह चतुर्थ भावना है।

अहावरा पंचमा भावणा-अब पांचवीं भावना को कहते हैं। हासं परियाणइ-हास्य को जान कर जो हास्य का परित्याग करता है। से निगंथे-वह निर्ग्रन्थ है। नो य हासणाए सिया-और फिर वह निर्ग्रन्थ हसन शील न हो क्योंकि। केवली-केवली भगवान कहते हैं, यह कर्म बन्धन का हेतु है। हासपत्ते-हास्य को प्राप्त होकर। हासी-हास्य करने वाला। मोसं-मृषा। वयणाए-वचन। समावइज्जा-बोलने वाला होता है अर्थात् वह झूठ भी बोल देता है अतः जो। हासं परियाणइ-हास्य का परित्याग करता है। से निगंथे-वह निर्ग्रन्थ है। नो हासणाए सियत्ति-न कि हास्य शील होने वाला। पंचमा भावणा-यह पांचवीं भावना कही है।

**मूलार्थ**—इस द्वितीय महाव्रत की ये पांच भावनाएं हैं—

उन पांच भावनाओं में से प्रथम भावना यह है जो विचार पूर्वक भाषण करता है वह निर्ग्रन्थ है, बिना विचारे भाषण करने वाला निर्ग्रन्थ नहीं है। केवली भगवान कहते हैं कि बिना विचारे बोलने वाले निर्ग्रन्थ को मृषा भाषण की संप्राप्ति होती है अर्थात् मिथ्या भाषण का दोष लगता है अतः विचार पूर्वक बोलने वाला साधक ही निर्ग्रन्थ कहला सकता है।

द्वितीय महाव्रत की दूसरी भावना यह है कि जो साधक क्रोध के कटु फल को जानकर उसका परित्याग करता है, वह निर्ग्रन्थ है। केवली भगवान का कहना है कि क्रोध एवं आवेश के वश व्यक्ति असत्य वचन का प्रयोग कर देता है। अतः क्रोध से निवृत्त साधक ही निर्ग्रन्थ होता है।

तीसरी भावना यह है कि लोभ का परित्याग करने वाला साधक निर्ग्रन्थ होता है। लोभ के वश होकर भी व्यक्ति झूठ बोल देता है, अतः साधक को लोभ नहीं करना चाहिए।

चौथी भावना यह है कि भय का सर्वथा परित्याग करने वाला व्यक्ति निर्ग्रन्थ कहलाता है। भय से युक्त व्यक्ति अपने बचाव के लिए झूठ बोल देता है। अतः मुनि को सदा पूर्णतः भय से रहति रहना चाहिए।

पांचवीं भावना यह है कि हास्य का त्याग करने वाला साधक निर्ग्रन्थ कहलाता है। हास्यवश भी व्यक्ति असत्य भाषण कर सकता है। इस लिए मुनि को हास्य-हंसी मजाक का सर्वथा परित्याग करना चाहिए।

**हिन्दी विवेचन**— प्रथम महाव्रत की तरह द्वितीय महाव्रत की भी ५ भावनाएं हैं— १ विवेक-विचार से बोलना, २ क्रोध के वश, ३ लोभ के वश, ४ भय के वश, ५ हास्य के वश असत्य नहीं बोलना चाहिए। भाषा बोलने के पूर्व विवेक रखना प्रत्येक व्यक्ति के लिए हितकर है। परन्तु असत्य का सर्वथा त्याग करने वाले साधक के लिए यह अनिवार्य है कि वह विवेक पूर्वक एवं भाषा की सदोषता तथा निर्दोषता का विचार करके बोले। वह सदा इस बात का ख्याल रखे कि किसी भी तरह असत्य एवं सदोष

भाषा का प्रयोग न होने पाए।

यह भी स्पष्ट है कि क्रोध और लोभ के वश भी व्यक्ति झूठ बोल जाता है। उस समय उसे बोलने का विवेक नहीं रहता है। इसी तरह भय भी मनुष्य के विवेक को विलुप्त कर देता है। उससे छुटकारा पाने के लिए भी असत्य का सहारा ले लेता है। अतः साधु को इन सब दोषों से मुक्त रहना चाहिए। उसे क्रोध, लोभ, एवं भय आदि विकारों से उन्मुक्त होकर विचरना चाहिए।

हम देखते हैं कि हंसी-मजाक के वश भी लोग झूठ बोलते हैं। अतः साधक को इससे भी दूर रहना चाहिए। हंसी-मजाक से एक तो जीवन की गम्भीरता नष्ट होती है। दूसरे वह लोगों की दृष्टि में छिछला व्यक्ति प्रतीत होता है। स्वाध्याय एवं ध्यान का समय भी व्यर्थ ही नष्ट होता है और साथ में असत्य का भी प्रयोग हो जाता है। इसलिए साधक को हंसी-मजाक का परित्याग करके सदा आत्म साधना में संलग्न रहना चाहिए।

अब द्वितीय महाव्रत का उपसंहार करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्— एतावता दोच्चे महव्वए सम्मं काएण फासिए जाव आणाए आराहिए यावि भवइ, दुच्चे भंते! महव्वए० ॥**

**छार्या— एतावता द्वितीयं महाव्रतं सम्यक् कायेन स्पर्शितं यावत् आज्ञया आराधितं चापि भवति द्वितीयं भदन्त महाव्रतम्० ।**

**पदार्थ—** एतावता—इस प्रकार। दोच्चे महव्वए—द्वितीय महाव्रत को। सम्मं—सम्यक् प्रकार से। काएण—काया से। फासिए—स्पर्शित कर। जाव—यावत्। आणाए—आज्ञा का। आराहिए—आराधक। भवइ—होता है। भंते !—हे भगवन् ! दोच्चे—दूसरा। महव्वए—महाव्रत स्वीकार करता हूं।

**मूलार्थ—** इस प्रकार दूसरे महाव्रत को सम्यक् प्रकार से काया से स्पर्शित कर यावत् आज्ञा पूर्वक आराधित करने से हे भदन्त ! यह दूसरा महाव्रत होता है। अर्थात् उक्त महाव्रत की सम्यक्तया अराधना होती है।

**हिन्दी विवेचन—** प्रस्तुत सूत्र में यही बताया गया है कि द्वितीय महाव्रत का महत्त्व उसके आराधन में है। आगम में दिए गए आदेश के अनुसार काया से उसका आचरण करना ही दूसरे महाव्रत का परिपालन करना है। अतः वचन के बताए गए समस्त दोषों का परित्याग करके दूसरे महाव्रत का पालन करने वाला साधक ही वास्तव में निर्ग्रन्थ एवं आराधक कहलाता है।

अब सूत्रकार तीसरे महाव्रत के संबंध में कहते हैं—

**मूलम्— अहावरं तच्चं भंते ! महव्वयं पच्चक्खामि सव्वं अदिन्नादाणं, से गामे वा नगरे वा रन्ने वा अप्पं वा बहं वा अणुं वा थूलं वा चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा नेव सयं अदिन्नं गिण्हज्जा, नेवन्नेहिं अदिन्नं गिण्हाविज्जा, अदिन्नं अन्नंपि गिण्हंतं न समणुजाणिज्जा, जावज्जीवाए जाव वोसिरामि ॥**

छाया— अथापरं तृतीयं भदन्त ! महाव्रतं प्रत्याख्यामि सर्वम् अदत्तादानं तद् ग्रामे वा नगरे वा अरण्ये वा अल्पं वा बहुं वा अणुं वा स्थूलं वा चित्तवद् वा अचित्तमद् वा नैव स्वयं अदत्तं गृहीयात् नैवान्यैः अदत्तं ग्राहयेत् अदत्तं अन्यमपि गृह्णन्तं न समनुजानामि यावज्जीवं यावत् व्युत्सृजामि ।

पदार्थ— अहावरं—अथ अपर । भंते—हे भगवन् । तच्चं—तृतीय । महव्वयं—महाव्रत के विषय में । सर्वं—सर्व प्रकार के । अदिन्नादानं—अदत्तादान का । पच्चक्खामि—प्रत्याख्यान करता हूँ । से—वह । गामे वा—ग्राम में । नगरे वा—नगर में अथवा । रन्ने वा—अरण्य में । अप्पं वा—स्वल्प या । बहुं वा—बहुत या । अणुं वा—सूक्ष्म या । स्थूलं वा—स्थूल पदार्थ या । चित्तमंतं वा—सचित्त या । अचित्तमंतं वा—अचित्त पदार्थ । एव—निश्चयार्थक है । अदिन्नं—किसी के दिए बिना । सयं—स्वयं—अपने आप । न गिण्हज्जा—ग्रहण नहीं करूंगा तथा । अन्नेहिं—औरों से । नेव गिण्हाविज्जा—ग्रहण नहीं कराऊंगा । अदिन्नं—अदत्त को । गिण्हंतं—ग्रहण करने वाले । अन्नापि—अन्य व्यक्ति का । न समणुजाणिज्जा—अनुमोदन नहीं करूंगा । जावज्जीवाए—जीवन पर्यन्त । जाव—यावत् ( शेष पाठ पूर्ववत् जानना ) । वोसिरामि—अदत्तादान से अपने को पृथक् करता हूँ ।

मूलार्थ—हे भगवन् ! मैं तृतीय महाव्रत के विषय में सर्व प्रकार से अदत्तादान का प्रत्याख्यान करता हूँ । वह अदत्तादान—चोरी से ग्रहण किया जाने वाला पदार्थ चाहे ग्राम में, नगर में अरण्य—अटवी में हो, स्वल्प हो, बहुत हो, स्थूल हो, एवं सचित्त अथवा अचित्त हो उसे न तो स्वयं ग्रहण करूंगा, न दूसरों से ग्रहण कराऊंगा और न ग्रहण करने वाले व्यक्ति का अनुमोदन करूंगा, मैं जीवन पर्यन्त के लिए इस महाव्रत को तीन करण और तीन योग से ग्रहण करता हूँ । और इस अदत्तादान ( चौर्य कर्म ) के पाप से मैं अपनी आत्मा को सर्वथा पृथक् करता हूँ ।

हिन्दी विवेचन— प्रस्तुत सूत्र में स्तेय ( चौर्य कर्म ) के त्याग का उल्लेख किया गया है । चोरी आत्मा को पतन की ओर ले जाती है । इस कार्य को करने वाला व्यक्ति साधना में संलग्न होकर आत्म शान्ति को नहीं पा सकता । क्योंकि इससे मन सदा अनेक संकल्प-विकल्पों में उलझा रहता है । अतः साधक को कभी भी अदत्त ग्रहण नहीं करना चाहिए चाहे वह पदार्थ साधारण हो या मूल्यवान हो, छोटा हो या बड़ा हो, कैसा भी क्यों न हो, साधु को बिना आज्ञा के या बिना दिया हुआ कोई भी पदार्थ ग्रहण नहीं करना चाहिए । वह न स्वयं चोरी करे, न दूसरे व्यक्ति को चोरी करने के लिए कहे और न चोरी करने वाले का समर्थन ही करे । इस तरह वह सर्वथा इस पाप से निवृत्त होकर संयम में संलग्न रहे ।

इस महाव्रत की भावनाओं का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— तस्सिमाओ पंच भावणाओ भवंति ।

तत्थिमा पढमा भावणा—अणुवीड मिउग्गहजाई से निग्गंथे नो अणणुवीड मिउग्गहजाई, केवली बूया०—अणणुवीडमिउग्गहजाई निग्गंथे अदिन्नं गिण्हेज्जा, अणुवीडमिउग्गहजाई से निग्गंथे नो अणणुवीडमिउग्गहजाइत्ति पढमा

भावंणा ॥१॥

अहावरा दुच्चा भावणा- अणुन्नवियपाणभोयणभोई से निग्गंथे, नो अणणुन्नवियपाणभोयणभोई, केवली बूया०-अणणुन्नवियपाणभोयणभोई से निग्गंथे अदिन्नं भुंजिज्जा, तम्हा अणुन्नवियपाणभोयणभोई से निग्गंथे नो अणणुन्नवियपाणभोयणभोई ति दुच्चा भावणा ॥२॥

अहावरा तच्चा भावणा-निग्गंथेणं उग्गहंसि उग्गहियंसि एतावताव उग्गहणसीलए सिया, केवली बूया०-निग्गंथेणं उग्गहंसि अणुग्गहियंसि एतावताव अणुग्गहणसीले अदिन्नं ओगिण्हिज्जा, निग्गंथेणं उग्गहं उग्गहियंसि एतावताव उग्गहणसीलए त्ति तच्चा भावणा ॥३॥

अहावरा चउत्था भावणा-निग्गंथेणं उग्गहंसि उग्गहियंसि अभिक्खणं २ उग्गहणसीलए सिया, केवली बूया०-निग्गंथेणं उग्गहंसि उ अभिक्खणं २ अणुग्गहणसीले अदिन्नं गिण्हिज्जा, निग्गंथे उग्गहंसि उग्गहियंसि अभिक्खणं २ उग्गहणसीलए त्ति चउत्था भावणा ॥४॥

अहावरा पंचमा भावणा- अणुवीइमिउग्गहजाई से निग्गंथे साहम्मिएसु, नो अणणुवीइमिउग्गहजाई, केवली बूया० अणणुवीइमिउग्गहजाई से निग्गंथे साहम्मिएसु अदिन्नं उगिण्हिज्जा अणुवीइमिउग्गहजाई से निग्गंथे साहम्मिएसु नो अणणुवीइमिउग्गहजाई इइ पंचमा भावणा ॥५॥

छाया- तस्येमाः पंच भावनाः भवन्ति-

तत्र इयं प्रथमा भावना-अनुविचिंत्य मितावग्रहयाची स निर्ग्रन्थः न अननुविचिन्त्य-मितावग्रहयाची स निर्ग्रन्थः केवली ब्रूयात् अननुविचिंत्यमितावग्रहयाची निर्ग्रन्थः अदत्तं गृण्हीयात् अनुविचिन्त्य मितावग्रहयाची स निर्ग्रन्थः नो अननुविचिन्त्य मितावग्रहयाचीति प्रथमा भावना ।

अथापरा द्वितीया भावना-अनुज्ञाप्य पानभोजनभोजी स निर्ग्रन्थः नो अननुज्ञाप्यपानभोजनभोजी । केवली ब्रूयात्-अननुज्ञाप्यपानभोजनभोजी स निर्ग्रन्थः अदत्तं भुञ्जीत, तस्मात् अनुज्ञाप्य पानभोजनभोजी स निर्ग्रन्थः न अननुज्ञाप्य पानभोजनभोजीति द्वितीया भावना ।

अथापरा तृतीया भावना-निर्ग्रन्थेन अवग्रहे अवगृहीते एतावता अवग्रहणशीलः स्यात्, केवली ब्रूयात् निर्ग्रन्थेन अवग्रहे अनवगृहीते एतावता अनवग्रहणशीलः अदत्तमवगृण्हीयात्,

निर्ग्रन्थेन अवग्रहे अवगृहीते एतावता अवग्रहण-शीलक इति तृतीया भावना ।

अथापरा चतुर्थी भावना-निर्ग्रन्थेन अवग्रहे अवगृहीते अभीक्षणं २ अवग्रहणशीलकः स्यात् केवली ब्रूयात् निर्ग्रन्थेन अवग्रहे तु अभीक्षणं २ अनवग्रहणशीलः अदत्तं गृण्हीयात्, निर्ग्रन्थः अवग्रहे अवगृहीते अभीक्षणं २ अवग्रहणशीलक इति चतुर्थी भावना ।

अथापरा पंचमी भावना-अनुविचिन्त्य मितावग्रहयाची स निर्ग्रन्थः साधर्मिकेषु नो अननुविचिन्त्य मितावग्रहयाची, केवली ब्रूयात् अननुविचिन्त्य मितावग्रहयाची सः निर्ग्रन्थः साधर्मिकेषु अदत्तम् अवगृण्हीयात्, अनुविचिन्त्य मितावग्रहयाची स निर्ग्रन्थः साधर्मिकेषु नो अननुविचिन्त्य मितावग्रहयाची ति पंचमी भावना ।

पदार्थ- तस्मिमाओ-इस तीसरे महाव्रत की ये । पंच-पांच । भावणाओ-भावनाएं । भवति-हैं ।

तत्थिमा-उन पांच भावनाओं में से यह । पठमा-प्रथम । भावणा-भावना है । अणुवीड़-जो विचार कर । मिउग्गह-मित-प्रमाण पुरस्सर अवग्रह की । जाई-याचना करता है । से निग्गंथे-वह निर्ग्रन्थ है । नो अणुवीड़-जो बिना विचारे । मिउग्गह-मितावग्रह की । जाई-याचना करने वाला नहीं होता । से निग्गंथे-वह निर्ग्रन्थ । केवली ब्रूया-केवली भगवान कहते हैं । अणुवीड़-बिना विचारे । मिउग्गह-मित अवग्रह की । जाई-याचना करने वाला । निग्गंथे-निर्ग्रन्थ । अदिन्नं-अदत्तादान का । गिण्हेज्जा-ग्रहण करता है, अतः जो । अणुवीड़-विचार कर । मिउग्गहजाई-मित अवग्रह की याचना करता है । से निग्गंथे-वह निर्ग्रन्थ होता है । नो अणुवीड़मिउग्गहजाई-न कि बिना विचारे मितावग्रह की याचना करने वाला भी । त्ति-इस प्रकार । पठमा भावणा-यह प्रथम भावना कही गई है ।

अहावरा दुच्चा भावणा-अथ अपर द्वितीय भावना को कहते हैं । अणुन्विय-गुरु आदि की आज्ञा ले कर । पाणभोयणभोई-जो आहार-पानी करता है । से निग्गंथे-वह निर्ग्रन्थ है । नो अणुन्विय-यपाणभोयणभोई-न कि गुरुजनों की आज्ञा के बिना आहार-पानी करने वाला । केवली ब्रूया-केवली भगवान कहते हैं । अणुन्विय-गुरुजनों की आज्ञा प्राप्त किए बिना जो । पाणभोयणभोई-आहार-पानी करता है । से निग्गंथे-वह निर्ग्रन्थ । अदिन्नं-अदत्तादान का । भुंजिज्जा-भोगने वाला होता है । तम्हा-इस लिए । अणुन्विय-गुरुजनों की आज्ञा ले कर जो । पाणभोयणभोई-आहार-पानी करता है । से निग्गंथे-वह निर्ग्रन्थ है । नो अणुन्वियपाणभोयणभोई-न कि बिना आज्ञा के आहार-पानी करने वाला । त्ति-इस प्रकार । दुच्चा भावणा-यह दूसरी भावना कही गई है ।

अहावरा तच्चा भावणा-अब तीसरी भावना को कहते हैं । निग्गंथेणं-साधु । उग्गहंसि-अवग्रह मांगने पर । उग्गहियंसि-प्रमाण पूर्वक क्षेत्र और काल प्रमाण अवग्रहण को । एतावताव-इस प्रकार । उग्गहणसीलए सिया-प्रमाण पूर्वक अवग्रह के ग्रहण करने के स्वभाव वाला हो । केवली ब्रूया-केवली भगवान कहते हैं । निग्गंथेणं-निर्ग्रन्थ । उग्गहंसि-अवग्रह के । अणुग्गहियंसि-प्रमाण पूर्वक ग्रहण न करने से । एतावता-इस प्रकार । अणुग्गहणसीले-आज्ञा न लेने के स्वभाव वाला होने से । अदिन्नं-अदत्त का । ओगिण्हेज्जा-ग्रहण करता है अर्थात् अदत्तादान का सेवन करने वाला होता है । निग्गंथेणं-निर्ग्रन्थ-साधु । उग्गहं-अवग्रह के । उग्गहियंसि-

प्रमाण पूर्वक ग्रहण करने पर। एतावताव-इस प्रकार। उगग्रहणसीलाएत्ति-अवग्रहण शील होता है इस प्रकार यह। तच्चा भावणा-तीसरी भावना कथन की गई है।

अहावरा चउत्था भावणा-अब चौथी भावना को कहते हैं। निग्गंथे-निर्ग्रन्थ। उग्गहंसि-अवग्रह के। उग्गहियंसि-लेने पर। अभिक्खणं २-बार-बार। उगग्रहणसीलाए सिया-अवग्रहण शील से अर्थात् पदार्थों की बार-बार आज्ञा लेने के स्वभाव वाला हो क्योंकि केवली बूया-केवली भगवान कहते हैं। निग्गंथेणं-निर्ग्रन्थ-साधु। उग्गहंसि-अवग्रह के। उग्गहियंसि-ग्रहण कर लेने पर। अभिक्खणं-बार-बार। अणुगग्रहणसीले-आज्ञा न लेने वाला। अदिन्मं गिण्हिज्जा-अदत्त का ग्रहण करता है अतः। निग्गंथे-निर्ग्रन्थ। उग्गहंसि-अवग्रह की। उग्गहियंसि-याचना करे किन्तु। अभिक्खणं २-बार-बार। उगग्रहणसीलाएत्ति-अवग्रह के ग्रहण करने वाला हो इस प्रकार। चउत्था भावणा-यह चौथी भावना कही गई है।

अहावरा पंचमा भावणा-अब पांचवीं भावना को कहते हैं। से निग्गंथे-वह निर्ग्रन्थ। साहम्मिएसु-साधर्मियों से। अणुवीइ-विचार कर। मिउग्गहजाई-मितावग्रह की याचना करे। नो अणुवीइ-न कि बिना विचारे। मिउग्गह-मित्त-प्रमाण पूर्वक अवग्रह की। जाई-याचना करे। केवली बूया-केवली भगवान कहते हैं। अणुवीइ-बिना विचार। मिउग्गहजाई-मितावग्रह की याचना करने वाला। से निग्गंथे-वह निर्ग्रन्थ। साहम्मिएसु-साधर्मियों में। अदिन्मं-अदत्त का। उग्गिण्हिज्जा-ग्रहण करता है अतः। अणुवीइमिउग्गहजाई-विचार कर मितावग्रह की-जो याचना करता है। से निग्गंथे-वह निर्ग्रन्थ है। साहम्मिएसु-साधर्मियों में। नो अणुवीइ-विचार न करके। मिउग्गहजाई-मितावग्रह की याचना करने वाला निर्ग्रन्थ नहीं होता। इइ-इस प्रकार यह। पंचमा भावणा-पांचवीं भावना कही गई है।

**मूलार्थ—**इस तीसरे महाव्रत की ये पांच भावनाएं हैं—

उन पांच भावनाओं में से प्रथम भावना यह है— जो विचार कर मर्यादा पूर्वक अवग्रह की याचना करने वाला है, वह निर्ग्रन्थ है, न कि बिना विचार किए मितावग्रह की याचना करने वाला। केवली भगवान कहते हैं कि बिना विचार किए अवग्रह की याचना करने वाला निर्ग्रन्थ अदत्त को ग्रहण करता है। इसलिए निर्ग्रन्थ को विचार पूर्वक ही अवग्रह की याचना करनी चाहिए।

अब दूसरी भावना को कहते हैं— गुरुजनों की आज्ञा लेकर आहार-पानी करने वाला निर्ग्रन्थ होता है, न कि बिना आज्ञा के आहार-पानी करने वाला। केवली भगवान् कहते हैं कि जो निर्ग्रन्थ गुरु आदि की आज्ञा प्राप्त किए बिना आहार-पानी आदि करता है वह अदत्तादान का भोगने वाला होता है। इसलिए आज्ञा पूर्वक, आहार-पानी करने वाला ही निर्ग्रन्थ होता है।

अब तृतीया भावना का स्वरूप कहते हैं— निर्ग्रन्थ-साधु क्षेत्र और काल के प्रमाण पूर्वक अवग्रह की याचना करने वाला होता है। केवली भगवान कहते हैं कि जो साधु मर्यादा पूर्वक अवग्रह की याचना करने वाला नहीं होता वह अदत्तादान को सेवन करने वाला होता है, अतः प्रमाण पूर्वक अवग्रह का ग्रहण करना यह तीसरी भावना है।

अब चौथी भावना को कहते हैं— निर्ग्रन्थ अवग्रह के ग्रहण करने वाला हो। केवली भगवान कहते हैं कि निर्ग्रन्थ बार-बार अवग्रह के ग्रहण करने वाला हो यदि वह ऐसा न होगा तो



उसको अदत्तादान का दोष लगेगा। अतः जो बार-बार मर्यादा पूर्वक अवग्रह की याचना करने वाला होता है, वही इस व्रत की आराधना करने वाला होता है।

पांचवीं भावना यह है कि जो साधक साधर्मियों से भी विचार पूर्वक मर्यादा पूर्वक अवग्रह की याचना करता है। वह निग्रन्थ है, न कि बिना विचारे आज्ञा लेने वाला। केवली भगवान कहते हैं कि साधर्मियों से भी विचार कर मर्यादा पूर्वक आज्ञा लेने वाला निग्रन्थ ही तृतीय महाव्रत की आराधना कर सकता है। यदि वह उनसे विचार पूर्वक आज्ञा नहीं लेता है तो उसे अदत्तादान का दोष लगता है। इसलिए मुनि को सदा विचार पूर्वक ही आज्ञा लेनी चाहिए।

**हिन्दी विवेचन**— प्रस्तुत सूत्र में तृतीया महाव्रत की ५ भावनाओं का उल्लेख किया गया है। पहले और दूसरे महाव्रत की तरह तीसरे महाव्रत की भी पांच भावनाएं होती हैं— १. साधु किसी भी आवश्यक एवं कल्पनीय वस्तु को बिना आज्ञा ग्रहण न करे। २. प्रत्येक वस्तु के ग्रहण करने को जाने के पूर्व गुरु की आज्ञा ग्रहण करना, ३. क्षेत्र और काल की मर्यादा को ध्यान में रखकर वस्तु ग्रहण करने जाना, ४. बार-बार आज्ञा ग्रहण करना और ५. साधर्मिक साधु की कोई वस्तु ग्रहण करनी हो तो उसकी (साधर्मिक की) आज्ञा लेना। इस तरह साधु को बिना आज्ञा के कोई भी पदार्थ नहीं ग्रहण करना चाहिए।

इससे स्पष्ट होता है कि साधु अपनी आवश्यकता के अनुसार कल्पनीय वस्तु की याचना कर सकता है। परन्तु, इसके लिए यह आवश्यक है कि वह अपने गुरु या साथ के बड़े साधु की आज्ञा लेकर ही उस वस्तु को ग्रहण करने के लिए जाए। इसी तरह वस्तु ग्रहण करने को जाते समय क्षेत्र एवं काल का भी अवश्य ध्यान रखे। आहार, पानी, वस्त्र-पात्र आदि को ग्रहण करने के लिए अर्ध योजन से ऊपर न जाए। इस तरह जिस समय घरों में आहार-पानी का समय न हो, उस समय आहार-पानी के लिए नहीं जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त साधु का जितनी बार वस्तु को ग्रहण करने के लिए जाना हो उतनी ही बार गुरु की आज्ञा लेकर जाना चाहिए और किसी अपने साथी मुनि की वस्तु ग्रहण करनी हो तो उसके लिए उसकी आज्ञा ग्रहण करनी चाहिए। इस तरह जो विवेक पूर्वक वस्तु को ग्रहण करता है, वह निग्रन्थ कहलाता है। इसके विपरीत आचरण को अदत्तादान कहा गया है। अतः मुनि को सदा विवेक पूर्वक सोच-विचार कर ही वस्तु ग्रहण करनी चाहिए। बिना आज्ञा के उसे कभी भी कोई पदार्थ ग्रहण नहीं करना चाहिए।

अब तृतीय महाव्रत का उपसंहार करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्— एतावताव तच्चे महव्वए सम्मं जाव आणाए आराहिए यावि भवइ, तच्चं भंते महव्वयं०।**

**छाया— एतावता तृतीयं महाव्रत सम्यक् यावत् आज्ञया आराधितं चापि भवति तृतीयं भदन्त ! महाव्रतम्०।**

**पदार्थ—** एतावता—इस प्रकार। तच्चे—तीसरे। महव्वए—महाव्रत का। सम्मं—सम्यक्तरां। जाव—यावत्। आणाए—आज्ञापूर्वक। आराहिए यावि भवइ—आराधन किया जाता है। भंते—हे भगवन् ! मैं। तच्चं—

तृतीय। महव्वयं-महाव्रत के विषय में सर्व प्रकार से अदत्तादान से निवृत्त होता हूँ।

**मूलार्थ**—इस प्रकार साधु सम्यग् रूप से तीसरे महाव्रत का आराधन किया करे। शिष्य यह प्रतिज्ञा करता है कि मैं जीवन पर्यन्त के लिए अदत्तादान से निवृत्त होता हूँ।

**हिन्दी विवेचन**—प्रस्तुत सूत्र में यही बताया गया है कि इस तरह विवेक पूर्वक आचरण करके ही साधक तीसरे महाव्रत का परिपालन कर सकता है।

अब चतुर्थ महाव्रत का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं।

**मूलम्**—अहावरं चउत्थं महव्वयं पच्चक्खामि सव्वं मेहुणं, से दिव्वं वा माणुस्सं वा तिरिक्खजौणियं वा नेव सयं मेहुणं गच्छेज्जा तं चेव अदिन्नादाणवत्तव्वया भाणियव्वा जाव वोसिरामि।

**छाया**—अथापरं चतुर्थं महाव्रतं प्रत्याख्यामि सर्वं मैथुनं तद् दिव्यं वा मानुष्यं वा तिर्यग्योनिकं वा नैव स्वयं मैथुनं गच्छेत् तच्चैवम् अदत्तादानवक्तव्यता भणितव्या यावत् व्युत्सुजामि।

**पदार्थ**—अहावरं-अब अन्य। चउत्थं-चतुर्थं। महव्वयं-महाव्रत में। सव्वं मेहुणं-सर्वप्रकार के मैथुन का-विषय सेवन का। पच्चक्खामि-प्रत्याख्यान करता हूँ। से-वह। दिव्वं वा-देव सम्बन्धि। माणुस्सं-मनुष्य सम्बन्धि। तिरिक्खजौणियं वा-तिर्यच सम्बन्धि। मेहुणं-मैथुन को। नेव-न। सयं-स्वयं-अपने आप। गच्छेज्जा-सेवन करूंगा। तं चेव-अन्य सब। अदिन्नादाणवत्तव्वया-अदत्तादान विषयक प्रकरण में जैसा कहा है उसी प्रकार। भाणियव्वा-यहां मैथुन के सम्बन्ध में भी जान लेनी चाहिए। जाव-यावत्। वोसिरामि-अपने आत्मा को मैथुन धर्म से पृथक् करता हूँ।

**मूलार्थ**—अब चतुर्थ महाव्रत के विषय में कहते हैं- हे भगवन् ! मैं देव, मनुष्य और तिर्यच सम्बन्धी सर्वप्रकार के मैथुन का तीन करण और तीन योग से प्रत्याख्यान करता हूँ, शेष वर्णन अदत्तादान के समान जानना चाहिए। साधक गुरु के सामने यह प्रतिज्ञा करता है कि मैं मैथुन से अपनी आत्मा को सर्वथा पृथक् करता हूँ।

**हिन्दी विवेचन**—प्रस्तुत सूत्र में ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में वर्णन किया गया है। भोग की प्रवृत्ति से मोह कर्म को उत्तेजना मिलती है। इससे आत्मा कर्म बन्ध से आबद्ध होता है और संसार में परिभ्रमण करता है। अतः साधु को अब्रह्मचर्य-विषय-भोग से सर्वथा निवृत्त होना चाहिए। मैथुन कर्म का सर्वथा परित्याग करने वाला व्यक्ति ही निर्ग्रन्थ कहला सकता है। क्योंकि इसका त्याग करके वह मोह कर्म की गांठ से छूटने का, मुक्त होने का प्रयत्न करता है। इसलिए साधक न तो स्वयं विषय-भोग का सेवन करे, न दूसरे व्यक्ति को विषय-वासना की ओर प्रवृत्त करे और न उस ओर प्रवृत्त व्यक्ति का समर्थन ही करे। इस तरह साधु प्रतिज्ञा करता है कि भगवन् ! मैं गुरु एवं आत्म-साक्षी से उसका त्याग-प्रत्याख्यान करता हूँ एवं उसकी निन्दा एवं गर्हणा करता हूँ।

अब चौथे महाव्रत की भावनाओं का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं-

मूलम्— तस्मिन्माओ पंच भावणाओ भवन्ति ।

तत्थिमा पढमा भावणा-नो निग्गंथे अभिक्खणं २ इत्थीणं कहं कहित्तए सिया, केवली बूया०, निग्गंथेणं अभिक्खणं २ इत्थीणं कहं कहेमाणे संतिभेया संतिविभंगा संतिकेवलीपन्नत्ताओ धम्माओ भंसिज्जा, नो निग्गंथेणं अभिक्खणं- २ इत्थीणं कहं कहित्तए सियत्ति पढमा भावणा ॥१॥

अहावरा दुच्चा भावणा-नो निग्गंथे इत्थीणं मणोहराइं २ इंदियाइं आलोइत्तए निज्झाइत्तए सिया, केवली बूया-निग्गंथे णं इत्थीणं मणोहराइं २ इंदियाइं आलोएमाणे निज्झाएमाणे संतिभेया संतिविभंगा जाव धम्माओ भंसिज्जा, नो निग्गंथे इत्थीणं मणोहराइं २ इंदियाइं आलोइत्तए निज्झाइत्तए सियत्ति दुच्चा भावणा ॥२॥

अहावरा तच्चा भावणा-नो निग्गंथे इत्थीणं पुव्वरयाइं पुव्वकीलियाइं सुमरित्तए सिया, केवली बूया० निग्गंथे णं इत्थीणं पुव्वरयाइं पुव्वकीलियाइं सरमाणे संतिभेया जाव भंसिज्जा, नो निग्गंथे इत्थीणं पुव्वरयाइं पुव्वकीलियाइं सरित्तए सियत्ति तच्चा भावणा ॥३॥

अहावरा चउत्था भावणा-नाइमत्तपाणभोयणभोई से निग्गंथे न पणीयरसभोयणभोई से निग्गंथे, केवली बूया०-अइमत्तपाणभोयणभोई से निग्गंथे, पणियरसभोयणभोई संतिभेया जाव भंसिज्जा, नाइमत्तपाणभोयणभोई से निग्गंथे नो पणीयरसभोयणभोइत्ति चउत्था भावणा ॥४॥

अहावरा पंचमा भावणा-नो निग्गंथे इत्थीपसुपंडगसंसत्ताइं सयणासणाइं सेवित्तए सिया, केवली बूया- निग्गंथे णं इत्थीपसुपंडगसंसत्ताइं सयणासणाइं सेवेमाणे संतिभेया जाव भंसिज्जा० नो निग्गंथे इत्थीपसुपंडग-संसत्ताइं सयणासणाइं सेवित्तए सियत्ति पंचमा भावणा ॥५॥

एतावया चउत्थे महव्वए सम्मं काएण फासिए जाव आराहिए यावि भवइ चउत्थं भन्ते ! महव्वयं० ।

छाया- तस्येमाः पंच भावनाः भवन्ति-

तत्र इयं प्रथमा भावना-नो निर्ग्रन्थः अभीक्ष्णं २ स्त्रीणां कथां कथयितां स्यात्, केवली बूयात् निर्ग्रन्थः अभीक्ष्णं २ स्त्रीणां कथां कथयन् शान्तिभेदाः शान्तिविभंगाः

शान्तिकेवलिप्रज्ञप्ताद् धर्माद् भ्रश्येत नो निर्ग्रन्थः अभीक्ष्णं स्त्रीणां कथां कथयिता स्यादिति प्रथमा भावना ।

अथापरा द्वितीया भावना-नो निर्ग्रन्थः स्त्रीणां मनोहराणि २ इन्द्रियाणि आलोकयिता निर्ध्याता स्यात् केवली ब्रूयात्-निर्ग्रन्थः स्त्रीणां मनोहराणि २ इन्द्रियाणि आलोकयन् निर्ध्यायन् शान्तिभेदाः शान्तिविभंगा यावत् धर्माद् भ्रश्येत नो निर्ग्रन्थः स्त्रीणां मनोहराणि २ इन्द्रियाणि आलोकयिता, निर्ध्याता स्यादिति द्वितीया भावना ।

अथापरा तृतीया भावना-नो निर्ग्रन्थः स्त्रीणां पूर्वगतानि पूर्वक्रीडितानि स्मरन् स्यात्, केवली ब्रूयात् निर्ग्रन्थः स्त्रीणां पूर्वगतानि पूर्वक्रीडितानि स्मरन् शान्तिभेदा यावत् भ्रश्येत, नो निर्ग्रन्थः स्त्रीणां पूर्वगतानि पूर्वक्रीडितानि स्मरतां स्यात् इति तृतीया भावना ।

अथापरा चतुर्थी भावना-नातिमात्रपानभोजनभोजी स निर्ग्रन्थः न प्रणीतरसभोजनभोजी स निर्ग्रन्थः, केवली ब्रूयात् अतिमात्रपानभोजनभोजी सः निर्ग्रन्थः प्रणीतरसभोजनभोजी शान्तिभेदा यावत् भ्रश्येत, नातिमात्रपानभोजनभोजी स निर्ग्रन्थः नो प्रणीतरसभोजनभोजीति चतुर्थी भावना ।

अथापरा पंचमी भावना-नो निर्ग्रन्थः स्त्रीपशुपण्डकसंसक्तानि शयनासनानि सेविता स्यात्, केवली ब्रूयात् आदानमेतत् निर्ग्रन्थः स्त्रीपशुपण्डकसंसक्तानि शयनासनानि सेवमानः शान्तिभेदाः यावद् भ्रश्येत, नो निर्ग्रन्थः स्त्रीपशुपण्डकसंसक्तानि शयनासनानि सेविता स्यादिति पंचमी भावना ।

एतावता चतुर्थं महाव्रतं सम्यक् कायेन स्पर्शितं यावत् आराधितं चापि भवति चतुर्थं भदन्त महाव्रतम् ।

पदार्थ- तस्स-उस महाव्रत की । इमाओ-ये । पंच-पांच । भावणाओ-भावनाएं । भवन्ति-होती हैं ।

तत्थिमा-उन पांच भावनाओं में से यह । पठमा-प्रथम । भावणा-भावना कही गई है । निगंथे-निर्ग्रन्थ-साधु । अभिक्खणं २-बार-बार । इत्थीणं-स्त्रियों की । कहं-कथा । कहित्तए-करने वाला । नो सिया-न हो अर्थात् बार २ स्त्रियों की कामोत्पादक कथा न करे, क्योंकि । केवली ब्रूया-केवली भगवान कहते हैं । णं-वाक्यालंकारार्थक है । निगंथे-निर्ग्रन्थ साधु । अभिक्खणं-बार २ । इत्थीणं-स्त्रियों की । कहं-कथा । कहेमाणे-करता हुआ । संतिभेया-शान्ति-चारित्र समाधि का भेद करता है तथा । संतिविभंगा-शांति-ब्रह्मचर्य का भंग करता है । संतिकेवलिपन्नताओ-शांतिरूप केवली भगवान के प्रतिपादन किए हुए । धम्माओ-धर्म से । भंसिजा-भ्रष्ट हो जाता है । णं-वाक्यालंकारार्थक है अतः । निगंथे-निर्ग्रन्थ साधु । अभिक्खणं २-पुनः पुनः । इत्थीणं-स्त्रियों की । कहं-कथा को । कहित्तए-करने वाला । नो सिय-न हो । त्ति-इस प्रकार । पठमा भावणा-यह प्रथम भावना कही गई है ।

अहावरा-अथ अपर । दुच्चा भावणा-दूसरी भावना को कहते हैं । निगंथे-निर्ग्रन्थ-साधु । इत्थीणं-

स्त्रियों की। मणोहराई २-मनोहर तथा मनोरम। इंदियाई-इन्द्रियों को। आलोइत्तए-काम दृष्टि से अवलोकन तथा। निञ्जाइत्तए-ध्यान या स्मरण करने वाला। नो सिया-न हो। केवली बूया-केवली भगवान कहते हैं। णं-वाक्यालंकार में है। निगंथे-जो निर्ग्रन्थ। इत्थीणं-स्त्रियों की। मणोहराई २-मनोहर तथा मनोरम। इंदियाई-इन्द्रियों को। आलोएमाणे-देखता हुआ। निञ्जाएमाणे-आसक्ति पूर्वक देखता हुआ विचरता है वह। संतिभेया-शांति रूप चारित्र का भेदन करता है और। संतिविभंगा-शांति रूप ब्रह्मचर्य का भंग करता हुआ। जाव-यावत्। धम्माओ-केवलि प्रज्ञप्त धर्म से भी। भंसिजा-भ्रष्ट हो जाता है अतः। निगंथे-निर्ग्रन्थ-साधु। इत्थीणं-स्त्रियों की। मणोहराई २-मनोहर तथा मनोरम-मन को लुभाने वाली। इंदियाई-इन्द्रियों को। आलोइत्तए-अवलोकन करने। निञ्जाइत्तए-विशेष रूप से देखने या ध्यान करने की वृत्ति वाला। नो सिया-न बने। त्ति-इस प्रकार। दुच्चा भावणा-यह दूसरी भावना कही गई है।

अहावरा-अथ द्वितीय भावना से आगे अब। तच्चा भावणा-तीसरी भावना को कहते हैं। निगंथे-निर्ग्रन्थ-साधु। इत्थीणं-स्त्रियों की। पुव्वरयाई-पूर्व रति को। पुव्वकीलियाई-तथा पूर्व क्रीडा को। सुमरित्तए-स्मरण करने वाला। नो सिया-न हो, क्योंकि। केवली बूया-केवली भगवान कहते हैं। णं-प्राग्वत्। निगंथे-निर्ग्रन्थ। इत्थीणं-स्त्रियों की। पुव्वरयाई-पूर्व रति का। पुव्वकीलियाई-पूर्व क्रीडा का। सरमाणे-स्मरण करता हुआ। संतिभेया-शांति का भेदक। जाव-यावत्। भंसिजा-केवली भाषित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है अतः। निगंथे-निर्ग्रन्थ-साधु। इत्थीणं-स्त्रियों की। पुव्वरयाई-पूर्व रति और। पुव्वकीलियाई-पूर्व क्रीडा का। सरित्तए-स्मरण करने वाला। नो सियत्ति-न बने इस प्रकार यह। तच्चा भावणा-चतुर्थ महाव्रत की तीसरी भावना कही गई है।

अहावरा-अथ अपर। चउत्था भावणा-चौथी भावना को कहते हैं। नाइमत्तपाणभोयणभोई-जो साधु मात्रा-प्रमाण से अधिक आहार-पानी नहीं करता है। से निगंथे-वह निर्ग्रन्थ है। न पणीयरसभोयणभोई-जो प्रणीत रस-प्रकाम भोजन का उपभोग करने वाला नहीं है, अर्थात् सरस आहार नहीं करता है। से निगंथे-वह निर्ग्रन्थ है-साधु है। केवली बूया-केवली भगवान कहते हैं, कि यह कर्म बन्धन का हेतु है। अइमत्तपाण-भोयणभोई-प्रमाण से अधिक आहार-पानी करने वाला। से निगंथे-वह निर्ग्रन्थ-साधु। पणीयरसभोयणभोई-प्रणीत रस युक्त भोजन करने वाला। संतिभेया-शान्ति रूप ब्रह्मचर्य व्रत का विघातक। जाव-यावत्। भंसिजा-धर्म से भ्रष्ट हो जाता है अतः। नाइमत्तपाणभोयणभोई-जो प्रमाण से अधिक आहार-पानी करने वाला नहीं है। से-वह। निगंथे-निर्ग्रन्थ है। नो पणीयरसभोयणभोई-जो प्रणीत रस युक्त भोजन को भोगने वाला भी नहीं है। से-वह। निगंथे-निर्ग्रन्थ है। त्ति-इस प्रकार। चउत्था भावणा-यह चौथी भावना का स्वरूप कहा गया है।

अहावरा पंचमा भावणा-अब पांचवीं भावना को कहते हैं। निगंथे-निर्ग्रन्थ साधु। इत्थी-स्त्री। पसु-पशु। पण्डग-पंडक-नपुंसक आदि से। संसत्ताई-संसक्त-संयुक्त। सयणासणाई-शय्या आसनादि के। सेवित्तए-सेवन करने वाला। न सिया-न हो। केवली-केवली भगवान कहते हैं कि। इत्थिपसुपण्डगसंसत्ताई-स्त्री, पशु और नपुंसक आदि से युक्त। सयणासणाई-शय्या-उपाश्रय आसनादि का। सेवेमाणे-सेवन करने वाला। निगंथे-निर्ग्रन्थ। संतिभेया-शान्ति का भेदक अर्थात् ब्रह्मचर्य का भंग करने वाला। जाव-यावत् धर्म से।

भंसिजां-भ्रष्ट हो जाता है इस लिए। निर्ग्रन्थे-निर्ग्रन्थ। इत्थिपसुपंडगसंसत्ताइं-स्त्री, पशु और नपुंसक आदि से युक्त। सयणासणाइं-उपाश्रय और आसनादि को। सेवित्तए-सेवन करने वाला। नो सिया-न हो। त्ति-इस प्रकार यह। पंचमा-पांचवीं। भावणा-भावना कही गई है।

एतावया-इस प्रकार। चउत्थे महव्वए-चतुर्थ महाव्रत को। काएण-काया से। फासिए-स्पर्शित करता हुआ। जाव-यावत्। आराहिए यावि भवइ-आराधित होता है। भंते !-हे भगवन् ! चउत्थे-चतुर्थ। महव्वए-महाव्रत को मैं स्वीकार करता हूँ।

मूलार्थ—चतुर्थ महाव्रत की ये पांच भावनाएँ हैं—

उन पांच भावनाओं में से प्रथम भावना इस प्रकार है— निर्ग्रन्थ साधु बार-बार स्त्रियों की काम जनक कथा न कहे। केवली भगवान कहते हैं कि बार-बार स्त्रियों की कथा कहने वाला साधु शान्ति रूप चारित्र और ब्रह्मचर्य का भंग करने वाला होता है तथा शान्ति रूप केवलि-प्ररूपित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है। अतः साधु को स्त्रियों की बार-बार कथा नहीं करनी चाहिए यह प्रथम भावना है।

अब चतुर्थ महाव्रत की दूसरी भावना कहते हैं— निर्ग्रन्थ-साधु कामराग से स्त्रियों की मनोहर-तथा मनोरम इन्द्रियों को सामान्य अथवा विशेष रूप से न देखे। केवली भगवान कहते हैं— जो निर्ग्रन्थ-साधु स्त्रियों की मनोहर-मन को लुभाने वाली इन्द्रियों को आसक्ति पूर्वक देखता है वह चारित्र और ब्रह्मचर्य का भंग करता हुआ सर्वज्ञ प्रणीत धर्म से भी भ्रष्ट हो जाता है। अतः निर्ग्रन्थ-साधु को स्त्रियों की मनोहर इन्द्रियों को काम दृष्टि से कदापि नहीं देखना चाहिए। यह दूसरी भावना का स्वरूप है।

अब तीसरी भावना का स्वरूप कहते हैं— निर्ग्रन्थ-साधु स्त्रियों के साथ की हुई पूर्व रति और क्रीडा-काम क्रीडा का स्मरण न करे। केवली भगवान कहते हैं जो निर्ग्रन्थ साधु स्त्रियों के साथ की गई पूर्व रति और क्रीडा आदि का स्मरण करता है वह शान्तिरूप चारित्र का भेद करता हुआ यावत् सर्वज्ञ प्रणीत धर्म से भी भ्रष्ट हो जाता है। इसलिए संयमशील मुनि को पूर्व रति और क्रीडा आदि का स्मरण नहीं करना चाहिए। यह तीसरी भावना का स्वरूप है।

अब चतुर्थ भावना का स्वरूप वर्णन करते हैं— वह निर्ग्रन्थ प्रमाण से अधिक आहार-पानी तथा प्रणीत रस-प्रकाम भोजन न करे। क्योंकि केवली भगवान कहते हैं कि इस प्रकार के आहार-पानी एवं प्रणीत-रस प्रकाम भोजन के भोगने से निर्ग्रन्थ चारित्र का विघातक और धर्म से भ्रष्ट हो जाता है। अतः निर्ग्रन्थ को अति मात्रा में आहार-पानी और सरस आहार नहीं करना चाहिए।

पांचवीं भावना का स्वरूप इस प्रकार है— निर्ग्रन्थ-साधु स्त्री, पशु और नपुंसक आदि से युक्त शय्या और आसन आदि का सेवन न करे, केवली भगवान कहते हैं कि ऐसा करने से वह ब्रह्मचर्य का विघातक होता है और केवली भाषित धर्म से पतित हो जाता है। इसलिए निर्ग्रन्थ स्त्री, पशु, पंडक आदि से संसक्त शयनासनादि का सेवन न करे। यह पांचवीं भावना कही गई है।

इस तरह सम्यक्तया काया से स्पर्श करने से सर्वथा मैथुन से निवृत्ति रूप चतुर्थ महाव्रत का आराधन एवं पालन होता है।

**हिन्दी विवेचन-** प्रस्तुत सूत्र में चतुर्थ महाव्रत की ५ भावनाओं का उल्लेख किया गया है- १. स्त्रियों की काम विषयक कथा नहीं करना, २. विकार दृष्टि से स्त्रियों के अंग-प्रत्यंगों का अवलोकन नहीं करना, ३. पूर्व में भोगे हुए विषय-भोगों का स्मरण नहीं करना, ४. प्रमाण से अधिक तथा सरस आहार का आसेवन नहीं करना और ५. स्त्री, पशु एवं नपुंसक से युक्त स्थान में रात को नहीं रहना।

स्त्रियों की काम विषयक कथा करने से मन में विकार भाव की जागृति होना संभव है और उससे उसका मन एवं विचार साधना से विपरीत मार्ग की ओर भटक सकता है। और परिणाम स्वरूप वह साधक कभी कायिक रूप से भी चारित्र से गिर सकता है। इसलिए साधक को कभी काम विकार से संबद्ध स्त्रियों की कथा नहीं करनी चाहिए।

स्त्रियों के रूप एवं शृंगार का अवलोकन करने की भावना से उनके अंगों को नहीं देखना चाहिए। क्योंकि, मन में रही हुई आसक्ति से काम-वासना के उदित होने का खतरा बना रहता है। अतः साधक को कभी भी अपनी दृष्टि को विकृत नहीं होने देना चाहिए और उसे आसक्त भाव से किसी स्त्री के अंग-प्रत्यंगों का अवलोकन नहीं करना चाहिए।

साधु को पूर्व में भोगे गए भोगों का भी चिन्तन-मनन नहीं करना चाहिए। क्योंकि, इससे मन की परिणति में विकृति आती है और उससे उपशान्त विकारों को जागृत होने का अवसर भी मिल सकता है। इसी तरह साधक को शृंगार रस से युक्त या वासना को उद्दीप्त करने वाले उपन्यास, नाटक आदि का भी अध्ययन, श्रवण एवं मनन नहीं करना चाहिए।

ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के लिए साधु को सदा प्रमाण से अधिक एवं सरस तथा प्रकाम भोजन भी नहीं करना चाहिए। क्योंकि प्रतिदिन अधिक आहार करने से तथा प्रकाम आहार करने से शरीर में आलस्य की वृद्धि होगी, आराम करने की भावना जागेगी, स्वाध्याय एवं ध्यान से मन हटेगा। इससे उसकी भावना में विकृति भी आ जाएगी। अतः इन दोषों से बचने के लिए उसे सदा सरस आहार नहीं करना चाहिए तथा प्रमाण से भी अधिक भोजन नहीं करना चाहिए। सादे एवं प्रमाण युक्त भोजन से वह ब्रह्मचर्य का भी ठीक २ परिपालन कर सकेगा और साथ में प्रायः बिमारियों से भी बचा रहेगा और आलस्य भी कम आएगा जिससे वह निर्बाध रूप से स्वाध्याय एवं ध्यान आदि साधना में संलग्न रह सकेगा।

यह उत्सर्ग सूत्र है और ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए ही सरस आहार का निषेध किया गया है। अपवाद मार्ग में अर्थात् साधना के मार्ग में कभी आवश्यकता होने पर साधु सरस आहार स्वीकार भी कर सकता है। जैसे-अरिष्टनेमिनाथ के ६ शिष्यों ने महाराणी देवकी के घर से सिंह केसरी मोदक ग्रहण किए थे। काली आदि महाराणियों ने अपने तप की प्रथम परिपाटी में पारणे में सभी तरह की विगय (दूध, दही

आदि) ग्रहण की थी<sup>१</sup>। भगवान महावीर ने एक महीने की तपस्या के पारणे के दिन सरस आहार ग्रहण किया था<sup>२</sup>। और आशातना के विषय का वर्णन करते हुए आगम में बताया गया है कि यदि शिष्य गुरु के साथ आहार करने बैठे तो वह सरस आहार को शीघ्रता से न खाए<sup>३</sup>। और छेद सूत्रों में यह भी स्पष्ट कर दिया है कि यदि साधु मैथुन सेवन की दृष्टि से घी, दूध आदि विगय का सेवन करता है तो उसे प्रायश्चित्त आता है<sup>४</sup>। इससे यह स्पष्ट होता है कि अपवाद मार्ग में साधु सरस आहार ग्रहण कर सकता है। परन्तु उत्सर्ग मार्ग में ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए उसे सरस आहार नहीं करना चाहिए।

ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के लिए साधु को स्त्री, पशु एवं नपुंसक से रहित मकान में ठहरना चाहिए। क्योंकि स्त्री आदि का अधिक संसर्ग रहने से मन में विकारों की जागृति होना संभव है। इससे उसकी साधना का मार्ग अवरूद्ध हो जाएगा। अतः साधु को इनसे रहित स्थान में ही ठहरना चाहिए।

इस तरह चौथे महाव्रत के सम्बन्ध में दिए गए आदेशों का आचरण करना तथा उनका सम्यक्तया परिपालन करना ही चौथे महाव्रत की आराधना करना है और इस तरह उसका परिपालन करने वाला निर्ग्रन्थ ही आत्मा का विकास कर सकता है।

अब पांचवें महाव्रत का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्— अहावरं पंचमं भन्ते ! महव्वयं सव्वं परिग्गहं पच्चक्खामि, से अप्पं वा बहुं वा अणुं वा थूलं वा चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा नेव सयं परिग्गहं गिण्हज्जा, नेवन्नेहिं परिग्गहं गिण्हाविज्जा, अन्नपि परिग्गहं, गिण्हंतं न समणुजाणिज्जा जाव वोसिरामि ॥**

**छाया—** अथापरं पंचमं भदन्त ! महाव्रतं, सर्वं परिग्रहं प्रत्याख्यामि तद् अल्पं वा बहुं वा अणुं वा स्थूलं वा चित्तवन्तं वा अचित्तं वा नैव स्वयं परिग्रहं गृहीष्यात् नैवान्यैः परिग्रहं ग्राह्येत् अन्यमपि परिग्रहं गृणहन्तं न समनुजानीयात् यावत् व्युत्सृजामि ।

**पदार्थ—** अहावरं—अथ अपर । पंचमं—पांचवां । महव्वयं—महाव्रत कहते हैं । भन्ते—हे भगवन् । सव्वं—सर्व प्रकार के । परिग्गहं—परिग्रह का । पच्चक्खामि—परित्याग करता हूँ । से—वह—साधु । अप्पं वा—अल्प । बहुं वा—बहुत । अणुं—अणु—सूक्ष्म । वा—अथवा । थूलं वा—स्थूल । चित्तमंतमचित्तमंतं वा—सचित्त या अचित्त अर्थात् चेतना युक्त शिष्यादि अथवा अचित्त—चेतना रहित वस्तु । एव—निश्चयार्थक है, इस प्रकार के । परिग्गहं—परिग्रह को । सयं—स्वयं । न गिण्हज्जा—ग्रहण नहीं करूंगा । नेवन्नेहिं—न अन्य व्यक्ति से । परिग्गहं—परिग्रह को । गिण्हाविज्जा—ग्रहण कराऊंगा । परिग्गहं—परिग्रह को । गिण्हंतं—ग्रहण करने वाले । अन्नपि—अन्य व्यक्ति का । न

१ अन्तगड़ सूत्र।

२ भगवती सूत्र शतक १५।

३ समवायांग सूत्र, ३३, दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र, दशा ३।

४ जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए खीरं वा दीहिं वा णवणीयं वा सप्पिं वा गुडं वा खंडं वा सक्करं वा मच्छंडियं वा अण्णयरं वा पणीयं आहारं आहारेइ आहारंतं वा साइज्जइ । — निश्रीथ सूत्र ७९।



समणुजाणिजा-अनुमोदन भी नहीं करूंगा। जाव-यावत्। वोसिरामि-परिग्रह से अपनी आत्मा को पृथक् करता हूँ-परिग्रह रूप आत्मा का व्युत्सर्जन करता हूँ।

**मूलार्थ**—हे भगवन् ! पांचवें महाव्रत के विषय में सर्व प्रकार के परिग्रह का परित्याग करता हूँ। मैं अल्प, बहुत, सूक्ष्म, स्थूल तथा सचित्त और अचित्त किसी भी प्रकार के परिग्रह को न स्वयं ग्रहण करूंगा, न दूसरों से ग्रहण कराऊंगा और न ग्रहण करने वालों का अनुमोदन करूंगा। मैं अपनी आत्मा को परिग्रह से सर्वथा पृथक् करता हूँ।

**हिन्दी विवेचन**— प्रस्तुत सूत्र में साधक को परिग्रह से निवृत्त होने का आदेश दिया गया है। परिग्रह से आत्मा में अशान्ति बढ़ती है। क्योंकि, रात-दिन उसके बढ़ने एवं सुरक्षा करने की चिन्ता बनी रहती है। जिससे साधक निश्चिन्त मन से स्वाध्याय आदि की साधना भी नहीं कर सकता है। इसलिए भगवान ने साधक को परिग्रह से सर्वथा मुक्त रहने का आदेश दिया है। साधु को थोड़ा या बहुत, सूक्ष्म या स्थूल किसी भी तरह का परिग्रह नहीं रखना चाहिए। इसके साथ आगम में यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि साधु साधना में सहायक उपकरणों को स्वीकार कर सकता है। वस्त्र का परित्याग करने वाले जिनकल्पी मुनि भी कम से कम मुखवस्त्रिका और रजोहरण ये दो उपकरण अवश्य रखते हैं। वर्तमान में दिगम्बर मुनि भी मोर पिच्छी और कमण्डल तो रखते ही हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि संयम में सहायक होने वाले पदार्थों को रखना या ग्रहण करना परिग्रह नहीं है। परन्तु उन पर ममता, मूर्च्छा एवं आसक्ति रखना परिग्रह है। आगम में स्पष्ट कहा गया है कि संयम एवं आध्यात्मिक साधना में तेजस्विता लाने वाले उपकरण (वस्त्र-पात्र आदि) परिग्रह नहीं हैं। मूर्च्छा एवं उन पर आसक्ति करना परिग्रह है<sup>१</sup>। तत्त्वार्थ सूत्र में भी वस्त्र रखने को परिग्रह नहीं कहा है। उन्होंने भी आगम में अभिव्यक्त मूर्च्छा, या ममत्व को ही परिग्रह माना है<sup>२</sup>। वस्त्र एवं पात्र ही क्यों, यदि अपने शरीर पर भी ममत्व है, अपनी साधना पर भी ममत्व है तो वह भी परिग्रह का कारण बन जाएगा। अतः साधक को मूर्च्छा-ममता एवं आसक्ति का सर्वथा त्याग करके संयम साधना में संलग्न रहना चाहिए।

अब पंचम महाव्रत की भावनाओं का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं।

**मूलम्**— तस्सिमाओ पंच भावणाओ भवंति।

**तत्थिमा पढमा भावणा**—सोयओ णं जीवे मणुन्नामणुन्नाइं सद्दाइं सुणेइं मणुन्नामणुन्नेहिं सद्देहिं नो सज्जिजा नो रज्जिजा नो गिज्जेजा नो मुज्जिजा नो अज्झोववज्जिजा नो विणिघायमावज्जेजा, केवली बूया०-निगगंथेणं मणुन्नामणुन्नेहिं सद्देहिं सज्जमाणे रज्जमाणे जाव विणिघायमावज्जमाणे संतिभेया

१ न सो परिग्गहो वुत्तो, नायपुत्तेण ताइणा।  
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इइ वुत्तं महेसिणा ॥

— श्री दशवैकालिक सूत्र।

२ मूर्च्छाः परिग्रहः।

— तत्त्वार्थ सूत्र।

संतिविभंगा संतिकेवलिपन्नत्ताओ धम्माओ भंसिज्जा, न सक्का न सोउं सहा, सोतविसयमागया । रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जे १ । सोयओ जीवे मणुन्नामणुन्नाइं सहाइं सुणेइत्ति पढमा भावणा ॥१॥

अहावरा दुच्चा भावणा- चक्खुओ जीवो मणुन्नामणुन्नाइं रूवाइं पासइ, मणुन्नामणुन्नेहिं रूवेहिं सज्जमाणे जाव विणिघायमावज्जमाणे संतिभेया जाव भंसिज्जा-नो सक्का रूवमदट्ठं चक्खुविसयमागयं । राग दोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जे, चक्खुओ जीवो मणुन्ना २ इं रूवाइं पासइत्ति, दुच्चा भावणा ।

अहावरा तच्चा भावणा-घाणओ जीवे मणुन्नामणुन्नाइं गंधाइं अग्घायइ मणुन्नामणुन्नेहिं गंधेहिं नो सज्जिज्जा नो रज्जिज्जा जाव नो विणिघायमावज्जिज्जा, केवली बूया-मणुन्नामणुन्नेहिं गंधेहिं सज्जमाणे जाव विणिघायमावज्जमाणे संतिभेया जाव भंसिज्जा-न सक्का गंधमग्घाउं, नासाविसयमागयं । रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जे १ । घाणओ जीवो मणुन्नामणुन्नाइं गंधाइं अग्घायइत्ति तच्चा भावणा ॥३॥

अहावरा चउत्था भावणा-जिब्भाओ जीवो मणुन्नामणुन्नाइं रसाइं अस्साएइ, मणुन्नामणुन्नेहिं रसेहिं नो सज्जिज्जा जाव विणिघायमावज्जिज्जा, केवली बूया-निग्गंथे णं मणुन्नामणुन्नेहिं रसेहिं सज्जमाणे जाव विणिघायमावज्जमाणे संतिभेया जाव भंसिज्जा-न सक्का रसमस्साउं, जीहाविसयमागयं । रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जे १ । जीहाओ जीवो मणुन्नामणुन्नाइं रसाइं अस्साएइत्ति चउत्था भावणा ॥४॥

अहावरा पंचमा भावणा-फासओ जीवो मणुन्नामणुन्नाइं फासाइं पडिसंवेदेइ मणुन्नामणुन्नेहिं फासेहिं ने सज्जिज्जा जाव नो विणिघायमावज्जिज्जा, केवली बूया-निग्गंथे णं मणुन्नामणुन्नेहिं फासेहिं सज्जमाणे जाव विणिघायमावज्जमाणे संतिभेया संतिविभंगा संतिकेवलीपन्नत्ताओ धम्माओ भंसिज्जा न सक्का फासमवेएउं, फासविसयमागयं । रागदोसा उ जे तत्थ ते भिक्खू परिवज्जे १ । फासओ जीवो मणुन्नामणुन्नाइं फासाइं पडिसंवेदेइ पंचमा

## भावणा ॥५॥

एतावताव पंचमे महव्वते सम्मं काएण फासिए० अवट्ठए आणाए आराहिए यावि भवइ, पंचमं भंते ! महव्वयं ! इच्चेएहिं पंचमहव्वएहिं पणवीसाहि व भावणाहिं संपन्ने अणगारे अहासुयं अहाकप्पं अहामगं सम्मं काएण फासित्ता पालित्ता तीरित्ता किट्ठित्ता आणाए आराहित्ता यावि भवइ । ति बेमि ॥

छाया- तस्येमाः पंच भावनाः भवन्ति-

तत्र इयं प्रथमा भावना-श्रोत्रतः जीवः मनोज्ञामनोज्ञान् शब्दान् शृणोति मनोज्ञामनोज्ञेषु शब्देषु नो सज्जेत नो रज्जेत नो गृध्येत् नो मूर्च्छेत् नो अध्युपपद्येत नो विनिघातमापद्येत, केवली ब्रूयात्-आदानमेतत्, निर्ग्रन्थः मनोज्ञामनोज्ञेषु शब्देषु सज्जमानः रज्जमानः यावत् विनिघातमापद्यमानः, शान्तिभेदाः शान्तिविभंगाः शान्ति केवलिप्रज्ञप्ताद् धर्मात् भ्रश्येत्, न शक्याः न श्रोतुं शब्दाः श्रोत्रविषयमागताः रागद्वेषास्तु ये तत्र तान् भिक्षुः परिवर्जयेत् । श्रोत्रतः जीवः मनोज्ञामनोज्ञान् शब्दान् शृणोति प्रथमा भावना ।

अथापरा द्वितीया भावना-चक्षुष्टो जीवः मनोज्ञामनोज्ञानि रूपाणि पश्यति मनोज्ञामनोज्ञेषु रूपेषु सज्जमानः यावत् विनिघातमापद्यमानः शान्तिभेदाः यावद् भ्रश्येत् । न शक्यं रूपमद्रष्टुं चक्षुर्विषयमागतं, रागद्वेषास्तु ये तत्र तान् भिक्षुः परिवर्जयेत् । चक्षुष्टो जीवो मनोज्ञामनोज्ञानि रूपाणि पश्यति द्वितीया भावना ।

अथापरा तृतीया भावना-घ्राणतो जीवो मनोज्ञामनोज्ञान् गंधान् आजिघ्रति, मनोज्ञामनोज्ञेषु गन्धेषु नो सज्जेत यावत् नो रज्जयेत यावत् नो विनिघातमापद्येत केवली ब्रूयात्-आदानमेतत् मनोज्ञामनोज्ञेषु गंधेषु सज्जमानः यावत् विनिघातमापद्यमानः शान्तिभेदा यावद् भ्रश्येत् । न शक्यो गन्धनाघ्रातुं, नासाविषयमागतं, रागद्वेषास्तु ये तत्र तान् भिक्षुः परिवर्जयेत् । घ्राणतो जीवः मनोज्ञामनोज्ञान् गंधान् आजिघ्रति इति तृतीया भावना ।

अथापरा चतुर्थी भावना- जिह्वातो जीवः मनोज्ञामनोज्ञान् रसान् आस्वादयति, मनोज्ञामनोज्ञेषु रसेषु नो सज्जेत यावत् नो विनिघात-मापद्येत केवली ब्रूयात्-निर्ग्रन्थः मनोज्ञामनोज्ञेषु रसेषु सज्जमानः यावद् विनिघातमापद्यमानः शान्तिभेदा यावद् भ्रश्येत् । न शक्यः रसआस्वादयितुं जिह्वाविषयमागतः । रागद्वेषास्तु ये तत्र तान् भिक्षुः परिवर्जयेत् । जिह्वातो जीवः मनोज्ञामनोज्ञान् रसान् आस्वदते इति चतुर्थी भावना ।

अथापरा पंचमी भावना-स्पर्शतः जीवः मनोज्ञामनोज्ञान् स्पर्शान् प्रतिसंवेदयति मनोज्ञामनोज्ञेषु स्पर्शेषु न सज्जेत यावत् नो विनिघातमापद्येत केवली ब्रूयात् आदानमेतत् ; निर्ग्रन्थः मनोज्ञामनोज्ञेषु स्पर्शेषु सज्जमानः यावत् विनिघातमापद्यमानः शान्तिभेदाः, शान्ति-विभंगाः केवलिप्रज्ञप्ताद् धर्माद् भ्रश्येत् न शक्यः स्पर्शोऽवेदितुं स्पर्शविषयमागतः । रागद्वेषा-

स्तु ये तत्र तान् भिक्षुः परिवर्जयेत्। स्पर्शतः जीवः मनोज्ञामनोज्ञान् स्पर्शान् प्रतिस्वेदयति, इति पंचमी भावना।

एतावता पंचमे महाव्रतं सम्यक् अवस्थितः आज्ञाया आराधकश्चापि भवति, पंचमं भदन्त महाव्रतम्० इत्येतैः पंच महाव्रतैः पंचविंशत्या च भावनाभिः सम्पन्नः अनागारः यथाश्रुतं यथाकल्पं यथामार्गं कायेन स्पृष्ट्वा पालयित्वा तीर्त्वा कीर्तयित्वा आज्ञाया आराधक-श्चापि भवति।

**पदार्थ-** तस्मिमाओ-उस महाव्रत की ये। पंच-पांच। भावणाओ-भावनाएं। भवंति-हैं।

तत्थिमा-उन पांच भावनाओं में से। पढमा भावणा-प्रथम भावना यह है। णं-वाक्यालंकारार्थक है। जीवे-जीव। सोयओ-श्रोत्र इन्द्रिय से। मणुन्नामणुन्नाइं-मनोज्ञामनोज्ञ अर्थात् प्रिय और अप्रिय। सद्दाइं-शब्दों को। सुणेइं-सुनता है किन्तु। मणुन्नामणुन्नेहिं-प्रिय और अप्रिय। सद्देहिं-शब्दों में। नो सज्जिजा-आसक्त न हो। नो रज्जिजा-अनुरक्त-राग युक्त न हो। नो गिन्झेजा-गृद्धि वाला न हो। नो मुन्झिजा-मोहित या मूर्च्छित न हो। नो अन्झोववज्जिजा-अत्यन्त आसक्त न हो। नो विणिघायमावज्जिजा-और विनाश को प्राप्त न हो अर्थात् राग-द्वेष न करे कारण कि। केवली बूया-केवली भगवान कहते हैं कि यह कर्म बन्ध का हेतु है। णं-पूर्ववत्। निगंथे-निग्रन्थ-साधु। मणुन्नामणुन्नेहिं-मनोज्ञामनोज्ञ-प्रिय और अप्रिय। सद्देहिं-शब्दों में। सज्जमाणे-आसक्त होता हुआ। रज्जमाणे-राग करता हुआ। जाव-यावत्। विणिघायमावज्जमाणे-राग-द्वेष करता हुआ। संतिभेया-शान्ति का भेदक। संतिविभंगा-शान्ति रूप अपरिग्रहव्रत का भेदक। संति केवलीपन्नताओ-शान्ति रूप केवलि प्रणीत-केवली भाषित। धम्माओ-धर्म से। भंसिजा-भ्रष्ट हो जाता है अर्थात् धर्म से पतित हो जाता है। सोतविसयभागया-श्रोत्र विषय में आए हुए। सद्दा-शब्द। न सक्का-समर्थ नहीं। न सोउं-न सुनने को अर्थात् आने वाले शब्द अवश्य सुने जाते हैं किन्तु। जे-जो। तत्थ-यहां पर। रागदोसा-राग-द्वेष है। उ-वितर्क में है। तं-उसको अर्थात् राग-द्वेष को। भिक्खू-भिक्षु-साधु। परिवज्जाए-छोड़ दे। सोयओ-श्रोत्र से। जीवे-जीव-साधु। मणुन्नामणुन्नाइं-प्रिय और अप्रिय। सद्दाइं-शब्दों को। सुणेइं-सुनता है किन्तु उन पर रागद्वेष नहीं लाता। पढमा भावणा-यह प्रथम भावना है।

अहावरा दुच्चा भावणा-अब दूसरी भावना को कहते हैं। जीवो-जीव। चक्खुओ-चक्षु से-चक्षु द्वारा। मणुन्नामणुन्नाइं-मनोज्ञामनोज्ञ प्रिय और अप्रिय। रूवाइं-रूपों को। पासइं-देखता है, फिर। मणुन्नामणुन्नेहिं-मनोज्ञामनोज्ञ। रूवेहिं-रूपों में। सज्जमाणे-आसक्त होता हुआ। जाव-यावत्। विणिघायमावज्जमाणे-राग-द्वेष के वशीभूत हो कर विनाश को प्राप्त होता हुआ। संतिभेया-शान्ति भेद। जाव-यावत्। भंसिजा-धर्म से भ्रष्ट हो जाता है। चक्खुविसयमागयं-चक्षु विषय को प्राप्त हुआ। रूवं-रूप। अदट्ठुं न सक्का-अदृष्ट नहीं रह सकता अर्थात् वह दिखाई देगा ही किन्तु। तत्थ-वहां पर। जे-जो। रागदोसा-रागद्वेष उत्पन्न होता है। तं-उसको। भिक्खू-भिक्षु-साधु। परिवज्जाए-त्याग दे-छोड़ दे। उ-वितर्क में है।

अहावरा तच्चा भावणा-अथ अपर तीसरी भावना यह है। जीवे-जीव। घाणओ-घ्राण इन्द्रिय से। मणुनामणुनाइं-मनोज्ञामनोज्ञ प्रिय और अप्रिय। गंधाईं-गंधों को। अगघायइ-सूंघता है। मणुनामणुनेहिं-मनोज्ञामनोज्ञ। गंधेहिं-गंधों में। नो सज्जिज्जा-आसक्त न हो। नो रज्जिज्जा-राग भाव न करे। जाव-यावत्। नो विणिघायमावज्जिज्जा-द्वेष से विनाश को प्राप्त न हो। केवली बूया-केवली भगवान कहते हैं। मणुनामणुनेहिं-प्रिय तथा अप्रिय। गंधेहिं-गंधों में। सज्जमाणे-आसक्त होता हुआ। जाव-यावत्। विणिघायमावज्जमाणे-विनिघात-विनाश को प्राप्त होता हुआ। संतिभेया-शांति रूप चारित्र का भेद करता है। जाव-यावत्। भंसिज्जा-धर्म से भ्रष्ट हो जाता है। नासाविसयमागयं-नासिका के विषय को प्राप्त हुआ। गंधं-गन्ध। न सक्का अगघाउं-अगन्ध नहीं हो सकता अर्थात् नासिका के सन्निधान को प्राप्त हुआ गन्ध नासिका के छिद्रों में प्रविष्ट होता है किन्तु। तत्थ-उस में। जे-जो। रागदोसा-रागद्वेष उत्पन्न होता है। ते-उसे। भिक्खू-साधु। परिवज्जाए-त्याग दे अर्थात् उसमें राग-द्वेष न करे। घाणओ-घ्राणेन्द्रिय से। जीवो-जीव। मणुनामणुनाइं गंधाईं-प्रिय और अप्रिय गन्ध को। अगघायइ-ग्रहण करता है, सूंघता है। त्ति-इस प्रकार यह। तच्चा भावणा-तीसरी भावना कही गई है।

अहावरा चउत्था भावणा-अब यह चौथी भावना कही जाती है। जीवो-जीव। जिब्भाओ-जिह्वा से। मणुनामणुनाइं-मनोज्ञामनोज्ञ-प्रिय तथा अप्रिय। रसाईं-रसों का। अस्साएइ-आस्वादन करता है-स्वाद लेता है किन्तु। मणुनामणुनेहिं-प्रिय और अप्रिय। रसेहिं-रसों में। नो सज्जिज्जा-आसक्त न हो। जाव-यावत्। विणिघायमावज्जिज्जा-विनिघात-विनाश को प्राप्त न होवे। केवली बूया-केवली भगवान कहते हैं। णं-वाक्यालंकार अर्थ में है। निगंथे-निर्ग्रन्थ साधु। मणुनामणुनेहिं-प्रिय तथा अप्रिय। रसेहिं-रसों में। सज्जमाणे-आसक्त होता हुआ। जाव-यावत्। विणिघायमावज्जमाणे-विनाश को प्राप्त होता हुआ। संतिभेया-शान्ति भेद। जाव-यावत्। भंसेज्जा-धर्म से भ्रष्ट हो जाता है। जीहाविसयमागयं-जिह्वा के सन्निधान में आए हुए। रसं-रस के पुद्गल। न सक्कमस्साउं-अनास्वादित नहीं रह सकते अर्थात् जिह्वा के विषय को प्राप्त हुआ कोई रस ऐसा नहीं है कि जिसका आस्वादन न किया जा सके किन्तु। तत्थ-उस में। जे-जो। रागदोसा-राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं। ते-उनका। भिक्खू-भिक्षु-साधु। परिवज्जाए-परित्याग करे अर्थात् उनमें राग-द्वेष न करे। जीहाओ-जिह्वा से। जीवो-जीव। मणुनामणुनाइं-प्रिय और अप्रिय। रसाईं-रसों का। अस्साएइ-आस्वादन करता है। त्ति-इस प्रकार यह। चउत्था भावणा-चतुर्थ भावना कही गई है।

अहावरा पंचमा भावणा-अब अन्य पांचवीं भावना को कहते हैं। जीवो-जीव। फासाओ-स्पर्श इन्द्रिय के द्वारा। मणुनामणुनाइं-प्रिय और अप्रिय। फासाईं-स्पर्शों को। पडिसंवेएइ-अनुभव करता है अर्थात् स्पर्शेन्द्रिय से मृदु कर्कशादि स्पर्शों को अवगत करता है परन्तु वह जीव। मणुनामणुनेहिं-मनोज्ञामनोज्ञ। फासेहिं-स्पर्शों में। नो सज्जिज्जा-आसक्त न हो। जाव-यावत्। नो विणिघायमावज्जिज्जा-विनाश को प्राप्त न होवे। केवली बूया-केवली भगवान कहते हैं। णं-वाक्यालंकार अर्थ में है। निगंथे-निर्ग्रन्थ। मणुनामणुनेहिं-प्रिय और अप्रिय। फासेहिं-स्पर्शों में। सज्जमाणे-आसक्त होता हुआ। जाव-यावत्। विणिघायमावज्जमाणे-विनाश

को प्राप्त होता हुआ। संतिभेया-शांति का भेद। संतिविभंगा-शांति विभंग। संतिकेवलीघनत्ताओ-शान्ति रूप केवली भाषित। धम्माओ-धर्म से। भंसिज्जा-भ्रष्ट हो जाता है। फासविसयमागयं-स्पर्शेन्द्रिय के विषय को प्राप्त हुआ। फासं-स्पर्श। अवेएउं-बिना स्पर्शित हुए। न सक्का-नहीं रहता अर्थात् स्पर्शेन्द्रिय के सन्निधान में आए हुए स्पर्शनीय पुद्गलों का स्पर्श हुए बिना नहीं रहता, परन्तु। तत्थ-वहां पर। जे-जो। रागदोसा-राग-द्वेष उत्पन्न होता है। ते-उनको। भिक्खु-भिक्षु-साधु। परिवज्जे-सर्व प्रकार से त्याग दे, छोड़ दे। जीवो-जीव। मणुन्नामणुन्नाइं-प्रिय तथा अप्रिय। फासाइं-स्पर्शों को। फासाओ-स्पर्शेन्द्रिय के द्वारा। पडिसंवेएइ-अनुभव करता है, परन्तु उन के विषय में राग-द्वेष नहीं करना यह। पंचमा-पांचवों। भावणा-भावना कही गई है।

एतावता-इस प्रकार। पंचमे महव्वए-पंचम महाव्रत में। सम्मं-सम्यक् प्रकार से। अवट्ठए-अवस्थित। आणाए-आज्ञा का। आराहिए-आराधक। यावि भवइ-होता है। पंचमं भंते महव्वयं-हे भगवन् ! ये पांचवां महाव्रत है। इच्चेएहिं पंचमहव्वएहिं-इन पांच महाव्रतों से, तथा। पणवीसाहि य भावणाहिं-पच्चीस भावनाओं से। संपन्ने-युक्त। अणगारे-साधु। अहासुयं-श्रुत के अनुसार। अहाकप्पं-कल्प के अनुसार। अहामगं-मार्ग के अनुसार। सम्मं-अच्छी तरह से। काएण-काया द्वारा। फासित्ता-स्पर्शित कर। पालित्ता-पालन कर। तीरित्ता-तीरित कर। किट्टित्ता-कीर्तित कर के। आणाए-आज्ञा का। आराहित्ता-आराधन करने वाला। यावि भवइ-होता है।

मूलार्थ—इस पंचम महाव्रत की ये पांच भावनाएं हैं— श्रोत्र से यह जीव प्रिय तथा अप्रिय शब्दों को सुनता है, परन्तु वह प्रिय तथा अप्रिय शब्दों में आसक्त न हो, राग भाव न करे, गुद्ध न हो, मूर्च्छित न हो, तथा अत्यन्त आसक्ति एवं राग-द्वेष न करे, केवली भगवान कहते हैं कि साधु मनोज्ञामनोज्ञ शब्दों में आसक्त होता हुआ, राग करता हुआ यावत् विद्वेष करता हुआ शान्ति भेद एवं शान्ति विभंग करता है और केवली भाषित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है तथा श्रोत्र विषय में आए हुए शब्द ऐसे नहीं जो सुने न जाएं किन्तु उनके सुनने पर जो राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है, भिक्षु उसका परित्याग कर दे। अतः जीव के श्रोत्रेन्द्रिय के विषय में आए हुए प्रिय और अप्रिय शब्दों में राग-द्वेष न करे। यह प्रथम भावना कही गई है।

चक्षु के द्वारा यह जीव प्रिय तथा अप्रिय रूपों को देखता है, प्रिय सुन्दर रूपों में आसक्त होता हुआ यावत् द्वेष करता हुआ शान्ति भेद यावत् धर्म से पतित हो जाता है। तथा चक्षु के विषय में आया हुआ रूप अदृष्ट नहीं रह सकता अर्थात् वह अवश्य दिखाई देगा, परन्तु उसको देखने से उत्पन्न होने वाले राग-द्वेष का भिक्षु परित्याग कर दे। इस तरह चक्षु के द्वारा देखे जाने वाले प्रिय और अप्रिय रूपों पर राग-द्वेष नहीं करना चाहिए, यह द्वितीय भावना है।

तीसरी भावना यह है— नासिका के द्वारा जीव प्रिय तथा अप्रिय गंधों को सूंघता है, परन्तु प्रिय तथा अप्रिय गंधों को सूंघता हुआ उनमें राग-द्वेष न करे, क्योंकि केवली भगवान कहते हैं कि प्रिय तथा अप्रिय गंधों में राग-द्वेष करता हुआ साधु शांति का भेदन करता हुआ धर्म से भ्रष्ट हो जाता है। तथा ऐसे भी नहीं कि नासिका के सन्निधान में आए हुए गंध के परमाणु पुद्गल सूंघे

न जा सकें। परन्तु इसका तात्पर्य इतना ही है कि साधु उनमें राग-द्वेष न करे।

चतुर्थ भावना इस प्रकार वर्णन की गई है—जीव जिह्वा से प्रिय तथा अप्रिय रसों का आस्वाद लेता है किन्तु उनमें रागद्वेष न करे। केवली भगवान कहते हैं कि प्रिय तथा अप्रिय रसों में आसक्त एवं राग-द्वेष करने वाला निर्ग्रन्थ शान्ति भेद और धर्म से पतित हो जाता है। तथा जिह्वा को प्राप्त हुआ रस अनास्वादित नहीं रह सकता किन्तु उसमें जो राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है उसका भिक्षु परित्याग कर दे। और जिह्वा से आस्वादित होने वाले प्रिय तथा अप्रिय रसों में राग-द्वेष से रहित होना यह चतुर्थ भावना है।

अब पांचवीं भावना को कहते हैं— यह जीव स्पर्शोन्द्रिय के द्वारा प्रिय और अप्रिय स्पर्शों का अनुभव करता है, किन्तु प्रिय स्पर्श में राग और अप्रिय स्पर्श में द्वेष न करे। केवली भगवान कहते हैं कि साधु प्रिय स्पर्श में राग और अप्रिय में द्वेष करता हुआ शान्ति भेद, शान्ति विभंग करता हुआ शान्तिरूप केवल भाषित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है। स्पर्शोन्द्रिय के सन्निधान में आए हुए स्पर्श के पुद्गल बिना स्पर्शित हुए— बिना अनुभव किए नहीं रह सकते, किन्तु वहां पर जो राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है साधु उसको सर्वथा छोड़ दे। स्पर्शोन्द्रिय के द्वारा जीव प्रिय तथा अप्रिय स्पर्शों का अनुभव करता है, उनमें राग और द्वेष का न करना यह पांचवीं भावना कही गई है।

इस प्रकार यह पांचवां महाव्रत सम्यक् प्रकार से काया द्वारा स्पर्श किया हुआ, पालन किया हुआ, तीर पहुंचाया हुआ, कीर्तन किया हुआ, अवस्थित रखा हुआ और आज्ञा पूर्वक आराधन किया हुआ होता है। इस पांचवें महाव्रत में सर्व प्रकार के परिग्रह का त्याग किया जाता है।

इन पांच महाव्रत और उनकी पच्चीस भावनाओं से सम्पन्न हुआ साधु यथा श्रुत यथा कल्प और यथामार्ग अर्थात् श्रुत-कल्प और मार्ग के अनुसार इनका सम्यक्तया काया से स्पर्श कर, पालन कर और तीर पहुंचा कर और भगवान की आज्ञानुसार इनका आराधन करके आराधक बन जाता है, इस प्रकार मैं कहता हूँ।

**हिन्दी विवेचन**— प्रस्तुत सूत्र में पांचवें महाव्रत की पांच भावनाएं बताई गई हैं— १. प्रिय और अप्रिय शब्द, २. रूप, ३. गन्ध, ४. रस और ५. स्पर्श पर राग-द्वेष न करे। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि साधक कान, आंख, नाक आदि बन्द करके चले। उसे अपनी इन्द्रियों को बन्द करने की आवश्यकता नहीं है। शब्द कान में पड़ते रहें, इसमें कोई आपत्ति नहीं है। परन्तु, उन प्रिय या अप्रिय शब्दों के ऊपर राग-द्वेष नहीं करना चाहिए। मधुर एवं कर्ण प्रिय गीतों को सुनने या इसी तरह दूसरे व्यक्ति की निन्दा-चुगली सुनने के लिए उस ओर ध्यान नहीं देना चाहिए। इससे स्वाध्याय का अमूल समय नष्ट होता है एवं मन में रागद्वेष की भावना भी उत्पन्न हो सकती है। अतः साधक को किसी भी तरह के शब्दों पर राग-द्वेष नहीं करना चाहिए।

इसी तरह अपनी आंखों के सामने आने वाले सुन्दर एवं कुत्सित रूप पर भी राग-द्वेष नहीं करना चाहिए। उसे सुन्दर, सुहावने दृश्यों एवं लावण्यमयी स्त्रियों आदि के रूप को देखकर उस पर मुग्ध एवं आसक्त नहीं होना चाहिए और न घृणित दृश्यों को देखकर नाक-भौं सिकोड़ना चाहिए। साधक को

सदा राग-द्वेष से ऊपर उठकर तटस्थ रहना चाहिए।

इसी तरह वायु के साथ पदार्थों में से आने वाली सुगन्ध एवं दुर्गन्ध के समय भी साधु को मध्यस्थ भाव रखना चाहिए। सुवासित पदार्थों में राग भाव नहीं रखना चाहिए और न दुर्गन्ध मय पदार्थों पर द्वेष भाव। साधक को सदा राग-द्वेष से ऊपर उठकर संयम साधना में संलग्न रहना चाहिए।

इसी प्रकार साधक को रसों में आसक्त नहीं होना चाहिए। स्वादिष्ट या अस्वादिष्ट जैसा भी निर्दोष आहार प्राप्त हुआ हो उसे समभाव पूर्वक भोगना चाहिए। उसे सुस्वादु एवं रस युक्त आहार पर राग भाव नहीं रखना चाहिए और न नीरस आहार पर द्वेष। साधक को कभी भी स्वाद के वशीभूत नहीं होना चाहिए।

साधक को अनेक तरह के प्रिय-अप्रिय, अनुकूल-प्रतिकूल स्पर्श होते रहते हैं। परन्तु उसे किसी भी स्पर्श पर राग-द्वेष नहीं करना चाहिए। न मनोज्ञ स्पर्श पर राग भाव रखना चाहिए और अमनोज्ञ स्पर्श पर द्वेष भाव। यही साधक की साधना का वास्तविक स्वरूप है।

इस तरह साधक जब इन आदेशों को आचरण में उतारता है, उन्हें जीवन में साकार रूप देता है, तभी अपरिग्रह महाव्रत की आराधना कर पाता है।

इस प्रकार इस अध्ययन में वर्णित ५ महाव्रत एवं २५ भावनाओं का सम्यक्तया परिपालन करने वाला साधक ही आराधक होता है और वह क्रमशः आत्मा का विकास करता हुआ कर्म बन्धनों से युक्त होता हुआ, एक दिन अपने साध्य को पूर्णतया सिद्ध कर लेता है।

प्रस्तुत भावना अध्ययन में भगवान महावीर के जीवन पर प्रकाश डाला गया है। भगवान महावीर के जीवन एवं साधना से संबद्ध होने के कारण प्रस्तुत अध्ययन में भावनाओं का उल्लेख किया गया है। ऐसे प्रश्न व्याकरण सूत्र के पांचवें संवर द्वार में भावनाओं का विशेष रूप से वर्णन किया गया है। यहाँ केवल दिग्दर्शन कराया गया है।

प्रस्तुत अध्ययन भगवान महावीर के जीवन एवं साधना से संबंधित होने के कारण प्रत्येक साधक के लिए मननीय एवं चिन्तनीय है। इससे साधक की साधना में तेजस्विता आएगी और उसे अपने पथ पर बढ़ने में बल मिलेगा। अतः प्रत्येक साधक को इसका गहराई से अध्ययन करके भगवान महावीर की साधना को जीवन में साकार रूप देने का प्रयत्न करना चाहिए। संक्षेप में महाव्रतों एवं उनकी भावनाओं का महत्त्व आचरण करने से है। उनका सम्यक्तया आचरण करके ही साधक सर्व प्रकार के कर्म-बन्धनों से मुक्त-उन्मुक्त हो सकता है।

पञ्चदश अध्ययन ( तृतीया चूला ) समाप्त।



॥ चतुर्थ चूला- विमुक्ति ॥

## सोलहवां अध्ययन ( विमुक्ति )

पन्द्रहवें अध्ययन में ५ महाव्रत और उसकी २५ भावनाओं का उल्लेख किया गया है। अब प्रस्तुत अध्ययन में विमुक्ति-भोक्ष के साधन रूप साधनों का उल्लेख किया गया है। यह स्पष्ट है कि महाव्रतों की साधना कर्मों से मुक्त होने के लिए ही है। अतः इस अध्ययन में निर्जरा के साधनों का विशेष रूप से वर्णन किया गया है। इस वर्णन को पांच अधिकारों में विभक्त किया गया है- १. अनित्य अधिकार, २. पर्वत अधिकार, ३. रूप्य (चांदी) अधिकार, ४. भुजगत्वग् अधिकार और ५. समुद्र अधिकार। इस तरह समस्त साधना का उद्देश्य मुक्ति है। मुक्ति भी देश मुक्ति एवं सर्व मुक्ति अपेक्षा से दो प्रकार की कही गई है। सामान्य साधु से लेकर भवस्थ केवली पर्यन्त की देश मुक्ति मानी गई है और अष्ट कर्मबन्धन का सर्वथा क्षय करके निर्वाण पद को प्राप्त करना सर्व मुक्ति कहलाती है। उक्त उभय प्रकार की मुक्ति की प्राप्ति कर्म निर्जरा से होती है। अतः निर्जरा के साधनों का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं-

**मूलम्- अणिच्चमावासमुविंति जंतुणो, पलोयए सुच्चमिणं अणुत्तरं।**

**विऊसिरे विन्नु अगारबंधणं, अभीरु आरंभपरिग्रहं चए ॥१॥**

छाया- अनित्यमावासमुपयान्ति जन्तवः, प्रलोकयेत् श्रुत्वा इदमनुत्तरम्।

व्युत्सृजेत् विज्ञः अगारबन्धनं, अभीरुः आरम्भपरिग्रहं त्यजेत् ॥१॥

**पदार्थ-** इणं-इस-जिन प्रवचन को, जो। अणुत्तरं-सर्व श्रेष्ठ है, जिसमें यह कहा गया है कि। जंतुणो-जीव। आवासं-मनुष्य आदि जन्मों को प्राप्त करते हैं, वे। अणिच्चं-अनित्य हैं ऐसा। सुच्चं-सुनकर। पलोयए-उस पर गंभीरता एवं अन्तर हृदय से विचार कर के। विन्नु-विद्वान व्यक्ति। आगारबंधणं वा-पारिवारिक स्नेह बन्धन को। विऊसिरे-त्याग दे, और वह। अभीरु-सात प्रकार के भय एवं परीषहों से नहीं डरने वाला साधक। आरंभपरिग्रहं-समस्त प्रकार के सावद्य कर्म एवं परिग्रह को भी। चए-छोड़ दे।

**मूलार्थ-**सर्व श्रेष्ठ जिन प्रवचन में यह कहा गया है कि आत्मा मनुष्य आदि जिन योनियों में जन्म लेता है, वे स्थान अनित्य हैं। ऐसा सुनकर एवं उस पर हार्दिक चिन्तन करके समस्त भयों से निर्भय बना हुआ विद्वान पारिवारिक स्नेह बन्धन का, समस्त सावद्य कर्म एवं परिग्रह का त्याग कर दे।

**हिन्दी विवेचन-** प्रस्तुत गाथा में अनित्यता के स्वरूप का वर्णन किया गया है। भगवान ने

अपने प्रवचन में यह स्पष्ट कर दिया है कि संसार में जीवों के उत्पन्न होने की जितनी भी योनिएं हैं, वे अनित्य हैं। क्योंकि अपने कृत कर्म के अनुसार जीव उन योनियों में जन्म ग्रहण करता है और अपने उस भव के आयु कर्म के समाप्त होते ही उस योनि के प्राप्त शरीर को छोड़ देता है। इस तरह समस्त योनियां कर्म जन्य हैं, इस कारण वे अनित्य हैं। जब तक जीव संसार में परिभ्रमण करता रहता है। तब तक वह अपने कृत कर्म के अनुसार एक योनि से दूसरी योनि में परिभ्रमण करता रहता है। इससे योनि की अनित्यता स्पष्ट हो जाती है। परन्तु इससे उसके अस्तित्व का नाश नहीं होता इसलिए उसे मिथ्या नहीं कहा जा सकता। यह ठीक है कि संसार अनित्य है, संसार में स्थित जीव एक योनि से दूसरी योनि में भटकता रहता है। इससे हम निःसंदेह कह सकते हैं कि संसार मिथ्या नहीं, अनित्य एवं परिवर्तन शील है। परन्तु इसके साथ यह भी स्पष्ट है कि परिभ्रमण के कारण जीव के आत्म प्रदेशों में किसी तरह का अन्तर नहीं आता है। उसकी योनि की पर्याएं, शरीर आदि की पर्याएं एवं ज्ञान-दर्शन की पर्याएं परिवर्तित होती रहती हैं, परन्तु इन परिवर्तनों के कारण आत्म द्रव्य नहीं बदलता, उसके असंख्यात प्रदेशों में किसी भी तरह की न्यूनाधिकता नहीं आती है।

इस तरह संसार की अनित्यता के स्वरूप को सुन कर और उस पर गहराई से चिन्तन मनन करके विद्वान एवं निर्भय व्यक्ति संसार से ऊपर उठने का प्रयत्न करता है। फिर वह पारिवारिक स्नेह बन्धन में बंधा नहीं रहता है। वह मृत्यु के समय जबरदस्ती टूटने वाले स्नेह बन्धन को स्वेच्छा से तोड़ देता है। वह अनासक्त भाव से पारिवारिक ममता का एवं सावद्य कर्मों का तथा समस्त परिग्रह का त्याग करके साधना के मार्ग पर कदम रख देता है।

इस गाथा में आत्मा की द्रव्य रूप से नित्यता एवं योनि आदि पर्यायों या संसार की अनित्यता, अस्थिरता एवं परिवर्तनशीलता को स्पष्ट रूप से दिखाया गया है। और साथ में यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि विद्वान एवं निर्भय व्यक्ति ही उसके यथार्थ रूप को समझ कर सांसारिक संबंधों एवं साधनों का परित्याग कर सकता है।

अब पर्वत अधिकार का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं।

**मूलम्— तहागयं भिक्खुमणंतसंजयं, अणोलिसं विन्नु चरंतमेसणं ।**

**तुदन्ति वायाहिं अभिद्वं नरा, सरेहिं संगामगयं व कुंजरं ॥२ ॥**

**छाया— तथागतं भिक्षुमनंतसंयतं, अनीदृशं विज्ञः चरंतमेषणाम् ।**

**तुदन्ति वाग्भिः अभिद्वन्तो नराः, शरैः संग्रामगतमिव कुंजरं ॥ २ ॥**

**पदार्थ—** तहागयं—तथा भूत अनित्यादि भावनायुक्त। भिक्खुं—भिक्षु—साधु जो। अणंतसंजयं—एकेन्द्रियादि जीवों में अर्थात् उनकी रक्षा में सदैव यत्नशील है। अणोलिसं—अनुपम संघमशील। विन्नु—विद्वान् मुनि को जो। चरंतमेसणं—शुद्धाहार की गवेषणा करने वाला है। नरा—कोई अनाय पुरुष। वायाहिं—असभ्य वचनों से। तुदन्ति—व्यथित करते हैं—व्यथा पहुंचाते हैं और। अभिद्वं—लोष्टपाषाणादि से प्रहार करते हैं। व—जैसे। संग्रामगयं—संग्राम में गए हुए। कुंजरं—हस्ती को। सरेहिं—शरों—बाणों से तोड़ते हैं।

**मूलार्थ—**अनित्यादि भावनाओं से भावित, अनन्त जीवों की रक्षा करने वाले अनुपम

संयमी और जिनागमानुसार शुद्ध आहार की गवेषणा करने वाले भिक्षु को देखकर कतिपय अनार्य व्यक्ति साधु पर असभ्य वचनों एवं पत्थर आदि का इस तरह प्रहार करते हैं, जैसे संग्राम में वीर योद्धा शत्रु के हाथी पर बाणों की वर्षा करते हैं।

**हिन्दी विवेचन**— प्रस्तुत सूत्र में साधु की सहिष्णुता एवं समभाव वृत्ति का उल्लेख किया गया है। इसमें बताया गया है जैसे युद्ध के समय वीर योद्धा शत्रु पक्ष के हाथी पर शस्त्रों एवं बाणों का प्रहार करते हैं और वह हाथी उन प्रहारों को सहता हुआ उन पर विजय प्राप्त करता है, उसी प्रकार यदि कोई असभ्य, अशिष्ट या अनार्य पुरुष किसी साधु के साथ अशिष्टता का व्यवहार करे, उसे अभद्र गालियां दे या उस पर पत्थर आदि फेंके तो साधु समभाव पूर्वक उस वेदना को सहता हुआ राग-द्वेष पर विजय प्राप्त करे। उस समय साधु उत्तेजित न हो और न आवेश में आकर उनके साथ वैसा ही व्यवहार करे और न उन्हें श्राप-अभिशाप दे। क्योंकि, इससे उसकी आत्मा में राग-द्वेष की प्रवृत्ति बढ़ेगी और परस्पर वैर भाव में अभिवृद्धि होगी और कर्म बन्ध होगा। अतः साधु अपनी प्रवृत्ति को राग-द्वेष की ओर न बढ़ने दे। उस समय वह क्षमा एवं शान्ति के द्वारा राग-द्वेष एवं कषायों पर विजय प्राप्त करने का प्रयत्न करे। जिसके वश में हो कर वे दुष्ट एवं असभ्य व्यक्ति दुर्व्यवहार कर रहे हैं और इसके द्वारा कर्मबन्ध करके संसार परिभ्रमण बढ़ा रहे हैं। साधु रागद्वेष के इस भयंकर परिणाम को जानकर आत्मा के इन महान शत्रुओं को दबाने का, नष्ट करने का प्रयत्न करे। इसका तात्पर्य यह है कि साधु को हर हालत में, प्रत्येक परिस्थिति में अपनी अहिंसा वृत्ति का परित्याग नहीं करना चाहिए। उसे सदा समभाव एवं निर्भयता पूर्वक प्रत्येक प्राणी को क्षमा करते हुए राग-द्वेष पर विजय पाने का प्रयत्न करना चाहिए।

साधु को और परीषहों के उत्पन्न होने पर भी पर्वत की तरह अचल, अटल एवं निष्कंप रहना चाहिए, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्—तहप्पगारेहिं जणेहिं हीलिए, ससद्दफासा फरुसा उर्इरिया।**

**तितिक्खए नाणि अदुट्ठचेयसा, गिरिव्व वाएण न संपवेवए ॥३॥**

**छाया— तथाप्रकारैः जनैर्हीलितः, सशब्दस्पर्शाः परुषाः उदीरिताः।**

**तितिक्षते ज्ञानी अदुष्टचेताः, गिरिरिव वातेन न संप्रवेपते ॥ ३ ॥**

**पदार्थ**— तहप्पगारेहिं—तथाप्रकार के। जणेहिं—जनों के द्वारा। हीलिए—हीलित अर्थात् तर्जित और ताड़ित किया हुआ तथा। फरुसा ससद्दफासा—तीव्र आक्रोश और शीतोष्णादि के स्पर्श से। उर्इरिया—उदीरित मुनि। तितिक्खए—उन परीषहों को सम्यक् प्रकार से सहन करता है, क्योंकि वह। नाणी—ज्ञानवान् है अर्थात् यह भेरे पूर्वकृत कर्मों का ही फल है अतः मुझे ही इसे भोगना होगा ऐसा जानता है अतः। अदुट्ठचेयसा—अदुष्ट-कलुषता रहित मन वाला वह मुनि अनार्य पुरुषों द्वारा किए जाने वाले उपद्रवों से। वाएण—वायु से। गिरिव्व—पर्वत की भांति। न संपवेवए—कम्पित नहीं होता अर्थात् जैसे पर्वत वायु से कम्पायमान नहीं होता ठीक उसी प्रकार संयमशील मुनि भी उक्त परीषहोपसर्गों से चलायमान नहीं होता है।

**मूलार्थ**—असंस्कृत एवं असभ्य पुरुषों द्वारा आक्रोशादि शब्दों से या शीतादि स्पर्शों से पीड़ित या व्यथित किया हुआ ज्ञानयुक्त मुनि उन परीषहोपसर्गों को शान्ति पूर्वक सहन करे। जिस

प्रकार वायु के प्रबल वेग से भी पर्वत कम्पायमान नहीं होता, ठीक उसी प्रकार संयमशील मुनि भी इन परीषहों से कम्पित-विचलित न हो अर्थात् अपने संयम व्रत में दृढ़ रहे।

**हिन्दी विवेचन-** प्रस्तुत सूत्र में पूर्व प्राणी की बात दोहराई गई है। इसमें यह बताया गया है कि जैसे प्रचण्ड वायु के वेग से भी पर्वत कंपायमान नहीं होता, उसी तरह ज्ञान संपन्न मुनि असभ्य एवं असंस्कृत व्यक्तियों द्वारा दिए गए परीषहों-कष्टों से कम्पित नहीं होता, अपनी समभाव की साधना से विचलित नहीं होता। वह कष्टों के भयंकर तूफानों में भी अचल, अटल एवं स्थिर भाव से अपनी आत्म साधना में संलग्न रहता है। वह उन परीषहों को अपने पूर्व कृत कर्म का फल जानकर समभाव पूर्वक उन्हें सहन करता है और उन कर्मों को या कर्म बन्ध के कारण राग-द्वेष और कषायों को क्षय करने का प्रयत्न करता है।

प्रस्तुत गाथा में प्रयुक्त 'नाणी अदुट्ठचेयसा' पद का अर्थ यह है कि ज्ञानी उन कष्टों को पूर्व-कृत कर्म का फल समझकर उसे समभाव पूर्वक सहन करता है। वह इस घोर संकट के समय भी विषमता की ओर गति नहीं करता है। वृत्तिकार ने भी इसी बात को स्वीकार किया है।

साधु की सब प्राणियों के प्रति रही हुई समभाव की भावना का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं।

**मूलम्—** उवेहमाणे कुसलेहिं संवसे, अकंतदुक्खी तसथावरा दुही।  
अलूसए सव्वसहे महामुणी, तहाहि से सुस्समणे समाहिए ॥४॥

**छाया—** उपेक्षमाणः कुशलैः संवसेत् अकान्तदुःखिनः त्रसस्थावरान् दुःखिनः।  
अलूषयन् सर्वसहः महामुनिः, तथाह्यसौ सुश्रमणः समाहितः ॥ ४ ॥

**पदार्थ-** उवेहमाणे-मध्यस्थ भाव का अवलम्बन करता हुआ या परीषहों को सहन करता हुआ। कुसलेहिं-गीतार्थ मुनियों के साथ। संवसे-रहे। अकंतदुक्खी-अनिष्ट दुःख-असाता वेदनीय जिनको हो रहा है ऐसे। दुही-दुःखी त्रस और स्थावर जीवों को। अलूसए-किसी प्रकार का परिताप न देता हुआ। सव्वसहे-पृथ्वी की भांति सर्व प्रकार के परीषहोपसर्गों को सहन करे। तहाहि-इसी कारण से ही। से-वह। महामुणी-महामुनि। सुस्समणे-श्रेष्ठ श्रमण। समाहिए-कहा गया है।

**मूलार्थ-** परीषहोपसर्गों को सहन करता हुआ अथवा मध्यस्थ भाव का अवलम्बन करता हुआ वह मुनि गीतार्थ मुनियों के साथ रहे। सब प्राणियों को दुःख अप्रिय लगता है ऐसा जानकर त्रस और स्थावर जीवों को दुःखी देखकर उन्हें किसी प्रकार का परिताप न देता हुआ पृथ्वी की भांति सर्व प्रकार के परीषहोपसर्गों को सहन करने वाला महामुनि-लोकवर्ति पदार्थों के स्वरूप का ज्ञाता होता है। अतः उसे सुश्रमण-श्रेष्ठश्रमण कहा गया है।

**हिन्दी विवेचन-** प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि मुनि संसार के यथार्थ स्वरूप का ज्ञाता एवं द्रष्टा है। अतः वह कष्टों एवं परीषहों से विचलित नहीं होता है। क्योंकि वह यह भी जानता है कि प्रत्येक प्राणी को सुख प्रिय लगता है, दुःख अप्रिय लगता है और संसार में स्थित, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि प्राणी दुखों से संतप्त हैं, इसलिए वह किसी भी प्राणी को संक्लेश एवं परिताप नहीं देता। वह अन्य प्राणियों से

मिलने वाले दुःखों को समभाव पूर्वक सहन करता है, परन्तु अपनी तरफ से किसी भी प्राणी को कष्ट नहीं देता। यह उसकी साधुता का उज्वल आदर्श है। और इस विशिष्ट साधना के द्वारा वह अपनी आत्मा का विकास करता हुआ अन्य प्राणियों को कर्म बन्धन से मुक्त करने में सहायक बनता है।

इससे यह स्पष्ट हो गया कि साधु को सदा मध्यस्थ भाव रखना चाहिए। दुष्ट एवं असभ्य व्यक्तियों पर भी क्रोध नहीं करना चाहिए और उसे सदा गीतार्थ एवं विशिष्ट ज्ञानियों के साथ रहना चाहिए। क्योंकि मूर्खों के संसर्ग से समय एवं शक्ति का दुरुपयोग होने की सम्भावना बनी रहती है। अतः साधक को ज्ञानी पुरुषों के सहवास में रहना चाहिए, उनके साथ रहकर वह अपनी साधना को आगे बढ़ा सकता है। इससे उसके ज्ञान में भी विकास होगा और ज्ञानवान एवं चिन्तनशील साधक लोक के यथार्थ स्वरूप को जानकर कर्म बन्धन से मुक्त हो सकता है। अतः साधक को गीतार्थ मुनियों के साथ में रहकर अपनी साधना को आगे बढ़ाने का प्रयत्न करना चाहिए।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्— विऊ नए धम्मपयं अणुत्तरं, विणीयतण्हस्स मुणिसस ज्ञायओ।**

**समाहियस्सअग्गिसिहा व तेयसा, तवो य पन्ना य जसो य वड्डइ ॥ ५ ॥**

**छाया— विद्वान् नतः धर्मपदमनुत्तरं, विनीततृष्णास्य मुनेः ध्यायतः।**

**समाहितस्याग्निशिखेव तेजसा, तपश्च प्रज्ञा च यशश्च वृद्धंते ॥ ५ ॥**

**पदार्थ—** नए-विनयवान। विऊ-समयज्ञ। अणुत्तरं-प्रधान। धम्मपयं-धर्मपदयति धर्मक्षमा मार्दव आदि के विषय में प्रवृत्ति करने वाले। विणीयतण्हस्स-तृष्णा को दूर करने वाले। ज्ञायओ-धर्मध्यान करने वाले। समाहियस्स-समाधिमान। मुणिसस-मुनि के। अग्गिसिहा व-अग्नि शिखा के समान। तेयसा-तेज। य-और। तवो-तप और। य-पुनः। पन्ना-प्रज्ञा बुद्धि और। जसो-यश। वड्डइ-अभिवृद्ध होते हैं अथवा अग्नि शिखा की भांति तेज से प्रदीप्त हुए मुनि का तप, प्रज्ञा और यश वृद्धि को प्राप्त होते हैं।

**मूलार्थ—**क्षमा मार्दवादि दश प्रकार के श्रेष्ठ यति-श्रमण धर्म में प्रवृत्ति करने वाला विनयवान एवं ज्ञान संपन्न मुनि-जो तृष्णा रहित होकर धर्म ध्यान में संलग्न है और चारित्र्य को परिपालन करने में सावधान है, उसके तप, प्रज्ञा और यश अग्नि शिखा के तेज की भांति वृद्धि को प्राप्त होते हैं।

**हिन्दी विवेचन—** प्रस्तुत गाथा में संयम से होने वाले लाभ का उल्लेख किया गया है। क्षमा, मार्दव आदि दश धर्मों से युक्त एवं तृष्णा से रहित होकर धर्म ध्यान में संलग्न विनय संपन्न मुनि की तपश्चर्या, प्रज्ञा एवं यश-प्रसिद्धि आदि में अभिवृद्धि होती है। वह निधूम अग्नि शिखा की तरह तेजस्वी एवं प्रकाश-युक्त बन जाता है। उसकी साधना में तेजस्विता आ जाती है। इससे स्पष्ट होता है कि क्षमा, मार्दव आदि से आत्मा के ऊपर लगा हुआ कर्म मैल दूर होता है और परिणाम स्वरूप उसकी उज्वलता, ज्योतिर्मयता और तेजस्विता प्रकट हो जाती है।

इस विषय में कुछ और बातों का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्—** दिसोदिसंऽणंतजिणेण ताइणा, महव्वया खेमपया पवेइया ।

**महागुरू निस्सयरा उईरिया, तमेव तेउत्तिदिसं पगासगा ॥६ ॥**

**छाया—** दिशोदिशं अनन्तजिनेन त्रायिना महाव्रतानि क्षेमपदानि प्रवेदितानि ।

**महागुरूणि निःस्वकराणि उदीरितानि तम इव तेज इति त्रिदिशं प्रकाशकानि ॥६ ॥**

**पदार्थ—** दिसोदिसं—सर्व एकेन्द्रिय आदि भाव दिशाओं में । खेमपया—रक्षा के पद-स्थान । महव्वया—

अहिंसादि महाव्रत । पवेइया—प्रतिपादन किए हैं । ताइणा—षट्काय की रक्षा करने वाले । अणंतजिणेण—अनन्त ज्ञान युक्त जिनेन्द्र भगवान को, अर्थात् जिनेन्द्र देव ने अनन्त आत्माओं की रक्षा के लिए पंच महाव्रतों का प्रतिपादन किया है वे महाव्रत । महागुरू—महान् पुरुषों द्वारा पालन किए जाने से महागुरू हैं । निस्सयरा—अनादि काल से आत्मा के साथ लगे हुए कर्म बन्धन को तोड़ने वाले हैं । उईरिया—आविष्कृत किए हैं प्रकट किए हैं । तमेवतेउत्ति—जिस प्रकार तेज अन्धकार को दूर करता है और । दिसं पगासगा—तीन दिशाओं के अन्धकार को नष्ट कर तीनों दिशाओं १. ऊर्ध्व दिशा, २. अधो दिशा और ३. तिर्यक दिशा में प्रकाश करता है ठीक उसी प्रकार कर्म रूपी अन्धकार को विनष्ट करके वे महाव्रत तीन लोक में प्रकाश करने वाले हैं ।

**मूलार्थ—**षट्काय के रक्षक, अनन्त ज्ञान वाले जिनेन्द्र भगवान ने एकेन्द्रियादि भाव दिशाओं में रहने वाले जीवों के हित के लिए तथा उन्हें अनादि काल से आबद्ध कर्म बन्धन से छुड़ाने वाले महाव्रत प्रकट किए हैं । जिस प्रकार तेज तीनों दिशाओं के अन्धकार को नष्ट कर प्रकाश करता है, उसी प्रकार महाव्रत रूप तेज से अन्धकार रूप कर्म समूह नष्ट हो जाता है और ज्ञानवान् आत्मा तीनों लोक में प्रकाश करने वाला बन जाता है ।

**हिन्दी विवेचन—**प्रस्तुत गाथा में महाव्रतों के महत्व का उल्लेख किया गया है । इसमें बताया गया है कि एकेन्द्रियादि भाव दिशाओं में स्थित जगत के जीवों के हित के लिए भगवान ने महाव्रतों का उपदेश दिया है । जिसका आचरण करके आत्मा अनादि काल से लगे हुए कर्म बन्धनों को तोड़कर पूर्णतया मुक्त हो सकता है । क्योंकि भगवान का प्रवचन प्रकाशमय है, ज्योतिर्मय है । इससे समस्त अज्ञान अन्धकार नष्ट हो जाता है, जिस अज्ञान अन्धकार में आत्मा अनादि काल से भटकता रहा है, उससे छूटने का मार्ग मिल जाता है ।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सर्वज्ञों का उपदेश प्राणी जगत के हितार्थ होता है । इसमें यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि संसार में आत्मा एवं कर्म संबन्ध भी अनादि है । परन्तु, यह अनादिता एक कर्म या एक गति की अपेक्षा नहीं बल्कि कर्म प्रवाह की अपेक्षा से है । बन्धने वाला प्रत्येक कर्म अपनी स्थिति के अनुसार फल देकर आत्मा से पृथक् हो जाता है, परन्तु साथ में अन्य कर्म बन्धते रहते हैं । इस तरह आत्मा पहले के बांधे हुए कर्मों को यथा समय भोग कर क्षय करता है और फिर नए कर्मों का बन्ध करता रहता है । इस प्रकार कर्मों का प्रवाह अनादि काल से चला आ रहा है । इस बात को इससे स्पष्ट कर दिया गया है कि महाव्रतों का आचरण करके साधक उस प्रवाह को सर्वथा नष्ट कर सकता है । यदि एक ही कर्म अनादि काल से चला आता हो तो उसे नष्ट करना असंभव था । परन्तु एक कर्म अनादि नहीं है । व्यक्ति की दृष्टि से वह सादि है, अर्थात् अमुक समय में बंधा है और अपने बन्धे हुए काल पर फल देकर

क्षय हो जाता है। इस तरह कर्म व्यक्ति की दृष्टि से सादि है, परन्तु समष्टी-प्रवाह की अपेक्षा से अनादि है। क्योंकि संसार में स्थित जीव एक के बाद दूसरी, तीसरी-कर्म प्रकृतियों का बन्ध करता रहता है। इस कारण उसे नष्ट भी किया जा सकता है और उसे नष्ट करने का साधन है- महाव्रत। क्योंकि, राग-द्वेष, कषाय एवं हिंसा आदि प्रवृत्तियों से कर्म का बन्ध होता है और महाव्रत इन प्रवृत्तियों के-आश्रव के द्वार को रोकने एवं पूर्व बन्धे कर्मों को क्षय करने का महान् साधन है। इस तरह संवर के द्वारा आत्मा जब अभिनव कर्म प्रवाह के स्रोत का आना बन्द कर देता है और पुरातन कर्म जल को तप, स्वाध्याय एवं ध्यान आदि साधना से सर्वथा सुखा देता है, क्षय कर देता है, तब वह कर्म बन्धन से सर्वथा मुक्त-उन्मुक्त हो जाता है।

अस्तु, महाव्रत की साधना आत्मा को कर्म बन्धन से मुक्त करती है और इसका उपदेश सर्वज्ञ पुरुष देते हैं। क्योंकि वे राग-द्वेष से मुक्त हैं और अपने निरावरण ज्ञान के द्वारा समस्त पदार्थों को सम्यक्तया देखते जानते हैं। अतः उनका उपदेश तेज-अग्नि की तरह प्रकाशमान है और प्रत्येक आत्मा को प्रकाशमान बनने की प्रेरणा देता है।

महाव्रतों को शुद्ध रखने के लिए उत्तर गुणों में सावधानी रखने का आदेश देते हुए सूत्रकार कहते हैं-

**मूलम्-** सिएहिं भिक्खू असिए परिव्वए, असज्जमित्थीसु चइज्ज पूयणं।  
अणिसिओ लोगमिणं तहा परं, न मिज्जई कामगुणोहिं पंडिए ॥७॥

**छाया-** सितैः भिक्षुः असितः परिव्रजेत्, असज्जन् स्त्रीषु त्यजेत् पूजनम्।

अनिश्रितः लोकमिमं तथा परं, न मीयते कामगुणैः पंडितः ॥७॥

**पदार्थ-** सिएहिं-कर्म एवं गृह पाश में आबद्ध व्यक्तियों के साथ। असिए-नहीं बन्धा हुआ। भिक्खू-भिक्षु अर्थात् उनका संग न करता हुआ साथु। परिव्वए-संयम ग्रहण कर के विचरे तथा। इत्थीसु-स्त्रियों में। असज्ज-आसक्त न होता हुआ अर्थात् उनका संग न करता हुआ। पूयणं-अपने पूजा-मान सम्मान की अभिलाषा को। चइज्ज-त्याग कर। अणिसिओ-स्त्री संसर्ग से असम्बद्ध होकर। लोगमिणं-इस लोक में। तहा-तथा। परं-पर लोक में अर्थात् इस लोक तथा परलोक के विषय में आशा रहित हो कर। कामगुणोहिं-काम गुणों-प्रिय शब्दादि विषयों को। न मिज्जई-स्वीकार न करे। पंडिए-जो साथु काम गुणों को स्वीकार नहीं करता तथा उनके परिणाम को जानता है वह पंडित है।

**मूलार्थ-**साधु कर्मपाश से बन्धे हुए गृहस्थों या अन्य तीर्थियों के सम्पर्क से रहित होकर तथा स्त्रियों के संसर्ग का भी त्याग करके विचरे और वह पूजा सत्कार आदि की अभिलाषा न करे। और लोक तथा परलोक के सुख की कामना भी न रखे। वह मनोज्ञ शब्दादि के विषय में भी प्रतिबद्ध न हो। इस तरह उनके कटुविपाक को जानने के कारण वह मुनि पंडित कहलाता है।

**हिन्दी विवेचन-** प्रस्तुत गाथा में बताया गया है कि साथु को राग-द्वेष से युक्त एवं कम पाश में आबद्ध गृहस्थ एवं अन्य तीर्थियों का संसर्ग नहीं करना चाहिए और उसे स्त्रियों के संसर्ग का भी त्याग कर देना चाहिए। उसे पूजा-प्रतिष्ठा एवं ऐहिक या पारलौकिक सुखों की अभिलाषा भी नहीं रखनी

चाहिए। परन्तु इन सब से मुक्त-उन्मुक्त होकर संयम साधना में संलग्न रहना चाहिए। क्योंकि गृहस्थ एवं अन्य मत के भिक्षुओं के सम्पर्क से उसके मन में राग-द्वेष की भावना जागृत हो सकती है और आध्यात्मिक साधना पर संशय हो सकता है। दूसरे में उसका स्वाध्याय एवं चिन्तन करने का अमूल्य समय-जिसके द्वारा वह आत्मा के ऊपर पड़े हुए कर्म आवरण को अनावृत करता हुआ आध्यात्मिक साधना के पथ पर आगे बढ़ता है, व्यर्थ की बातों में नष्ट होगा। और कभी साधु की उत्कृष्ट साधना को देखकर अन्यमत के भिक्षु के मन में ईर्ष्या की भावना जाग उठी तो वह साधु को शारीरिक कष्ट भी पहुंचा सकता है। इस तरह उनका संसर्ग आत्म साधना में बाधक होने के कारण त्याज्य बताया गया है।

इसी तरह स्त्रियों के संसर्ग से भी विषय वासना उद्दीप्त हो सकती है और मान-पूजा प्रतिष्ठा की भावना एवं ऐहिक तथा पारलौकिक सुखों की अभिलाषा भी पतन का कारण है। क्योंकि इसके वशीभूत आत्मा अनेक तरह के अच्छे-बुरे कर्म करता है। इसलिए साधक को इन सब के कटु परिणामों को जान कर इनसे मुक्त रहना चाहिए। जो साधक इनके विषाक्त एवं दुःख परिणामों को सम्यक्तया समझकर इनसे सर्वथा पृथक् रहता है, वही श्रमण वास्तव में पंडित है, ज्ञानी है और वही साधक कर्म बन्धन से मुक्त हो सकता है।

एक उदाहरण के द्वारा इस विषय को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं-

**मूलम्- तहा विमुक्कस्स परिन्चारिणो,  
धिईमओ दुक्खखमस्स भिक्खुणो ।  
विसुञ्झई जंसि मलं पुरेकडं,  
समीरियं रूपमलं व जोइणा ॥८ ॥**

छाया- तथा विप्रमुक्तस्य परिज्ञाचारिणो,  
धृतिमतः दुःखक्षमस्य भिक्षोः ।  
विशुध्यति यस्य मलं पुराकृतं,  
समीरितं रूप्यमलमिव ज्योतिषा ॥ ८ ॥

**पदार्थ-** तहा-तथा। विमुक्कस्स-विप्रमुक्त-संग से रहित। परिन्चारिणो-ज्ञान पूर्वक क्रिया करने वाला। दुक्खखमस्स-दुख को सहन करने वाला। धिईमओ-धैर्यवान। भिक्खुणो-भिक्षु का। पुरेकडं-पूर्वकृत। मलं-कर्म रूप मल। विसुञ्झई-दूर हो जाता है। व-जैसे। जोइणा-अग्नि द्वारा। समीरियं-प्रेरित क्रिया हुआ। रूपमलं-चान्दी का मल अर्थात् जैसे अग्नि द्वारा चान्दी का मल उससे पृथक् हो जाता है ठीक उसी प्रकार तप संयम के द्वारा कर्ममल दूर हो जाता है।

**मूलार्थ-**जिस तरह अग्नि चांदी के मैल को जलाकर उसे शुद्ध बना देती है, उसी प्रकार सब संसर्गों से रहित ज्ञान पूर्वक क्रिया करने वाला, धैर्यवान एवं सहिष्णु साधक अपनी साधना से आत्मा पर लगे हुए कर्ममल को दूर करके आत्मा को निरावरण बना लेता है।

**हिन्दी विवेचन-** प्रस्तुत सूत्र में कर्म मल को हटाने के साधनों का उल्लेख किया गया है।



कर्म बन्ध का कारण राग-द्वेष है। अतः इसका परिज्ञान रखने वाला साधक ही सम्यक् साधना के द्वारा उसे हटा सकता है। जैसे चांदी पर लगे हुए मैल को अग्नि द्वारा नष्ट किया जा सकता है। उसी प्रकार कर्म के मैल को ज्ञान पूर्वक क्रिया करके ही हटाया जा सकता है। उसके लिए साधक को धैर्य के साथ सहिष्णुता को रखना भी आवश्यक है। क्योंकि अधीरता, आतुरता, अस्थिरता एवं असहिष्णुता अथवा परीषह एवं दुःखों के समय हाय-त्राय एवं विविध संकल्प-विकल्प आदि की प्रवृत्ति कर्म बन्ध का कारण है। इससे आत्मा कर्म बन्धन से सर्वथा मुक्त नहीं हो सकती है। उसके लिए साधना आवश्यक है। और साधक को साधना के समय आने वाले कष्टों को भी धैर्य एवं समभाव पूर्वक सहन करना चाहिए। क्योंकि इससे कर्मों की निर्जरा होती है। जैसे चान्दी आग में तप कर शुद्ध होती है, उसी तरह तप एवं परीषहों की आग में तपकर साधक की आत्मा भी शुद्ध बन जाती है।

इससे यह स्पष्ट हो गया है कि ज्ञानपूर्वक की गई क्रिया ही आत्म विकास में सहायक होती है और साधना के साथ धैर्य एवं सहिष्णुता का होना भी आवश्यक है।

अब सर्पत्वग् का उदाहरण देते हुए सूत्रकार कहते हैं।

**मूलम्— से हु परिन्नासमयंमि वट्टई, निराससे उवरयमेहुणो चरे।**

**भुयंगमे जुन्नतयं जहा चए, विमुच्चई से दुहसिज्ज माहणे ॥९॥**

**छाया— सः हि परिज्ञासमये वर्तते, निराशंसः उपरतः मैथुनात् चरेत्।**

**भुजंगमः जीर्णत्वचं यथा त्यजेत्, विमुच्यते सः दुःखशय्यातःमाहनः ॥ ९ ॥**

**पदार्थ—** से-वह-भिक्षु। हु-निश्चयार्थक है। परिन्नासमयंसि-मूलोत्तर गुणों के विषय में वर्तने वाला तथा पिण्डैषणा की शुद्धि करने वाला सम्यग् ज्ञान के विषय में। वट्टई-प्रवृत्त हो रहा है तथा। निराससे-इस लोक और परलोक के विषयों की आशा से रहित और। मेहुणो-मैथुन से। उवरय-उपरत-विरत हुआ। चरे-संयम मार्ग में विचरता है। जहा-जैसे। भुयंगमे-सर्प। जुन्नतयं-जीर्ण त्वचा-कांचली को। चए-त्याग देता है। से-उसी प्रकार वह। माहणे-अहिंसा का उपदेष्टा साधु। दुहसिज्ज-दुखरूप शय्या से। विमुच्चई-विमुक्त हो जाता है अर्थात् संसार चक्र से छूट जाता है।

**मूलार्थ—**जिस प्रकार सर्प अपनी जीर्ण त्वचा-कांचली को त्याग कर उससे पृथक् हो जाता है, उसी तरह महाव्रतों से युक्त, शास्त्रोक्त क्रियाओं का परिपालक, मैथुन से सर्वथा निवृत्त एवं लोक-परलोक के सुख की अभिलाषा से रहित मुनि नरकादि दुःख रूप शय्या या कर्म बन्धनों से सर्वथा मुक्त हो जाता है।

**हिन्दी विवेचन—**प्रस्तुत गाथा में सर्प का उदाहरण देकर बताया गया है कि जिस प्रकार सर्प अपनी त्वचा-कांचली का त्याग करने के बाद शीघ्रगामी एवं हलका हो जाता है। उसी तरह साधक भी सावद्य कार्यों, विषय-विकारों एवं भौतिक सुखों की अभिलाषा का त्याग करके निर्मल, पवित्र एवं शीघ्र गति से मोक्ष की ओर बढ़ने की योग्यता प्राप्त कर लेता है। क्योंकि सावद्य कार्य एवं विषय विकार आदि कर्म बन्ध के कारण हैं। इससे आत्मा कर्मों से बोझिल बनती है और फल स्वरूप उसकी ऊपर उठने की गति अवरुद्ध हो जाती है। अतः इस गाथा में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि साधक को आगम में बताए

गए महाव्रतों एवं अन्य क्रियाओं का पालन करना चाहिए। इससे आत्मा पर पड़ा हुआ कर्मों का बोझिल आवरण दूर हो जाता है। जिससे आत्मा में अपने आपको सर्वथा अनावृत्त करने की महान् शक्ति प्रकट हो जाती है।

अब समुद्र का उदाहरण देते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्—** जमाहु ओहं सलिलं अपारयं, महासमुद्रं व भुयाहि दुत्तरं।

अहे य णं परिजाणाहि पंडिए, से हु मुणी अंतकडेत्ति वुच्चई ॥१० ॥

**छाया—** यमाहुः ओघं सलिलं अपारम्, महासमुद्रमिव भुजाभ्यां दुस्तरम्।

अथैनं च परिजानीहि पंडितः, स खलु मुनिः अन्तकृत् इति उच्यते ॥ १० ॥

**पदार्थ—** जं-जो। आहु-अनन्त तीर्थकरादि ने कहा है। ओहं-ओघरूप। सलिलं-जल। अपारयं-जिसका पार नहीं आता ऐसे। महासमुद्रं-महा समुद्र को। भुयाहि-भुजाओं से तैरना। दुत्तरं-दुस्तर है। व-इसी प्रकार संसार रूप समुद्र को पार करना कठिन है। अहे य णं-च-पुन। णं-वाक्यालंकारार्थक है। परिजाणाहि-अतः साधु ज्ञ प्रज्ञा से संसार के स्वरूप को जान कर प्रत्याख्यान परिज्ञा से उसका परित्याग करे। से पंडिए-सत्य और असत्य के स्वरूप को जानने वाला वह पंडित। मुणी-मुनि। हु-निश्चय ही। अंतकडेत्ति-कर्मों का अन्त करने वाला। वुच्चई-कहा जाता है।

**मूलार्थ—** महासमुद्र की भांति संसार रूप समुद्र को पार करना दुष्कर है, हे शिष्य ! तू इस संसार के स्वरूप को ज्ञ परिज्ञा से जान कर प्रत्याख्यान परिज्ञा से उसका त्याग कर दे। इस प्रकार त्याग करने वाला पण्डित मुनि कर्मों का अन्त करने वाला कहलाता है।

**हिन्दी विवेचन—** प्रस्तुत सूत्र में समुद्र का उदाहरण देकर संसार के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है। समुद्र में अपरिमित जल है, अनेक नदियां आकर मिलती हैं। इसलिए उसे भुजाओं से तैर कर पार करना कठिन है उसी तरह यह संसार सागर भी सामान्य आत्माओं के लिए पार करना कठिन है। इस संसार सागर में आस्रव के द्वारा मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद कषाय और योग रूप जल आता रहता है। इसलिए साधक को यह आदेश दिया गया है कि इस दुस्तर संसार सागर को पार करने के लिए तू इसके स्वरूप का परिज्ञान कर। अर्थात् संसार समुद्र में परिभ्रमण एवं उसे पार होने के स्वरूप का ज्ञान कर। आस्रव संसार परिभ्रमण का कारण है और संवर अर्थात्, आस्रव का त्याग संसार से पार होने का साधन है। अतः तू ज्ञ परिज्ञा के द्वारा आस्रव के स्वरूप का ज्ञान कर और प्रत्याख्यान परिज्ञा के द्वारा उसका त्याग कर। इस तरह तू आस्रव के स्वरूप को जानकर उसका सर्वथा त्याग कर देगा तो संसार सागर से पार हो जाएगा। क्योंकि, ज्ञान पूर्वक क्रिया करने वाला साधक ही संसार समुद्र को उल्लंघ कर निर्वाण पद को प्राप्त करता है। इसलिए उसे संसार का अन्त करने वाला कहा गया है। इससे दो बातें सिद्ध होती हैं— १. ज्ञान और क्रिया का समन्वय ही मुक्ति का मार्ग है और, २. संसार अनादि होते हुए भी सान्त है, आत्मा सम्यक् साधना के द्वारा उसका अन्त करके निर्वाण पद को प्राप्त कर सकता है।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्—** जहाहि बद्धं इहमाणवेहिं, जहाय तेसिं तु विमुक्ख आहिए।

अहातहा बंधविमुक्ख जे विऊ, से हु मुणी अंतकडेत्ति वुच्चई ॥११ ॥

छाया— यथा हि बद्धं इहमानवैः, यथा च तेषां तु विमोक्षः आख्यातः।

यथा तथा बन्धविमोक्षयोः यो विद्वान्, स खलु मुनिरन्तकृदिति उच्यते ॥११ ॥

**पदार्थ—** हि-निश्चयार्थक है। जहा-जिस प्रकार। इह-इस संसार में। माणवेहिं-मनुष्यों ने। बद्धं-मिथ्यात्वादि के द्वारा बन्धे हैं। य-और। जहा-जैसे। तेसिं-उन कर्मों का बन्धा हुआ है। तु-पुनः। विमुक्ख-उन कर्मों के बन्ध से विमुक्त होना। आहिए-कहा गया है। जे-जो साधु। बंधविमुक्ख-बन्ध और मोक्ष के। अहातहा-यथार्थ स्वरूप का। विऊ-वेत्ता है-सम्यक् प्रकार से जानने वाला है। हु-निश्चय ही। से-वह। मुणी-मुनि। अंतकडेत्ति-कर्मों का अन्त करने वाला। वुच्चई-कहा जाता है।

**मूलार्थ—**इस संसार में आत्मा ने आस्रव का सेवन करके जिस प्रकार कर्म बांधे हैं उसी तरह सम्यक् ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र की आराधना करके उन आबद्ध कर्मों से वह मुक्त हो सकती है। जो मुनि बन्ध और मोक्ष के यथार्थ स्वरूप को जानता है, वह निश्चय ही कर्मों का अन्त करने वाला कहा गया है।

**हिन्दी विवेचन—**प्रस्तुत गाथा में बन्ध और मोक्ष के स्वरूप का वर्णन किया गया है। आत्मा जिस प्रकार कर्म को बन्धता है और साधना से जिस प्रकार तोड़ता है, उसका परिज्ञाता मुनि ही इस संसार का अन्त करता है। यह हम देख चुके हैं कि कर्म बन्ध का कारण आस्रव है। मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय, प्रमाद और योगरूप आस्रव से कर्म वर्गणा के पुद्गलों का आत्म प्रदेशों के साथ बन्ध होता है। जैसे आग में रखे हुए लोहे के गोले में अग्नि के परमाणु प्रविष्ट हो जाते हैं और वह लोहे का गोला आग के गोले जैसा दिखाई देता है। उसी तरह कर्म वर्गणा के परमाणुओं से आवृत्त आत्मा अपने स्वरूप को भूल कर कर्मों के अनुरूप गति करता है। परन्तु सम्यक् ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र की साधना से आत्मा कर्म आवरण से अनावृत्त हो जाता है। क्योंकि, आस्रव कर्म के आने का द्वार है, तो संवर कर्म के आगमन को रोकने का कारण है और तप आदि निर्जरा के साधन हैं। इस प्रकार साधक बन्ध और मोक्ष के यथार्थ स्वरूप को जान कर सम्यक् प्रवृत्ति करता है, तो वह संसार का अन्त करके निर्वाण पद को प्राप्त कर लेता है। अतः सर्वज्ञ पुरुषों ने ऐसे साधक को संसार का अन्त करने वाला कहा है।

इससे स्पष्ट होता है कि साधक के लिए संसार में परिभ्रमण कराने वाले और कर्म बन्धन से मुक्त कराने वाले दोनों साधनों की जानकारी करना आवश्यक है। क्योंकि वह आस्रव का यथार्थ ज्ञान करके उससे निवृत्त होकर संवर की साधना से अभिनव कर्मों के आगमन को रोक लेता है और निर्जरा के द्वारा पूर्व बंधे हुए कर्मों को समाप्त कर देता है। इस तरह वह कर्म बन्धन से सर्वथा मुक्त हो जाता है।

अब विमुक्ति अध्ययन का उपसंहार करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्—** इमंसि लोए परए य दोसुवि, न विज्जई बंधण जस्स किंचिवि।

से हु निरालंबणमप्पइट्ठए कलंकली भावपहं विमुच्चई ॥१२ ॥

## त्तिबेमि ॥

### विमुक्ती सम्मत्ता ॥

#### आचारांग सूत्रं समाप्तम् ॥ ग्रन्थाग्रं ॥२५५४॥

छाया— अस्मिन्लोके परस्मिन् च द्वयोरपि, न विद्यते बन्धनं यस्य किञ्चिदपि।

स खलु निरालम्बनमप्रतिष्ठितः, कलंकली भावपथात् विमुच्यते ॥ १२ ॥

इति ब्रवीमि। विमुक्तिः समाप्ता। आचारांग सूत्रं समाप्तम् ग्रन्थाग्रं ॥२५५४॥

**पदार्थ—** इमंसि-इस। लोए-लोक में। य-और। परए-परलोक में तथा। दोसुवि-दोनों लोकों में। अपि-पुनरर्थक है। जस्स-जिसका। किञ्चिवि-किञ्चिन्मात्र भी राग-द्वेष आदि का। बंधण-बन्धन। न विजई-नहीं है। से-वह। हु-निश्चय ही। निरालंबणं-आलम्बन रहित अर्थात् लोक-परलोक सम्बन्धि आशा से रहित तथा। अप्पडिट्ठए-प्रतिबन्ध से रहित साधु। कलंकली भावपहं-जन्म-मरण रूप संसार के पर्यटन से। विमुच्चई-छूट जाता है। त्तिबेमि-इस प्रकार मैं कहता हूँ।

**मूलार्थ—**इस लोक तथा परलोक एवं दोनों लोकों में जिसका किञ्चिन्मात्र भी राग आदि का बन्धन नहीं है तथा जो लोक तथा परलोक की आशाओं से रहित है, अप्रतिबद्ध है, वह साधु निश्चय ही गर्भ आदि के पर्यटन से छूट जाता है अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर लेता है, इस प्रकार मैं कहता हूँ।

**हिन्दी विवेचन—** प्रस्तुत गाथा में पूर्व-गाथाओं में अभिव्यक्त विषय को दोहराते हुए बताया गया है कि जो साधक इस लोक और परलोक के सुखों की अभिलाषा नहीं रखता है, जो राग-द्वेष से सर्वथा निवृत्त हो चुका है और जो अप्रतिबद्ध विहारी है, वह गर्भावास में नहीं आता अर्थात् जन्म-मरण का सर्वथा उच्छेद करके सिद्ध-बुद्ध मुक्त बन जाता है।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि मुक्ति का मार्ग न तो अकेले ज्ञान पर आधारित है और न केवल क्रिया पर। यह ठीक है कि मोक्ष प्राप्ति के लिए ज्ञान भी साधन है और क्रिया भी साधन है। दोनों मोक्ष के लिए आवश्यक हैं। परन्तु दोनों की विभाजित रूप से नहीं, समन्वित रूप से आवश्यकता है। यदि उनमें समन्वय नहीं है, तो वह मोक्ष मार्ग में सहायक नहीं हो सकते। कुछ व्यक्ति मुक्ति के लिए ज्ञान साधना पर जोर देते हैं, परन्तु क्रिया का निषेध करते हैं। और कुछ क्रिया को सर्वोपरि मानते हैं परन्तु ज्ञान को आवश्यक नहीं मानते। ज्ञानवादियों का कहना है कि आत्मा एवं संसार के स्वरूप का ज्ञान करना ही मुक्ति है, क्रिया करने की कोई आवश्यकता नहीं है। और इधर क्रियावादी कहते हैं कि मुक्ति के लिए क्रिया ही आवश्यक है। किसी व्यक्ति के आयुर्वेद ग्रन्थ कण्ठस्थ हैं, परन्तु वह उसमें अभिव्यक्त विधि के अनुसार औषध ग्रहण नहीं करता है, तो उसका कोरा ज्ञान उसे रोग से मुक्त नहीं कर सकता है। इसी तरह आचरण के अभाव में सिर्फ ज्ञान ही आत्मा को संसार से छुटकारा नहीं दिला सकता है। दोनों के कथन में सत्यांश हैं, परन्तु वे उस सत्यांश को पूर्ण सत्य मान रहे हैं, इसी कारण उनका कथन मिथ्या माना गया है।

जैन दर्शन ज्ञान और क्रिया के समन्वय को मोक्ष मार्ग मानता है<sup>१</sup>। ज्ञान से दृष्टि मिलती है, मार्ग का बोध होता है, परन्तु वह साध्य तक पहुंचाने में असमर्थ है और क्रिया गतिशील है, परन्तु दृष्टि से रहित होने से सन्मार्ग और कुमार्ग का भेद नहीं कर सकती। इसी अपेक्षा से अकेले ज्ञान को पंगु और अकेली क्रिया को अन्धी माना गया है। और दोनों की समन्वित साधना से साधक अपने साध्य को सिद्ध कर सकता है। इसलिए आगम में कहा गया है कि जो साधक सब नयों को सुनकर जानकर ज्ञान और क्रिया की साधना करता है वही मुक्ति को प्राप्त करता है<sup>२</sup>। स्थानांग सूत्र में भी बताया है कि जो साधक ज्ञान और चरित्र से युक्त है, वह संसार बन्धन से सर्वथा मुक्त हो जाता है। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि ज्ञान और क्रिया की समन्वित साधना से ही मुक्ति प्राप्त हो सकती है। यही पूरे आचारांग सूत्र का सार है। इसे हम यों भी कह सकते हैं कि द्वादशांगी का निचोड़ भी यही है कि ज्ञान और क्रिया की समन्वित साधना से ही आत्मा निर्वाण पद को पा सकता है। क्योंकि, साधक का मुख्य लक्षण निर्वाण पद प्राप्त करना है और आगम या द्वादशांगी के प्रवचन का उद्देश्य भी यही है कि उसके अध्ययन एवं चिन्तन-मनन से साधक ज्ञान और क्रिया को अपने जीवन में साकार रूप देकर कर्म बन्धन से मुक्त हो सके। अस्तु, ज्ञान और क्रिया का सम्यक्तया आराधन एवं परिपालन करना ही मोक्ष मार्ग है।

सोलहवां अध्ययन (चतुर्थ चूला) समाप्त<sup>३</sup>

॥ श्री आचारांग सूत्रम् समाप्तम् ॥

१ ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः। - आचारांग वृत्ति।

२ सर्व्वेसिं पि नयाणं बहुविहबत्तव्वयं निसामित्ता।

तं सव्वनयविसुद्धं जं चरणगुणट्ठिओ साहू।

३ श्री आचारांग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कंध की 'निशीथ' नामक पांचवीं चूला का भी उल्लेख मिलता है। परन्तु वर्तमान में यह चूला आचारांग के साथ संबद्ध नहीं है। उसे छेद सूत्रों में स्थान दे दिया गया है। क्योंकि उसका विषय आचारांग से संबद्ध नहीं है। आचारांग में साधु के आचार का उल्लेख किया गया है और निशीथ में यह बताया गया है कि यदि प्रमादवश कोई साधु आचार पथ से भटक जाता है, तो उसे क्या प्रायश्चित्त देना चाहिए। इस तरह प्रायश्चित्त से संबद्ध प्रकरण होने के कारण उसे स्वतंत्र रूप से छेद शास्त्रों के साथ जोड़ दिया गया हो, ऐसा प्रतीत होता है और ऐसा करना उचित भी जंचता है।

## पारिभाषिक शब्द कोश

1. अचित्त-निर्जिव, अचेतन
2. अटवी-जंगल, वन
3. अदृष्ट-अदृश्य, प्रत्यक्ष में दिखाई न देने वाला
4. अध्यवसाय-परिणाम
5. अनगर-मुनि, साधु, भिक्षु
6. अनन्त-जिसका कहीं भी अन्त न हो
7. अनभिज्ञ-अनजान, हिताहित को नहीं जानने वाला
8. अनवरत-निरन्तर, लगातार
9. अनादि-जिस की आदि न हो
10. अनार्य-हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार आदि दुष्कर्मों में प्रवृत्त व्यक्ति
11. अनासेवित-किसी के द्वारा भोगोपभोग में नहीं लिया हुआ पदार्थ
12. अनुत्तर-सर्व श्रेष्ठ, जिसकी समानता करने वाला दूसरा पदार्थ न हो।
13. अनुषोदन-समर्थन
14. अनेषणीय-आधाकर्म आदि दोष युक्त, अशुद्ध पदार्थ
15. अन्तराय-विघ्न, पुरुषार्थ करने पर भी इच्छित वस्तु का नहीं मिलना
16. अपक्व-कच्चे
17. अपुरुषान्तरकृत-जिस पदार्थ को दूसरे व्यक्ति ने अपने उपभोग में नहीं लिया हो
18. अप्कायिक-पानी के जीव
19. अप्रमत्त-प्रमाद से रहित, निरन्तर सावधान रहना
20. अभिग्रह-किसी पदार्थ विशेष को ग्रहण करने की प्रतिज्ञा करना
21. अभिलाषा-इच्छा, कामना
22. अर्द्ध योजन-चार मील
23. अर्ध पक्व-जो पदार्थ पूर्ण रूप से नहीं पका हो
24. अल्पारंभी-महा-हिंसा से दूर रहने वाला गृहस्थ
25. अवग्रह-पदार्थ, साधु के ग्रहण करने योग्य वस्तुएँ
26. अवधि ज्ञान-मन और इंद्रियों की सहायता के बिना मर्यादित क्षेत्र में स्थित रूपी पदार्थों को जानने-देखने वाला ज्ञान।
27. असत्यामृषा-व्यवहार भाषा, झूठ और सत्य से रहित लोक व्यवहार में बोली जाने वाली भाषा
28. असंख्यात-संख्यातीत, जिसकी कोई संख्या या गणना न हो
29. असंस्कृत-संस्कार हीन, असभ्य
30. अशस्त्र-परिणत-शस्त्र के प्रयोग से रहित, जिस पदार्थ पर शस्त्र का प्रयोग नहीं हुआ हो
31. आगम-शास्त्र, सूत्र, आप्त वाणी
32. आघर्षण-प्रघर्षण-विशेष रूप से घर्षण करना, राड़ना
33. आचार्य-संघ के शिस्त-संचालक
34. आजीवक-गोशालक के मत के साधु या श्रावक, गोशालक का मत
35. आधाकर्म-साधु के निमित्त से बनाया गया आहार, पानी, मकान आदि
36. आवृत्त-आच्छादित, ढका हुआ, भीड़ से युक्त मार्ग
37. आसेवित-जिस पदार्थ को गृहस्थ ने अपने काम में ले लिया है।
38. आस्त्रव-कर्म वर्णना के पुद्गलों के आने का मार्ग।
39. इर्या समिति-भली-भाँति देखकर एवं प्रमार्जन करके चलना
40. उत्सर्जन-त्याग करना, फेंकना
41. उपरत-निवृत्त, पाप कार्यों से हटा हुआ
42. उपसर्ग-देव, मनुष्य या पशु-पक्षी द्वारा दिए जाने वाले कष्ट
43. उपस्कृत-बनाए हुए, तैयार किए हुए
44. उपाध्याय-श्रमण-संघ के श्रमण-श्रमणियों के शिक्षक
45. उपाश्रय-साधु-साध्वियों के ठहरने या रहने का स्थान
46. ऋजु गति-सरल एवं सीधी गति
47. ऋषभदेव-जैन धर्म के प्रथम तीर्थंकर या अवतार
48. एषणीय-आधाकर्म आदि दोषों से रहित पदार्थ
49. औदारिक शरीर-हाड-मांस आदि औदारिक वर्णना के पुद्गलों-परमाणुओं से बना हुआ शरीर
50. औद्देशिक-साधु-साध्वी के उद्देश्य से बनाए गए पदार्थ

51. कायोत्सर्ग-मन, वचन एवं काय के व्यापार का त्याग करके आत्म चिन्तन में संलग्न होना, ध्यान
52. क्रियावादी-केवल क्रिया को ही मुक्ति का मार्ग मानने वाले विचारक
53. केवल ज्ञान-लोक में स्थित समस्त द्रव्यों के समस्त पर्यायों एवं भावों को जानने-देखने वाला ज्ञान, पूर्ण ज्ञान
54. गच्छ-संघ, सम्प्रदाय
55. ग्राम धर्म-प्रस्तुत प्रसंग में इसका अर्थ मैथुन है
56. ग्राम पिंडोलक-भिखारी
57. गीतार्थ-आगम एवं द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को सम्यक् रूप से जानने वाला साधक
58. गुप्ति-मन, वचन और काय-शरीर को गोपकर रखना
59. गोचरी-भिक्षाचरी
60. ज्ञानवादी-ज्ञान मात्र को मुक्ति का कारण मानने वाले विचारक
61. घातिक कर्म-आत्मा के मूल गुणों की घात करने वाले ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय कर्म
62. चरक संहिता-आयुर्वेद का एक ग्रन्थ
63. चित्मलिका-मच्छरदानी
64. चोलपट्टक-धोती के स्थान में बाँधने का वस्त्र
65. छट्ट भक्त-दो दिन का उपवास, बेला
66. छः काय-पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस-द्वीन्द्रियादि जीव
67. जिनकल्पी-जिन अर्थात् तीर्थंकर के समान आचार का परिपालन करने वाले मुनि
68. तीन करण-कृत, कारित और अनुभोदित; किसी कार्य को करना, करवाना और उसका समर्थन करना
69. तीन योग-मन, वचन और काय-शरीर
70. त्रस जीव-त्रस प्राप्त होने पर दुःख से बचने के लिए सुख के स्थान पर आ-जा सकने वाले प्राणी; द्वीन्द्रिय, तैन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय जीव
71. दीक्षाचार्य-साधुत्व की दीक्षा देने वाले आचार्य
72. दीक्षाधी-संयम-साधना स्वीकार करने का इच्छुक साधक, वैष्णवी
73. देव-छन्दक-देवों द्वारा निर्मित चीतरा
74. नद्य-वस्तु में स्थित अनन्त धर्मों में से किसी एक धर्म को लक्ष्य करके समझना
75. निगोद काय-वनस्पति के जीवों की एक जाति
76. निघण्टु-आयुर्वेद का एक ग्रन्थ
77. निरावरण-आवरण से रहित
78. निर्ग्रन्थ-द्रव्य और भाव ग्रन्थि-परिग्रह अथवा धन-धान्य आदि पदार्थों एवं क्रोधादि कषायों से निवृत्त साधु
79. निर्जरा-बन्धे हुए कर्मों का एक देश से क्षय होना
80. निर्वाण-बन्धे हुए कर्मों का सर्वथा क्षय करके कर्म-बन्धन से मुक्त होना
81. निर्व्याघात-व्याघात रहित
82. परठना-विवेकपूर्वक डाल देना, फैकना
83. परीषह-भूख, प्यास, शीत, उष्ण, डंसमंस आदि कष्ट
84. प्रकाम भोजन-विकारोत्पादक सरस आहार
85. प्रणीत रस-सरस पदार्थ
86. प्रतिक्रमण-दिन एवं रात में लगे हुए दोषों की अलोचना
87. प्रतिलेखित-भली भाँति देखे हुए पदार्थ
88. प्रवर्तिनी-साध्वी संघ की संचालिका
89. पश्चात् कर्म-साधु-साध्वी को आहार आदि पदार्थ देने के बाद पुनः अपने लिए आहार आदि बनाना।
90. पंडक-नपुंसक, हिजड़ा, पुरुषत्व एवं नारीत्व से रहित
91. प्रासुक-दोष रहित, शुद्ध पदार्थ
92. पार्श्वपत्य-भगवान् पार्श्वनाथ के अपत्य-उपासक या श्रावक
93. पार्श्वस्थ-शिथिल आचार वाले, ढीले-पासथे
94. पिंडैषणा-आहारादि की गवेषणा करना
95. पुद्गल-परमाणु या परमाणुओं के मेल से बना हुआ स्कंध
96. पुरीष-मल-मूत्र
97. पुरुषान्तरकृत-नव निर्मित स्थान-मकान आदि, जिनका गृहस्थ ने उपयोग कर लिया है
98. भक्त-पान-आहार-पानी, खाने-पीने के पदार्थ
99. भक्त-प्रत्याख्यान-जीवन पर्यन्त के लिए आहार-पानी का त्याग करना
100. मतिज्ञान-मन और इंद्रियों की सहायता से होने वाला सम्यग्ज्ञान

101. मनः पर्यव ज्ञान-अर्दाई द्वेष-समुद्र में स्थित सत्री-  
मन युक्त पञ्चेन्द्रिय जीवों के मनोगत भावों को  
जानने-देखने वाला ज्ञान
102. मातृ स्थान-माया, छल-कपट
103. मिश्र भाषा-जिस भाषा में सत्य और असत्य का  
मिश्रण हो
104. मुक्ति-कर्म बंधन से सर्वथा मुक्त होना, मुक्त  
जीवों के रहने का स्थान
105. मुखवस्त्रिका-वायु काय के जीवों की रक्षा के  
लिए मुँह पर बान्धने का वस्त्र
106. मोक-मूत्र
107. मोह-सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य का अवरोधक,  
रग-द्वेष, आसक्ति
108. योग-मन, वचन और काय-शरीर
109. योनि-संसारी जीवों के उत्पन्न होने का स्थान
110. रत्नाधिक-अपने से दीक्षा में ज्येष्ठ मुनि
111. लेश्या-मन के परिणाम
112. वर्द्धमान-भगवान महावीर का जन्म के समय  
माता-पिता द्वारा दिया गया नाम
113. वाचनाचार्य-आगमों का अध्ययन कराने वाले  
आचार्य
114. विकथा-व्यर्थ की कथा-वार्तालाप, विक-  
रोत्पादक कथा
115. विराधना-संयम एवं सम्यग्दर्शन में दोष लगाना
116. विहार-साधु-साध्वी का एक गाँव से दूसरे गाँव  
को पैदल जाना
117. वृत्तिकार-आगमों की संक्षिप्त व्याख्या करने वाले
118. वेदनीय कर्म-जिस कर्म के उदय से प्राणी सुख-  
दुःख का संवेदन करता है।
119. सच्चित्त-सजीव-जीव युक्त, सचेतन-चेतना युक्त
120. सद्धर्म-मण्डन-जिसमें वीतराग प्ररूपित सत्य धर्म  
का वर्णन है, स्व. आचार्य श्री जवाहरलाल जी म-  
द्वारा रचित ग्रन्थ
121. सन्निवेश-मोहल्ल
122. समिति-विवेक पूर्वक, चलने, बोलने, आहार  
ग्रहण करने, उपकरण लेने-रखने, मल-मूत्र का  
त्याग करने आदि की क्रियाएं करना, विवेक  
पूर्वक की जाने वाली शुभ प्रवृत्ति
123. सर्वभावदर्शी-विश्व में स्थित समस्त पदार्थों के  
भावों एवं पर्यायों का ज्ञाता
124. सर्वज्ञ प्रणीत-सर्वज्ञ द्वारा प्ररूपित या उपदिष्ट
125. सहधर्मी-समान धर्म या आचार वाला
126. सागार-घर-बार सहित गृहस्थ, श्रावक
127. सागारिक संथारा-आगार सहित जीवन पर्यन्त  
अनशन व्रत स्वीकार करना
128. सान्त-अन्त सहित, सीमा युक्त, जिसका अन्त  
होता है
129. सामायिक-४८ मिनट या जीवन पर्यन्त के लिए  
की जाने वाली समभाव की साधना
130. सुश्रुत संहिता-आयुर्वेद का एक ग्रंथ
131. संक्लिष्ट कर्म-तीव्र कषाय, प्रगाढ़ आसक्तिपूर्वक  
बांधे गए कर्म
132. संथारा-जीवन पर्यन्त के लिए आहार-पानी एवं  
पाप कर्मों का त्याग करना
133. संलेखना-आत्मा का सम्यक् प्रकार से लेखन  
अवलोकन करना, कषायों को पतला करना
134. संवर-कर्मों के आगमन को रोकने की साधना
135. संस्तारक-घोस-फूस का बिछौना, तृण शय्या
136. स्तेय-चौर्य कर्म
137. स्थावर-स्थिर काय वाले प्राणी-जिनके सिर्फ  
काया-शरीर ही होता है।
138. स्थंडिल भूमि-शौच जाने का स्थान
139. शय्यातर-साधु को मकान की आज्ञा देने वाला
140. शस्त्र परिणत-जो पदार्थ शस्त्र के प्रयोग से  
अचिंत हो गया है
141. षट् जीवनिकाय-पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु,  
वनस्पति और त्रस-द्विन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुर्गिन्द्रिय,  
पञ्चेन्द्रिय जीव
142. श्रमण-कषायों को उपशान्त करने वाला तथा  
समभाव की साधना करने वाला साधु
143. श्रमणोपासक-श्रमण की उपासना करने वाला
144. श्रुतज्ञान-द्वादशांगी का ज्ञान, सम्यग् दर्शन और  
ज्ञान
145. श्रोत्रेन्द्रिय-कान
146. हरित काय-हरियाली, वनस्पति



## सागर-वर-गम्भीर आचार्य सम्राट् पूज्य श्री आत्माराम जी महाराज

प्रस्तुति- श्रमण संघीय सलाहकार श्री ज्ञानमुनि जी महाराज

जैन शासन में "आचार्य पद" एक शिरसि-शेखरायमाण स्थान पर शोभायमान रहा है। जैनाचार्यों को जब मणि-माला की उपमा से उपमित किया जाता है, तब आचार्य सम्राट् आराध्य स्वरूप गुरुदेव श्री आत्माराम जी महाराज उस महिमाशालिनी मणिमाला में एक ऐसी सर्वाधिक व दीप्तिमान दिव्य-मणि के रूप में रूपायित हुए, जिसकी शुभ्र आभा से उस माला की न केवल शोभा-वृद्धि हुई, अपितु वह माला भी स्वयं गौरवान्वित हो उठी, मूल्यवान एवं प्राणवान हो गई।

श्रद्धास्पद जैनाचार्य श्री आत्माराम जी म० का व्यक्तित्व जहाँ अनन्त-असीम अन्तरिक्ष से भी अधिक विराट् और व्यापक रहा है, वहाँ उनका कृतित्व अगाध-अपार अमृत सागर से भी नितान्त गहन एवं गम्भीर रहा है। यथार्थ में उनके महतो-महीयान् व्यक्तित्व और बहु आयामी कृतित्व को कतिपय पृष्ठ सीमा में शब्दायित कर पाना कथमपि संभव नहीं है। तथापि वर्णातीत व्यक्तित्व और वर्णनातीत कृतित्व को रेखांकित किया जा रहा है।

भारतवर्ष के उत्तर भारत में पंजाब प्रान्त के क्षितिज पर वह सहस्रकिरण दिनकर उदीयमान हुआ। वह मयूख-मालिनी मार्तण्ड सर्व-दिशा से प्रकाशमान है। वि० सं० 1939 भाद्रपद शुक्ला द्वादशी, राहों ग्राम में, वह अनन्त ज्योति-पुंज अवतरित हुआ। आप श्री जी क्षत्रिय जातीय चौपड़ा -वंश के अवतंश थे। माता-पिता का क्रमशः नाम -श्री परमेश्वरी देवी और सेठ मन्शाराम जी था। यह निर्धूम ज्योति एक लघु ग्राम में आविर्भूत हुई। किन्तु उनकी प्रख्याति अन्तर्राष्ट्रीय रही, देशातीत एवं कालातीत रही।

महामहिम आचार्यश्री जी के जीवन का उषः काल विकट-संकट के निर्जन वन में व्यतीत हुआ। दुष्कर्म के सुतीक्ष्ण प्रहारों ने आपश्री जी को नख-शिखान्त आक्रान्त कर दिया। दो वर्ष की अल्पायु में आपश्री जी की माता जी ने इस संसार से विदाई ली और जब आप अष्टवर्षीय रहे, तब पिता जी इस लोक से उस लोक की ओर प्रस्थित हुए। उस संकटापन्न समय में आपश्री जी को एकमात्र दादी जी की छत्रच्छाया प्राप्त हुई। किन्तु इस सघन वट की छत्रच्छाया दो वर्ष तक ही रही और दादी जी का भी देहावसान हो गया। इस रूप में आपश्री जी का बाल्य-काल व्यथाकथा से आपूरित रहा।

यह ध्रुव सत्य है कि माता-पिता और दादी के सहसा, असह्य वियोग ने पूज्यपाद आचार्यश्री जी के अन्तर्मन-विहग को संयम-साधना के निर्मल-गगन में उड्डयन हेतु उत्प्रेरित कर दिया। उन्होंने जागतिक-कारागृह से उन्मुक्ति का निर्णय लिया और अन्ततः द्वादश वर्ष की स्वल्प आयु में संवत् 1951 में पंचनद पंजाब के बनूड ग्राम में जिनशासन के तेजस्वी नक्षत्र स्वामी श्री शालिग्राम जी म० के चरणारविन्द में आर्हती-प्रव्रज्या अंगीकृत की। आप श्री जी के विद्या-गुरु आचार्य श्री मोतीराम जी म० थे। आप श्री ने दीक्षा-क्षण से ही त्रिविध संलक्ष्य निर्धारित किए-संयम साधना, ज्ञान-आराधना और शासन-सेवा। आप

इन्हीं क्षेत्रों में उत्तरोत्तर और अनुत्तर रूप से पदन्यास करते हुए प्रकृष्टरूपेण उत्कर्षशील रहे, वर्धमान हुए।

आप श्री जी ने संस्कृत और प्राकृत जैसी प्रचुर प्राचीन भाषाओं पर आधिपत्य संस्थापित किया, अन्यान्य-भाषाओं का अधिकृत रूप में प्रतिनिधित्व किया। आप श्री आगम-साहित्य के एक ऐसे आदित्य के रूप में सर्वतोभावेन प्रकाशमान हुए कि आगम-साहित्य के प्रत्येक अध्याय, प्रत्येक अध्याय के प्रत्येक पृष्ठ, प्रत्येक पृष्ठ की प्रत्येक पंक्ति, प्रत्येक पंक्ति के प्रत्येक शब्द के प्रत्येक अर्थ और उसके भी प्रत्येक व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ के तल छट किंवा अन्तस्तल तक प्रविष्ट हुए। परिणाम-स्वरूप आपकी ज्ञान-चेतना व्यापक से व्यापक, ससीस से असीम और लघीयान् से महीयान् होती गई। निष्पत्तिरूपेण आप श्री जी अष्टदश-वर्षीय दीक्षाकाल में, गणधर के समकक्ष "उपाध्याय" जैसे गरिमा प्रधान पद से अलंकृत हुए। यह वह स्वर्णिम-प्रसंग है, जो आपके पाण्डित्य-पयोधि के रूप में उपमान है और प्रतिमान है।

आप श्री जी ने अपने संयम-साधना की कतिपय वर्षावधि में जो साहित्य-सर्जना की, वह ग्रन्थ-संख्या अर्धशतक से भी अधिक रही है। आप श्री जी विशिष्ट और वरिष्ठ निर्गन्थ के रूप में भी ग्रन्थों और सूत्रों के जैन विद्यापीठ थे, विचारों के विश्वविद्यालय थे और चारित्र के विश्वकोष थे। आप यथार्थ अर्थ में एक सृजन धर्मी युगान्तकारी साहित्य-साधक थे। वास्तव में आप श्री जी अपने आप में अप्रतिम थे। आपने आगम साहित्य के सन्दर्भ में संस्कृत छाया, शब्दार्थ, मूलार्थ, सटीक टीकाएँ निर्मित कीं। आप द्वारा प्रणीत वाङ्मय का अध्येता इस सत्यपूर्ण तथ्य से परिचित हुए बिना नहीं रहेगा कि आप श्री विद्या की अधिष्ठात्री दिव्य देवी माता शारदा के दत्तक तनय नहीं, अपितु अंगजात आज्ञानिष्ठ यशस्वी अतिजात पुत्र थे। किं बहुना आचार्य देव प्रतिभाशाली पुरुष थे।

महिमा-मण्डित आचार्यश्री वि० सं० 2003 में पंजाब-प्रान्तीय आचार्य पद से विभूषित हुए। तदनन्तर वि० सं० 2009 में आप श्री जी श्रमण-संघ के प्रधानाचार्य के पद पर समासीन हुए जो आपके व्यक्तित्व और कृतित्व की अर्थवत्ता और गुणवत्ता का जीवन्त रूप था। यह एक ऐतिहासिक स्वर्णिम प्रसंग सिद्ध हुआ। आप श्री जी ने गम्भीर विद्वत्ता, अदम्य-साहस, उत्तम रूपेण कर्त्तव्य निष्ठा, अद्वितीय त्याग, असीम संकल्प, अद्भुत-संयम, अपार वैराग्य, संघ-संघटन की अविचल एकनिष्ठा से एक दशक-पर्यन्त श्रमण संघ को अधि-नायक के रूप में कुशल नेतृत्व प्रदान किया।

आप श्री जी जब जीवन की सान्ध्यवेला में थे, तब कैंसर जैसे असाध्य रोग से आक्रान्त हुए। उस दारुण-वेदना में, आपने जो सहिष्णुता का साक्षात् रूप अभिव्यक्त किया, वह वस्तुतः यह स्वतः सिद्ध कर देता है कि आप सहिष्णुता के अद्वितीय पर्याय हैं, समता के जीवन्त आयाम हैं और सहनशीलता के मूर्तिमान् सजीव रूप हैं। किं बहुना, कोई इतिहासकार जब भी जैन शासन के प्रभावक ज्योतिर्मय आचार्यों का अथ से इति तक आलेखन करेगा तब आप जैसी विरल विभूति का अक्षरशः वर्णन करने में अक्षम सिद्ध होगा।

जिन-शासन का यह महासूर्य वि० सं० 2019 में अस्तंगत हुआ। जिससे जो रिक्तता आई है वह अद्यावधि भी यथावत् है। ऐसे ज्योतिर्मय आलोक-लोक के महायात्री के प्रति, हम शिरसा-प्रणत हैं, सर्वात्मना-समर्पण भावना से श्रद्धायुक्त वन्दना करते हैं।

## जैन धर्म दिवाकर, आचार्य सम्राट् श्री आत्मारज जी महाराज : शब्द चित्र

जन्म भूमि	-	राहों (पंजाब)
पिता	-	लाला मनसाराजजी चौपड़ा
माता	-	श्रीमती परमेश्वरी देवी
वंश	-	क्षत्रिय
जन्म	-	विक्रम सं० 1939 भाद्र सुदि वामन द्वादशी (12)
दीक्षा	-	वि० सं० 1951 आषाढ़ शुक्ला 5
दीक्षा स्थल	-	बनूड़ (पटियाला)
दीक्षा गुरु	-	मुनि श्री सालिगराम जी महाराज
विद्या गुरु	-	आचार्य श्री मोतीराम जी महाराज (पितामह गुरु)
साहित्य सृजन	-	अनुवाद, संकलन-सम्पादन-लेखन द्वारा लगभग 60 ग्रन्थ
आगम अध्यापन	-	शताधिक साधु-साध्वियों को।
कुशल प्रवचनकार	-	तीस वर्ष से अधिक काल तक।
शिष्य सम्पदा	-	समाज सुधारक श्री खजान चन्द्र जी म०, पंडित प्रवर श्री ज्ञान चन्द्र जी म०, प्रकाण्ड पंडित श्री हेमचन्द्र जी म०, श्रमण संघीय सलाहकार श्री ज्ञान मुनि जी म०, सरल आत्मा श्री प्रकाश मुनि जी म०, श्रमण संघीय सलाहकार सेवाभावी श्री रत्न मुनि जी म०, उपाध्याय श्री मनोहर मुनि जी म०, तपस्वी श्री मथुरा मुनि जी महाराज
आचार्य पद	-	पंजाब श्रमण संघ, वि. सं० 2003, चैत्र शुक्ला 13 लुधियाना।
आचार्य सम्राट् पद	-	अखिल भारतीय श्री वध. स्था. जैन श्रमण संघ सादड़ी (मारवाड़) 2009 वैशाख शुक्ला 3
आचार्य सम्राट् चादर समारोह	-	बाग खजानचीयां लुधियाना वि० सं० 2011 मार्ग शीर्ष शुक्ला 3
संयम काल	-	67 वर्ष लगभग।
स्वर्गवास	-	वि० सं० 2019 माघवदि 9 (ई० 1962) लुधियाना।
आयु	-	79 वर्ष 8 मास, ढाई घंटे।
विहार क्षेत्र	-	पंजाब, हरियाणा, हिमाचल, राजस्थान, उत्तर प्रदेश, दिल्ली आदि।
स्वभाव	-	बिनम्र-शान्त-गंभीर-प्रशस्त विनोद।
समाज कार्य	-	नारी शिक्षण प्रोत्साहन स्वरूप कन्या महाविद्यालय एवं पुस्तकालय आदि की प्रेरणा

## जैनभूषण, पंजाब केसरी, बहुश्रुत, गुरुदेव श्री ज्ञान मुनि जी महाराज : शब्द चित्र

- जन्म भूमि - साहोकी (पंजाब)
- जन्म तिथि - वि० सं० 1979 वैशाख शुक्ला 3 (अक्षय तृतीया)
- दीक्षा - वि० सं० 1993 वैशाख शुक्ला 13
- दीक्षा स्थल - रावलपिंडी (वर्तमान पाकिस्तान)
- गुरुदेव - आचार्य सम्राट् श्री आत्माराम जी महाराज
- अध्ययन - प्राकृत, संस्कृत, उर्दू, फारसी, गुजराती, हिन्दी, पंजाबी, अंग्रेजी आदि भाषाओं के जानकार तथा दर्शन एवं व्याकरण शास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित, भारतीय धर्मों के गहन अभ्यासी।
- परमशिष्य - आचार्य सम्राट् श्री शिव मुनि जी महाराज।
- सृजन - हेमचन्द्राचार्य के प्राकृत व्याकरण पर भाष्य, अनुयोगद्वार, प्रज्ञापना आदि कई आगमों पर बृहद् टीका लेखन तथा तीस से अधिक ग्रन्थों के लेखक।
- प्रेरणा - विभिन्न स्थानकों, विद्यालयों, औषधालयों, सिलाई केन्द्रों के प्रेरणा स्रोत।
- विशेष - आपश्री निर्भीक वक्ता थे, सिद्धहस्त लेखक थे, कवि थे। समन्वय तथा शान्तिपूर्ण क्रान्त जीवन के मंगलपथ पर बढ़ने वाले धर्मनेता थे, विचारक थे, समाज सुधारक थे, आत्मदर्शन की गहराई में पहुंचे हुए साधक थे, पंजाब तथा भारत के विभिन्न अंचलों में बसे हजारों जैन-जैनेतर परिवारों में आपके प्रति गहरी श्रद्धा एवं भक्ति थी।
- आप स्थानकवासी जैन समाज के उन गिने-चुने प्रभावशाली संतों में प्रमुख थे जिनका वाणी-व्यवहार सदा ही सत्य का समर्थक रहा है। जिनका नेतृत्व समाज को सुखद, संरक्षक और प्रगति पथ पर बढ़ाने वाला रहा है।
- स्वर्गवास - मन्डी गोबिन्दगढ़ (पंजाब)

23 अप्रैल 2003 (रात 11.30 बजे)

## आचार्य सम्राट् श्री शिवमुनि जी महाराज : संक्षिप्त परिचय

जैन धर्म दिवाकर गुरुदेव आचार्य सम्राट् श्री शिवमुनि जी म० वर्तमान श्रमण संघ के शिखर पुरुष हैं। त्याग, तप, ज्ञान और ध्यान आपकी संयम-शैया के चार पाए हैं। ज्ञान और ध्यान की साधना में आप सतत साधनाशील रहते हैं। श्रमणसंघ रूपी बृहद्-संघ के बृहद्-दायित्वों को आप सरलता, सहजता और कुशलता से वहन करने के साथ-साथ अपनी आत्म-साधना के उद्यान में निरन्तर आत्मविहार करते रहते हैं।

पंजाब प्रान्त के मलौट नगर में आपने एक सुसमृद्ध और सुप्रतिष्ठित ओसवाल परिवार में जन्म लिया। विद्यालय प्रवेश पर आप एक मेधावी छात्र सिद्ध हुए। प्राथमिक कक्षा से विश्वविद्यालयी कक्षा तक आप प्रथम श्रेणी से उत्तीर्ण होते रहे।

अपने जीवन के शैशवकाल से ही आप श्री में सत्य को जानने और जीने की अदम्य अभिलाषा रही है। महाविद्यालय और विश्वविद्यालय की उच्चतम शिक्षा प्राप्त कर लेने के पश्चात् भी सत्य को जानने की आपकी प्यास को समाधान का शीतल जल प्राप्त न हुआ। उसके लिए आपने अमेरिका, कनाडा आदि अनेक देशों का भ्रमण किया। धन और वैषयिक आकर्षण आपको बांध न सके। आखिर आप अपने कुल-धर्म-जैन धर्म की ओर उन्मुख हुए। भगवान महावीर के जीवन, उनकी साधना और उनकी वाणी का आपने अध्ययन किया। उससे आपके प्राण आन्दोलित बन गए और आपने संसार से संन्यास में छलांग लेने का सुदृढ़ संकल्प ले लिया।

ममत्व के असंख्य अवरोधों ने आपके संकल्प को शिथिल करना चाहा। पर श्रेष्ठ पुरुषों के संकल्प की तरह आपका संकल्प भी वज्रमय प्राचीर सिद्ध हुआ। जैन धर्म दिवाकर आगम-महोदधि आचार्य सम्राट् श्री आत्माराम जी महाराज के सुशिष्य गुरुदेव श्री ज्ञानमुनि जी महाराज से आपने दीक्षा-मंत्र अंगीकार कर श्रमण धर्म में प्रवेश किया।

आपने जैन-जैनतर दर्शनों का तलस्पर्शी अध्ययन किया। 'भारतीय धर्मों में मुक्ति विचार' नामक आपका शोध ग्रन्थ जहाँ आपके अध्ययन की गहनता का एक साकार प्रमाण है वहीं सत्य की खोज में आपकी अपराभूत प्यास को भी दर्शाता है। इसी शोध-प्रबन्ध पर पंजाब विश्वविद्यालय ने आपको पी-एच डी की उपाधि से अलंकृत भी किया।

दीक्षा के कुछ वर्षों के पश्चात् ही श्रद्धेय गुरुदेव के आदेश पर आपने भारत भ्रमण का लक्ष्य बनाया और पंजाब, हरियाणा, दिल्ली, उत्तर प्रदेश, राजस्थान, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, आन्ध्र प्रदेश, कर्नाटक, उड़ीसा, तमिलनाडु, गुजरात आदि अनेक प्रदेशों में विचरण किया। आप जहाँ गए आपके सौम्य-जीवन और सरल-विमल साधुता को देख लोग गद् गद् बन गए। इस विहार-यात्रा के दौरान ही संघ ने आपको पहले युवाचार्य और क्रम से आचार्य स्वीकार किया। आप बाहर में ग्रामानुग्राम विचरण करते रहे और अपने भीतर सत्य के शिखर सोपानों पर सतत आरोहण करते रहे। ध्यान के माध्यम से आप गहरे और गहरे पैठे। इस अन्तर्यात्रा में आपको सत्य और समाधि के अद्भुत अनुभव प्राप्त हुए। आपने यह सिद्ध किया कि पंचमकाल में भी सत्य को जाना और जीया जा सकता है।

वर्तमान में आप ध्यान रूपी उस अमृत-विद्या के देश-व्यापी प्रचार और प्रसार में प्राणपण से जुटे हुए हैं जिससे स्वयं आपने सत्य से साक्षात्कार को जीया है। आपके इस अभियान से हजारों लोग लाभान्वित बन चुके हैं। पूरे देश से आपके ध्यान-शिविरी की मांग आ रही है।

जैन जगत आप जैसे ज्ञानी, ध्यानी और तपस्वी संघशास्ता को पाकर धन्य-धन्य अनुभव करता है।

## आचार्य सम्राट् ( डॉ० ) श्री शिवमुनि जी महाराज : शब्द चित्र

जन्म स्थान	-	मलौटमंडी, जिला फरीदकोट (पंजाब)
जन्म	-	18 सितम्बर 1942 (भादवा सुदी सप्तमी)
माता	-	श्रीमती विद्यादेवी जैन
पिता	-	स्व. श्री चिरंजीलाल जैन
वर्ण	-	वैश्य ओसवाल
वंश	-	भाबू
दीक्षा	-	17 मई, 1972 समय : 12.00 बजे
दीक्षा स्थान	-	मलौटमंडी (पंजाब)
दीक्षा गुरु	-	बहुश्रुत, जैनागम रत्नाकर राष्ट्र संत श्रमणसंघीय सलाहकार श्री ज्ञानमुनि जी महाराज
शिष्य	-	श्री शिरीष मुनि जी, श्री शुभम मुनि जी, श्री श्रीयश मुनि जी, श्री सुव्रत मुनि जी, श्री शमित मुनि जी
पौत्र शिष्य	-	श्री निशांत मुनि जी, श्री निरंजन मुनि जी, श्री निपुण मुनि जी
युवाचार्य पद	-	13 मई, 1987 पूना-महाराष्ट्र
श्रमणसंघीय आचार्य		
पदारोहण	-	9 जून, 1999 अहमदनगर, (महाराष्ट्र)
चादर महोत्सव	-	7 मई 2001 ऋषभ विहार, नई दिल्ली
अध्ययन	-	डबल एम.ए., पी-एच.डी., डी.लिट्, आगमों का गहन गंभीर अध्ययन, ध्यान-योग-साधना में विशेष शोध कार्य
विहार क्षेत्र	-	पंजाब, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, दिल्ली, उत्तर प्रदेश, राजस्थान, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, आन्ध्र प्रदेश, तमिलनाडु, कर्नाटक, गुजरातः।

## श्रमण श्रेष्ठ कर्मठयोगी, मंत्री श्री शिरीष मुनि जी महाराज जी का संक्षिप्त परिचय

श्री शिरीषमुनि जी महाराज आचार्य भगवन् ध्यान योगी श्री शिवमुनि जी महाराज के प्रमुख शिष्य हैं। वर्ष 1987 के आचार्य भगवन् के मुम्बई (खार) के वर्षावास के समय आप पूज्य श्री के सम्यक् सम्पर्क में आए। आचार्य श्री की सन्निधि में बैठकर आपने आत्मसाधना के तत्त्व को जाना और हृदयंगम किया। उदयपुर से मुम्बई आप व्यापार के लिए आये और व्यापारिक व्यवसाय में स्थापित हो रहे थे। पर आचार्य भगवन् के सान्निध्य में पहुँचकर आपने अनुभव किया कि अध्यात्म ही परम व्यापार है। भौतिक व्यापार का कोई शिखर नहीं है जबकि अध्यात्म व्यापार स्वयं एक परम शिखर है और आपने स्वयं के स्व को पूज्य आचार्य श्री के चरणों पर अर्पित-समर्पित कर दिया।

पारिवारिक आज्ञा प्राप्त होने पर 7 मई, सन् 1990 यादगिरी (कर्नाटक) में आपने आर्हती दीक्षा में प्रवेश किया। तीन वर्ष की वैराग्यावस्था में आपने अपने गुरुदेव पूज्य आचार्य भगवन् से ध्यान के माध्यम से अध्यात्म में प्रवेश पाया। दीक्षा के बाद ध्यान के क्षेत्र में आप गहरे और गहरे उतरते गए। साथ ही आपने हिन्दी, अंग्रेजी, संस्कृत और प्राकृत आदि भाषाओं का भी तलस्पर्शी अध्ययन जारी रखा। आपकी प्रवचन शैली आकर्षक है। समाज में विधायक क्रांति के आप पक्षधर हैं और उसके लिए निरंतर समाज को प्रेरित करते रहते हैं।

आप एक विनय गुण सम्पन्न, सरल और सेवा समर्पित मुनिराज हैं। पूज्य आचार्य भगवन् के ध्यान और स्वाध्याय के महामिशन को आगे और आगे ले जाने के लिए कृत् संकल्प हैं। अहर्निश स्व-पर कल्याण साधना रत रहने से अपने श्रमणत्व को साकार कर रहे हैं।

### शब्द चित्र में आपका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

जन्म स्थान	:	नाई (उदयपुर राज.)
जन्मतिथि	:	19-02-1964
माता	:	श्रीमती सोहनबाई
पिता	:	श्रीमान् ख्यालीलाल जी कोठारी
वंश, गोत्र	:	ओसवाल, कोठारी
दीक्षा तिथि	:	7 मई 1990
दीक्षा स्थल	:	यादगिरि (कर्नाटक)
गुरु	:	श्रमण संघ के चतुर्थ पट्टधर आचार्य (डॉ०) श्री शिवमुनि जी म.
दीक्षार्थ प्रेरणा	:	दादी जी मोहन बाई कोठारी द्वारा।
शिक्षा	:	एम० ए० (हिन्दी साहित्य)
अध्ययन	:	आगमों का गहन गंभीर अध्ययन, जैनेतर दर्शनों में सफल प्रवेश तथा हिन्दी, संस्कृत, अंग्रेजी, प्राकृत, मराठी, गुजराती भाषाविद्।
उपाधि	:	श्रमण श्रेष्ठ कर्मठ योगी, साधुरत्न एवं मन्त्री श्रमण संघ
शिष्य सम्पदा	:	श्री निशांत मुनि जी, श्री निरंजन मुनि जी, श्री निपुण मुनि जी
विशेष प्रेरणादायी कार्य	:	ध्यान योग साधना शिविरों का संचालन, बाल संस्कार शिविरों और स्वाध्याय शिविरों के कुशल संचालक, आचार्य श्री के अन्यतम सहयोगी।

## आचार्य सम्राट् श्री शिव मुनि जी म० का प्रकाशित साहित्य

### आगम संपादन

श्री उपासकदशांग सूत्रम्	(व्याख्याकार आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज)
श्री उत्तराध्ययन सूत्रम् (भाग एक)	"
श्री उत्तराध्ययन सूत्रम् (भाग दो)	"
श्री उत्तराध्ययन सूत्रम् (भाग तीन)	"
श्री अन्तकृद्दशांग सूत्रम्	"
श्री दशवैकालिक सूत्रम्	"
श्री अनुत्तरोपपातिक सूत्रम्	"
श्री आचारांग सूत्रम् (भाग एक)	"
श्री आचारांग सूत्रम् (भाग दो)	"

### साहित्य (हिन्दी)-

भारतीय धर्मों में मुक्ति	(शोध प्रबन्ध)
ध्यान : एक दिव्य साधना	(ध्यान पर शोध-पूर्ण ग्रन्थ)
ध्यान-पथ	(ध्यान सम्बन्धी चिन्तनपरक विचारबिन्दु)
ध्यान साधना	(ध्यान-सूत्र)
समयं गोयम मा पमायए	(चिन्तन प्रधान निबन्ध)
अनुशीलन	(निबन्ध)
योग मन संस्कार	(निबन्ध)
जिनशासनम्	(जैन तत्त्व मीमांसा)
षट्मं णाणं	(चिन्तन परक निबन्ध)
अहासुहं देवाणुप्पिया	(अन्तकृद्दशांग-सूत्र प्रवचन)
शिव-धारा	(प्रवचन)
अन्तर्यात्रा	"
नदी नाव संजोग	"
शिव वाणी	"
अनुश्रुति	"



अनुभूति	(प्रवचन)
मा पमायए	"
अमृत की खोज	"
आ घर लौट चलें	"
संबुद्धह किं ण बुद्धह	"
सद्गुरु महिमा	"
प्रकाश पुञ्ज महावीर	(संक्षिप्त महावीर जीवन-वृत्त)
अध्यात्म सार	(आचाराङ्ग सूत्र के रहस्यों पर एक बृहद् आलेख)

साहित्य (अंग्रेजी)-

- दी जैना पाथवे टू लिब्रेशन  
 दी फण्डामेन्टल प्रिंसीपल्स ऑफ जैनिज्म  
 दी डॉक्ट्रीन ऑफ द सेल्फ इन जैनिज्म  
 दी जैना ट्रेडिशन  
 दी डॉक्ट्रीन ऑफ लिब्रेशन इन इंडियन रिलिजन  
 दी डॉक्ट्रीन ऑफ लिब्रेशन इन इंडियन रिलिजन विथ रेफरेंस टू जैनिज्म  
 स्परीच्युल प्रक्टेसीज ऑफ लॉर्ड महावीरा

